॥ ओ३म् ॥

सत्यं शिवं सुन्दरं ।

श्रीमान् रायरायाँ महीमहेन्द्र महाराजाधिराज महारावल श्री सर लक्ष्मणसिंहजी साहब बहादुर के० सी० एस० आई० डूँगरपुर-नरेश महोदय के रजतजयन्ती-महोत्सव के मांगलिक शुभ अवसर पर सम्पादन-समिति द्वारा सम्पादित

संवत् २००३ विक्रमी — सन् १९४७ ईसवी

SHRI SILVER JUBILEE COMMEMORATION VOLUME

EDITED BY

The members of the Silver Jubilee Commemoration Volume Committee, Dungarpur (Rajputana)

ON

The auspicious occasion of Silver Jubilee of Rai-Rayan Mahi-Mahendra Maharajadhiraj His Highness the Maharawal Shri Sir Lakshman Singhji Saheb Bahadur K.C.S.I., The Ruler of Dungarpur State (Rajputana) 1947 A.D.

श्रीमान् रायरायाँ, महीमहेन्द्र, महाराजाधिराज, महारावल महोदय श्री सर लक्ष्मणसिंहजी साहब बहादुर, के० सी० एस० आई०, डूंगरपुर-नरेश, अपने श्री रजत-जयन्ती-महामहोत्सव के शुभ अवसर पर लगभग एक लाख प्रजाजनों की आम सभा में स्वर्णसिंहासन पर विराजमान हैं।

समर्पण

श्रीसूर्यकुलकमलदिवाकर, गुहिलवंशभूषण, श्रीमान् रायरायाँ

महीमहेन्द्र महाराजाधिराज महारावल

श्री सर लच्मणसिंहजी साहब बहादुर के. सी. एस. आई.

डूँगरपुरनरेश महोदय की सेवा में

श्रीरजत-जयन्ती महामहोत्सव के
शुभ अवसर पर समस्त प्रजाजनों
की ओर से सादर सप्रेम

समर्पित

प्राक्कथन
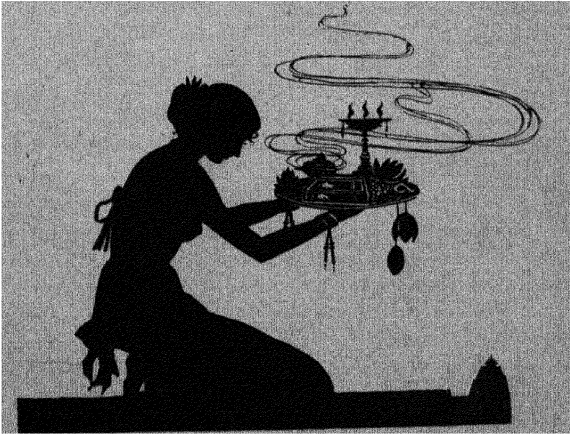
विश्व के किसी भी राष्ट्र एवं समाज के उदात्त-चरित महापुरुष, तत्त्वदर्शी विद्वान, शूर-वीर योद्धा, सती-साध्वी महिला, उत्कृष्ट गुणशाली कलाकार और प्रतिष्ठित कुल के नागरिक का ससम्मान अभिनन्दन करना, देश की और समाज की सभ्यता-संस्कृति की अभ्युन्नति के लिए एक आवश्यक शिष्टाचार माना गया है। अपने देश और समाज के महामानवों के प्रति श्रद्धा-भक्ति से आदर-सम्मान प्रकट करना सभ्यानुमोदित तथा न्याय-संगत ही नहीं, कर्तव्य बुद्धि से भी परम आवश्यक है। उपयुक्त अवसर पर ऐसा करने से मनुष्य-जाति के भद्र-जनों की गौरव रक्षा के साथ-साथ समसामयिक एवं भावी समाज के व्यक्तियों के चरित-निर्माण में एक वाञ्छनीय प्रोत्साहन मिलता है। इस कर्तव्य की उपेक्षा करना अपने राष्ट्रिय समाज की आत्म-चेतना के उत्कर्ष के लिए सर्वथा अनुचित है। कविवर श्रीहर्ष मिश्र ने ठीक ही कहा है—वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं, गुणाधिके वस्तुनि मौनता चेत्—यदि किसी उत्कृष्ट, गुणविशिष्ट तथा श्लाघ्य वस्तु की यथावसर उचित प्रशंसा कर अभिनन्दन न किया जाय और उसकी विशेषता न कहकर चुप्पी ही साधी जाय, तो फिर वाणीतत्त्व—वाङ्मय—का आविर्भाव एवं अस्तित्व ही व्यर्थ हो जाता है; जो विचारशील तथा सहृदय सज्जनों के हृदय में तीखे तीर की तरह खटकता है।

राष्ट्रिय एवं सामाजिक व्यवहार-परम्परा को सुप्रतिष्ठित रखने की दृष्टि से भी श्रेष्ठ वस्तु की श्लाघा करना उचित है। यदि आध्यात्मिक दृष्टि-कोण से विचार किया जाय तब भी इस सगुण साकार विश्व की प्रत्येक उत्कृष्ट वस्तु परमेश्वर की ही एक विभूति है, जिसका आदरपूर्वक अभिनन्दन करना उस सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्व का ही गुणगान करना है।

यही कारण है कि संसार के सभ्य समाज में उत्तम पदार्थों तथा श्रेष्ठ व्यक्तियों की प्रशंसा करने का शिष्टाचार तभी से प्रचलित है, जब से मानवसभ्यता का विकास प्रारम्भ हुआ है। क्या पूर्व में और क्या पश्चिम में, सर्वत्र ही, प्राचीनतम समय से लेकर अधुना पर्यन्त, उत्तम तत्त्व का श्लाघावाद करने की प्रथा किसी-न-किसी रूप में प्रचलित ही है। हमारे भारतवर्ष में प्राचीन आर्य, अपनी विराट् परिषदों में, तत्कालीन समाज के सुयोग्य व्यक्तियों का गुणानुवाद करते थे। उसी का तो यह परिणाम है कि हम अपने राष्ट्र के प्राचीनतम साहित्य में महापुरुषों के चरितानुवाद प्रचुर परिमाण में वर्णित पाते हैं। धीर-वीर प्रतापी महापुरुषों, सदाचारी महात्माओं, सर्वस्वत्यागी तपस्वी सन्तों, सती-साध्वी पतिव्रता महिलाओं एवं अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानों और कलाकारों के स्फूर्तिप्रद स्फीत-चरितों के श्लाघापूर्ण व्याख्यानों से ही तो हमारे स्वदेशी साहित्य का क्रम-विकास आरम्भ होता है। न केवल हमारे यहाँ ही, अपितु संसार की समस्त सभ्य कही जानेवाली मनुष्य-जातियों के इतिहास में यह तथ्य अवश्य पाया जाता है कि उन-उन देशों एवं समाजों के श्रेष्ठ व्यक्तियों की गुण-गाथाओं से ही मानव-सभ्यता का इतिहास एवं साहित्य अपने क्रमविकास की ओर अग्रसर हुआ है। 'Prsaise; when you can !" जैसी सूक्तियों के अन्तर्गर्भ में उक्त सिद्धान्त के रहस्य का मर्म निहित है। अतः यह निर्विवाद है कि अपने समय के राष्ट्रिय, सामाजिक एवं साहित्यिक उत्कृष्ट तत्त्वों का गुणानुवाद करने की प्रवृत्ति सर्वथा स्वाभाविक एवं निर्दोष है।

हमारे इस भारतीय राष्ट्र के पूर्वपुरुष, किसी की गुण-व्याख्या करने का शिष्टाचार-पालन, तत्कालीन सभा-सम्मेलनों के सार्वजनिक अधिवेशनों में, प्राय: मौखिक रूप में ही किया करते थे। धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिषदों के खुले अधिवेशनों में योग्य व्यक्तियों की प्रशंसा संयत ढंग से परन्तु निस्सङ्कोच भाव से मुक्तकण्ठ की जाती थी। जब उन्होंने देखा कि मौखिक श्लाघा पदार्थ विशेष अथवा व्यक्ति-विशेष की स्मृति अजर-अमर रूप में अनन्त काल तक स्थायी रखने में अपेक्षाकृत न्यून सक्षम प्रमाणित होती है, तब अक्षर-स्वरूप देकर लिखित गुणानुवाद करने की पद्धति स्वीकार कर ली गई। फलस्वरूप साहित्य में पुराणों, काव्यों और वीर-गाथाओं का अक्षर शरीर बनकर सभ्यता-संस्कृति के विकास का लेखा बन चला। विदेशी राष्ट्रों ने भी इसी भित्ति पर अपनी-अपनी सभ्यता के सांस्कृतिक चित्र अङ्कित करने का प्रयास किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्या पूर्व और क्या पश्चिम, विश्व के सभी देशों की राष्ट्रिय सभ्यता में, वस्तु और व्यक्ति दोनों के गुणानुवाद करने की प्रथा, सभी देशकालों में, सभ्यानुमोदित एवं शिष्टसम्मत मानी गई है।

अन्ताराष्ट्रिय सम्बन्धों की घनिष्ठता, लेखन-मुद्रण और प्रकाशन के वैज्ञानिक साधनों की प्रचुर उपलब्धि, प्रचार-प्रसार में सौकर्य तथा साहित्यिक क्रम-विकास के स्वाभाविक रीति से प्रगतिशील होने के कारण, अभिनन्दनात्मक भाषण, अभिनन्दनपत्र एवं अभिनन्दन ग्रन्थादि के रूप में, मानवीय चरितों की उत्कृष्टता का गुणानुवाद करने की सहज प्रवृत्ति की उपर्युक्त धारा हमारे आधुनिक भारत-राष्ट्र में अपने सामयिक विशिष्ट ढंग से बहती चली आ रही है। हमारे देश के सुप्रसिद्ध महात्मा, लोकमान्य नेता, सर्वस्वत्यागी राष्ट्रसेवक, प्रतिभाशाली विद्वान्, कवि और कलाकार तथा ऐसे ही अनेक जनप्रिय महामना व्यक्तियों के आदर-सम्मान में, असंख्य अभिनन्दनात्मक भाषण, अभिनन्दनपत्र और अभिनन्दन-ग्रन्थ लिपिबद्ध होकर सुचारु रीति से सम्पादित हुए हैं और उनके उत्तमोत्तम नयनाभिराम अभिनव संस्करण, कलात्मक ढंग से प्रकाशित हुए हैं और होते चले जा रहे हैं। हम देख रहे हैं कि हमारे यहाँ अभिनन्दनात्मक साहित्य-सर्जना गतिशील हो रही है और हिन्दी, संस्कृत एवं अँगरेजी प्रभृति प्रमुख साहित्यिक भाषाओं में तथा बँगला, गुजराती एवं महाराष्ट्री इत्यादि प्रान्तीय लोकभाषाओं में भी, इस प्रवृत्ति का प्रचार, प्रसार और प्रचलन, दिन-दिन अधिकाधिक होता चला जा रहा है। इससे सामयिक लोक-साहित्य के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के विकास के साथ-साथ, हमारा सभ्योचित उत्कर्ष भी परिपुष्ट होकर वृद्धिंगत हो रहा है। महात्मा गांधी के सम्मान में गांधी-अभिनन्दन ग्रन्थ, विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के आदर में टैगोर-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पण्डित गौरीशङ्कर ओझा के आदरार्थ भारतीय-अनुशीलन-ग्रन्थ, पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के अभिनन्दन में द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, विक्रम-अभिनन्दन-ग्रन्थ, प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, जवाहर अभिनन्दन-ग्रन्थ, राजेन्द्र-अभिनन्दन-ग्रन्थ इत्यादि रचनाएँ हमारे उक्त कथन का समर्थन करनेवाले पुष्ट और प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

सामयिक साहित्य की सेवा एवं उपयोगितावाद के विचार से अभिनन्दन-ग्रन्थों का एक और महत्त्व भी है। वह यह कि देश और समाज के जिस प्रतिष्ठित पुरुष को निमित्त मानकर ऐसे साहित्य का निर्माण किया जाता है, उसकी सम्मान-वृद्धि एवं उसका यश सुरक्षित और चिरस्थायी होने के साथ-साथ उस ग्रन्थ-सम्बन्धी साहित्य के स्रष्टा महान् लेखक, प्रतिभावान कवि,

समर्थ सम्पादक, मुद्रक, प्रकाशक और अन्यान्य कलाकारों की कीर्ति भी अमर होती है। अपने समय के उद्भट विद्वानों, तत्त्वचिन्तकों एवं कवियों की उत्कृष्ट रचनाएं ले-लेकर श्रेष्ठ विचारों और मर्मस्पर्शी भावों की जो ग्रन्थरूप में संकलना की जाती है, उससे बुद्धिमान् तथा सहृदय पाठकों का मनोरञ्जन होता है और लेखकों के मनोमन्थन से प्रसूत विचार-तत्त्व को साकार अक्षर-रूप मिलता है, जिससे एक ऐसे स्थायी साहित्य का निर्माण होता है कि उसके अनुशीलन से कोटि-कोटि मानवों को शताब्दियों तक विशुद्ध चेतनामय प्रेरणा मिलती रहती है। इस तरह की सजीव एवं प्रभावोत्पादक साहित्यिक संस्कारों की प्रेरणा मिलने से मानव-समाज अनुप्राणित हो उठता है और अपने जीवन में उन्नति के पथ पर अग्रसर होने के लिए उत्साहित होता रहता है। साहित्य-सृजन के अनेक प्रयोजनों में से यह भी एक मुख्य प्रयोजन है कि वह सद्विचारों एवं सद्भावनाओं का प्रतिनिधित्व करे। इसके अतिरिक्त, यह तो एक निर्विवाद और सर्वसम्मत स्वयंसिद्ध तथ्य है कि ऐसे कार्यों में जो धनराशि व्यय की जाती है और परिश्रम किया जाता है, उसका भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए, क्षणिक मनोरञ्जन के साधन जुटाने में व्यय किये गये द्रव्य एवं श्रम की अपेक्षा कहीं अधिक सदुपयोग ही होता है।

प्रायः ऐसे ही विचारों एवं भावनाओं की सहज प्रेरणा से प्रेरित मानसिक पृष्ठभूमि में, प्रकृत अभिनन्दन-ग्रन्थ की रचना का सङ्कल्प हुआ। डूँगरपुर-राज्य के प्रजाजनों में से हम कतिपय नवशिक्षित नागरिक व्यक्तियों ने यह देखा कि हमारे सम्माननीय शासक श्रीमान् रायरायाँ महीमहेन्द्र महाराजाधिराज महारावल श्री सर लक्ष्मणसिंह जी साहब बहादुर के० सी० एस० आई० डूँगरपुर-नरेश महोदय का पच्चीस वर्षों का शासन-समय निर्विघ्न एवं सुख-शान्ति-पूर्वक व्यतीत होने के उपलक्ष्य में, प्रजावर्ग की ओर से 'श्री महारावल-रजत-जयन्ती महोत्सव' मनाने की योजना अवतरित की गई और उसे कार्यान्वित करने के लिए एक प्रधान कार्य-कारिणी समिति भी निर्वाचित की गई। नरेश की कुलीनता, सदाचार, शील-सौजन्य, विद्यानुराग एवं शिक्षाप्रियता इत्यादि कई एक नैतिक गुणों ने हमें इस ओर आकर्षित किया कि इस शुभ अवसर पर नरेश की सेवा में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ सम्पादित कर अर्पण किया जाय। इस शुभ निमित्त से साहित्य-सेवा करने का भी आनन्द मिलेगा। यथासमय श्री रजत-जयन्ती महोत्सव की महा-समिति में ग्रन्थविषयक प्रस्ताव रखा गया, वह सभी सदस्यों को पसन्द आया और सर्वसम्मति से पास होकर ग्रन्थ-समर्पण करना निश्चित हुआ। इस कार्य को सम्पादन करने के लिए निम्नाङ्कित सदस्यों की एक उपसमिति बनाई गई :—

१—रायबहादुर पण्डित श्री भँवरलाल शर्मा, बी० ए०, एल्-एल० बी०, सभापति।
२—चौधरी श्री कृष्णानन्द एम० ए०, सम्मान्य सदस्य।
३—पण्डित श्री उमाशङ्कर पाठक, सम्मान्य सदस्य।
४—बाबू श्री विजयलाल जैन, बी० कॉम०, सम्मान्य सदस्य।
५—इन पंक्तियों का लेखक, मंत्री।

इनके अतिरिक्त समिति कुछ स्थानीय सज्जनों को समय-समय पर सहयोग करने को आमंत्रित करती रही है।

वर्तमान भारत के स्वनामधन्य उच्च कोटि के उद्भट विद्वान्-लेखक हिन्दी, अँगरेजी और संस्कृत भाषा में ही अधिकांश लिखते हैं। इन्हीं तीन भाषाओं के समर्थ लेखक ही

प्रायः सारे देश की राष्ट्रिय, सामाजिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों, विचारों और भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, और इन्हीं तीनों भाषाओं के साहित्य में हमारी सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विचार-परम्पराएँ तथा भावानुभूतियाँ अधिकांश विद्यमान हैं; अतः समिति ने प्रस्तावित अभिनन्दन-ग्रन्थ को त्रैभाषिक रूप देना तय किया। तदनुसार इन तीनों भाषाओं के ख्यातनामा विद्वान् लेखकों की सेवा में लिखित आमन्त्रणपत्र भेजे गये और अपनी रुचि और विचारों के अनुकूल साहित्य, दर्शन, विज्ञान, समाज-शास्त्र, राजनीति अथवा धार्मिक किसी भी विषय पर अपनी रचनाएँ भेजकर इस कार्य में हमारा सहयोग करने की प्रार्थना की गई। हमारे नम्र निवेदन का अनुरोध स्वीकारकर कृपालु लेखकों ने अपनी मूल्यवान् कृतियाँ भेजना आरम्भ कर दिया। इससे समिति के सदस्यों का उत्साह बढ़ जाने के साथ ही साथ कार्य-क्षेत्र की विस्तार-सीमा और सम्पादकीय उत्तरदायित्व भी बहुत बढ़ गया। यद्यपि ग्रन्थ-सम्पादन करने में समिति का उद्देश्य विशुद्ध सांस्कृतिक एवं साहित्यिक था, दृष्टिकोण व्यापक और उदार था तथा समिति के सभी सदस्य उत्साही, कर्मठ एवं सुयोग्य विद्वान् थे तथापि ऐसे उत्तरदायित्वपूर्ण महान् कार्य के सम्पादन करने में, कार्य-गौरव के विचार से साधनों की अनिवार्य आवश्यकता और रचनात्मक अनुभव जितना चाहिए, उसका सही-सही अनुमान कार्यारम्भ से पूर्व न हो सका। इसके सिवाय ग्रन्थ का कार्यारम्भ करते ही समूचे देश में राजनीतिक राष्ट्रिय आन्दोलन तीव्र गति से क्रान्ति की चरम सीमा पर पहुँच गये। समूचे देश में इस छोर से उस छोर तक हड़तालें, जेल-यात्राएँ और लाठी चार्ज इत्यादि एक से एक बढ़कर रोमाञ्चकारी भीषण अकाण्ड-ताण्डव होने लगे। यही कारण हुआ कि इन विघ्न-बाधा-पूर्ण सामयिक द्रुतपरिवर्तनों के तीव्र धाराप्रवाह में पड़ जाने से श्री रजत-जयन्ती-महोत्सव की निश्चित तिथि तक ग्रन्थ सम्पादित एवं मुद्रित होकर प्रकाशित न हो सका। केवल ग्रन्थ की पाण्डुलिपि ही तैयार कर नरेश की सेवा में समर्पित की गई। तारीख १ मई, सन् १९४७ ईस्वी के दिन डूँगरपुर राज्य के सुप्रसिद्ध गाँव 'सागवाड़ा' में, बड़े ऊँचे पैमाने पर, धूम-धाम के साथ रजतजयन्ती महोत्सव मनाया गया और उस शुभ अवसर पर लगभग एक लाख जनता की सार्वजनिक विराट् परिषद् के खुले अधिवेशन में, अन्यान्य उपहारों के साथ-साथ ग्रन्थ की पाण्डुलिपि नरेश महोदय को भेंट की गई तो समिति की यह भेंट उन्हें बहुत पसन्द आई। प्रजा की ओर से समर्पित अभिनन्दन-पत्र के उत्तर में दिये अपने अभिभाषण में स्वयं नरेश ने, हमारे इस उपहार को स्वीकार करते हुए, समिति के इस प्रयत्न की मुक्तकण्ठ प्रशंसा की। हमारा यह पहला ही प्रयास था, परन्तु लेखकों एवं नरेश महोदय दोनों की ओर से प्रोत्साहन मिलने से इस कार्य को और भी तल्लीनता से करने का हमें उत्साह हुआ। सन् १९४७-४८ और ४९, इन तीन वर्षों में यह कार्य होता रहा और अब इस रूप में यह ग्रन्थ श्रीमान् नरेश, विद्वान् लेखकों एवं सुयोग्य पाठकों की सेवा में उपस्थित है।

ग्रन्थ के अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग के सम्बन्ध में यहाँ हमारा अधिक कुछ निवेदन करना अनावश्यक सा है और यह कदाचित् अनधिकार चेष्टा या पक्षपातपूर्ण प्रशंसात्मक एकाङ्गी आलोचना की श्रेणी में आयेगा। ज्ञान की निस्सीमता, विचारों की विविधता और रुचि की विचित्रता के कारण किसी भी रचना के अन्तःसौन्दर्य, विचारों के प्रतिनिधित्व, तत्त्व-निरूपण के सिद्धान्तवाद, भाव, भाषा, शैली एवं प्रबन्ध-रचना के सौष्ठव को लेकर 'इदमित्थं'

कहना अनुचित और मतभेद की दृष्टि से विवादग्रस्त ही नहीं, हास्यास्पद तक हो सकता है। अतः ग्रन्थ के सम्बन्ध में सब कुछ कहने का भार अधिकारी विद्वानों पर ही छोड़कर हम उनके मत की प्रतीक्षा करते हैं। ग्रन्थ के विषय में इसलिए भी हम अधिक कुछ नहीं कह सकते कि जिन-जिन विद्वानों की कृतियाँ हमने इस ग्रन्थ में सङ्कलित की हैं वे अपने विषय के अधिकारी विद्वान् हैं, और प्रामाणिक लेखक भी। अतिरिक्त इसके यह भी आवश्यक या न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता कि ग्रन्थ के लेखक जिन-जिन विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, उन सभी से हम सहमत हों अथवा उनका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व हमारे ऊपर हो। हाँ, उस मात्रा में हम अवश्य ही उत्तरदायी हैं कि हमने विभिन्न लेखकों के कृतिरूपी पुष्पों की माला ग्रन्थरूप में गुम्फित कर उपस्थित की है। हमें दृढ़ विश्वास है कि ग्रन्थ के प्रायः सभी लेखक लब्ध-प्रतिष्ठ, भारत-प्रसिद्ध एवं स्वनामधन्य हैं, जिनकी रचनाएँ सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में बड़े आदर के साथ बरसों से प्रकाशित होती आई हैं, जो एक अर्थ में साहित्य के निर्माता हैं एवं तपे हुए चोटी के साहित्य-सेवी हैं। इस प्रसङ्ग से ऐसे महामहिम साहित्यसेवी सज्जनों की रचनाएँ प्रकाशित करने का अवसर मिलना हमारे लिए गौरव, सौभाग्य एवं आनन्द का विषय है। अपने लेखकों का आभार मानते हुए हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

यहाँ यह प्रकट करते हुए सचमुच परिताप एवं खेद अनुभव हो रहा है कि इस ग्रन्थ के लिए भेजे हुए कई एक उत्तमोत्तम एवं गम्भीर बृहदाकार लेखों को, प्रबल इच्छा होते हुए भी, हम ग्रन्थ में प्रकाशित न कर सके, यद्यपि लेखकों से हम वचनबद्ध हो चुके थे। इसका एक-मात्र कारण अर्थसंकीर्णता ही रहा। ऐसे सज्जनों के निकट हम सचमुच अपराधी हैं। सर्वश्री पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पं० के० एस० कृष्णमूर्ति शास्त्री, पं० पी० एन० पट्टाभिराम शास्त्री, पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ, पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, सेठ अचलसिंह, पं० दत्तराज वेंकटेश केतकर, कैलासविहारीलाल, डा० सूर्यदेव शर्मा, पं० गोपाल शास्त्री दर्शन-केसरी, गणेश चौबे, डा० सन्तप्रसाद टण्डन, कृष्णलाल एम० जवेरी, डा० सूर्यकान्त, पाण्डेय नर्मदेश्वर-सहाय, श्रीकान्त शास्त्री, प्रो० दीवानचन्द, फूलाभाई पटेल, डा० लतीफ, पं० श्यामानन्द झा, पं० बलदेव उपाध्याय, डा० रघुवीर, डा० यू० एन० घोषाल, चौधरी रामसिंह, एफ० सी० मिनेत, पं० हरदेव त्रिवेदी, पं० महेशदास शर्मा, पं० पुरुषोत्तम शर्मा, रमाकान्त त्रिपाठी, गोपाल नीलकण्ठ दाण्डेकर, पं० शिवराम शास्त्री शिंचे इत्यादि विद्वानों के नाम प्रमुख हैं जिनकी उच्च कोटि की रचनाओं को केवल अर्थसंकट के कारण हम ग्रन्थ में प्रकाशित नहीं कर सके हैं। ऐसे सभी सज्जनों से हम अपनी विवशता के लिए विनम्र भाव से करबद्ध होकर क्षमा-याचना करते हैं। कुछ स्थानीय लेखकों की रचनाएँ ग्रन्थोपयोगी होने पर भी ग्रन्थ में सम्मिलित नहीं की जा सकीं, इसका भी समिति को खेद है।

अन्त में हम उन समस्त त्रुटियों के लिए क्षमाप्रार्थी हैं जो हमारी योग्यता की कमी, अनुभवहीनता अथवा प्रमाद के कारण ग्रन्थ में रह गई हैं। उन महानुभावों को हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिन्होंने इस कार्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सहयोग दिया है किंवा सहायता दी है। यदि इस ग्रन्थ में कोई उपयोगिता या उपादेयता है, यदि इससे यत्किंचित् साहित्य-सेवा बन पड़ी है और यदि इस प्रयत्न से कुछ भी सांस्कृतिक, सामाजिक

एवं राष्ट्रिय उत्कर्ष की सम्भावना की जा सकती है तो इसका श्रेय सर्वप्रथम श्रीमान् नरेश को है जिनके शुभ निमित्त से ऐसा कार्य करने की हमें प्रेरणा मिली; फिर इसका श्रेय उन समस्त विद्वान् लेखक महानुभावों को है जिन्होंने बिना किसी स्वार्थ के केवल विद्याव्यसन एवं सरस्वती की आराधना के भाव से अपनी उत्कृष्ट रचनाएँ देने का अनुग्रह किया है, जिनसे ग्रन्थ का कलेवर सजा है और उनके बाद उन समस्त प्रजाजनों को श्रेय है जिनके त्यागपूर्वक दिये गये धन से यह कार्य सम्पन्न हो सका है ।

इण्डियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग के अध्यक्ष श्री घोषबन्धुओं ने इस कार्य में हार्दिक सहयोग दिया है अतः हम उनको धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझते हैं ।

विनम्र : —

गणेशराम मिश्र

डूंगरपुर (राजस्थान)
तारीख १ जुलाई, १९५०

मंत्री, ग्रन्थ-सम्पादन समिति, डूंगरपुर

श्री महारावल-रजत-जयन्ती-अभिनन्दन-ग्रन्थ

की

विषयानुक्रमणिका

साहित्य-खण्ड

दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक खण्ड

विषय पृष्ठ

इतिहास—पुरातत्त्व खण्ड

वैज्ञानिक खण्ड

साहित्य खण्ड

मङ्गलाचरणम्

पं० श्री मथुरानाथ भट्ट शास्त्री

[घनाक्षरी]

करनिकरेण तिग्मतमसां निहन्ता नित्य-
मतुलमनन्तातलं तेजस्तनुतामयम
वीरक्षत्रियाणां वंशवैभवं पयन्ता नून-
मखिलदिगन्तरेषु गन्ताऽऽश्रीयतामयम।
मञ्जुनाथ निखिलचराचरनियन्ता मोद-
मङ्गलानुमन्ता भव्यमुत्पादयतामयम
सपदि समन्तादभिदीपयन दिगन्तानिमा-
न्भानुमाननन्ताऽऽमोदमुद्भासयतामयम ॥१॥

आर्या

त्रिधिवैभवविनिभाली तेजःशाली जयावहो जगताम।
क्षत्रियकुलपरिपाली मरीचिमाली प्रमोदमातनुताम ॥२॥

युगपुरुष गांधीजी

श्री रघुबीरसिंह

गांधीजी युगपुरुष हैं। इस अनोखी विभूति का भारत पर देशव्यापी अमिट प्रभाव पड़ा। उनसे मतभेद हो सकता है, उनकी कई एक उक्तियों या युक्तियों से कोई सहमत न हो, किन्तु उनकी महत्ता और तपस्या को कौन अस्वीकार करेगा? उनके कट्टर विरोधियों तक ने उनके त्याग का लोहा माना है, उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर आदर और श्रद्धा से वे उनके प्रति नतमस्तक हुए हैं। संसार के इतिहास में संभवत: यही पहला व्यक्ति है, जिसने अपने जीवनकाल में ही करोड़ों नर-नारियों के हृदय पर एकछत्र शासन किया और जिसके नेतृत्व को स्वीकार कर उसके किंचित्-मात्र इशारे पर ही सब कुछ बलिदान कर मर-मिटने तक को वे सहर्ष तत्पर हो गए।

बरसों बाद स्वाधीन भारत के उल्लासपूर्ण वातावरण में जब इन पिछले पचास वर्षों का इतिहास लिखा जावेगा, तब सन् १९२० से १९४६ ई० का यह काल "गांधी युग" कहलावेगा। गांधीजी की भारत को सबसे बड़ी देन है, भारतीय परंपरा के अनुरूप उनकी अपनी विभिन्न सांस्कृतिक, राजनैतिक और सामाजिक विचार-धारा एवं उनकी निराली ही कार्यपद्धति। राजनीति में कोई भी पथ सर्वथा ठीक तथा त्रुटिविहीन नहीं कहा जा सकता है, और न कोई पद्धति ही पूर्णतया विरोध-रहित एवं निष्कण्टक हो सकती है। किन्तु गांधीजी के व्यक्तित्व और उनके मौलिक विचारों के फलस्वरूप ही भारत के स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास संसार की अन्य देशीय क्रान्तियों के क्रम के सर्वथा विभिन्न ही रहा। उनके ही नेतृत्व में भारत ने इन पिछले वर्षों में विदेशीय विचारधाराओं का अन्धानुकरण करना छोड़ दिया। पाश्चात्य सभ्यता का भारतीय संस्कृति पर जो सर्वव्यापी आक्रमण हुआ था, उसको पराजित कर पीछे हटा देना, गांधीजी का ही काम था। लेनिन और ट्राटस्की के समय में भी भारत में साम्यवाद का सर्वव्यापी प्रचार न होना, उसके प्रभाव का संकुचित क्षेत्र में ही सीमित रह जाना, सचमुच आश्चर्यजनक है, किन्तु इसका एकमात्र कारण गांधीजी का सर्वाकर्षी व्यक्तित्व था।

इस 'गांधी-युग' में भारतीय संस्कृति तथा भारत के बौद्धिक जीवन ने अद्भुत बल एवं अपार आत्म-विश्वास प्राप्त किया। यह स्पष्ट है कि भावी भारतीय संस्कृति-निर्माण में किसी भी अन्य सभ्यता तथा विचारधारा का अनुकरण न कर अपनी सांस्कृतिक धारा के अनुरूप तथा यहाँ की स्थानीय विशिष्ट परिस्थितियों पर पूरा ध्यान देकर भारत अपना अलग ही पथ निश्चित कर नव आदर्शों का निर्माण करेगा। इस सांस्कृतिक शक्ति, नैतिक साहस और आत्मबल को प्राप्त करने में गांधीजी ने भारत का पथ प्रदर्शन ही नहीं किया है, किन्तु अपनी सारी आयु और जीवन भर की तपस्या भारत को दान कर दी।

'गांधी-युग' के उन संघर्षपूर्ण वर्षों के तप, त्याग और बलिदान ने ही भावी भारत की नींव डाली है। इसी युग में उद्भूत नवीन विचारधाराओं तथा सांस्कृतिक बल के ही

आधार पर भावी स्वाधीन भारत का निर्माण होगा। तथापि भारत का भावी विधान और उसका सांस्कृतिक स्वरूप निश्चित करने में केवल 'गांधीवाद' का ही प्रभाव न रहेगा। 'गांधी-युग' में नवीन स्फूर्ति और बल पाकर भारत की अनेकानेक परंपरागत सांस्कृतिक धाराएँ भी पुनः जाग्रत हुईं और उन्होंने युग-धर्म को अपनाया। अपने इस नए सुसंस्कृत स्वरूप में उन्होंने भी भारतीय सांस्कृतिक क्षेत्र में अपना स्थान बना लिया है। भारत की भावी रूपरेखा को निर्धारित करने में उनका पूरा हाथ रहना निश्चित है। परन्तु इन सब विभिन्न धाराओं में सामंजस्य स्थापित कर भारत की भावी संस्कृति को एकीभूत करने में गांधीजी का पूरा-पूरा सहयोग आवश्यक होगा।

अंग्रेजी भारत के शासन का भार अब भारत के विश्वस्त अनुभवी राष्ट्रीय नेताओं को सौंपा गया है। 'गांधी-युग' का अब अन्त हो रहा है। इस युग के महायज्ञ की यह पूर्णाहुति थी। आज दूसरे ही पंडित ने एक नए यज्ञ की तैयारियाँ प्रारंभ कर दी हैं। 'गांधी-युग' के उस तपस्वी पुरोधा को इस प्रथम सफल यज्ञ की समाप्ति पर शत-शत बधाइयाँ। अपने सर्वस्व की आहुति का अनूठा दृश्य समुपस्थित करनेवाले भारत के इस विगत संघर्ष-पूर्ण युग के प्रतीक, उस अर्द्धनग्न भिखारी को कोटिशः प्रणाम। उस परमपिता से यही प्रार्थना है कि भूखों-नंगों, निर्धनों, पराधीनों और दलितों का वह आसरा चिरस्थायी हो, और शान्ति तथा प्रेम का वह आदरणीय दूत स्वाधीन भारत में भी अपने अखण्ड तप द्वारा हमें सत्य और मानव-भ्रातृत्व का पाठ चिरकाल तक पढ़ाता रहे।*

---

* अक्टूबर २, १९४६ ई० के दिन गांधीजी की ७८वीं वर्ष-गाँठ के उपलक्ष में लिखित।

THE ŚABDĀLANKĀRA YAMAKA IN THE RĀMĀYAṆA

(PROF. SIVAPRASAD BHATTACHARYYA, KAVYATIRTHA,
SAHITYASASTRIN, M.A., B.T.)

श्रीभूषाऽऽदिदिशा पुरा कविवृषा क्लृप्ता कृतिं बिभ्रती
सत्यामोदिशिवा तता भुवि दिवाऽशोका च ज्योतिष्मती ॥
प्रन्योपाख्यपरा रसाद्वयभरा चिच्चन्द्रिका मुद्वति
पायात् प्राज्यनिरस्ततमः श्रुतिशिरःस्फूर्तिः शुभा भारती ॥ १ ॥
चित्नाद्रिमूलविकिरन् करुणा विशाला त्रैलोक्यनारितरला द्रुतपूतधारा ।
पीना कृताञ्जलिपुटैर्हतनापवम्तुस्यन्दा प्रसादविशदा मम सा समस्तु ॥ २ ॥

Poetry is the expression of impassioned utterance and poetic diction, in spite of the violent denunciations of its detractors, has ever managed to keep itself aloof from the rough, rugged and business-like nature of the speech of our daily intercourse in life. It is thus an accepted proposition that while in theory from very early times the place of feeling was incontrovertibly admitted in the parlance of Indian poetics, culminating in the definition (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्), given its set form in a mediaeval alankāra work, and in practice from time immemorial as in the composition of the Vedic hymns as the prominent feature of Indian poetry, the importance of felicitious expression (*Vakrokti* in the technology of an early master, adapted and adjusted to advanced contemporary thought by a later poeticist to cover up the ' ins and outs ' of poetic genius) was never allowed to remain atrophied. Ānandavardhana, the *doyen* of Indian theorists, in the midst of his sincere and outspoken grasp of the feeling element as the *sina qua non* of poetry, is not loath to confess the charms of apt and appropriate embellished expressions[1] and a later alankārika—a clever accomplished polemic writer of unsurpassed ability and a talented poet to boot—is not prepared to treat ' poetry ' as 'first class' unless it has the extra quality

1. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः। रूपकादिरलंकार—वर्णयति यथार्तलाम ॥ (Dhvanyāloka II. 18 N.S. Edn). Ānanda : is however, particularly severe about yamakas. But of this we shall treat later on.

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धम्, शक्तावपि प्रमादित्यम् ..... (II 16) अलङ्कारान्तराणिहि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहंपूर्विकया परापतन्ति ।

of figurative expression.[2] While the inner and more natural content of sense loomed large in the speculations of such theorists and in literary productions (an out-of-the-way illustration of which may be had in the Upaniśada),[3] the outer and more artificial aspect of śabda (words and forms) was never absolutely given the go-by. The achievement of Indian poetry lay in the acceptance of such an 'unwritten law' and the assessment of old Indian critical literature was well laid in the formulations of salutary canons, aiming at a harmonious commingling of these two aspects as evinced in literary treasures both in its positive and negative sides, *vidhi* and *niṣedha*, *anuvṛtti* and *nivṛtti*, as has been brought out in the semi-legendary and amusing account of the emergence of the Sāhityavidyā and the consequent role of the critic (Kāvyavidyāsnātaka) in the republic of letters as told out by the mediaeval poet-critic Rājaśekhara, in his curious and cosmopolitan alankāra work Kāvyamīmānsā.[4]

The *Rāmāyana* was conceived and grew in the midst of such literary perspective and being a legitimate evolution (*Śabdabrahmaṇo vivartah* in the language of a later poet) of thought-and-language, specialised in the manipulation and manoeuvring of the richness of expression (sūkti-sampad) about which we read in a fervent appeal:—

या दुग्धाऽपि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम् ।
हृदि नः सन्निधत्तां सा सूक्तिधेनुः सरस्वती ॥

The śloka, not an unheard of term in the current literature of later Vedic period and not an unattempted compositional versical mode in

---

2. तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा (Rasagangādhara) in his division of kāvyas and his comment on the distinction between the first and the second, अनयोर्भेदयो इनपद्भवनीयचमत्कारयोरपि प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्ति कश्चित् सहृदयसंवेद्यो विशेषः cf. also Bhāminīvilāsa III. 6.

निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा सालंकृतिः श्रवणमंगलवर्णराजिः ।
सा मामकीनकवितेव मनोऽभिरामा रामा कदापि हृदयान्मम नापयाति ॥

3. For charms in figures of sense e. g. the eloquent passage (in the chāndogyopaniṣad VII. 6) ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्याः; for figures of sound e. g. Taittiriyopaniṣad II 8. भीषास्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः and for figures of both types e. g. Kaṭhopnisad अनुपश्य यथापूर्वे प्रतिपश्य तथापरे। सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः। I. 6.

4. प्रायः प्राणभृतां प्रेमाणमन्तरेण नान्यद्बन्धनमस्ति। तदेतस्य वशीकरणं कामपि स्त्रियं सृजाभीति विचिन्तयन्ती साहित्यविद्यावधूमुदपादयदादिशच्चैनामेष ते रुषा धर्मपतिः पुरः प्रतिपद्यते तदनुवर्त्तस्वैनं निवर्तय च। भवन्तोऽपि ह्न्वमुनयः काव्यविद्यास्नातकास्वग्तिमेतयोः स्तुध्वमेतद्धि वः काव्यसर्वस्वं भविष्यति। (*Kāvyamīmānsā* Chap. III.)

rhythmic form either,[5] got a perennial lease of life granted to it,[6] ungrudgingly and unequivocally. It is no idle guess work when one finds in the oft quoted characterisation of the mahakāvya variety of poetic composition by Daṇḍin (काव्य ·कथान्तरस्थायि जायेत सदलङ्कृति) a tangible expression of the critic's evolution of the *Rāmāyaṇa* as a work of literary art that has been the exemplar for all time with the thousands of workers in the line. In its emphasis on the execution-side of its formal grandeur as much as in its unsurpassable projection of the workings of the human heart, it has maintained intact the bias that has been its heritage and that demarcated it clearly and readily from the ākhyāna variety of narrative and ballad poetry which flourished side by side and inspite of its intense practical value languished as an ambitious and fashionable form of literary venture, meant for those who soared high in flights of poetic fancy and art-embodiment. The ākhyāna as a business proposition from the literary viewpoint, at least in Sanskrit language, was a dead mass of inert matter, unless saturated with the soul of poetic embellishment as in the *Bhāgavatapurāṇa*.

The *Rāmāyaṇa*, it has been claimed, belongs to Eastern India as distinct from the land of *saptasindhavaḥ* or the land of Pāncāla, Śūrasena, Kāsmira and Vālhika and must have been influenced by its environment and entourage, which in course of time and of accessory political and social background, developed into the Gauḍī rīti or the Audramāgadhī Vṛtti of later alaṁkār writers. A dominant feature of this phenomenon, a distinct leaning or in later days, as some have put it, weakness to—the charms of śabda, had manifested itself at least in its embryonic form in the great epic too—the search after what was later designated as anuprāsa (alliteration) and word-jingles. The *Rāmāyaṇa* contains sufficient evidence of this centrifugal tendency—not always studied and aggressive, but subdued and nonetheless patent and of not inconsiderable potential virility. Even a casual student of the *Rāmāyana* (and this is true

---

5. e.g. *Taittirīyopaniṣad* II. 2 तदप्येष श्लोको भवति प्राण देवा अनुप्राणन्ति (hypermetric syllable) मनुष्या. पशवश्च ये। तदप्येष श्लोको भवति, भीषास्माद्वात पवते...।
Chāndyogyopaniṣad VII. 26. तदेष श्लोक:--न पश्यो मृत्यु पश्यति न रोग नोत दुःखताम्। पूर्व हि पश्य. पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः॥

6. ततो दिव्यदृष्टिर्देवी तस्मा ह्यपि श्लोकाय (s c. मा निषाद प्रतिष्ठा त्वम्....) वरमदात् यदुतान्यदनधीयानो यः प्रथममेनमध्येष्यते स सारस्वतः कविः सम्पत्स्यत इति।

For convenience sake all references in this papers to the Rāmāyana text are to the printed text of the N. S. and Bangabasi editions with the commentary of °Tilaka unless otherwise specifically mentioned.

of every recension of that text—for the original momentum is all too clear and irrepressible) cannot fail to be struck by the rather profuse use of this delectable device, which a culling of any four or five consecutive verses from the work taken at random is, sufficient to substantiate [7]. It must however be remembered that nowhere is this accomplished as the major motive clouding all other issues and bringing the point of *rasa* saturation (for the *Rāmāyaṇa* has been held in alaṅkāra tradition to be a work in which *rasatātparya* stands out in bold relief) to a dead stop or to the detriment of easy comprehension and smooth course of the subject-matter. This is equally true of the yamakas we are to deal with in this paper—they are there, but as marks or specks in a galaxy.

And this brings us to the point vehemently denounced about yamakas as a class in Alankāra nibandhas. Anandavardhana's strictures have been already noticed. प्रायेण यमके चित्रे रसपुष्टिर्न दृश्यते, says a later writer. The अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यता, rightly insisted upon by Ānanda and explained in the proper perspective by later writers,[8] is generally, if not universally, absent in such artificial chimes.

But let us look at the definition proposed in the Nāṭyaśastra of Bharata for this शब्दाभ्यासस्तु यमकम् (xvi. 59). Ābhinavagupta comments :—शब्दशब्देन वर्णः पद तदेकदेश इति मर्व गृह्यते तेनानुप्राम (the printed text reads wrongly प्राम) वाटीयावेदनेनैवोपमग्रह । The remark of a previous commentator अत्र चार्थभेदा मुनिना नादृत. ,[9] is also to be borne in mind.

---

7. e. g. II. 2.11—16. (N. S. edn).

अनुजातो हि मां मर्वैर्गुणैः श्रेष्ठो ममात्मज ।
पुरन्दरसमो वीर्ये राम. परपुरञ्जय ॥२२॥
त चन्द्रमिव पुष्येण युक्त धर्मभृता वरम् ।
यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रात. पुरुषपुगवम् ॥
अनुरूप स वो नाथो लक्ष्मीवाल्लक्ष्मणाग्रज ।
त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम् ॥२३॥
अनेन श्रेयमा मद्य मयोक्ष्येहमिमा महीम् ।
गतक्लेशो भविष्यामि सुते तस्मिन्निवेश्य वै ॥२४॥
यदिद मेऽनुरूपार्थं मया साधु मुमन्त्रितम् ।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ॥२५॥

So also III 31. 14-18 ; IV 1, 68-72 ; VI. 22. 70-73.

8. *Dhvanyāloka* II. 17 (N. S. Edn), and Anantadāsa's Locana on the *Sāhityadarpana*. Chap. X (introductory discussion).

9. *Abhinavabhārati* Chap. XVI. 69 (p. 328) The comment of Govindarāja (Bhusana) in the S. Indian recension on V. 5. 1. अस्मिन् सर्गे छेकानुप्रास (an oversight should be लाटानुप्रासः) न तु यमकम् is due to the ignoring of the evolution aspect of this figure. His citation from the *Kāvyaprakāsa* (भिन्नार्थाना त्यादीना वर्णाना विवृत्तिर्यमकम्) is misleading as the K. P. does not say so pointedly.

The variety मालायमक which has been defined (XVI. 83) as नानारूपैः स्वरैर्युक्तं यत्रैकं व्यञ्जनं भवेत् । तन्मालायमकं नाम.... and illustrated by the three verses नूली बली लली माली (XVI. 84) असौ हि रामा रतिविग्रहप्रिया इहः प्रगल्भा रमणं मनोगतम् (XVI. 85) and स पुष्कराक्षः क्षणजोहिताक्षः क्षरत्क्षतेभ्यः क्षतजं दुरीक्षम् (XVI.86), the latter two of which are only noted in the G. O. S. edition, serves to point out the wideness of this figure, indeed in early parlance yamaka stands for all figures of sound, an earnest of which is found in the phrase of Ānanda : यमकादि, though it would appear, from the vṛtti of Ānanda, he was insisting on a distinction from anuprāsas, as in Daṇḍīn's differential treatment of the two[10] in the *Kāvy.˜darsa.* Daṇḍin's definition (III.1) अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः यमकम्...is a great step forward in the gradual evolution of this alaṅkāra सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः । क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकम् विनिगद्यते (*Sāhityadarpaṇa* X), carries the point further. We must therefore divest our minds of the later foistings on the connotation of the term Yamaka before we attempt a treatment of the Yamaka verses of the *Rāmāyaṇa.* We can thus understand how and why the yamaka inspite of its change in connotation and of multiplicity of other śabdālankāra in later thought enlisted its support as the pet figure in the māhākāvyās, which evolved out of and followed closely the lead of the *Rāmāyaṇa.* The highly artificial nature of the later yamaka was conspicuous by its absence in the earliest concept of the alaṅkāra, thus in a manner meeting the charge of पृथग्यत्र निर्वर्त्यता the criterion proposed by Ānanda : and making for the appropriateness (यथार्थता) of this adventitious aid in Poetry.

The *Rāmāyaṇa* text as we have it now illustrates yamaka in two big sections, in canto fifth (the third in the N. W. recension) the eleventh in the Bengali recension of Gorresio and that with the commentary of Lokanātha Cakravartin[11] and seventh (fifth in the N. W. recension and thirteenth in the Bengali recension of the Sundarakānda. In the Kumbhakonam, Bangabasi, and Bombay edi-

10. पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा.... (I. 52) तत्तु नैकान्तमधुरम् (I. 61.) [तत्=यमकम्]

11. As published in the Calcutta Sanskrit Series in Bengali character. The N. W. recension (Lahore 1940) has V. 3. & V. 5, inclusive of some śloka verses not in yamaka as yamaka cantos. The S. I. text (Madras 1930) Kṛṣṇacarya's edn. and Narayana Swamin's edn 1933 contains practically the same text as the Bomaby edn. with the °*Tilaka* with a few improvements here and there. The latter canto does not find a place in the printed edition of Gorresio (1845-70) though manuscript in the Bengali recension do contain tnis and Lokanātha has commented on it. Gorresio in his preface pp. XVIII-XIX explains why on principles of metre, style and language he has left them out. But he has obviously overstepped his limitations as an editor.

tions, with the °Tilaka and the °Siromoni there are forty-six (29+17) verses [in the Bengali recension there are forty-one (26+15) verses in the two cantos and in the N. W. recension there are thirty-eight (25+13) such verses]. The first two verses in the former canto are to be left out of consideration as they do not involve yamaka and are expunged in the *Rāmatilaka* text with the remark (अत्र श्लोकद्वयं प्रक्षिप्तम्) where those two appear in a previous canto (V. 2) as the concluding verses. (So also the last verse in the latter canto of the Bengali recension text, the five other verses (V. 3. 25-29) and eight verses in the beginning in the latter canto (V. 5.) all in śloka metre). The Punjab manuscript and Gorresio's Bengali recension know them here and the comment of the *Rāmatilaka* is, therefore, not uncalled for. Of the verses in the Rāmatilaka text, four in the former (V. 5. 8. 9. 15. and 24) and two in the latter (V. 7.11 and 17) do not appear in the Bengali recension text, while two extra verses, one in each canto (V. 11. 26) also found in the N. W. recension in a faulty form and V. 13. 12 appear therein. We shall pry later into the causes of this expunging, additions and in some cases alterations of the text, which often seem to be deliberate and which would go to support the derivation of one recension from another on the basis of purely internal evidence for what they are worth, leaving out cases where the alteration or amendation, as the case may be, owed its origin to the puristic tendencies of the scribes, who occasionally intruded with their notions of artistic charm and grammatical and linguistic correctness and had their way.

Now to the passages. The first in point and order that is representation of the whole class of yamaka we have in the *Rāmāyaṇa* reads thus :—

ततः स मध्यं नतमंशुमन्तं ज्योत्स्नावितानं मुहुरुद्वमन्तम् ।
ददर्श धीमान् भुवि भानुमन्तं गोष्ठे वृषं मत्तमिव भ्रमन्तम् ॥

The reading printed in the Bengali recension मुहुरुद्वहन्तम्[12] also found in some manuscript of the S. Indian recension is obviously due to an oversight of the scribe, and we have several others in one or other recension, which will not call for separate

[12]. Ramaśaarman (varman) notices the alternative reading and explains सम्पृक्ता-भेदग्रहा विषयाः । It is perhaps significant that in the two yamaka cantos the views of the *kataka* (the wellknown commentary demarcates the traditionally accepted spurious from the genuine verses of the text) are seldom referred to

notice. The first line in the first passage of the latter canto is wrongly read for a similar reason in the Western and Bangabasi editions as स वेश्मजातं बलवान् ददर्श and not as ददर्श धीमांस्तु स वेश्मजातम् as in N. W. recension (there is no finite verb in the verse and absence of any comment on the part of the commentators on that score proves this to the hilt). A similar remark applies to V. 7. 15., which reads in the Bombay and Bangabasi editions in the first line :—इतीव तद्गृहमभिगम्य शोभनम्, jarring with the yamaka chime in the other lines. The Punjab and Bengali readings इतीव (इति स्म) तद्गृहमभिवीक्ष्य (मभिगम्य) सुन्दरम् are clearly the reliable ones. The first line in V. 5. 23. which reads in the Bombay and Bangabasi editions ततः प्रियान् प्राप्य मनोऽभिरामान् is again spurious and cannot be the original reading. We give the readings of the two recensions below :—

ततः प्रियान् प्राप्य मनोऽभिरामान् सुप्रीतियुक्ताः सुमनोऽभिरामाः ।
गृहेषु दृष्टा परमाभिरामा हरिप्रवीरः स ददर्श रामाः ॥
एवं स्त्रियो वै क्रमशोऽभिरामाः सुप्रीतियुक्ताः सुमनोऽभिरामाः ।
गृहे गृहे ता स हरिप्रवीरः परिभ्रमंस्तत्र ददर्श रामाः ॥ (Bombay v. 5-23)

Except for the weak form with the prefix सु in सुप्रीतियुक्ता, and for the lapse in the third line certainly a condonable fault in a yamaka, the second reading is a better one. The last line in V. 5·4 is better read in the Bengali recension as मथोदयन्तम् (instead of मथाभियान्तम्) for a similar reason. The second line in V. 5. 11 (पतिभिः सुपृक्ताः) in the °Tilaka and सुगुप्ताः in N. W. recension is better preserved in the other recension (where we have the readings स्ववृत्ताः or सुवृत्ताः for the selfsame consideration. V. 7. 8 (Bomaby Edn.) ददर्श युक्तीकृतचारुमेघचित्रं विमानं बहुरत्नचित्रम् which apparently has the sanction of the *Ramatilaka* should both for clumsiness and faulty yamaka be discarded in favour of the reading in the other recension :—यथा सरःसाम्बुजहंसचित्रं तथा बभौ तद्बहुरत्नचित्रम्। ददर्श न्यासं चित्रं विमानरत्नं बहुचित्रम्. The S. I. recension in Govindaraja's text however reads. The verse V. 7. 10. in the Bombay edition reads :—कृतानि वेश्मानि च पाण्डुराणि तथा सुपुष्पा अपि पुष्करिण्यः । पुनश्च पद्मानि सकेसराणि वनानि चित्राणि सरोवराणि ॥ with a poetaster's finish. In the Bengali recension it reads :—कृतानि तथा प्रफुल्लानि च पुष्कराणि । पुनः सपद्मोत्पलकेशराणि वनानि चित्राणि तथेतराणि ॥ (Govindaraja reads सुपुष्पानि च पुष्कराणि and explains the last word as पुष्करिण्यः taking the dilemma by its horns) an improvement, but not any really sensible verse, in spite of Lokanatha's exposition :—यथा पुष्कराणि श्वेतपद्मानि (?) तथा वेश्मानि पाण्डुराणि यथा वनानि जलानि पद्मयुक्तानि तथेतराणि वेश्मानि स्थलपद्मयुक्तानि । The other manuscript ; evidence is for the rejection of this verse altogether.

Amongst the thirty-eight verses or rather thirty-seven verses omitting the last named one, or thirty-six according to N. W. recension, thirty-three belong to the same class, where we have the पादान्तयमक variety of Yamaka as noted in the Nâtyasâstra (XVI. 63) (different from the variety with the same name in later literature, as in the Bhattikavyan X) having the same two syllables at the end of the lines. These include those verses (in the Bombay edition they are V. 5. 13. 14 and V. 7. 3.) in which, as in the illustration of this variety in the *Nāṭyaśāstra* (XVI. 64), we have three selfsame syllables at the end of the lines viz. क्षिपन्ति in the first two and जितानि in the last. It is to be noted that V. 5.7 = V. 3.7 there in the N. W. recension reads परिपूर्णविम्ब in the 4th line, while the other three lines end in शृण्त्र.:

Verses V. 5. 16. 26 and V. 7. 4. 16 are apparent deviations in all the recensions from the पादान्तयमक noted above. In V. 5. 16 the endings are a नदद्भिः, b सुसद्भिः (in the Bengali and N. W. recension सुहृद्भिः), c श्वसद्भिः also श्वसद्भिः in N. W. recension d श्वसद्भिः introducing a lack of symmetry censured in late Alaṇkārə nibaṇdhas. यमकं तु विधातव्यं न कदाचिदपि त्रिपात् । In V. 5. 26 we have in the first three lines विष्टाम् as the ending, in the last we have शिष्टाम्. In V. 7. 4. the lines end with हितानि, मितानि, तराणि (in the Bengali recension it is न्वितानि) so also in N. W. recension V, 7. 16. (Bombay) is thus read ततः स तां कपिरभिपत्य पूजितां चरमपुरी दशमुखबाहुनिर्जिताम् । अदृश्यतां जनकसुतां सुदुःखितां सुपूजितां पतिगुरुवेगनिर्जिताम् ॥ he lapse occurring in the third line. The corresponding verse in the Bengali recension, giving an improved text from the standpoint of sense or sense connection, errs in not being a yamaka at all and reads :—ततः स तां प्लवगवरः सुदुर्जयः सुदुःखितां पतिगुणभोगवर्जिताम् । इतस्ततो जनकसुतां विलोकयन्नदृष्टवान् भवदतीव दुःखितः । These verses (all in their present forms of the Bombay edition, and all but the last one of the Bengali recension) are in the nomenclature of later alankāra writers[13] of the अन्त्यानुप्रास type, as distinguished from the अन्तयमक type (though with the *Nāṭyaśāstra* definition as noted above शब्दशब्देन वर्णः पदम् it continues to be yamaka) a form of composition indulged in the *Rāmāyaṇa* in other contexts also (as in IV. 28. 24, 31, 41, IV. 30, 55 at in three line in 11, 28, 16 42, 43 IV 30, 28, 42, 49, 57), a form thus very old but later more in vogue; especially in

13. Vide the *Sāhityadarpaṇa* for the distinction which cites as an instahce of.

Prākrit gāthā literature.[14] And thence, according to the generality of scholars imported in provincial vernacular literature as rhyming verses.

In Bharata's nomenclature, as in the case of the verses discussed here, so also in the context just noted, we have quite a good number of instances of yamaka, including some e.g. (IV.28.25. ending with मभ्युपैति VI. 59.12 ending with जुष्टम् in all the lines), which is पादान्तयमक strictly from this standpoint, furnishing proof of the fact that this conscious use of a sound device was recognised quite early in Sanskrit literature. Even in works belonging to the later fringe of Vedic literature we have this illustrated. One of these verses V.5.12 in all recensions, embodies a yamaka of the श्लिष्टवर्ण type, envisaged in the Nātyaśastra (where we have कुलानि unmixed with other consonants in three lines, and संकुलानि-समकुलानि in the fourth) and in the Bombay. N.W. and S.I. Edn. in V.7.17. we have an extra verse (where the endings of the four lines are respectively तान्मन:, वत्र्मन:, तम्मन:, हृन्मन: where this peculiarity is more developed. This artificial श्लिष्टवर्ण variety, as distinguished from the easier विविक्तवर्ण variety figured dominantly in the discussion about the purity, grace and simplicity of the yamakas in the evolution of that figure in literature[15] which in later yamak kavyas—was utilised, assimilated and almost lost sight of in the wake of fantastic variations which got into currency and acquired fashionable forms of designation in later contributions on the subject.

The additional verses of the two sections throw a flood of light on the growth as well as confusion of the recensions. The Bombay

---

14. As very abundantly in the Prakrit Paigala chandas, sūtras (N. S. edn B. Indicated.). There are four verses (V. 5. 8, 15, 29 and V. 7. 15) where the *yamaka.* chime is divided in halves again we have three line yamakas in six verses. (V, 5. 4. 16. 26, V. 7. 4. 8. 15). Were it not for mss. evidence in other recensions we should have had to seriouly think whether these formed part of this context and indicate different stages in the evolution of the पादान्तयमक as known in other contexts of specpic (e.g. VI. 59. 8 of VI. 59. 139. ch. VI. ·10432 ab; VI. 66·78, abc VI ·96·8 ch. (Bengalverse), VI. 52·35 (Gerresio) in the definition of the *Natyāsāstra* and exemplified in an overwhelming majority in the other verses. The Yamaka verses in all in the passages common to all the recensions making allowances for irregular would be near about thirty; while the maximum number presented by all the recensions is forty-eight. In the present state of our mss. knowledge it is difficult to be certain or dogmatic, for none of the recensions seems to be unadulterated and the readings have been mercilessly tampered with according to the whims of the scribe.

15. This point has been discussed at some length by the present writer in his paper 'Four passages in the Kirātārjunīya' and their Interpretation (contributed to the Nagpur Session of the All India Oriental Conference, 1946).

edition with °*Tilaka* commentary, it appears, is an ecclectic text which combined the N.W. recension text (as now available from the Lahore Dayananda College Edn.) with a different text (was it the Western recension?[16]). The Bengal recension, esp-in the text commented on by Lokanātha Chakravartin, knows and utilises such a nucleus text (of course Lokanātha was considerably prior to Rāmaśarman or Varman) and has his eastern elaborate text, which exercises discretion in the acceptance or rejection of certain verses, always on principles of sound literary textual canons. The verses V.5.8.9.15 and 24 (Bombay Ed.) which are not found in the Bengali recension seem to have been left out for discretional consideration. The obvious tautology in चन्द्रो भगवाञ्छशांकः coupled with the irregularity in विनष्ट noted on in the °Tilaka and the °Siromoni ruled V.5.8. out. V.59. is an artless echo of IV.28.43 (Bombay) and the relevant idea has been told adnauseam in V. 3.67. &. V. 5.15. introducing anomalous forms much common in Vedic usage (समाभवन्त्यः-समालपन्त्यः etc. in accusative plural). The two versefillers च and हि noted in the *Rāmatilaka* and the two सु in the second line in V. 5.24 (or even the tautology in the alternative reading वक्त्राक्षिपक्ष्माः were two palpable blemishes for the verse. The इव in the sense of च in V.7.7a plus the repetition of the word प्रवेक in two lines, which word appears in the previous verse in accepted readings of the text was sufficient for its deletion. V. 7.17. though included in the N.W. recension text we have already noted as an elaboration in a new line of yamak and may be safely assumed to have been not included in the original text. In the additional two verses of the Bengali and N. W. recensions प्रविश्य जाम्बूनदजालकान्तं .. परार्ध्यरत्नाकरमद्रिमन्तम् at the end of V. 9.1 where the N.W. recension has in the last line स रावणान्तःपुरमाविवेश disturbing the yamaka there is a lapse in more senses than one, and the verse द्विजाश्च रत्नाचितपक्षशुण्डा द्विजाश्च क्षेमाजिनबाहुदण्डाः...op: reading हेमाचितचारुदन्ताः) द्विजाश्च चामीकरचारुदण्डा द्विजाश्च वाग्भिः परिपूर्णशुण्डाः (though it is found in a single Lahore manuscript and left out in the printed N. W. recension text) is highly suspicious from the standpoint of yamaka study it introduces a solitary instance different

---

[16]. The author of the *Rāmatilaka* might not unlikely have been influenccd by the Mahratta (Western) recension tradition as he introduces himself (in the second concluding verse in the commentary on the Yuddhakānda in the *Rāmatilaka*) as भट्टनागेशपूज्य Bhatta Nagera is probably the well-known नागेश (नागोजी) भट्ट of Mahratta extraction. Was this Rāmavarman the same as the patron Rāmasinha of Srngaverapura, which was veritably the citadel of the N. W. Recension of this epic ?

from the पादान्तयमक variety presented all through out the two cantos and combines पादादियमक with पादान्तयमक, rare in early literature and not noted amongst the ten varieties ennumerated in the *Nāṭyaśāstra.* (XVI.60-63).

It is recognised by Daṇḍin and is based on principle of the division being determined by the beginning, middle or end of a line. Moreover the point lies in the different meanings of the word द्विजदण्ड and शुण्ड, a device not known to be utilised elsewhere in the *Rāmāyaṇa.*

In these two cantos and in the other occasional yamaka specimens scattered in the work we have the earliest and most primitive type of that śabdālaṅkāra available in classical Sanskrit literature. The elastic concept of the śabdābhyāsa was substitued by a rigid, rigourous conformity with grammatical conception, the determining principle of subvariety was at another stage shifted to the parts of the line, this principle of division came in course of time to take note of close contiguity or otherwise अव्यपेतव्यपेतात्मा the idea of विविक्तवर्णता and श्लिष्टवर्णता which was nothing but an accidental feature, coming in the way of the घुणाक्षरन्याय, was motivated, so far and so forth—these were evolutions in the yamaka scheme, not often spontaneous like the unfurling of the petals of a lotus but highly artificial, strained and far-fetched. And this is the history of the yamakālaṅkāra right through Ghaṭakarpara, Kālidasa, Bhāravi, Māgha, Mānānka (The author of the Vṛndāvankavya and later elaborators in the domain of exclusively yamaka kavyas like the *Nalodaya* and the *Yudhiṣṭhiravijaya*, which were often in their own confession feats of intellectual gymnastics मतिबलमासाद्य यमितम्, in the language of one of these poets—a history of the brief outlines of which were indicated [17] in a resume of the yamaka Kāvyas in Sanskrit some fifteen years ago by the present writer. A section of ultra-sceptic thought, that likes to ride roughshod over every thing that owes its origin to the trend of traditional learning would feel amused and be prickled at what has been broached here—and yamakas, ślesaṣ, sāmāsabhāuyiṣṭhatā are curse and anathema, born and bred in a vileage of corruption and bad taste with many ! But the thoughtful historian of Sanskrit literature must have to take care of such startling and flaring hits—they are on the grounds of literary works known and available with time, nothing more. It has been

17. In a paper 'The Vṛndavana Yamaka and its Author' contributed to the Sixth Session of All India Oriental Conference and published in 1933 in the Bulletin of the Varendra Research Society, Rajshahi, also in the *Mauktikāvali* by the present author on the *Alankārakaustubha* of Kavi-Karnapura under the figure yamaka.

contended[18] that 'the *Rāmāyaṇa* is not really the first Kāvya'? The appelation Ādikavī is only a vain title given to the poet, whoever he is. As matter of fact in the evolution of the present form of the *Rāmāyaṇa* three distinct stages are noticeable—viz. (1) 'the epic Kernel; conveniently to be included under the itihāsapurāna section of vidya, noted in early Indian thought, not systematised into a unitary form समाम्नातपूर्वं but with the proviso विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु निबन्धनम् in the words of a later writer, (ii) the unitary poem, old, vast and exquisite, which drew forth high praise from great masters, not merely a laudable experiment in new metres (Bhavabhūti's characterisation नूतनश्छन्दसामवतार: is not to be understood in the restricted sense to the verse मा निषाद or even to the form of the poem as a whole but to the application अवतार : of such forms and aids in the domain of non-Vedic poetry, for Bhavabhūti was too well posted a Vedic scholar to suggest such an aimless and unwarranted claim, but an epic tied by all unities through which an increasing purpose runs and Ānanda : in a spirit of reverential approach, remarking वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्याऽपि कस्यचित्। दृश्यते प्रतिभाऽर्थेषु तत्तदानन्तुमक्षतम्॥ and (iii) a work which because of accessory influences grew into importance and volume in course of time mainly with the changed outlook about the hero, the tribal hero being defied रामाभिधानो हरि: in the language of Kālidāsa and later having contributed to a cult of worship. The present form of the text in the recensions available may be or is of the third stage—but the second stage was an accomplished fact, a pretty old work to boot.[19] It is wrong to say that the *Mahābhāsya* of Patanjali while referring to 'many' literary works does not know the *Rāmāyaṇa* The citations in the Mahābhāsya, are not many in the case of non-Vedic secular works. The short extracts from the non-Vedic works can with no stretch of imagination be given an older date than the *Rāmāyaṇa*. The Mahābhāṣya knows words like किष्किन्धा, कैकेय, तिमिंगिल, क्षौमिति; (VI. 1·57) (IV. 13.38) (VI. 3·70) and cites at least one verse from the *Rāmāyaṇa* (under iii. 1.67 V. 34.6 and VI. 128·2) एति जीवन्तमानन्दो नर: वर्षशतादपि the *Mahābhārata* like

---

[18] In the paper 'Rama ane the Raghuvaṃsa' by Dr. C. Kunhan Raja contributed t6 the volume of Studies in Indology presented to MM. P. V. Kane, (in 1941).

[19] Jacobi's conclusions based primarily on linguistic, geographical and astronomical grounds (in the *Das Rāmāyaṇa* Bonn, 1893) as to dating the work between 800 to 500 B. C. can reasonably refer to the second stage. It is very likely that the references in the *Mababhasya* of Patanjali to words and passage trceable in the Rāmāyaṇa are to this stratum of the text of the *Rāmāyaṇa*.

the *Rāmāyaṇa* is similarly treated, one verse कालः सृजति भतानि, being cited.

As for the yamaka portion, it is present in all the recensions and therefore can claim a high antiquity. This much can be said in view of what has been argued above, that the evidence of alānkāra thought is decisive as to its very old age. Bharata's *Nāṭyaśāstra*, inspite of its different strata in the Alaṁakāra portion (chaps. VI. and XVI.) contains things which are older than what we get in later dateable works, which later are reckoned as the pioneer work in the subject. The verses are in the upa-jāti metre—because of requirements of the particular yamakā type, they cannot be in the śloka metre. The subject matter प्रदोषवर्णनम्, चन्द्रोदयवर्णनम्, रावणभवनविचयः is not in the least foreign to the context and later poets (like Bhaṭṭi) have introduced cognate matter in their yamaka treatment. Yamakas and similar embellishments are understandable and feasible propositions also in the light of the inscriptional evidence[20] which being solid, massive and weighty, cannot be trifled with and are actually given a priority consideration in the present day researches of Indologist.

साधमनेयश्रेयः प्रकृताकारं भृतदुष्कृतहारम् ।
नरमिव[21] नरमिव[22] नरमिव[23] वहिता विहित[24] भृशं भजत ॥

---

20. In Rudradaman's Junagadh inscription (150 A. C.) in prose we have this figure represented in lines:—6, 10, 13, of a developed type व्यपेतयमक The epithet कान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्यकाव्य is a decisive proof of this. We have abundant evidences of yamaka in prose kāvyas of the traditional type. The Hathigumpha inscription of Kharavela in Prakrit which may be earlier than this, has this sound device utilised in lines, 1, 3, 9, and particularly in line, 17.

(सवदेवायतन सकारकारकस्स अपतिहत चक्रवाल चको चकोधरा जुतचको पवतचको........)

21. नारायणमिव । 22. अर्जुनमिव । 23. श्रेष्ठं पुरुषं गुरुमिव । 24. विशेषेण हितम् अथच कविकर्मणा सम्पादितं प्रकृतः सन्दर्भे विमृष्ट आकारोऽवयवसंस्थाविशेषो यस्य तत् काव्यमिति यावत् ।

साहित्यशास्त्रम्

पं० श्री पुरुषोत्तम शर्मा रानडे

अयि तत्तच्छास्त्रकृतभूरिपरिश्रमा, विद्वन्मणयः, श्रीमतां 'हिजहायनेस महारावलसाहब बहादुर के. सी. एस आई.' इत्याद्युपाधिसमलंकृतानां भास्वद्वंशक्षत्रियवीराणां सुगृहीत-नामधेयानां सारस्वतोपासकानां डूंगर-पुरराज्याधिपतीनां **श्रीमल्लक्ष्मणसिंहवर्म**महानु-भावानां रजतजयन्ती-शोभनमहोत्सवे समर्प्यमाणाभिनन्दनग्रन्थरत्नार्थं किमपि विषयं प्रस्तुत्य लेखनीं व्यापारयितुं, रजतजयन्तीसमभिनन्दनग्रन्थसंपादनसमिति-मन्त्रि-महाशयैः पण्डितवरेण्यैः **श्रीमद्गिरिजाशङ्करशर्म**महोदयैरकारणसुहृत्तल्लजैः प्रवर्तितोऽहं शीर्षक-निर्दिष्टविषयमधिकृत्य चतुरः शब्दान् लिलिखिषामि।

भारतवर्षीया, विपश्चिद्वरा, न खलु न जाने यत्, स्वायत्तीकृतसुमधुरलेखनकला-चणानां विचक्षणानां हासायैव स्यादेष मामकीनो लेखो नाम। भवतु वा यो वा को वा भावः, माणिक्यपुञ्जापणे गुञ्जाविक्रयिणः पदवीं स्वीकृत्यैव वस्तुन्यस्मिन् प्रावर्तिषि।

प्रथमं तावत्साहित्यशब्दार्थं विमृशामः। **'पद्यात्मकं काव्यं साहित्यम्'** इति न्याय-कोशः। पद्यशब्दो गद्यस्याप्युपलक्षकः। नो चेत्कादम्बर्यादिग्रन्थरत्नानां संग्रहो न स्यात्। **'शब्दार्थयोः सहभावेन विद्या साहित्यविद्या'** इति काव्यमीमांसायां राजशेखरः। 'न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र योगात्। साहित्यं नाम तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वम्।' इति व्यक्तिविवेकटीकाकृत्। एतेन शब्दा-र्थयोः सहितत्वमेव साहित्यमिति फलितम्। अथवा सहितौ नाम हितेन काव्यानुकूल्येन सहितौ शब्दार्थौ तयोर्भावः साहित्यमित्यपि वक्तुं साम्प्रतम्। पाणिनीयं शास्त्रं सकललौकिक वैदिकशब्दावबोधोपयोगि, साहित्यशास्त्रं तु तदेकदेशभूतकाव्योपकारकशब्दार्थज्ञानकृत्, एतादृश उभयोर्भेदः। साहित्यस्यैव 'काव्यशास्त्रम्' इत्यपि नामधेयं नयनपथगोचरी भवति। भूयोभिर्ग्रन्थकारैः साहित्यमेवोद्दिश्य 'काव्यशास्त्रम्' इति व्यवाहारि। 'अलंकार-शास्त्रम्' इत्यप्यस्य नामधेयं दरीदृश्यते। **'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान्प्रचक्षते।'** इति दण्डिवचनात् **'प्राधान्येन हि व्यपदेशा भवन्ति'** इति न्यायेनालंकारशास्त्रमिति व्यवहारः। युक्तं चैतत्। एवं च साहित्य-काव्य-अलंकारशास्त्रमित्येतत्त्रितयमप्यनर्थान्तरम

सहृदयाः सूरिवराः! एतत्साहित्यशास्त्रं पदवाक्यप्रमाणादिशास्त्रवदार्षं न तथा वेति केचन संशयीरन्, अतस्तद्विषयको विमर्शो नातीवाप्रासङ्गिकः स्यादिति तद्विषये मनागिव लेखनीमायासयितुं समीहामहे। **'कपिलस्य कणादस्य गौतमस्य पतञ्जलेः। व्यासस्य जैमिनेश्चापि शास्त्राण्याहुः षडेव हि ॥'** इत्यभियुक्तोक्तिं जानन्त्येव कृत मतयः। प्रस्तुतपद्यनिर्दिष्टाः कपिल-कणाद-गौतम-पतञ्जलि-व्यास-जैमिनिमहर्षिप्रवरा लोक-प्रणयशसः सांख्यादिषड्दर्शनानि सूत्रयांबभूवुः। शब्दशास्त्रं तु पाणिनिकात्यायनपतञ्जलि-

नामधेयैर्मुनिप्रवरैः प्रणीतम्। यथैतानि शास्त्राणि तत्तन्मुनिप्रकाण्डैः प्राणायिषत तथा साहित्यशास्त्रस्य को नाम प्रणेतेति। न च नाट्यशास्त्रप्रणेता भरताचार्य इति वाच्यम्। यतो नाट्यशास्त्रस्य सप्तत्रिंशत्संख्याकेष्वध्यायेषु पञ्चषमात्रेष्वेवाध्यायेषु साहित्यशास्त्रोपोद्बलको विषयो लोचनपथमवगाहते। इतरेऽध्यायास्तु साहित्योपाङ्गभूतं नाट्यविषयमेव प्राधान्येन कटाक्षयन्ति। तस्मान्न तथा वक्तुं युक्तियुक्तम्। अग्निपुराणे ३३७तमाध्यायतः ३४७तममध्यायं यावदेकादशस्वध्यायेषु साहित्योपष्टम्भका विषया भूयोभिरंशैः प्रतिपादिताः समीक्ष्यन्ते। **'सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलंकारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्'** इति काव्यप्रकाशटीकाकृन्महेश्वरः स्वीयकाव्यप्रकाशादर्शाख्यटीकायां प्रत्यपीपदत्। अन्यत्रापि **'काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिर्निबबन्ध'** एतेन साहित्यशास्त्रप्रणेतृषु प्राथम्यमग्निपुराणमेव समश्नुते। अग्निपुराणस्याष्टादशपुराणान्तःपातित्वादष्टादशपुराणानां श्रीव्यासमहर्षिप्रणेतृत्वाच्च श्रीव्यासमहर्षिरेव साहित्यशास्त्रप्रणेतेति सिध्यति। परमेतत्साहित्यशास्त्रप्रपञ्चेऽग्निपुराणस्याऽऽदिमत्वं नतरां क्षोदक्षममिति केचनैतिह्यसंशोधनपटीयांसो न क्षमन्ते विद्वांसः। यतः, अग्निपुराणवर्तीनि भूयांसि लक्षणपद्यानि भरतप्रणीतनाट्यशास्त्रे दण्डिकृतकाव्यादर्शे भामहसंदृब्धकाव्यालंकारे यथावद्बहुत्र दृश्यन्ते। तस्मादग्निपुराणेन तत्तद्ग्रन्थेभ्यस्तत्तानि लक्षणानि संगृहीतानीति तेषां युक्तिवादः। अग्निपुराणादेव भरतदण्डिभामहप्रमुखैरालंकारिकैस्तत्तानि लक्षणवचांसि समग्राहिषत, इत्यपि वक्तुं सुशकमिति चेन्मैवम्। अग्निपुराणे रामायणहरिवंशपिङ्गलपालकाप्यशालिहोत्रामरकोशादीनां वचनानां बाहुल्येनोल्लेखसद्भावात्पुरावृत्तविदां प्रतिपादनं यथार्थमपि स्यादिति सद्भावनावशीकृतचेतसामपि संशेतेतरां चेतः। अत्र सदसद्विवेकचतुरचेतसां धीरेव निर्णेतुं क्षमा। वस्तुतः सूक्ष्मेक्षिकया निभालिते बहुविधविषयसंकरसंकीर्णत्वेऽपि, अग्निपुराणस्य तदन्तःपातिकतिपयपद्यानां भामहादिग्रन्थेषु सद्भावादग्निपुराणं पश्चात्तनमिति व्याहर्तुं न खलु मामकीना वाक्प्रस्फुरति। अतः पुनरार्षमग्निपुराणमेव साहित्यशास्त्रेऽग्रिमसंमानगौरवं विन्दतीति बोद्धव्यम्। अतो हीतरशास्त्रवत् साहित्यशास्त्रमप्यार्षमित्याकलयितुं नतरां काऽप्यनुपपत्तिः। आस्तां पल्लवितेन।

वेदवाङ्मयादिनैकविधवाङ्मयप्रकारेषु प्राङ्निरुक्तलक्षणं साहित्यशास्त्रं प्राधान्येन काव्यार्थमेवाऽऽत्मानमजीजनत्। कविशिक्षार्थं कविकलाकृतिचिकित्सार्थं वा महीयान् खलूपयोगः साहित्यस्य। **'साहित्यसंगीतकलाविहीनः'** **'साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थम्'** इत्यादिस्थलेषु काव्यमेवाभिप्रेतार्थः साहित्यशब्दार्थः। नाट्यरूपं दृश्यं तद्भिन्नं श्रव्यं चेति द्विविधं हि काव्यम्। **'काव्यालापाश्च ये केचिद्गीतकान्यखिलान्यपि। शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः'** इति विष्णुपुराणं काव्यमुपश्लोकयति। **'त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्' 'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा। कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।' 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः पर-**

निर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥' 'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिषेवणम्' इत्यादिभिः पद्यैर्मम्मटभामहादयः काव्यफलानि प्रदर्शयामासुः 'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।' इति विश्वनाथोऽपि काव्यफलं प्रकटितवान्। 'ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सुरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम्। स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ॥' 'ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे। लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥' एवं रुद्रटः काव्यफलं प्रशंसति स्म। 'यथा वेदशास्त्रपुराणादेर्हितप्राप्तिरहितान्निवृत्तिश्च तथा तत्समात्काव्यादपि' इतिप्रतापरुद्रीयोल्लेखो यत्सत्यं शास्त्रेभ्योऽपि खलु काव्यस्याऽऽहन्तीं वर्णयामास। कुन्तलोऽपि 'धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः। काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाल्हादकारकः' इति पद्येन काव्यफलं व्याजहार। आस्तां तावत्। काव्यविषये सर्वेषामालंकारिकाणां समस्वरमेव घण्टाघोषो यत्, काव्यं नाम महार्णव इव ज्ञानस्य, आकर इव द्रविणागमस्य, मातृगृहमिव कीर्तिकामिन्याः उदयाचलो धर्मस्य कल्पतरुरिव कामस्य सोपान इव मोक्षस्य, आदर्श इव व्यावहारिककौशलस्य कुलभवनं परमानन्दस्येति।

एवं साहित्यशास्त्रोपयुक्ततां काव्यफलं चोक्त्वा काव्यनिर्मितिसाधनानि पश्यामः। एतद्विषये दण्डिनस्त्वेवं मतम्—'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च प्रतिनिर्मलम्। अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥' भामहस्त्वेवमाह—'काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः। शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्। विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥' 'त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः' इति रुद्रटः। 'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥' इति काव्यप्रकाशे मम्मटः। इत्थंप्रकारैर्भूयोभिर्ग्रन्थकृद्भिः स्वस्वमतिप्रकर्षानुगुणं किंचिन्न्यूनातिरिक्तानि भूयांसि मतानि प्रत्यपादिषत। तानि सर्वाण्यपि समीचीनान्येव। परं दिगन्तरलुठत्कीर्तिमहामहनीयः पण्डितराजराजो जगन्नाथः 'तस्य च कारणं केवला कविगता प्रतिभा' इति ब्रूते। सदृशं चैतत्। अन्यथा हठादाकृष्टैः पदैर्ग्रथितानि काव्यानि नीरसानि अत एव च कर्णकटूनि जायन्ते। न खलु वयं व्युत्पत्तिलोकशास्त्राद्यवेक्षणाभ्यासादीनामपेक्षा नेति व्याहर्तुं धृष्णुमः। परं तानि सर्वाण्यप्यभ्यासमायत्तन्ते। नैतादृशी प्रतिभा। सा तु सुरूपता-सुमधुरध्वनिता-सुवक्तृता-सुधीरतेतिविशिष्टलोकातिशायिगुणगणवत् संख्यातीतजन्मान्तरीयपुण्यपुञ्जेन लब्धा नैसर्गिक्येवापेक्ष्यते। एतावता सत्काव्यनिर्मितिहेतुभवन्नैकविधसाधनेषु कविगता प्रतिभैव प्राधान्यकोटिमाटीकते। इतराणि साधनानि तु तत्साधकानि।

अथ काव्यहेतूक्त्यनन्तरं काव्यलक्षणनिर्वचनमापतत एव प्राप्नोति। अतः खलु तद्विषयमधिकृत्य तत्तेषां साहित्यशास्त्रनदीष्णानां विदुषां मतानि निरीक्षामहे। काव्यलक्षण-

विषये साहित्ये ग्रन्थकर्तॄणां महीयसी मतविभिन्नता दरीदृश्यते। भिन्नभिन्नग्रन्थकृद्भिः स्व-स्वमतानुरोधेन काव्यलक्षणानि नैकविधानि प्रणीतानि। **'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'** अभिप्रेतार्थेन युता—वक्तृचेतःकुहरगतार्थं प्रतिपादयित्री शब्दपङ्क्तिः काव्यशरीरमिति दण्डिनो विधानम्। **'रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः'** इति काव्यालंकारसूत्रकृद्वामनः। **'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि। बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥'** इति वक्रोक्तिजीविते कुन्तलः। **'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते'** सकलसाधारणप्रसिद्धवर्णनपद्धत्यपेक्षया कवि-कौशलसंपरिपूर्णा विचित्रतायुक्ता च वक्रोक्तिर्नाम। भामहोऽपि **'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥'** इतिलक्षणं विधाय कुन्तलमेवानुससार। **'निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्। रसान्वितं कविः कुर्वन् प्रीतिं कीर्तिं च विन्दति॥'** इति सरस्वतीकण्ठाभरणे भोजः। **'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।'** इति काव्यप्रकाशे मम्मटः। **'गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ। गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः॥'** इति प्रतापरुद्रयशोभूषणे विद्यानाथः। **'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्'** इति काव्यानुशासने हेमचन्द्रः। **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** इति साहित्यदर्पणे विश्वनाथः। **'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** इतिसाहित्य-शास्त्रार्णवरहस्यपारदृश्वा रसगंगाधरे जगन्नाथपण्डितः। उपरिनिर्दिष्टतत्तत्साहित्यिकवचोभिः साधारण्येन पञ्च सम्प्रदायाः पन्थानो वोत्पद्यन्ते। केचन रीतिसाम्प्रदायिकाः। अन्ये रससाम्प्रदायिकाः। इतरेऽलंकारसाम्प्रदायिकाः। अपरे ध्वनिवादिनः। कतिचन वक्रोक्ति-प्रतिपादका इति। एवं बहुविधत्वेऽपि ध्वनिरेव काव्यस्य आत्मा जीवितं वेति कल्पः श्रेयानिति भूयसां सम्मतम्। आस्तां तावत्। अथ काव्यप्रकारविषये दृष्टिं प्रक्षिपामः—व्यङ्ग्यार्थस्य प्राधान्ये प्रथममुत्तमकाव्यम्। व्यङ्ग्यार्थस्यान्यार्थापेक्षया गुणीभावे गुणीभूतव्यङ्ग्यं द्वितीयं मध्यमम। प्रस्फुरद्व्यङ्ग्याभाववत्त्वे यमकोपमाद्यलंकारापरनामकचित्रप्राधान्यवच्चित्रकाव्यमधमम्। इति मम्मटाचार्यः। अत्रैव शब्दचित्रादर्थचित्रस्य भेदमङ्गीकृत्य चतुर्विधं काव्यमिति जगन्नाथीयं मतम्। उत्तममध्यमाधमकाव्यप्रकारे गुणास्तु नितान्तमावश्यकाः। **'श्लेशः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्। अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते'** एते दश गुणाः नाट्यशास्त्रे भरतेनोक्ताः। वामनदण्डिभ्यामपि नाट्यशास्त्रादेव दशगुणाः स्वस्वग्रन्थे संगृहीताः।

सूरिप्रवराः, यदेतद्वाङ्मयं नामोच्यते तत्खलु सममेव जगता प्रादुरभूत्। **'इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।'** इति दण्डिवचसोऽपीदमेवाऽऽकूतम्। तच्च वाङ्मयं बहुविधम्। वैदिकं शास्त्रीयं सौत्रं स्मार्तं

पौराणिकमैतिहासिकमित्यादिकम्। सर्वत्रापि काव्यं साहित्यं वा समुज्जृम्भत एव। वैदिक-वाङ्मये भूयांसि खलु काव्यात्मकवर्णनानि विलसन्तितराम्। तथा हि **'अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्। जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः।'** (मं० १ सू० १८४) अस्मिन्मन्त्रे उपमाचतुष्टयमिति निरुक्तभाष्ये दुर्गाचार्यः। अत्रोपादेव्या नितान्तरमणीयं वर्णनम्। तथा च—**'द्वा सुपर्णा सुयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।'** अस्मिन्मन्त्रे द्वौ सुहृद्भूतौ पक्षिणौ—जीवेश्वरौ—एकमेव पिप्पलतरुमाश्रित्य निवसतः। तयोरेकः स्वादुतरं पैप्पलं फलमत्ति, अन्यस्तु किमप्यभक्षयन्नेवौदासीन्येन तिष्ठति। इदमपि मनोहारि रुचिरं वर्णनम्। एतत्तुल्यानि प्रचुराण्युदाहरणानि श्रुतौ संलक्ष्यन्ते। तैत्तिरीयारण्यके नारायणोपनिषदि **'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य'** इत्यादि, **'ब्रह्मणो महिमानम्'** इत्यन्तं रूपकालंकारात्मकं यज्ञियप्रक्रियाप्रदर्शकं वर्णनमति हि नाम चेतःसमाह्लादकं खलु। एवमेव महाभारतेऽपि सहस्रशः काव्यशोभातिशयशालीनि लक्ष्याणि लक्ष्यन्ते। यद्यपि महाभारतं हि रामायणवन्न काव्यग्रन्थः किन्त्वितिहासः, तथाऽपि तत्र साहित्यं बाहुल्येन वरीवर्ति। **'इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।'** **'इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।'** इत्यादि भारतीयं वर्णनं याथातथ्येन प्रत्येति। महाभारतं नाम सकलकविप्रवराणां संविधानकविषये जीवातुभूतमेव। रामायणं तु स्वरूपत एव काव्यमिति घण्टाघोषं जोघुष्यते। तत्र यदि काव्यमयानि वर्णनानि पद्यानि वा लोचनयुगुलगोचराणि जायेरन् किं तर्हि तत्र कुतूहलम्। **'हसन्तमिव फेनौघैर्नृत्यन्तमिव चोर्मिभिः।'** इति सागरवर्णनं प्रमोदयति खलु सचेतसां चेतांसि। **'रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः। निःश्वासान्ध इवाऽऽदर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।'** इति चन्द्रवर्णनं तु कविकुलसार्वभौमस्य सविशेषमुपमाविषये सार्वत्रिकसुप्रथितयशःप्रकाण्डस्य कालिदासस्यापि यत्सत्यं चेतश्चमत्कुर्यात्। एतादृशि सुबहूनि वर्णनानि रामायणेऽवलोक्यन्ते।

साहित्यशास्त्रे ग्रन्थकृतः प्राय उपचत्वारिंशाः स्युः। प्रतिग्रन्थकारं कोऽप्यभिनवो विशेषो दृश्यत एव। परं साहित्यशास्त्रस्य यानि खलु सकलान्यङ्गानि सम्भवन्ति तेषां सर्वेषामप्यूहापोहान् विचार्य ग्रन्थप्रणेतारो विरलविरला एव। तथा हि—भरतस्य नाट्यशास्त्रे रसविषयिणी चर्चा दृश्यते, इतरेऽपि विषया नेति न तथापि तस्य विशिष्यप्रतिपादननिर्भरो नाट्यविषयमधिकृत्यैव। यैः खलु साहित्यशास्त्रस्यापरनामधेयमलंकारशास्त्रमिति व्यवह्रियते तेऽलंकाराश्चत्वार एव, उपमा-दीपक-रूपक-यमकेत्याख्यास्तत्र दृश्यन्ते। एतेन तदानींतने काले चतुरधिका अलङ्कारा नाऽऽसन् इति सन्देग्धि चेतः। ततस्तना दण्डिभामहोद्भटवामनादयो ग्रन्थकृतो न्यूनाधिकप्रतिपादनपरत्वेन तुल्यकक्षाभाजः। तत्र वामनस्तु रीतिसम्प्रदायस्य पुरस्कर्तेति तदीयो विशेषः। तत आनन्दवर्धनेन ध्वन्यालोकं नाम ग्रन्थं प्रणीय विशिष्य ध्वनिसम्प्रदायः प्रवर्तितः। इममानन्दवर्धनमुद्दिश्य **'सहृदयचक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृत्'** इति लोचनकारस्योक्तिर्यथार्थभावं भजते। ध्वन्यालोकग्रन्थरत्नेन साहित्यसंपदः सौभाग्यं विशेषतयैव समुज्जम्भतेतराम्। ध्वन्यालोकोत्तरं राजशेखरस्य काव्यमीमांसा विषयविवेचन-

दृशाऽभिनवामेव कामपि शोभां साहित्यसंसारेऽपुष्णात्। अभिनवकाव्यं विधित्सुभिः काव्य-मीमांसायाः कविचर्यानामको दशमोऽध्यायः सूक्ष्मेक्षिकयाऽभ्यसनीयः। ततो वाग्देवतायाः साक्षादभिनवावतारेण पारणशर्वरीशधवलयशःपटलेन मम्मटाचार्येण काव्यप्रकाशो नाम ग्रन्थो व्यरचि। तस्मिन् नाट्यं विहाय साहित्यप्राणायमानान् सर्वानपि विषयान् सशास्त्रं स चर्चितवान्। मम्मटस्य भाषाभङ्गी गभीरा। कामं सन्तु प्रभूता ग्रन्था साहित्यशास्त्रे परं काव्यप्रकाश एव प्रामाण्यपदवीमुपढौकते। अत एव हि महाविद्यालयेषु बी० ए० कक्षायां विश्वविद्यालयेनालंकारशास्त्रविषयकः स ग्रन्थमणिः क्रोडीकृतः। काव्यप्रकाशानन्तरं रुय्यकप्रणीतोऽलंकारसर्वस्वाभिधानो ग्रन्थः समुदपद्यत। अस्मिन् प्रामुख्येण शब्दालंकारा अर्थालंकाराश्च मीमांसिताः। अत्रत्यं विवेचनं सोपपत्तिकं सविस्तरं च। ततो वाग्भटप्रणीतो वाग्भटालंकाराख्यो ग्रन्थो जन्म लेभे। अत्र नावीन्यं न किमपि परं साहित्ये प्रविविक्षूणां विद्यार्थिनां नितान्तमुपकारावहः। अथ विद्यानाथकृतः प्रतापरुद्रयशोभूषणाभिधो ग्रन्थ उदपद्यत। नाट्यशास्त्रानन्तरं नाट्यविषयको ग्रन्थो विनाऽमुं ग्रन्थं नैकोऽपि प्रादुरभूत्। नाट्यलक्षणनिबन्धनेनानेन ग्रन्थप्रणेत्रा 'प्रतापरुद्रकल्याणं' नामैकमभिनवं नाटकमेव व्यरचि। ग्रन्थप्रणेतुरेतस्यासाधारणोऽयमेको विशेषः कुतुहलास्पदीभवति यत्, स्वकीयग्रन्थान्तःपातीनि सकलान्यपि लक्ष्याण्यसौ स्वयमेव निरमासीत्। 'प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः। **अलंकारप्रबन्धोऽयं सन्तः कर्णोत्सवोऽस्तु वः॥'** इति स्वयमेव ग्रन्थकृदुल्लिखति। नाट्यमितरेऽपि साहित्यविषया अनेन चर्चिता एव। ततो विश्वनाथस्य 'साहित्यदर्पणं सर्वाङ्गीणविवेचनसौभाग्यातिशयान्मदयति खलु रसिकानां चेतांसि। नैतस्य ग्रन्थस्य भाषाशैली गुर्जरीस्तनमिवातितरां निगूढा नापि वाऽऽन्ध्रीपयोधरवत्स्वरूपा, अपितु मरहट्ट-वधूवक्षोजाभा सती सरला सरसा च शोशुभ्यते। विशेषतोऽलंकारशास्त्रे निकाममवगाढा मतिरेतस्य। अनेन किल ग्रन्थकृता प्राचीनानां प्रचुरतरान् विलोक्य ग्रन्थान् मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य च तानशेषान् स्वप्रणीतसाहित्यदर्पणस्य दशमे परिच्छेदेऽलंकारलक्षणानि निरू-पितानि। यत्र प्राचीनैः सममात्मनो विसंवादस्तत्र सुमधुरया युक्त्या प्राचीनमतं निराकृत्या-ऽऽत्मन एव मतं स्थिरीकृतम्। वामनादिभिः प्राचीनपण्डितैरङ्गीकृतानां च शब्दार्थ-गुणानां पृथग्भावोऽनेन निरस्तः। यत्तु कैश्चित् प्रत्यपादि 'साहित्यदर्पणस्य षष्ठः परि-च्छेदः श्रीमतो धनञ्जयस्य दशरूपकस्य संक्षेपं गमितोऽनुवादः' इति। नैतन्मतं क्षोदक्षमम्। दशरूपकेऽप्रतिपादितानामपि प्रभूतानां विषयाणां तत्र सद्भावात्। नह्युपरूपकलक्षणानि दशरूपके दृश्यन्ते सन्ति च तानि साहित्यदर्पणस्य षष्ठे परिच्छेदे। श्रीमतो विश्वनाथस्य कविभावोऽपि पुनरसामान्यः। सरसकोमलपदविन्यासचतुरा प्रसन्नवाग्विभवाऽस्य कविता विघूर्णयति सहृदयरसिकानां चेतांसि। अनेन खलु कविराजेन साहित्यदर्पणप्रणयनात्प्राक् काव्यप्रबन्धा एव संग्रथिता इति साहित्यदर्पणोदाहृतैः शतशः पद्यैरवबोद्धुं सुगमम्। विश्वनाथानन्तरं नामग्राहमुल्लेखयितव्यः साहित्यिकः श्रीमानप्पय्यदीक्षितः। महामहिम-शाली खल्वयं महात्मा पण्डितमण्डलीमण्डनायमानोऽप्पय्यदीक्षितमहाशयो न केवलं कविरिति न वा नैकविधग्रन्थरत्नप्रणेतेति धरातलं मण्डयति स्म। अपि तु धर्मपरायणत्वेनापि लोकोत्तरा कीर्तिरस्य दिगङ्गनानामङ्गणेषु नरीनर्ति खलु। कामं सन्तु शताधिका अस्य विद्वद्व-रस्य तत्तद्विषयेषु ग्रन्थाः परं प्रकृतसाहित्यशास्त्रेऽस्य ग्रन्थत्रयी प्रथतेतराम्। 'कुवलयानन्दः'

'चित्रमीमांसा' 'वृत्तिवार्तिकं' चेति । तत्र कुवलयानन्दग्रन्थो विद्यार्थिवृन्दं बहूपकुर्यादिति निश्चप्रचम् । तस्मिन् लक्षणानि लक्ष्याणि च प्रायश्चन्द्रालोकादेव संगृहीतानि । यानि किल चन्द्रालोके नाऽऽसन् तानि स्वयं विरच्य तत्र तत्र निवेशितानि । लक्ष्यलक्षणकारिकाविवरणं, तत्तदलङ्कारोपयुक्तानामन्यकाव्यनाटकादिस्थितपद्यानां विवेचनं च ग्रन्थकृत एव । चन्द्रालोके शतमलङ्काराः कुवलयानन्दे तु चतुर्विंशत्युत्तरशतम् । श्रीदीक्षितप्रणीतो द्वितीयो ग्रन्थस्तु चित्रमीमांसा नाम । यदव्यङ्ग्यमपि चारु तच्चित्रम् । इति चित्रलक्षणमुपन्यस्य शब्दचित्रमर्थचित्रमुभयचित्रं चेति चित्रस्यापि त्रिविधता प्रतिपादिता । त्रिविधेऽपि चित्रे शब्दचित्रं प्राय: क्षणैकप्रमोदाधायकं नीरसं चेति न कविभिराद्रियते । अत एव शब्दचित्रांशं विरहय्य केवलमर्थचित्रस्यैव चित्रमीमांसायामुपपादनमिति ग्रन्थकृदेव प्रत्यशौपीत् । **उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् । रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेत: ॥'** इत्युक्त्वोपमैव प्रयोजनभेदाद्रूपकादिसंज्ञाभिर्व्यपदिश्यत इति । प्रायस्त्रयोविंशत्यलङ्कारा उपमाश्रयिण: । अस्तु । तृतीयो ग्रन्थश्चास्य वृत्तिवार्तिकं नाम । अत्र किलाभिधालक्षणाव्यञ्जनाख्यानां तिसृणामपि वृत्तीनां सोदाहरणानि लक्षणानि तद्भेदाश्च सविस्तरं प्रपञ्चिता: । हन्त नोपलभ्यते स समग्रो ग्रन्थ: किन्तु परिच्छेदद्वयमेवोपलभ्यते । तत्र प्रथमे परिच्छेदेऽभिधाया द्वितीये च लक्षणाया निरूपणमतिमात्रमनोहरम् । अस्य च प्रबन्धस्य वृत्तिविषयकत्वाद्वृत्तीनां च त्रित्वात्तिसृणामपि पृथक्प्रतिपादकैस्त्रिभि: परिच्छेदैर्भाव्यमिति कृतधियो जानीयुरेव । तत्राभिधा नाम शक्त्या प्रतिपादकत्वम् । सा त्रिधा । योगो रूढिर्योगरूढिश्चेति । यथा—तत्राखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढि: । अवयवशक्तिमात्रमापेक्षत्वं योग: । अवयवसमुदायोभयशक्तिमापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरूढि: । एवमादयो विषयास्तस्मिन् ग्रन्थे सामीचीन्येन प्रपञ्चिता: ।

सहृदया:, अथ जगन्नाथीयं किमपि विलिख्योपसंहर्तुं कामयामहे निबन्धममुम् । साहित्यशास्त्रेऽतिमात्रगौरवमावहन् चरमो ग्रन्थरूप: (प्रशंसायां रूपम्) जगन्नाथीयो रसगङ्गाधरो नाम । सरस्वानिव पण्डितभावस्य विलास इव प्रतिपक्षक्षपणक्षमस्य युक्तिकदम्बकस्य शेवधिरिव परमतराह्लादस्य नृत्यागारमिवालङ्कारशास्त्ररहस्यनर्तक्या: श्रीमत्पण्डितराजप्रणीतो ग्रन्थोऽयम् । एष किल पठनकाले रसिकोत्तमानां विद्वत्तल्लजानां प्रतिक्षणं प्रतिपदं च समुदञ्चयति चेत:कासारे परमाह्लादबुद्बुदान् । सम्प्रति विद्यमानश्चायं हन्तासमग्र एवेत्यत्र न लेशतोऽपि सन्देह: । अस्य हि चरमं पद्यमपि न समग्रमुपलब्धम् । उपलब्धमाननद्वितयमेव । तत्रापि प्रथमं समग्रं द्वितीयं त्वसम्पूर्णमेव । अत्र प्रथमानने काव्यरसादीनां निरूपणं द्वितीये च ध्वनेर्लक्षणाया अलङ्काराणां च लक्षणानि सोदाहरणानि । रसगङ्गाधरस्थितान्युदाहरणानि तु स स्वप्रणीतान्येवोपयुयोजेति **'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित् ॥ किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्ध: कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥'** इतिपद्येन स्फुटीभवति । रसगङ्गाधरे तत्र तत्र श्रीदण्डिप्रभृतिषु जरत्तरादीनि पदानि प्रयुज्यमानानि विस्पष्टयन्तीदं श्रीजगन्नाथरायस्य परां किल कोटिं गतमहंयुत्वम् । प्राचीनालंकारिकेषु नैकोऽपि वर्तैवंविधो महात्मा य: खलु जगन्नाथरायेण निजपरमोग्रखण्डनास्त्रेण न जर्जरीकृत: । तत्रापि श्रीमदप्पय्यदीक्षितेषु महीयान् पुन: प्रणयो जगन्नाथरायस्य । अत एव रसगङ्गाधरे पण्डित-

रायेण **'इति केनाप्यालंकारिकम्मन्येन प्रतारितस्य दीर्घश्रवस उक्तिरश्रद्धेयैव ।' 'इति सहृदयैराकलनीयं किमुक्तं द्रविडपुङ्गवेनेति ।'** इत्यादिना ग्रन्थेनोग्रतरदुर्वचोभिः संभाविताः श्रीरसगङ्गाधरप्रणेत्रा श्रीदीक्षिताः । चित्रमीमांसाखण्डनं तु रसगङ्गाधर एव श्रीमदप्पय्यदीक्षितकृतौ चित्रमीमांसायां समुद्भावितानां दोषाणां संग्रहरूपं न पृथगाकलयितुं युक्तम् । न जानीमः कोऽत्र हेतुजगन्नाथस्यास्य चित्रमीमांसाखण्डनस्य पृथग्गणने । कोऽप्यस्तु वा तदीयो हेतुः परं निश्चप्रचमे तत्, प्रतिपक्षेऽपि समुद्भाव्यमानेन दोषेण परमार्थत एव दोषेण भवितव्यं न पुनः संशयास्पदीभूतेन हठादिवोत्पाद्यमानेन वा । न चैतज्जगन्नाथरायस्य खण्डनसरणौ दृष्टम् । अयं खलु पण्डितराजो वस्तुतोऽदुष्टानपि कांश्चिद्विपयान् सदोषानाचष्ट । नैतच्चारु । यथा चैतत्तथा सिक्थौदनन्यायेनैकेनोदाहरणेन विशदीक्रियते । **'रूपयौवनलावण्यस्पृहणीयतराकृतिः । पुरतो हरिणाक्षीणामेष पुष्पायुधीयति ॥'** इदं पद्यं श्रीदीक्षितैर्वाचकोपमेयलुप्तायामुदाहरणं निरमीयत । अत्रत्यं जगन्नाथरायीयं खण्डनमित्थम्—**"इदं च पद्यमपशब्ददुष्टमवैयाकरणतां कर्तुः प्रकाशयति । तथा हि पुरत इति नगरवाचिनः पुरशब्दात्तसिलि हरिणाक्षीणां नगरादित्यर्थस्यासंगतेः ।"** इत्यादिकं प्रतिपाद्य **"अत एव 'अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्' इति प्रायुङ्क्त महाकविः ।"** इति कालिदासस्याऽऽत्मनः साधकत्वं प्रतिपादितं पण्डितराजेन । पण्डितमतेन **'पुरः'** इति शब्दः शब्दशास्त्रसिद्धः **'पुरतः'** इति शब्द उत्सूत्रः । इति । अहो ! पाण्डित्यम् । अहो गजनिमीलिका ! अहो लोकोत्तरैव खण्डनशैली वशीकृतसरस्वतीकस्य पण्डितराजस्य । हन्त भोः ! **'शालीनता हन्त ! हता ! विपश्चिताम् ।'** रसिकोत्तंसाः ! सुधियः ! **'अमुं पुरः'** अत्रत्यं पुर इति पदमद्राक्षीज्जगन्नाथरायः कालिदासस्य नहि नहि स एव कविः **'इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना'** इति कुमारसम्भवे, तथा च **'दुःखेन मे चरणौ पुरतः प्रवर्तेते'** इति शाकुन्तले पुरतः शब्दं प्रायुङ्क्त तन्न दृष्टवान् । भवभूतिरपि **'पश्यामि' तामित इतः पुरतश्च पश्चात्** दण्डिपण्डितोऽपि **'पुरजनस्य पुरतो भवदीयैः'** इति प्रयुयुजे । एवं शतशः काव्यादिषु 'पुरतः' इति शब्दो दरीदृशीति । वैयाकरणसार्वभौमो नागेशभट्टस्तस्य टीकायामेवमाह—'इदं चिन्त्यं पुरत इति निपाताङ्गीकारात्' इत्यादि । तात्कमप्यस्तु परं महामहिमशालिनोऽस्य पण्डितराजस्य शास्त्रीयग्रन्थेऽसाधारणपाण्डित्यप्रकर्षः काव्यग्रन्थेषु चातिभूमिं गतः प्रसादगुणो लोकोत्तर एव विलसतितराम् । यदि पुनरयं महात्मा निजवैदुष्यस्याननुरूपमहंकारमत्यक्ष्यत्तर्हि नूनमवदिष्यन् विद्वांसः, अहो समुदितं सुवर्णे सौरभ्यं सम्प्राप्तं रत्ने मार्दवं सम्पतितं वा तप्ते गोपयमि खण्डशर्कराचूर्णमिति । महाभागेष्वेतेषु युक्तायुक्तविमर्शो नैव युक्त इत्यलं पल्लवितेन । अत्र सुबहु वक्तव्यं परं लघीयसोऽस्य निबन्धस्य मर्यादानुरूपं यावन्मतिप्रकर्षं यत्किमप्युट्टङ्कितं तन्मधुरीकुर्युः क्षमैकप्रधानाः सूरिवरा इति विश्वस्य विरमति ।

साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वराज्य

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

साठ-इकसठ वर्ष के राजनैतिक संघर्ष के बाद—जेल-यात्रा, कालापानी, मृत्यु और फाँसियों की घोर यन्त्रणाओं के पश्चात्—अब सन् १९४६ में ऐसा प्रतीत होने लगा है कि शायद हम स्वराज्य के निकट आ गये हैं और पराधीनता से मुक्त होने से केवल साल-दो-साल की ही अवधि बाकी रह गई है। हमारे राजनैतिक नेता हमें विश्वास दिलाने लगे हैं कि हम स्वराज्य के द्वार पर पहुँच चुके हैं। तर्क के लिए हम उनकी बात को माने लेते हैं, यद्यपि हमें अब भी यह आशङ्का है कि राजनैतिक क्षेत्र की अन्तिम लड़ाई अभी शेष है।

ऐसे शुभ-अवसर पर जब राष्ट्रीय सरकार का निर्माण हो रहा है, हमारे मन में एक ही प्रश्न उठता है—"राजनैतिक स्वाधीनता की मंजिल तय कर लेने के बाद राष्ट्र के पुनर्निर्माण की योजना में क्या 'साहित्यिक तथा सांस्कृतिक स्वराज्य' के लिए भी कुछ स्थान रक्खा गया है?" ऐसे भी देश हो सकते हैं, जो राजनैतिक दृष्टि से स्वाधीन होने पर सांस्कृतिक दृष्टि से पराधीन हों। भारत के राजनैतिक नेताओं से हमारा सीधा सवाल यह है :—

"क्या आपने कोई ऐसी स्कीम भी सोची है, जिससे हम साहित्यिक तथा सांस्कृतिक चीजों के लिए विदेशी भाषाओं तथा विदेशी ग्रन्थकारों के गुलाम न रहें?"

आज की हालत

तो यह है कि यदि हम अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद करने बैठते हैं तो हमें कोई अच्छा कोष ही नहीं मिलता! 'विशाल-भारत'-कार्यालय के दस वर्षों में हमारा काम अंग्रेजी-बँगला कोष से चला और बन्धुवर हरिशङ्कर जी शर्मा—जो हमसे कई वर्ष पहले के लेखक हैं—अंजुमन तरक्किए-उर्दू द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी-उर्दू डिक्शनरी से अपना काम चलाते हैं! अंग्रेजी विश्वकोष की तरह की पुस्तक निकालने में कम से कम पन्द्रह वर्ष लग जायँगे और सो तब, जब अभी से कार्य प्रारम्भ कर दिया जाय।

हमने पढ़ा था कि युक्त प्रान्तीय सरकार सड़कों के निर्माण में ढाई करोड़ रुपया खर्च करने जा रही है। सड़कों को हम बहुत जरूरी चीज मानते हैं। निस्सन्देह कच्ची सड़कों को पक्की बना देने से जनता का बहुत हित होगा, पर सड़कों की बनिस्बत हम मनुष्यों के मस्तिष्क को और भी महत्त्वपूर्ण समझते हैं। यदि युक्त प्रान्तीय जनता का मस्तिष्क ऊबड़-खाबड़ अवस्था में पड़ा हुआ है, उसमें कच्चे विचारों के झाड़-झंखाड़ उगे हुए हैं तो पक्की सड़कों पर मोटर-बसों में बैठकर भी वे अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकेंगे। श्री सम्पूर्णानन्द जी ने संकटग्रस्त साहित्य-सेवियों के संरक्षण की बात कही है।

तदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं। देश के लिए अनाथालयों और मानसिक अस्पतालों की भी जरूरत है, पर उससे भी अधिक आवश्यक है ऐसे उपाय खोज निकालना, जिनसे लेखक स्वस्थ रह सकें और उन्हें स्वास्थ्यप्रद मानसिक भोजन भी मिलता रहे।

यह बात निर्विवाद है कि साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों के लिए केवल स्कूली शिक्षा पर्याप्त नहीं। उससे क्षेत्र जरूर तैयार होता है, पर विचारों का बीज बोनेवाले व्यक्ति आर्थिक संकट-ग्रस्त अध्यापक-समाज में कम ही उत्पन्न हो पाते हैं। जो अध्यापक छः घण्टे स्कूल में मगज-पच्ची करके घर लौटते हैं, उनसे यह उम्मेद करना कि वे बाकी बचे वक्त में स्थायी साहित्य की रचना कर सकेंगे न्यायसंगत न होगा। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि लेखक और पत्रकार, कवि और विचारक राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए उतने ही आवश्यक हैं, जितने स्कूल या कालेजों के अध्यापक। विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या हमारी राष्ट्रीय सरकारें लेखकों तथा पत्रकारों, कवियों या विचारकों के लिए कुछ सुविधाएँ प्रदान कर सकती हैं? सरकारों द्वारा आश्रित साहित्य-सेवी अमर साहित्य की रचना कर सकेंगे, यह तो हम नहीं मानते, बल्कि हम तो अपनी अनुभूति के बल पर दृढ़ता-पूर्वक कह सकते हैं कि प्रत्येक आश्रय, चाहे वह किसी पूँजीपति का हो या राजा-महाराजा का, अथवा किसी स्वदेशी-विदेशी सरकार का, आखिरकार अनैतिकता तथा निर्बलता को ही उत्पन्न कर सकता है। राज्याश्रित कबीरदास तथा तुलसीदास की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि संयुक्त प्रान्त, बिहार और मध्य-प्रदेश में दस-बीस हिन्दी कवियों और लेखकों को आश्रय मिल भी जाय तो उससे हमारे साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रश्न हल नहीं होंगे। केन्द्रीय सरकार के अथवा प्रान्तीय सरकारों के सूचना-विभागों में भी सौ-पचास आदमी खप सकते हैं, पर मशीनों के उन निर्जीव पुर्जों से सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की उम्मीद करना महज खामखयाली होगी। रेडियो विभाग में दस-बीस को नौकरी मिल सकती है और सौ-दो सौ को दक्षिणा, पर यह प्रयत्न कार्य के महत्त्व को देखते हुए नगण्य है।

मुख्य प्रश्न यह है कि क्या हमारी सरकारें साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं को कुछ भी महत्त्व देती हैं? और उससे भी अधिक आवश्यक प्रश्न यह है कि क्या हम लोग स्वयं अपने को कुछ महत्त्व देते हैं? जो अधिकांश में सार्वजनिक जीवन का निर्माण करते हैं और जिनके प्रचार के बलबूते पर देश के आन्दोलन चलते हैं वे भिखमंगों की तरह राजनैतिक नेताओं के सामने हाथ पसारें, इससे अधिक दयनीय स्थिति और क्या हो सकती है? गम्भीर चिन्तन के बाद हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि साहित्य और संस्कृति के पौधे सरकारी बगीचों में नहीं उग सकते। यह कार्य तो यथासम्भव पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति ही कर सकते हैं। रूसी लोग अपनी पंचवर्षीय योजनाओं से तुर्गनेव और टॉल्सटॉय या गोर्की पैदा नहीं कर सके और न कोई भी सरकार शतवर्षीय योजना से भी रवीन्द्रनाथ पैदा कर सकती है। जब कल्पनाशील व्यक्ति व्यवहार-कुशल आदमियों को साथ लेकर स्वतन्त्रतापूर्वक छोटे-छोटे सांस्कृतिक केन्द्रों का निर्माण करेंगे और उनकी अखण्ड तपस्या से इस प्रकार के केन्द्रों की संख्या सैकड़ों-सहस्रों पर पहुँचेगी, तब कहीं किसी महाकवि के आगमन के लिए क्षेत्र तैयार हो पावेगा। हमारा विश्वास इन छोटे-

छोटे केन्द्रों में और उनके सामूहिक संघ में है, सरकारी सहायता में नहीं। पर साथ ही साथ हम यह भी मानते हैं कि लेखकों, कवियों और पत्रकारों में हमारे कितने ही बन्धु ऐसे हैं, जो सरकारी सहायता में विश्वास रखते हैं और उन्हें यह पूर्ण अधिकार है कि वे प्रयोग करके देख लें। अब तक सरकारों से जो मदद मिली है उसका एक बड़ा हिस्सा पूँजीपति प्रकाशकों की जेब में गया है। दो-चार हजार रुपये छोटे-मोटे फुटकर लेखकों या कवियों को भले ही मिल गये हों, जो ऊँट के मुँह में जीरे के समान है। हम तो इसी को बड़ी गनीमत समझेंगे कि अयोग्यों को आश्रय देकर अथवा पूँजीपतियों का संरक्षण करके हमारी ये सरकारें सात्विक वृत्ति के साहित्य-साधकों के पथ में काँटे न बिछा दें। यह हम नहीं कहते कि स्वाधीन-चेता लेखकों और राष्ट्रीय नेताओं के सम्मेलन से कुछ लाभ न होगा। सर्वश्री सम्पूर्णानन्द जी, डाक्टर महमूद, डाक्टर काटजू, आचार्य बदरीनाथ वर्मा और द्वारिकाप्रसाद जी मिश्र प्रभृति कितने ही विचारशील पदाधिकारी ऐसे हैं, जो किसी भी व्यावहारिक जनोपयोगी आयोजना में सहायक हो सकते हैं। यदि वे ऐसा नहीं करते या नहीं कर पाते तो इसमें उतना उनका दोष नहीं है, जितना उनकी परिस्थितियों का है। जिनके हाथ में शक्ति होती है, उनके चारों ओर स्वभावत: ऐसे व्यक्ति इकट्ठे हो जाते हैं, जो स्वार्थ-साधन के लिए जनता के हितों का बलिदान करने-कराने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं।

युक्त प्रान्तीय सरकार पत्रकारों की स्थिति की भी जाँच करनेवाली है। यह प्रश्न गम्भीरतापूर्वक विचार करने का है। सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार विचारों की स्वाधीनता की घोषणा करे। यह असम्भव नहीं है कि हमारी सरकारों को विरोधी दलों के पत्रों के साथ वही नीति बरतनी पड़े, जो ब्रिटिश-सरकार अब तक स्वाधीनता-प्रचारक पत्रों के साथ बरतती रही है। एक पत्रकार की हैसियत से हमें अपनी सरकार का भी विरोध करना चाहिए, यदि हमें यह विश्वास हो जाय कि समाजवादी अथवा विरोधी दल के पत्रों के प्रति कोई अन्याय हो रहा है। सभी सरकारें अपना प्रचार कराने के लिए खास-खास पत्रों अथवा पत्रकारों को विशेष सहायता, जिसे हम खुले शब्दों में रिश्वत कह सकते हैं, दिया करती हैं। स्वाधीन-चेता पत्रकारों को इस विषय में अत्यन्त सतर्क रहने की जरूरत है। क्या ही अच्छा हो यदि **भारतीय भाषा-संघ** की फिर से स्थापना कर दी जाय और उसकी ओर से एक कमेटी नियुक्त हो, जो भारत सरकार तथा प्रांतीय सरकारों से इस विषय में बातचीत करे। कमेटी में निम्नलिखित सदस्य रक्खे जा सकते हैं :—

मौलवी अब्दुल हक साहब, मौलाना सुलेमान नदवी साहब, सर राधाकृष्णन, श्रीयुत पुरुषोत्तमदास जी टंडन, डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, सरदार बहादुर माधवराव विनायक किबे, काका कालेलकर, डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी, आचार्य क्षितिमोहन सेन, डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल, श्रीयुत के० एम० मुंशी, श्रीमती सोफिया वाडिया और तैमिल तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के एक-एक प्रतिनिधि। यह कमेटी एक साहित्यिक सांस्कृतिक योजना तैयार कर सकती है।

वतमान परिस्थिति में हमें ऐसी स्कीम उपस्थित करनी चाहिए, जो व्यावहारिक हो और जिसमें राष्ट्रभाषा अथवा प्रान्तीय भाषाओं के प्रति किसी प्रकार का अन्याय न किया गया हो। यदि केन्द्रीय सरकार अभी इस आयोजना पर विचार न भी करे तो बिहार, युक्त प्रांत तथा मध्य-प्रदेश के मन्त्री लोग तो आपस में मिलकर विचार कर ही सकते हैं। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित प्रस्ताव उक्त कमेटी के सम्मुख रख सकते हैं :

(१) दक्षिण भारत की भाषाओं के अध्ययन के लिए दिल्ली में एक महाविद्यालय की स्थापना की जाय।

(२) इम्पीरियल लाइब्रेरी की तरह की एक महान् लाइब्रेरी स्थापित की जाय, जिसमें देशी भाषाओं के ग्रन्थ रहें और जहाँ से ये ग्रन्थ रुपया जमा कर देने पर उधार दिये जा सकें।

(३) भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में अंग्रेजी विश्वकोष जैसे सन्दर्भ ग्रन्थों के निर्माण के लिए सहायता दी जाय।

(४) प्रान्तीय सरकारों द्वारा प्रत्येक जिले में एक केन्द्रीय पुस्तकालय स्थापित किया जाय।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों तथा पत्रकारों के लिए सुविधाएँ दी जाव। विदेशी भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन का समुचित प्रबन्ध किया जाय।

(६) प्रान्तीय सरकारों द्वारा जनपदीय कार्य-क्रम को प्रोत्साहन दिया जाय।

(७) पत्रकार-विद्यालयों को आर्थिक सहायता दी जाय।

(८) देश के भिन्न-भिन्न पत्रकार-संघों को उनके महत्त्व के अनुरूप समान रूप से सुविधाएँ दी जावें।

(९) प्रान्तीय सरकारों द्वारा प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो और साहित्यिक संग्रहालयों को सहायता दी जाय।

(१०) साम्प्रदायिकता का विष दूर करने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा एक संस्था की स्थापना की जाय।

(११) प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलों में साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों के लिए एक मन्त्री अलग ही रखा जाय। साहित्य, संगीत कला विभाग स्थापित हो। स्वर्गीय अरण्डेल ने अपने एक लेख में यह उपयोगी प्रस्ताव रक्खा था।

(१२) छोटे-छोटे सिपाहियों की दृष्टि से भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का एक विस्तृत इतिहास लिखाया जाय, जो इक्कीस जिल्दों में छपे।

चूँकि अब राजनैतिक संघर्ष समाप्त होने को है, देश के पुनर्निर्माण के प्रश्न हम सबके सम्मुख उपस्थित होंगे। कहीं पर बाँध बाँधे जायेंगे और बिजली पैदा की जायगी तो कहीं कृषिसम्बन्धी नाना प्रकार के प्रयोग होंगे। बहुत सम्भव है कि संहारक अस्त्र-शस्त्र के निर्माण में हमारी स्वदेशी सरकार को करोड़ों खर्च करने पड़ें। विदेशी आक्रमणों से बचाव का बहाना लेकर सहस्रों बमवर्षक विमान और मशीनगनें बनाई जा सकती हैं

ऐसे अवसर पर देश को आवश्यकता है ऐसे विचारकों की, जो हमें बतला सकें कि जिस राष्ट्र को जन्म देने जा रहे हैं—या यों कहिए पुनर्जीवित कर रहे हैं—उसकी आत्मा का रूप क्या होगा। प्राचीन संस्कृति का कितना हिस्सा सुरक्षित रहेगा और नवीन संस्कृति की क्या-क्या बातें उसमें जोड़नी होंगी ? हमारी संस्कृति ग्रामीण होगी या शहरी ? शस्त्रास्त्रों की हिंसामयी बाढ़ में हमारी अहिंसा तथा अपरिग्रह की नौकाओं की कहाँ तक रक्षा हो सकेगी ? इस महाद्वीप में जिन भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का संगम हुआ है, उनको संघर्ष से कैसे बचाया जाय, उनमें समन्वय कैसे स्थापित किया जाय ? रूस तथा चीन के प्रयोगों से हम क्या-क्या लाभ उठा सकते हैं, यह प्रश्न भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्या गांधीवाद और समाजवाद का समन्वय सम्भव है ? हमारा अनुमान है कि पन्द्रह-बीस वर्ष के अन्दर ही इस देश से निरक्षरता दूर हो जायगी। उस समय पाठकों की संख्या में कई करोड़ की वृद्धि हो जायगी। उनके लिए हमें अभी से कैसा साहित्य तैयार करना चाहिए ? क्या इन सब प्रश्नों पर सामूहिक रूप से विचार करने की आवश्यकता नहीं है ? यदि देश के चुने हुए दस-पन्द्रह विचारक इन प्रश्नों पर अपनी सम्मति निश्चित भी कर लें, तो फिर उसको सर्व-साधारण तक पहुँचाने का काम क्या आसान है ? **दरअसल हमें एक नवीन संस्कृति का निर्माण करना है।** वह संस्कृति किस प्रकार की होगी, उसका ढाँचा कैसा होगा, यह प्रश्न अभी तय होने को है। महात्मा जी जब सात लाख ग्रामों को सात लाख प्रजातन्त्रों में परिवर्तित कर देने की बात कहते हैं तो हमें प्रतीत होता है कि वे विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त का अनुगमन कर रहे हैं, जो निस्सन्देह अराजकवाद का मौलिक सिद्धान्त है, पर स्वयं कांग्रेस के अनेक नेताओं का इससे मतभेद हो सकता है। हमारे कितने ही नेता ऐसे हैं, जिनका डिक्टेटरी में दृढ़ विश्वास है और अनेक समाजवादी तो डिक्टेटरी के परम उपासक हैं। जिस अभागे देश में 'तन-मन-धन गुसाईं जी के अर्पन' करने का सिद्धान्त सैकड़ों वर्षों से प्रचलित हो और जहाँ भक्त का कल्याण भगवान् के सामने शून्य बन जाने से ही होता हो, वहाँ डिक्टेटरी के पनपने में भला क्या देर लगेगी ? **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज'** का मोटो भावी हिटलरों तथा स्टैलिनों के खूब काम आ सकता है।

जहाँ तक लेखकों, कवियों, पत्रकारों तथा विचारकों का प्रश्न है, अराजकवाद ही उन्हें सबसे अधिक स्वाधीनता दे सकता है। कठोर केन्द्रीय शासन में केवल वे ही लेखक पनप सकते हैं, जो अपने सिद्धान्तों को ताक में रखकर आत्मा को क्रय-विक्रय की चीज समझ लें।

इन सब प्रश्नों पर हमें गम्भीरता-पूर्वक विचार करना है। कार्य-व्यस्त शासकों के भरोसे बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। इसके सिवाय हम लोगों की भी परीक्षा के दिन अब आ गये हैं। विदेशी शासकों को गाली देना जितना आसान था, स्वदेशी शासकों की खरी आलोचना करना उतना ही कठिन होगा। अपने दृढ़ व्यक्तित्व तथा स्वतन्त्र विचार-शैली से हमें यह सिद्ध कर देना है कि हम ईमानदारी के साथ अपनी सम्मति सदैव स्पष्टता-पूर्वक प्रकट कर सकते हैं; चाहे उसके परिणाम-स्वरूप हमें किसी भी खतरे में क्यों न पड़ना पड़े।

'साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वराज्य' के मूल सिद्धान्तों को निश्चित करना और उनके आधार पर भवन का निर्माण करना—या यों कहिए कि राष्ट्रीय आत्मा को पुनर्जन्म देना—वस्तुतः यह कार्य वाल्मीकि और व्यास, अश्वघोष और कालिदास, कबीरदास और तुलसीदास, रवीन्द्र और इकबाल के आध्यात्मिक वंशजों का है। हमारे जैसे क्षुद्र लेखकों के लिए तो उस पर कुछ विचार प्रकट करना भी धृष्टता की बात है। तदर्थ हम क्षमाप्रार्थी हैं।
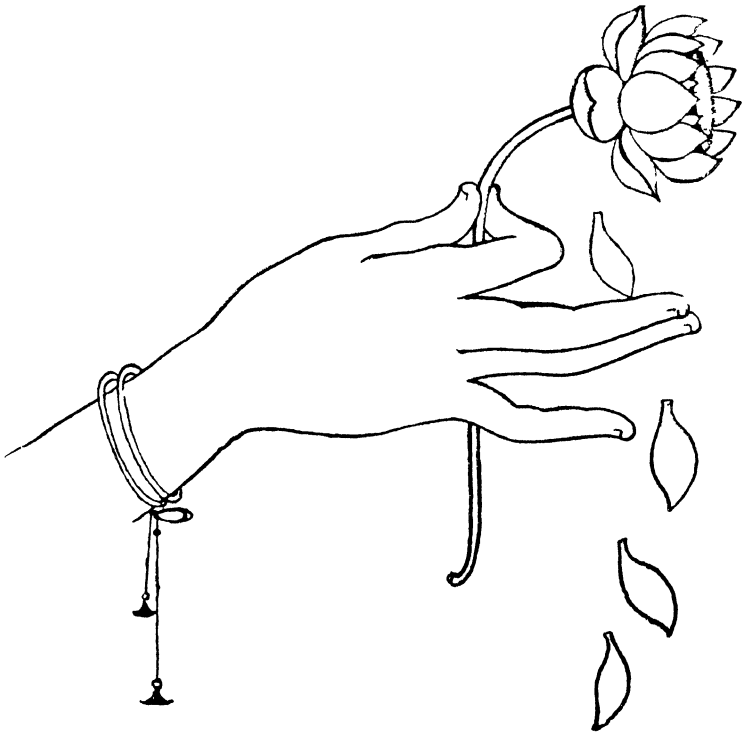
कवि-कुल-गुरु कालिदास की आदर्शपूर्ण राजभावना

विद्यारत्न विद्याधर शास्त्री एम्० ए०

श्री वाल्मीकि एवं श्री वेदव्यास के अनन्तर भारतीय संस्कृति के रहस्य को प्रकाशित करनेवाले महाकवियों और विचारकों में कालिदास अपना एक अनन्य सामान्य स्थान रखते हैं। उनके रघुवंश महाकाव्य में केवल रघुवंश का ही वर्णन नहीं, अपितु रघुवंश-वर्णन के मिष से उसमें भारतीय नृपों के कर्त्तव्यों का पद पद पर निर्देश किया गया है।

रघुवंश के प्रारम्भ में ही सर्वप्रथम कालिदास राज-सम्बन्धी उस भारतीय आदर्श का चित्रण करते हैं जिसके आधार पर यहाँ की राजभावना सदा से साधारण मनुष्यत्व की अपेक्षा देवत्व की ओर अग्रसर होती रही है। भारतीय संस्कृति में राजा का मान केवल इसलिए ही नहीं है कि वह शक्तिसम्पन्न होकर बलात् अधिकारों को भोगनेवाला कोई एक व्यक्ति-विशेष है, प्रत्युत उसका मान इसमें है कि वह एक आदर्श है, पथप्रदर्शक है, धर्म-संरक्षक है एवं कठोर साधना से परिपूर्ण जीवन को बितानेवाला एक महान् कर्मयोगी है। जिस राजा में इन गुणों का अभाव होता है वह भूपति, भारतीय स्मृतिकारों की दृष्टि में, भूपति होने की योग्यता नहीं रखता।

भारतीय नृपति के लिए यह परमावश्यक है कि वह एक परम विशुद्ध क्षत्रिय वंश का हो, दृढ़प्रतिज्ञ हो, इन्द्रिय-दास न होकर गृहस्थ-धर्म का पालक हो, दण्डनीति का परम कुशल प्रयोक्ता हो, सत्य-संरक्षक हो, समय की गति-विधि का वेत्ता हो, विद्वान् हो, वीर हो और अग्निहोत्रादि शास्त्रविहित कर्मों को करता हुआ प्रजाजन में जिसकी जो आवश्यकता है उसको पूर्ण करनेवाला हो।

रघुवंशी राजाओं में इन गुणों की विशेषता देखकर ही कवि—

> सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
> आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्॥
> यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
> यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्॥
> त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
> यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्—

इत्यादि विशेषणों से रघुकुल का स्मरण करता है।

कालिदास नहीं चाहते कि उनके राजा केवल मृगया-व्यसनी, द्यूतनिरत, मद्यप एवं स्त्री-लोलुप होकर राष्ट्र-रक्षण की अपेक्षा राष्ट्र-भक्षण में अधिक प्रवृत्त होने लगें। उन्नतिशील नृप का चित्रण करते हुए वे कहते हैं :—

> न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु।
> तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्॥

राजा के लिए इन्द्रिय-दमनशील होना सर्वप्रथम आवश्यक है। जो राजा कामक्रोधादि प्रबल शत्रुओं को वश में नहीं रख सकता वह अपने बाह्य शत्रुओं का दमन नहीं कर सकता--

अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः।
अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान् षट्पूर्वमजयद् रिपून्।

व्यसनी राजा प्रजा का कल्याण नहीं कर सकते। राजा प्रजा के लिए आदर्श होता है। जिस राजा में आदश का पतन हो जाता है वह प्रजा को प्रभावित नहीं कर सकता। सीता परित्याग में राम ने उचित किया हो या अनुचित, परन्तु कालिदास की दृष्टि में राम के सामने एक ही लक्ष्य था:—

लोकापवादो बलवान्मतो मे।

राम सब कुछ सह सकता है पर वह लोकनिन्दा नहीं सह सकता। सिंहासनासीन राजा के लिए यह आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि वह प्रतिक्षण अपने कर्तव्य में सावधान रहे। कालिदास ने इस कर्तव्य का निदर्शन एक परम लघु पर परम सारसम्पन्न वाक्य में कर दिया है:—

अविश्रमो लोकतन्त्राधिकारः (शकु०)

जो शासक है वह अपने आराम अथवा विश्राम का ध्यान नहीं रख सकता। उसके लिए एक यही जीवन का लक्ष्य हो जाता है कि वह निरन्तर अपने कर्म एवं विचारों को प्रजा के हित में प्रयुक्त करता रहे—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः।

उसके देश में कोई भी आपत्तिग्रस्त न हो और वह सदा प्रत्येक प्रजाजन के दुःख को दूर करने में लगा रहे:—

आपन्नस्य विषयवासिन आर्तिहरेण राज्ञा भवितव्यम्।

रघुवंश के द्वितीय सर्ग में इस भावना का जैसा मनोहर विकास किया गया है वह विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। जब सिंह दिलीप से कहता है कि एक गौ के लिए तुम अपने एकछत्र राज्य और अद्वितीय कान्ति-सम्पन्न शरीर की व्यथ बलि क्यों दे रहे हो—

"एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।"

तो दिलीप उत्तर देते हैं:—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रेतिशब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा।

जब कोई सबल किसी निर्बल पर वार कर रहा हो उस समय क्षत्रिय का यह धर्म हो जाता है कि वह अपने प्राणों की आहुति देकर सबसे पहले उस निर्बल की रक्षा करे। क्षत्रियत्व की यह महनीय भावना यदि भारतीय क्षत्रियों में आज भी अक्षुण्ण रहती तो इस पुण्यभूमि भारत में किसी भी दीन-हीन के क्रन्दन की कोई करुण ध्वनि सुनाई

नहीं देती। आज के अनेक राजा प्रजाधन का हरण कर निरन्तर अपने भोग-विलास में उसका अपव्यय करते हैं परन्तु कालिदास जिन राजाओं के जीवन की घटना हमको सुनाते हैं उनमें महान् प्रतापी रघु का चित्रण उस आदरणीय रूप में किया गया है जिसमें वह, अपनी अतुल सम्पत्ति का विश्वजित् नाम के यज्ञ में प्रजा-हितकारी कार्यों में दान दे देने के कारण, एक मिट्टी के पात्र में जल लेकर अतिथि का स्वागत करने के लिए कौत्स के सामने आता है—

स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशील:।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाश: प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेय:।

राजा यदि प्रजा से कर लेते हैं तो वह इसलिए नहीं लेते कि उसके द्वारा वे अपनी कामचारिता की पूर्ति करें। भारतीय राजनीति में कर लेने का एक-मात्र शोधन यही है कि एक लेकर उसके बदले में हजार दिये जाने का लक्ष्य सामने रहे :—

सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रवि:।

मेघ यदि सागर से जल लेते हैं तो वह अपने लिए नहीं, अपितु तृषित धरा की तृप्ति के लिए ही उसका उपयोग करते हैं—

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।

राजाओं के इन प्रजा-हितकारी कार्यों का ही यह प्रताप था कि प्रति-क्षण प्रजाजन उनका अभिनन्दन करते थे—

पुरन्दरश्री: पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमान:।

और उनके स्वागत में समस्त नगर को सजाते थे।

प्रजा-कल्याण की यह भावना केवल राजाओं में ही नहीं, अपितु उनकी महा-रानियों में भी सर्वप्रधान रहती थी—

ताभिर्गर्भ: प्रजाभूत्यै दध्रे देवांशसम्भव:।

प्रजा के अभ्युदय के लिए और भारतीय राष्ट्र की उन्नति के लिए यह भी नितान्त आवश्यक है कि यहाँ के क्षत्रिय राजा श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म का पूर्ण संरक्षण करनेवाले हों। आधुनिक पाश्चात्य लेखकों के विचारों से प्रभावित भारतीय मस्तिष्क में चाहे अपने इस महान् धर्म की विशेषता का मान न होता हो पर यह निश्चित है कि समाज की सुव्यवस्था के लिए इस धर्म के समान और कोई धर्म नहीं है। यही एक ऐसी व्यवस्था है जिसने भारतीय सभ्यता और भारतीय संस्कृति का, जगती के जीवन में नाना परिवर्तन होने पर भी, निरन्तर परिपोषण किया है। कालिदास इसलिए ही—

नृपस्य वर्णाश्रमधर्मपालनं यत्स एव धर्म:—

इस आदेश के द्वारा इसकी अवश्यकर्तव्यता का प्रतिपादन करते हैं।

कालिदास भारत के जिस युग में आविर्भूत हुए थे वह युग भारत के लिए हर तरह की ऋद्धिसमृद्धि से सम्पन्न था। ऐसी परिस्थिति में यहाँ के साधारण नागरिकों एवं यहाँ के राजाओं में धीर ललित प्रकृति का प्रादुर्भाव एक स्वाभाविक बात थी, पर कालि-

दास ने सदा इस बात का ध्यान रक्खा है कि प्रेम-मार्ग पर चलता हुआ उसका कोई भी नायक धर्म के पथ से विचलित न हो। दुष्यन्त और पुरुरवा शकुन्तला और उर्वशी के प्रेमपाश में कितने ही बद्ध क्यों न हों पर जिस समय किसी नागरिक अथवा धर्म-सम्बन्धी काम की प्रेरणा होती है तो सर्वप्रथम वे उसकी पूर्ति के लिए सन्नद्ध होते हैं।

राम भी—

स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा।

सारांश यह है कि नरपतियों की इन प्रजाहितकारी प्रवृत्तियों का चित्रण करते हुए अन्त में कालिदास ने यही सिद्धान्त स्थापित किया है कि राजा वही हो सकता है जो प्रकृतिरञ्जक हो—

राजा प्रकृतिरञ्जनात्।
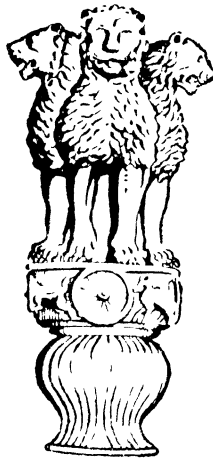
गुजरातनां ग्राम-गीतो

श्री० उमियाशंकर ठाकर, कोविद

ऊषा-संध्याना रंगोनी रम्यताथी जीवनने ताजगी मळेछे. तेम कंटाळेलां मानवो ने, दुःखी हैयांने, हताश थअेलां हृदयोने ने श्रमित थअेलां श्रमजीवीओने गीतथी अपूर्व ताजगी मळे छे.

ग्राम-गीतोनां उद्भव-स्थानोनो पार नथी, कारण सौथी पहेली काव्य-पंक्तिओ, वाल्मीकि ऋषिने मुखे सहसा आवी गई, ग्राम-गीतोनुं पण तेवुंज छे, जीवननो सर्वोत्तम प्रसंग के कनिष्ठ प्रसंग; अनुकंपादर्शक के मांगलिक प्रसंग, मानव-हैयांने हचमचावीने झरणाशी वहेती काव्य-पंक्तिओ स्फुरावे छे. अे काव्य-पंक्तिओ ते ग्राम-गीतो.

गुजरातमां ग्राम-गीतोनो भंडार अखूट छे. पण जेम केटलीक महान नदीओनां मूल अणप्रीछ्यां ने शोधाया विनानां रह्या छे, तेम ग्रामगीतोनां उद्भवस्थान पण शोधवां कठिन छे. अतिशय प्रयत्नों करवा छतांय तेनां मूल ऊपर जोइतो प्रकाश नहि पड़वाथी तेने अंधकार सेववा पड्या छे ने सेववा पड़शे.

गीतोनां रसस्थान

सोऽहमनो अजपा नाद प्राणी-देहे सतत चाल्यांज करे छे, ग्राम-गीतोनो प्रवाह पण एवांज स्वयं-स्फुरित रीते चाल्यां करे छे, कोस खेंचता ने कोस हांकता कोसियाओ, हल खेड़ता खेडूतो, भात लेई जती मथवारी, गायो चारतो गोवाळ, घंटीए दळती दळणावाळी, ने पूंजो काढ़ती दासीओ अे कार्यभार हळवो थाय अने रसवृत्ति जामे अेटला माटे प्रसंगोचित गीतो रच्यां ने गायां-गवराव्यां. मोचीओअे ने दरजीओअे तेने सीवतां सीवतां गाया, घाणी फेरवता घांचीअे बळदने प्रोत्साहन मळे ते सुरमां ने सुरमां घोंच-परोणा सिवाय सिवाय, दचकाराना तालमां ने तालमां रसजामे ने थाकना भूलवाने अर्थे अे गीतो गायां. टीपणी करती बाईओअे टीपतां टीपतां गायां, वणकरोअे साळ ऊपर वणतां वणतां गायां, खाण खोदनारांअे त्रिकमना घा देतां देतां गीतोना ताल पूर्या, गाड़ीवाळा गाड़ितोअे बळदोनी घुघरमाळना तालमां गीतो गायां.

गीतोना प्रसंगो अने पोषको

भक्तोअे प्रभातियां ने भजनो गाया, दुःख-पीड़ित बहेनोअे सासरीना संतापना गीत गायां, संस्कारीगृहणीओअे सतीत्वनां संस्कार गीत रचीने हालरड़ा ने नीति गीतो गायां, शूरातनने ने बलिदान ने तो लोक-समाज गीतमां गूंथवाने भूलेज केम ? मांगलिक ने मरणना प्रसंगोय अे ग्राम-गीतोमां गूंथाया. भाट-चारणो, टहेलिया भटो, गवणहथ्थावाळा भरथरीओ ने मोरलीबजावता मदारीओअे अे गीतो ने शेरीअे शेरीअे ने घेर घेर गूंजता

करी मूक्यां. गुर्जर-गीत-रसिकाओए तो रासगरबामां घुमणीए चढ़ीने तेमा अद्भुत रसनी जमावट करी ने सारीय सृष्टिमां रसगीतोनी नवली भात पाड़ती रसल्हाण करावी.

गुजरातना मुख्य भागो अने गीतो

गुजरातना मुख्य त्रण भागो पाड़ी शकाय अने एना गीतोने पण त्रण भागमां वहेंची शकाय. काठियावाड़, मध्य गुजरात अने दक्षिण गुजरात.

काठियावाड़ना गीतोमां शूरातन ने मीठी-मधुर भाषाना दर्शन थाय छे, सतीत्व ने अर्थे प्राणार्पण अने परोपकारार्थे बलिदान दीधानां गीतो पण एमां तरवरे छे.

मध्य गुजरातनी कोमळ गुर्जरीनां शान्त ने मृदु रसमां तरबोळ करतां गीतो छे. एना ढाळ अने लय वगेरेमां गुजरातनी व्यापारी वृत्तिनी छांट झळक्या सिवाय रहेती नथी.

दक्षिण गुजरातमां सुरतीओ, रानीपरजना भीलो तेमज खेडूतो वगेरेनो समावेश थाय छे. ए गीतो तो खास तरी आवे एवांज छे. एमा ठावकापणुं, रूढ़ता अने सादाई नां दर्शन थशे.

मूळ त्रण भागमांथी वळी ज्ञातिओना विभागप्रमाणे ज्ञाति-गीतो पण अस्तित्वमां आव्यां.

गीतोनो इतिहास

गीतोनो इतिहास तो सर्जन-जूनो छे. एने माटे कांई नियम के कोई समय नक्की नथी. हृदयमंथनना प्रसंगोए लोक-कविओए ने बहेनोए न जोई सवार के न जोई सांज; न जोयुं घर के न जोयुं बार; ज्यां फाव्युं त्यां तेमणे हृदय-गीत लखी नाख्युं. एवो अणबोल्यो इतिहास ए ग्रामगीतोनो छे. ए गीतोमां थी लोक रुचि, लोकरिवाज, लोकरूढि ने लोक मानस सहेजे जोई शकाय छे, एटले गीतोनो इतिहास शोधवा करतां ए गीतो पोतेज इतिहासनुं साचुं दर्शन करावे छे. खरेखर ए इतिहास अजोड़ छे, ए तो भाववाही अने चेतनवंतो इतिहास छे.

ग्रामगीतोना संशोधको

गुजरातमांथी सौथी प्रथम ग्रामगीतो, लोकगीतोनुं संशोधन कार्य स्व० रणजीतराम वावाभाई ए करेलुं. एमणे ए ग्रामगीत-संशोधक बीज वावेलुं ते अत्यारे सारी स्थितिए पहोंच्यु छे, एम कही शकाय.

दक्षिणामूर्ति भावनगरवाला बाल-साहित्यकार स्व० गिजुभाई अने बारडोलीवाळा श्री० जुगतराम दवेए खूब लोकगीतोनो संग्रह कर्यो. श्री नानालाल द० पटेले अने अध्यापक श्री रामनारायण पाठके पण तेने माटे प्रयत्नो कर्या, श्री गोकुलदास द्वा० रायचुरा, श्री रमणीकलाल कि० महेता, आणंदनी गीतमंजरी ग्रन्थावलीना संपादक श्री उमियाशंकर ठाकर तेमज गढ़वीओ, सामयिकोना संपादको वगेरे नो पण तेने माटेनो सारो प्रयत्न थएलो छे. सौथी वधारे ने घेरो प्रयत्न राणपुरथी श्री झवेरचन्द मेघाणीए करेलो. गुजरातने तेमणे तेमना संग्रहोद्वारा खूब खूब साहित्य आप्युं छे. गुजरात तेमना आ सुंदर कार्य माटे

घणुं ऋणी छे. घणां दटाएला ने कचडाएलां गीतोने तेमणे पोतानी मृतसंजिवनी विद्याथी सजीवन कर्यां छे, ने गुर्जर देशने अखूट गीत-वारसो आप्यो छे.

गीतोना प्रकार

भक्तिगीतो, जागरणना गीतो, मांगलिक प्रसंगोए गवातां गीतो, लग्नगीतो, प्रसंगोचित गीतो, जनोईना गीतो, व्रतगीतो, खायणांगीतो, वीरगीतो, स्वदेशप्रेमना गीतो, सामाजिक गीतो, कुटुम्बप्रेम-कलह ने आनन्दनां गीतो, रास-गरबानां गीतो वगेरे नो आमां समावेश थाय छे. बालकमां संस्कार पूरतां हालरडांने पण केम भूलाय. मरशिया-राजीआने पण एमां स्थान छे. आम गीतोना प्रकार गणवा कठिन छे. आशा अने काल नी पेठे ए गीतो पण अनंत मां विहरे छे.

ग्राम-गीतोनी आछेरी वानगी

प्राचीन युगने अंगेनां गीतो

प्राचीन युगमां थएला प्रातःस्मरणीय देव-देवीओनां गीतो, राजाराणीओनां गीतो वगेरे नो आमां समावेश थाय छे.

दशानन-रावण सीताजीने रामनुं रटण भूली जईने पोताने ताबे थवानुं कहेण मोकलावे छे. ते समये सीताजी कहे छे.

"तूं रे मारे मन लखमण जति :
मने घड़ी न विसरे राम"

आ बे पंक्तिओमां ए आखाय कथा गीतनो आत्मा गीतकारे आलेख्यो छे.

हरिश्चंद्र राजानी गीतकथा लखतां गीतकार लखे छे के

"हरिचंदने आंगण आंबलो रे
आंबलानी शीतल छांय राजा हरिचंद
हरिचंद राय नी वेळा पड़ी रे."

शरूआतमां गीतकारे 'हरिचंद ने आंगणे आंबलोरे' लखीने हरिश्चंद्र राजानी सुख-साह्यबीनो ख्याल आपी दीधो-पछी सत्यने खातर हरिश्चन्द्रने दुःखो-पड्यां ते दर्शाववाने अर्थे "हरिचंद रायनी वेळा पड़ी रे" लखीने सानमां समजावी दीधुं. रामना लग्न, वनवास, बालुडो जोगी गोपीचंद, भरथरी, श्रवण, मीरां, कुन्ताजीनी राखडी वगेरेनां गीतो पण लखायां छे.

ईश्वर-पार्वतीना विवाह, श्रीकृष्ण-गोपीओना विरह, माता जसोदानो वात्सल्य-भाव दर्शावती गीत-गरबीओ पण गुर्जर-गीत-साहित्यमां सभरे भरीछे.

"शंभुजी सोमवारे गया गंगा ने आरे,
मने ते वन मेली, साथे नहि साहेली.

× × × ×

छे भाग्य मारां छोटां, गंगा नां भाग्य मोटां,
त्यजी त्रिलोकनाथे, गंगा चढ़ावी माथे."

खरेज आमांथी आर्द्रता ने करुणा साथे भक्ति भाव नीतरे छे.

हिंडोळानु ं सादुं छतां भक्ति-ग्रामगीत नीचे जोई शकाशे :

"सोनानी सांकळे नांगर्यो रे हिंडोळो आंबानी डाळ;
रुपाकड़ां बे चार, वा'लो मारो हींचे हिंडोळो आंबानी डाळ.

× × × ×

माथे मेवाड़ी मोळिआं रे, हिंडोळो आंबानी डाळ :
खभे खांतीलो खेस, वा'लो मारो हींचे हिंडोळो आंबानी डाळ."

केटलुं सादु ं गीत छतां केटलो भाव आ गीतमां भर्यो छे !

ऐतिहासिक गीत-कथाओ

"रुड़ा अश्वपति राजानी डाही दीकरी रे
जेनुं सती-शिरोमणी सावित्री छे नाम."

अेमा सावित्रीअे यम जेवा निष्ठुर हृदयी ने पण कुमळा बनाव्या छे, ने पतिनें जीवतदान अपाव्यानो सुन्दर पुरावो छे.

शियळ रक्षणने अर्थेनु ं जसमानुं टेक-गीत, सोनल गरासणीनुं भाव भीनुं गीत, राणकदेवीना रासड़ा वगेरेने आ टूंका लेखमां क्यां गणावीअे ? अेमां अपहरणना, वीरत्वना ने सतीत्वना रासड़ा आदिना करुण प्रसंगो दर्शन दे छे.

स्वार्पण गीतो

परने काजे, देशने काजे प्राण पाथरे तेवानी वीरपूजा तो गुजरात अने बीजा प्रांतो पण करता आव्याज छे.

अेक जूनी वाव हती. प्रजाने पाणीनो त्रास हतो. केमेय कर्युं वावमां पाणी न होतुं आवतुं—

"बार बार वर्षे माधावाव गळावी
तो ये न नीकल्यां नीर मारा वा'ला !"

× × × ×

"जाणतल जोशीअे अेम कह्युं के
दीकरो ने वहू पधरावो जी रे."

गामना ठाकोर पोताना नवपरिणित दीकरानु ं बलिदान देवाने तैयार थाय छे. कोड-मर्यो युवान तो तैयार ज छे, त्यां माता कहे छे—

"घोड़ो खेलावता ओ वजमल दीकरा
पारकी-जणीने पूछी आवो जी रे."

पारकी-जणी—युवान नी पत्नी—पण क्षत्रियाणी हती. ते तो तैयारज हती. वाजते-ते गाज चुंदड़ीने मोडिया साथे अे पति-पत्नी वाव ऊपर आवी पहोंच्यां—

"पहेले पगथिये जई पग दीधो
पाताळ झबक्यां नीर मारा वा' ला."

× × × ×

"पाँचमे पगथिये जई पग धरतां
परवश पड़िया प्राण माग वा' ला."

ने अंतमां बलिदानने प्रतापे अे अवावरू वावमां पाताळ पाणी झळक्यां. केवुं स्वार्पणनी भावनाने पोषतुं ने अंतरने स्पर्शतुं आ गीत !

कौटुम्बिक गीतो

कौटुम्बिक गीतोमां पण तेनां गीतकारोअे अपनवा भाव भर्या छे. सासरियां तरफ नो पूज्य भाव दर्शावीने, जीवन उन्नत बने तेने माटेनी अे गीत-योजना खरेखर प्रशंसनीय छे.

"आसो मासे शरद पूनमनी रात जो,
चांदलियो ऊग्यो रे सखी मारा चोकमां.

× × × ×

"ससरो मारो देरासरनो देव जो
सासु रे देरासर केरी पूतली."

पति परदेश नोकरी माटे जाय छे. पति घेली पत्नीने अे रूचतुं नथी, अे आमतेम बानां बतावे छे; ने कहे छे :

"आभमां झीणी झबूके वीजळी रे,
के झीणला झरमर वरसे मेह;
गुलाबी, केम करी जाशो चाकरी रे."

× × × ×

"तमने वा'ली दरबारी चाकरी रे,
के अमने वा'लो तमारो जीव;
गुलाबी, नहिं जावा दऊँ चाकरी रे."

छेल्ली बे पंक्तिओमां गीतकारे पत्नीना हृदयनुं भान करावी दीधुं छे.

मेंदीनुं गीत पण अेवुंज भाववाही छे. पति परदेशमां छे. नानां दियेर मेंदी लावीने भाभीने मेंदी मूकवाने कहे छे. भाभी कहे छे :

"हाथ रंगीने देरी शुं रे करूं ?
अेनो जोनारो परदेश रे,
मेंदी रंग लाग्यो रे."

आम शणगारो पोतानी शोभाने काजे नहिं पण पतिने दर्शाववाने काजे ने सौभाग्यचिह्नने काजे छे अेम दर्शावतो पत्नीनो भाव अनोखो छे. पतिने अत्रे—घेर—पाछो फरवाने माटे पत्नी बहेनी परणाववानी बाबत, ने वीरो परणाववानी बाबत कहे छे तो पण ते पाछो फरतो नथी, माडी मर्यानी वात जणावे छे तोय ते आवतो नथी; पण ज्यारे पत्नी छेवटनु कहेवडावे छे त्यारे तेनो पत्नी तरफनो प्रेम जणाई आवे छे :

"शोक्यना साह्यबाने जई अेटलु के जो,
तारी मानीती नी ऊठी आँख रे,
मेंदी रंग लाग्यो रे—
"चालो सिपाईओ, चालो भाई बंधो,
हवे हलके बांधो हथियार रे—
मेंदी रंग लाग्यो रे."

मां दीकरीने सुखदु:खनी बात पूछे छे. दीकरी कहे छे :

"सुखना दहाड़ा ते माड़ी वही गया रे लोल
दु:खनां उग्यां छे भीणां भाड़ जो.
कपरां सासरियां मां जीववु' रे लोल."

आ बाबत नणदी सांभली जाय छे. नणदी घरनां मोहेरां ने अे कहे छे. छेवटे मावडियो पति कलहमांथी बचवा सोमल घोले छे. वहूने अे आपे छे ने कहे छे.

"तूं पीजा नहीं तो हुं पी जाऊँ व त्यां तो—
"गटक दईने गोरां दे पी गयां रे लोल,
घरचोळानी ताणी अेणे सोडय जो,
वहूअे वगोव्यां मोटां खोरडां रे लोल."

अंतमां—

× × × ×

"सोनला सरखी वहूनी चे, बळे रे लोल,
रूपला सरखी वहूनी राख जो,
वहूअे वगोव्यां मोटां खोरडां रे लोल."
"बाळी भाळीने जीवड़ो घेर आव्यो रे लोल,
हवे माड़ी देजो दोटादोट जो,
सहुनो ओशियाणो हवे हुं रह्यो रे लोल."

आवां घणां ग्रामगीतोना अंत करुण रसमां ज परिणमता मोटा भागे जोवा मां आवे छे.

अेवु'ज अेक बीजुं गीत छे. बार वर्षे दीकरो घेर आवे छे ने मांने पूछे छे :

"माडी ! बार बार वर्षे आवीओ,
माडी ! ना दीठी पातळी परमार रे जाड़ेजी मां !
मोलुंमां दीवा शगे बळे रे—"

सासुना तोरमां आवी ने माअे करेलुं गोभारूं कृत्य मा कही शकती नथी. अे अेने कूवाकांठो, घंटी, खाणियानां स्थलोअे ते काम माटे गई छे अेम कहे छे; पण तेने आ थी मननी शंका मजबूत बने छे. छेवटे अे 'नेवे ते नवरंग चुंदड़ी रे' जुअे छे ने—

"अेना बचकामां कोरी टीलडी रे,
अेनी टीलडी देखीने तरसूळ ताणु' रे,

गो भारण मा !
मोलुंमां आंबो मोडीओ रे."

जोईने पतिने पत्नी उपर गुजरेला जुलमनी प्रतिती थाय छे ने पत्नीना साचा सतीत्वनी खात्री थाय छे. बिचारी पति-विहोणी ए नववधूए शणगारनी टीलडीनो उपयोग पण कर्यो नथी !

नणंद-भोजाईना झघडानां गीतो पण लखायां छे. कोई जग्या ए नणंद ऊपर हूकम चलावती भोजाईने आकरी वर्णवी छे तो कोई जग्याए जाजरमान नणंदनुं तुमाखी भर्युं वर्णन देखाय छे !

"बार बार वर्षे नणंद पधार्यां,
भाभी उतारा द्योने राज, नणदल परोणलां,
"घर पछवाड़े पड़ेल खोरड़ां,
जई ने उतारा करजो राज, नणदल परोणलां,

भाभी नणंदनो कोई जातनो सत्कार नथी करती, छेवटे पीले मोंढे नणंद पाछी फरेछे त्यारे भाभी दांत कचकचावीने कहे छे :

"ठाला ते कूवा ठेकतां जाजो,
भर्या कूवामां पड़जो राज, नणदल परोणलां"
"मारा हैयामां हामज रही गई,
मार्या विनानी वही गई राज, नणदल परोणलां."

केटलुं घृणा भर्युं ने तुमाखीभर्युं आ मानस कहेवाय ?

माना घरनुं एकनुं एक कापडुं नणंद ने आपतां भाभी जरा आनाकानी करे छे कंई कंई वस्तुओ आपवाने माटे भाभी कहे छे, छतां नणंद मानती नथी त्यारे भाभी छणको करीने कहेछे :

"सामी वळगणीए कापडुं रे,
लईने दीसतां रहो मारी नणदी,
कापडुं भरते भर्युं रे."

× × × ×

"सामा मळजो नागड़ा रे,
आगळ डसजो नाग मारी नणदी,
कापडुं भरते भर्युं रे."

आने मळतुं लहेरियाने माटेनुं पण गीत छे.

मोरला जेवा सुंदर अने निर्दोष पंखी साथे राणीने रमती जोईने राजाना मनमां अदेखाई आवेछे. छेवटे मोरलाने मार्यो. आंसु सारती राणीए पतिनी आज्ञा पालवा मोरलानुं शाक तैयार कर्युं, पति ने खवराव्युं पण पोते केम खाई शके ? मोरलानी निर्दोष देह अने तेनु कलाभर्युं स्वरूप तेने याद आवतुं हतुं. अंते पति पस्ताय छे ने मोरनां चित्रो पत्नी ने आपीने रीझववानो प्रयत्न करे छे, पण ए निर्दोष दुःखियारी बोले छे :

"घेलूडा राजाना कुंवर,
घेलूडां शीद बोलो राज, घेलूडां शीद बोलो राज;
छापेला मोरला ते केम करी बोलशे ?"

तो कोई शोक्यना मननी वात पण गीतोमां नोंधाया विनानी नथी रही :

"मानेती शे मरे रे, अबोला शे भागे भगवान !"

तो वळी कोई नानी वहू ने घरमां खूब महालवुं हशे ते बोले छे:

"घर मां जेठ मूंडो, जेठाणी नुं चलण वाल्यमजी
मारां कर्यां ना थाय, रंगमां रोळयां वाल्यमजी"

तो कोई गरबे रमवा जवाने माटे सैयर बोलाववा आवती होवाना कोड सेवती होय :

"हुं ऊभी मारा ओरडीआने बार जो
सैयरो आवे रे मुजने तेड़वा रे लोल."

तो कोई वळी खोटा बानाना ओठा नीचे सासरे न जवाना विचार सेवती पण जणाय छे :

"सासरीए जाऊँ तो मारो ससरोजी भूंडा
लाजडियुं कढ़ावे रे, ना, मा,
नै जाऊँ सासरिये रे."

तो कोई पति पत्नीनां खोटां बानां पकड़ी पाड़ीने रेंटियो कंतावबाने माटे बधुं हाजर करवाने तैयार थाय छे. तेवां टोळ-चित्र रजू करतां गीतो पण जोवा मां आवे छे :

"कांतो रे मेरी छेलण बीमियां."

× × ×

"कहार भंगाऊँ अेनी त्राक बनाऊँ."

× × ×

"दाढी बोडाऊँ अेनी पूणीओ बनाऊँ."

छेवटे बानांनी अवधि अे ठाठां भांगवाने माटे तैयार थता पतिदेवनुं हास्यरस रोचक शब्द-चित्र पूर्ण थाय छे.

तो कोई युवती माता थवाना कोड सेवती होय अने सूर्यदेवनां राणी रन्ना-देनी पासे मागे छे :

"लींप्युं ने गूंप्युं मारूं आंगणुं,
पगलीनो पाडनार द्यो ने रन्ना दे !
वांझियां मे'णां माड़ी ! दोह्यलां."

घरनां कामकाजमां बाई नुं चित्त चोंटतुं नथी. अेक अेक काम पूरूं करीने अे पाछी थोभे छे ने रन्नादेने विनवे छे, छेवटे मांगे छे :

"धोलो धफोयो मारो साडलो,
खोळानो खूंदनार द्योने रन्नादे !
वांझियां मे'णां माडी ! दोह्यलां."

आम सालो बगड़े तो परवा नहिं पण चेतनवंतो दीकरो ओ मागे छे.

आवां गीतो गणवा बेसवुं ओटले महासागर ने हाथेलीना खोबा थी उलेचवा बराबर छे. क्यां ओनु अगाधपणु अने अमापपणु !

लग्नगीतो

लग्न पोतेज काव्य मय छे. तो ओमांथी गीतो केम न संभवे ? कन्याना कोड़ वरनी पसंदगी, कुटुंबीजनोमां उन्नत भावना, मातापिताथी अलगां थईने बीजांनां शरणां लेवां, नवेसर थी नवुं घर, लग्ननी भावना; ओ समयने सुंदर, पवित्र ने धार्मिक बनाववाने अर्थेनां देवगीतो वगेरे अगणित गीतोनो ओमा समावेश थाय छे :

"अमे जोया चतुर सुजाण
छत्रीस वाजां वागियां."

गमे तेवो तोय पोताना ने चतुर सुजाण मानवानी भावना ने साथे साथे मांगलिक प्रसंगना वाजांनो मंगल नाद आ बे लीटी मां तरवरे छे.

ने वरराजामां बीजी शी भावना छे :

"सीता ने तोरण राम पधार्या
लेजे पनोती पहेलुं पोंखणुं."

अने पोंज्या पछी शूं थाय छे ?

"ढोल ढमक्या ने वर-वहूना हाथ मळ्या,
जाणे ईसवर पारवतीना साथ मळ्या."

केवो भव्य ने भाववाही आ हस्तमेलाप ! अने अंतमां पुत्रीनी मनोदशा दर्शावतुं गीत :

"अमे रे लीला वननी चरकलडी
उडी जाशुं परदेश जो."

लग्न समये वच्चे वच्चे असंख्य गीतोनी हारमाला ओ गीत-रसिक गृहिणीओ कोकिलकंठे गाय छे ने वातावरणने भर्युं-भादर्युं करी मूके छे: ओक प्रहसन जोईए :

"आला लीलूड़ा वांस वढावो रे,
तेनी नानी शी टोपली गूंथावो रे,
टोपली आपो बेनीबा वर हाथ रे,
गोलो वेची-साटी ने घेर आव्यो रे,
ओरड़े उभा बेनीबा लेखां ले छे रे."

× × ×

मालण ने पण आ प्रसंगे केम भूलाय ? अने संतोषवानी वृत्ति पण केवी भाववाही छे !

"मालण गूंथी लाव गुणियल गजरो,
तारा गजरानो मानीश मुजरो. मालण "

× × ×

"तने आपीश हीरा नो हार रे,
वळी सोळ सारा शणगार रे,
उपर हेमनी महोर हजार. मालण०"

× × ×

बहेन वगेरे बीजा सगां संबंधीओ ने पण आ वखते केम भूलाय. तेमने कंकोतरी लखवाने माटे काशीना पंडितों ने तेड़ावे छे. केवो भाव ?

"मांडवडे रे कांई ढालो ने बाजोठी,
के फरती मूको ने कंकावटी,
तेडावोरे मारे काशीना पंडितो
के आज मारे लखवी छे कंकोतरी
बांधो रे मारे......भाई ने छेड़े.
के जाय बहेनी......ना सासरे."

आटलुं कहेता मां पण प्रहसनने ओ गीत रसिकाओ केम भूले ?

× × ×

देवोने पण पत्र द्वारा तेडां मोकलवानुं आ गीत केटलुं भाववाही लागे छे ?

"पंचे कागळ, पंचे कागळ, पंचा देश मोकलो रे,
काशी मध्ये, काशी मध्ये, विश्वनाथने नोतरां रे
आपणे घेर, आपणे घेर, लाड़करी ना वीवा
ओमनी वरधोमां वहेलां पधारजो रे."

× × ×

मांगलिक प्रसंग छे ने हजु सुधी माडीजायो वीरो नथी आव्यो, आथी ह्वाल सोई बहेनना अंत:करणमां दु:ख थाय छे:

"हुं तो ऊँची चढुं ने नीची उतरूं
हुं तो जोऊँ मारा वीरानी वाट
वीरा ! ह्वेला आवजो."

× × ×

"मारा दियर वधामणी लाविया, भाभी आव्या तमारा वीर,
वीरा ! ह्वेला आवजो."

भाई आवे छे त्यारेज बहेनीनुं मन शांत थाय छे.

× × ×

पतिदेवनु साचुं स्वरूप दर्शावतुं गीत पण आ रह्युं :

"सुखनो संगाथी रे, उत्तम जाति रे
पतिने प्रभु सम जाणीओ."

× × ×

"પ્રભુજી ને પૂજો રે, પાપથી ધ્રૂજો રે,
આ ભવ પુણ્યે સુધારિયે."

× × ×

કન્યાને શિખામણ આપવાનું પણ સંસ્કારી માતાઓ કેમ ભૂલે ?

"સતી સાવિત્રી સીતા અનસૂયા જેવી
સતીઓ માં નામ લખાવજો,
લાડકડી બહેની હલેરાં આવજો."

× × ×

"સાસુજીનાં માનીતાં થઈ તમે રહેજો,
રૂડો ચલાવજો ગૃહ-સંસાર રે—લાડકડી૦"

× × ×

હસતું મુખ રાખી ઘરમાં આનંદ વરતાવજો,
ઘરમાં રહી રૂડું કરજો કાજ રે—લાડકડી૦"

પરણ્યા પછી વળાવતાં કન્યા બહેનનાં સાસરિયાંને દૈવી વિભૂતીઓ સાથે પણ સરખાવાય છે.

"મહાદેવ ને ચઢે રે ફૂલ-જાસુ, કન્યા બેનના દેવકીજી સરખાં સાસુ."

× × ×

"મહાદેવ ને ચઢે રે ફૂલહાર, કન્યા બેનને શ્રીકૃષ્ણ સરખા ભરથાર."

શું શું ગણાવીએ ને શું શુ ન ગણાવીએ. અખૂટ ભર્યો છે એ લગ્નગીતો નો ભંડાર. એ સંસ્કાર-વારસો સૌ કોઈ તાજો રાખે ને જીવનમાં તેવી મીઠી ફોરમ ફોરાવે એજ અભ્યર્થના.

———

सेठ

पं० रामनरेश त्रिपाठी

समय—दोपहर के पहले।
स्थान—सेठ की गद्दी।

[एक बड़ा सा कमरा। आधे कमरे में एक ओर काफी मोटा गद्दा बिछा है। उस पर सफेद चादर बिछी है। तीन ओर दीवारों से सटकर छोटे-बड़े अनेक आकार-प्रकार के तकिये और मसनद रक्खे हैं। आधे कमरे में दरी बिछी है। दरी पर एक ओर गद्देदार सोफे का एक पूरा सेट है। मेज पर ताजे फूलों का गुलदस्ता रक्खा है। दूसरी ओर के एक कोने में बेंत की चार रंगीन कुरसियां के बीच एक मेज रक्खी है। उसी ओर दीवार से सट कर रक्खी हुई एक तिपाई पर टेलीफोन की मशीन रक्खी है। छत से बिजली के दो पंखे और कई बल्ब लटक रहे हैं। छत के पास दीवारों पर सेठ के पिता, पितामह, पार्टियों, देवी-देवताओं और प्राकृतिक दृश्यों के तथा कुछ प्रसिद्ध चित्रकारों के कल्पित रंगीन चित्र टंगे हुए हैं। दीवार से बड़ी घड़ी लटक रही है।

सेठ एक मोटे मसनद से पीठ अड़ाकर बैठा है। सेठ का शरीर भरा हुआ, तोंद निकली हुई, चेहरा रोबीला और आयु चालीस के ऊपर है। सेठ के सामने समाचार-पत्र और डाक से आये हुए पत्र रक्खे हैं। सेठ धोती और कुर्ता पहने है। उसका कोट और पगड़ी उसी के ऊपर खूँटी से लटक रहे हैं। दाहिनी ओर किसी असभ्य देश का एक अजनबी अपनी साधारण पोशाक में बैठा है।]

सेठ—कहिये, यह देश आपको कैसा लगा ?

अजनबी—आपके देश की प्रशंसा मैं किन शब्दों में करूँ ? यह तो पृथ्वी का भूषण जान पड़ता है।

सेठ—और निवासी ?

अजनबी—निवासी देवता-जैसे। खासकर गाँवों के निवासियों का आतिथ्य-सत्कार, उनके मुख-मंडल पर सच्चे प्रेम की झलक, उनका संक्षिप्त किन्तु श्रवण-सुखद शब्दों और निष्कपट भावों से भरा हुआ वार्तालाप, कष्टों को शान्तिपूर्वक सहन करने की उनकी शक्ति, उनका परिश्रमी और सहानुभूतियों से ओत-प्रोत पारिवारिक और सामाजिक जीवन, उनकी दानशीलता और त्याग मैं कभी भूल ही नहीं सकता।

सेठ—(पत्र पढ़ते-पढ़ते) **और शहरों के निवासी ?**

अजनबी—शहरों के जीवन में बाहर चमक-दमक बहुत है, पर भीतर मुझे अंधकार ही बढ़ता हुआ दिखाई पड़ा है। जैसे कोई कमरा तो गंदा हो, किन्तु उसका बरामदा खूब सजा हुआ।

सेठ—(हँसकर) मिसाल आपने अच्छी दी। और क्या देखा?

अजनबी—उनकी मौखिक सहानुभूति में भाषा का चिकनापन मुझे जरूर रोचक लगा, पर प्रिय नहीं लगा। मुझे ऐसा आभास मिला कि बाहरी चमक-दमक बढ़ाने में निरंतर लगे रहने के कारण वे अंतःसार-शून्य होते जा रहे हैं।

सेठ—(चिट्ठियाँ समेटते हुए) यह देखकर मुझे प्रसन्नता हो रही है कि आपने देश का केवल बाहरी ही नहीं, भीतर का भी अंश देख लिया है। इस देश में अभी कब तक रहिएगा?

अजनबी—अब जल्द ही वापस जाना चाहता हूँ। दो-तीन बरस घर छोड़े हो गया; घर के लोग चिंता करते होंगे।

सेठ—(मुस्कराकर) हमारे देश में चिंता की उम्र बहुत छोटी होती है। डाक, तार, टेली-फोन, रेल, मोटर, हवाई जहाज और रेडियो ये चिंता को जन्मते ही मार डालते हैं।

अजनबी—(हँसकर) और ये ही चिंताओं को जन्म भी देते हैं।

[दोनों हँस पड़ते हैं]

सेठ—(चिट्ठियाँ रखकर और मसनद पर धड़ डालकर) आप ठीक कहते हैं; पर जिस तरह शहरों में सड़कें और गलियाँ होती हैं, उसी तरह जीवन में चिंताएँ हैं। चिंताओं से सजा हुआ जीवन बड़ा सुन्दर लगता है।

[एक मुनीम का प्रवेश। मुनीम घुटनों के बल सेठ के सामने बैठ जाता है और झुक-कर धीरे से सेठ से बात करता है।]

मुनीम—एक हजार से कम पर राजी नहीं होता। मैंने पाँच सौ कहा, सात सौ कहा, पर वह नहीं मानता।

सेठ—(झुँझलाकर) देकर बदमाश से पिंड छुड़ाओ। ठग और मक्कार साले नेता बने हैं।

[मुनीम उठकर जाता है।]

अजनबी—किसके सम्बन्ध में आप कह रहे हैं?

सेठ—धूर्त और मुफ्त का माल उड़ानेवाले लोग जरा-सा बोलना सीख गये कि भोले-भाले, अपढ़ और देहाती मजदूरों की भलाई उनको आसान जान पड़ी और वे उनके नेता बन बैठे। न वे मजदूरों का कुछ भला कर सकते हैं, न देश का; व्यापार का सत्यानाश जरूर कर डालेंगे।

अजनबी—मुझे भी उनका कुछ रहस्य बताइए।

सेठ—आप सुनते-सुनते ऊब जायँगे। पूर्वजों के पुण्य-प्रताप से और अपनी रात-दिन की मेहनत और बुद्धि के बल से एक आदमी कुछ धन जमा करता है, उससे मिलें और कारखाने खोलकर वह हजारों-लाखों गरीबों को रोजी देता है; रोगियों के लिए अस्पताल, अनाथों के लिए अनाथालय, मुसाफिरों के लिए धर्मशाले, बाग-बगीचे, कुएँ-तालाब और सड़कें, भक्तों के लिए मंदिर और लड़के-लड़कियों के लिए विद्यालय बनवाता है; दूसरों के सुख-दुख की अनंत चिंताएँ वह लादे रहता है, फिर भी उसका उपकार मानना तो दूर रहा, उसे परेशान करने ही में नकली नेताओं को मजा आता है।

अजनबी—ऐसा अकृतज्ञ कौन है?

सेठ—एक लड़का थोड़ा-सा पढ़-लिखकर कुछ बोलना सीख गया है। किसी काम के योग्य नहीं है। मेरे यहाँ नौकरी चाहता था, मैंने इन्कार कर दिया। वह मेरी मिल के मजदूरों को बहकाकर उनका नेता बन बैठा।

अजनबी—कितनी मिलें आपने खोल रक्खी हैं?

सेठ—कपड़ा, जूट, चीनी, चावल, कागज, आटा, तेल और लकड़ी की मिलाकर कुल आठ मिलें हैं। इनमें पन्द्रह हजार के लगभग गरीब जीविका पा रहे हैं। एक मजदूर के पीछे यदि पाँच आदमियों का औसत मान लिया जाय तो उन पन्द्रह हजार की कमाई से पचहत्तर हजार स्त्रियों, बच्चों और वृद्धों को रोटी मिल रही है। क्या यह उपकार नहीं है? इसके लिए मुझे कितनी चिंता रखनी पड़ती है, कितने झगड़े-झंझट उठाने पड़ते हैं, इस पर कोई ध्यान नहीं देता। मूर्ख और द्वेषी लोग यह समझते हैं कि मैं सबको लूट रहा हूँ।

अजनबी—आपको क्या लाभ होता है?

सेठ—लाभ न होता तो मैं इस कीचड़ में फँसता ही क्यों? मेरी जगह मेरी पूँजी काम करती है; जिसे मैंने शरीर के, मन के, परिवार के और समाज के नाना सुखों को छोड़कर और अगणित कष्टों को झेलकर तैयार किया है। यदि एक मजदूर की कमाई से प्रतिदिन चार आना भी मुझे बचे तो महीने में मुझे लाख सवा लाख रुपये मिल जाते हैं। यह अनिवार्य है; व्यापार का बंधान ही ऐसा है।

अजनबी—मजदूरों को आप मजदूरी क्या देते हैं?

सेठ—चार आने रोज। इतना ही मैं भी उनसे अपने लिए चाहता हूँ। इसमें अन्याय क्या है? मेरी जगह, मेरी पूँजी तो हर एक मजदूर के साथ काम करती ही रहती है।

अजनबी—(मन में) पूँजी ने सेठ को यह प्रभुता दी है। एक मजदूर के दो हाथ होते हैं, किन्तु पूँजीपति होने से सेठ के तो तीस हजार हाथ हो गये। पूँजी भी इस देश का एक चमत्कार है। (प्रकट) पर आपको चिंता क्यों है? आप शरीर से तो कुछ कमाते नहीं; आपका सारा धन तो गरीबों ही का कमाया हुआ है, उनके किसी शुभ-चिन्तक के पास कुछ चला गया तो क्या हुआ? आप कितना खायँगे और कितना पहनेंगे?

सेठ—आप जानते नहीं, अजनबी जी! धन एक रोग है। इस रोग के दो लक्षण हैं—रोग को बढ़ाते रहो, और उसे बचाते भी रहो। सो खाने-पहनने की कमी न होने पर भी धनी की यही प्रवृत्ति रहती है कि एक-एक पाई बढ़ाते रहो और उसकी रखवाली करो। और मेरा ही क्यों? सारे संसार का धन गरीबों ही का कमाया हुआ है। भगवान् ने तो घमंडी धनी की तरह स्वर्ग की खिड़की से पृथ्वी पर अनंत विभव बे-हिसाब फेंक दिया था। गरीब ने उसे उठा-उठाकर ठिकाने से रक्खा; बिखरे हुए को बटोरा, सँवारा, सजाया; समुद्र में डूबकर मोती निकाला, पृथ्वी को फाड़कर सोना-चाँदी और हीरा निकाला, जंगला को साफ करके बस्तियाँ बसाइं, सड़कें बनाईं, फूलों को चुनकर क्यारियों में लगाया; कुएँ खोदकर पानी निकाला; सुन्दर-सुन्दर महल बनाये; खेत बनाये; अन्न उगाये; क्या क्या गिनायें, संसार का सारा सुख और

सौन्दर्य गरीबों ही की देन है। धनी तो उसे भोगता भर है। गरीब बनाता चलता है, धनी बिगाड़ता चलता है। मेरे पूर्वज भी कभी गरीब थे। कड़ी मेहनत करके और शरीर को कष्टों में तपाकर उन्होंने कुछ धन जमा किया, उससे गरीबों को पकड़ा, और गरीब मिलकर धनी का धन बढ़ाने लगे। यही क्रम पीढ़ियों से चला आ रहा है।

अजनबी—आपको गरीबों का कृतज्ञ होना चाहिए।

सेठ—होना चाहिए; पर हो नहीं सकता। धनी होने पर स्वभाव बदल जाता है। अब अपनी मिलें चलाने के लिए मेरे मन की यह प्रवृत्ति है कि गरीब सदा गरीब ही बने रहें; किसानों के चरखे-करघे बिखर जायँ; तेल और गुड़ के कोल्हू, कागज बनानेवालों के हाथ और ओखली, जाँत और चक्कियाँ टूट जायँ; लोहार और बढ़ई मर जायँ और मेरी मिलों का माल घर-घर में खपने लगे। धन ने स्वभाव को ऐसा ही विचित्र बना दिया है।

अजनबी—(मन में) सेठ बड़ा विचारवान् और स्पष्ट वक्ता है। (प्रकट) मैंने तो सुना था, गरीबों पर आपकी बड़ी दया रहती है।

सेठ—वह दया नहीं, दया का ढोंग है। जनता की सौ गुनी स्थायी हानि करके एक गुनी दया का काम ढोंग तो कहा ही जायगा।

अजनबी—आप विचारवान् होकर ऐसा क्यों करते हैं?

सेठ—सुख और धन की रक्षा करने के लिए। बुद्धिमान् आदमी उफनते हुए दूध पर पानी के छींटे डाल देता है, जिससे वह उफनकर आग को बुझा न दे। इसी युक्ति का प्रयोग हम गरीबों पर करते हैं। लोग उसे दया समझते हैं।

[एक पंडितजी का प्रवेश। पोशाक धोती और दुपट्टा। सिर और पैर खुले। सिर और दाढ़ी के बाल अस्त-व्यस्त।]

सेठ—(उठकर, दरवाजे तक जाकर, झुक कर, पंडितजी के दोनों चरणों की धूल माथे और आँखों पर लगाकर और फिर हाथ जोड़कर) महाराज! प्रणाम।

पंडितजी—(दाहना हाथ उठाकर) कल्याण हो; ईश्वर सुख की वृद्धि करे।

[पाँवदान पर पाँव पोंछकर पंडितजी गद्दी पर आकर सेठ की जगह पर बैठ जाते हैं। सेठ पंडितजी की बाईं ओर हाथ जोड़े हुए सामने बैठ जाता है।]

सेठ—(मधुर स्वर में) महाराज, किधर से आ रहे हैं?

पंडितजी—सीधे घर ही से आ रहा हूँ। कल तीर्थ-यात्रा के लिए निकलनेवाला हूँ। भगवान् ने प्रेरणा की, तुमको मिलने चला आया।

सेठ—(अजनबी से पंडितजी की ओर इशारा करके) आप बड़े महात्मा हैं। सब शास्त्र कंठस्थ हैं। बड़े त्यागी, सांसारिक सुखों से निर्लिप्त, निरभिमान और तपस्वी हैं। सदा ब्रह्मानंद में मग्न रहते हैं। राजा-रईसों और सेठ-साहूकारों में आपकी बड़ी प्रतिष्ठा है। पर किसी के यहाँ जाते नहीं। इसी दास पर विशेष कृपा रखते हैं। (जेब से बीस रुपये

के नोट निकालकर और पंडितजी के सामने रखकर पंडितजी से) यह तुच्छ भट है। यात्रा में कभी आवश्यकता पड़ेगी।

पंडितजी—(नोटों को उठाकर दुपट्टे के कोने में गठियाते हुए) भगवान् आपको अनंत वैभव दें।

(पंडितजी उठकर जाते हैं। सेठ उनको दरवाजे तक पहुँचाकर उनके चरणों की धूल फिर छूकर और माथे पर चढ़ाकर प्रणाम करता है और फिर आकर अपनी पहले की जगह पर बैठ जाता है।]

अजनबी—(मन में) सेठ बड़ा श्रद्धालु है। सद्गुणियों का आदर-सत्कार करता है। ऊँचे विचारों का मनुष्य है। (प्रकट) ऐसे सत्पुरुषों के जीवन का प्रभाव आपके जीवन पर क्या पड़ता है?

सेठ—(मुस्कराकर) कुछ भी नहीं। मेरे ही जीवन का प्रभाव उन पर पड़ता है। और उनके पास धनियों के जीवन पर प्रभाव डालनेवाली कोई बात होती भी नहीं।

अजनबी—(आश्चर्य से) फिर आप इन पर इतनी श्रद्धा क्यों रखते हैं?

सेठ—स्वार्थ-वश। सुख और धन की रक्षा के लिए।

अजनबी—इनसे क्या भय है? इनको तो आप सुख और धन से निर्लिप्त बताते हैं।

सेठ—(हँसकर) यह एक गूढ़ रहस्य है। पर मैं आप से कुछ छिपाऊँगा नहीं। आप विदेशी हैं, हमारे अतिथि हैं, और क्लब के आदेश के अनुसार मुझे आपको सच्ची-सच्ची बात बतानी भी है। (कुछ क्षण रुककर) वास्तव में पंडितजी, साधु-संन्यासी, पुजारी, उपदेशक और कवि, ये लोग हमारे प्रचारक है। ये अधर्म की व्याख्या करके, लोक-परलोक और पुनर्जन्म का भय दिखलाकर गरीबों को बहकाये रखते हैं कि धनी होना पूर्व जन्म के पुण्य का फल है। इससे गरीब लोग उन तरकीबों पर ध्यान नहीं देते, जिनसे हम धनी बन गये हैं और सन्तोष धारण करके गरीब बने बैठे रहते हैं। प्रचारक लोग उनमें, अगले जन्म में धनी बनने की लालसा जगाये रखकर, उनका मुँह घुमाये रखते हैं। इससे इस जन्म में तो वे हमारे मुकाबले आते नहीं। फिर उनके पास खाने-पहनने से जो कुछ बच जाता है उसे वे अगले जन्म के सुख के लोभ में उन्हीं प्रचारकों को खिला-पिलाकर निर्धन के निर्धन बने रहते हैं। इस तरकीब से उनके पास पूँजी बनने नहीं पाती और हम अपनी गाड़ी बेधड़क हाँकते चलते हैं।

अजनबी—(आश्चर्य से) आपके प्रचारक प्रचार कैसे करते हैं?

सेठ—कुछ कथा कहते हैं; कुछ व्याख्यान देते हैं; कुछ गाँव-गाँव घूमकर पद, भजन और साखियाँ गाते हैं; और कुछ छंद बनाते हैं।

अजनबी—(कौतूहल से) छंद कौन बनाता है?

सेठ—कवि। और कोई-कोई साधु-संत भी।

अजनबी—छंदों में क्या होता है?

सेठ—सदा गरीब बने रहने का उपदेश।

अजनबी—(उत्सुकता से) मुझे कुछ सुनाइए।

सेठ—(हँसकर) सुनिए। (सुनाता है।)

राम झरोखे बैठकर, सबकर मुजरा लेयँ।
जाकी जैसी चाकरी, ताको तैसा देयँ॥
रूखा सूखा खाय के, ठंडा पानी पी।
देख पराई चूपड़ी, मत ललचावे जी॥

ये साखियाँ सब गरीबों को याद रहती हैं, और प्रचारक लोग याद कराते भी रहते हैं। इनके प्रभाव से गरीबों में धनी बनने का उत्साह ही ठंडा पड़ जाता है।

अजनबी—(चकित होकर) अद्‌भुत खेल है। बस, इतने ही ?

सेठ—इतने ही क्यों ? हजारों लाखों दोहे, कवित्त, सवैया और गाने बने हैं। कितने ही छंद तो भगवान् की स्तुति-प्रार्थना के बनाकर गरीबों को बाँट दिये गये हैं, जिनसे वे समझते हैं कि भगवान् ही ने उनको गरीब बनाया है और वही उनकी गरीबी दूर भी कर सकता है। उनकी विचार-धारा के लिए यह एक नया रास्ता खोल दिया गया है।

अजनबी—(गंभीरता से) बड़ा भारी षड्‌यंत्र है। क्या गरीब इसको समझते नहीं ?

सेठ—समझना तो चाहिए; क्योंकि हम कीमती से कीमती वस्त्र पहनते हैं, वे चिथड़े लपेटकर रहते हैं; वे काँप-काँप जाड़ा बिताते हैं, जब कि हमारा कुत्ता ऊनी कोट पहनकर मुलायम गद्दे पर सुख की नींद सोता है; हम महलों में रहते हैं, वह सड़े-गले झोंपड़ों में, जो पानी यदि एक घंटे बरसता है तो चार घंटे आँसू टपकाते हैं; हम मोटर में बैठकर हवा खाते हैं, वे मोटर की धूल फाँकते हैं। यह विषमता ऐसी है कि उनमें स्वभावतः ईर्ष्या उत्पन्न होनी चाहिए। वह सिर उठा सकते हैं। उन्हीं उठे हुए सिरों को कविजी के छंद, पंडितजी के परलोक का भय और साधु-संतों के ईश्वर के अवतार लेने के आश्वासन तत्काल पृथ्वी पर जोर से पटक देते हैं। रोग के पास उसकी कैसी अमोघ औषधि रख दी गई है।

[सेठ हँसता है। अजनबी भौंचक्का-सा सुनता है।]

अजनबी—गरीब न समझें, वे मूर्ख होते हैं; पर पंडितजी तो इस चतुराई को समझते ही होंगे ?

सेठ—पंडितजी समझ सकते हैं, और खूब अच्छी तरह; पर समझने पायें, तब न ? उनकी एक सीमा बाँध दी गई है। वे सदा उसी में पड़े रहें, हमारा यह प्रयत्न सदा जागरूक रहता है। वे कभी हमारी सीमा में आते हैं, तो कहीं हमारा सुख देखकर लुभा न जायँ, इसलिए हम उन पर महात्मा, सिद्ध, तपस्वी, परमहंस, त्यागी, वैरागी, निर्लिप्त आदि शब्दों का नया ताजा लेप लगा देते हैं, और हाथ जोड़कर, पैर छूकर, चरणों की धूल माथे लगाकर उन्हें फिर उनकी सीमा में ढकेल देते हैं।

अजनबी—नहीं तो ?

सेठ—नहीं तो अनर्थ हो जाय न ? वे सब शास्त्रों के पंडित, हम मूर्ख; वे सुन्दर, हम कुरूप; वे हमारा धंधा अपना लेंगे तो हम तो हवा हो जायँगे। आज जो उनकी दशा है, वही हमारी हो जायगी।

अजनबी—तब आप उनको धन देकर पाले क्यों रहते हैं ?

सेठ—जिससे वे अपनी जगह से कहीं हिलें न। वे गरीबों की ओर सरक जायँगे तो पानी में आग ही लगा देंगे। इससे हम उनके पेट की ज्वाला और कभी-कभी मोटे और बदसूरत कपड़े देकर उनकी सौन्दर्यप्रियता को भी बुझाते रहते हैं। क्या करें, उनके महात्मा बने रहने ही में हमारा कल्याण है। इसी तरह हम साधु-संत, उपदेशक और कवि आदि को भी कुछ दे-दिलाकर उन पर उन्हीं का लेप चढ़ाते रहते हैं।

अजनबी—आप लोग अद्भुत मनुष्य हैं। इसी युक्ति से आप मजदूरों के नेता को भी वश में क्यों नहीं रखते ?

सेठ—(हँसकर) वह धूर्त शास्त्रों का पंडित जो नहीं। न उसे परलोक का भय है, न पुनर्जन्म का भरोसा; और न ईश्वर के अवतार लेने का विश्वास ही उसको है। उसका इलाज तो बस चाँदी की गोलियाँ हैं। वह दुष्ट घोर नरक में पड़े।

अजनबी—(हँसकर) आपका दिमाग तो इस षड्यंत्र के संचालन में थक जाता होगा ?

सेठ—जरूर थक जाता है। तब हम कवि और पंडितजी से दिमाग को ताजा करा लिया करते हैं।

अजनबी—कैसे ?

सेठ—कविजी रसीली कविताओं से अमृत-वर्षा कर जाते हैं; और पंडितजी अलौकिक कथाएँ सुनाकर दिमाग में स्फूर्ति पैदा कर देते हैं। (हँसकर) पंडितजी कहते हैं, अमुक नदी या तालाब में मृत्यु होने से स्वर्ग मिलता है। हम श्रद्धा-पूर्वक स्वीकार कर लेते हैं, पर न वे ही कभी डूब मरने के लिए घर से निकलते हैं, न मैं ही। हम दोनों ही पैंतरे बदलकर इसी संसार में डटे रहते हैं।

अजनबी—साधु-संतों में भी तो आप बैठते-उठते हैं ?

सेठ—वही दिमाग की थकावट मिटाने के लिए। वे समझते हैं कि हम पर उनका रंग चढ़ रहा है, हम समझते हैं कि थकावट मिट रही है। हम पर प्रभाव डालने के लिए वे अपने शरीर पर कुछ कष्ट और बढ़ा लेते हैं, हम उसी औसत से उनके असार-संसार का और सुख भोगने लगते हैं। वे कहते हैं, सांसारिक सुख आत्मा को हानि पहुँचाते हैं; हम सोचते हैं, अगले जन्म का क्या भरोसा ? हाथ में आये हुए सुख को छोड़ देना मूर्खता है। ऐसे ही दाँव-पेंच चलते रहते हैं।

अजनबी—धनियों की बड़ी विचित्र लीला है। (उत्सुकता से) अच्छा, इस कला का आविर्भाव कहाँ से हुआ ?

सेठ—सिक्के से। सिक्के ही ने अमीर-गरीब, मालिक-मजदूर और पूँजी की सृष्टि की है। हम तो सिक्कों के सेठ हैं। सिक्कों से हम सब प्रकार के शारीरिक सुख खरीदते हैं और फिर उनकी चौकसी करते हैं। कोई खास मनुष्य अपराधी नहीं है। जिसके पास सिक्के ज्यादा जमा हो जायँगे, चाहे वह चमार हो, चाहे पंडितजी और कवि, वही सेठ हो जायगा और सिक्कों की रखवाली के लिए वही तरकीबें आप से आप करने लगेगा, जिन्हें मैं आपको बता चुका हूँ। सिक्कों का यह सनातन धर्म है।

अजनबी—आप अपनी मिलों के मजदूरों को मजदूरी क्या देते हैं ?

सेठ—(हँसकर) उतनी ही देता हूँ, जितने से वे रात भर जीवित रहें और सबेरे काम पर फिर लौट आयें। उनके पास कुछ बचा रहेगा तो अगले दिन न आयेंगे। न रहे बाँस, न बाजे बाँसुरी।

अजनबी—आप तो बड़े स्पष्ट वक्ता और धर्मज्ञ व्यक्ति हैं। गरीबों को सदा गरीब बनाये रखनेवाले षड्यंत्र में आपको शामिल न होना चाहिए।

सेठ—यह चक्र ही ऐसा है कि जब तक हम अपनी इच्छा से स्वयं गरीब बनना न चाहें, इसमें से निकल नहीं सकते हैं। पैसे के भी मुँह होता है। धनी उसको खाता है, वह धनी को खाता है। हम धन को छोड़ नहीं सकते। वह हमको निगल चुका है। उसकी मधुरता अवर्णनीय है।

अजनबी—आपके किसी धर्माचार्य ने तो कहा है कि सूई के छेद में से ऊँट का निकलना संभव हो, तो भी धनी लोग स्वर्ग नहीं जा सकते।

सेठ—(हँसकर) हमें उस धर्माचार्य की बुद्धि पर हँसी आती है। जिस स्वर्ग की उसने कल्पना कर रक्खी है, वह स्वर्ग तो, वहीं बन जायगा जहाँ धनी रहेगा।

अजनबी—क्या सभी सेठ आप ही की तरह विचारवान होते हैं?

सेठ—कह नहीं सकता। पर जो न होते होंगे, वे मुझसे ज्यादा सुखी होंगे; क्योंकि वे निर्द्वंद्व होकर सुख भोगते होंगे और मैं पछता-पछताकर भोगता हूँ।

अजनबी—(आप ही आप, जिज्ञासु की तरह) भगवान् का नाम दीनबंधु, दीनदयालु, अशरण-शरण और भक्त-वत्सल क्यों कहा गया है? सेठों के लिए तो उसका एक भी नाम नहीं है।

सेठ—क्योंकि उसका आविष्कार हमारे प्रचारकों ने गरीबों ही के लिए किया है, जिससे गरीब लोग उसके भरोसे अँटके रहकर गरीबी का बोझ शांति के साथ ढोते रहें। (कुछ क्षण रुक कर) आपके देश में क्या व्यापार नहीं चलता?

अजनबी—चलता है; पर इस तरह का नहीं। मेरे देश में कोई व्यापारी घर पर बैठकर व्यापार नहीं करता। बरतन, कपड़े, नमक, मसाला और शाक-तरकारियाँ इत्यादि घूम-घूमकर बेचे जाते हैं। व्यापारी अपनी चीजों के बदले में ज्यादातर अन्न और कभी-कभी कौड़ियाँ और पैसे भी पाता है। कौड़ियाँ और पैसे ही गाँवों में पहुँचे हुए मुख्य सिक्के हैं। लोहार और सोनार भी घूमते रहते हैं; जहाँ काम मिलता है, वहाँ टिक जाते हैं। कुम्हार, नाई, धोबी, दूध-दहीवाला, कसेरा, रँगरेज, रस्सीवाला, कुँवों में गिरे हुए बरतन निकालनेवाला, खिलौनेवाला, मोची, बढ़ई, बाँस की टोकरियाँ बनानेवाला सभी अपना-अपना पेशा घूमकर करते हैं। किसानों को बाजार तक दौड़ने की जरूरत नहीं पड़ती। उनका सारा समय खेती में लगता है।

सेठ—गाँववालों को पेशेवरों के आने की सूचना कौन देता है?

अजनबी—पेशेवर खुद चिल्ला-चिल्लाकर अपने आने की सूचना देते चलते हैं। इसके सिवा वहाँ मेले भी बहुत-से लगते हैं। उनमें भी पेशेवर अपनी चीजें लाते हैं। खरीदकर चीजें बेचने की प्रथा हमारे यहाँ बहुत कम है। वहाँ न सिक्कों का विशेष चलन है और न दूकान रखकर बैठनेवाला बनिया है; इसी से धन हर वक्त बहता रहता

है, कहीं रुक नहीं सकता। न कोई मिलें खड़ी कर सकता है, न आदमी खरीद सकता है। आपके यहाँ तो गाँव-गाँव में बनिये हैं !

सेठ—वे हमारी बारीक नसें हैं। हम उन्हीं से किसानों का धन चूसते हैं और सिक्के उनमें ठूँसते हैं। जब तक सिक्का है, तब तक धनी-गरीब का सिलसिला टूट नहीं सकता।

अजनबी—आपने बहुत स्पष्ट शब्दों में अपनी बातें बताईं, इसके लिए अनेक धन्यवाद। (उठकर) अब मुझे जाने की आज्ञा दीजिए।

[सेठ दरवाजे तक अजनबी को पहुँचाने जाता है।]

सेठ—(दरवाजे के पास खड़े होकर) आपको राह-खर्च के लिए कुछ पैसों की जरूरत हो तो लेते जाइए।

अजनबी—(हँसकर) मुझे याद है, पैसे के भी मुँह होता है।

[दोनों हँसते है और हाथ जोड़कर अलग होते हैं।]

---

* 'अजनबी' नाटक का एक अंश

हिन्दी-शिक्षा, शिक्षक और परीक्षा

श्री कालिदास कपूर, एम० ए०, एल० टी०, एज्युकेशन-संपादक

लेखक का हिन्दी-पाठी युवकों तथा हिन्दी-शिक्षक बन्धुओं से तीस वर्ष का सम्बन्ध है। उसका संयुक्त प्रान्त की हाई स्कूल-हिन्दी परीक्षा से बारह वर्ष तक और पंजाब की हिन्दी-प्रभाकर परीक्षा से छः वर्ष तक सम्बन्ध रहा है। इस अनुभव के आधार पर स्कूली कक्षाओं में हिन्दी पढ़ाई और परीक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में लेखक को हिन्दी संसार के सामने अपने विचार प्रकट करना है।

इस वर्ष संयुक्त प्रान्त की हाई स्कूल हिन्दी परीक्षा के लिए लगभग १४००० परीक्षार्थी बैठे, जिनमें १३००० के लगभग हिन्दी में उत्तीर्ण हुए। इनमें कम से कम १०००० हाई स्कूल परीक्षा में भी उत्तीर्ण हुए होंगे। प्राय: इनके चौथाई प्रतिवर्ष संयुक्त प्रान्त में हिन्दी की विशेष-योग्यता परीक्षा में भी उत्तीर्ण होते हैं। यों प्रतिवर्ष लगभग बारह सहस्र ऐसे युवक-युवती संयुक्त प्रान्त में तैयार होते हैं, जिनसे यह आशा करना उचित है कि ये हिन्दी साहित्य का नियमानुकूल अध्ययन न भी करें, हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का संरक्षण तो करते ही रहेंगे।

हिन्दी में हाई स्कूल तक की योग्यता के जितने युवक-युवती प्रतिवर्ष तैयार होते रहते हैं, उनके बीस गुने प्रान्त की जन-संख्या के भीतर अवश्य होने चाहिए। यों संयुक्त प्रान्त में कम से कम दो लाख स्त्री-पुरुष हिन्दी में हाई स्कूल की या उससे अधिक योग्यता-प्राप्त अवश्य होने चाहिए।

संयुक्त प्रान्त के अतिरिक्त पंजाब, राजपूताना, मालवा, मध्यभारत और बिहार में भी हिन्दी भाषा का यथेष्ट प्रचार है। इस प्रकार उत्तरी भारत में दस लाख तक ऐसे हिन्दी-भाषाभाषी स्त्री-पुरुष अवश्य होंगे जिन्होंने कम से कम दस वर्ष तक हिन्दी की शिक्षा प्राप्त की है, जिन्हें हिन्दी भाषा ठीक ठीक लिखनी चाहिए, और जिनसे हिन्दी साहित्य के समझने, उससे अपना मनोरंजन करने की आशा की जा सकती है। भारत में हिन्दी भाषा-भाषी जनता की संख्या १५ करोड़ से कम नहीं है। इस जन-संख्या के सामने दस लाख पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुषों की संख्या बहुत कम है। प्रति डेढ़ सौ स्त्री-पुरुष पीछे एक ही की पहुँच इस योग्यता तक होती है।

यह मानना पड़ेगा कि डेढ़ सौ व्यक्तियों में यदि एक ही साहित्य-प्रेमी हो, तो उसका वातावरण साहित्य-सेवा के अनुकूल नहीं हो सकता। उसको भी मनोरंजन के उन्हीं साधनों की ओर झुकना होगा जो उसके १४९ साथियों के हैं। प्रधान नगरों में मनोरंजन के लिए पुस्तकालय हैं, समाचारपत्र और पत्रिकाएँ हैं, बोलते चित्रपट भी हैं। परन्तु जितनी संख्या-वृद्धि चित्रपटों से मनोरंजन प्राप्त करनेवालों की हुई है उसकी पंचमांश भी पत्र-पत्रिकाओं या पुस्तकों से मनोरंजन प्राप्त करनेवालों की नहीं हुई है। इसका प्रधान कारण

यही है कि १४९ अर्द्धशिक्षित अथवा अशिक्षित व्यक्तियों का मनोरंजन चित्रपट से हो सकता है, पत्रिका और पुस्तक से नहीं। पढ़े-लिखे साहित्य-प्रेमी व्यक्ति को यथेष्ट सत्संग नहीं मिलता, उसे प्रोत्साहन भी नहीं मिलता।

वातावरण के प्रतिकूल होते हुए भी दस वर्ष तक किसी भाषा और उसके साहित्य का चढ़ती अवस्था में अध्ययन करना बहुत हुआ। हिन्दी भाषा का सीखना बहुत सरल है, उसका साहित्य भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत है। यदि पाठ्य-पुस्तकें और शिक्षा-प्रणाली पाठकों की साहित्यिक रुचि को प्रोत्साहित और परिमार्जित कर सकतीं, यदि हिन्दी के शिक्षक अपना कर्त्तव्य पूरा कर सकते, यदि परीक्षाओं में रटाई से परे साहित्यिक रुचि और ज्ञान की ही जाँच की जाती, तो इन दस लाख ही हाई स्कूल-योग्यता-प्राप्त भारतीयों द्वारा जो हिन्दी साहित्य की सेवा होती, वह जो कुछ सेवा हो रही है, उसकी चौगुनी अवश्य होती।

क्या त्रुटियाँ हैं, किस प्रकार सुधार किया जाय ?

'प्रभाकर' पंजाब की सर्वोच्च हिन्दी परीक्षा है। प्रथम बार सन् १९२९ में जब लेखक उसका परीक्षक हुआ तो परीक्षार्थियों की संख्या डेढ़ सौ के निकट थी। नौ वर्ष पश्चात् यह संख्या डेढ़ सहस्र तक पहुँच गई। अब पाँच सहस्र के निकट होगी। हिन्दी-प्रेमियों की संख्या बढ़ गई और बढ़ रही है, परन्तु क्या प्रभाकर परीक्षा में उत्तीर्ण युवकों-युवतियों की योग्यता में भी यथेष्ट उन्नति हुई है ? यदि पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा निर्मित प्रभाकर परीक्षा का पाठ्य-क्रम पाठक पढ़ें, तो इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि परीक्षार्थी को हिन्दी साहित्य का उच्चतम ज्ञान हो जाना चाहिए। परीक्षा का एक प्रश्न-पत्र छंद और अलंकार पर है। उन दिनों इस प्रश्न पत्र के लिए स्वर्गीय जगन्नाथप्रसाद 'भानु' कृत छंद-प्रभाकर स्वीकृत था। स्वर्गीय 'भानु' जी के पश्चात् लेखक के अनुमान से हिन्दी संसार में कोई भी ऐसा साहित्यिक नहीं रह गया है जिसे छंदप्रभाकर में लिखे छंदों के आधे से अधिक का ज्ञान हो, परन्तु प्रभाकर परीक्षा के लिए छंदप्रभाकर का अध्ययन अनिवार्य था। उसी प्रकार अलंकार के लिए पोद्दार जी का काव्य-कल्पद्रुम स्वीकृत था।

जो हाल पंजाब में प्रभाकर का था, और कदाचित् है, वही हाल संयुक्त प्रान्त में हिन्दी पाठ्य-क्रम का है। पाठ्य-पुस्तकों के पृष्ठों की संख्या बढ़ती जा रही है। ऐंग्लो-हिन्दुस्तानी मिडिल स्कूलों में हिन्दी के साथ उर्दू पढ़ना तो अनिवार्य था ही, अब हिन्दी की पाठ्य-पुस्तक के साथ उर्दू की पाठ्य-पुस्तक भी लगा दी गई है। बालकों को अंग्रेजी के लिए अब भी सब विषयों से अधिक समय देना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि देशी भाषा को बहुत कम समय मिल पाता है। वर्ष में २०० दिन से अधिक पढ़ाई नहीं होती। प्रति दिन ४५ मिनट से अधिक समय देशी भाषा को नहीं मिलता। इस समय के भीतर हिन्दी पढ़ी जाय और उर्दू भी। पाठक को न राम मिलते हैं और न रहीम !! न हिन्दी में योग्यता आती है न उर्दू में !! परन्तु किया क्या जाय ? महात्मा गांधी का आदेश है कि हिन्दुस्तानी का विकास हो। बिना हिन्दी और उर्दू पढ़े हिन्दुस्तानी का विकास हो नहीं सकता और संयुक्त प्रान्त पर ही इस हिन्दुस्तानी के विकास का दायित्व है,

क्योंकि यहाँ की मातृभाषा 'हिन्दुस्तानी' है। इसलिए बालकों के लिए हिन्दी के साथ उर्दू का बोझ ढोना अनिवार्य है। क्या मुजायका? हिन्दी और उर्दू चाहे दोनों चौपट हों, परन्तु हिन्दुस्तानी का तो विकास होगा।

मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि जो कुछ हमारे लिए अनिवार्य कर दिया जाता है उसकी ओर से रुचि हट जाती है। इस सिद्धान्त का प्रभाव बालकों पर वयस्कों से अधिक पड़ता है। हम उनकी पाठ्य-पुस्तकों को भारी बनाते चले जाते हैं और उनसे कहते हैं कि इन्हें तैयार करो, नहीं तो फेल हो जाओगे। हम उन्हें हिन्दी पढ़ाते तो हैं इस उद्देश्य से ही कि उनकी हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति रुचि बढ़े, परन्तु जो कुछ हम करते हैं उससे उनकी रुचि क्या, अरुचि ही बढ़ती है। बालक येन केन प्रकारेण परीक्षा में उत्तीर्ण होने का प्रयत्न तो करते ही हैं, परन्तु परीक्षा के पश्चात् पुस्तकों को फेंक देते हैं। हमारी पढ़ाई से, हमारी परीक्षाओं से, उनका पुस्तक-प्रेम नष्ट ही होता जाता है।

शिक्षक की हैसियत से अपनी लज्जा को ढँकने के लिए ही हम परीक्षक की हैसियत से परीक्षार्थियों को इतनी अधिक संख्या में उत्तीर्ण कर देते हैं। पंजाब की हिन्दी-प्रभाकर परीक्षा के अधिकांश परीक्षार्थियों की मातृ-भाषा हिन्दी नहीं होती। फिर उस परीक्षा के लिए अधिकांश विद्यार्थियों की नियमानुकूल पढ़ाई भी नहीं होती। इसलिए यदि उनकी अधिकांश उत्तर पुस्तकों में शुद्ध वाक्य न मिल सकें, तो आश्चर्य की बात नहीं है। संयुक्त प्रान्त की हाई स्कूल परीक्षा में भी दश वर्ष तक हिन्दी को मातृभाषा के रूप में पढ़ने के बाद भी, हमारे अधिकांश नवयुवक शुद्ध वाक्य नहीं लिख पाते।

शिक्षक बन्धुओं की निर्बलता को जानते हुए भी जब परीक्षक यह जानने का प्रयत्न करता है कि बालक पाठ्य-पुस्तक के बाहर भी कुछ पढ़ते हैं, तो उसको पता चलता है कि हिन्दी के होनहारों के लिए पाठ्य-पुस्तक के बाहर हिन्दी संसार बिलकुल सूना है। सन् १९४६ की हाइस्कूल परीक्षा के अपठित गद्य भाग के लिए एक सामयिक विषय पर १८ पंक्तियाँ लिख दी गई थीं। अधिकांश परीक्षार्थी 'अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण' नहीं समझ सके, 'अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक विनिमय' का अर्थ नहीं समझा सके, 'संस्कृति' को 'संस्कृत' समझते रहे, यद्यपि अवतरण के विषय पर हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं में यथेष्ट चर्चा हो चुकी थी।

चढ़ती अवस्था में ही साहित्य की ओर से अरुचि होना, विद्यार्थी-जीवन में ही पुस्तकों के प्रति घृणा बढ़ना, साहित्य-वृक्ष के मूल में ही कीड़ा लगने के समान है। उन शिक्षित वयस्कों के लिए साहित्य निर्माण का क्या प्रयोजन, उनके बीच साहित्यिक प्रचार से क्या लाभ, जिन्होंने विद्यार्थी-जीवन में पुस्तक से घृणा करना सीख लिया है?

इस रोग से किस प्रकार हिन्दी साहित्य को मुक्त किया जाय? चिकित्सा के लिए चार औषधियों का सहयोग आवश्यक है—

पाठ्यक्रम, शिक्षक, शिक्षा-प्रणाली और परीक्षा-प्रणाली

पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में यह भ्रम दूर करना आवश्यक है कि जितने अधिक विषय पढ़ाई के लिए अनिवार्य कर दिये जायेंगे, जितनी भारी पाठ्य-पुस्तकें पढ़ाई के लिए नियत

कर दी जायँगी, उतनी ही विद्यार्थिया की योग्यता बढ़ सकेगी। यदि शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य शिष्य की जिज्ञासा को प्रोत्साहित करना है, न कि उसके मस्तिष्क तक ज्ञान पहुँचाना ही, तो परीक्षा के लिए विषयों की संख्या कम करनी होगी, उन विषयों की पाठ्य-पुस्तकों को हलका करना होगा। हिन्दी के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि हिन्दी के साथ उर्दू पढ़ना अनिवार्य न किया जाय, पाठ्य-पुस्तकें यथेष्ट हलकी हों, विभिन्न विषयों पर मनोरंजक और सचित्र हिन्दी पुस्तकों को अधिक से अधिक संख्या में पढ़ने के लिए विद्यार्थी प्रोत्साहित किये जायँ।

पाठ्य-पुस्तक के दो उद्देश्य होने चाहिए। पाठ्य-पुस्तक के गद्य-भाग के सहारे विद्यार्थी शुद्ध हिन्दी बोलना और लिखना सीख सकें। उसके पद्य-भाग के सहारे हिन्दी के ललित साहित्य के प्रति उनकी रुचि जाग्रत हो। फिर पाठों के विषय-वैचित्र्य द्वारा विद्यार्थियों की विभिन्न विषयों पर साहित्य पढ़ने की जिज्ञासा बढ़े।

इस सम्बन्ध में गद्य-भाग का रूप परिमार्जित और टकसाली करने के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन और नागरी-प्रचारिणी सभा की एक सम्मिलित स्थायी समिति हिन्दी भाषा के लिखने, बोलने और विदेशी शब्दों का हिन्दी रूपान्तर करने के ब्योरेवार नियम बना दे, जिन्हें प्रान्तीय शिक्षाविभाग मानकर पाठ्य-पुस्तकों को उन्हीं नियमों के अनुसार प्रकाशित करे। जीवित भाषा का रूप बदलता रहता है। इसलिए यह स्थायी समिति प्रति पाँच या दस वर्ष पश्चात् भाषा की प्रगति के अनुकूल नियमावली में संशोधन करती रहे। ऐसा करने से भाषा की प्रगति में कोई बाधा नहीं पड़ेगी, परन्तु आजकल की अराजकता पर नियंत्रण अवश्य हो जायगा।

यदि बाल्यावस्था से ही हमें बालकों का पुस्तक-प्रेम प्रोत्साहित करना है तो यह आवश्यक है कि प्रत्येक शिक्षालय के साथ सम्पन्न पुस्तकालय हो और उसका संचालन करने के लिए वेतनभोगी पुस्तकाध्यक्ष हों, जो उसको पूरा समय दे सकें। इस समय तो स्थिति यह है कि शिक्षालय के साथ पुस्तकालय नाम-मात्र के लिए रहता है, पुस्तकों या पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने, उनको पुस्तकाध्यक्ष से घर ले जाने के लिए पुस्तकालय से निकलवाने का समय विद्यार्थियों को नहीं दिया जाता। किसी शिक्षक पर पुस्तकाध्यक्ष का काम लाद दिया जाता है और उससे अवैतनिक काम करने की आशा की जाती है। परिणाम प्रत्यक्ष है। हमारे शिक्षालयों से परीक्षित निकलते हैं, शिक्षित नहीं।

पाठ्यक्रम का सुधार करने पर भी हिन्दी शिक्षक का पुनरुद्धार किये बिना हिन्दी शिक्षा का सुधार नहीं हो सकता। राष्ट्रीयता की सौगन्द खाते रहने पर भी हमारे भावों में अभी राष्ट्रीयता नहीं आ सकी है। हमारे माध्यमिक शिक्षालय दो श्रेणी के हैं, हिन्दुस्तानी और एंग्लो-हिन्दुस्तानी। एंग्लो-हिन्दुस्तानी स्कूलों पर हिन्दुस्तानी स्कूलों की अपेक्षा हम अधिक रुपया खर्च करते हैं और वहाँ भी हिन्दी शिक्षकों को अंग्रेजी शिक्षकों की अपेक्षा हम बहुत कम वेतन देते हैं। अंग्रेजी शिक्षा के लिए ट्रेनिंग आवश्यक समझी जाती है, परन्तु हिन्दी-शिक्षा के लिए यह भी आवश्यक नहीं। परिणाम यह हुआ है कि शिक्षक का पद गिरने के कारण हिन्दी शिक्षा भी पतित हो रही है। हाई स्कूल और उसके

ऊपर हिन्दी-कक्षाओं के लिए जिस योग्यता के शिक्षक आवश्यक हैं वे हमारे नियत वेतन पर मिल नहीं सकते।

हमने हिन्दी शिक्षा के लिए शिक्षक की योग्यता का पैमाना भी छोटा कर रक्खा है। हाई स्कूल-हिन्दी शिक्षक के लिए यही नहीं आवश्यक है कि वह हिन्दी साहित्य का एम० ए० हो, उसके लिए यह भी आवश्यक है कि उसे हिन्दी साहित्य के अतिरिक्त तीन अन्य भाषाओंके साहित्य का समुचित ज्ञान हो। ये तीन हैं, देशी भाषा, संस्कृत अथवा पाली और विदेशी भाषा (अंग्रेजी फ्रेंच, जर्मन, रशियन, आधुनिक चीनी, जापानी, फारसी अथवा अरबी)। यदि विदेशी भाषा के साहित्य का ज्ञान न भी हो तो अन्य देशी भाषा और संस्कृत के साहित्य का ज्ञान तो हिन्दी शिक्षक के लिए आवश्यक है ही।

निम्न कक्षाओं में हिन्दी पढ़ाने के लिए साहित्यिक योग्यता की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं है, तो शिक्षण-पद्धति का ज्ञान होना और शिक्षक की ट्रेनिंग होना अधिक आवश्यक है।

स्वराज्य का अधिकार मिलने पर प्रत्येक नागरिक के लिए यह समझना नितान्त आवश्यक है कि बिना समुचित पुरस्कार दिये उसे ठोस सामाजिक सेवा नहीं प्राप्त हो सकती। दूसरे शब्दों में, उसे यह समझना आवश्यक है कि सेवा के लिए टैक्स जरूर देना चाहिए। शिक्षक से एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक सेवा की आशा की जाती है, तो उसे उस सेवा का समुचित पुरस्कार भी मिलना चाहिए, उसका वेतन भी सेवा के अनुकूल होना चाहिए। इसलिए हिन्दी शिक्षक की योग्यता बढ़ाना, उसकी वेतन-वृद्धि भी करना, हिन्दी की उन्नति के लिए नितान्त आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न हो सकता है कि जो निम्न योग्यता के शिक्षक अपने कामों पर लगे हुए हैं उनका क्या किया जाय? इन शिक्षकों में अधिकांश ऐसे हैं जो अवसर दिये जाने पर अपनी योग्यता बढ़ा सकते हैं। उन्नतिशील विदेशों में शिक्षकों को तीन या पाँच वर्ष पश्चात् डेढ़ महीने या तीन महीने तक का अवकाश किसी शिक्षा-केन्द्र में जाकर अपनी योग्यता को परिष्कृत और उन्नत करने के लिए मिलता है। ऐसा करना यहाँ भी आवश्यक है।

शिक्षक की योग्यता के उन्नत होने पर शिक्षा-प्रणाली में समुचित सुधार हो ही जायगा। परन्तु यहाँ इस विषय पर संकेत कर देना अनुचित न होगा।

हिन्दी की शिक्षा ऐसी परीक्षा के उद्देश्य से कदापि न हो जिसमें सफलता रटाई पर ही निर्भर हो। शब्दों या पदों के अर्थ रटने से हिन्दी की योग्यता नहीं बढ़ती। विद्यार्थी के लिए निम्न कक्षाओं में यह अधिक आवश्यक है कि वह शुद्ध हिन्दी में पाठ्य-पुस्तक द्वारा दूसरे के विचार व्यक्त कर सके, फिर निबन्ध और वक्तृता द्वारा अपने विचार व्यक्त कर सके। इसके लिए कक्षा में थोड़े से पृष्ठ ध्यानपूर्वक पढ़े जायँ और घर पर मनोरंजन के लिए अधिक से अधिक पुस्तकें पढ़ी जायँ।

आगे बढ़ने पर विद्यार्थी के साहित्यिक मनोरंजन का परिष्कृत होना भी आवश्यक है। निम्न कक्षाओं की शिक्षा-विधि में भाषा का प्राधान्य रहता है तो ऊँची कक्षाओं की शिक्षा-विधि में साहित्यिक आलोचना का प्राधान्य हो जाता है।

साहित्यिक आलोचना के दो ढङ्ग हैं। एक का मान है संस्कृत साहित्य में, दूसरे का है आधुनिक विदेशी साहित्यों में। हिन्दी साहित्य प्रगतिशील है। इसलिए हमें भी प्रचलित प्रणाली को ही अपनाना होगा, यद्यपि हिन्दी पर संस्कृत का ऋण होने के कारण विद्यार्थियों के लिए प्राचीन प्रणाली का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान होना आवश्यक है।

आधुनिक शिक्षा-विशेष रूप से इस देश में परीक्षा पर समाप्त होती है। अतः इस लेख को भी परीक्षा पर समाप्त होना है।

शिक्षा के पश्चात् परीक्षा आवश्यक है। परन्तु जिस परीक्षा-प्रणाली का भारत में इस समय प्रचार है उसका इस देश की परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रणाली की भित्ति अविश्वास की नींव पर है। शासकों का अविश्वास शिक्षकों के प्रति और शिक्षकों का वही अविश्वास अपने शिष्यों के प्रति। परीक्षा का अभिन्न सम्बन्ध शिक्षा और शिक्षक से होना चाहिए, परन्तु यहाँ परीक्षा का सम्बन्ध शिक्षा से बहुत कम है और शिक्षक से परीक्षा का सम्बन्धित होना तो सिद्धान्त के प्रतिकूल समझा जाता है।

इस देश में सरकारी नौकरियों के लिए, सरकारी परीक्षा की मुहर लगे हुए युवकों को प्राप्त करने के लिए, सर्वजनिक परीक्षाओं की प्रणाली चालू की गई थी। उत्तीर्ण युवकों की संख्या सरकारी आवश्यकता से बहुत अधिक बढ़ जाने पर परीक्षा का मूल्य अब नहीं के बराबर रह गया है। अब युवकों को मुहर के नाम पर आँक जाने का जमाना खतम हो चला है, अब उनका मूल्य उनकी योग्यता के अनुसार ही आँका जायगा। ऐसी स्थिति में प्रचलित सार्वजनिक परीक्षाओं की निरर्थकता और भी बढ़ जाती है।

ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर जितने उन्नतिशील देश हैं उनमें कहीं भी सार्वजनिक परीक्षा-प्रणाली नहीं है। शिक्षालय अपनी-अपनी परीक्षाएँ स्वयं लेते हैं और प्रमाणपत्र देते हैं। इन सार्वजनिक परीक्षाओं के न होने के कारण वहाँ के युवक यहाँ के युवकों से योग्यता में बढ़े-चढ़े ही होते हैं, कम नहीं होते।

इसलिए हिन्दी शिक्षा के नाते ही नहीं सार्वजनिक शिक्षा के नाते भी, सार्वजनिक परीक्षा प्रणाली का अन्त किया जाना आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शिक्षा की जाँच न होती रहे। सार्वजनिक परीक्षा के समाप्त होने पर यह और भी आवश्यक हो जाता है कि शिष्यों की दैनिक पठन-पाठन-चर्या का लेखा रक्खा जाय और उस लेखे के आधार पर ही उनकी योग्यता का प्रमाणपत्र बने।

चालू वस्तु को एकदम तोड़ देना कठिन है। इसलिए यदि सार्वजनिक प्रणाली का तुरन्त अन्त न किया जा सके तो उसका सुधार ही शीघ्र कर दिया जाय। सार्वजनिक परीक्षाओं की संख्या घटा दी जाय। हिन्दी की परीक्षा में पाठ्य-पुस्तक के आधार पर प्रश्नों की संख्या घटा दी जाय, विद्यार्थियों के लिए अधिकांश प्रश्न ऐसे ही हों जिनके उत्तर संक्षेप में दो-चार वाक्यों के भीतर दिये जा सकें। पाठ्य-पुस्तकों की परीक्षा उतनी न ली जाय, जितनी कि शिष्य की हिन्दीविषयक योग्यता की, उसकी साहित्यिक रुचि की।

हिन्दी संसार को भारत के राष्ट्रीय शिक्षालयों से ऐसे ही शिक्षकों की प्रतीक्षा है जो हिन्दी साहित्य के निर्माण और प्रचार में सहयोग दे सकें और यों हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय पद पाने के योग्य बना सकें। जिन शिक्षालयों में हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था है, उनके शिक्षकों और संचालकों को इसी राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए अग्रसर होना है।

साहित्य और धर्म का समन्वय

विद्याभूषण पं० मोहन शर्म्मा, विशारद, पूर्व सम्पादक 'मोहिनी'

साहित्य में धर्म को सम्यक रीत्या हृदयङ्गम करने के लिए 'साहित्य एवं धर्म' इन दो पृथक् भावों की आलोचना आवश्यक होती है। जब 'साहित्य का धर्म' अर्थात् साहित्य के साथ धर्म का निर्णय करने की प्रयोजनीयता होती है तब साहित्य के गर्भ में धर्माधिकार की विस्तृति और व्यापकता स्पष्ट हो जाती है। इससे आगे यदि कोई भाग्यशाली साहित्यिक 'साहित्य ही धर्म है' की परा कोटि को पहुँच जाता है तो उसकी साहित्यिक पूजार्चा सफल हो जाती है—वह सार्थकनामा बन जाती है और वास्तव में ऐसे पुरुष-पुङ्गव का सहमिलन साहित्य को भी अपने श्रेष्ठत्व की छाप से वरविभूति-सम्पन्न और सार्थक कर देता है।

(१) साहित्य और धर्म, (२) साहित्य का धर्म, (३) साहित्य में धर्म का समन्वय, (४) साहित्य ही धर्म है।

उपर्युक्त चारों विषय प्रस्तुत प्रबन्ध में ताने-बाने के सदृश बुने हुए हैं। सर्वप्रथम 'साहित्य एवं धर्म' शब्द का भावार्थ सोचने पर ज्ञात होता है कि साहित्य और धर्म का अत्यन्त निकट सम्बन्ध है और शब्दद्वय एकार्थवाची हैं। साहित्य का अर्थ है—मिलन (सहितस्य भावः साहित्यं) और धर्म का स्पष्ट अर्थ है—धारण (धारयतीति धर्मः) इससे निर्विवाद सिद्ध है कि एक का कार्य सहमिलन है तो दूसरे का कार्य धारण करना है। किन्तु, सचराचर देखा जाता है कि साहित्य शब्द उच्चरित होते ही प्रायः रसज्ञ जन पहले काव्य शास्त्र को ही गणना में लेते हैं और धर्म से प्रायः कर्मकाण्ड का बोध किया जाता है। उदाहरण-स्वरूप पपीहा की पी कहाँ, कोयल की कुहुक, वियोग की अहुँक, ज्योत्स्ना का चन्द्र, लता-गुल्म-आवेष्टित उद्यान की शोभा, निर्झरों का जलप्रपात, सरिताओं के कछार की वनश्री,—यही सब हमारा साम्प्रतिक साहित्य है और पितृव्य का पिण्ड-दान, मृतक-भोज, उपाकर्म, शिवार्चन, चौके-चूल्हे की परिशुद्धि इत्यादि धर्म में परिगणित हैं अर्थात् ध्रुव धर्म के रूप में माननीय हैं। किन्तु यह कोई भूलकर भी नहीं सोचता कि ये सब बातें आठों गाँठ कुम्मैत नहीं हैं और साहित्य तथा धर्म्म के अन्तर्गत नहीं आ सकतीं। 'पञ्चदशी' भी तो साहित्य की जाज्वल्यमान वस्तु है। लोकान्तरित बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' भी साहित्य है। 'धन्यो गृहस्थाश्रमः' के अनुसार मानवात्मा के पक्ष में गृहस्थाश्रम की साधना धर्म है, उसी प्रकार संन्यास धारण भी धर्म्म है। परञ्च, दोनों का उद्देश एक होते हुए भी विचार किया जाय तो इनमें गहरा वैषम्य है। जब साहित्य सहमिलन का अर्थ लेकर उपस्थित होता है तब एक दूसरी वस्तु की प्रयोजनीयता होती है जो कि उसके साथ बिलकुल ही घुल-मिल जाय। इसी भाँति जब धर्म धारण अर्थ को लेकर आता है तब दूसरी वस्तु की आवश्यकता अपरिहार्य

है कि जिसे धारण किया जाय; अन्यथा सहमिलन और धारण अर्थ की सार्थकता असम्भव सिद्ध होगी।

उक्त दूसरी वस्तु को समझने के पूर्व—जो धारण करने योग्य है और जिससे सह-मिलन होगा, इसकी अवगति के भी पूर्व—जिसके संयोग से सहमिलन और धारण की क्रिया साधित होगी उसको जान लेना अतीव आवश्यक है। यथार्थ में वही साहित्य और धर्म के नाम से प्रतिष्ठित है। "जो शक्ति और प्रेरणा अत्यन्त क्षुद्र शक्ति को महिमा-मयी महाशक्ति के साथ सम्बन्धित और सम्मिलित करा देने का श्रेय साधन करती है, उसका नाम साहित्य है और जो शक्ति परमाणु को अच्युत ब्रह्माण्ड भाण्डागार में धारण करा देती है, उसी का नाम सत्-चित्-आनन्दमय धर्म्म है।" हम थोड़ा ठण्डे मस्तिष्क से सोचें कि सम्प्रति हम, साहित्य और धर्म से कितने परे खड़े होकर साहित्य एवं धर्म के नाम की डुगडुगी पीट रहे हैं। हमारा यह कोलाहल यथार्थ में साहित्य और धर्म के कितने निखरे हुए स्वरूप को प्राप्त कराने में सक्षम हुआ है। यदि अप्रिय सत्य न माना जाय तो इसका स्पष्ट उत्तर होगा कि इस समय हम साहित्य का केवल संज्ञाहीन शरीर लेकर और धर्म को अन्तःसार-शून्य बना एकमात्र बाह्य कर्म-काण्ड के आश्रय से साहित्य और धर्म के उन्नति-साधन में लगे हैं। बाह्याडम्बर का प्रदर्शन हमारा स्वभाव एवं प्रसिद्धि की थोथी लालसा हमारी चिरसङ्गिनी बनी है। अतएव, सिद्ध है कि यह कार्य अनुष्ठान की दृष्टि से परमावश्यक होते हुए भी कार्य-कारण की दृष्टि से ध्येय की पूर्ति करनेवाला नहीं है। क्योंकि जो कार्य्य सदुद्देश की सफलता में व्यर्थ अन्तराय उत्पन्न करता है वह कदापि प्रकृत और पूर्ण नहीं माना जा सकता। उद्देश्य से प्राप्तव्य वस्तु ही पूर्वोल्लिखित दूसरी वस्तु है। जिस साहित्य के सद्हेतुमूलक उद्देश्य से दूसरी वस्तु के साथ सम्मिलन हो उसी का वास्त-विक नाम साहित्य है और जिस धर्म्म के उद्देश्य से अपर वस्तु धारण की जाय, उसी का प्रकृत नाम धर्म्म है। इन दोनों का एक ही उद्देश्य और एक ही लक्ष्य है। सृष्टि के विशालकाय ग्रह-उपग्रहों से लगाकर प्रत्येक अणु-परमाणु उस जगन्नियन्ता प्रभु (स्रष्टा) के सहमिलन और धारण के अर्थ, उसी की पूर्ण शक्ति से गतिमान हो रहा है। कभी उत्थित होता, और कभी निपतित होता है जिसे एक क्षण का भी विश्राम नहीं है—जिसका किसी भी काल और अवस्था में अन्त नहीं है—उसी श्रेष्ठतम उद्देश्य की वस्तु को जान लेने का जो अमर अटल साधन हो वही साहित्य है, वही धर्म्म है।

वस्तुतः केवल मात्र दो चित्ताकर्षक और रसीले शब्दों को लिखकर वाचकों का मनोरञ्जन करा देने से कोई भी अधिकारी साहित्यिक की आख्या नहीं पा सकता। पर जो मानव-मस्तिष्क में शुचिता की अधिष्ठात्री (बुहारी) लगा, उसके गन्देपन को धो बहाता है और उच्चादर्श के निर्मल सौन्दर्य का प्रदर्शन कर, उससे सहमिलन करा देता है वही प्रकृत साहित्यिक है। उसकी साहित्याराधना, साहित्य-सेवा-साधना शत बार धन्य है। जिसे हम नित्यप्रति आँखों देखते और नक्तंदिवा अनुभव कर रहे हैं, उसे देखने की आवश्यकता नहीं है पर जिस चारु चित्र को किसी व्यवधान-विशेष के कारण देख नहीं सकते, देखने की उत्कट इच्छा रखते हैं और जिसके दर्शनार्थ प्राणों का स्पन्दन रुका जा रहा है, ऐसे ही चित्र को आँकना और उसकी झाँकी करा देना भी कृतकार्यता प्राप्त

साहित्यिक का काम है। भला उसकी दायित्वपूर्णता से कौन इनकार करेगा? उस समय फिर कुछ और देखने-सुनने की आकांक्षा नहीं रहती; पूर्णतः मनस्तुष्टि होकर चक्षुद्वय सफल हो जाते हैं। इसी भाँति भस्म रमा, गेरुआ वस्त्र धारण कर मन्त्रोच्चारण कर देने-मात्र से कोई व्यक्ति ब्रह्मनिष्ठ और सच्चा धार्मिक नहीं हो सकता; प्रत्युत जो इष्ट वस्तु को अंगुलि-निर्देश द्वारा दिखाकर उसके सामीप्य में पहुँचा देता है, वही यथार्थ में धार्मिक है; उसकी धर्मनिष्ठा लोक-पूजित हो जाती है। ऐसे आप्तकाम व्यक्ति के कृपाकटाक्ष से अभीष्ट की सिद्धि हो जाने पर फिर एषणाओं का अस्तित्व नहीं रह जाता, सारी इच्छाएँ पूरी हो चुकती हैं। अतएव इन सब बातों पर दृष्टिक्षेप करते हुए कहना पड़ेगा कि हम, आये दिनों, प्रकृत धार्मिक और साहित्यिक की खुली अवहेलना कर रहे हैं। हमने इन दोनों को बहुत पीछे डाल रखा है। साम्प्रत काल में जिससे साहित्य और धर्म्म उत्पन्न होता है, उसके अनुशीलन का एकान्तिक उद्देश्य क्या है; इसके समाधान में हम अधिक कुछ न कहकर एक प्रामाणिक ग्रन्थ के कुछ शब्द नीचे उद्धृत करते हैं :—

"जो मनुष्य की सम्पूर्ण वृत्तियों को ईश्वराभिमुखी और ईश्वरानुवर्ती बना दे, वही सर्वोच्च, सर्वानुमोदित साहित्य और धर्म्म है।"

सुतरां दोनों ही एक हैं, दोनों की एकता सर्वथा अपरिहार्य्य है। यदि हम आध्यात्मिक पथ को त्याग कर, साधारण प्रचलित मार्ग पर चलें तो भी उसी गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर सकते हैं—इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं। जहाँ शब्दशक्ति के साथ चिन्ता-शक्ति का संयोग है, वहाँ साहित्य की सृष्टि आँखों के सामने का व्यापार है। जो रचना रसमयी, भावमयी और लावण्यमयी मान ली जाय, वही साहित्य है; साहित्य का निखरा हुआ स्वरूप है।

जिसे साधारणतः शब्द कहकर बोध कर लिया जाता है, उसके परे और भी कुछ ज्ञातव्य और द्रष्टव्य है। उसके जाने और देखे बिना शब्द का तत्त्वबोध होना कठिन है। जिस वस्तु के सहयोग से चिन्ता-शक्ति वर्द्धित होकर एक निर्दिष्ट वस्तु स्थिर करती है किंवा चिन्ता का मुख्य विषय स्थिर करा देती है, वही यथार्थ में 'शब्द' है। इस शब्द को ही हमारे ब्रह्मनिष्ठ ऋषिगण शब्द-ब्रह्म कह गये हैं :—

"शब्दब्रह्मणि निष्णातः, परं ब्रह्माधि गच्छति।"

शास्त्रकारों ने दो ब्रह्म माने हैं एक शब्दब्रह्म, दूसरा परब्रह्म। जो शब्दब्रह्म में निष्णात होता है, वही परब्रह्म को भी प्राप्त करता है। पाश्चात्य पण्डितों ने भी इसी का समर्थन "Word is god" के रूप में किया है। यद्यपि जिसे हम चिन्ता कहकर समझते और अनुभव करते हैं, वह दृश्य या अदृश्य रूप में हमें एक ही दिखलाई पड़ती है किन्तु, उसका उद्देश्य एक नहीं है। आप भी चिन्तन करते हैं, हम भी चिन्ता के अभ्यासी हैं पर चिन्ता का विषय कभी एक नहीं होता। इस जगतीतल में चिन्ता करना तो सभी का स्वाभाविक धर्म्म है। राजा से लेकर पथ का भिखारी तक चिन्ता के न टूटनेवाले जाल में जकड़ा हुआ है। भूपतिगण चिन्ता करते हैं कि किस प्रकार उनके राज्य की वृद्धि हो। प्रजा चिन्ता से झुलसी जा रही है और मनौतियाँ मनाती है कि समय पर वृष्टि हो। ये दोनों चिन्ताएँ ही तो हैं। श्रीमतीजी शृंगार

की चिन्ता में व्यस्त हैं तो श्रीमान् उनकी नित्य नई माँगों की महाचिन्ता से व्याकुल हैं। कोई विधवा स्त्री के वैधव्य की रक्षा से चिन्तित है तो कोई उसके पुनर्विवाह की चिन्ता में जमीन-आसमान के कुलाबे मिला रहा है। इन दोनों पहलुओं पर सम्यक् रूप से विचार करने पर ज्ञात होता है कि किसी की भी चिन्ता-धारा न्यून नहीं है। इस प्रकार दोनों ही ओर चिन्ता का अखण्ड स्रोत प्रवाहित हो रहा है। यहाँ चिन्ता द्व्यर्थ भावात्मक सिद्ध हो रही है, किन्तु चिन्ताद्वय में फिर भी वैषम्य है। दोनों एक की वाचक नहीं हैं।

पृथ्वी तल पर मानव-मस्तिष्क में जितनी चिन्ताओं का उदय होता है वे सब प्रायः एक दूसरे के समक्ष अपनी हार ही स्वीकार करती हैं। किन्तु, जिस चिन्ता के उदय से अन्य समस्त चिन्ताओं का तिरोभाव हो जाता है, जो चिन्ता इस पार्थिव शरीर को धन्य धन्य बना देती है, जो उस अनन्त साध्य के परस्पर सम्बन्ध का प्रकृत हेतु है, अथवा जो समग्र चिन्ताओं को पराभूत कर चिन्तामणि की वास्तविक चिन्ता में मग्न कर देती है, वही सर्वोत्कृष्ट चिन्ता है। अतएव, इस मीमांसा से सिद्ध हुआ कि साहित्य और धर्म्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इनमें भेदाभेद का विचार करना मूल से खाली नहीं होगा। सम्प्रति हमारे चक्षुद्वय मूल को छोड़कर शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार की चकाचौंध से चञ्चल हो उठे हैं। फलतः जो धर्म की आलोचना में व्यस्त हैं, वह हमारे भावी अभ्युदय के पक्ष में भयावह हैं।

अधिकांश साहित्यिकों का कथन है कि विज्ञान एक पृथक् वस्तु है। इतिहासज्ञ कहते हैं कि साहित्य भिन्न वस्तु है और गणितज्ञों का कौल है कि गणित भिन्न वस्तु है। परञ्च किसी वैज्ञानिक से पूछिए तो कि उसके इस विज्ञान का अन्त कहाँ है। माना कि पाश्चात्य देशों के विज्ञानवेत्ता आये दिनों नाना खोजों और आविष्कारों द्वारा भौतिक जगत् में एक नवीन युग की स्थापना कर रहे हैं। उनके कार्य-कलाप को आज का संसार आश्चर्य-विस्फारित नेत्रों से देख रहा है और प्रकारान्तर से उनका अनुयायित्व ग्रहण करने में भी तत्पर है किन्तु, जब हम विज्ञानोन्नति के सुदूर भविष्य और अन्त को मानस चक्षुओं से देखने का प्रयास करते हैं तो हमारा मनोरथ व्यर्थ होकर, हृदय में दाह उत्पन्न हो जाता है। इसी लिए विज्ञानवाद और अध्यात्मवाद एक दूसरे से दूर की वस्तुएँ हैं। जहाँ जाकर विज्ञान मृत्यु से आलिङ्गन करता है, अनन्त काल के लिए सुप्त हो जाता है, वहीं से अध्यात्म अपना पहला डग भरना आरम्भ करता है। किसी सूक्ष्मधी आँग्ल विद्वान् का कथन है :—

"East is east and west is west, These two shall never meet."

पूर्व और पश्चिम परस्पर कभी नहीं मिल सकते। अर्थात् विज्ञानवाद और अध्यात्मवाद का मेल होना असम्भव है। अस्तु, यहाँ साहित्य की ठीक मीमांसा यह होगी कि जहाँ से सब शक्तियाँ निःसृत होकर फिर उसी में लय हो जाती हैं, यथार्थ में वही सहमिलन है, वही साहित्य है। विज्ञान के पश्चात् इतिहास और गणित को लीजिए तो इनका अन्त भी उसी में समाया हुआ दिखाई देगा। एक के अङ्क से आरम्भ करने पर अन्त में शून्य रह जाता है। शून्य की व्याप्ति शून्य में हो जाती है। भला इस सुन्दर सहमिलन को साहित्य नाम से अभिहित करने में कौन संकोच करेगा? यद्यपि साहित्य

शब्द का अर्थ अतीव प्रशस्त है किन्तु आज के युग में मानव-जाति उसके पूर्ण अर्थ को ग्रहण करती है या नहीं, इसमें सन्देह है। प्रायः संकीर्ण और असम्पूर्ण अर्थों पर ही हम अटके जा रहे हैं। पश्चिमीय देशों में Literature (साहित्य) शब्द को विशेष महत्त्व दिया गया है और वहाँ के लोग उसका प्रशस्त अर्थ ग्रहण करने का प्रायः अभ्यास भी कर रहे हैं। कर्म, धर्म, ज्ञान, विज्ञान, काव्य, गणित, ज्योतिर्विज्ञान, इतिवृत्त प्रभृति सभी को साहित्य के अन्तर्गत माना जाता है। इन सबको एक ही क्रिया में संयुक्त कर देना साहित्य का सृजन करना है। न्याय-शास्त्र के मतानुसार ऐसे ही साहित्य से लोक-शिक्षा और लोक-कल्याण साधित होता है। मानव के पक्ष में धर्मावलम्बन के लिए साहित्य से भिन्न और कोई मार्ग नहीं है। इसी हेतु भारतवर्ष में स्मरणातीत काल से प्रत्येक साहित्य धर्ममूलक रहा है। पश्चिमीय देशों में भी यही ध्वनि उठ रही है:— "Substance of al religion is culture" और वास्तव में यह Culture ही साहित्य का उत्कर्ष और अनुशीलन है। साहित्य के इस उत्कर्ष और अनुशीलन के लाभ में जो सहायता पहुँचाता है वही प्रकृत साहित्य और धर्म्म है। ये दोनों मिलकर एक ही वस्तु के द्योतक हैं। उत्कर्ष के लिए आदर्श आवश्यक है और आदर्श के निमित्त उतनी ही शिक्षा के अनुशीलन की आवश्यकता है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार Imitation of the most beautiful and excellent life ही आदर्श है। कहना नहीं होगा कि उनके इस अभिमत को एतद्देशीय महर्षिगण पहले ही लिख चुके हैं। साहित्य-शिक्षण और धर्म-शिक्षण दोनों में भेद मानने का हमारा स्वभाव हो गया है। ईश करें, कि यह शाब्दिक वैषम्य की व्यवहारिक क्रिया शिथिलीभूत हो हमारे मन-मानस में पुनः 'साहित्य और धर्म' के मेल का भाव संजीवित कर साहित्य को धर्ममय और धर्म को साहित्यमय बना दे।

INTELLIGENCE: ITS NATURE

Man's intelligence places him above all other living things on earth. It is by dint of his powerful intelligence that he has harnessed the forces of Nature to the service and welfare of mankind, has eliminated the obstacles of space and time, devised machine and instruments calculated to benefit his fellowmen. The achievements of human intelligence are varied and complex in the modern times and all the marvel of science and master pieces of art and literature are but the products of his mind and fine intelligence. He possessed a keener and finer intelligence even at the dawn of civilisation when living in the lake dwellings and caves and hunting the wild animals less intelligence for his daily meal.

Modern Scientists have tried to investigate into the nature of intelligence and have reached some definite conclusions about it. In course of this essay their important findings shall be dealt with but before we begin it, it is valuable to distinguish intelligence from knowledge, intellect and instinct.

In our every day talk we generally credit a man of deep learning with a high degree of intelligence and thus the erudites with, as Stevenson would style with ancient owlish look in their faces will be called geniuses and extraordinary men. This is due to a confusion of the exact nature of knowledge with intelligence. Knowledge is external, it is acquired from without and is the organisation of bare facts in the mind. While intelligence is an innate endowment in the man. It is not the mere possession of facts but an added power to utilise and apply the knowledge to the practical situations of life. It is often found that men of deep and thorough knowledge fail in practical life thus knowledge may be found quite apart from superior intelligence though some intelligence is always necessary for its acquisition and organisation and all knowledge with poor intelligence may aptly result in "a walking, living out of date anachronism" or in the wisest fool of christendom. Thus in short knowledge is resultant of external material circumstances while intelligence a development of the innate capacity of man. The two are intimately connected but

a man of deep learning may not be a man of extraordinary intelligence or a genius may not be equipped with the volumes of knowledge. Another popular mistake is made when intellect and intelligence are confused with each other. The distinction may be made to show that even small animals have intelligence but they are never intellectuals. Intellect may be defined as the capacity for analytical thinking, logical inference or a capacity for abstract and ideational thinking. For instance solving of a mathematical problem needs intellect and is an intellectual operation and so is counting but counting ones chickens before their hatched is a highly unintellegent act because counting is here fused with a vague imagination.

Another very common mistake is committed when we say that animals are unintelligent and all their behaviour is instinctive pure and simple. Prof. Bergson seems to be responsible for such confusion amongst psychologists for he said that in the scale of evolution nature bifurcated the principles of conduct relegating instinct solely to lower species of life such as insects and animals while developed in man a superior power named intelligence, the basis of all morality and art. This is however not so. Evidence from Profs. Mcdougall and Kohler conclusively prove that even animals such as rats, apes are capable of solving problems of practical situation like man and hence are intelligent but the difference is in the amount that varies in them. Man is more intelligent, capable of directing and diversifying his energy in directions more than one while the animals it is mainly one sided and rather rigid. The difference between the two may be made clear with the help of an example. Prof. James has contrasted the attraction of iron-filings towards magnet with the attraction of Romeo towards Juliet the well known lover of Shakespeare towards his beloved. In both the invisible mysterious power works and draws one nigh the other. But in the case of a glass being interposed between the magnet and the iron-filings the difference will be made clear. The iron-filings will not be able to overcome the obstacle nor will they make any effort to go round the glass interposed. They will be impotent, inactive, dead and inert. This says Prof. James "is the height of resignation and utter negation of intelligence". What will a love lorn Romeo do if a fence or a wall were to thwart his way to his beloved, Juliet. He will not be resigned

and stand helpless with his face pressed against the wall. He will overcome the obstacle and meet her without fail. Here is effort and intelligence. Thus we see that Romeo is drawn towards his beloved under the operation of instinct but has to apply intelligence to clear the hindrance and reach his goal. Instinct and intelligence are innate capacities of some kind but while the one inspires the other directs the way and the devices means to attain the goal.

On what does intelligence depend ? This is also an important question. Some people say that it depends primarily upon the size of the head and its make up. The bigger the head they say the iutelligence. This is wrong. Though in the course of evolution mind and body are connected physical development is not in due one conformity with the development. Though intelligence is found deficient in ill-developed men such as Morons, ediots, imbeciles it does not follow that intelligence and bodily development have run parallel the race of evolution. Intelligence physically considered depends upon the depth and convolutions in the cerebrum of the man. The deeper the finner the more numerous the convolutions are the more intelligent and complex will be the man. Some people say that face is an index of an intelligence. This may be some what true but it is not the sole truth for we say all beautiful but dumb and thus only little guess may be from face.

Psychologist have from time to time advanced theories to explain what is exactly the nature of intelligence. Some Psychologist say that intelligence is the monarch of all human mental powers, the one sole governing, directing, controlling ability which aids all acts of thinking and doing. Burt has well-expressed it in his remark that " a wiseman is wise in all things as a fool is a fool all round".

Another view about intelligence holds that intelligence is constituted of various separate mental powers that surpass all others in one direction only. They cite that a man may shine in mathematics but is poor in literature and languages. While a good painter may be lacking both the mathematical and linguistic abilities. This is the oligarchic theory upholding in the rule a few outstanding abilities peculiar to everybody.

The last view, however, points out that no universal rule of either measuring intelligence or saying with precision what exact powers come

under intelligence. There is anarchy in the sphere of intelligence and all these powers are independent, detached and difficult of measurement.

Prof. Spearman, on experimental evidence based on critical investigation has reached some definite results given below :—

1. Intelligence is some kind of innate mental power operating in every act of thinking and behaviour in every human-being.
2. Every human being has a limit which it can be developed and it does not develop at all after the age of 16.
3. That intelligence does not depend upon a man's power to retain things and facts.
4. In the tetrad equation A B C D (Four subjects having allied mental operations will yield I - A × B minus C D Equal to O.
5. (a) That there is a general ability which operates in every act of thinking and doing its nature is not known.
   (b) There are special abilities, known as " such as logical, linguistic, mathematical, musical and mechanical.
   (c) There are grant factors less than '8' in operation not functioning everywhere.

Thus we see that Spearman's theory reconciles all the three and measures the abilities by means of a tetrad equation saying that intelligence is partly general, partly special and has some group factors in it.

Whatever theoritical differences may exist about the exact nature of intelligence as an abstract quality an act of intelligence behaviour is marked by the following characteristics and we may distinguish an intelligent act from unintelligent acts.

1. Every intelligent act is directed towards the attainment of some goal. May it be a practical purpose of every day life or the solving of a mathematical problem. Purpose is the key note of intelligence. Not only the presence of a goal but also the consciousness of the means to be employed to attain the goal together with the power to evaluate how far one has reached it. It is the powers autocriticism.
2. Adaptiveness is another quality of intelligence and a man of high intelligence rarely fails to fit himself in almost any

environment. Those who are wanting in intelligence make a poor figure and can not be in accord with it.

3. People of high degree of intelligence are capable of concentrating their energies on one work. They can revolve the problem in their minds for quite a long time while fleeting ideas indicate a weak mind.
4. Persistency is another quality of intelligence and to some extent Dr. Johnsons remark that genius is 99% perspiration and only 1% inspiration is apt and correct.
5. How barren of thought indeed are the unintelligent persons ! while intelligent men are men of fertile thought.

S. P. Chaturvedi, M. A., B. [illegible]

प्रवासी की आत्मकथा

स्वामी भवानीदयाल संन्यासी

स्वदेश की पहली झाँकी

सन् १९०४ में मैंने मन में बड़ी बड़ी उमंगें लेकर हिन्दुस्थान के लिए पयान किया था। जिस भारत की खोज में निकले हुए कोलम्बस को अमेरिका मिला था और वास्कोडिगामा को अफ्रीका महादेश; उस सुजला सुफला मातृभूमि के दर्शन की उत्कण्ठा मेरे लिए स्वाभाविक ही थी। कलकत्ता पहुँचकर पिताजी काली घाट पर काली-मंदिर में ठहरे। वहाँ बकरों के बलिदान का नृशंसतापूर्ण नजारा देखकर मेरा कलेजा काँप उठा। मैंने पहले कभी रक्त की ऐसी धारा बहते नहीं देखी थी। मेरी आत्मा चिल्ला उठी—यदि यह देवी का मंदिर है तो कसाईखाना किसको कहना चाहिए?

कलकत्ता से रेलगाड़ी पर सवार होकर हम 'कुदरा' पहुँचे। यह स्टेशन बिहार प्रान्त के आरा जिले में सहसराम के समीप गया-लाइन पर स्थित है। यहाँ से करीब चार कोस उत्तर की तरफ बहुआरा नामक एक छोटा सा गाँव है, जो पिताजी की जन्मभूमि है। स्टेशन से गाँव जाने के लिए इक्के की सवारी मिली। पहले पहल पाँव सिकोड़कर इक्के पर बैठा था; ऊबड़-खाबड़ कच्ची सड़क पर उसके हचकोले से नस-नाड़ियाँ ढीली हो गईं, और अङ्ग-अङ्ग टूटने लगा।

किसी तरह जब मैं उस बहुआरा गाँव में पहुँचा तो वहाँ का हाल देखकर बेहाल हो उठा। वहाँ दिन-दहाड़े श्मशान की भाँति सन्नाटा था। साँकरी खोरियाँ कूड़ा और बड़-पीपल के पत्तों से ढकी हुई। मिट्टी के छोटे-छोटे झोपड़े, वह भी बरसा की बौछार खाकर अथवा रेह लगकर ढहे हुए; किसी पर घास-फूस के छप्पर और किसी पर खपरैल के; दरवाजे पर घूर के ढेर। गलियों में गन्दे पानी की मोरियों से निकली हुई ऐसी दुर्गन्धि कि साँस लेना मुश्किल। खोरियों में कभी कोई बच्चा, कोई स्त्री अथवा कोई वृद्ध पुरुष दिखाई पड़ जाते, उनके कृष बदन जहाँ तहाँ से फटे-पुराने तथा मैले-कुचैले चिथड़ों से ढक रहे थे। किसी के पास पनही नहीं, पैरों में धूल और गर्द की पपड़ी पड़ रही थी। ऐसे मनुष्य और कहाँ मिलेंगे जिनका जीवन ऐसा दीन, तन ऐसा क्षीण, मुख ऐसा मलीन और नयन ऐसा तेजहीन हो? हरे हरे! क्या यह मनुष्यों का गाँव है? यहाँ के निवासी क्या रक्त-मांस के शरीरवाले जीवित मनुष्य हैं अथवा केवल हाड़-चाम की ठठरीवाले निर्जीव प्रेत? किसी के पेट और पीठ एक हो गये हैं, किसी की छाती की हड्डियाँ बाहर निकल आई हैं, किसी का शरीर मलेरिया से पीला हो गया है, किसी की तिल्ली बढ़ जाने से पेट फूलकर नाँद बन गया है, किसी के पैर मोटाई में हाथ का मुकाबला कर रहे हैं।

गाँव के झोपड़े में एक ओर जहाँ टूटी-फूटी खाटों पर आदमी पड़े थे वहाँ उसी कमरे में दूसरी ओर ढोर बँधे हुए घास चर रहे थे और मल-मूत्र का ढेर लगा रहे थे।

गलियों में आवारे और खुजलहे कुत्ते भूँकते और रोते फिरते थे। गाँववाले अशिक्षित और अज्ञानी थे। उनकी रहन-सहन गंदी और बोली बहुत भद्दी थी।

उस वातावरण में मेरा तो दम घुटने लगा। ऐसे मनहूस गाँव में आकर मैं बहुत पछताया, जहाँ से सभ्यता और संस्कृति सैकड़ों कोस दूर और जो आर्थिक दृष्टि से देश के दिवाला निकल जाने की साफ गवाही दे रहा था। मैं सोचने लगा कि यहाँ लोग रहते हैं कैसे! हाय हाय! ये गन्दी गलियाँ, ये टूटे-फूटे झोपड़े, उन पर ये सड़े-गले घास के छप्पर, जिनमें न सुन्दरता है, न सजावट; न आराम है, न सुभीता; न प्रकाश पहुँचता है न पवन। ये नन्हें-नन्हें बच्चे नंगे और स्वास्थ्यहीन, चेहरे पर चमक नहीं, गालों पर लाली नहीं, आँखों में आभा नहीं; पेट फूलकर फुटबॉल और पैर सूखकर नरकट बन गये हैं। सारे बदन में फुंसी-फोड़े और घाव भरे हैं, पीब बहती है और मक्खियाँ भिन-भिनाती हैं। इसी स्थिति में एक-दो दिन नहीं, मास दो मास नहीं, साल दो साल भी नहीं, बल्कि जीवन भर पीढ़ी-दर पीढ़ी! कैसी अनीप्सित अवस्था? कैसा दारुण दृश्य?

मैं प्रगाढ़ चिन्ता में डूब गया; हाथ मलने और सिर धुनने लगा। यही मनोव्यथा कि कहाँ आ फँसा। यहाँ कैसे दिन कटेंगे? इन गँवारों से कैसे निबहेगा? क्या मेरा जीवन इसी मनहूस गाँव में बीतेगा? क्या मेरे नसीब में यही नरकवास बदा है? मेरी देह में खून नहीं, आँखों में आँसू नहीं, रुलाई में आवाज नहीं। मैंने उसी दम वहाँ से अफ्रिका लौटने का हट बाँध लिया, खाना-पीना छोड़ दिया और धरना दे बैठा। आखिर पिताजी के बहुत समझाने-बुझाने और आश्वासन देने पर मैंने साल भर उस गाँव में ठहरना मञ्जूर कर लिया। भावी बड़ी बलवती होती है।

पिताजी ने दौड़-धूप तथा मोल-तोल करके बहुआरा और इस्माइलपुर गाँवों को अठारह हजार रुपये में खरीद लिया। बहुआरा में छोटी सी बस्ती थी पर इस्माइलपुर था उजड़ा हुआ डीह। गाँव खरीदने में पिताजी को बड़ी परेशानी उठानी पड़ी और कुछ लोगों की बेईमानी से पैसे की भारी नुकसानी भी हुई। पिताजी ने पड़ोस के तेन्दुनी गाँव में भी कुछ हिस्से खरीदे। इस प्रकार उन्होंने अपनी पूँजी की दो-तिहाई जमीन खरीदने में लगा दी, शेष एक तिहाई से खपरैल का मकान बना और खेती-बारी का इन्तजाम हुआ। वे एक छोटी सी जमीन्दारी के मालिक बन गये। उस देहात में वे बनिहार से अब एक इज्जतदार रईस बन गये। यह लोकोक्ति उन पर लागू हो गई :—

तुलसी एक दिन वे हुते, माँगे मिलै न चून।
कृपा भई भगवान की, लुचई दोनों जून॥

इसी बीच पिताजी के सामने एक अत्यंत पेचीदा प्रश्न आ पड़ा—वह था बिरादरी में मिलने का। उस देहात में शोहरत हो गई थी कि पिताजी अनेक वर्षों तक टापू में रहकर खूब माल कमा लाये हैं; इसलिए जाति के पंच नाना प्रकार के प्रपंच रचने में व्यस्त थे। हमें जाति में मिलाना चाहिए या नहीं, इस बात पर विचार करने के लिए गाँव के बखोरी राय, थीना राय आदि मुखियों की पंचायत बैठ गई। मैं भी एक किनारे बैठकर पंचायत का तमाशा देख रहा था। सरपंच महोदय बोले—"देखो भाई जयराम सिंह, तुमको जाति में मिलाने के लिए हम तैयार हैं, बशर्ते कि तुम टापू से आये

होने के कारण प्रायश्चित्त करो—पाँच गाँव के ब्राह्मणों को पक्की जिमाओ और गाँव तथा देहात के राजपूत भाइयों को कच्ची खिलाओ। इसके सिवा पंचों को कौर उठाने के लिए कुछ भेंट भी देनी होगी। बस, तुम्हारा कार्य तो सिद्ध हो जायगा लेकिन भाई साहब, तुम्हारे बच्चों को जाति में लेना अनहोनी बात है। यह जानते हुए कि वे विधवा की कोख से जन्मे हैं, हम लोग जीती मक्खी कैसे निगल सकते हैं? तुमको दो में से किसी एक को चुन लेना चाहिए—या तो बच्चों के साथ रहो अथवा जाति के साथ।

उस समय मेरी आयु बारह साल की हो चुकी थी। इस अपमानपूर्ण बात से मेरे आत्म-सम्मान पर ऐसी चोट पहुँची जितनी हजार बिच्छुओं के डंक से भी नहीं पहुँचती। हृदय में ग्लानि की ऐसी आग धधक रही थी कि आँसू तक जल गये। शरीर क्रोध से थरथर काँप रहा था और आँखों में लहू उतर आया। ओह! ऐसा घोर अपमान? मैं इन नरपशुओं से किस बात में हीन हूँ? क्या मेरा संस्कार इनसे श्रेष्ठ नहीं है? क्या मेरी रहन-सहन इनसे उच्च नहीं है? क्या मेरे आचार-विचार इनसे उत्तम नहीं हैं? यदि विश्व के किसी भी न्यायाधीश के इजलास में यह मामला दायर किया जाय तो वह हमारा रूप-रङ्ग, आचार-विचार, शिक्षा-संस्कार और चाल-ढाल देखकर क्या फैसला करेगा—किसको ऊँच और किसको नीच बतावेगा? फिर भी मैं इन नरपशुओं की नजर में नीच हूँ, कुजाति हूँ, अतएव मुझे समाज से अलग रखने की चर्चा हो रही है।

मेरे हृदय में भावनाओं की बाढ़ सी आ गई। मैं सोचने लगा—क्या यह वही भारत-भूमि है जहाँ राम ने शबरी के जूठे बेर खाये थे और कृष्ण ने विदुर की भाजी का भोग लगाया था? जहाँ पराशर चंडालिन, वेदव्यास मल्लाहिन से और वशिष्ठ गणिका के गर्भ से जन्म लेकर भी समाज में सर्वोपरि सम्मान के अधिकारी हुए थे—अपने युग में धर्म-शास्त्र, काव्यकला, सत्साहित्य और तत्त्वज्ञान के पूज्य आचार्य माने गये थे? जहाँ सिरियन, सिथियन, हूण, ग्रीक आदि भिन्न भिन्न जातियाँ आकर यहाँ की आर्य-जाति में ऐसी घुल मिल गई कि उनकी निशानी तक नहीं रही। आर्य और द्रविड़ प्रजा में परस्पर ऐसी मिलावट हुई कि हिन्दुस्थानी कौम (Indian Nation) का कोई खास रङ्ग ही नहीं रहा। सभी कौमों का कोई न कोई रङ्ग है पर हिन्दुस्थानियों में कोई गोरा है, तो कोई काला, कोई भूरा है, तो कोई पीला, कोई साँवला है, तो कोई कबरा। वर्णसंकरता का इससे बढ़कर प्रमाण और क्या चाहिए?*

जिन्होंने अपने आर्य रक्त की पवित्रता की पर्वाह न करके अनेक विभिन्न कौमों को दूध-पानी की भाँति अपने में मिला लिया था, क्या ये उन्हीं आर्यों के वशंज हैं, जो मुझे केवल इस अपराध पर जाति से बहिष्कृत करना चाहते हैं कि मैंने एक विवाहित विधवा के गर्भ से जन्म लिया है? यद्यपि मेरे माता-पिता की शादी रजिस्टर हो चुकी है और कानून से मैं जायज पुत्र हूँ, पर ये जाति के जानवर मुझे नाजायज ठहराने पर तुले

---

* इस विषय पर मैंने "वर्ण व्यवस्था या मरण-अवस्था" पुस्तक में विस्तारपूर्वक विचार प्रकट किया है —लेखक।

हुए हैं। इनकी इसी हृदयहीनता पर तो लाखों-करोड़ों मनुष्य इनको त्याग कर ईसाई और मुसलमान हो गये और ये सदियों से गुलाम बने हुए हैं।

अब मुझे केवल एक ही आशा रह गई थी—वह यह कि चाहे कुछ भी नतीजा क्यों न हो पर पिताजी इन नर-पशुओं की धमकी में आकर मुझे छोड़ेंगे नहीं। इसलिए उनके चिन्तित और व्यथित चेहरे पर मेरी टकटकी बँध गई, पर मेरी आशा टिकाऊ नहीं हुई। वह क्षण-मात्र में पानी के बुलबुले की तरह विलीन हो गई। जब पंचों ने जवाब तलब किया तो वे रुद्ध कंठ से बोले—"यदि बिरादरी बच्चों को नहीं लेती है तो भी मैं बिरादरी को नहीं छोड़ सकता।"

उस समय मुझे जितना दुःख हुआ उतना इस जीवन में न कभी हुआ था और न अब तक हुआ। मेरी आँखों के सामने निविड अन्धकार छा गया, पैर तले से मानो धरती सरक गई, सिर पर मानो आकाश फट पड़ा। मैं मूर्च्छित हो गया।

उस रात नींद हराम हो गई; दिल में दर्द था और दिमाग में तूफान। बिरादरी की ममता पिताजी को ऐसा हृदयहीन, हतबुद्धि, हौलदिला और हकीर बना देगी, इसकी मैंने कभी कल्पना तक नहीं की थी। उनके इस कृत्य पर मुझे घृणा हो गई और मैं उनको कभी क्षमा नहीं कर सका। वे मेरी दृष्टि से ऐसे गिरे कि फिर कभी नहीं उठ पाये। यदि मुझे साल भर के बाद दक्षिण अफ्रिका लौटने का भरोसा न होता तो इस अपमान से मैं अवश्य आत्मघात कर लेता।

पिताजी बोअर-युद्ध से कुछ पहले एक बार भारत आ गये थे और छः मास के अन्दर यहाँ से लौट भी गये थे। उसी समय वे एक बेटी-बेचवा से तीन सौ रुपये में एक लड़की मोल लेकर उससे विवाह भी कर गये थे। उसी पत्नी को लेकर वे बिरादरी में बहाल हो गये और अपनी घर-गृहस्थी चलाने लगे। कालान्तर में उनकी इस पत्नी से एक पुत्री जन्मी—'रामदासी' और एक पुत्र भी पैदा हुआ –'रामनरेश'।

अब मै सौतेली माँ के पाले पड़ गया। कुछ अपवादों को छोड़कर विमाता चाहे दयावती ही क्यों न हो, अपनी सौत की सन्तान पर उसका सच्चा स्नेह नहीं हो सकता। पुरुष चाहे कैसा ही चतुर और सुजान क्यों न हो, नई नवेली को पाकर उसके वश में हो ही जाता है और उसके नखरे पर उसी तरह नाचने लगता है जिस तरह नट के इशारे पर मर्कट। यदि पुरुष अधेड़ या खूसट बूढ़ा हुआ और पत्नी हुई नई-नवोढ़ा तब तो बस यही समझिए कि एक तो करेला कड़वा, तिस पर नीम-चढ़ा। कहीं वह खूबसूरत हुई, उसकी आँखों में बिजली की चमक हुई और चेहरे पर जवानी की लाली, तब तो अपने पति-पुजारी की आराध्य-देवी बन कर पुजवाने लगती है। वह घर में रानी का रुतबा पा जाती है और सभी पर रोब जमाती तथा हुक्म चलाती है। उसकी बात पति-देव के लिए ब्रह्म-रेखा होती है जो कभी मिट नहीं सकती। उसके हाव-भाव एवं चोचले पर बूढ़ा पति वैसे ही जान देने लगता है जैसे चिराग की लौ पर पतिंगे। वह अपनी स्वर्गीया पत्नी के बच्चों के साथ केवल दुर्व्यवहार ही नहीं करता बल्कि अपनी नव्य नवेली को प्रसन्न रखने के लिए उन पर अत्याचार भी कर बैठता है। 'किमाश्चर्यमतः परम,' पर है यह बात सोलह आने सच्ची, और मैं किशोरावस्था में स्वयं इस सुखद

स्थिति का यत्किंचित् अनुभव कर चुका हूँ। यदि मैं अपनी अनुभूतियों का सिलसिलेवार वर्णन करूँ तो एक अच्छी पोथी तैयार हो सकती है।

मैं थोड़ी-बहुत हिन्दी पढ़ना-लिखना जानता ही था। अब गाँव में रहकर उसका विशेष रूप से अध्ययन करने लगा। तुलसीकृत रामायण पर मेरा परम अनुराग था। उसका पाठ मेरा नित्य-नैमित्तिक कर्म बन गया था। सैकड़ों चौपाइयाँ और दोहे मैंने याद कर लिये थे और सम्पूर्ण किष्किन्धा एवं सुन्दर काण्ड तो मुझे कंठाग्र हो गया था। सूरदास के पदों पर भी मेरी बड़ी भक्ति थी। मैं बड़े प्रेम से सूर की कृतियाँ पढ़ता और उनकी भाव-प्रवणता पर मुग्ध हो उठता, पर तुलसी की रचनाओं में मुझे जो आनन्द आता वह अन्य किसी की रचना में नहीं। रामायण पढ़ते समय मेरे हृदय-सितार का एक-एक तार बज उठता था और मेरी आत्मा भगवद्भक्ति में तल्लीन हो जाती। किसी को **शेक्सपियर, मिल्टन, टेनिसन, जॉन कीट्स** प्रभृति की कविताओं में मजा मिलता होगा और किसी को बंकिम, मधुसूदन, रवीन्द्र आदि की कविताओं में, किन्तु मेरे हृदय-सिंहासन पर तो तुलसीदास का एकाधिपत्य था। वहाँ अन्य किसी के लिए गुंजाइश ही नहीं थी। जब राजपुर (बाँदा) के तुलसी-स्मारक के लिए अपील की गई तो मैंने गाँव-गाँव चक्कर लगाकर कुछ चंदा एकत्र किया और महाकवि की पुण्य-स्मृति पर अपनी श्रद्धाञ्जलि चढ़ाई।

बाल्यावस्था से ही अखबार पढ़ने की ओर मेरी अभिरुचि थी। मैं केवल एक ही हिन्दी पत्र का नाम जानता था और वह था बम्बई का "श्री वेङ्कटेश्वर समाचार"। मैंने उसे मँगाना आरम्भ किया और आदि से अंत तक पढ़ता भी। यहाँ तक कि उसमें छपे विज्ञापन भी मेरी दृष्टि से नहीं बचने पाते थे। कुछ काल के बाद मैं अपने देहात की छोटी-मोटी खबरें छपने के लिए भेजने लगा। जब वे छपकर आतीं तो मैं आनन्द-विभोर हो उठता और उन्हें पढ़कर गाँव भर को सुनाता।

पिताजी मुझे हमेशा खिन्न और उदास देखकर चिन्तित हो उठे। वे मेरी मनोव्यथा से परिचित थे। वे जानते थे कि उनके व्यवहार से मेरे भावुक-हृदय में ऐसा गहरा घाव हो गया है कि वह इस जीवन में कभी नहीं भरेगा। इस प्रकार मुझे घुल-घुलकर मरने देना उनकी अन्तरात्मा के लिए अत्यन्त त्रासदायक बात थी। इसलिए उन्होंने मुझे फौरन् किसी ऐसे काम में लगा देना उचित समझा, जिससे मेरी तल्लीनता मिट जाय और ध्यान बँट जाय। आखिर मुझे जमीन्दारी के झँझटों मे फँसा दिया गया और चौदह साल की आयु में जिम्मेदारियों का इतना बोझ लाद दिया गया कि मैं उसके भार से दब गया। जमीन्दार के सिवा पटवारी का काम भी मुझ पर आ पड़ा, क्योंकि पटवारी दस-बारह कोस के फासिले पर रहता था और साल में केवल दो बार आया करता था, अतएव उसके भरोसे बैठे रहने से जमीन्दार और किसान दोनों का नुकसान था। अतएव मैं काम-काज में इतना व्यस्त रहने लगा कि दम लेने की भी फुर्सत नहीं रही।

यह बात अच्छी ही हुई। इससे जहाँ मुझे अपने अपमान की बात सोचकर सन्ताप करने का अवकाश नहीं रहा, वहाँ भारत के किसानों की असली हालत जानने का भी अवसर मिल गया। भूतल पर भारत ही एक ऐसा अभागा देश है जहाँ के किसान

गम खाते, आँसू पीते और दम साधकर सो जाते हैं। यही कष्ट क्या काफी नहीं है पर इसी से उनका पिण्ड नहीं छूट पाता बल्कि बात-बात में उनको जमीन्दारों, तहसीलदारों और पटवारियों—यहाँ तक कि मामूली प्यादों और चपरासियों—की भी झिड़कियाँ, धमकियाँ और गालियाँ तथा कभी-कभी तो जूते की मार भी खानी पड़ती है। धरती-माता ही किसानों का एक-मात्र अवलम्ब है, उसी के अंक में वे अपना सारा आस-भरोस बखेर आते हैं, फिर उत्सुकता-पूर्वक प्रतीक्षा किया करते हैं, पर अंत में निराशा ही उनके पल्ले पड़ती है। समय पर वृष्टि नहीं होती, अकसर अकाल पड़ा करता है। अच्छी फसल तो कभी होती ही नहीं और हो भी कैसे ? न अच्छी खाद, न सिंचाई की व्यवस्था, न बढ़िया बैल और न आधुनिक हल-हेंगा। बरद ऐसे क्लान्त और कमजोर कि हल में नाधने पर डग भर चलना दुस्साध्य, अतएव हलवाहा उनकी पूँछ मरोड़कर आगे ढकेलता और हल खींचने पर मजबूर करता है। किसानों के घर में अनाज नहीं, चूहे दण्ड पेलते हैं; बच्चे रोते-रोते सो जाते हैं और सयाने पेट पर पट्टी बाँधकर। तिस पर जमीन्दार का जुल्म, तहसीलदार की तिकड़मबाजी और पटवारी की प्रतारणा। गुमाश्ते और पटवारी तो पिशाच के प्रतिरूप ही होते हैं। उनके 'हक' या 'सलामी' के रुपये मिलने में कहीं कुछ देर हो गई तो बस धरती भी गई और इज्जत भी। उधार रुपये कहाँ मिल सकते हैं ? गाँवों में न सहयोग-समितियाँ हैं और न किसानों को ऋण देने के लिए सरकार की ओर से कोई व्यवस्था ही। आबरू बचाने के लिए महाजन का दरवाजा खटखटाना और झाँकना पड़ता है। पर असल में ये महाजन नहीं, पूरे दुर्जन होते हैं जो जोंक की तरह लहू चूसकर अघाते और मोटाते हैं। इनके सूद-दरसूद के झमेले से किसान कभी पनपने नहीं पाते। एक बार फँसने की देर होती है, फिर तो उनके फँदे से निकल सकने की कोई सूरत नहीं रह जाती। बेचारे कृषक धूप-मेह-सर्दी सहकर खेत की उपज की ओर देखते हैं पर इसे देखकर अच्छी तरह आँखें जुड़ा भी नहीं पाते कि एक तरफ जमीन्दार का प्यादा लट्ठ लेकर खलिहान में आ डटता है और दूसरी तरफ बनिया-बक्काल अपनी खाता-बही लेकर। किसान की पैदावार उसके घर नहीं जाने पाती। कुछ मालिक की मालगुजारी में चली जाती है और बची-खुची बनिया के बिया-खैहन तथा नकद की बे-बाकी में। इनकी आज वही दशा है जो द्वापर के अंत में वसुदेव-देवकी की थी—वे अपने बच्चों को बराबर देखने भी नहीं पाते थे और कंस उन्हें उठा ले जाता था। फिर उसी बक्काल से साल भर कर्ज-उधार लेकर किसी तरह दिन काटने पड़ते हैं और खलिहान में वह एक मन का कहीं सवा और कहीं डेढ़ मन तक वसूल कर लेता है। जमीन्दार की जुल्म-ज्यादती और महाजन की शोषण-वृत्ति से तङ्ग आकर किसान आर्त स्वर में भगवान् को पुकार उठता है :—

भारत में जनमाय, चहैं फीजी भेजवाना।
जी चाहे नेटाल भेजकर खान खुदाना॥
है मुझको मंजूर वहाँ पर कोड़े खाना।
पर भारतीय को दीनबंधु ! मत कृषक बनाना॥

जोतें, बोवें, मरें, खपें, भर पेट न पावें।
बेदखली को जमीन्दार तिस पर डरवावें॥
हे प्रभु! अब इस क्रूर देश का मुँह न दिखाना।
मेरी विनती यही, यहाँ मत अब जनमाना॥

जिस जमाने की कहानी मैं कह रहा हूँ उस समय किसानों की अवस्था अत्यंत त्रास-दायक थी। न उनकी कोई सभा थी, न संगठन था और न उनका कोई मार्गप्रदर्शक नेता ही। वे ऐसे लावारिस माल की तरह पड़े थे जिसका कोई धनी-धोरी नहीं होता। उनकी सिधाई और मुर्खता पर अफसोस भी होता, हँसी भी आती। वे दुःख भोगते हैं पर किसी पर दोष नहीं मढ़ते। अन्धविश्वास ने उनकी बुद्धि को कुंठित बना दिया है, अतएव अपनी दुखद स्थिति के लिए वे अपने ही भाग्य को अपराधी ठहराते हैं, अपनी ही किस्मत को कोसकर संतोष कर लेते हैं। उनके दिल और दिमाग में यह बात जम गई है कि उनके क्लेश का कारण न तो विदेशी सरकार की शासन-पद्धति है, न जमीन्दारों की ज्यादती और न बनियों की सूदखोरी ही। असल में एक तो उनके भाल की ब्रह्मरेखा और दूसरे कलिकाल की पोप-लीला के कारण ही उनकी साँसति और दुर्गति हो रही है; क्योंकि इस युग में चतुष्पाद धर्म के तीन चरण टूट गये हैं, मानवी-मर्यादा नष्ट हो गई है, पुण्य की पताका गिर पड़ी है। आदमी की नीयत अच्छी नहीं रही, फिर बरकत कैसे हो? ईमान जाता रहा तो धन-धान्य कैसे ठहरे? इसी से तो दिन-रात खपते-मरते हैं, एड़ी से चोटी तक पसीना बहाते हैं, उद्योग और परिश्रम में कोई कसर नहीं रखते; फिर भी हमारी यह हालत? इसका कारण इसके सिवा और क्या हो सकता है :—

करम हीन जब होत है, सभी होत हैं बाम।
छाँह जान जहँ बैठते, वहाँ होत है घाम॥
करम-हीन सागर गये, जहाँ रतन का ढेर।
पर छूअत घोंघा भये, यही करम का फेर॥

कैसी मनहूस मनोदशा और मानसिक गुलामी का कैसा अचल आधिपत्य? यदि कोई दूसरा देश होता तो वहाँ के किसान इस स्थिति में क्रांति की आग लगाये बिना चैन नहीं लेते पर यहाँ के किसान अपने 'करम' को कोसकर संतोष कर लेते हैं। विदेशी सरकार को देश में शांति-रक्षा के लिए इससे बढ़कर और क्या सहारा मिल सकता है?

खैर, अब तो जमाना बहुत कुछ बदल गया है। कांग्रेस और किसान सभा ने किसानों को असली बात समझाने और आगे बढ़ाने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त की है, पर इस शताब्दी की प्रथम दशाब्दी में अवस्था कुछ और ही थी। मैं तो उनकी दुर्दशा देख-कर दुःखपूर्ण आहें भरा करता था और सोचा करता कि भारतीय किसानों का उत्थान होगा कैसे।

पिताजी पर भी यदा-कदा जमीन्दारी की झक चढ़ आती थी और वे असामियों के साथ दुर्व्यवहार कर बैठते थे। यहाँ उसका एक ही दृष्टान्त दे देना काफी है। एक दिन मध्याह्न में किसान रामजनम राय के बैल चरते-चरते उनके खेत में पहुँच गये और कुछ गो-चना चरकर खेत का नुकसान कर गये। इस पर पिताजी दुर्वासा की भाँति क्रोध से

उन्मत्त हो उठे और जब गालीगलौज की वृष्टि से भी उनकी तुष्टि नहीं हुई तब वे अपने सारे जानवर हाँककर ले गये और उसकी छः बीघा खेती चरवाकर सफाचट करा आये।

इस अत्याचार का समाचार जब मुझे मिला तो मेरे हृदय में विद्रोह की भावना जाग उठी। मैंने निश्चय कर लिया कि आज पिताजी के इस अन्याय का खुल्लमखुल्ला प्रतिवाद करूँगा और यदि उन्होंने किसान को हर्जाना देना मंजूर न किया तो नतीजा अच्छा न होगा। खैर, अभी पिताजी में मनुष्यता का नाश नहीं हो पाया था। वे जमीन्दारी के अखाड़े में अभी नये पहलवान थे। इसलिए वे मेरी बातों से कायल हो गये—उन्हें अपनी भूल मालूम हो गई। खेत 'बटाई' था, इसलिए आधा तो पिताजी का ही नुकसान हुआ था। मैंने पंच चुना, खेत की दानाबंदी हुई और उसके अनुसार पिताजी ने अपने बखार से अनाज देकर किसान की क्षति-पूर्ति कर दी।

["प्रवासी की आत्मकथा" नामक अप्रकाशित ग्रंथ का एक अध्याय।]

——

काव्यानन्दः

श्री गुण्डेराव हरकारे, विद्याभूषण वाचस्पतिः शिरोमणिः डिस्ट्रिक्ट जज गव्दाल
संस्थान (निजाम)

विदितमेव खलु सर्वेषां काव्यस्य पठनेन जायमान आनन्दः अन्यः शास्त्राध्ययनेन जायमान आनन्दः अन्य एव। काव्यानन्दः अलौकिकः। शास्त्रजन्यस्तु लौकिकः। विविधविशिष्टवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः दृश्यस्य श्राव्यस्य वा काव्यस्य स एवार्थ ईदृशमानन्दं जनयितुं क्षमः यो रसभावादिलक्षणचर्व्यमाणतासारः काव्यजीवातुभूतः प्रतीयमानः न तु वाच्यार्थः कश्चित्। आत्मसद्भावेऽपि कचिदेव जीवव्यवहारो देहे। शास्त्रे तु स्थायिनियतविभावादिसमुचितचित्तवृत्तिचर्वणागोचरः न कोप्यर्थ उपलभ्यते। तस्मान्न तत्रालौकिकानन्दः।

शास्त्रेऽप्यस्ति महानानंदः तत्त्वज्ञानादिजन्यः। सः परपक्षनिराकरणेन वा स्यात् स्वसिद्धान्तस्थापनेन वा। उभयविधोऽपि प्रकृतिप्रत्ययविशेषपदविभागप्रकल्पनपूर्वकविचित्रव्युत्पत्तिशतप्रदर्शनेन अतिदुरूहहेत्वाभासादिदोषोद्भावनेनेत्यतिदुष्करप्रयत्नसाध्यः। कविप्रतिभा तु दिव्यमानन्दं स्वयमेव प्रस्नुवाना स्वादुतातिशयं परिपुष्णाति। तस्मात् काव्यानन्दः प्रयत्नविशेषनिर्वर्तितपाकफलेभ्यः परस्परविरुद्धप्रतितन्त्रसिद्धान्ततत्त्वार्थसमर्थनजन्यतत्तदानंदेभ्यः सर्वमहानिति निश्चप्रचम।

दृश्यकाव्ये नाटके आविद्वत्पामरं सर्वैरपि सहृदयैरेककालावच्छेदेनानुभूयमानः विगलितवेद्यान्तरः अखण्डानन्दसाक्षात्कारः नैकस्मिन्नपि शास्त्रे समित्पाणिना नतशिरसा श्रोत्रियमुपसर्पता केनाऽपि मुमुक्षुणाऽनुभूतः।

सुखमेव मे स्यात् दुःखं मनागपि माभूदिति सर्वः सर्वदाऽभिलषति। अतः सर्वेषामपि शास्त्राणामात्यन्तिकदुःखप्रहाणपूर्वकामुष्मिकनिरतिशयानन्दप्रापणेऽहमहमिकापूर्वो महानट्टहासः। परं किं हेयं किमुपादेयमित्यत्र प्रायः सर्वाण्यपि शास्त्राणि न केवलं विप्रवदन्ते मुष्टीमुष्टि कलहायन्ते च। सकलास्तिकमतसम्मतसुखसाधनीभूतधर्मस्वरूपनिरूपणेऽपि पश्यत विप्रतिपत्तीः। चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति मीमांसकाः। यतोऽभ्युदयनिश्रेयसमिद्धिः स धर्मः इति काणादाः, धर्मो विष्णुः सनातन इति भागवताः। अत एव केचन धर्मं द्रव्यमाहुः, केचन गुणं, केचन कर्म। साधनस्य यदीदृशी गतिस्तर्हि तत्साध्यस्य सुखस्य स्वरूपनिर्धारणे तत्परीक्षणे च कतिवाऽभिप्रायभेदा भवन्तीति प्रेक्षावद्भिरेवोहनीयम्। काव्यास्वादजुषां तु नेदृशी अव्यवस्थापरम्परा। अलौकिकसुखप्रयोजकीभूतकाव्यपठनानन्तरं तज्जन्यानन्दानुभवाच्च पूर्वं तत्र तत्स्वरूपनिर्धारणप्रयासस्य नास्त्येवावकाशः। सुखसाक्षात्कारहेतुभूतः अस्ति ध्वनिरसंलक्ष्यक्रमव्यंग्याख्यः सत्काव्यपठनक्षण एव प्राधान्येनोपनिषध्यमानः रसः सहैव वाच्यार्थेनावभासते।

कृच्छ्रेणोरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले
मध्येऽस्याः त्रिवलीतरङ्गविषमे निष्पन्दतामागता।
मद्दृष्टिस्तृषितेव संप्रति शनैराहूय तुङ्गौ स्तनौ
साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने ॥

इत्यत्र न केवलं प्रत्यक्षतो नायिकादर्शनेन किन्तु तच्चित्रफलकावलोकनमात्रेणैव वत्सराजस्य रतिस्थायीभावः परस्परास्थाबन्धरूपः विभावादिसंयोजनेन चर्वणारूढः। अयं च काव्यानन्दः ब्रह्मानन्दसब्रह्मचारी। तथाऽपि विभावादिजीवितावधिरयम्। रसोपशमानन्तरं कीदृश आनन्दः अनुभूत इति वक्तुमप्यशक्यः।

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥

इत्यत्र विज्जिकापद्ये लौकिकस्य सम्भोगसुखस्यैवानिर्वचनीयत्वं प्रतिपादितम् किमु वक्तव्यमलौकिकस्य सम्भोगशृङ्गाररसजन्यानंदस्य।

शास्त्रस्य प्रयोजनं तत्त्वनिर्णयो वादिविजयश्च। साध्यवत्ताज्ञाने प्रमात्वनिश्चयः एव तत्त्वनिर्णयः। विजयसाधनं तु परमते प्रबलदोषोद्भावनम्। तत्त्वनिर्णयजन्यः वादिविजयजन्यश्चानन्दः शास्त्रानन्दः। अविरतप्रयत्न-चित्तास्वास्थ्याश्रान्तदुरन्तचिंतासन्ततिसाध्योऽपि शास्त्रानन्दः अल्पीयानेव। अतिदुर्बलेऽपि परिपन्थिनि समुपस्थिते शास्त्रानन्दसाक्षात्कारकारिणी कारणसामग्रीसम्पदपि विच्छिद्यते। साधकबाधकप्रमाणभूयिष्ठे दुर्वादिनिर्धारिताभेद्यसिद्धान्तध्वान्तविध्वंसनपटौ शतकोटिकठिने प्रतिवादिशिरश्छेदप्रतिभयप्रदविविधयुक्तिपरिच्छेदगतावच्छेदकपदप्रयोगप्रचुरे तर्कविचारे एकाकिनी परमसुकुमाराकारा कामिनी जिज्ञासाऽपि तादृशाविच्छिन्नविचारपरम्पराजन्यानुमितिं प्रतिस्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धिका भवति। परमतोच्छेदनक्षमाऽनुमितिरेव नोदेति कुतः वादिविजयस्यानन्दस्य वार्ता? काव्ये तु प्रत्यक्षतयाऽत्यन्तदुःखप्रदोऽपि शोकः स्थानिनियतविभावसमुचितचित्तवृत्तिचर्वणागोचरः महान्तं सात्त्विकमानन्दमेव पुष्णाति। यतो रसः न केवलं सजातीयैरपि तु विजातीयैरपि भावैरपरिष्कृतमूर्तिमान् भासमानो वरीवर्ति। अत एव नियतिकृतनियमरहिता कवेर्भारती सर्वदा आह्लादैकमयी। पुरोभगिनः सततशास्त्रैकपरायणस्य भारती तु दुरन्तचिन्तामयी। एवं स्वरूपविषयभेदेन भिन्नसामग्रीज्ञेयत्वेन च शास्त्रविचारसम्भूतात् आनन्दात् काव्यानन्दः अत्यन्तविलक्षण एव।

किञ्च यदुपज्ञं शास्त्रं, तस्य तात्पर्यपर्यालोचनायां महती विप्रतिपत्तिः। सर्वत्र शास्त्रेषु प्रायोऽयमेव सम्प्रदायः। यथोत्तरं प्रामाण्यं न मुनित्रयमात्रनियतम्। अनन्तरकालीनैरपि एवमेव व्यवहारिपत। न्यासकारप्रक्रियां वर्धमानो नाद्रियते, तमप्यन्यः। उक्तं च

बोपदेवमहाग्राहग्रस्तो वामनदिग्गजः।
कीर्तेरेव प्रसङ्गेन माधवेन विमोचितः ॥

माधवेऽपि स्वीयामरुचिं प्राचीकशत् दीक्षितः। तमप्याकरविरोधगामिनं ब्रूते नागोजी। तमपि राघवेन्द्रः। प्रभाकरकुमारिलयोः स्वोपजीव्यसूत्रभाष्यतात्पर्यनिर्णये मिथो विसंवादः प्रसिद्ध एव। न्यायविस्तरेण तु न्यस्त एव प्रस्तरः मूलकृन्मूर्ध्नि। वेदान्ते व्यासतात्पर्यनिर्णये

कर्तव्ये महामुनीनामपि मतविरोधः परं कोटिङ्गतः। शङ्कर-श्रीकण्ठ-भास्कर-श्रीकण्ठ-रामानुज-मध्व-निम्बार्क-वल्लभ-प्रभृतयः महान्तः स्वस्वाभिमतमेव व्याख्यातमिति प्रतिपादयन्तः नैव प्राप्नुवन्ति सामरस्यम्। "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षण"मिति ब्रुवाणाः विशेषार्थं प्रतिपद्यमाना अपि संशेरत एव प्रत्यहम्। काव्यमार्गे नेदृशी अनवस्था। "नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः" इति सिद्धान्तः जागरूकतया वरीवर्ति।

"उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्" ॥

इति श्लोकार्धस्मरणमात्रेणापि भवत्येवैकाकारा चित्तवृत्तिः कवेः श्रोतृणां च। खिस्तपूर्वे प्रथमे शतके स्थितोऽपि कालिदासः अनल्पकल्पनाचातुरीधुरीणः लोकोत्तरप्रभावेन प्रत्यक्षीभवन् विचित्रां स्फूर्तिं जनयति आवर्जयति च मनांसि सहृदयानाम्। अत्र स्तोकैरेव शब्दैः सुसुलभं सुललितं सगम्भीरभावं चित्रारविन्ददेवीशरीरेषु तूलिकासूर्यांशुनवयौवनेषु उन्मीलन-विकासनिसर्गसुन्दरावयवविभक्तिषु यच्चेतोहारि साधर्म्यं व्यञ्जनयैव प्रदर्शितं तेन च ये ये भावा सहृदयहृदयानां चेतःसूद्भाविताः या चानितरसाधारणी प्रतिभा प्रदर्शिता यच्च निसर्ग-शोभाचित्रकलाकवितप्रतिभासु रमणीयं साहचर्यं प्रतिष्ठापितं यथा च देवीसाक्षात्कारः सम्भावितः यश्च सकलहृदयसंवादभाजा साधारणीभावेनालौकिक आनन्दोनुभावितः तत्र सहृदय एव प्रमाणम्। ईदृशमशब्दप्रतिपाद्यं सहृदयैकवेद्यं विचित्रभावावेशवैशद्यनिरवद्य-सुन्दरं हृद्यं पद्यं गद्यं वा नैकमपि शास्त्रेपूपलभ्यते। उक्तं च—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥

किं च, "नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधन"मित्युक्तदिशा काव्यानन्दः कदाचित् निरंतरनीरसतर्ककर्कशवादनिरतानामनुभवपदवीं यायादपि। तेऽपि आनन्दनिर्भरा भवेयुरिति सम्भाव्यते परं षड्रसोपेते महाराजोचितवैभवशालिनि परमरुचिरे परिमलभूयिष्ठे घ्राणरासनस्पार्शनादिप्रत्यक्षेणास्वाद्यमाने निपुणतमारालिकनिर्वर्तिते कुंकुमादिवेसवारोपेते मसृणजेमनेऽनुभूयमानेऽपि अनुमानेनैव बुबुत्समानानां तर्करसिकानां विलक्षणरसः नानुभूतः केनापि काव्यार्थतत्त्वज्ञेन। वेदांतशास्त्रमात्रगम्योऽपि कैवल्यानन्दः उपनिषद्वाक्यैः परतत्त्वं निश्चिचीषतां संन्यासयोगाभ्यासपराणां न तथा अनुभवपथमारोहति यथा काव्यमार्गमाश्रित्य प्रतिपादनेन। प्रबोधचन्द्रोदयेनैकेनैव यादृशी वैराग्यसम्पत् प्राप्यते यादृशी मुमुक्षा चोदेति तस्याः अंशांशोऽपि न लभ्यते न्यायामृताद्वैतसिद्धितरङ्गिणी ब्रह्मानन्दी चण्ड-मारुतन्यायभास्करतर्कताण्डवादीनामकाण्डताण्डवैरिति सर्वानुभवगोचरोऽयं विषयः। कान्तासम्मितः खल्वयमुपदेशः प्रभुसम्मितात् शास्त्रकलापात् शतकृत्वो ज्यायान्।

इदमप्यत्रोहनीयम्—शास्त्रमात्रपरिशीलनपराः कदाचित् दैवयोगेन परमसुखहेतुं लभ-माना अपि सुखमनुभवितुं न समर्थाः। यतः—

निर्वासनास्तु रङ्गान्तर्वेश्मकुड्याश्मसन्निभाः। इति स्वर्गीयसुखमपि तृणीकृत्य पारमेश्वरं सुखमनुभवितुं सहृदया एव समर्था न शास्त्रपारदृश्वानः। मनोरमाकुचमर्दनकृदपि पण्डितराजः सहृदयाग्रेसरः अलौकिकं ब्रह्मानन्दं स्वयमनुभवति परांश्चानुभावयति—

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः
स्वर्यातेन सुधाप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः ।
तत्त्वं ब्रूहि मदीयजीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः ?

अत्र "अयमि"ति "मधुरोद्गार" इति पदाभ्यां कवेः ब्रह्मानन्दानुभवदशा व्यज्यते ।

किं च सकलास्तिकजनसम्मतस्यालौकिकस्य परलोकसाधनस्य स्वरूपनिर्धारणेऽपि अस्ति महानभिप्रायभेदः शास्त्रयोः । "चोदना पुनरारम्भः" इति "चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विने" ति च भावरूपामपूर्वोत्पत्तिं प्रतिपादयंति मीमांसकाः । "फलत्वप्रसिद्धिरपि मोक्षस्य बन्धनिवृत्तिमात्रापेक्षा नापूर्वोपजननापेक्षा । यदप्यभिनिष्पद्यते इत्युत्पत्तिपर्यायत्वं तदपि पूर्वावस्थाऽपेक्षं यथा रोगनिवृत्तौ अरोगो अभिनिष्पद्यत इति तद्वदि"ति वेदान्तिनां तद्विरुद्धो राद्धांतः ।

अत्र केचन शास्त्रविचक्षणा आचक्षीरन् । रसस्वरूप एव दृश्यन्ते काश्चन विप्रतिपत्तयः—रसस्याविर्भावः रामादावनुकार्ये इति केचित् अनुकर्तरि नटे स इत्यन्ये । सामाजिके इतीतरे । मतभेदनिबन्धनोऽयं दोषः शास्त्रे साहित्ये च तुल्य इति चेत् । सत्यम् । अयमपि मतभेदः शास्त्रसम्पर्कमूलः । "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इति भरतमुनिसूत्रं मीमांसा-न्याय-सांख्यशास्त्राभिमानिनः लोल्लटादयः परस्परविभिन्नरीत्या व्याचख्युः । तन्मूल एवायं कोलाहलः । अन्यथा बहिरन्तःस्फुरद्रसे पीयूषमधुरे काव्यमृद्वीके कावकाशः ईदृश्या अरुचेः । आपातमधुरस्यास्वादैकगोचरस्य काव्यमार्गस्य लोकोत्तरमहिमातिशयः वाग्व्यापारे साधारणं कौशलं वहता सहस्रवदनेनाऽपि वर्णितुमशक्यः । सुधापूर्णः परमाह्लादकरः दोषोदयः दोषोदयमेकमपि स्वकीयं करसहस्रैरपह्नोतुमशक्नोति कलानिधिः । काव्यं तावत् स्वाप्रियकृतामपि स्वाश्रितानां दोषान् न केवलमविलम्बितमेव माष्टि किन्तु स्वात्मसायुज्यं वितरति तान् सदोषानपि अम्बरगतपयोधर इव परहितनिरत महापुरुष इव । रसो विभावादिभिः सर्वाङ्गैः परिपुष्टिं नीतः काव्यजीवातुभूतः यथा सहृदयहृदयाण्यावर्जयति महत्यानन्दसागरे च मज्जयति रसिकान् तथा सर्वदोषदुष्टो रसप्रतीपमाचरन् रसाभासोऽपि रसकार्यमेव कुरुते ।

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचित् शनैः
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

अत्र नायकविषयिण्या नायिकानिष्ठाया रतेरेव उद्रेकश्चर्वणाविषय इति सम्भोगशृङ्गारः परां पुष्टिं नीतोऽपूर्वमानन्दमावहति ।

समस्तगुणसम्पदः सममलंक्रियाणां गुणैर्भवन्ति यदि भूषणं तव तथापि नो शोभसे ।
शिवं हृदयवल्लभं यदि यथातथा रञ्जयेः तदेव ननु वाणि ते भवतिसर्वलोकोत्तरम

अत्रपद्ये रसाभासः । अयमपि रससमानधर्मा स्वयं दोषयुक्तोऽपि अनौचित्यप्रवर्तितोऽपि रस इवालौकिकमानन्दं जनयत्येव । एवमप्राप्तरसावस्थोऽपि भावः काव्यस्य प्राणपदं प्राप्तः रसेन सम एव ।

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि ते महामृतम ।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुः भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥

अत्र कालकूटमपि कण्ठरूपतया परिणतमनन्यगामित्वेन प्रियम् । चन्द्रकलारूपममृतमपि भेदेनावभासमानमप्रियमेव । महादेवविषया रतिरियम् । "रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांचितः " इति न्यायेन भावोऽयम न रसः ।

यथा भाव आल्हादजनकः तथा भावाभासोऽपि—

राका सुधाकरमुखी तरलायिताक्षी सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमंगी ।
तत् किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं तत्स्वीकृति व्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥

अत्र चिन्ताख्यस्य भावस्याभासः । "आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पश्चात् पुंसः तदिंगितैः" इति खलु औचित्यम् । तद्विपरीत्येनाननुरक्तायां नानुरागो युक्त इति रतेरनौचित्यप्रवर्तितत्वात् तद्व्यभिचारिभावस्य चिन्तारूपस्याप्यनौचित्यम । एवमनौचित्यप्रवर्तिताऽपि चिन्ता अत्र रसभाववत् नितरामानन्दं पुष्णाति ।

महाराजाधिराजोचितमिदं स्वाश्रितवात्सल्यलक्षणमौदार्यं पुरोभागिने शास्त्रैकपरिशीलनपराय कथं लभेत ? सहृदयो विगलितान्यभावः रसे, रसाभासे, भावे, भावाभासे च समदृष्टिरेव दक्षिणः । शास्त्रज्ञस्तु सद्धेतुमेव गृह्णाति हेत्वाभासं दूरतः त्यजति । "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इत्यत्रैव तस्यादरः न तु "धूमवान् वह्ने"रित्यत्र । यद्यपि मीमांसकः जातमन्दाक्षः किञ्चिदिव यततेऽनुकर्तुं काव्यकोविदं परिसंख्यां त्रिदूषणां व्याचक्षाणः तथाऽपि भग्नप्रयत्न एव सः । यद्यपि फलतः परिसंख्यायां निषेधस्थलेषु च अप्राप्तार्थकल्पनादयो दोषा न सन्ति तथापि यत्र प्रापकप्रमाणप्रवृत्त्युत्तरमेव परिसंख्याप्रवृत्तिः, यथा "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या" इत्यादौ रागप्राप्तपञ्चनखभक्षणे पञ्चातिरिक्तपरिसंख्याकरणं तत्र त्रैदोष्यमपरिहार्यमेव । तत्र एते दोषा दोषत्वेनैवोपयुज्यन्ते, रसाभासे दोषा अपि गुणायन्ते । आह्लाददाने रसाभासोऽपि रसतुल्य एव ।

"नहि संहरति ज्योत्स्नां चन्द्रः चण्डालवेश्मसु" ।

इतिन्यायेन काव्यं सर्वत्र सुहृत्सुद्धेष्येषु च समदृष्टि सर्वाण्यपि शास्त्राण्यतिशेते ।

किञ्च निसर्गसुन्दरीणामुत्तमस्त्रीणां लावण्यातिशयः, प्रसाधनं रत्नाभरणानि अलंकारांश्च नापेक्षते । उक्तं च "किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीना"मिति । एवं रसोऽपि स्वभावसुन्दरः स्वीयाह्लादकत्वधर्मद्वितीयः मोहयति जनान् नापेक्षते च स्वोपस्कारहेतून् गुणानलंकारान्वा वाच्यसर्वस्वसारान् ।

कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बध्वा दृढं
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितम्
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदन्त्या हसन् ॥

अत्रांगिनो रसस्य च रुतातिशयहेतुः रूपकालंकारः महता प्रयत्नेन प्रयुक्तोऽपि न निःशेषेण परिसमापितः। अत्र पद्ये व्याधवध्वा बाह्वोः पाशत्वारोपे कृते तदनुसारेण रूपकस्य परिपूर्णतासिद्ध्यर्थं गृहेऽपि कारागारत्वारोप आवश्यकः एवं परिसमापिते तु रूपकालङ्कारे मुख्यवाक्यार्थोपस्कारकत्वं तु नैव घटते प्रत्युत प्रधानरसभंग एव प्रसज्येत।

इदमेव हि रसस्य अनितरसाधारणं लोकविलक्षणं निसर्गसौंदर्यं यत् स्वचारुतातिशयहेतोः प्रयत्नेन परिकल्प्यमानोऽपि शब्दार्थालङ्कारः विभावादिमसुचितरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपस्य रसस्य पुरतः कलंकायते। स्वभावमधुरः रसः निरलंकारोऽपि शोभत एव निरलंकारोऽपि रसः मोहयत्येव जनान् वल्कलेनाप्यधिकमनोज्ञा सुन्दरीव। शास्त्राणि तु सेनापतय इव भाययन्ति जनान् स्वायुधैः परप्राणापहरणपटुभिः हेत्वाभासैः।

अस्ति कश्चनानन्दः आभ्यामुभाभ्यामपि भिन्नः सर्वमहांश्च। तथाहि--

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलंब्य विश्वमखिलं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥

अत्र पद्ये द्वे दृष्टी वर्णिते स्तः। एका रसान् रसयितुं कवीनां काचित् नवीना दृष्टिः। कवीनां दृष्टिस्तु कविप्रतिभैव। सा लोकप्रसिद्धमर्थं यथावद्वस्तुत्वेन वर्णने विश्रान्तिमलभमाना लोकप्रसिद्धोद्यानचन्द्रोदयादीनपि उद्दीपनविभावत्वेन सम्भावयन्ती रसभावादिनिष्पादनक्षमा अव्युत्पत्तिकृतानपि दोषान् स्वशक्त्या समपह्नुवाना व्यंग्यसौभाग्यभूषिता नवनवोन्मेषशालिनी नितरां मज्जयति सहृदयानानन्दसागरे। अयमेक आनन्दः। परिनिष्ठितोऽर्थः लोकप्रसिद्धः स च अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितः तद्वति तत्प्रकारकज्ञानरूपः। तद्विषये उन्मेषो यस्याः सा अपरा वैपश्चिती विदुषां दृष्टिः। इयं शास्त्रमात्रपरिशीलनपराणां दृष्टिः। अयमपर आनन्दः। द्वावप्यमू अकिञ्चित्करौ। ईश्वरप्रसादजन्य आनन्दः सर्वानतिशेते प्रामाण्यज्ञानविनिश्चितेंद्रियगोचरागोचरविषयविशेषजन्य आनन्दः लौकिकः। रसभावादिचर्वणाजन्यः भग्नावरणचिदात्मकः आनन्दः लोकोत्तरः। अपि च भगवत उरुविक्रमस्य दिव्यांघ्रिशाखामणिमयचन्द्रिकानिरस्तसमस्तरजस्तमोमलैरेकांतभक्तैरनुभूयमानः परमात्मविश्रांत्यानन्दः वरीवरीति।

अत्र रसचर्वणात्मक आनन्दः अलौकिकः। अत एव भगवत्प्रसादलब्धानन्दविप्रुण्मात्रावभासो हि सः। लौकिकस्तु शास्त्रविमर्शनजन्मा आनन्दः ततोऽपि निकृष्ट प्राय एवेति न पुनः प्रतिपिपादयिषितम्।

——

THE BRATACHARI MOVEMENT

By N. Chakrabarty, M.A. (Luck.), B.T. (Cal.), M.R.S.T. (London),
Assistant District Inspector of Schools, Ajmer.

The youth movement and organisation of Britain are well known. Yet it has been recognised in Great Britain for some years past that much more must be done for the welfare of youth, especially for the adolescents between the ages of fourteen and eighteen. Juvenile organisation Committees, assisted by the Board of Education were set up to coordinate the activities and to improve upon the work of the already existing organisations, such as, the Boy Scouts, Girl guides, the Boys' Brigade, the Y.M.C.A. and the Y.W.C.A. At the time of King George the Fifth's Jubilee, over a millions pounds sterling were collected for the Youth Welfare in Great Britain. This income, plus voluntary subscriptions have made it clear that the vital interests of youth in Great Britain will never suffer in future.

It is beyond doubt that similar move is necessary to bring our youth in par with the youth of the World. Realising the necessity of this, the Report of the Central Advisory Board of Education, popularly known as Sargent Scheme, has envisaged that a National Youth Movement to provide recreative and social activities for young people, especially those between fourteen and twenty who are no longer in school, should be set up. Some of the Provinces and States also have made a move in the matter and set up Councils of Physical Education, but there is no gainsaying the fact that nothing substantial has been done beyond the setting up of such Committees and Councils.

National Education ! We talk about national education and prepare scheme for that, but we do not pay due regard and attention to our national ideals and culture. Education based on such movements as Bratachari can only lead to a real national awakening. It is a painful truth that games and plays practised in Europe are regarded as dignified and our own games and plays as inferior. We have forgotten to take pride in the rural culture of our country. The Bratachari Movement claims to remove this mental attitude.

The literal meaning of the word ' Bratachari ' is an observer of Bratas i.e. solemn vows or promises. A Bratcharia, therefore, is a person who has taken some solemn promises and acts to achieve his ideal, for the purpose of which he has to go through a prescribed course of training.

The ideal before the Bratachari is to become a ' complete man' the harmonious development of body, mind and soul. This is to be achieved through five basic Bratas, namely, knowledge, Labour, Truth, Unity and Joy. Again, to attain these five-fold Bratas a grown up Bratachari has to take sixteen vows, which are : extending of knowledge, removing of jungles and weeds, enhancing the dignity of labour, cultivation of vegetables and fruits, free circulation of light and air, care of cattle, keeping the water pure, keeping tidy, promotion of physical exercise and play, emancipation of women, earning before marriage (for women—gentle and modest behaviour), pursuit of crafts and industries, observing punctuality, dedication of self to Service, developing the spirit of Fellowship and equal citizenship, enhancing the spirit of joy. Besides these two vows he has to observe seventeen "Don'ts" for the 'avoidance of pitfalls which are deterimental to the pursuit of the ideal.' A Junior Bratachari has to observe only 12 separate and simpler vows.

" The basic principles of the system is joy born of rhythm which forms a integral part of and flows like a stream through all its songs, and physical exercises—expressed in simple movements of body." One is reminded of the Greek ideal—" gymnastic for the body and music for the soul" when one sees how a set of indigenous folk songs and dances have been adopted to develop the cultural aspect of the movement. The ideals found in the songs have their ethical value too. The dances are in conformity with the songs and demand all possible varieties of movement of limbs—movement necessary for an all round development of the body. Thus the Bratachari gets moral, mental and physical training through the vows, the songs and the dances. It in uses in our young men and women healthy, cultural and physical activities and a true spirit of service to humanity by rural welfare work. Tagore has said, "Wherever the movement is adopted it will conduce to the development of the joy of spirit, capacity for work, strength of character and enthusiasm for social service." And

this is the very type of activity which is much needed by our youths today—activity which 'can furnish the indispensible inner motive force for national progress.'

No other big Government official was ever held in higher esteem by Tagore than the late Mr. Guru Sadaya Datta of the Indian Civil Service, the founder—president of the Bratachari Movement, for upholding and maintaining the prestige and traditions of India and reviving her ancient culture and Art. Mr. Datta felt that the happiest part in the lives of the young men and women of our country was anything but happy. To admit frankly, the lives of our boys and girls both at home and in school are full of miseries, troubles and dullness. The Bratachari Movement endeavours to implant in the young minds the seeds of Unity and brotherhood, of dignity of manual labour, of joy of life—joy, which gives courage to the spirit in the struggle for existence and creates zeal for individual as well as group work. The Bratachari Movement claims and that rightly so, to be the perennial source of greatest good to the greatest number and immense joy to the society and the individual.

The founder-president drank deep into the ancient traditions and culture of the country and derived the strength of the Movement from them. Sad imitation of everything western has been discarded, as it has generated in us a deep inferiority complex. The ancient traditions, which lie scattered all over the country, are of great importance and national value in so far as they integrate the race with its history and culture. The Movement seeks to enable the entire population of India to 'march forward with confidence and self respect while keeping their feet firmly on their own traditions.' His Highness the Maharaja Gaekwar of Baroda says, " I have been very greatly interested in the Bratachari Movement founded by Mr. Datta, which in my opinion has the greatest possibilities for good for the people of India ......It is of the highest importance to bring people into close touch with the indigenous, social and spiritual traditions and culture of the country, and it is in this direction that the Movement founded by Mr. Datta is of the greatest value."

To a Bratachari the school is a part and parcel of the neighbourhood and the region. He connects them through social service and by doing various community works, namely jungle and hyacinth

clearance, excavation of canals, making of roads, first aid, nursing the sick and other services which meet the rural needs of the country. "It seems to me," says Sir Sarvapalli Radhakrishnan, " that the Bratachari Movement contains in itself all the elements of the purely indigenous youth movement for India and is particularly valuable because it is based on the ideal of an integral education. Our young men and women today suffer from a lack of colour and poetry in their lives. This movement will help to restore these lost elements to life. I believe that if our schools and colleges take this movement in its fullest measure, they will help in contributing to the building of a rejuvenated Indian nation of which we shall be proud." Sir Hassan Suhrawardy, the Premier of Bengal, who is himself an enrolled Bratachari, thinks that the movement will give the right bias to education and will help in starting social service organisations devoted to the ideal and practice of good citizenship.

Within the short period of its existence the Movement has become immensely popular in and outside Bengal. The students are earnest about it and have not only done great service to the people of the country but also regenerated their ownselves physically and morally. Speaking very highly of the late Mr. Datta, Mrs. Sarojini Naidu has said, "With singular skill, imagination and enthusiasm you have tried to harness the age-old village dances of Bengal to modern uses and I am sure the young people who take part in the vigorous and rhythmic movements, benefit greatly and build up their physical well-being by this novel and exhilirating form of exercise. I hope other provinces will follow your example and receive their own folk dances for similar purposes. You are a devoted pioneer and apostle of this new cause."

Besides Calcutta, the headquarters of the Movement, there are other training camps in different centres, which impart Bratachari lessons in mass drill, dance, acrobatics and methods of social service. The school and college teachers from Bengal and other provinces are deputed in large number to these training camps. The development and popularity of the Movement is mainly due to the untiring efforts, keen interest and careful and able guidance of the founder-president, who not only made extensive tour and secured the sympathy of the Leaders of public opinion, high government officials and others, but

also made his way to England and demonstrated the features of the Movement and ' evoked unsolicited appreciation from all shades of opinion ' there. Sir Francis Younghusband offered himself to sponsor the introduction of this Movement in that country. Mr. Laurence Binyon, the well known poet of England has stated, "All over the world - of course we feel it more in the west, with our technical advance—we have lost sight some how of life as a whole. We have lost somehow the art of living. The Bratachari Movement has for its aim to recover this sense of the wholeness of life and the lost harmony of man with nature.

The sphere of the Movement is not limited within the arena of the schools and colleges. Many big people of India and abroad have also joined it by signing a pledge and have promised to live up to the Bratachari ideals and to observe the spirit of the vows. Sir Michael Sadler, Chairman of the epoch-making Sadler Commission, who enrolled himself as a Bratachari, said, "The Movement is well planned and rightly inspired. It is, Indian, which is essential. It is encouraging, invigorating spiritual, integrating and inclusive, bracketing together the essential of vigorous, purposeful and happy life with continued and unselfish leadership it will go far and bring blessings to millions in Bengal and elsewhere."

Spontaneous tributes of praise and appreciation were paid to the Movement by many prominent personages of India. The Rt. Hon'ble Sir Akbar Haidari declared, " I have felt that in various other branches of human activity the people of Bengal have taken the lead in bringing about a synthesis of our past traditions and our present needs. I have been particularly interested in times past in Indian Art, and here again I find that Bengal takes the lead in showing the way how Indian Art must be brought up to its glorious consummation. I have had the priviledge, years ago, of knowing what Bengal has done In Indian Music. Today I see what Bengal is doing in order to strengthen the physique and the moral stature of the Indian people along lines which, I must say and can truly say, will lead to a permanent national regeneration, because Mr. Datta and his colleagues have tried to discover what has been handed down in our villages from times past and have shown how these should be adapted to our needs, to the needs of our students and to the pro-

blem of reviving the intellectual, spiritual and cultural life to which we were used in our past.

"I have been to demonstrations, distributions of prizes and so on, and I have seen Indian girls coming out in dresses which were foreign, and dancing in poses that were foreign; but I am very pleased to see today our old dances danced in beautiful simple dresses and in expressions like those which we see in our old Indian pictures; and these will serve the needs of our school girls and of our boys and I believe that the school authorities will find in them a rich lesson for introduction in the schools."

The Movement does not stand for, or attach itself to, or comprise of any particular class, creed, community or sex. It is suited to the Hindus, the Muslims, the Christians and all other communities and castes, both men and women. It can be successfully applied in all places with necessary modifications according to the local needs and requirements. The communalism which is the bane of our country which very much retards our progress, will surely disappear, if such universal movements are thoroughly and effectively spread over the land. It can be fervently hoped that the Movement will appeal to the people of our country most intimately, as its basic principles are not foreign to us—they are rooted in the soil of our Motherland.

राजवी कवि 'कलापी' और उनके काव्यरत्न

श्री० रविशंकर नरोत्तमदास पाठक

"जखमथी जे डरी रहेतां, वगर जखमे जखम स्हेतां,
हमे तो खाइने जखमो खुबी त्यां माननाराओ!"

दर्द से जो डरते हैं वे विना दर्द-दर्दी हो जाते हैं। हम वैसे नहीं हैं। हम जख्मी होकर भी दर्द में रहस्य ढूँढ़नेवाले हैं।

* * *

"ए इश्कनी लाली महीं, लाखो खुदा घेला बन्या,
ए लाखमांना एक पण जूदाज कै घेला हमे!"

ऐसे प्रेम से आकर्षित होनेवाले जगत् में असंख्य प्रेमी हो चुके हैं। हम भी उन प्रेम-दीवानों की जमात के हैं। फिर भी हमारा रास्ता उनसे भी निराला है।

* * *

"दयाना प्रीतीना मृदु हृदय ने मार्दव तणा
तमे लोको वैरी मम हृदय ले वैर क्यम ना?"

तुम दया स द्वेष रखते हो। प्रीति से (प्रेम से) तुम्हारा बिलकुल संबंध नहीं है। तुम में मृदुता है ही नहीं। तुम लोग मार्दव के शत्रु हो। ओह! मेरे हृदय में अग्नि जल रहा है। ऐसी बुराई देखकर मेरा हृदय प्रत्युत्तर देने के लिए क्यों तैयार न हो जाय?

* * * *

"जाणुं नहीं अशुभ शुं शुभ शुं हशे ते?
जाणुं नहीं अहित शुं हित शुं हशे वा;
जाणुं नहीं सुखसुखे अथवा दुःखे ते,
शुं इच्छवुं : नहिज ए पण जाण तो वा,
जाणुं परन्तु रसना सहु छो विहारी"

यह शुभ है, यह अशुभ है; और इससे हित होगा, इससे अहित; मैं कुछ नहीं जानता। जिसको लोग 'सुख' कहते हैं उसमें सुख है या नहीं, और जिसको लोग दुःख कहते हैं, उसमें दुःख के अंश हैं या नहीं—मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है। अरे, खुदा से क्या माँगना चाहिए, वह भी मुझे मालूम नहीं। मैं सिर्फ इतना जानता हूँ कि सब रसविहारी हैं।

* * *

"जो सर्वदा सहज प्राप्य तजी दइ ने
जे लाधवुं कठिन त्यां निज तीर ताके,

ते प्रेमने घटित अश्रु बधांय आ छे :
तेमां कशीज फरियाद करी न छाजे"

जो चीज सहज ही प्राप्त हो सकती है उसका त्याग करके जो दुष्प्राप्य है--जिसको पाने के लिए बड़ा भारी प्रयत्न करना पड़ता है, उसकी ओर जो अपनी नजर डालते हैं, ऐसे प्रेम देवता के चरणों में अपने अश्रु की भेंट करना बिलकुल ठीक है। इसमें क्यों, किस लिए,--ये प्रश्न उपस्थित करने की जरूरत नहीं है।

* * * *

ऐसे सुर किसके हृदयसितार से निकले हैं ? ऐसा कौन है, जिसको स्पष्ट रूप से हृदयःभाव प्रकट करने की ऐसी अत्युत्तम कला प्राप्त हुई है ?

गुजरात में आकर आप यदि ऐसे प्रश्न करें, तो एक छोटा विद्यार्थी भी आपको तुरन्त प्रत्युत्तर देता हुआ कहेगा, ओह ! आप नहीं जानते ? वे तो हमारे प्रिय कवि 'कलापी' हैं। यदि किसी काव्यप्रेमी से आपकी भेंट हो गई, तो वह पूर्ण प्रेम से शुरू करेगा—महानुभाव, ऐसे कवि जगत् में अनेक नहीं निकलते। हमारे कवि कलापी जैसे कवि को जन्म देकर महागुजरात सचमुच धन्य हुआ है। 'परमप्रेम ही परब्रह्म है,' जिनकी ऐसी उच्च भावना थी, जिन्होंने अपनी भावना के अनुरूप अपना जीवन व्यतीत किया, जो उच्च प्रेम के पुजारी थे, और बहुत अल्प समय में जिन्होंने अद्भुत जीवन कला बताई, उन अपने प्रिय कवि के विषय में हम क्या कहें और क्या न कहें ?—ऐसा कहकर वह कलापी की सुमधुर कविताएँ आपको सुनाने में तल्लीन हो जायगा। किसी कालेजिअन से भेंट होने पर आपको इस बात पर विश्वास हो जायगा कि कवि कलापी की कविता-कला ने युवा-हृदय पर कितना गहरा प्रभाव डाला है। कलापी के विषय में बातचीत छेड़ते ही वह सादर आप से बहुत बातें करेगा। वह 'केकारव' नामक कलापी का प्रसिद्ध काव्यग्रन्थ आपके संमुख रखकर कलापी के काव्य-गीतों का सौन्दर्य बताने में प्रवृत्त हो जायगा। वह कलापी के चित्र बताकर उनकी सुन्दर आकृति के विषय में आपसे बातचीत करेगा। कलापी के प्रेमियों ने कलापी के विषय में क्या क्या लिखा है, और किस तरह अपना भाव प्रकट कर दिया है, ये सब बातें भी आपको वह अवश्य सुनायेगा।

किसी विद्वान् से बात-चीत करने का मौका आने पर वह कलापी के काव्य-गीतों में से तत्त्वज्ञान निकालकर आपके सम्मुख रख देगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि गुजरात में कवि कलापी की रचनाएँ बहुत व्यापक हुई हैं और सब जगह कलापी के शुभनाम को काव्य-प्रेमी बहुत आदर के साथ लेते हैं।

गुजरात के ऐसे ही सुप्रसिद्ध प्रेमी कवि का और उनके काव्य-रत्नों का परिचय हम यथामति इस लेख में देने की चेष्टा करेंगे।

इस कवि का सच्चा नाम 'कलापी' नहीं है। यह कवि का तखल्लुस यानी उपनाम है। कवि का नाम सुरसिंहजी गोहिल है। उनका जन्म ई० स० १८७४ में काठियावाड़ के लाठी नामक संस्थान में हुआ था। उनके पिता तख्तसिंहजी गोहिल की मृत्यु उस समय हुई जब कलापी की उम्र बहुत कम थी। तख्तसिंहजी लाठी संस्थान के शासक थे। इसी से राजपुत्र

सुरसिंहजी का अध्ययन राजकोट के राजकुमार कालेज में शुरू हुआ। वहाँ १७-१८ वर्ष की उम्र तक उन्होंने अभ्यास किया। उनकी सरलता, अध्ययन में तल्लीनता तथा अपूर्व बुद्धि-वैभव देखकर अध्यापक वर्ग उनके प्रति आकर्षित हुआ था और सुरसिंहजी के प्रति बहुत प्रेम रखता था। शैशव से ही सुरसिंहजी में सौन्दर्यदृष्टि थी। उनका मन प्रकृति से बारम्बार बातचीत करने में लग जाता था। उनका स्वभाव बहुत दयालु था। हृदय बहुत कोमल था। वाणी अमृतमयी थी। बालकों के प्रति उनके हृदय में अपूर्व प्रेम था। स्त्रियों के विषय में उनके विचार बहुत अच्छे थे। बुराई से, क्लेश से, झगड़े से वे बहुत डरते थे। दंभ—असूया को अपने हृदय में वे स्थान नहीं देते थे। हृदय और वाणी एक ही होनी चाहिए, वाणी और बर्ताव में तनिक भी अन्तर न होना चाहिए—ऐसे ऐसे सुविचार उनके मस्तिष्क में जागृत रहते थे।

एक राजपूत युवक में ऐसे ऐसे सद्गुण देखकर जो आदमी उनके सम्पर्क में आता था, बहुत चकित हो जाता था।

सुरसिंहजी की जब १८ वर्ष की उम्र हुई, भारत-दर्शन करने की उनको प्रबल इच्छा हो आई। अध्ययन इस समय पूर्ण हो चुका था। इसी से अपने मित्रमंडल के साथ वे उत्तर भारत की यात्रा करने के लिए निकले। परिभ्रमण में विविध प्रकार का सृष्टि-सौन्दर्य देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। इसमें भी सौन्दर्य धाम काश्मीर का दर्शन जब हुआ, उनकी प्रसन्नता का कुछ ठिकाना नहीं रहा। काश्मीर का सौन्दर्य देखकर उनका सौन्दर्य-प्रेमी हृदय नृत्य कर उठा। अपनी यह प्रसन्नता उन्होंने अपने प्रिय अध्यापक श्री० एन० बी० जोशी पर, एक दीर्घ पत्र लिखकर, प्रकट की। यह पत्र 'काश्मीर का प्रवास किंवा स्वर्ग का स्वप्न' नाम से ग्रन्थस्थ हुआ है। सुरसिंहजी की यह प्रथम गद्यकृति उनके कवि-हृदय का भी यथेष्ट परिचय देती है।

इसी साल सुरसिंहजी ने कविता में अपने कोमल विचार प्रकट करने की शुरुआत की और 'फकीरी हाल' जैसे काव्य की रचना हुई। उनका मित्रमंडल भी संस्कारी, रसिक एवं काव्यप्रेमी था। इसी से काव्यप्रेमी सुरसिंहजी की काव्य-कला वर्धित होने लगी। अब वे 'कलापी' उपनाम से कविता लिखने लगे और प्रसिद्ध पत्रों में उनकी रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं।

ई० स० १८९५ में सुरसिंहजी को अधिकार प्राप्त हुए और वे लाठी संस्थान के शासक बने; फिर भी उनका साहित्य-प्रेम बढ़ता ही रहा। अच्छी अच्छी किताबें पढ़ना, अच्छे अच्छे विद्वानों से परिचय करना, और सहृदय मित्रों के साथ पत्र-व्यवहार रखना कलापी को बहुत पसंद था। संस्कृत साहित्य से भी उनका अच्छा परिचय था। अँगरेजी किताबें भी वे बारंबार पढ़ते थे। वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, बर्नस् आदि आङ्ग्ल कवि, कलापी के प्रिय कवियों में थे। गुजराती-साहित्य-सृष्टि में जिनके शुभ नाम अमर हो चुके हैं, वे गुजराती के श्रेष्ठ विद्वान्—'सरस्वतीचन्द्र' के रचयिता—स्व० गोवर्धनराम त्रिपाठी और अभेदमार्ग प्रवासी समर्थ स्व० पंडित मणिलाल द्विवेदी से कलापी का अच्छा परिचय था। श्री० द्विवेदीजी के प्रति कलापी गुरुभाव रखते थे। 'पूर्वालाप' के रचयिता स्व० कवि कान्त कलापी के अत्यन्त प्रिय मित्र थे। ऐसे ऐसे विद्वानों के समागम से कलापी की

साहित्य-प्रीति और भी बढ़ गई। वे बारंबार साहित्यप्रेमियों को, कवियों को और प्रसिद्ध पंडितों को निमंत्रण देने लगे और लाठी में सबका यथोचित सत्कार करके साहित्य के फूलबाग को सुरभित करने लगे।

लेकिन गुजरात के दुर्भाग्य से शारदा की सेवा कलापी से दीर्घ समय तक नहीं हो सकी। ई० स० १९०० में उनकी दुःखद मृत्यु हो गई। मृत्यु के समय कलापी की उम्र सिर्फ २६ वर्ष की थी।

कलापी की मृत्यु से महागुजरात में सर्वत्र शोक फैल गया। मित्रों, कवियों, पंडितों और आश्रितजनों सब को अत्यन्त दुःख हुआ। सभी खेद प्रकट करने लगे।

कलापी अल्प समय में भी बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे। वे उदार, प्रजावत्सल और राजवी थे। दिव्य प्रेम के गीत गानेवाले सरस कवि थे। भर्तृहरि ने सन्मित्र के जो लक्षण बताये हैं, वैसे लक्षणवाले सन्मित्र थे। दूसरों के दुःखों में दुःखी होनेवाले तथा दूसरों के सुख में सुख माननेवाले दिव्य पुरुष थे।

ऐसे आदमी स्थूल देह से चले जाते हैं, लेकिन अपनी उज्ज्वल कीर्ति के रूप में वे अमर रहते हैं।

कलापी अपनी कविताओं के रूप में, ४५ वर्ष बाद भी, जीते-जागते हैं। उन की मृत्यु के पश्चात् कलापी के प्रिय मित्र कवि कान्त ने कलापी की सब कविताएँ 'केकारव' नाम से ग्रन्थस्थ कीं। यह बड़ा काव्य ग्रन्थ कलापी का कीर्तिस्तम्भ ही है। ४५ वर्ष में उसके अनेक संस्करण हो चुके हैं। 'केकारव' के अतिरिक्त कलापी ने 'काश्मीर का प्रवास', 'कलापी के संवाद', 'स्वीडनबर्ग के धर्मविचार', 'माल और मुद्रिका', 'हमीर काव्य' आदि ग्रन्थों की रचना की है। 'कलापी की पत्रधारा' नाम से भी एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिसमें वे सब पत्र दिये गये हैं जो कलापी ने विद्वानों को, मित्रों, को और स्वजनों को लिखे थे। इन सब रचनाओं में से 'माला और मुद्रिका' एक सरस उपन्यास है, जो एक अंगरेजी छोटे उपन्यास का अनुवाद है। 'हमीर काव्य' कलापी का एक खंडकाव्य है, जो उनकी मृत्यु से तीन सर्ग का अपूर्ण रह गया है। स्वीडनबर्ग नामक एक क्रिश्चियन संत के ग्रन्थ का गुजराती अनुवाद कलापी के मित्र श्री० मणिशंकर रत्नजी भट्ट (कवि कान्त) ने 'लग्न स्नेह' तथा 'स्वर्ग और नरक' नाम से किया था। इन दो ग्रन्थों को पढ़कर जो विचार कलापी के मन में आये उनकी चर्चा 'स्वीडनबर्ग के धर्मविचार' नामक लेख में कलापी ने की है। इस लेख से कलापी का अभ्यास कितना विस्तृत था, यह हमारी समझ में आ जाता है। 'कलापी के संवाद' में "जेसल और तोरल", "मेनावती और गोपीचंद", "भर्तृहरि और विक्रम", "जालंधर और गोपीचंद" ये चार संवाद प्रकाशित हुए हैं। इन संवादों में जो विचार कलापी ने दिये हैं, बहुत उच्च हैं और तत्त्वज्ञान के अभ्यास करनेवालों के लिए बहुत उपयुक्त हैं।

सिर्फ २६ वर्ष की जीवन-लीला में इस प्रकार कलापी ने गुजराती साहित्य के भाण्डार को समृद्ध किया है। कवि कान्त ने लिखा है, कलापी की अनेक कविताओं पर अमरता की छाप है। उनकी काव्यपंक्तियाँ इतनी मनोहर हैं कि गुजरात उनको कदापि नहीं भूलेगा।

स्व० महाकवि नानालाल ने लिखा है "कलापी इस युग के मजनूँ थे। उनके काव्यों में बहुधा विप्रलंभ शृंगार है। सनम को ढूँढ़ने के लिए ही मानो उनका अवतार था।" यह बात बिलकुल ठीक है। क्योंकि,

"हतुँ तेनुं हैयुं कमल सरखुं कोमल अने
हतो तेमां दैवी प्रणयरस मीठो टपकतो"

उनका हृदय कमल जैसा कोमल था। उसमें मधुर दिव्य प्रणयरस सदैव उछल रहा था।

लेकिन कलापी की कविताओं पर अमरता की जो छाप लगी है, उसमें उनकी रानी और उनकी प्रियतमा शोभनादेवी का दिव्य प्रेम ही यशभाजन है। रानी साहब रमादेवी (यह नाम कलापी ने रखखा है) बहुत तेजस्वी सन्नारी थीं। उनका प्रेम अत्यंत शुद्ध एवं दिव्य था। अपने प्रियतम के सुख में सुख और दुःख में दुःख माननेवाली रमादेवी सचमुच एक देवी थीं। स्वयं कलापी ने 'हृदय-त्रिपुरी' नामक अपने एक प्रसिद्ध काव्य में लिखा है :—

"रमाना प्रेमनो स्तम्भ आ पियु पति के प्रभु" रमा के दिव्य प्रेम का मैं स्तम्भ हूँ। वे मुझे प्रभु मानती हैं। 'शोभना देवी' (यह नाम भी कलापी ने रक्खा है) रमादेवी की दासी और प्रिय सखी थीं। उनकी उम्र छोटी थी लेकिन बहुत सुन्दर और चतुर थीं। उनको खुद कलापी ने शिक्षण दिया था। उनके प्रति कलापी का प्रथम वात्सल्य भाव था। फिर प्रेम हुआ और अन्त में उनसे कलापी ने विवाह कर लिया। रमादेवी के प्रति कलापी का प्रेम कम नहीं था। इसी से 'शोभना' के प्रति जब से मन आकर्षित हुआ तब से कलापी के मस्तिष्क में एक विचार चक्कर काटने लगा कि "रमा से मैं अन्याय तो नहीं कर रहा हूँ। रमादेवी को कैसा लगेगा? यदि उनके हृदय में 'शोभना के प्रति मैं आकर्षित हुआ हूँ, यह जानकर जख्म होगा तो क्या मेरा हृदय प्रसन्न रह सकेगा?" लेकिन 'शोभना' का आकर्षण जैसा तैसा नहीं था। दोनों प्रेमी बन चुके थे। अन्त में सब हाल रमादेवी को ज्ञात होता है। उनको चोट लगती है। उनका म्लान मुख देखकर कलापी का जी अत्यंत असुखी हो जाता है। रमा को 'देवी' माननेवाली 'शोभना' भी व्यथित होती हैं। फिर एक रास्ता निकालने में आता है। शोभना का विवाह उनकी जाति के एक युवक के साथ किया जाता है और हृदय पर पत्थर रखकर 'शोभना' चली जाती हैं। उनकी 'देवी' को चोट पहुँची थी, इसी से वे प्रायश्चित्त करने के लिए अपनी जान का बलिदान देती है, मगर हृदय भी कोई चीज है। कलापी ने ही लिखा है—

"क्याँ चाहवुं ए दिल मात्र जाणे,
एमाँ न कांई बनतुं पराणे"

प्रेम किससे करना चाहिए, यह सिर्फ हृदय जानता है। इस बात में किसी का जोर नहीं चलता!

कलापी और शोभना का प्रेम शीरीं-फरहाद किंवा लैला-मजनूँ जैसा था। इसी से ससुराल में 'शोभना' अपना मन नहीं दे सकीं। उनका दिल भग्न हो चुका था। इसी से

वे प्रतिदिन कृश होने लगीं। इधर कलापी की भी वही हालत थी। शोभना का विरह दिल को बहुत दुःख देने लगा। उनकी बेचैनी बढ़ने लगी। उनको जिन्दगी बहुत बुरी मालूम होने लगी। प्रियतम का यह हाल देखकर रमादेवी भी दुःखित रहने लगीं।

अन्त में कलापी ने साहस किया। शोभना को अपनी बना ली। इस विषय में १२--७--९८ के पत्र में उन्होंने अपने प्रिय मित्र कवि कान्त को लिखा है :—"आपको यह पढ़कर बहुत खेद होगा। लेकिन सबकी स्वीकृति लेकर 'शोभना' को मैंने अपनी बना ली है।......जिन्दगी ऐसी बुरी लगती थी और दर्द शनैः शनैः ऐसा बढ़ रहा था कि मुझे यह साहस करना ही पड़ा......।"

रमादेवी के दिव्य प्रेम ने, शोभनादेवी के विरह ने, और अपनी उन देवियों के प्रति कलापी की जो अलौकिक प्रीति थी, उस प्रीति ने, बहुत मधुर मधुर कविताएँ बनाने के लिए कलापी को प्रेरणा दी है।

कलापी की कविता का रहस्य समझने के लिए यह बात ख्याल में रखने की आवश्यकता है।

कलापी के विषय में इतनी बातें कहकर अब हम उनकी कविता के विषय में कुछ लिखते हैं।

कलापी की कविता बहुधा स्वानुभवरसिक (Subjective) है। उनकी भाषा सरल है। रचना स्वाभाविक है। अस्पष्टता बहुत कम पाई जाती है। उनकी कविता में कोमलता अधिक है। दर्दी हृदय होने के कारण कविता में दर्द आ गया है। कलापी प्रेम के पुजारी थे। इसी से कविता में उसका माहात्म्य, उसका प्रभाव और जो दुःख हृदय में प्रेम देवता जगाते हैं उसका वर्णन भी सविशेष मिलता है। उनकी कविता में तत्त्वचिंतन भी है। पदलालित्य प्रत्येक कविता में पाया जाता है। रस के जमाने की शक्ति प्रशंसनीय है। हृदय में जो विचार उत्पन्न हुआ, उसको स्पष्ट रूप से कविता में लाने की कला कलापी को ज्ञात थी। गुजरात में ऐसे कवि कम हैं जो आसानी से हृदय के भाव को सरल एवं मधुर भाषा में कविता-बद्ध कर सकें।

कलापी के काव्य-गीतों में छंदोबद्ध कविता का परिमाण बहुत है। उन्होंने वसन्ततिलका, मालिनी, शालिनी, वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, शार्दूल, ललित, अनुष्टुप, मन्दाक्रान्ता, उपजाति आदि अनेक वृत्तों में कविता की है। इन कविताओं को देखकर हमको राजर्षि भर्तृहरि का स्मरण हो जाता है। जो सरलता और सरसता भर्तृहरि के 'शतक-चतुष्टय' में देखने में आती है, वैसी ही सरलता के साथ कलापी ने कविताएँ लिखी हैं। रस, भाव, वृत्तशुद्धि, शब्द-चयन सब ठीक ठीक है। औचित्य-अनौचित्य का भेद भी उनको मालूम है। वे कविता में संस्कृत शब्दों के प्रयोग करते हैं, फिर भी कोई कठिनाई नहीं आती। कविता में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार भी बहुत मिलते हैं। यह सिद्धि तारीफ करने योग्य है।

फारसी के साहित्य से भी कलापी परिचित थे। इसी से उन्होंने बहुत सी गजलें भी लिखी हैं। और कविता में जगह जगह पर फारसी शब्दों का प्रयोग भी किया है। एक विवेचक ने लिखा है : 'कुदरत, मानवस्वभाव, ईश्वर का अगम्य भाव, इश्क, और दर्द ये

तत्त्व यदि कलापी की कविता में से निकाल लिये जावें तो शेष कुछ भी नहीं रहेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि ये सब तत्त्व कलापी के काव्यरत्नों में पाये जाते हैं। इनमें भी प्रेम और दर्द सविशेष है।

जिन काव्यगीतों की पंक्तियों को हम पाठकों के संमुख रखते हैं, उनसे पाठकगण भली भाँति जान सकेंगे कि कलापी की कविता कितनी सजीव है, कितनी प्रेरक है, कितनी सरल-सुन्दर एवं रसप्रद है।

सबसे प्रथम सुभाषित जैसी कवि की मनोहर काव्य-पंक्तियाँ हम देखेंगे :—

"हर्ष शुं जिंदगीमां ने हर्ष शुं होत मृत्युमां,
प्रेमना रंगथी जो ना रंगायुं विश्व होत आ".

अनेक आदमियों को जिंदगी बहुत प्रिय लगती है, अनेक आदमी मृत्यु में हर्ष देखते हैं। यह सब लीला प्रेम की है। जगत् में प्रेम है, इसी से ऐसी बातें बनती हैं।

* * * *

"विना अश्रु जोशे जनदुःख जनो ज्यां सुधी अरे।
कविताना भोक्ता सरस रसीला ए नहीं बने!"

जो आदमी सहृदय हैं वे ही मधुर कविता के उत्तम भोक्ता बन सकते हैं। जिनमें हृदय नहीं है, वे उत्तम कविता के भोक्ता नहीं बनते।

* * * *

"दृढ़ संकल्प थी ना शुं है युं हाम धरी शके?
अंधारामां व्हीनारुं ते कुवामां सुखथी पड़े!"

संकल्प में बल होना चाहिए। जिसने दृढ़ संकल्प किया उसका हृदय शीघ्र ही बलवान् बन जाता है। प्रथम जो तमिस्र से डरते हैं, वे दृढ़ संकल्प से आत्म-त्याग करने के लिए भी तैयार हो जाते हैं।

* * * *

"करुँ छुं ने कर्युं छे में, जूहुं ए अभिमान हा!
करी ते शुं शके प्राणी आ अनन्त अगाध मां?"

यह मैंने किया, यह मैं कर सकता हूँ—ऐसा अभिमान करना व्यर्थ है। इस अनन्त जगत् में मानव की ताकत ही कितनी! वह बेचारा क्या कर सकता है?

* * * *

"आशा ए तो मधुर कडवो अंश छे जिंदगीनो,
छेदाये ना जिवीत सुधीरा छेदतां जीव जातो".

आशा जिंदगी का एक अंश है जो अच्छा भी है और बुरा भी है। यह अंश अलग नहीं हो सकता। अलग करने से जीवन खत्म हो जाता है।

* * * *

"सौन्दर्यो वे डफी देतां ना ना सुन्दरता मळे,
सौन्दर्यो पामता प्हेलां सुन्दर तो बनवुं पड़े".

यदि सुन्दर वस्तु पाने की इच्छा हो तो सबसे प्रथम अपना हृदय सुन्दर बना लो। चूँकि बिना सौन्दर्य-दृष्टि सच्चा सौन्दर्य नहीं मिलेगा और तुम्हारे हाथों से उसका (सौन्दर्य का) नाश होता रहेगा।

*　　*　　*　　*

"जेणे खजानो ज्यां कर्यो, तेनुं जिगर त्यां त्यां न की,
जेनुं जिगर ज्यां ज्यां रह्यु तेनी ठरी त्यां जिंदगी".

जिसने जहाँ अपना खजाना बनाया, वहाँ उसका जिगर रहने लगेगा और जह जिगर का वास्तव्य होगा, वहाँ उसकी जिंदगी व्यतीत होगी।

*　　*　　*　　*

अब कवि की मंगल-भावना देखिए :—

"पड्या जखम सौ सह्या सहीश हुं हजु ए बहु,
गण्या नव कदि गणुं नव कदि पड़े छो हजु,
अपार पडशे अने जिगर हाय ! आळु थयुं,
कठिन न बनो छतां हृदय एज ईच्छुं प्रभु !
बहुय रस छे मने हृदय छे हजु तो अहो !
अरे ! हृदय जो गयुं रस गयो पछी तो बधो,
भले मृदु रही सही जखम छेक चूरो थतुं,
कठिन न बनो छतां हृदय एज इच्छुं प्रभु।"

यह पृथ्वी छंद कितना सरल एवं सरस है ! कवि कहते हैं :—हे प्रभो ! दुःखों से मैं डरता नहीं हूँ। मैंने दर्द सहन किये हैं और भविष्य में भी सहन करूँगा। दर्दों की गिनती मैंने कदापि नहीं की। भविष्य में करूँगा भी नहीं। हाय ! अनेक दुःख आनेवाले हैं, जिगर जख्मी हो चुका है। लेकिन भगवन् ! मेरा हृदय मृदु ही रहने दीजिए। मेरे हृदय में काठिन्य न आने दीजिए।

जब तक मृदुता है, तब तक हृदय है। अनेक जख्म होने पर भी मेरे हृदय में रस उछल रहा है। मार्दव का यदि नाश होगा, तो हृदय चला जायगा और हृदय के साथ रस भी नष्ट हो जायगा। इसी से हे दयानिधे ! मेरे हृदय में काठिन्य न आने दीजिए ! मेरा हृदय मृदु ही रहने दीजिए। मृदु रहने से दर्द को सहन करने में यदि उसकी धड़कन बंद हो जायगी, तो भी कुछ परवा नहीं।

*　　*　　*　　*

"तुज छिद्रित देह थती कुमळी
ललना हृदये चगदाइ जती;
तुज पाँख सहु विखराई पड़े,
पण स्निग्ध पराग उरे उभरे।"

पुष्प की एक कली को देखकर कवि कहते हैं :—हे कुसुमकली ! तेरी देह छिद्रित हो जाती है। पीछे सुन्दर स्त्री के हृदय पर—स्त्री-पुरुष आलिंगन करते हैं इसी से—तेरे अङ्ग-

अङ्ग विभिन्न हो जाते हैं। फिर भी अपने हृदय में से तू मीठी सुवास देती रहती है। [यह जान कर मुझे बहुत आश्चर्य होता है।]

*　　　*　　　*

अब युवा प्रेमियों का एकांत में मिलन होता है, उसका चित्र देखिए :—

"प्रणयरसनुं पीधुं प्यालु निशोज गयो चढ़ी,
मधुर झळकी लागी गाले रह्या अधरो स्फुरी,
शिथिल ध्रूजतां अंगे अंगे चगईडी खाली, ने
परवश थवुं निर्मायुं ए थवाइ गयुं, अरे।
डर नव, रह्यो। है ये है युं रह्युं धडकी अनें
प्रिय अधरथी अश्रु उन्हां लू छाई गयां सहु।
समय मधुरो! पहेली प्रीति! अने रस-एकता!
हृदय नवलां लहाणु एवुं सुखे मचवी रह्यां".

मौका मिलने पर दोनों प्रेमी भी एकान्त में मिले। फिर चुपचाप नजदीक आये। दोनों डर रहे थे। दोनों के हृदय में भय था। लेकिन जब अधर रस का पान हुआ—दोनों को नशा हो गया। कपोल आरक्त हो गये। अधर काँपने लगे। अङ्गाङ्ग में ध्रूजारी आ गई। मगर जो होनेवाला था—हुआ। दोनों परवश हो गये। फिर, डर चला गया। एक दूसरे का हृदय आलिंगन से एक हो गया। प्रिया के नयनों से जो अश्रु गिरे उनको प्रीतम ने अपने अधर से पोंछ डाला। अहो! मधुर समय! प्रथम मिलन!—रसैक्या! दोनों प्रेमी प्रेम सिन्धु में डूब गये।

"तुज थई हवे ए कहेवानुं हतुं नव कैं रह्युं
प्रणयी हृदयो वांछ्युं पाम्यां पछी वदवुं कशुं?"

अब 'मैं तेरी हूँ प्रीतम' यह कहने की जरूरत नहीं रही। प्रेमी हृदय जो चाहते थे, आखिर में मिल गये। फिर मुख से कहने को क्या रहा? कितना सजीव चित्र है!

"अरे! प्रीति ए तो जगत पर नुं जीवन ठयुं,
दइ प्रीति फेंकी क्यम करी बने पत्थर थवुं?
रुचे छे प्रीतिने क्षण क्षण कइं नूतनपणुं
रुचे छे आत्माने अनुभव नवामां विहरवुं".

अरे, जगत् में प्रेम ही जीवन है। प्रेम की उपेक्षा करके पत्थर जैसा बनना किसको अच्छा लगेगा? किस तरह ऐसा जीवन व्यतीत हो! प्रेम में एक विशिष्टता है। वह प्रति दिन नयापन चाहता है। उसको प्रति दिन नावीन्य चाहिए। आत्मा को भी नये नये अनुभवों से विहार करना अच्छा लगता है न?

*　　　*　　　*

"प्रिये! हूं जाणुं छुं, मुज हृदय ईच्छ्युं नहीं मळे,
छतां तारी पासे रुदन करवा देवज पडी,

अरे ! किन्तु तारो कर उपडशे दान करवा,
पछीतो जाणुछुं मुज उर नहीं याचक रहे."

प्रिये ! मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि जो मेरा हृदय चाहता है सो मिलना बहुत मुश्किल है। फिर भी तेरे सामने रुदन करने की आदत .पड़ गई है जो बन्द नहीं होती। लेकिन प्रिये ! मैं यह भी जानता हूँ कि यदि दान करने के लिए तू हाथ उठावेगी, तो मैं तृप्त हो जाऊँगा। मुझे इतना मिलेगा कि मुझे पुनः याचना करने की जरूरत न रहेगी।

* * *

"नथी नथी मुज तत्त्वो विश्वथी मेळ लेतां
हृदय मम घडायुं अन्य को विश्व माटे !
जगत सह मळेछे चर्म ने हाडकां आ,
रही जगतणी ग्रन्थि मात्र आ स्थूल काजे."

मेरे हृदय के रंगों से जगत् के रंग मेल नहीं खाते। मेरे लिए यह जगत् नहीं है। मेरे हृदय के लिए निराली सृष्टि है। इस जगत् के साथ मेरे अस्थि और चर्म का सिर्फ संबंध है। स्थूल भात्र से ही मैं इस जगत् का हूँ।

* * *

"हुँ जाऊँ छुँ हुँ जाऊँ छुँ त्यां आवशो कोई नहीं,
सो सो दिवालो बाँधतां त्यां फावशो कोई नहीं,
ना आंसुथी, ना जूलम थी, ना वस्ल थी, ना बन्ध थी
दिल जे उठ्युं रोकायना ! ए बात छोड़ो केदनी !
सौ खुश रहो जेमां खुशी ! हुं ज्यां खुशी ते हुं करुं !
शुं ए हतुं ? शुं आ थयुं ? ए पूछ शो कोई नहीं."

मैं जाता हूँ। मैं जा रहा हूँ। मेरे पीछे आने की जरूरत नहीं है। सहस्र दिवालें मेरे रास्ते में खड़ी करने पर भी मुझे कोई रोक नहीं सकेगा। नहीं-नहीं। अब मुझे रोकने की कोशिश मत करो। तुम्हारे अश्रु देखकर भी मेरा हृदय अब नहीं मानेगा। तुम्हारे प्रेम से भी वह अब नहीं समझेगा। जुल्म करोगे तो भी उसको तुम नहीं रोक सकोगे। मैं जाऊँगा— मुझे रोकने की व्यर्थ चेष्टा मत करो। जिससे अपना जी प्रसन्न रहता है, वह कार्य तुम करते हो। सब करते हैं। मेरा दिल जिससे प्रसन्न रहेगा वही मैं भी करूँगा। अब पूछना मत कि क्या था, क्या हो गया !

* * *

"नयनो मृदु वत्सलनां रडशे,
धरणी पर सौज सखा ढळशे,
सुनकार महीं पडनार पडी मुज
मृत्यु पछी मुजने स्मरशे,
पण मालिक आ दिल नां वमलो !
नभ तारक युग्म समां तरतां मृग

जादुभर्यां रस-सागर शां दृग
शुं नव आर्द्र थशे कमलो ?"

मेरी जब मृत्यु होगी तब जिनके हृदय में मेरे प्रति वात्सल्य भाव है, वे रुदन करेंगे। मेरे मित्र मूर्छा खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ेंगे। मेरे प्रति जिन-जिनको प्रेम है, वे सब बहुत व्यथित होंगे और मेरी मृत्यु के बाद मेरा स्मरण करेंगे। लेकिन हे मालिक! मेरे दिल में विचार आते हैं कि, मेरी मृत्यु के पीछे भी नभ के तारक-युग्म जैसे दो आकर्षक नेत्र-कमल जिसको हैं, उस मेरी प्रिया के हृदय में दर्द होगा या नहीं! (इतनी क्यों वह रुष्ट हुइ है!)

* * *

कलापी की कविताएँ ऐसी मनोहर हैं कि व स्वयं अपने विषय में पाठक से जो कहना है, कह देती हैं। बीच में किसी को विवेचन करने का मौका नहीं देतीं। सहृदय पाठक भी देख सकेंगे कि सहज भी परिचय होने पर वे कितनी सरलता से हृदय के भीतर तक पहुँच जाती हैं।

कलापी प्रेम को ही प्रभु मानते थे। उन्होंने प्रेम का ही पूजन-अर्चन किया है। वे मानते थे कि प्रिया प्रेम ही श्रेष्ठ प्रेम है। प्रिया प्रेम से प्रभुप्रेम अलग नहीं है और इसी से प्रियाप्रेम के गीत उन्होंने गाये हैं। लेकिन उनका प्रियाप्रेम बहुत उच्च था। शोभनादेवी के प्रति और रमादेवी के प्रति उनका प्रेम लौकिक नहीं था। फिर भी कलापी के इस प्रेम में शनैः शनैः जो दिव्यता आ गइ थी, उसने कलापी की प्रेम भावना का कलेवर बदल डाला है और कलापी को बहुत उच्च स्थान पर रख दिया है।

कलापी स्थूल प्रेम से सूक्ष्म प्रेम की ओर आकर्षित होते हैं। फिर दिव्य प्रेम का स्वरूप उनकी समझ में आता है। लेकिन उनकी महेच्छा परम प्रेम का यथार्थ स्वरूप जानने की थी। इसी से वे उस अपार्थिव प्रेम के भोक्ता बनने के लिए उत्कंठित बनते हैं। ज्यों ज्यों प्रेम के नये नये स्वरूप को कलापी समझने लगते हैं त्यों त्यों उनकी प्रिया के स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। उनकी प्रिया शक्तिशालिनी बनती हैं। उनमें अपार्थिव तेज आ जाता है। उनमें सम्राज्ञी की छटा आ जाती है। वे इतनी तेजस्विनी बनती हैं, कि सब उनके प्रति आदर रखते और भेंट चढ़ाते हैं। मानो त्रिभुवन में वे ही एकमात्र शासक हैं। उनके कृपाकटाक्ष से वे धन्य बनना चाहते हैं। यहाँ पर इतना कहना पड़ता है कि, जिस स्थूल प्रेम से ऐसी भूमिका पर कलापी का हृदय आ पहुँचा, उस प्रेम को पोषनेवाली और उसमें दिव्यता लानेवाली शोभना देवी को कलापी अलग नहीं समझते। जिस दिव्य प्रिया का प्रेम पाने के लिए कलापी अतीव उत्कंठित होते हैं उनका दर्शन भी कलापी का हृदय 'शोभना' में करना चाहता है। प्रभु को आना हो, जो मूर्ति की पूजा भक्त करते हैं, उसमें आकर दर्शन दें।

कैसी भव्य भावना। कैसा उज्ज्वल हृदय। कलापी के एक दो अत्यंत महत्त्व के गीतों की पंक्तियाँ अब हम यहाँ देते हैं। उनको पाठक भली भाँति समझ सकें, इसके लिए हमने इतना विवेचन किया है। गीतों का नाम है 'सनम की शोध' और 'सनम के प्रति'।

कलापी जब बहुत भाव में आ जाते हैं, अपनी प्रिया को 'सनम' कहकर पुकारते हैं। यह शब्द बहुत ललित है, बहुत मनोहर है। उसका पर्याय शब्द प्यारी, प्रियतमा है। लेकिन जो ताकत 'सनम' शब्द में है, जो भाव-प्रवाह 'सनम' शब्द से प्रिया को बुलाने में चलता है, वह अकथ्य है।

"पेदा थयो छुं ढूँढ़वा तुंने सनम !
उम्मर गुजारी ढूँढतां तुने सनम !"

कैसा भावयुक्त संबोधन है, कितना माधुर्य भरा पड़ा है। कवि कहते हैं :—हे सनम ! मैं तेरा दर्शन करने के लिए ही पैदा हुआ हूँ। तुझे ढूँढ़ते ढूँढ़ते मेरी इतनी उम्र हुई है, फिर भी तेरा दर्शन नहीं हुआ।

"तारी मदद कोने हशे मालूम नहीं,
शुं यारना दुश्मन सहे थारी ? सनम !"

मुझे मालूम नहीं है कि, तू किसकी मदद करती है। क्या तेरे प्रेमी के मार्ग में जो, रुकावट करते हैं उन दुश्मनों से तू संबंध रखती है ? अरे ! यदि तू क्रुद्ध हुई हो तो

"छो दम बदम खंजर रमे तारुं दिले !
काफर तणुं कातिल खेंची ले, सनम !"

मेरा हृदय खुला है। उसमें अपना खंजर भोंक दे। मुझे वह भी प्रिय लगेगा। लेकिन प्यारी ! उन दुश्मनों का जो कातिल खंजर मेरे हृदय में है, शीघ्र ही निकाल दे। बहुत दर्द देता है। तेरी ओर आने में जो रुकावट करें वे दुश्मन से भी अधिक बुरे हैं।

"तुं माफ कर दिलदार देवादार छुं"

हे प्रिये ! मुझे माफ कर। मैं जानता हूँ कि मैं तेरा देनदार हूँ। मैं कुछ भी नहीं दे सका। फिर भी,

"कांई नझर बची थवी लाझिम तने,
गुझरान नो टूकड़ो घटे देवो सनम !"

हे सनम ! मुझे कुछ न कुछ देना चाहिए। मुझे अवलंबन चाहिए, जिससे मैं जिन्दा रह सकूँ।

"पेदा थईवे ना चूमी तारी हिना,
पेदा थयो छुं मोत मां जाणे सनम !"

जिस कार्य के लिए मैं पैदा हुआ हूँ, वह अभी तक सफल नहीं हुआ। तेरा दर्शन नहीं हुआ, तेरा प्रेम नहीं पा सका। हे प्यारी ! मुझे तो अब ऐसा लगता है कि मैं मृत जैसा हूँ।

'सनम' को पाने के लिए कितनी उत्कंठा ! भक्त का हृदय भगवान् की ओर ऐसा ही आकर्षित होता है। भक्त अपने प्यारे को हृदय में कैद करने की इच्छा करते हैं। मामूली भगवत्कृपा से वे प्रसन्न नहीं होते। कवि कहते हैं :—

"भेदी कदमनी जोईना पूरी कदि,
आवी न आवी एम शुं थाती ? सनम !"

प्यारी सनम ! ऐसा करना क्या ठीक है ? तू तो आती है और शीघ्र ही चली जाती है। तेरे चरण-कमलों पर जो मेंहदी का रंग लगा है, वह भी मैंने अच्छी तरह से नहीं देखा।

"छे दिल्लगीनो शोख के तुं ने नहीं ?
तो आव कॉ ? बोलना आवी सनम !
जोई तने आंखो नकामी आ बधे
फोडी दउं पूरी तने आँखे ? सनम !"

अरे, प्रेमी के साथ मीठी मीठी बातें करने का तुझे शौक है या नहीं ? दिल्लगी करने का यदि शौक हो तो मैं आती हूँ, ऐसा प्रत्युत्तर क्यों नहीं देती ? मेरी रानी ! मेरी सनम ! तू मुझे बहुत प्रिय है। मैं चाहता हूँ कि तू एक बार सब शृङ्गार करके अपना सब सौन्दर्य लेकर मेरे सामने आ। मैं अपनी आँखों में कैद कर लूँगा, फिर उनको फोड़ डालूँगा। आँखों की फिर जरूरत भी क्या है ?

सहृदय पाठक अब भली भाँति समझेंगे कि कलापी जो सनम का प्रेम पाने के लिए तड़पते हैं, उसमें और प्रभु-प्रेम में कोई अन्तर नहीं है तथा उनकी सनम में और प्रभु में कोई भेद नहीं है। सिर्फ कलापी ने प्रभु को पूर्ण प्रेम-स्वरूप माना है, और प्रिया-प्रेम से ही उस स्वरूप का ख्याल होता है ऐसा समझा है। इसी से सूफी कवियों की प्रथा के अनुसार वे 'सनम' कहकर पुकारते हैं। उनका दर्द सच्चा है। उनका प्रेम शुद्ध है। वे अपनी सनम को 'मालक आलमना जिगरनी' समझकर पुकारते हैं और पूछते हैं :—

"छे मोई तुं ने के नहीं दिलदारनी ?"

हे प्रिये ! तुझे अपने इस प्रेमी के लिए तनिक भी चिन्ता करने की जरूरत है या नहीं ? अवश्य तेरे दरबार में बहुत बुद्धिशाली, बहुत उच्च कोटि के आदमी होंगे; मगर मैं तो दिवाना हूँ। मस्त दिवाने को दरबार में भर्ती करने के लिए हुक्म है या नहीं ?

"तकलीफनी परवा न पीवा आवतां
हाथे मगर तुं पाय छे या ना सनम !"

मैं सिर्फ इतना जानना चाहता हूँ कि तेरे दरबार में जो पहुँचते हैं, उनको अपने हाथों से तू शरबत पिलाती है या नहीं। यदि पिलाती हो तो तेरे नजदीक आने के लिए जो तकलीफ होगी, मैं सब सह लूँगा। एक और भी खुलासा कर देना :—

"लाखो जवाहिरो जहाँ तुं ने धरे,
रानी करुं त्यां गुल रुजु या ना सनम !
ज्यां लाख चश्मो चूमतां तारा कदम,
त्यां मेटवा दोडुं तने या ना ? सनम !'

मैं तो सचमुच एक सामान्य आदमी हूँ। मेरे पास सिवाय एक रानीफूल के और कुछ नहीं है। तेरे चरणों में बड़े बड़े आदमी अत्यंत अमूल्य चीजें रखते हैं। क्या ऐसे समय अपनी तुच्छ भेंट मैं तेरे कदमों में रख सकता हूँ ? ओ प्रिये ! ओ सनम ! यह भी बताने की कृपा करना कि तेरे चरणों से लिपट जाने की योग्यता मुझमें है या नहीं ? तेरे पदकमलों

के दर्शन के अधिकारी अनेक सहस्र आदमी हैं जो नित्य दर्शन करते हैं, लेकिन वे तो बड़े बड़े हैं। इसी से पूछता हूँ।

कलापी का अंतिम गीत 'आपकी यादी' भी इस गीत के साथ साथ देखने योग्य है। उसमें भक्त को सब जगह या अपने हृदय-मंदिर में विराजित देवता के दर्शन होते हैं—यह भावना विराजमान है। वह मधुर गीत इस प्रकार शुरू होता है :—

"ज्यां ज्यां नजर मारी ठरे यादी भरी त्यां आपनी,
आंसु महीं आंखथी यादी झरे छे तो आपनी !
माशूकोना गालनी लाली महीं लाली अने,
ज्यां ज्यां चमन ज्यां ज्यां गुलो त्यां त्यां निशानी आपनी !
तारा उपर तारा तणां झूमी रह्यां छे झूमखां,
तो याद आपे आंखने गेबी कचेरी आपनी"

जहाँ जहाँ मेरी नजर फिरती है, वहाँ वहाँ हे प्रीतम ! आपके दर्शन होते हैं। जब नेत्रों से अश्रु गिरते हैं, उस समय आपका ही स्मरण रुलाता है। क्या कहूँ, आप तो सर्वव्यापी हैं। प्रियतमा के आरक्त कपोल भाग में, फूलों के बगीचे में, नई-नई कुसुमकुंजों में—जिधर भी दृष्टि जाती है, आपके चिह्न देखने में आते हैं। निशा के समय में तारकगण देखकर ऐसा भाव होता है कि आपकी गैबी कचहरी हिसाब-किताब देख रही है। अहो ! आप सवत्र विराजमान हैं भगवन् ! — मेरे हृदय में, मेरी गोद में, सागर की तरंगों में, संयोग में, विरह में, आप सब स्थलों में — सब समय — देखने में आते हैं। हे प्यारे ! ये सब बातें अब भली भाँति मेरी समझ में आ चुकी हैं। इसी से अब प्रार्थना है कि,

"भूली जवाती छो बधी लाखो किताबो, सामटी,
जोयुं न जोयुं छो बने जो एक यादी आपनी !"

आपका ऐसा स्मरण प्रतिपल होता रहे। लक्ष किताबों का ज्ञान, जगत् का अनुभव—यदि सब चला जाय तो भी कुछ परवाह नहीं। सिर्फ आपकी ओर हृदय जो आकर्षित हुआ है, उसमें शिथिलता न आनी चाहिए। हे प्रीतम ! मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार कीजिए।

कैसा भव्य विचार है ! कैसी मंगल भावना है।

——

JOURNALISM IN INDIA TO BE

(By B.N. Anantani B.A., Bar-at-Law, D.Litt., Dewan Jawhar State.)

It has been said " whether we know it or not, we always arouse thoughts in others similar to those which fill our own minds. Anger in one person provokes anger in another, and love begets love; fear brings fear and confidence inspires confidence. The cheerfulness of one person will pervade a roomful and if persisted in, it may extend to a whole neighbourhood. Even the most retiring and least assertive have their influence upon others far beyond their own recognition." If this is true of individuals it is true of journalism representing society as a whole.

The power of the press is known as a " charter as large as Wind to blow on whom it pleases." One can not believe that even in ancient India Press in some form or other was unknown. Itinerant bards used to travel to and from, one State to another, and do propaganda work for the good or bad of the States.

Journalism as a mission is the only desideratum Journalism as mere profession has unfortunately deteriorated to a point where very serious considerations by the leaders of society for the good of India to be, is essential.

About 35 years ago, I was handling a case of defamation in the High court of Zanzibar as interpreter. The Learned Counsel for prosecution, I clearly recall today, concluded his address in the following words. " Journalism, my Lord, is watch dog of the Society. When that dog becomes rabid, it becomes a duty to muzzle it for the good and safety of the same society."

India today is passing through a very critical period of transition; with glorious dreams to evolve herself as nucleus of Assiatic States. If Jounalism aspires to play its own parts rightly to help in this process of evolution it must act as a Mission; not as a party-ridden jargon but as an exponent of right, moulding public opinion along unquestionably the righteous lines. If it is to act as the fourth

estate of the realm it must be conscious of its impartial and unbiassed functions.

In the West, journalism of Victorian Era, it may be admitted, functioned as such and that is why it used to be worshipped. But alas, with the advent of North-Cliffe Press it allowed itself to be deteriorated. The result is now known-Passion, warfare and no peace: In India, when the Press is still in the stage of its evolution, functioning under so many limitations, the tendency, it must be admitted, is directed not towards the goal enunciated above.

What are then the lines on which future journalism should be moulded? They must be based on a firm rock of determination to help development of thought in the youth to equip themselves as good citizens of the State to be and the State that visualises "as India to be". In the future union of India, it might be, in sections, provinces or regional units there will always be room, nay, there must be room for all to be common citizens of one indivisible Indian Nation. The press therefore has to achieve an undying glory of remaining the torch-bearers of not only of Indian freedom as freedom is inevitable, but as the torch-bearers of India's leadership of the world. Let it, therefore preach not passion, not party politics but peace—peace that has been expounded by the Great Lord *Bhishma* from his bed of arrows in the most remarkable chapter in the epic of Mahabharata's Shantiparva. But for this motto, with the press, not only the mission will be unfulfilled but it will not have also justified its own existence as the Press. Are we equal to it? Is this not a mere ideal impossible of achievement? "The answer is emphatic No" if the powers that be in India to be, handle this department of the State on right lines. Optimism is India's faith and let us stick to it.
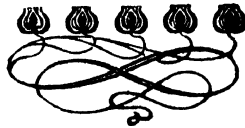
पूर्णत्व की प्रतिष्ठा का साधन : काव्य

पंडित ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी, एम० ए० सम्पादक नव भारत

आनन्द की उत्पत्ति को अनेक साहित्यकारों ने काव्य-साधना का अंतिम ध्येय माना है। जैसा कि नाट्य-शास्त्रकार भरत मुनि ने कहा है, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से स्थायी भाव की पुष्टि होती है, और जिस प्रकार खट्टे, मीठे, तीखे आदि पदार्थों के जिह्वा के सम्पर्क में आने से रस-विशेष की निष्पत्ति होती है, जो एक विशेष प्रकार के आनंद का कारण होती है, उसी प्रकार भाव-विशेष के जागृत होने पर रस-विशेष उत्पन्न होता है, जो एक आनंद-विशेष को जन्म देता है। साहित्यकारों ने इस आनंद को 'ब्रह्मानंद-सहोदर' कहा है और इसी को काव्य-रचना का मूल उद्देश्य बतलाया है। हमें इस कथन से कोई विरोध नहीं कि काव्य एक अतीन्द्रिय आनंद की सृष्टि करता है; लेकिन वही आनंद उसका चरम लक्ष्य है, यह मत हमें कदापि स्वीकार नहीं है।

जीवन, जैसा कुछ भी है, अभावों और अपूर्णताओं से घिरा हुआ है। यदि काव्य इन अभावों और अपूर्णताओं पर आँखें मींचकर हमें काल्पनिक परिपूर्णता के देश में ले जाने के लिए है, तब तो हम उसके साथ जाने को तैयार नहीं हैं। जीवन यदि युद्ध है, तब हार मानकर उससे भाग खड़े हो जाना न तो हमारा अभीष्ट हो सकता और न हार की पीड़ा में विजय के झूठे उल्लास की सृष्टि करके आत्मा को धोखे में डालनेवाली वस्तु को ही हम महत्त्व दे सकते। हम तो उसी चीज की प्रतिष्ठा कर सकते हैं, जो हमारी अपूर्णताओं और पराजयों को अपने स्पष्टतम स्वरूप में आँक दे और हमें ऐसी कुछ प्रेरणा दे कि हम उसकी समस्त बीभत्सता का वीरतापूर्वक सामना करने को उद्यत हो जावें। यदि पूर्णत्व की प्राप्ति जीवन का लक्ष्य है, और काव्य जीवन में प्रतिष्ठित की जानेवाली कोई वस्तु है, तो हमारे अपूर्णत्व को भुलाकर झूठे पूर्णत्व की कल्पना के लोक में ले जाना उसका आदर्श नहीं हो सकता। सहस्रों वर्षों से संसार की कोटि कोटि मानवता के श्रेष्ठतम यत्नों को अपनी ओर आकर्षित करनेवाला साध्य इतना हीन और तुच्छ नहीं हो सकता।

हम ऊपर कह चुके हैं कि पूर्णत्व जीवन का लक्ष्य है। सृष्टि अपने प्रारम्भ से इस लक्ष्य की ओर अग्रसर हुई है। क्षुद्र से क्षुद्र जीवकोष भी अपने को अधिक से अधिक चेतना, अधिक से अधिक संवेदना और आकृति-प्रकृति की अधिक से अधिक परिपूर्णता की ओर ले जाने में व्यस्त है। मूल प्रकृति से विभिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति का क्रम और फिर उन तत्त्वों द्वारा अनंत-रूपा सृष्टि का विकास, जिसका सांख्यकार ने प्रतिपादन किया है, पूर्णत्व की ओर अग्रसर होनेवाले क्षुद्र जीवाणु का ही इतिहास है। अतएव हमारे मत में हमारे प्रत्येक प्रयास का, हमारी प्रत्येक साधना का यदि कोई लक्ष्य हो सकता है, तो वह जीवन को परिपूर्णता की ओर ले जाना ही है। चूँकि काव्य हमारे गम्भीरतम क्षणों की साधना है, अतएव हम कह सकते हैं कि वह अपूर्णता के जीवन में पूर्णत्व की

प्रतिष्ठा का गम्भीरतम आयोजन है। यह सच है कि पूर्णत्व ऐसी चीज नहीं जो एक क्षण के प्रयास द्वारा प्राप्त कर ली जावे। वह आदर्श ही क्या, जो सहज लभ्य हो? आखिर जीवन उद्देश्यहीन होकर तो नहीं रह सकता! यदि उसका लक्ष्य किसी एक साधना के बाद प्राप्त हो जाता है, तब आगे प्राप्त करने को कुछ न रहने पर उसका उद्देश्य क्या होगा? जो सीमित है—जो परिमित है—वह तो पूर्ण नहीं है, क्योंकि उसकी परिमिति के परे भी कुछ है। सीमाबद्ध उसका अंश-मात्र है—खण्डमात्र है। अतएव वह पूर्ण नहीं हो सकता।

पूर्णत्व की साधना विकास की ओर अग्रसर होने की चिरन्तन साधना है। यह तो उस असीम और अनन्त यात्रा का उपक्रम है जिसकी ओर लक्ष्य करते हुए जायसी ने कहा है:—

अगनि उठी, उठि बुझी नि आना।
धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा, उठि जाय न छूआ।
बहुरा रोय, आय भुवि चूआ॥

मनुष्य, जैसा कुछ भी है, एक सशरीर प्राणी है। एक ओर यदि वह कुछ भौतिक तत्त्वों का सम्मेल है तो दूसरी ओर चेतना का पुंज है, जिसमें प्रेम, घृणा, क्रोध, उल्लास, करुणा जैसी विविध अनुभूतियों का समावेश है। मनुष्य के पूर्ण विकास के मानी उसके भौतिक एवं चेतन दोनों तत्त्वों का ही सम्यक् विकास है। उपनिषद्कार ने अन्न, प्राण, मन, ज्ञान आदि कोषों के परे ब्रह्म की सत्ता का निवास बतलाया है और उसकी प्राप्ति के लिए इन समग्र कोषों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक कहा है। क्षुद्र अहं की परिधियों को तोड़कर असीम और अनन्तता के महासागर में अपनी आत्मा का विलय कर देना ही ब्रह्म को प्राप्त करना है। जीवन में पूर्णत्व की प्रतिष्ठा का भी यही अर्थ है। उसके मानी यही हैं कि हम अपने भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही अंगों को अधिकाधिक विकास की ओर अग्रसर करें।

अस्तु, जीवन में स्थित चेतन तत्त्व के विकास की साधना में सहायक होनेवाला साधन काव्य है। दार्शनिकों ने मनोविकारों के दमन को जीवन का लक्ष्य माना हो, लेकिन मन जब हमारे अपने अस्तित्व का एक अंग है, तब उसकी वृत्तियों का विनाश हमारा अभीष्ट नहीं हो सकता। उसकी वृत्तियों का विनाश तो मन का नाश है और मन का नाश हमारी चेतना के एक अंश का नाश होने के कारण हमारी पूर्णत्व की साधना का अंग नहीं बन सकता। एक ठीक ठीक और सही पुरुष के निर्माण के लिए उसकी सारी शक्तियों, अवयवों और वृत्तियों का सम्यक् विकास आवश्यक है। सारी शक्तियों, अवयवों और वृत्तियों के विकास के लिए यह तो निश्चित है कि हमें सभी पर एक नियंत्रण स्थापित करना होगा। यदि प्रत्येक वृत्ति, प्रत्येक शक्ति और प्रत्येक अवयव को हम स्वच्छन्दता-पूर्वक बढ़ने को छोड़ देते हैं, तब निश्चित है कि किसी एक वृत्ति अथवा शक्ति का विकास हमें इस तरह एक ओर खींच ले जावेगा कि अन्य वृत्तियों तथा शक्तियों का विकास रुक जावेगा और उस एक वृत्ति, शक्ति अथवा अंग के बोझ के नीचे हमारा सारा जीवन दबकर

नष्ट हो जावेगा। अतएव जीवन को जिस विकास की अपेक्षा है, वह है हमारा सर्वांगीण विकास। भगवान् राम का चरित्र हमें सर्वाधिक आकर्षित करता है और उन्हें आर्य साहित्यकारों ने पुरुषोत्तम नाम दिया है। उसका यही कारण है कि उनमें हम समग्र मानवीय वृत्तियों और शक्तियों के विकास को एक उच्चतम कोटि तक पहुँचा देखते हैं। उनकी शारीरिक क्षमता, उनका शील, उनका सौजन्य, उनका प्रेम, उनकी करुणा, उनका त्याग—सभी कुछ विकास की उस सीमा के परे पहुँच चुके हैं, जिसे आज तक की मानवता अपने जीवन में प्रतिष्ठित कर सकी है।

काव्य मनोभावों के विकास का साधन है। वह करुणा, त्याग, तितिक्षा, प्रेम, सौहार्द, रोष आदि के उदात्त आदर्शों द्वारा हमारी मनोवृत्तियों को जागृत करता है। एक परिपूर्ण पुरुष में हम राम के उस रोष को आवश्यक समझते हैं जो रावणत्व के विनाश के लिए सदैव तत्पर रहे, लेकिन साथ ही विश्व की वेदना पर बुद्ध की करुणा बनकर बिखर सके। मेघ की सम्पूर्णता उसके उमड़ते हुए जल-प्रवाह में ही नहीं वरन् उस कड़कती हुई विद्युत् में भी है जो एक क्षण में चमककर सारे संसार को प्रकाशमय कर जाती है। जीवन की परिपूर्णता भी उसके सभी तत्त्वों के सम्यक् विकास में है और काव्य की साधना का मूल आदर्श भी वही है। युग-कवि मैथिलीशरणजी के शब्दों में "जो अपूर्ण, कला उसी की पूर्त्ति है।" काव्य मानवीय कला की श्रेष्ठतम देन है। इसलिए हम कह सकते हैं कि जीवन की अपूर्णता में पूर्णत्व की प्रतिष्ठा का वह श्रेष्ठतम आयोजन है।

संस्कृत-साहित्य में राजा

श्री विट्ठलनाथ दीक्षित साहित्याचार्य्य

संस्कृत-साहित्य में राजविषयक साहित्य का वर्णन पूर्ण रूप से मिलता है। वेद से लगाकर अर्वाचीन काल तक बने हुए ग्रन्थों में राज-सम्बन्धी विषय उपलब्ध होते हैं। दर्शन ग्रन्थों को छोड़कर—जिनमें जीव, ईश्वर, कर्म आदि विषयों का विचार है—अन्य संस्कृत-साहित्य सभी राजविषयक विषयों से परिपूर्ण है। महाभारत, स्मृतियाँ, अष्टादश पुराण, आदिकाव्य रामायण, अन्य काव्य, नाटक, कौटिलीय अर्थशास्त्र, शुक्रनीति आदि अनेक ग्रन्थों में राजमहिमा, राजा से लाभ, राजा के लक्षण, मन्त्री, दूत, सेवक, दुर्गनिर्माण गुण एवं उपाय आदि के प्रयोग प्रभृति विषय पूरे विस्तार के साथ रक्खे गये हैं। इनका पृथक् रूप से संकलन कराया जाय तो, कितने ही भागों में, एक नया महाभारत-सा ग्रन्थ बन जाय। वह ग्रन्थरत्न राजा एवं प्रजा के लिए परम कल्याणकारी हो। तदनुरूप व्यवस्था का अंशमात्र भी कार्यरूप में परिणत किया जाय तो रामराज्य प्रत्यक्ष रूप में बहुत कुछ दिख जाय। अस्तु।

वेदों में राजवर्णन

वैदिक साहित्य में राजा की महिमा, राजकर्त्तव्य और उसके आशीर्वादार्थ अनेक मन्त्र हैं। अध्याय के अध्याय वर्णनों से भरे हैं। कुछ ऋचाओं से उसका दिग्दर्शन करा देना हम आवश्यक समझते हैं—

प्रजा को श्रुति भगवती उपदेश करती है—

इन्द्राय नूनमर्चतोक्थानि च ब्रवीत न।
सुता अस्मृत्सुरिन्दवो ज्येष्ठं नमस्यता सहः। ६। ६। ५।

हे प्रजा के सभ्य जनो! ऐश्वर्यवान् राजा का निश्चय ही आदर करो और उनके योग्य आदरपूर्वक वचनों को कहो। अभिषिक्त राजा हर्ष को प्राप्त हों। सबसे श्रेष्ठ बलवान् राजा को हमेशा नमस्कार करो।

प्रजा के साथ राजा की वैसी शोभा है जैसी गौओं के साथ वृषभ की। यहाँ यह उपमा स्वामी के रूप में एकदेशी है—

वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनुस्वराज्यम्। ऋग्वेद ६। ६। १०।

युद्धकाल में राजा की सहायता करनेवाले सामन्तों पर राजा के विशेष प्रसाद का वर्णन भी ऋग्वेद में है—

सो विदेमेवै किल मे सचिवा इमे माकामयन्त हन्तेमानस्मिन्नुक्थ आभजा इति तानेतास्मिन्नुक्थ आभजन्।

राष्ट्र की रक्षा के लिए कोट आदि बनाने का वर्णन भी इस प्रकार है—

देवा सुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त ते वा असुरा इमानेव लोकान्पुरोऽकुर्वत।

'पुरोऽकुर्वत' का अर्थ सायणाचार्य्य ने, प्राकारवेष्टित नगरों को बनाया, किया है।

देवताओं ने यज्ञ आरम्भ किया। उस समय यज्ञ की रक्षा के लिए तीन पुर प्राकार बनाये। 'देवा वै यज्ञमतन्वत अग्निमयीः पुरस्त्रिपुरं पर्यास्यन्त'।

सेनापति अपनी सेना का विभाग करके शत्रु की सेना पर आक्रमण करे, इस विषय में वेद कहते हैं—

'स त्रिश्रेणिर्भूत्वा त्र्यनीको युद्धमुपप्रापद् विजयाय'

जिस राजा के यहाँ राष्ट्र की रक्षा करनेवाला विद्वान् पुरोहित होता है उसका राज्य कभी नष्ट नहीं होता, राजा कम आयुवाला नहीं होता, पूर्ण आयु पाता है—

'अयुवमार्यस्य राष्ट्रं भवति नैनं पराग्रुपा प्राणो जहाति आजरसं जीवति सर्वमायुरेति न पुनर्म्रियते यस्यैवं विद्वान् राष्ट्रगोपः पुरोहितः' 'ऋक्' ऐतरेय

* * *

श्रुति राजा को शुभाशीर्वाद देती है—

'अनाविद्धया तन्वा जयत्व छ स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु'

हे वर्मन् राजन्, क्षत से रहित अखण्ड शरीर से आप शत्रु-वध करके विजय को प्राप्त होवो। कवच की महिमा आपकी रक्षा करे। हे राजन्, आपका साम्राज्य पूर्ण भोगने योग्य हो। आपका अपने राज्य पर पूर्ण अधिकार हो जिस प्रकार ब्रह्मा का जगत् पर है। आप पूर्ण आधिपत्यमय चक्रवर्तित्व प्राप्त करें, चारों दिशाओं में आपका प्रभुत्व रहे, आपकी आयु परार्धपर्यन्त, जो ब्रह्माजी की आयु है उतनी, हो एवं समुद्र पर्यन्त पृथ्वी के आप एक राजा हों।

स्वस्ति साम्राज्यं भोज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात्सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एक-राडिति। ऋग्वेद ९।४।१

यजुर्वेद में राजाशीर्वाद के अनेक मन्त्र हैं। उनमें से एक मन्त्र ही देकर अन्यत्र वर्णित राजविषय पर आवेंगे—

देवगण आपके पास सौ वर्ष से भी ऊपर रहें। आप वृद्धावस्था को प्राप्त हों। आपके जीवन-काल में पुत्र एवं पौत्र हों, आयु पूर्ण प्राप्त करें; मध्य में ही आयु कदापि नष्ट न हो।

शतमिन्नु शरदोऽअन्ति देवा यत्रा नश्चक्र जरसन्तनूनाम्।

पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मानो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः।

यजु० २५।२२। ऋ० १।६।१६—

ऋग्यजुसाम में राज-सम्बन्धी विषयों का अनेक अध्यायों में वर्णन है। इतना ही पर्याप्त है।

महाभारत में राजा

पञ्चम वेद महाभारत में तो राजसम्बन्धी साहित्य ही अधिकांश भरा हुआ है। असंख्य आदर्श राजाओं की वीरगाथाओं से यह ग्रन्थ-रत्न उद्भासित है। विशेषतः शान्ति-पर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में ५०, ६० अध्यायों में राजमहिमा, राजा की आवश्यकता, राजकर्त्तव्य, राष्ट्ररक्षण-प्रकार, मन्त्री और दूत आदि के लक्षण प्रभृति विषय भली भाँति प्रतिपादन किये गये हैं।

राजशब्द का इतिहास भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से इस प्रकार वर्णन किया है—सबसे पहले सृष्टि के आरम्भ में—

न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः ॥ शान्ति० ५९।१४
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम् ।

पहले न राज्य था, न राजा, न दण्ड और न दण्ड देनेवाला । धर्म ही से सब प्रजाएँ परस्पर अपनी रक्षा करती थीं । फिर मोह की वृद्धि के कारण मनुष्यों का ज्ञान नष्ट होने लगा । होते-होते प्रजा अगम्यागमन, अभक्ष्यभक्षण, अवाच्यवाचन आदि अधर्म करने लगी । वेदों का स्वाध्याय नष्ट होने लगा । तब देवता दुःखी हुए और ब्रह्मा के पास गये । ब्रह्मा ने राजा, राज्याङ्ग और दण्डनीति आदि का निर्माण किया और राजधर्म का उपदेश भी राजा को भली भाँति दिया । इस प्रकार पहले-पहले विरजा नाम के राजा, जो भगवान् के मानस पुत्र थे, राजा हुए । आगे चलकर इनके वंश में वेन नामक राजा हुआ । उसने राजधर्म का उल्लंघन किया । फिर पृथु ने विकृत हुए राजधर्म को पुनः स्थापित किया । यह राजा का प्रारम्भिक इतिहास है । महाभारत में क्षात्र-धर्म को सब धर्मों में प्रधानता दी गई है, क्योंकि इसी से जगत् का कल्याण एवं रक्षा होती है—

महाश्रयं बहुकल्याणरूपं क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्याः ।
सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति । ६३ । २७ शान्ति० ।

राजा को साक्षात् देवता ही कहा गया है और राजा का अपमान करने के दुष्परिणाम के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा है कि सारे लोकों के राजा का जो अपमान करता है उसका किया सब दान, हवन, श्राद्ध आदि निष्फल हो जाता है । मनुष्यों के अधिपति देवरूप सनातन राजा का अपमान देवता भी नहीं करते ।

सर्वलोकगुरुं चैव राजानं योऽवमन्यते ।
न तस्य दत्तं न हुतं न श्राद्धं फलते क्वचित् ॥ २६ ॥
मानुषाणामधिपतिं देवभूत सनातनम् ।
देवाऽपि* नावमन्यन्ते धर्मकामं नरेश्वरम् ॥ ३७ ॥ शान्ति ६५ अ०

राजा ही प्रजा का श्रेष्ठ शरीर, गति, प्रतिष्ठा एवं उत्तम सुख है । राजा के आश्रय से ही मनुष्य इस लोक और परलोक का विजय प्राप्त करते हैं—'राजा प्रजानां हृदयं गरीयो गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमं च । समाश्रिता लोकमिमं परं च जयन्ति सम्यक् पुरुषा नरेन्द्र' ॥

राजा समय-समय पर भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप धारण करता है । उनमें पाँच मुख्य हैं—अग्नि, सूर्य, काल, कुबेर और यम । जब दुष्टों को अपने तेज से जलाता है तब अग्नि का, जब दूतों के द्वारा सर्वत्र देखता है तब सूर्य का, क्रुद्ध होकर सैकड़ों अन्यायी मनुष्यों का नाश करता है तब काल का, अधार्मिकों को दण्ड एवं धार्मिकों पर अनुग्रह करता है तब यम का तथा जब कर्तव्यनिष्ठ सेवकों को धन देता है तब कुबेर का रूप धारण करता है । (६८।४० से ४६ श्लोक) राजा की आवश्यकता को शान्तिपर्व में पूरे अध्याय में बतलाया है । सूर्य-चन्द्र के उदय के तुल्य ही राजा की आवश्यकता प्रदर्शित की है—

* सन्धिरार्षः ।
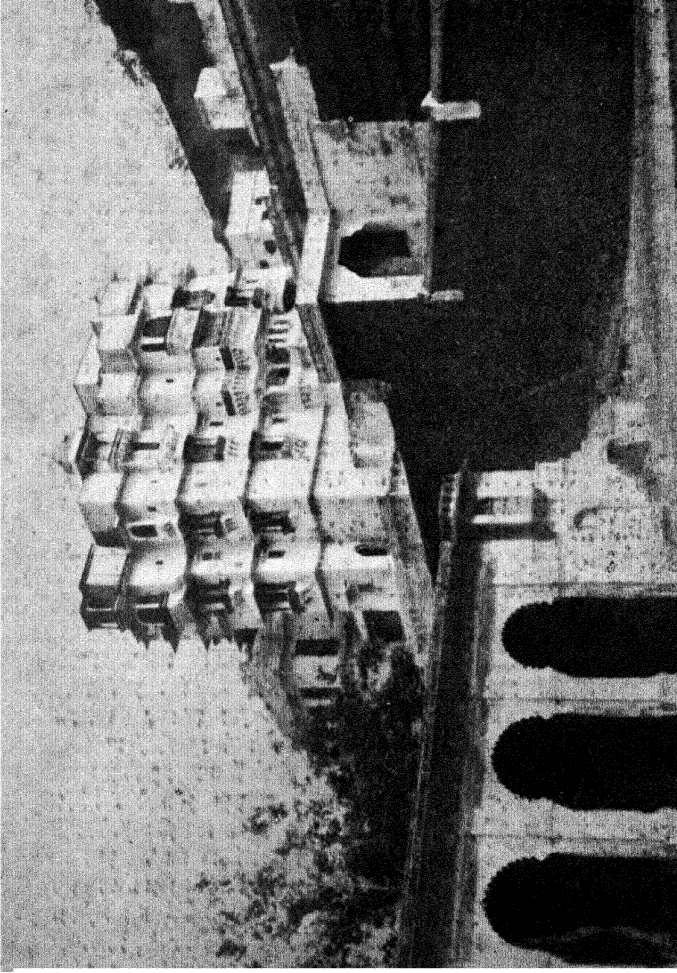
डूंगरपुर के प्राचीन राजमहल

यथ ह्यनुदये राजन्भूतानि शशिसूर्ययोः ।
अंधे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम् ॥ ६९ । १०

जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र के उदय न होने पर प्राणिमात्र अन्धकार में भटकते हैं उसी प्रकार राजा के बिना संसार में मनुष्य कहीं भी शरण न पावें, भटकते ही रहें; दुर्बलों को बलवान् सतावें, सभी की वस्तु को दुष्ट हठात् छीन लें। लोग मोहवश माता, पिता, गुरु एवं आचार्य को भी मार दें, धनवान् को तो अवश्य बाँध दे या मार दें, यज्ञ-यागादि बन्द हो जायँ, चारों वर्ण अपना-अपना धर्म छोड़ दें। यदि राजा रक्षा न करे तो जगत् की सारी व्यवस्था भ्रष्ट हो जाय। राजा की आवश्यकता के ऐसे ही अनेक कारण दिये हैं जो विस्तार से शान्तिपर्व के ६८वें अध्याय में देखे जा सकते है। सारा राजधर्मानुशासन पर्व ही परमोपयोगी है।

अठारहों पुराणों में अनेक राजर्षियों के चरित्र है, और राजमहिमा आदि विषयों पर पूर्ण विवेचन उपलब्ध होता है। महापुराणों के दस लक्षणों में राजाओं की वंशावली का वर्णन भी एक लक्षण है 'वंशानुचरितं तथा'। जिसमें राजवंशावली का वर्णन न हो वह महापुराण ही नहीं। सभी पुराणों के राजचरित यदि संकलित किये जायँ तो एक नया पुराण ही बन जाय। 'सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्नम्' इस न्याय से पुराण-तिलक श्रीमद्भागवत में राजसम्बन्धी विषय का दिग्दर्शन कराना ही पुराणों में राजाओं के स्थान के लिए पर्याप्त होगा। जो विषय महाभारत में ऊपर वर्णन किया गया है वही शब्दभेद से मनु, याज्ञवल्क्य एवं अन्य पुराणों में वर्णित है। अतः उनके उल्लेख से हम लेख का कलेवर बढ़ाना नहीं चाहते।

श्रीमद्भागवत में राजा को सर्वदेवमय साक्षात् विष्णु और भगवान् की पालिका शक्ति के रूप में कहा है। राजा की तुलना मनुष्य से नहीं हो सकती और राजा के अभाव में कैसे कैसे अनर्थ होते हैं यह भी बतलाया है, जो अगले प्रसङ्गों से स्पष्ट होगा। राजा परीक्षित् के शमीक के गले में साँप डालने पर उनके पुत्र शृङ्गी ने राजा को शाप दिया। यह जानकर शमीक ऋषि ने बड़ा पश्चात्ताप किया और कहा—

नरदेव नामक विष्णु भगवान् के न रहने पर यह संसार चोरों के उपद्रव से नष्ट हो जायगा और जब चोर लूट मचावेंगे तब लोग आपस में एक दूसरे का अहित करेंगे। वह पाप हमें प्राप्त होगा, क्योंकि राजा को शाप हमारे कारण दिया गया है। ऐ अपक्वबुद्धि! देवरूप राजा की तुलना तुम मनुष्यों से मत करो। राजा के असह्य तेज से दुष्ट नष्ट होते हैं तथा प्रजा सुख प्राप्त करती और निडर रहती है। राजा के बिना भेड़ की तरह संसार गड्ढे में गिर जाय और कुत्तो और बन्दरों की तरह वर्णसंकर दोष बढ़ जाय।

अलक्ष्यमाणे नरदेवनाम्नि रथाङ्गपाणावयमङ्ग लोकः ।
तदा हि चौरप्रचुरो विनंक्ष्यत्यरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत् क्षणात् ।
न वै नृभिर्नरदेवं पराख्यं संमातुमर्हस्यविपक्वबुद्धे !
यत्तेजसा दुर्विषहेण गुप्ता विन्दन्ति भद्राण्यकुतोभयाः प्रजाः ॥
..............................शुनां कपीनामिव वर्णसंकरः ।

श्रीमद्भा० १ । १८ । ४२—४३, ४५

उस राजर्षि को शाप देना अनुचित है, ऐसा कहकर ऋषि ने भगवान् से क्षमा माँगी कि अपकबुद्धि बच्चे ने अपराध किया है उसे सर्वात्मा प्रभु क्षमा करें।

जब मनुजी अपनी कन्या देवहूति को लेकर कर्दम के आश्रम पर पहुँचे तब मुनि ने मनुजी से कहा—

नूनं चंक्रमणं देव सतां संरक्षणाय ते।
वधाय चासतां **यस्त्वं हरेः शक्तिर्हि पालनी।** श्रीमद्भा० ३।२२।५०

आपका घूमना सज्जनों की रक्षा तथा दुष्टों के नाश के लिए है, क्योंकि आप भगवान् की पालन करनेवाली साक्षात् शक्ति हैं। यदि आप इस प्रकार न घूमें तो भगवान् का बनाया हुआ वर्णाश्रम धर्म का सब सेतु दुष्टों के द्वारा नष्ट कर दिया जाय।

तदैव सेतवः सर्वे वर्णाश्रमनिबन्धनाः।
भगवद्रचिता राजन् भिद्येरन् बत दस्युभिः। श्रीमद्भा० ३६।२२।५४

जब परशुरामजी सहस्रार्जुन को मारकर अपनी इस विजय पर प्रसन्न होकर पिताजी के पास आये तब महर्षि जमदग्नि ने राजा को सर्वदेवमय बतलाते हुए उसके वध को ब्रह्मवध से भी बढ़कर पाप कहा और इसकी शुद्धि वर्ष भर तीर्थयात्रा के द्वारा बतलाई—

राम राम महाबाहो ! भवान् पापमकारषीत्। अवधीन्नरदेवं तं सर्वदेवमयं वृथा।
राज्ञो मूर्धाभिषिक्तस्य वधो ब्रह्मवधाद्गुरुः।९।१६।३८
तीर्थसंसेवया चांहो जह्यङ्गाच्युतचेतनः॥९।१६।४०।

इस प्रकार म० भा० पुराण आदि में राजा के दर्शन प्राप्त कर, काव्यों में राजा के विषय की ओर आते हैं—

रामायण आदि काव्यों में

काव्य की उपादेयता के यश, धन, सद्यः परम सुख तथा व्यवहार-ज्ञान इन कारणों में व्यवहार-ज्ञान होना कारण समाज-निर्माण एवं लोकोपकार के लिए मुख्य है। काव्य की सृष्टि ही 'रामादिवदाचरितव्यम् न रावणादिवत्' 'राम आदि की तरह आचरण करना चाहिए, रावण आदि की तरह नहीं' इस कर्तव्यपथ को दिखाने के लिए है।

आदिकवि वाल्मीकि ने राजेन्द्र श्री रामचन्द्रजी को अपने काव्य का धीरोदात्त नायक चुनते हुए राजाओं को किस मार्ग का अनुगामी बनना चाहिए, इसका राजमार्ग प्रदर्शन कर दिया है—गुणवान्, वीर्यवान्, सर्वभूतहिते रतः, क्षमया पृथिवीसमः, धैर्येण हिमवानिव आदि राम के गुणों का प्रदर्शन करते हुए वाल्मीकि अपने काव्य के 'रामवत् आचरण करो' इस आदर्श को राम के गुणों से युक्त राजाओं के द्वारा सफल देखना चाहते हैं। राम के प्रत्येक पवित्र चरित्र के चित्रण द्वारा आदिकवि राजाओं को वैसे दृढ़-व्रत देखना चाहते हैं जैसे उनके राम हैं। पितृभक्ति, भ्रातृप्रेम, सख्यभाव, शौर्य, औदार्य, एकपत्नीव्रत, विषयविरक्ति, जितेन्द्रियता आदि गुणों का स्थान स्थान पर परिपूर्ण रूप से वर्णन, वाल्मीकि ने राजमार्ग प्रदर्शन करने के लिए ही किया है। राजनीति भी आदि-काव्य में अगाध है।

भगवान् राम के गुणों से मुग्ध होकर अनेक कवियों ने इन्हें ही नायक बनाया। महाकवि भवभूति जहाँ राम को सीता-विरह में ऐसा रुलाते हैं कि उस करुण दृश्य से पत्थर भी रो दे और वज्र भी फट जाय वहाँ उन्हीं राम से यह भी कहलाते हैं—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥

स्नेह, दया, सुख और प्राणप्रिया जानकी को भी मुझे प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए छोड़ते हुए दुःख नहीं है। हमारे भवभूति भी राजाओं को दीनों के दुःखों को दूर करने के लिए नवनीत-हृदय एवं अपने कष्टों को सहन करने के लिए वज्र से भी कठोर देखना चाहते हैं—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ॥

महाकवि कालिदास ने भी जगत्कल्याणकारी रत्ननिधि गिरिराज हिमालय का वर्णन कर तारकासुर के दमन के लिए सेनापति कार्त्तिक स्वामी का वर्णन राजसत्ता के द्वारा होनेवाले लाभों को दिखाने के उद्देश्य से कुमारसंभव में किया है। राजा की विप्रियता से होनेवाले विरह-दुःख की भूमिका को सर्वप्रथम बतलाते हुए ही वे मेघदूत का भी आरम्भ करते हैं। रघुवंश में तो दिलीप जैसे गौ के लिए प्राणों को तृणवत् गिननेवाले राजा से कथा प्रारम्भ कर रघु के दिग्विजय तथा कौत्स की इच्छा से भी अधिक दान का वर्णन किया है। अज की पितृभक्ति और पत्नी-प्रेम का आदर्श रघुवंश में अनुपम है। आगे चलकर दशरथ का आखेट-वर्णन, रामचरित और लव-कुश की वीरता-वर्णन करने के बाद अग्निवर्ण राजा का विषयासक्ति की अधिकता से विनाश-वर्णन राज-कर्तव्य को स्पष्टतया बतला देता है। व्यसनी राजाओं से राज्य की अवनति एवं राजा का अवसान अग्निवर्ण के चरित्र से राजवर्ग को सावधान कर देता है। 'व्यवहारविदे' व्यवहार-ज्ञान के लिए काव्य की उपादेयता और विशेषतः राजसम्बन्धी साहित्य कवि-शिरोमणि कालिदास की लेखनी के द्वारा रघुवंश में पूर्ण रूप से प्राप्त होता है।

अभिज्ञान-शाकुन्तल में दुष्यन्त के मुँह से कवि ने शकुन्तला के प्रति अनुराग होने के समय स्पष्ट शब्दों में कहलाया है कि यह शकुन्तला अवश्य ही क्षत्रिय की सन्तति है, क्योंकि मेरा आर्य्य हृदय इसकी अभिलाषा करता है। पुरुवंशी राजाओं का चित्त पर-स्त्री से विमुख प्रवृत्तिवाला ही होता है—'मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः'। राजा के चरित्र-चित्रण की ओर पूरा लक्ष्य रखते हुए दुष्यन्त के आदर्श चरित्र को ही कालिदास ने अंकित किया है। संस्कृत-साहित्य में अधिकांश काव्यों एवं नाटकों के नायक राजा ही हैं। उत्तम नायक के लक्षण अधिकतर राजाओं में ही उपलब्ध हुए हैं, अतः उन्हें छोड़कर अन्य को नायक कैसे रक्खा जा सकता है? मालतीमाधव, मालविकाग्निमित्र, स्वप्नवासवदत्ता, विक्रमोर्वशीय आदि नाटकों में राजा ही नायक हैं।

महाकवि बाण का कादम्बरी में चन्द्रापीड़ का वर्णन एवं तारापीड़ को दिया शुकना-सोपदेश राजकुमारों के अनुशीलन करने के योग्य है। बाण का हर्षचरित भी हर्ष की अनुपम स्मृति दिलाता है।

नीति-ग्रन्थों में शुक्रनीति, पञ्चतन्त्र, भर्तृहरिशतकत्रय आदि ग्रन्थों में राज-सम्बन्धी साहित्य का विशद रूप में वर्णन उपलब्ध होता है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में जो राजशास्त्र का अनुपम वर्णन है वह संसार में बेजोड़ ही है। राजा, दूत, सेवक, कूटनीति, यन्त्रनिर्माण आदि विषय ऐसे विशद रूप से कौटिलीय अर्थशास्त्र में हैं जिसके अनुसार यदि शासन-व्यवस्था हो तो राजा सदा विजयी ही रहे।

सुभाषित ग्रन्थों में राजमहिमा, राजनीति आदि बहुत पाई जाती है। पंचतन्त्र जैसे साधारण ग्रन्थ में राज-सम्बन्धी साहित्य असाधारण है। अनेक विद्वानों ने नरदेववृन्द की देव-रूप में ही स्तुति कर राजाओं के दिये मान आदि की कृतज्ञता प्रदर्शित की है, जिनके अनेकों ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

शिलालेख-संग्रह में सौ में निन्यानबे शिलालेख राज-महिमा एवं राज-चरित्रों से भरे हुए हैं। इतिहासकारों को ऐतिहासिक तथ्य-ज्ञान में संस्कृत के शिलालेख साहित्य से ही पूर्णरूपेण सहायता प्राप्त हुई है। शिलालेखों की भी संख्या अपार है।

इस प्रकार संस्कृत-साहित्य-समुद्र-मन्थन करने से हमें अमृतरूप राजा की प्राप्ति हुई है। राजा को सर्वदेवमय एवं भगवद्रूप में दर्शन कराने का श्रेय संस्कृत-साहित्य को ही है। इस स्वल्पकाय लेख में संस्कृत-साहित्य में राजविषयक दिग्दर्शन-मात्र हुआ है, विशेष आनन्द तो उन ग्रन्थों के साहित्य का स्वाध्याय करने से ही प्राप्त हो सकता है।

जिस संस्कृत-साहित्य ने राजा की वाक्य-पुष्पाञ्जलि के द्वारा हृदय से भूरि भूरि अर्चा की है आज वही साहित्य पाश्चात्य शिक्षा-प्रचार की अधिकता से अनुपयोगी एवं हेय सा बनाया जा रहा है। समाज भले इस परमोपयोगी दैवी वाणी की उपेक्षा करे, किन्तु हमारे सर्वदेवमय नरदेववृन्द इसके उत्थान के लिए अवश्य कटिबद्ध होंगे। ऐसा पूर्ण विश्वास करते हुए इस शुभ कामना के साथ इस लेख को समाप्त करते हैं—

पठत्वेनां जनः सर्वो साहित्यं च समेधताम्।
सर्वभाषासु सम्राज्ञी दैवी वाणी विराजताम्॥

कविता-कामिनी के भिन्न-भिन्न रूप

साहित्यालंकार पं० वैजनाथप्रसाद दुबे, साहित्य-रत्न

संक्रान्तिकाल में जो व्यक्ति उत्पन्न होते हैं उनमें कुछ न कुछ विशेषता होती है। हिन्दी कविता के जन्म का समय भी संक्रान्तिकाल था। भारत पर मुसलमानों के आक्रमण होना प्रारम्भ हो चुका था। यहाँ के हिन्दू राजे उनका सामना कर रहे थे। उन्हें प्रोत्साहित करने के हेतु भाट कवि एक हाथ में तलवार और दूसरे में लेखनी लेकर राजपूत राजाओं के साथ-साथ रणक्षेत्र में उतरते थे। अतः यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि हिन्दी-कविता ने रणक्षेत्र में जन्म लिया।

कविता को जन्म देनेवाले पुष्य कवि माने जाते हैं; परन्तु इनका स्वर्गवास कविता-कामिनी के शैशव काल में ही हो चुका था अतएव चंद बरदाई नामक भाट कवि ने इसका पालन-पोषण किया। चंद महाराजा पृथ्वीराज चौहान का अनन्य मित्र एवं कुशल योद्धा था। उसके संसर्ग से कविता कुमारी का कण्ठ तुतलाहट के रूप में निम्न शब्दों में फूटा—

मिले लोह हथ्थं सुवथ्थं हंकारे।
उड़े गगन लग्गं संक सार भारे॥
कटै कंध कामंध संध निनारे।
परे जंगरंग मनो मत्त वारे॥
जबै अप्पियं मार हथ्थं दुधारे।
फटै कुंभ भूमन्त नीसान मारे॥
गहै सुंड दंतीन दन्ता उभारे।
मनो कन्दला कन्द भील उपारे॥

ऐसा प्रतीत होता है मानो चलते हुए युद्ध को देखकर कविता-कुमारी उसका वर्णन करने में अपनी वाणी को रोक नहीं सकी। अपने बचपन में—वीरगाथा-काल में—उसने लोकगाथाएँ भी गाईं—

झुके सिपाही दोनों दल के, रहिगो पाँच पेंग मैदान।
साँगें चलन लगी दोऊँ दल, ऊपर बरछन की दई मार॥
छुटैं पिचक्का तहँ लोहू के औ बहि चली रक्त की धार।
मुर्चन मुर्चन नचैं बेंदुला ऊदनि कहै पुकारि पुकारि।
भाग न जइयो कोई समुहे तें, यारो रखियो धर्म हमार॥

यह वह समय था जब भारतवर्ष में धार्मिक झगड़े बढ़ रहे थे। मुसलमान बादशाहों का यहाँ आधिपत्य हो चुका था। धर्म, संस्कृति, भाषा और वेष में एक दूसरे में—हिन्दू और मुसलमान—वैमनस्य होना अनिवार्य था। कबीर और नानक तत्कालीन

परिस्थिति से बेचैन थे। उन्होंने दोनों जातियों में संगठन की भावना जागृत करने के हेतु कविता-कुमारी को, जो अपना शैशव-काल समाप्त कर बालिका के रूप में विचरण करने योग्य हो चुकी थी, ठीक उसी तरह अपनाया जिस तरह कई याचक अपनी छोटी-छोटी बच्चियों को साथ लेकर भिक्षार्थ निकलते हैं। उक्त दोनों कवियों ने एकता और संगठन की याचना कविता-कुमारी द्वारा कई प्रकार से करवाई—

संतो ! राह दोऊ हम दीठा।
हिन्दू तुरुक हया नहिं मानै स्वाद सबन को मीठा ॥
हिन्दू बरत एकादसि साधै दूध सिंघाड़ा सेती।
अन को त्यागै मन नहिं हटकै पारन करै सगोती ॥
रोजा तुरुक नमाज़ गुजारै बिसमिल बाँग पुकारै।
उनकी भिश्त कहाँ ते होइ है साँझे मुरगी मारै ॥
हिन्दू दया मेहर को तुरुकन दोनों घट सों त्यागी।
वै हलाल वै झटका मारैं आगि दुनों घर लागी ॥
हिन्दू तुरुक की एक राह है सद्गुरु इहै बताई।
कहहि कबीर सुनो हो संतो ! राम कहेउ खोदाई ॥

यही नहीं, उन्होंने एक परमात्मा के चिन्तन की सम्मति दी और लोगों का ध्यान निराकार ईश्वर की ओर आकर्षित किया—

रेख रूप जेहि है नहीं अधर धरो नहिं देह।
गगन-मंडल के मध्य में रहता पुरुष विदेह ॥
जा के मुँह माथा नहीं और न रूप-कुरूप।
पुहुप बास तें पातरा ऐसा तत्त्व अनूप ॥

नानक के शब्दों में कविता-कुमारी ने सीधे हृदय पर चोट करनेवाली बातें कहीं—

जागो रे जिगा जागना, अब जागनि की बारि।
फेरि कि जागो नानका, जब सोवों पाँव पसारि ॥

इसके साथ-साथ कबीर के हाथों कविता-किशोरी ने 'रहस्यवाद' की 'चूनरी' पहनी और वह अपने 'प्रियतम' से मिलने के लिए तत्पर हो उठी—

कौन रँगरेजवा रँगै मोर चुँदरी।
पाँच तत्त्व की बनी चुँदरिया चुँदरी पहिरिके लगै बड़ी सुँदरी।
टेकुआ तागा करम कै धागा गरे बिच हरवा हाथ बिच मुँदरी ॥
सोरहों सिंगार बतीसों अभरन पिय-पिय रटत पिया सँग घुमरी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो बिन सत-संग कवन विधि सुधरी ॥

उसके इस साहस की मखौल भी उड़ाई गई। परन्तु उसने लोगों की इन बातों पर कोई ध्यान न दे अपने 'प्रियतम' की सगुण-रूप में उपासना करना प्रारम्भ कर दिया। अपने 'प्रियतम' की रूप-माधुरी पर मुग्ध हो, लोक-लज्जा का त्याग कर वह 'गिरधर गोपाल' के सम्मुख खूब नाची और गाई—

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई ।। टेक ।।
जाके सिर मोर मुकुट मोरो पति सोई ।
जगत, मात, भाई, बन्धु अपना नहिं कोई ।
साधुन में बैठि-बैठि लोक-लाज खोई ।
अब तो बात फैल गई जाने सब कोई ।
दासी 'मीरा' शरण आई होनी हो तो होई ।

भक्ति की इस धारा में अनेक कवि वह गये। मोहन की मोहिनी मूर्ति पर कई मुसलमान कवि तक लट्टू हो गये। राधावल्लभ, वल्लभ, गौड़िया, टट्टी और निम्बार्क सम्प्रदायों द्वारा कृष्णभक्ति की जो रचनाएँ इस काल में हुईं उनसे हिन्दी का भंडार भर गया। अकेले 'सूर' ने ही "सवा लक्ष' पद लिखकर हिन्दी में 'सूर्य' का दर्जा प्राप्त कर लिया। परन्तु सामाजिक दृष्टि से उस काल की दशा बहुत ही खराब थी। उक्त सम्प्रदायों के सिवा शैव, शाक्त, वैष्णव परस्पर लड़ाई-झगड़ों में फँसे हुए थे। मुस्लिम-संस्कृति धीरे-धीरे अपना आधिपत्य जमा रही थी। कविता-कामिनी से समाज की यह दशा न देखी गई। उसने गोस्वामी तुलसीदास के निकट जा अपनी करुण व्यथा कही। और जैसे एकबारगी किसी ने सोते हुए को जगा दिया हो; महात्मा तुलसीदास ने हिन्दू-समाज की बिखरी दशा एवं उसकी पतनावस्था का अनुभव कर 'रामचरितमानस' द्वारा समाज को एक आदर्श दिया। फल-स्वरूप राष्ट्र में चेतना का प्रादुर्भाव हुआ और जन-साधारण को सच्चा मार्ग-प्रदर्शन मिला।

समय परिवर्तनशील है। कृष्णभक्त कवियों ने जिस राधाकृष्ण के दिव्य प्रेम के वशीभूत हो रचनाएँ की थीं "उसकी ओट लेकर कवियों ने लौकिक शृङ्गार का वर्णन आरम्भ कर दिया। कविता को भक्त-कुटीरों से उठाकर राज-दरबारों में ला खड़ा किया और वहीं रहने के लिए बाधित किया। अगत्या वह बेचारी अपने हृदय के भावों को दबाकर आश्रयदाताओं की रुचि के अनुकूल उनकी दुर्वासनामत्त दृष्टि का रञ्जन करने के लिए अपने आपको नख से शिख तक अलंकारों से सजाने लगी और धीरे-धीरे इस कृत्रिमता में ही रम गई, बाहरी दुनिया को भूल गई; जन-साधारण से उसका सम्बन्ध छूट गया। यह था रीतिकाल।" इस काल में कविता-कामिनी के जो सुपुत्र हुए वे सभी शृङ्गारी थे। केवल भूषण में अपनी माँ की बाल्यकाल की छाप थी, इसी से उसकी वाणी में वीर-रस की झलक पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है—

साजी चतुरङ्ग वीर रंग में तुरङ्ग चढ़ि,
सरजा शिवाजी जंग जीतन चलत है।
भूषन भनत नाद विहद नगारन के,
नदी नद मद गैबरन के रलत है।
एल फैल खैल भैल खलक में गैल-गैल,
गजन की ठैल-पैल सैल उसलत है।
तारा सो तरनि धूरि-धारा में लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलत है।।

शिवाजी का दरबारी कवि होने के कारण भूषण ने शिवाजी की प्रशंसा के ही गीत गाये। अपनी स्वतन्त्र भावनाओं का विकास करने में यह भी पीछे रहा। कविता-कामिनी का दूसरा पुत्र बिहारी था, जो महाराजा जयसिंह का दरबारी कवि था। इस पर शृङ्गार का अधिक रंग चढ़ा। दोहा छंद में इसने भावपूर्ण कविताएँ कीं।

गिर तें ऊँचे रसिक-मन, बूड़े जहाँ हजार।
बहै सदा पशु-नरनि को, प्रेम पयोधि पगार॥
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कटीली डार॥

—बिहारी-सतसई

शृङ्गार का सबसे अधिक प्रभाव मतिराम और देव पर पड़ा। नख-शिख और नायक-नायिकाओं पर कविताएँ गढ़ने में सारी शक्ति लगा दी गई—

सोने कैसी बेली अति सुंदर नबेली बाल,
ठाढ़ी ही अकेली अलबेली द्वार महियाँ।
'मतिराम' अँखियाँ सुधा की वर्षा सी भई,
गई जब दीठि वाके मुखचंद पहियाँ॥
नीक नीरे जाइ करि, बातनि लगाइ करि,
कछू मन पाइ हरि वाकी गही बहियाँ।
मैननि चरचि लई गौननि थकित भई,
नैननि में चाह करे बैननि में नहियाँ॥

और भी—

आई हुती अन्हवावन नाइनि सोंधे लिये वह सूधे सुभायनि।
कंचुकी छोरी उतै उपटैबे को ईंगुर से अँग की सुखदायनि॥
'देव' सरूप की रासी निहारति पाँय ते सीस लौं सीस ते पायनि।
ह्वै रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी सी, हँसै कर ठोड़ी धरे ठकुरायनि॥

शृङ्गार के इन गन्दे नालों को पार करती हुई कविता-कामिनी एक बार फिर 'पद्माकर' जैसे कवियों के शब्द-जाल में फँसकर अपनी दिशा भूल बैठी—

जान्यो जिन है न जग, जोग, जप, जागरन,
जन्महि बितायो जग जोयन को जोइकै।
कहै पद्माकर सुदेवन के सेवन तें,
दूरि रहे पूरि मति बेदरद होइकै॥
कुटिल, कुराली, क्रूर, कलही, कलंकी,
कलिकाल की कथान में रहे जो मति खोइकै।
तेऊ विष्णु अंगन में, बैठि सुर संगन में,
गंग की तरंगन में अंगन को धोइकै॥

इस तरह भटकती हुई 'कविता-कामिनी', प्रायश्चित्त करने के लिए, हिन्दुओं के पवित्र धाम काशी में 'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र के निकट आई। भारतेन्दु बाबू ने उसमें नई चेतना का संचार किया। "नवीन धारा के बीच भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति का था। नीलदेवी, भारत-दुर्दशा आदि नाटकों के भीतर आई हुई कविताओं में देश-दशा की जो मार्मिक व्यंजना है, वह तो है ही; बहुत सी स्वतन्त्र कविताएँ भी उन्होंने लिखीं जिनमें कहीं देश की अतीत गौरव-गाथा का गर्व, कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभ-भरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जगी हुई चिंता इत्यादि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है।"

हाय ! वहै भारत-भुव भारी। सब ही विधि सों भई दुखारी।
हाय पंचनद, हा पानीपत। अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत।
हाय चितौर ! निलज तू भारी। अजहुँ खरो भारतहिं मँझारी।
तुममें जल नहीं जमुना गंगा। बढ़हु बेगि किन प्रबल तरंगा ?
बोरहु किन झट मथुरा कासी ? धोवहु यह कलंक की रासी।

भारत की गुलामी के अभिशाप ने देश को जिस दिशा की ओर मोड़ दिया था उसे भारतेन्दु ने अपनी वाणी से सजग कर दिया। कविता-कामिनी का कलंक धोने के लिए इस स्वर को बल मिला। उसे हिन्दी-संसार में 'खड़ी' करने का प्रयास भी श्रीधर पाठक के 'एकान्तवासी योगी' ने किया। 'हरिऔध' के पूर्ण सहयोग एवं 'महावीर' के 'प्रसाद' से श्री मैथिलीशरण ने अपनी रचनाओं द्वारा 'कविता-कामिनी' की 'खड़ी' हुई' मूर्ति में स्थिरता ला दी। भारतेन्दु बाबू की देशभक्ति की परम्परा, तुलसी की आदर्श समाज की कल्पना एवं हिन्दू जनता की धार्मिक गाथाओं के प्रति सहज सम्मान का सामञ्जस्य राष्ट्रकवि मैथिली बाबू की वाणी द्वारा प्रस्फुटित हुआ :—

मुख से न होकर चित्त से देशानुरागी हो सदा,
हैं सब स्वदेशी बन्धु, उनके दुःख भागी हो सदा।
देकर उन्हें साहाय्य भरसक सब विपत्ति व्यथा हरो,
निज दुःख से ही दूसरों के दुःख का अनुभव करो। —भारत-भारती

गंगातट पर श्रीरामचन्द्रजी सीता और लक्ष्मण के साथ पहुँचते हैं। गुहराज स्वागत के हेतु सपरिवार तैयार हैं। आनन्दविभोर होकर वे कहते हैं—

पाकर यह आनन्द-सम्मिलन-लीनता,
भूल रही है आज मुझे निज हीनता।
मैं अभाव में भाव लेखता हूँ तुम्हें,
निज गृह में गृह नहीं, देखता हूँ तुम्हें।
त्रुटियों पर पद-धूलि डालिये, आइये,
घर न देखकर, मुझे निहार निभाइये।
न हो योग्य आतिथ्य, अटल अनुरक्ति है,
चाहे मुझमें शक्ति न हो, पर भक्ति है।

और श्रीरामचन्द्रजी ने अपने भक्त को—
प्रभु ने तत्क्षण उसे अंक में भर लिया।
—साकेत

इस प्रकार मैथिली बाबू ने हरिजनोद्धार कार्य से प्रभावित होकर 'साकेत' में कइ स्थलों पर बड़ा सुन्दर आदर्श उपस्थित किया है। कैकेयी, मंथरा और उर्मिला के चरित्रों को इतना उज्ज्वल बनाया गया है कि उन पर मढ़ी जानेवाली कलंक-कालिमा बिलकुल धुल जाती है। नारी-जाति के प्रति गुप्तजी की करुणा विशेष रूप से परिलक्षित होती है। 'यशोधरा' में राहुल-जननी के प्रश्नोत्तर पढ़कर कौन ऐसा पाठक होगा जो आँसू न ला दे? नारी-जाति पर केवल निम्न पद्य ही देना पर्याप्त होगा—

अबला-जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥ —यशोधरा

राष्ट्रीय आन्दोलनों ने भारतीय जनता के हृदयों को परिवर्तित करने में विशेष योग दिया। न केवल मैथिलीशरणजी अपितु अनेक कवियों ने कविता को अपने पथ की अनुगामिनी बना लिया।

पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी की भावात्मक रचनाओं में राष्ट्रीयता का पुट है।

आह! गा उठे हेमाचल पर तेरी हुई पुकार;
बनने दे तेरी कराह को साँसों की हुंकार।
और जवानी को चढ़ने दे बलि के मीठे द्वार;
सागर के धुलते चरणों से उठे प्रश्न इस बार।
अंतस्तल के अतल-वितल को क्यों न वेध जाते हो?
अरे वेदना-गीत, गगन को क्यों न छेद जाते हो?

'पुष्प की अभिलाषा' चतुर्वेदीजी की प्रसिद्ध रचना है—

चाह नहीं है सुरबाला के गहनों में गूथा जाऊँ;
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि, डाला जाऊँ;
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना बनमाली! उस पथ में देना तुम फेंक;
जिस पथ जावें मातृभूमि पर शीश चढ़ाने वीर अनेक।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तो क्रान्ति का आह्वान करते हुए कहते हैं—

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आये,
एक हिलोर उधर से आये।

प्राणों के लाले पड़ जायें,
त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये।
नाश और सत्यानाशों का,
धुआँधार जग में छा जायें।
बरसे आग, जलद जल जायें,
भस्मसात भूधर हो जाये।

उधर 'सनेही' जी अहिंसा का उपदेश देते हुए कह रहे हैं—

सहकर सिर पर भार मौन ही रहना होगा,
आये दिन की कड़ी मुसीबत सहना होगा।
रंग महल-सी जेल आहनी गहना होगा,
किन्तु न मुख से कभी हन्त हा! कहना होगा।
डरना होगा ईश से और दुखी की हाय से,
लड़ना होगा ठोंककर खम अनीति अन्याय से ॥

इन कवियों के सिवाय सियारामशरण, मुकुटधर पाण्डेय, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद', सुभद्राकुमारी चौहान आदि कवि-कवियित्रियों ने समय समय पर अनेक राष्ट्रीय कविताएँ कीं। इस समय एक प्रयत्न और प्रारम्भ हुआ। बाबू जयशंकर प्रसाद ने सर्वप्रथम कविता-कामिनी को 'छायावाद' की चादर उढ़ाने का प्रयास किया। "किन्तु वह समय छायावादी कविताओं के लिए उपयुक्त न था। राष्ट्रीयता की लहर ने देश में व्यापकता प्राप्त कर ली थी। और कवि लोग भारत को जागृत करने की ओर अधिक झुके हुए थे। कुछ दिन में वह आँधी समाप्त हुई। 'प्रसाद' जी वेग से काव्य-क्षेत्र में आये और उनकी रचनाओं की लोकप्रियता बढ़ चली।"

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर-पनघट में डुबा रही,
तारा-घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो, यह लतिका भी भर लाई,
मधु-मुकुल-नवल-रस गागरी।
अधरों में राग मरंद प्रिये,
अलकों में मलयज बंद किये,
तू अब तक सोई है आली,
आँखों में भरे विहाग री.

काव्य के इस सौंदर्य पर मुग्ध हो 'छायावाद' की चादर का पल्ला पकड़ने में निराला, पंत, महादेवी, रामकुमार वर्मा प्रभृति कवि आगे बढ़े। 'निराला' की 'जूही की कली' साहित्य में बेजोड़ चीज है—

विजन-वन-वल्लरी पर,
सोती थी सुहाग-भरी, स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल कोमल तनु तरुणी जुही की कली
दृग बंद किये शिथिल-पत्रांक में।

शब्दों की सुकुमारता, भावों का सौंदर्य और कल्पना की ऊँची उड़ान पंतजी की कविताओं में मिलती है और इसी लिए कुछ लोग उन्हें 'छायावाद' का प्रमुख प्रतिनिधि कवि मानते हैं—

वन की सूनी डाली पर सीखा कलि ने मुसकाना;
मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना।
गा सके खगों-सा मेरा कवि,
विश्री जग की संध्या की छवि,
गा सके खगों-सा मेरा कवि,
फिर हो प्रभात—फिर आवे रवि।

महादेवी वर्मा की कविताओं में वेदना का प्राचुर्य्य है—

आलोक यहाँ लुटता है,
बुझ जाते हैं तारागण।
अविराम जला करता है,
पर मेरा दीपक-सा मन।

जिन दिनों 'कविता-कामिनी' को छायावादी चादर उढ़ाई जा रही थी उन्हीं दिनों उमर खय्याम का 'मधु' से भरा हुआ प्याला फारस से इंगलैंड होता हुआ सीधे हिन्दी-साहित्य-निकेतन, प्रयाग में 'पद्मकांत' जी के करकमलों में आकर ठहर गया। 'पद्मकांत' जी ने 'कविता-कामिनी' का आह्वान किया और उसकी कड़वी घूँट जबरदस्ती कामिनी के गले उतारी गई। आगे चलकर 'प्रेमपत्र' लिखकर उन्होंने प्रायश्चित्त कर लिया। परन्तु उसी स्थान के दूसरे कवि 'बच्चन' ने सारे हिन्दी-संसार को 'मधु' का पान कराने के विचार से 'मधुशाला' खोल दी। नये नये 'प्याले' भरे जाने लगे, क्योंकि यह तो भावों की अंगूरी 'हाला' थी—

भावुकता अंगूर लता से,
खींच कल्पना की हाला।
कवि बनकर है साकी आया,
भरकर कविता का प्याला।
कभी न कण भर खाली होगा,
लाख पिये दो लाख पिये।
पाठकगण हैं पीनेवाले,
पुस्तक मेरी मधुशाला

—मधुशाला

इस प्रवृत्ति का प्रचार अधिक दिनों तक नहीं हो सका। स्वयं इसके प्रवर्तक ने समय की गति के साथ अपने को बदल डाला। उसे पश्चात्ताप हुआ "मैं जीवन में कुछ कर न सका" और जब उसने अपनी नई दुनिया बसाई तब उसका कवि संसार के साथ-साथ चलने को विवश हो उठा—

'नीड़ का निर्माण फिर फिर'

आज समय की रफ़्तार के तकाजे ने कवियों को मजबूर किया है कि वे केवल कल्पना-जगत् में ही न भ्रमण करें प्रत्युत संसार की गति के साथ अपनी 'प्रगति' जारी रखें। आज इस 'प्रगतिवाद' के आन्दोलन ने अनेक कवियों को भारत के खेत, खलिहानों, दीन-हीन कृषकों, मजदूरों तथा मिल-मालिकों के विलासी-जीवन की झाँकियों को कविता-द्वारा चित्रित करने को विवश कर दिया है। 'पंत' का कवि भी 'छाया' को छोड़कर 'साम्य' के गीत गाने लगा—

श्रेणि-वर्ग में मानव नहीं विभाजित
धन-बल से हो जहाँ न जन श्रम-शोषण
पूरित भव जीवन के निखिल प्रयोजन ॥

कहीं भगवतीचरण वर्मा को हम 'भैंसागाड़ी' पर कविता लिखते हुए देखते हैं—

चरमर-चरमर-चूँ चरर मरर,
जा रही चली भैंसा गाड़ी।

× × × ×

पर इस प्रदेश में जहाँ नहीं,
उच्छ्वास, भावनाएँ, चाहें;
वे भूखे, अधखाये किसान,
भर रहे जहाँ सूनी आहें।
नंगे बच्चे, चिथड़े पहने,
माताएँ जर्जर डोल रहीं,
है जहाँ विवशता नृत्य कर रही,
धूल उड़ाती हैं राहें।

'दिनकर' भी भारत की गरीबी को न भूल सका। महलों के ऐश्वर्य पर उसकी कलम ने ठीक ही चित्र उतारे हैं—

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं॥
युवती के लज्जा वसन बेच, जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल-फुलेलों पर, पानी-सा द्रव्य बहाते हैं॥
पापी महलों का अहंकार,
देता मुझको तब आमंत्रण॥

दासता की बेबसी ने काव्य-जगत् पर अपनी गहरी छाप डाली है। छुटकारा पाने के लिए जिन सम्भव प्रयत्नों की आवश्यकता होती है वे सब काव्य द्वारा प्रचारित किये जाने लगे। मार्क्स के सिद्धान्त कविता द्वारा कहे जाने लगे और कुछ लोगों ने कम्युनिज्म की चकाचौंध में हिमकिरीट, भागीरथी, इन्द्रप्रस्थ, चित्तौड़, पाटलिपुत्र, आदि भारतीय गौरवों की ओर दृष्टि न डाल बोल्गा, मास्को, लेनिनग्राड और यूक्रेन की प्रशंसाओं के गीत गाना प्रारम्भ कर दिया। प्रगतिवाद की यह प्रगति हमारे विचार से भारत के लिए एक बेसुरा राग है। प्रगतिवाद ने संघर्ष को प्रोत्साहित कर वर्गों में एक महान् अन्तर ला दिया है। बाबू गुलाबराय एम० ए० के इस कथन से हम पूर्ण सहमत हैं—"उसने वर्ग-चेतना को बढ़ाकर दोनों के बीच की खाई को और भी चौड़ा कर दिया है। संघर्ष को ही उसने एकमात्र साधन माना है। शान्तिपूर्ण और अहिंसात्मक साधनों पर उसने विचार नहीं किया है और वह मार्क्सवाद का एक धार्मिक कट्टरता के साथ पक्ष-समर्थन करता है। मतस्वातन्त्र्य की वह गुंजाइश नहीं छोड़ता है। जो उसका साथ नहीं देते उनको वह प्रतिक्रियावादी वा प्रतिगामी कहता है। इस सम्बन्ध में अब कुछ उदारता आती जाती है। यथार्थवाद और सेठियों से स्वतन्त्र होने के नाम पर वह अश्लीलता को आश्रय देता है और पूंजीवाद को गाली देने में कला और कविता के गौरव का ध्यान नहीं रखता।"

आज 'कविता-कामिनी' के सौंदर्य बढ़ाने में अनेक कवि प्रयत्नशील हैं। जीवन का सच्चा प्रतिनिधित्व करने में सभी कवि इच्छुक हैं। सिनेमा-जगत् में भी अब कवियों ने भारतीय राष्ट्र के सजीव चित्रण की ओर ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया है। तभी तो गोपालसिंह 'नैपाली' का कवि 'बच्चों का खेल' फिल्म में अपने आन्तरिक को प्रकट करने से न चूका—

तुम कल्पना करो, नवीन कल्पना करो,
अब घिस गईं समाज की तमाम नीतियाँ।
अब घिस गईं मनुष्य की अतीत रीतियाँ,
हैं दे रहीं चुनौतियाँ तुम्हें कुरीतियाँ।
निज राष्ट्र के शरीर के सिंगार के लिए,
तुम कल्पना करो नवीन कल्पना करो।
जँजीर टूटती न कभी अश्रु-धार से,
दुख-दर्द दूर भागते नहीं दुलार से।
हटती न दासता, पुकार से गुहार से,
इस गंग-तीर बैठ आज राष्ट्र-शक्ति की,
तुम कामना करो, किशोर! कामना करो।

× × × ×

हिन्दी-कविता का जन्म संक्रान्तिकाल में हुआ, युद्ध के बीच उसकी वाणी फूटी, अनेक स्थानों में रमती हुई आज वह पुनः संक्रान्तिकाल में से गुजर रही है। वर्ग युद्धों के बीच उसकी वाणी ने राष्ट्रप्रेम को नहीं भुलाया। दासता के बंधन से मुक्त होने के लिए वह छटपटा रही है। हमें विश्वास है कि कोई भी 'वाद' या बन्धन उसकी स्वतन्त्र प्रगति में बाधक सिद्ध नहीं हो सकता।

THREEFOLD STRATEGY FOR EDUCATION

By Prof. S. P. Kanal, B.A., Hons. (London)
Dev Samaj Training College for Women, Ferozepur (Punjab)

This second world-war has compensated us by speedily and timely checking us from the wrong path that we were going in solution of our problems. After the first great war the world was hood-winked by the politicians into believing that their 'League of Nations' would prove the solvent of International problems and war would be a relic of the dead history. But the League of Nations burst like a gas balloon with the first pin-prick of reality. Under the international crisis it collapsed with the suddenness and completeness of the famous Maginot Line. Today the politicians are again meeting in conferences to save peace for the distressed world. But the discerning humanity is as disillusioned by politicians to secure peace for it, as it is disillusioned by the religious priests to secure heaven for it. It has tried religious leadership only to be lost to itself and the world. It has tried political leadership only to reap the harvest of speedy and recurrent wars. Today inspite of the alluring phraseology of the politicians it cannot believe that *atom-bombs* are going to *save* us. It can never entertain the idea that *engines of destructions and deaths* can be *defenders of human lives and liberties.* If we cannot cure physical diseased at the point of pistol, how can we hope to cure psychological maladies at the point of atomic bomb ? At Security Organisation Conferences the Politicians are fighting to secure for their respective countries strategic points on the world map, which means they are building up strategy of war and not strategy of peace. Armed peace is a mad peace which must burst forth into death delirium of the re-current wars.

The strategy of peace is education, for problem of International relation is merely macrocosmic form of the problem of human relationships. It is for education to untie the knotty knots of human relationships. Hence education is a new faith of a growing section of humanity as a solvent for human problems. It is for the education-alist to strengthen and augment this new faith by working at a decisive strategy for education.

In devising a strategy for education we must ceaselessly *repeat*, like *sacred mantras*, the truth that education is not literacy, it is not vocational proficiency, it is evolution adjusted to mate, society and reality. It is to build up *mental attitudes* that make for love and understanding between individuals for the realisation of the best in us. I say that we must repeat, like ancient rishies, that education is *perexcellence* emotional development, because this truth is yet an *intellectual* acquisition, it has not become a *revelation*. It has not become a truth of our total personality. There is intellectual understanding of it but no emotional appreciation of it. We are apt to forget it as often and at crucial point as a school boy who has only understood his lesson in the class. We can read this tragic forgetting in 'The Seargent Scheme' which is the work of formidable galaxy of top lights in the field of education. If we go through the report we find that education is identified with schooling. It deals with basic education (primary and middle school), nursery schools, Teachers training, Adult Education etc. But none of the chapters deal with home education and Parents' Training. In dealing with Adult Education the report states—" It is therefore contemplated that Adult Education Centres will not merely provide for the teaching of mere academic subjects, but will also have vocational classes for those who may not, at least, to begin with, be attracted by the cultural side of adult instruction and may wish to learn some craft"* It was natural that *home education* of the child should constitute *no chapter* in the *complete* Educational Reconstruction and the adult education should revolve round the Axis of literacy and vocational training because the truth that education aims at psychical development is yet a weak memory trace that leaves us in the lurch at the right moment. If education is to sublimate human nature so that individuals can walk through the labyrinth of human relationships under the guidance of love and understanding, then education does not begin with basic school or even with nursery schools but on the day of the birth of the child or even more accurately the day of embryonic formation. Human emotions are dynamic in character, hence they are simultaneous with the start of life. *We feel before we think.* The period of infancy which covers

* Post War Educational Development page 39.

the first five years of a child and which in view of our economic resources are years to be exclusively spent at home, are by common consent regarded as the crucial years in the life of the child. Yet the education of these crucial years is scattered to the winds. The child's first teachers—the parents—who are to lay the foundation of child's education are to be left untrained. We are leaving the first storey of child's education to uninitiated and untrained hands of parents and are engaging trained teacher for building up upper storeys in child's education. Will we ever stop this topsy-turvy in education? The pre-war policy of education was to encourage secondry schools and colleges and to ignore primary schools and thus to build up a topsy-turvy system of education. Today, we are repeating the same mistakes inspite of the bitter past experience. The Sargent report aims '*a plan for planting the men and women*' and yet it ignores to prepare and cultivate the soil and wish to make them grow in the air. The constant soil of children is home or parents. Is it wise educational husbandry to leave the parents uninitiated and untrained? If we are realy to keep to the insight

(1) that emotional normality and sanity can alone light up the burden of this un-intelligent world of misery and war.

(2) and to this end the years of infancy play the trump card, then training for parenthood will constitute a front line strategy for education. To neglect this is to lose the battle of education for human deliverence from the pestilence of ill-adjusted human relationships-social, communal, national or international. Untrained parent-hood will prove invincible fifth column to all educational efforts.

Educational strategy does not admit of sprawling completeness because whereas for war money flows like water, for education the springs of funds dry up. The Sargent Scheme reads like a literary romance rather than a time-table of practical programme. It suffers from the tragedy of wild ambitions, it attempts all and thus the world accomplishes nothing. *Strategy* implies *effective concentration and not dispersed completeness.* The scheme out-lines not only programme of basic education but overhauling of secondry and University education, technical education etc. It would have been much better if the junior basic education had been so shaped as to

link up with the present middle and secondry education. Middle and Secondry Schools and Colleges are growing rapidly under private charity and revalry. This can make junior basic education a practical strategy, though of a humble dignity. The Chief problem today is to establish ideal junior basic schools so that they may fire the imagination of people and help its spread country-wide. Let us build solid though we build little.

Even more important than these too strategic points is the opening of research institute in child study. In modern times wars are not won by Generals but by Scientists. The scientific laboratories constitute the ideal strategy for winning war. But in devising strategy of education this criminal omission has been made. The Sargent Scheme woefully leaves out provision for research institute. In economic planning such omission may not be damaging because there is wealth of technical knowledge to rely upon. But in the educational field such neglect is death dealing for our ignorance of psychological energy is colossal. Our 'new methods' are window dressing. Shern of their finery they boil down to the following four principles—(1) Respect for child's personality (2) Love for the child (3) Freedom for the child (4) Scientific material for the activities of the child. It is hardly realised that the first three principles are good principles of the *methods of explanation* of the child mind. They are not principles of how to sublimate child's nature into ideal channels. They are principles *abstracted* from the method of physical sciences. The physical sciences started on the career of progress when they set down the essentials of their methods to be (1) to respect facts (ii) to let facts speak for themselves and (iii) to love facts. But the principles of the methods for exploring facts and understanding facts are two different facts. Inspite of the application of the principles, it has taken Science three centuries to reach its present understanding of physical facts. There are yet puzzles and problems in physical science which baffle and defy understanding. The educationalists must not confuse the above mentioned three principles of investigating human psychology with understanding of the constituent principles of human nature. The 'new methods' are methods of investigation and not education. A sea of ignor-

ance stretches between their methods and their achievements. As for the educationists having discovered the material best suited for each age of the human child, I cannot do better but quote what Professor Dewy has to say about it. "We cannot admit too fully or too freely the limit of our knowledge and the depths of our ignorance in these matters. No one has a complete hold scientifically upon the chief Psychological facts of any one year of the child's life. It would be sheer presumption to claims that just the material best suited to promote the growth has as yet been discovered.

In the psychological field and hence of education we are yet living in the age of unrepeatable miracles. The nature of psychological energy yet eludes us. What we parade today as knowledge of child mind is just ignorance gone vain. In fact we educationalists are three centuries behind economic planner. If we are really serious to match our achievements in educational sphere with other spheres of life we must have research institutes in child mind, on the level of chemical and agriculture institutes Indian genius is essentially at home in matter of spirit and who knows we may have the signal and unscalable honour of discovering the secret of psychological energy which will pale into insignificance the Americans' pride in the secrets of atomic energy. Can Educational planners build up this crucial strategy for the success of education ?

If our educational planning is not an eye-wash it must follow the threefold strategy of:—

1. Trained parenthood.
2. Basic education linked to the present schools & colleges.
3. Research institute in the child study.

As a humble soldier in the cause of education I make these above suggestions as humble offerings on the auspicious occasion of the silver jubilee of Siriman His Highness the Maharawal Sir Lakshmansinghji Sahib Bahadur K.C.S.I. May these Silver Jubilee celebrations open a golden chapter in Education !

INDIAN DRAMA—A BIRD'S EYE VIEW

By Dr. V. Raghavan, M.A., Ph.D.

The origins of Drama in India are lost in the myths, rituals and dialogues of the Veda. Tradition also points to the Vedas as the source of all the departments of Drama, Speech as having been taken from the recitation of the Rgveda, songs from the singing of the Sāmaveda, action from Yajurveda which concerns itself with the performance of sacrifices and the sentiments from the Atharvaveda. By the time of the grammarian Panini, 4th century B.C., the art of the theatre was so developed as to have been codified by two authors Silalin and Krisasva into handbooks for actors called Nata Sutras. From the Mauryan times, 3rd century B.C., we have a continuous view of our Drama of which the most glorious manifestation is Kalidasa, acclaimed supreme by both indigenous appreciation and modern evaluation It is significant that almost the first glimpse that the West had of Indian Literature was through the Sakuntala of Kalidasa which evoked a sonnet of praise from Goethe as the synthesis of flower and fruit, and of earth and heaven, and whose prologue Goethe imitated in his Faust.

Before Kalidasa, there were Bhasa, Saumilla, and Kaviputra, mentioned by Kalidasa as dramatists of great reputation. Of Bhasa alone among these we have at least one authentic drama called Svapnavasavadatta on the story of the king Udayana, simple in style but full of emotionally well arranged situations. Still earlier there was Subandhu, poet and minister of the Maurya kings, Chandragupta and Bindusara, who wrote a dramatic series, of acts within acts, called Vasavadatta Natyadhara, on the stories of Udayana and Bindusara. Many more must have preceded the perfection seen not only in the dramas of Kalidasa, but also in the theoretical treatise, the Natya Sastra of Bharata which Kalidasa knew. The three dramas of Kalidasa are Vikrama and Urvasi which has a beautiful scene in Act IV in which mad Pururavas is in search of his beloved Urvasi on the Himalayan regions, an Act which Von Humboldt held as unparalleled for depicting the influence of Nature on lover's hearts and of which, appropriately enough an operatic version has fortunately come down to us;

Malavika and Agnimitra, a very well-knit story-play of dance, political events and court amour, a play which has served as the prototype of all later love dramas; and Sakuntala recognised throguh the signet ring in which Kalidasa has shown not only his poetry and powers of depicting the moods of love, but has given for all time to come to the Sanskrit poets the ideal of presenting the love of first-sight getting purified in the fire of separation and sublimated in the Joy of the off-spring, the union of the earth and heaven of Goethe.

If the Sakuntala is the supreme example of the heroic type, the supreme example of the social type is the Clay Cart, Mricchakatika of King Sudraka, in which the royal dramatist holds the mirror, in the fullest sense of the phrase, to the world, a drama which would appeal most to modern taste and which is the most stage-worthy of Sanskrit dramas. Another remarkable drama is the out and out political play of prince Visakhadatta, called the Mudrarakshasa, presenting the extra-ordinary capacity of Chanakya, minister of King Chandragupta Maurya and a story of intrigues and strategems difficult to understand but neatly worked out. The same author produced another out of the way political drama, unfortunately lost, on the love and political history of Chandragupta II Vikramaditya in which Chandragupta puts on the guise of his brother's queen, stabs the enemy, and then killing his own brother, takes both his wife and kingdom. Bhavabhuti in the 8th century took up the social thread in his Malatimadhava which has a wonderful scene located in a burning ghat and depicting on a background of the glare and smell of burning corpses and the yell of jackals and goblins, a sequence of love in depair, pathos, terror, and heroism ; in the heroic strain, Bhavabhuti achieved distinction in his Exile of Sita in the Uttararamacharita, even tradition holding him sometimes to have excelled Kalidasa in the presentation of pathos, Karuna, in this play.

Next in importance to the heroic Nataka and the social Prakarana is the one or two act comedy, Prahasana. There is provision for the comic even in the Nataka and the Prakarana, in which the jester or Vidhusaka is a constant companion of the hero, and the best and largest presentation of the comic is to be found in the Mricchakatika. Of the Prahasana devoted exclusively to the comic, two outstanding examples are the Mattavilasa of King Mahendra

Vikrama Pallava of Kancipura and the Bhagavadajjuka, probably of the same king, in the latter of which the yogic feat of entering into another's body is used to create the comedy of a courtezan behaving and speaking like a yogin and *vice versa*. Allied to the Prahasana is the erotic monologue, Bhana, which also gave scope to the comic; excellent examples of this class are four Bhanas by Vararuci, Isvaradatta, Syamilaka and Sudraka.

These did not exhaust the varieties of the old Indian stage; we had the Natika, derived by a mixture of the features of the heroic and social types, as also six other varieties, Vithi and Ihamrga, of the social class, and Anka, Vyayoga, Samarakara and Dima of the heroic class. Besides, a host of operatic varieties called uparupakas arose, in which the theme was in songs, actors danced and the. meaning was interpreted by gestures.

Bharata's Natya Sastra, more full than Aristotle's Poetics, is an important work of Indian Culture. From it we learn everything about the composition, production and enjoyment of ancient Indian Drama, besides a wealth of details about ancient Indian Culture. Legends of drama, theatre-architecture, literary composition and poetics, emotions, structure of drama, types of drama, dress, stage-equipment, production, and music, everything is dealt with here. Though there are tragic situations, there is no tragedy on the Indian stage as such, a fact which is against some western scholars who are anxious to see Hellenic influences on Indian drama. A product of Indian which does not believe in death as the end of everything and holds that Right and Virtue triumph eventually, Indian drama has always a happy end. The plot is one taken from well-known epics or one created newly or one that is a mixture of the two. The story is developed in well-defined acts, each act containing a self-contained action within the duration of a day. There are no scene divisions within one Act. The movement of the plot is in five junctures or Sandhis, Opening, Progression, Development, Pause and Conclusion, these junctures being worked out by the interaction of five stages of action, Avasthas, called Beginning, Effort, Hope, Certainty, and Success, with five elements of the story called the Seed, Continuity or Link, Major Episode, minor Episode, and Denoument.

The end must be full of incidents and surprises. Occasionally an act within an act occurs. There are clear stage directions for all actions from entry to exit. Speeches are in Dialogue, Asides, soliloquies, Sayings within oneself and Imaginary dialogues. All dramas have a prologue mentioning the author and the work, a feature which Goethe was tempted to adopt in his Faust. Dramatic character types are also analysed, both in the case of men and women, and drama is defined as the representation of character in action. Though the unity of time or place is not observed, unity of action or Emotional Impression is well observed by developing one Rasa, Sṛngara or Vira, Love or Heroism. Rasas are nine, Love, Heroism, Laughter, Pathos, Wonder, Terror, Fear, Loathsomeness, and Quietude. These are developed through their accessory moods, Despair, Fatigue, Doubt, Jealousy, and the like, and physical manifestations of emotions, human substrata and exciting conditions of Nature and surroundings. When presented on stage, these conditions of emotion touch corresponding emotional instincts in the hearts of the spectators, and between the actor and the onlooker there is one circuit of Rasa.

Bharata's stage is one of high refinement; of the story, only incidents that are full of emotional appeal and are pleasant and dignified are shown actually; and impossible scenes like war, untoward incidents like death, and common acts like eating are avoided; of incidents like Fire, Battle and the like, the dramatist preferred to show their effect on human minds and emotions rather than the incidents themselves; of love, the phase of longing, both before and after meeting of lovers, was preferred for portrayal.

Similar refinement was seen also in the art of production. There were well-built theatres both in the palaces and cities. Bharata describes three types of theatre, Rectangular, Square and Triangular, with provision for green-room, orchestra, stage, side-space and auditorium. Seating and acoustics were well attended to Not interested in spectacles and broad effects, Bharata whose technique involved minute gesticulation, and demanded close watching, did not approve of very big or long halls. The production was partly realistic and partly based on conventions of Idealism and symbolism. Characters appeared in natural dress and natural speech, Sanskrit

or one of the vernacular dialects. But they had no extraneous accessories. Parts of the stage were conventionally understood as Mountain, Garden and so on, and when one rode a horse or chariot, he did so only by pose and gesture. Even paste-board edifices and screen-scenes are not anything but substitutes and having no need for a compromise, Bharata dispensed with these aids and boldly elaborated his technique of imaginative production based on Natya and Abhinaya, a technique which modern critiques like the Russian author Nicholas Evreinoff praises highly and which travelled all over Greater India, and is followed in the Chinese and in the Japanese No Drama.

The dramas were produced with dance and songs appropriately composed and added by producers. Entry, Exit, and changes of situation and emotion were all suggested by symbolic songs called Dhruvas, predecessors of the later vernacular Darus, sung from within. It is this style of musical drama which greatly appealed to the masses to whom travelling troupes of men and women actors showed their performances during fairs and festivals. In the old Indian drama women were engaged in large numbers. With the decay of the classic Sanskrit stage, provincial vernacular stages as moulded by the Sanskrit plays arose. The Ramalila and Rasalila of the North, the Yatra of Bengal, the Yakshagana. Bhagavata Nataka, Koottu and Kathakali of the South developed from the medieval musical dance drama, with themes in songs, rendered in both dance and gesture. The temples, as Chola Inscriptions show, were the chief venue of this play, and till recently, scarcely a village-side could be seen where huge audiences did not sit through whole nights witnessing the plays, a phenomenon which the Russian critic Nicholas Evreinoff cites as an illustration of the supremacy of drama.

This indigenous theatre slowly died, though in some places it is still in various stages of attenuation, with the rise of the modern realistic stage under the influence of the English drama which the Indians began witnessing at the capital cities, Calcutta, Bombay and Madras. Certain Parsi enthusiasts built up huge mechanical stage equipments, after going to the West to study stage production, and these exerted great influence both in Bombay and Madras. The Universities, the study of Shakespeare and the College Societies

ushered the modern Indian Amateur stage. In this part of the country, (South India), there were from very old times several types of dramatic dances, and later many operatic performances called Natakam, Taksaganam and Kuravanchi prevailed. The first social drama arose with the Dambachari Vilasam of Kasi Visvantha Mudaliyar ; modern drama troupes had their pioneer in Govindaswami Rao of Tanjore ; and Bellary Krishnamacharyulu founded our modern Amateur Theatre. A lot of translation and adaptation from English and Sanskrit flourished on this amateur stage, and it did produce a high lovel of naturalistic acting in several parts of the country. However, renaissance and fresh study of old art-forms brought a reaction against this stage also, but before many of us could get out of this stage into a new national theatre based on the indigenous imaginative technique such as was developed by Tagore, the Cinema came to sweep off the drama.

Bharata described drama both as supreme recreation and best vehicle of education and moral elevation. For centuries the Drama in India has been a Peoples' University. While modern life has killed the prolific theatre, it has not substituted it by anything of its own. In Soviet Russia where the educative value of drama is fully used, some tens of thousands of theatres are active. Were a Ministry of Art to come into effective being in India, the play is the thing which will be first resurrected, so that each village will have its stage for the presentation and enjoyment of an art which is rooted in the very nature of man.

प्राचीन कवि और चिड़ियाँ

कुँवर सुरेशसिंह

हमारे देश में पक्षि-शास्त्र का अध्ययन कभी वैज्ञानिक ढंग से नहीं हुआ, क्योंकि इस प्रकार के वैज्ञानिक अध्ययन का समय हमारे यहाँ नहीं आया था। पर दिन भर आकाश में तैरनेवाली इन रंगीन चिड़ियों की ओर हमारे साहित्यकारों का ध्यान अवश्य गया और उन्हीं के द्वारा हमें विविध पक्षियों का वर्णन मिलता है।

सोलहवीं शताब्दी को हम हिन्दी का स्वर्णकाल कह सकते है, जब सूर और तुलसी के भक्ति काव्य से सारे देश का वातावरण ओत-प्रोत हो गया था और जब मीरा की प्रेम-गंगा मरुभूमि तक ही सीमित न रहकर सारे देश को प्लावित करने लगी थी। पर उसके बाद पराजित देश जिस विलासिता और शृंगार की गाढ़ निद्रा मे सोया तथा उसे शृंगार-रस की लोरी गाकर और सुलाने के लिए हमारे शृंगारी कविगण अपना एक काल ही बना गये। इन दोनों ही अवस्थाओं में और गद्य के अभाव मे किसी भी प्रकार के वैज्ञानिक अध्ययन और साहित्य-निर्माण की सम्भावना नही की जा सकती, पर इस काल के कविगण प्रकृति की इन सुन्दर कृतियो को अपनी कृतियो में स्थान न दे, यह भी सम्भव न था। नख-शिख-वर्णन में, प्रकृति-वर्णन में और विरह-वर्णन में उन्होने हमारे कुछ पक्षियों को अमर कर दिया है। यही नहीं, चन्द्र-चकोर का प्रेम, चातक और स्वाति का नेह, हंस का नीर-क्षीर-विवेचन और चकवा-चकई के रात्रि में विलग हो जाने की कथा इतनी बार इन कवियो ने दुहराई है कि साधारण लोगो को इन कल्पित कथाओं पर विश्वास-सा होने लगता है। हंसो के मोती चुगने और चकोर के आग खाने को बहुत से लोग अब भी सही मानते है। पर इनमें सुन्दरता होते हुए भी तनिक भी वास्तविकता नहीं है।

'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम!' मलूकदास का पक्षियो का यह विश्लेषण सबसे सुन्दर है। शुक-सारिका जैसे पिंजड़े के लिए ही पैदा किये गये हो। कुछ कवियो ने इनके बंदी-जीवन पर दुःख जरूर प्रकट किया है, पर दिन-रात घर के प्राणियो की तरह साथ रहनेवाले इन पक्षियो का ज्यादा वर्णन नही मिलता। पिंजड़े में बन्द रहने के कारण इनसे दूत का काम भी नहीं लिया जा सकता। हाँ, ये बैठे-बैठे किस्से जरूर कह सकते हैं।

व्रजभाषा के कवियो ने अपने काव्यो में पक्षियो का काफी वर्णन किया है, पर वे सब अधिकतर उपमा और उपमेय के ही रूप में—दूत और सखी के ही रूप में। कुछ काल्पनिक कथाएँ जरूर इन पक्षियों के बारे में गढ़ी गई है, पर वे उन्ही पुरानी कल्पनाओं के आधार पर। यह तो मानना ही पड़ेगा कि इनमें से कुछ उपमाएँ और कुछ कल्पनाएँ इतनी सुन्दर बन पड़ी है कि इन कवियो की सूक्ष्म दृष्टि की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता।

हंस के मोती चुगने की कल्पना के अलावा नेत्रों के लिए खंजन की उपमा जिस कवि ने पहले-पहल सोची होगी, उसकी जितनी तारीफ की जाय, थोड़ी है। जिसने चंचल नेत्रों की तरह इन चपल चितकबरी चिड़ियों को मैदान में घूमते देखा है, वही इसका रस ले सकता है।

'खंजन नैन रूप-रस-माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते।
चल चल जात निकट स्रवनन के, उलट-पलट ताटंक फँदाते।
'सूरदास' अंजन बिनु अँटके, न तरु अबहिं उड़ि जाते।

सूर ने नेत्रहीन होकर भी नेत्रों का यह जो सुंदर चित्र खींचा है, उसे अनेक नेत्रों-वाले भी नहीं देख पाते।

तुलसी और जायसी द्वारा वर्णित पक्षियों का विशद वर्णन तो एक स्वतंत्र लेख का विषय है। यहाँ व्रजभाषा के अन्य कवियों के साथ उनके कुछ उदाहरण देकर इतना कह देना पर्याप्त होगा कि तुलसी का जितना व्यापक अध्ययन संस्कृत-साहित्य का था, उससे कम ज्ञान उन्हें अपने देश-काल का नहीं था। वे हमारे समाज और संस्कृति के प्रतिनिधि कवि थे। अतः उन्होंने जिस विषय पर भी अपनी कलम उठाई है, उसे पूर्ण करके ही छोड़ा है। जिन पक्षियों के बारे में उन्होंने लिखा है, उसमें स्वाभाविकता की, जहाँ तक हो सका है, रक्षा ही की गई है। पर जायसी का सूक्ष्म निरीक्षण इस विषय में सबसे आगे बढ़ जाता है। जान पड़ता है, उन्हें चिड़ियों के बारे में साहित्य की काल्पनिक कथाओं से ज्यादा उनका वास्तविक वर्णन अधिक प्रिय था।

देहात में रहने के कारण उन्होंने चिड़ियों के साहित्यिक नामों से अधिक उनके लोक-प्रचलित नामों को ही महत्त्व दिया है। हंस की जगह 'सोन' का प्रयोग इसका साक्षी है—

'बोलहिं सोन, ढेक, बक, लेदी।
रहीं अबोल मीन जल-भेदी।'

जायसी ने जिन सोन, ढेक, बक और लेदी चार पक्षियों का उल्लेख किया है, वे आज भी देहात में काफी तादाद में देखे जाते हैं। सोन (सवन) या काज आज भी जाड़ों में हमारी झीलों और नदियों में भर जाते हैं। यही हमारे यहाँ के हंस या कलहंस हैं (क्योंकि असली हंस तो काश्मीर के इधर आते ही नहीं)। इन्हीं को देखकर हमारे कविगण हंस के नाम पर संतोष कर लेते हैं। पर जायसी ने बिना किसी संकोच के इस बात को मान लिया है और सोन का ही वर्णन किया है। काल्पनिक हंस से तो वास्तविक सवन ही अच्छे। ढेक का दूसरा नाम 'आंजन' भी है, जो देहात में बहुत प्रचलित है। यह एक प्रकार का सिलेटी रंग का बड़ा बगुला है। बक या बगुले को तो सभी जानते हैं। लेदी एक छोटी बतख है, जो देहातों में काफी परिचित है। पर हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि 'पद्मावत' के टीकाकारों ने जायसी द्वारा वर्णित पक्षियों का बड़ा उल्टा-सीधा अर्थ किया है।

अब हम अपने प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित खास-खास पक्षियों को लेते हैं। कौआ हमारा चिर-परिचित पक्षी है। शायद ही कोई दिन ऐसा जाता हो, जब इसके दर्शन न होते हों। तुलसीदासजी ने तो सारी रामायण काग-भुसुंडजी के मुँह से कहलाकर इस को अमर कर दिया है। पर इसका रंग कवियों को प्रिय नहीं, बोली और स्वभाव भी अच्छा नहीं; अत: इसका अधिकांश वर्णन कवियों ने बोली के मामले में पिक और रंग के मामले में हंस या बगुले की तुलना में ही किया है।

तुलसीदासजी जहाँ कहते हैं :—

मज्जन फल देखिय ततकाला,
होहिं काग पिक, बकहु मराला।

वहीं बिहारीलालजी भी हंस को आगाह करके कहते हैं :—

अरे हंस या नगर में जैयो आप विचार,
कागन सों जिन प्रीति करि कोयल दई बिड़ार।

वृन्द कवि भी कौवे को नहीं छोड़ते, अपनी राय प्रकट कर ही देते हैं :—

जो जाके गुन जानही सो तिहिं आदर देत।
कोकिल अंबहि लेत है, काग निबौरी हेत।

कौवे को निबौरी पसंद है या नहीं, यह तो वृन्दजी ही जाने; पर तुलसीदासजी के 'होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा' में जरूर सत्यता है।

कबीरदासजी ने कौवे का बहुत स्वाभाविक वर्णन किया है :—

पाँचों नौबत बाजती होत छतीसो राग।
सो मन्दिर खाली पड़ा बैठन लागे काग।

खाली मकान पर कौवे का बैठना बहुत ही स्वाभाविक है। कबीर के 'जैसे काग जहाज को सूझै और न ठौर' और सूर के 'जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पर आवै' में भी स्वाभाविकता है। क्योंकि कूल-किनारा न समझने के कारण जहाज का पक्षी थककर जहाज पर ही लौट आता है। पर यह कौवे के ही लिए कबीरदास ने क्यों सीमित रक्खा, इसका पता नहीं।

इस युग के 'भारतेन्दुजी' तथा 'रत्नाकर' जी ने कौवे के बारे में बहुत ही सुंदर और स्वाभाविक वर्णन किया है :—

कहूँ स्वान इक अस्थिखंड लै चाटि चिचोरत।
कहुँ कारौ महिकाक ठोर सों ठोंकि टटोरत॥
कहुँ शृगाल कोउ मृतक अंग पर ताक लगावत।
कहुँ कोउ शव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत॥

'भारतेन्दुजी' का भी एक पद इसी प्रकार श्मशान के वर्णन का है, जिसमें कई पक्षी आ जाते हैं :—

'रुरुआ चहुँ दिसि ररत डरत सुनि के नर-नारी।
फटफटाइ दोउ पंख उलूकहु रटत पुकारी॥
अंधकार बस गिरत काग अरु चील करत रव।
गिद्ध, गरुड़, हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव॥
रोअत सियार गरजत नदी, स्वान भूँकि डरावहीं।
सँग दादुर झींगुर रुदनि धुनि मिलि स्वर तुमुल मचावहीं॥

भयानक होने पर भी वर्णन बहुत ही स्वाभाविक हुआ है। रुरुआ (एक प्रकार का उल्लू), उलूक, काक, चील और हड़गिल्ला (बड़ा चमरघेच) सभी श्मशान के आस-पास रहनेवाली चिड़ियाँ हैं।

'रत्नाकर' जी के 'गंगाष्टक' में भी एक सुन्दर पद कौवे पर है। उसे भी जरा सुन लीजिए। इस पद मे उन्होंने कौवे की वकालत में कविता का चमत्कार दिखाया है:—

लौटि लौटि लेत सुख कलित कछारनि कौ,
सुर - तरु डारन कौ गौरव गहै नहीं।
कहै 'रत्नाकर' त्यौं काँकर औ साँक चुभि
चारु मुकताफल पै नेक उमहै नहीं॥
हेम हंस होन की न राखत हिये मे हौस
नन्दन के कोकिल कौ कलित कहै नहीं।
गंगजल तोषि दोषि सकृति सुधासन कौ,
काक पाकसासन कौ आसन चहै नहीं॥

कौवे की तरह हंस भी कई बातो के लिए याद किया जाता है। सुंदर चाल के लिए हंस की याद आनी ठीक है, पर मोती के चुगने की बात सुन्दर होने पर भी निरी कल्पना ही रहेगी। इतने सुन्दर पक्षी के भोजन के लिए कवियो के पास मोती से कम और क्या हो सकता है, भले ही वह झीलों में घास-फूस और दाने आदि से ही अपना पेट भरता हो। इसके अलावा इसके दूध और पानी को अलग करने की कल्पना भी कम सुंदर नहीं, भले ही उसमें सचाई कुछ भी न हो।

मानसरोवर में रहनेवाला यह सुन्दर पक्षी हमारे साहित्य मे पक्षियो का राजा माना जाता है। तभी तो इसे रहने के लिए इतना सुन्दर स्थान दिया गया है। रहीम कवि कहते है :—

सरवर के खग एक से बाढ़त प्रीति न धीम।
पै मराल को मानसर एकै ठौर रहीम॥

और तुलसीदासजी कहते है—'जहँ तहँ काक उलूक बक, मानस सकृत मराल।' तुलसी या रहीम ने ही इसका निवासस्थान मानसरोवर नहीं निर्धारित किया है, बल्कि नरहरि आदि अन्य कई कवियों ने भी इसकी पुष्टि की है। नरहरि ने कहा है—'सर-सर हंस न होत बाजि गजराज न दर-दर।' नरहरि और गंग कवि तो इसे मानसरोवर का इतना स्थायी पक्षी समझते है कि रहीम खानखाना के क्रोध कर अपने घोड़े के तंग कसने, भ्रमर के

घबराकर कमल वन नहीं जाने, साँप के डर के मारे उगली हुई मणि नहीं निगलने पर ही हंस मानसरोवर छोड़ सकता है।

हंस के रहने आदि के स्थान का निर्णय होने के बाद कविगण उसको सौंपे गये दूध-पानी के विभक्त करने के बारे में अपनी अपनी राय देते हैं। तुलसीदासजी उसकी तुलना सन्तों से करते हुए लिखते हैं—'संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकारा'। नरहरिजी बड़े जोर से प्रश्न करते हैं—

'हंसन को सिक्खवत करनि पय पानि भिन्न गति ?'

वृन्दजी को इसी की फिक्र पड़ी है कि कौन यह मुश्किल काम हंस के बिना करेगा ?

'राजहंस बिन को करै छीर-नीर को दोय ?'

पता नहीं, हंस को अपनी इस जिम्मेदारी का कुछ ख्याल भी है या नहीं; पर रहीम ने उसके इस काल्पनिक गुण का सहारा लेकर एक बहुत सुंदर बरवै लिखा है :—

पिय मन अस मन मिलयउँ जस पय पानि।
हंसिन भई सवतिआ लै बिलगानि ॥

प्रिय के साथ दूध-पानी की तरह मन मिला देने में जितना सौन्दर्य है, उससे कहीं अधिक सौन्दर्य हंसिन-रूपी सौत का उसे अलग कर देने की कल्पना में है।

हंस के बाद चकोर, कोयल, पपीहा और चकई-चकवे से हमारा काव्योद्यान भरा पड़ा है। चकोर चन्द्रमा का अनन्य प्रेमी है। उसी की ओर रात भर देखता रहता है। उसी के धोखे में आग तक खाकर पचा डालता है। हमारे कवियों ने उसे यह काल्पनिक मान देकर उसके प्रेम को बहुत सराहा है। स्वयं चकोर शायद सपने में भी आग का यह खेल न जानता होगा; पर कवियों को इससे क्या ? उन्हें तो अपनी कविता के आगे ये बातें गौण ही लगती हैं। कबीर का कहना है :—

लागी लगन छुटै नहीं, जीभ चोंच जरि जाय।
मीठा कहा अँगार में जाहि चकोर चबाय ॥
प्रेम तो ऐसा कीजिए, जैसे चंद-चकोर।
घींच टूटि मुँह माँ परे, चितवै वाही ओर ॥

रैदास ही फिर इस दौड़ में क्यों किसी से पीछे रहें ? उनकी दीन प्रार्थना भी सुन लीजिए—

प्रभुजी तुम घन बन हम मोरा,
जैसे चितवत चंद-चकोरा।

पर रहीम अनुभव की बात बताते हैं —

जिहि रहीम चित आपनो कीन्हो चतुर चकोर;
निशि बासर लाग्यो रहै कृष्ण-चन्द्र की ओर।

इसी कल्पना से प्रेरित होकर कालिदास त्रिवेदी भी कुँअर कन्हैया से प्रार्थना करते हैं—

कुँअर कन्हैया मुखचंद की जुन्हैया,
चारु लोचन चकोरन की प्यासन निवार दे।
मेरे कर मेहँदी लगी है नंदलाल प्यारे,
लट उलझी है नक बेसर उतार दे।

पर पूरबी कवि चकोर के इस प्रेम से डरकर बताते हैं कि यदि उनकी प्रेमिका के दाँतों की दम्पा की-सी द्युति न होती, तो किस प्रकार उसके चन्द्रमुख के कारण उसे चकोर परेशान करते—

लीलि जाते बरही बिलोकि बेनी बनिता की
जौ न होती गूँथनि कुसुम सर कम्पा की।
चोंथते चकोर चहुँ ओर जानि चंदमुखी
जौ न होती डरनि दसन दुति दम्पा की।

अब हम कोयल और पपीहे की ओर आते हैं। ये दोनों पक्षी जैसे विरहियों का दिल दुखाने के लिए ही बनाये गये हों। कोयल हमारे यहाँ की बड़ी प्रसिद्ध चिड़िया है। इसका नर तो काले रंग का होता है, पर मादा भूरी चितेदार होती है। इसके अपने अंडे कौवे के घोंसले में सेने के लिए धोखे से रख देने की बात सत्य है। पपीहा भी ऐसी ही धोखेबाजी करता है, पर वह कौवे-सरीखे चालाक पक्षी के घोंसले के बजाय चरखी के घोंसले में अपने अंडे रख आता है।

कोयल की 'कुहू'-कुहू' या 'टुऊ, टुऊ, टुऊ' और पपीहे का 'पी' कहाँ, पी कहाँ, पी कहाँ का क्रमशः चढ़ता हुआ स्वर सभी ने सुना होगा। इससे अधिक मीठे बोलनेवाले पक्षी हमारे यहाँ और दूसरे नहीं हैं। पर इनकी बोली के अलावा जिस और काल्पनिक गुण से पपीहा या चातक को हमारे कवियों ने भूषित किया है, वह है उसका स्वाति-नक्षत्र के जल के लिए आतुर होना। कल्पना इस तरह की गई है कि चातक स्वाति के जल के सिवा दूसरा जल पीता ही नहीं—भले ही उसके प्राण निकल जायँ। इसी कल्पना को ध्यान में रखकर कबीर ने कहा है—

चातक सुतहिं सिखावही आन नीर मति लेव।
मम कुल यही स्वभाव है स्वाति-बूँद चित देव॥

'दीन' जी भी चातक को दुखी देखकर घनश्याम को धमकाते हैं—

दीन कवि चातक की बिनै अनसुनी करि,
एहो घनश्याम फिर सुनिहौ खरी खरी।

पर मीराबाई पपीहे की 'पी कहाँ, पी कहाँ' से चिढ़कर कहती हैं—'रहु-रहु पापी पपिहा रे पिव को नाम न लेय।' और यही शिकायत 'द्विजदेव' जी भी करते हैं। 'पातकी पपीहा तू, पिया की धुनि गावै ना' कहकर वे उसे 'पी कहाँ' कहने से रोकते हैं। पर सूरदासजी के बिरही पर पपीहे की बोली का दूसरा ही असर हुआ—

कछु ध्वनि सुनि स्रवनन चातक की प्रान पलटि तनु आये ।
'सूर' सो अब के टेर पपीहै बिरही प्रान जिवाये ।

अब कोयल की 'कुहू-कुहू' से विरहियों की बढ़ती हुई परेशानी को देखिए। रहीम व्याकुल होकर किस आजिजी से कहते है —

भोरहि बोले कोइलिया बढ़वत ताप।
घटि-घटि एक घरियवा रहु चुपचाप ॥

पर शायद कोयल चुप नहीं होती, तभी 'पद्माकर' कहते हैं—

काली कुरूप कसाइन पै सु कुहू कुहू
कोयलिया बोलन लागी।

और उधर 'आलम' को घनश्याम के न आने से यह सन्देह होने लगता है कि कहीं उस देश के कोयल-पपीहों को तो किसी ने नहीं मार डाला —

की धौं मोर शोर तजि गये री अनत भाजि,
की धौं उत दादुर न बोलत हैं ए दई।
की धौं पिक-चातक बधिक काहू मारि डारे,
की धौं बकपाँति उत अन्त गति ह्वै गई।

कोयल-पपीहों को भला कौन मार डालेगा ? पर 'आलम' को कौन समझावे ?

चकई-चकवे से पहले बगुलों के सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ लिखना असंगत न होगा। बक सब गुणों से रहित होने पर भी अपनी दूध-सी सफेदी के कारण वर्षा-काल में कवियों को बहुत याद आते हैं। जल से भरे हुए काले बादलों में इनकी उड़ती हुई पंक्ति जो शोभा देती है, वह किसी भी प्रकृति-प्रेमी कवि की दृष्टि से बच जाय, यह सम्भव नहीं। तभी तो 'आलम' ऊपर के उद्धरण में श्याम के न आने का एक कारण उस देश में बक-पंक्ति का अंत हो जाना समझ बैठे हैं। 'पद्माकर' ने भी वर्षा में बगुलों को नहीं भुलाया—

बद्दलनि बिलोको बगुलानि बाग,
बंगलनि बेलिन बहार बरसा की है।

पर जनता के स्पष्टवक्ता कवि घाघ ने जो बुराई और मनहूसियत गाँव में सुन रखी थी, उसे साफ साफ कह डाला है—

गया पेड़ जहँ बगुला बैठा,
गया गेह जहँ मुड़िया पैठा।
गया राज जहँ राजा लोभी,
गया खेत जहँ जामी गोभी।

बगुलों के बैठने से पेड़ तो नहीं सूख जाता; पर गाँवों के लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि जिस पेड़ पर बगुले बसेरा लेते हैं वह सूख जाता है।

अब चक्रवाक की ओर आइए। चकई-चकवे के अनेक साहित्यिक नाम हैं; पर देहात में चकई-चकवा या सुरखाव ही विशेष प्रचलित हैं। यह नारंगी रंग की

बतख है, जो जाड़ों में यहाँ आती है और गरमी शुरू होते-होते हमारे देश से लौट जाती है। ये रात को अकसर बोला करते हैं, और शायद इसी से किसी कवि ने इनके शब्द में आतुरता अधिक मात्रा में पाकर यह कल्पना कर ली कि इनके नर-मादा रात में अलग-अलग हो जाते हैं और रात को एक नदी के इस पार रहता है, तो दूसरा उस पार। सबेरा होने पर कहीं जाकर इनका पुनर्मिलन होता है। गंग कवि की नायिका की सखी सवेरा होने के सभी चिह्नों की ओर इशारा करके उससे मान-लीला समाप्त करने को बड़े सुन्दर ढंग से कहती है, जिसमें चकई के मिलन का जिक्र भी सबेरा होने की ओर इशारा करता है—

चकई बिछुरि मिली तू न मिली प्रीत सों,
गंग कवि कहै एतो कियो मान ठान री।
अथये नखत शशि अथई न तेरी रिस,
तू न परसन्न परसन्न भयो मान री।
तू न खोल्यो मुख, खिल्यो चन्द औ गुलाब मुख
चली सीरी वायु तू न भली भो बिहान री
राति सब घटि नाहीं करनी ना घटी तेरी,
दीपक मलीन ना मलीन तेरो मान री।

सेनापति ऋतुओं के वर्णन में सिद्धहस्त थे। वे शिशिर-वर्णन के सिलसिले में कोक की मजबूरी पर लिखते हैं—

जौ लौं कोक कोकी को मिलन तौ लौं होति राति,
कोक अधबीच ही ते आवत है फिरि कै।

बेचारा चकवा करे तो क्या करे? दिन छोटे होते ही हैं और सूर्य भी जाड़े के डर के मारे तेजी से भाग खड़े होते हैं तथा अँधेरा होना लाजिमी हो जाता है, फिर कोक आधी राह से लौट न आवे, तो क्या करे? कुशल इतनी ही है कि चकवे को हमारे कवियों के इस काल्पनिक वियोग के हिस्से का हाल नहीं मालूम, नहीं तो वह जाने क्या करता? कबीर की निम्न पंक्तियाँ शायद उसके कान तक पहुँचीं नहीं कि—

साँझ भये दिन बीतवे चकई दीना रोय;
चल चकवा वा देस को जहँ रैन कबहुँ ना होय।

तुलसीदासजी कहते हैं—

संपति चकई भरत चक, मुनि आयसु खेलवार,
तेहि निसि आस्रम पींजरा राखे भा भिनुसार।

पर बिहारी सबसे आगे बढ़ गये मालूम होते हैं। उनका कहना है कि पावस-ऋतु में ऐसा घनघोर अंधकार छा गया है कि अगर चकई-चकवा न होते तो दिन और रात का पता ही न चलता—

पावस घन अँधियार में, रह्यो भेद नहीं आन।
राति दिवस जान्यो परै लखि चकई-चकवान।

अब रह जाते हैं खंजन, शुक, सारिका और मयूर। खंजन, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आँख की उपमा के लिए और शुक नाक की उपमा के लिए याद किये जाते हैं। सूरदास के 'अद्भुत' एक अनुपम बाग'वाले प्रसिद्ध पद—

फल पर पुहुप पुहुप पर पालव
तापर शुक, पिक, मृगमद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर
ता ऊपर एक मनिधर नाग।

में कई पक्षी आ जाते हैं। 'केशव' ने भी कहा है—

तापर एक सुआ सुभ तापर
खेलत बालक खंजन के द्वै।

तोते के बन्दी होने का कइयों को दुःख है। बिहारी भी दुःखी होकर कहते हैं 'भरत प्यास पिंजरा पर्यौ सुआ समय के फेर।' इसी प्रकार दीनदयाल गिरि का दुःख में भी उपदेश है—

पराधीनता दुख महा सुख जग में स्वाधीन।
सुखी रमत शुक बन विषे कनक पींजरा दीन॥

तुलसीदास इस सम्बन्ध में भी अनुभव की ही बात बताते हैं। भले और बुरे मनुष्यों के यहाँ के तोता-मैना की बोलियों से उस घर के प्राणियों के स्वभाव को वे जान लेते हैं। वे कहते हैं :—

साधु असाधु सदन सुक सारी।
सुमिरहिं रामु देहिं गनि गारी।

पर देव के पक्षियों को मदन महीप के बालक वसन्त को सुलाने से ही फुरसत नहीं है; वहाँ—

पवन झुलावै केकी कीर बतरावै देव'
कोकिल हलावै हुलसावै करतारी दै।

शुक की एक और कथा गाँवों में प्रचलित है।

सेमर सेद सुआ पछितानै, मारे टोंट भुआ उधिरानै।

सेमल के फलों के पकने के इन्तजार में तोतों को निराश होना पड़ा। जब उन्होंने उनमें चोंच मारी, तो रस के बजाय रुई निकलकर फैल गई। इसी कथा को लक्ष्य करके गिरधर कविराय शुक की ओर से सेमल के पास यह सन्देश पहुँचाते हैं—

शुक ने कह्यौ सँदेस सेमर के पग लागिहौ,
पग न परै वहि देस, जब सुधि आवै फरन की।

अब हम मोर को लेते हैं। सौन्दर्य में वह अपना सानी नहीं रखता और साथ ही उसका घनश्याम के प्रति प्रेम भी प्रसिद्ध है। तभी तो अम्बिकादत्तजी के कथनानुसार उसे इतनी प्रतिष्ठा मिली है—

मोर सदा पिउ-पिउ करत, नाचत लखि घन श्याम।
यासे ताकी पाँख हूँ, सिर धारी घनश्याम।

इसके अलावा वर्षा-काल में स्थान स्थान पर इसके सुंदर नृत्य से जब जंगल शोभित हो उठता है, तब कविगण इसको भला कैसे भुला सकते हैं? इस सम्बन्ध में कविरत्न सत्यनारायणजी का कितना स्वाभाविक वर्णन नीचे की पंक्तियों में है—

चातक शुक कोयल ललित बोलत मधुरे बोल;
कूकि-कूकि केकी कलित कुंजन करत कलोल।
निरखि घन की छटा।

अब आइए, ज़रा हरिनाथजी के चिड़ियाखाने की भी सैर कर लीजिए, जहाँ उन्होंने तरह तरह की बेमेल चिड़ियों को पाल रक्खा है—

बाजपेयी बाज सम, पाँड़े पच्छिराज सम,
हंस-से त्रिवेदी और सोहै बड़े गाथ के।
कुही सम सुकुल, मयूर से तिवारी भारी,
जुर्रा सम मिसिर, नवैया नहीं साथ के।
नीलकंठ दीक्षित, अवस्थी हैं चकोर चारु,
चक्रवाक दुबे गुरु सुख सुभ साथ के।
एते द्विज माने रंग-रंग के मैं आने,
देस-देस में बखाने चिरीखाने 'हरीनाथ' के।

हरिनाथजी ने पक्षियों का दूसरा पर्यायवाची शब्द 'द्विज' देखकर ही शायद यह चिड़ियाखाना बनाने की बात सोची होगी, नहीं तो बाज, कुही और जुर्रा के साथ न तो हंस और चक्रवाक को ही रखते और न मोर, चकोर और नीलकंठ को ही।

भूषण कवि का भी एक पद इसी प्रकार का है, जो सुन्दर और स्वाभाविक है। उन्होंने बाज के चपेटे से जिन पक्षियों के न बचने का जिक्र किया है, वे सब प्रायः शिकार की चिड़ियाँ ही हैं। देखिए—

सरस से सूबा, करबानक से साहजादे,
मोर से मुगल मीर धीर में धँचै नहीं।
बगुला से बंगस, बलूची औ' बतक जैसे,
काबुलि कुलंग थाते रन मैं रचैं नहीं।
भूषनजू खेलत सितारे में सिकार सिवा,
साहि को सुअन जाते, दुअन सँचैं नहीं।
बाजी सब बाज से चपेटैं चंगु चहूँ ओर,
तीतर तुरूक दिल्ली भीतर बचै नहीं।

सारस, करबानक, मोर, बगुला, बतख, कुलंग, तीतर आदि सब शिकार की चिड़ियाँ हैं। बगुला जरूर शिकार की चिड़ियों में नहीं आता, पर प्रायः लोग इसे भी खाते हैं और बाज के लिए तो परहेज की गुंजाइश भी नहीं रह जाती। भूषण का यह संकलन बहुत ही स्वाभाविक है। जान पड़ता है, भूषण को पक्षियों का अच्छा ज्ञान था। पर शृंगार-रस में ही गर्क रहनेवाले मतिराम ने भी एक स्थान पर कुछ चिड़ियों को जमा जरूर कर दिया है, यद्यपि हरिनाथ की तरह ये सब भी बेसिलसिले और बेमेल हैं। जरा देखिए—

> शुक चकोर चातक चुहिल, कोक मत्त कलहंस।
> जहँ तरवर सरवरनि के लसत ललित अवतंस।

कलहंस और कोक कविता में भले ही पेड़ पर बैठ सकते हों, पर वैसे जलपाद होने के कारण उनके लिए पेड़ पर बैठना सम्भव नहीं।

इन सबसे सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन हमें भारतेन्दुजी के सरोवर का लगता है, जो इस प्रकार है :—

> कूजत कहुँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत।
> कहुँ कारण्डव उड़त, कहूँ जलकुक्कुट धावत॥
> चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत।
> सुक-पिक जल कहुँ पिवत कहूँ भमरावलि गावत॥
> कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर बिबिध पच्छी करत।
> जल-पान न्हान करि सुख-भरे तट सोभा सब जिय धरत॥

काण्डव भले ही हमारे यहाँ न आता हो, पर चक्रवाक और कलहंस तो हमारे तालाबों के परिचित पक्षी हैं। 'जलकुक्कुट धावत' में बहुत स्वाभाविकता है। ये जल-मुर्गियाँ जब ताल के एक स्थान से उड़कर दूसरे स्थान को जाती हैं, तो पानी की सतह से मिली हुई इनकी उड़ान इस तरह की होती है कि जान पड़ता है, ये पानी पर दौड़ रही हैं। बक-ध्यान तो प्रसिद्ध ही है। पारावत (कबूतर), सुक और पिक को हरिश्चन्द्रजी ने पानी पीने या नहाने के बहाने और मोर को किनारे पर नाचने के मिस ऐसे मौके से बुला लिया है कि वर्णन की स्वाभाविकता जरा भी नष्ट नहीं होने पाई है।

बाज और कबूतर का वर्णन और भी कुछ कवियों ने किया है। तुलसीदासजी का 'बाज झपटि जनु लवा लुकाने' तो प्रसिद्ध ही है। कबीर ने भी विषय-वासना के बाज को साथ लेकर आनेवाली तृष्णा से सावधान किया है। 'तिस्ना चली सिकार को बिसै बाज लिये हाथ।'

अब रह जाते हैं कपोत। ये सिधाई के लिए काफी प्रसिद्ध हैं। ये वैसे तो अपने प्रेम के लिए प्रसिद्ध हैं और कभी कभी कंठ की उपमा के लिए भी पकड़ लिये जाते हैं। इनका सबसे सुंदर वर्णन बिहारी ने किया है। उनका प्रसिद्ध 'सपर परेई संग' वाला दोहा स्वाभाविकता से परिपूर्ण है—

पटु पाखैं, भख काकरैं, सपर परेई संग।
सुखी परेवा जगत में, एकै तुही विहंग।।

अंत में रहीम का एक सुन्दर और सरस बरवा देकर, जिसे उन्होंने सारस की जोड़ी को देखकर लिखा है, हम लेख समाप्त करेंगे। सारस जीवन में एक ही बार जोड़ा बाँधता है और एक के मर जाने पर दूसरा अक्सर तड़प-तड़प कर जान दे देता है। रहीम शायद इस अभिन्नता की बात जानते थे, तभी उन्होंने ऐसी कामना की है—

पीतम तुम कचलोहिया हम गजबेलि।
सारस कै अस जोरिया फिरौं अकेलि।।

यह हमारे प्राचीन कवियों के वर्णन का एक साधारण-सा निरीक्षण हुआ, जिसमें हमने कुछ उद्धरण देकर पाठकों का उन पक्षियों से परिचय भर करा दिया है जो हमारे कवियों द्वारा हमारे साहित्य में अमर बना दिये गये हैं। किन्तु अब वह समय आ गया है जब हमारा गद्य एक आकार-प्रकार ग्रहण करके इस योग्य हो गया है कि इसमें हम सभी विषयों पर वैज्ञानिक ढंग से पुस्तकें लिखकर अपने साहित्य का भांडार भरें।

———

भारतीयललनासु सरसकवितानिर्माणकौशलम्

संस्कृतसाहित्यभूषण: मधुरवाणीसम्पादक: बुर्रा श्रीनिवासाचार्य:

बहुरत्ना वसुन्धरा इति सुप्रसिद्धायां धरायां भारतभूमिरेव ललितकलानां विविधविद्यानां सरसकविकवयित्रीणां तपोनिधीनामध्यात्मविद्याविशारदानां परिशुद्धाचारविचारवतां महोदाराणां शूरवराणां वीरप्रवराणां पराक्रमिणां साध्वीशिखामणीनां भूमण्डलमण्डलायमानपाण्डित्यशालिनां च जन्मभूमिरिति सुविदितैव विद्वद्भिरखिलैरपि। न केवलमेवंगुणगणविशिष्टा: श्रेष्ठा: पुरुषा एव किन्तु योषितोऽपि आत्मनोऽनुपमेन कलाकौशल्येन विस्मयावहेन पराक्रमेण परमादर्शरूपेण सतीत्वेन रूपविलासोपहितरतिसौन्दर्येण सौन्दर्येण च तथा अन्यान्यैरपि अपरिमितैर्गुणगणैरत्नायमानैरखिलमेव भूमण्डलं व्यस्मापयन् तथा अवशिष्टै: काव्यकृतिविशेषैर्विस्मापयिष्यन्ति च। एतेषामेतासां च बह्व्य: कृतयो माहम्मदैरनेकैरसूयाकुलैर्मात्सर्यापहृतबुद्धिभिर्विनाशमापादिता इति स्मारं स्मारं सन्तप्यते हृदयम्। संस्तब्धं भवति शरीरम्। अन्धीभवति लोचनयुगलम्। वेपते करतलम्। स्त्रयमङ्गुलिभ्यो गलति लेखनी। रोमाञ्चमञ्चति कलेवरम्। कार्याकार्यविवेकविषये मोहितं भवति चेत:। तथापि तत्र तत्र यत्र कुत्रापि कथंकथंचिदप्यवशेषिता: कृतिविशेषा दृष्टिगोचरीभूता अमन्दानन्दतुन्दिलान् कुर्वन्ति। विषादमग्नमपि मन: समुल्लासयन्ति। उत्तिष्ठत जाग्रतेत्यस्मानुत्तेजयन्ति भारतीया एव जगति जन्मसफलताया आपादयितार इतरेषामित्युत्साहयन्ति। उर्वरिता: कृतिविशेषा एव अखिलजगद्व्याप्तं चिरस्थायि आचन्द्रतारकं प्रकाशयितृ अविस्मरणीयं अत्युज्ज्वलं विभ्राजमानं यशोम्बरत्नमिति प्रहर्षास्पदमेतत्। वयमिदानीं यशोभास्वराणामनुपमकलाकुशलानां सरसकवितानिर्माणनैपुण्यसमानन्दिताखिलहृदयानां विलासिनीनां रमणीमणीनां कांश्चन श्लोकानेव प्रियपाठकहृदयाह्लादनाय समर्पयामोऽस्मिंल्लेखे। तत्र तावत् प्रथममात्मनो गुणगणमणिभिरखिलकर्णताटङ्कायमानस्य कर्णाटकस्य कीर्तिविस्तारकारणानां स्वरचनाचातुरीविस्मापिताखिलचेतसां कवयित्रीकुलशेखरमणीनां रमणीनां गुणगणविशेषशालिनीनां काश्चन कविताकृतीरत्र समुदाहरिष्याम:।

आसीत् किल, पुरा **विजायाङ्का** नाम काचन राजरमणी रमणीयगुणालया भूवलयवल्लभस्य सार्वभौमस्य सुप्रसिद्धयशोनिधे: चालुक्यकुलतिलकायमानस्य वीरपुलकेशि चक्रवर्तिन: स्नुषा युवराजचन्द्रादित्यस्य हृदयवल्लभा महाराज्ञी विजयांका विजयाभट्टारिका विजया **विज्जिका**नामभिरखिलविद्वल्लोकप्रसिद्धा कर्णाटकदेशालंकारभूता कवयित्रीशिखामणी रमणीमणि:। एषा किल योषा सरसकवितानिर्माणनैपुण्येनाद्यापि रसिकजनतामानन्दसागरे निमज्जयति निरंतरमात्मनो रसस्यन्दिभिरनेकै: पद्यविशेषै:।

कविकुलाचार्य: किल **दण्डी** आत्मन: काव्यादर्शे

चतुर्मुखमुखाम्भोज वनहंसवधूर्मम।
मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती॥

इत्यस्मिन् श्लोके सरस्वतीं सर्वशुक्लामाह। एतदनु वाच्य आत्मानमेव वाग्देवतां सरस्वतीं मन्यमाना मानिनीयम्।

नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्ता सर्वशुक्ला सरस्वती॥

इतिश्लोकेन दण्डिनमाक्षिपदिति ज्ञायते। एतेन तस्या विद्याभिमानः कियान् आदरणीय आसीदिति विमृशतां चेतः चमत्कृतं भवति। पद्यमिदं शार्ङ्गधरपद्धतौ समुपलभ्यते।

इमामुद्दिश्य आचार्यो दण्डी अपि

सरस्वतीव **कार्णाटी विजयाङ्का** जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्॥

इत्येतेन श्लोकेन सविशेषमुपवर्णयति। इयं चैकस्मिन् पद्ये

एकोऽभून्नलिनात् ततश्च पुलिनात् वल्मीकतश्चापरः
ते सर्वे कवयो भवंतु मुनयस्तेभ्यो नमस्कुर्महे।
अर्वाञ्चो यदि गद्यपद्यरचनैश्चेतः चमत्कुर्वते
तेषां मूर्ध्नि ददामि वामचरणं **कर्णाटराजप्रिया**॥

एकः प्रथमतो यः कविरभूत्स नलिनात् पद्माद् अयं किल **कमलयोनि**श्चतुराननो यो वाल्मीकिमहर्षये श्रीरामायणप्रणयने प्रचोदितवान्। ततोऽपरः कविः पुलिनाद् यमुनाद्वीपादाविरभूत्। स च महाभारतकृद् अष्टादशपुराणोपपुराणरचयिता भगवान् पुण्डरीकाक्षावतारो **वेदव्यास**नाम्ना सुप्रसिद्धः **कृष्णद्वैपायनः**। ततश्चापरो वल्मीकादुद्भूत आदिकवित्वेन सुप्रसिद्धो रामायणकर्ता तत्रभवान् प्राचेतसो **वाल्मीकिः**। एते प्राचीन मुनयः कवयः संतु नाम तेभ्योऽहं उत वयमिति बहुवचनेन निर्दिशति नमस्कुर्महे इति। अर्वाञ्चो यदि गद्यपद्यरचनै रसिकधौरेयाणां चेतश्चमत्कुर्वते तेषां मूर्ध्नि **कर्णाटराजप्रिया विजयांकाहं** वामचरणं निदधामि इति मदोद्धता निरूपयति उत उद्घोषयति। अस्या एतदेव तात्पर्यं सर्वेषामपि कवीनामपेक्षया रसिकहृदयाह्लादनचणानि पद्यानि गद्यानि वा रचयितुमहमेव सर्वोत्कृष्टा विजयशालिनी इति। ईदृश्या महत्याः कवयित्रीशिखामण्या विरचिता ग्रन्थाः स्वतंत्रतया सर्वथा नोपलभ्यंते लेशमात्रेणापि दुःखाकरोति चास्मद्हृदयम्। सुप्रसिद्धेषु साहित्यशास्त्रग्रन्थेषु अत्युत्तमकाव्यरूपेण समुदाहृतानि कानिचिदेव पद्यानि तत्रतत्र समुपलभ्यन्ते। तावद्भिरेव वयमाह्लादितांतःकरणा अमन्दानन्दतुन्दिला भवन्तः तत्काव्यवाचनोद्भूतसरसामृतास्वादमनुपममनुभवन्तो नितांतमभिन्दामः।

परमिदानीमपि तासु काश्चिदेव कविताः प्रियपाठकमनोविनोदनायात्र समुदाहरामो वयम् स्वदयितकृतसंकेतं यियासुरेका कामिनी स्वगृहरक्षणाय कामपि स्वगृहपरिसरवेश्मनि वर्तमानां स्त्रियं नियोक्तुमभिलषन्ती यन्निरूपितवती तत्र च संभोगसमये जायमानं सहजतया नखक्षतादिगूहमाना युक्तियुक्ततया तदस्मिन् पद्ये सम्भवतया सूचयति।

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलम्
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ॥

मेघैर्व्योम नवाम्बुभिर्वसुमती विद्युल्लताभिर्दिशो
धाराभिर्गगनं वनानि कुटजैः पूरैर्वृता निम्नगाः ।
एकां घातयितुं वियोगविधुरां दीनां वराकीं स्त्रियम्
प्रावृट्काल हताश वर्णय कृतं मिथ्या किमाडम्बरम् ॥

प्रोषितभर्तृका काचित् वर्षाकालमेवमाह ।
दूतीं प्रति स्वावस्थामावेदयतीत्थम्—

गते प्रेमाबन्धे हृदयबहुमानेऽपि गलिते
निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः ।
तथा चैवोत्प्रेक्ष्य प्रियसखि गतांस्तांश्च दिवसान्
न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम् ॥

उन्नमय्य सकचग्रहमास्यं चुम्बति प्रियतमे हठवृत्या ।
हुं ममेति वदनान्तरलीनं जल्पितं जयति मानवतीनाम् ॥

सुरतिकेलिवर्णनमिदम्

सोत्साहा नववारिभारगुरवो मुञ्चन्तु नादं घनाः
वाता वान्तु कदम्बरेणुशबला नृत्यन्त्वमी बर्हिणः ।
मग्नां कान्तवियोगदुःखजलधौ दीनां विलोक्याङ्गनाम्
विद्युत् प्रस्फुरसि त्वमप्यकरुणा स्त्रीत्वेऽपि तुल्ये सति ॥

वर्षाकाले विरहिण्या उक्तिरियम् ।

परमन्यान्यपि बहूनि संति पद्यान्यस्याः । तथापि अन्यासामपि कासांचित्कवयित्री-कुलशेखराणां पद्यानि उदाहर्तव्यानि संतीति विरमामः संप्रति विज्जिकायाः सरस-कवितानिरूपणतः ।

कर्णाटके विजयनगरे साम्राज्यमप्रतिममतिविख्यातमासीत् पुरा । तत्र च सार्वभौमो विरूपाक्षो नाम महाराजः । तस्य स्नुषा कम्पराजमहिषी विदुषी **गङ्गादेवी** स्वपत्युर्विजय-यात्रावर्णनपरं **मधुराविजयं** नाम सुन्दरतमं काव्यमेकमत्युत्तमं निर्मितवती । तदपि काव्यं करालेन कालेन कवलितं नैव लभ्यते कार्त्स्न्येन । परं बहुभ्यो वत्सरेभ्यः प्राक् मद्रदेशीयैर्भद्रमुखैः प्रकाशितमिदमपूर्णं तत्रतत्रापूर्णैरेव पद्यैरपि च विलसितम् । तत्काव्यं कृत्स्नशः प्रकाशयितुमुत्सुका वयं तत्काव्यपुस्तकलब्धये तत्रतत्र प्रयत्यापि विफलप्रत्याशा अभूम । अपूर्णतया प्रकाशितमेकमेव पुस्तकं महता प्रयत्नेनास्मत्करतलमुपागतम् । प्राक् प्रकाशितान्यपि मद्रदेशे तानि पुस्तकानीदानीं नोपलभ्यन्ते । अतो वयं मधुरवाणी-कार्यालयात् दुर्बोधपदार्थप्रकाशकेन टिप्पणेन संयोज्य सुविस्तरेणोपाद्घातेन च सह प्रकाश-

यितुमुद्यता: स्म:। वीरवधूर्गङ्गादेवी स्वयं करकलितकृपाणलता रिपुयवनशिर:कर्तनपरायणा शत्रुशोणितस्रोतोभिर्वसुन्धरां स्नापयन्ती भारतीयशूरललनारत्नमूर्धन्यमणिरपि सुर-सरस्वतीकृपाकटाक्षभाजनीभूता सरसकवितानिर्माणचतुरा स्वपत्युर्विजयवर्णनपरं सरससरसमत्युत्तमं काव्यं निर्माय समुज्ज्वलं पातिव्रत्यमपि प्राकाशयज्जगति। तस्या भास्वरस्वाभिमानोद्योतकमेकमेव पद्यं समुदाहरामोऽत्र वयम।

न तथा कटुघूत्कृताद् व्यथा मे हृदि जीर्णोपवनेषु घूकलोकात्।
परिशीलितपारसीकवाग्भ्यो यवनानां भवने यथा शुकेभ्य:॥

घूककृताद् घूत्कृतादपि शुकमुखादाविर्भूतानि यावनपदानि खेदमत्यधिकमुत्पाद-यंतीति स्वहृदयमाविष्करोति तत्रभवती भारतीयललनामणिरियं गंगादेवी।

कर्णाटके विजयनगरसाम्राज्यं राजधानीभूतं सुविस्तृतं सुविख्यातं विविधविद्या-विद्वर्गोल्लासिततया विद्यानगरमित्येव तदानींतनलोकानेककर्णगोचरीभूतं सुप्रसिद्ध-मासीन्नगरम्। तत्र किल अखिललोकविख्यातकीर्ति: श्रीमान् **कृष्णदेवमहाराजो** नाम सम्राट् स्वयमपि विविधानेककलाविद्यासु चतुरो विद्वदाश्रयश्चासीत्। तस्य च **श्रीमान-च्युतरायो** नाम वीरवरो नरपतिरनुजश्च। अच्युतरायमहिषी **देवी तिरुमलाम्बा** विविधविद्याविलासरसिका रसिकाग्रणी रमणीमणिर्**वरदाम्बिकापरिणयं** नाम चम्पू-ग्रन्थरत्नं निर्ममे। तच्च पञ्चनदीयविश्वविद्यालये संस्कृताचार्यै: संस्कृत-विभागाध्यक्षै: एम्०ए० (पंजाब) डी-फिल (आक्सफोर्ड) आफिसर एकेडिमी (फ्रांस) इत्येतैर्महता श्रमेण तंजावरग्रन्थसंग्रहालयत: सम्पाद्य प्रकाशनपथमवतारितम। ततश्च जयपुरीयसंस्कृत-महाविद्यालये प्रधानाध्यापकपदमधिष्ठितैर्महामहोपाध्याय गिरिधर-शर्मचतुर्वेदै-राराणस्थसंस्कृतमहाविद्यालये प्रधानाध्यापकै: पंचतीर्थहरिदत्तशर्मभिश्च विरचितया टीकया समलंकृत्य लवपुरीयसंस्कृतपुस्तकालयाध्यक्षैर्मोतीलालबनारसीदासै: स्वीये **मुंबई संस्कृत** इत्याख्ये मुद्रणालये मुद्रयित्वा प्रकाशितं च। काशीस्थसाहित्याचार्यपरीक्षा-यामिदं ग्रन्थरत्नं पाठ्यपुस्तकत्वेन निर्णीतमिति च शृणुम:। इयं किल वरदाम्बिकापरिण-याख्यचम्पूग्रन्थकर्त्री कर्णाटकसिंहासनाधीश्वराच्युतनरपतिसार्वभौममहिषी **महाराज्ञी तिरुमलाम्बा** सुललितपदविन्यासकुशला कवयित्रीशिरोमणिरिति तद्ग्रंथावलोकतो विज्ञा-यते एव सर्वैरक्षरज्ञानरसिकै:। तच्च पुस्तकमुपलभ्यते एवेदानीमपि वाराणसीस्थचौखम्बा-संस्कृतपुस्तकालये तथा शांतिलालजैन पंजाबसंस्कृतपुस्तकालय सैदमिट्ठा लाहोर इत्यत्र च। कवयित्र्या: पदलालित्यमुपदर्शयितुं कानिचिदेव वाक्यान्यत्रोदाहरिष्याम:—

"तमालिके समाकलय तमालतरुकोमलदलमालिकाभिर्वन्दनमालिकाम्। माधविके माकन्दधूलिधूसरिता: शोधय शिरीषकेसरपिच्छिकया काञ्चन वेदिका:। कलापिके निरूपय कमलिकाकलितां कल्हारपरागरङ्गवल्लीम्। मञ्जरिके रञ्जय मणिदर्पणानञ्जसा कञ्ज-वनरेणुपुञ्जेन। अधिवासय वासरिके! घनसाररजसा केसरकुसुमरसान्। वल्लकीसंल्लापिनि कल्हारमुकुलनायकविन्यसनेन समुल्लासय मल्लिकाकोरकहारवल्लीम्। लीलावति! निशमय ममालापम। बालाशोकमुकुलमालाया: परिहर भसलजालकोलाहलम। इत्यादि.

तदनु धर्गणपालो धावता चेतसाग्रे
सरभसमिव पृष्टः सद्म गौर्याः प्रविश्य ।
तडित इव घनौघे तत्रतत्र स्फुरन्तीः
परित इव पुरन्ध्रीः पर्यटन्तीरपश्यत् ॥

सम्पूर्णमपि ग्रन्थरत्नमिदमवश्यं सुधीभिरवलोकनीयमित्यावेद्य पुरस्तात् प्रकृतमनुसराम: । एवं भारतीयललनासु **विकटनितम्बा**नाम्नी प्रमुखा कवयित्री । इयं स्वजन्मना कं वा देशमलंचकार कस्य वा तनया कस्य वा प्रियवल्लभा कानि कानि वा ग्रन्थरत्नानि निर्ममे इत्यादिकं लेशतोऽपि नाभ्युपगच्छाम: । परम् अस्या अति सुरससम्भूतानि निरतिशयचारूणि पद्यानि तत्र तत्र ग्रन्थकारैरुदाहृतान्येव समुपलभ्यन्ते । तथाहि अभिसारिकामच्यागवसरे—

क प्रस्थितासि करभोरु घने निशीथे
प्राणाधिपो वसति यत्र मन:प्रियो मे ।
एकाकिनी वद कथं न बिभेपि बाले
नन्वस्ति पुङ्खितशरो मदन: सहाय: ॥

सख्युरग्रे सम्भोगमाह—

कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धनात्
वासश्च श्लथमेखलागुणधृतं किंचिन्नितम्बे स्थितम् ।
एतावत् सखि वेद्मि केवलमहो तस्याङ्गसङ्गे पुन:
कोऽसौ काऽस्मि रतं च किं सखि शपे स्वल्पापि मे न स्मृति: ॥

मधुकरान्योक्ति:

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोलं विनोदय मन: सुमनोलतासु ।
बालामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकाया: ॥

अपसर मधुकर दूरं परिमलबहुलेपि केतकीकुसुमे ।
इह न हि मधुलवलाभो भवति परं धूलिधूसरं वदनम् ॥

शीलाभट्टारिका नाम काचन कवयित्रीकुलमूर्धन्या विभ्राजते । तस्या: कानिचिदमूनि पद्यानि—

य: कौमारहर: स एव हि वर: ता एव चैत्रक्षपा:
ते चोन्मीलितमालतीसुरभय: प्रौढा: कदम्बानिला: ।
सा चैवास्मि यथापि चौर्यसुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेत: समुत्कण्ठते ॥

श्वास: किं त्वरितागता पुलकिता कस्मात् प्रमाद: कृत:
स्रस्ता वेण्यपि पादयोर्निपतनान्नीवी गमादागमात् ।
स्वेदार्द्रं मुखमातपेन गमितं क्षामा किमित्युक्तिभि:
दूति म्लानसरोरुहाकृतिधरस्यौष्ठस्य किं वक्ष्यसि ॥

दूति त्वं तरुणी युवा स चपल: श्यामास्तमोभिर्दिश:
सन्देश: स रहस्य एव विजने सङ्केतका वासक: ।
भूयोभूय इमे वसन्तमरुतश्चेतो नयन्त्यन्यता
गच्छ क्षिप्रसमागमाय निपुणं रक्षन्तु ते देवता: ॥

इमानि किल पद्यानि सुप्रसिद्धान्येव । परमियं शीलाभट्टारिका कुत्रत्या कस्य कामिनी किंदेशीया कदा कानि कानि वा काव्यानि रचितवतीति तु न ज्ञायते ।

रसवतीत्यपराभिधाया: **प्रियंवदाया:** पद्यमिदं श्रीकृष्णवर्णनपरम् —

कालिन्दीपुलिनेषु केलिकलनं कंसादिदैत्यद्विपम्
गोपालीभिरभिष्टुतं व्रजवधूनेत्रोत्पलैरर्चितम् ।
बर्हालङ्कृतमस्तकं सुललितैरङ्गैस्त्रिभङ्गं भजे
गोविन्दं व्रज सुन्दरं भवहरं वंशीधरं श्यामलम् ॥

विज्ञानाम्नी काचन कवयित्री । एतस्या अप्यन्यत्किमपि वृत्तमज्ञातमेव परमस्या इमानि पद्यानि—

मञ्चे रोमाञ्चिताङ्गी रतिमृदिततनु: कर्कटीवाटिकायाम्
कान्तस्याङ्के प्रमोदादुभयभुजपरिष्वक्त कण्ठे निलीना ।
पादेन प्रेङ्खयन्ती मुखरयति मुहु: पामरी फेरवाणां
रात्रावुत्त्रासहेतोर्वृतिशिखरलतालम्बिनीं कम्बुमालाम् ॥

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि
नर्मोक्तिचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्य: शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि ॥

थूथूकृत्य वमद्भिरध्वगजनैरप्राप्तकण्ठं पय:
शुष्यत्तालुगलैर्विरज्य लवणोदन्वानुपालभ्यते ।
केन क्षारजले वृथैव भवतो नामामृतं निर्मितम्
पाथोधिर्जलधि: पयोधिरुदधिर्वारांनिधिर्वारिधि: ॥

गौरीनाम्न्या: पद्यानि इमानि—

अपाङ्गस्तव तन्वङ्गि विचित्रोऽयं भुजङ्गम: ।
दृष्टमात्र: सुमनसाम् अपि मूर्च्छाविधायक: ॥

कटाक्षवर्णनपरमिदं पद्यम् ।

प्रभातवायुं वर्णयति

परिमलबहलां सुपल्लवाङ्गीं कुसुमयुतां परिरभ्य हेमवल्ली।
विरचित-सरसी-सुमज्जनोऽसौ रसिक इवैति शनैः शनैः समीरः ॥

कल्पवृक्षमेवमाह

सन्त्येव नन्दनवने शतशः सुवृक्षाः कालेन पुष्पफलतर्पितनाकिदक्षाः।
तेष्वेक एव सुरराजमनोऽभिलाष तत्कालदानपटुरस्ति सकल्पशाखी ॥

कुटलानाम्न्याः कवयित्र्याः कुलटोक्तिरियम्—

सुखशय्या ताम्बूलं विश्रब्धाश्लेषचुम्बनादीनि।
तुलयन्ति न लक्षांशं त्वरितक्षणचौर्यसुरतस्य ॥

मधुरवाणीनाम्न्याः कवयित्र्याः पद्यमिदं कुलटावर्णनपरम्—

आकारेण शशी गिरा परभृतः पारावतश्चुम्बने
हंसश्च क्रमणे समं दयितया रत्यां विमर्दे गजः।
इत्थं भर्तरि मे समस्तयुवतिश्लाघ्यैर्गुणैः किंचन
न्यूनं नास्ति परं विवाहित इति स्यान्नैकदोषो यदि ॥

मारुलानाम्नी काचन कवयित्री विरहिप्रलापमेवमाह--

कृशा केनासि त्वं प्रकृतिरियमङ्गस्य ननु मे
मलाधूम्रा कस्माद् गुरुजनगृहे पाचकतया।
स्मरस्यस्मान् कश्चिद् नहि नहि नहीत्येवमगमत्
स्मरोत्कम्पं बाला मम हृदि निपत्य प्ररुदिता ॥

मोरिकानाम्न्या रचिता नायकं प्रति नायकोक्तिरियम्—

मा गच्छ प्रमदा-प्रिय प्रियशतैरभ्यर्थितस्त्वं मया
बाला प्रांगणमागतेन भवता प्राप्नोत्यवस्थां पराम्।
किंचास्याः कुचभारनिःसहतरैरङ्गैरनङ्गाकुलैः
त्रुट्यत् कञ्चुकजालकैरनुदिनं निस्सूत्रमस्मद्गृहम् ॥

पद्मावतीविरचितं बाहुवर्णनपरं पद्यमिदमुदाह्रियते

किं शृङ्गारसमुद्रकल्पलतिके किं वा मृणालीलते
किं वक्षोजमहीध्रचन्दनलते किं मारपाशीलते ॥
किं लावण्यसुधाब्धिविद्रुमलते पत्रांगुलीसंयुते
भातः किं कलगुर्जरीसुललिते बाहूलते मन्मते ॥

शीतानाम्न्याश्चन्द्रान्योक्तिरियम्--

मा भैः शशाङ्क मम सीधुनि नास्ति राहुः
खे रोहिणी वसति कातर किं बिभेषि।

प्रायो विदग्धवनितानवसङ्गमेषु
पुंसां मनः प्रचलतीति किमत्र चित्रम ॥

सरस्वतीनाम्नी केतकीभ्रमरावुद्दिश्याह -
पत्राणि कण्टकसहस्र दुरासदानि
वार्ताऽपि नास्ति मधुनो रजसाऽन्धकारः ।
आमोदमात्ररसिकेन मधुव्रतेन
आलोकितानि तव केतकि दूषणानि ॥

असतीरेवमाह जघनचपला नाम्नी कवयित्री—
दुर्दिननिशीथपवने निस्संचारासु नगरवीथीषु ।
पत्यौ विदेशयाते परं सुखं जघनचपलायाः ॥

इन्दुलेखानाम्नी कवयित्री सूर्यास्तमयमेवमवर्णयत्—
एके वारिनिधौ प्रवेशमपरे लोकान्तरालोकनम
केचित् पावकयोगितां निजगदुः क्षीणेह्नि चण्डार्चिषः ।
मिथ्या चैतदसाक्षिकं प्रियसखि प्रत्यक्षतीव्रातपम्
मन्येऽहं पुनरध्वनीनरमणीचेतोऽधिशेते रविः ॥

भावकदेवीनाम्नी कवयित्री नायकं प्रति मानिनीवचनमेवमाह—
तथाऽभूदस्माकं प्रथममविभिन्ना तनुरियम्
ततोऽनु त्वं प्रेयान् अहमपि हताशा प्रियतमा ।
इदानीं नाथस्त्वं वयमपि कलत्रं किमपरम
मयाप्तं प्राणानां कुलिशकठिनानां फलमिदम् ॥

किं पादान्ते पतसि विरम स्वामिनो हि स्वतंत्राः
कञ्चित्कालं क्वचिदसि रतस्तेन कस्तेऽपराधः ।
आगस्कारिण्यहमिह मया जीवितं त्वद्वियोगे
भर्तृप्राणाः स्त्रिय इति ननु त्वं मयैवानुमेयः ॥

अत्र निर्दिष्टाभ्योऽप्यन्या बह्व्यो ललनाः सरसकवितानिर्माणकलाकुशलाः श्रूयन्ते तथा तत्रतत्र स्फुटानि पद्यानि कानिचिद् लभ्यन्ते परमेताः कुत्रत्याः कानि कानि ग्रन्थरत्नानि व्यरचयन् कस्मिन्काले भुवमिमाममण्डयन्नित्यादि किमपि न ज्ञायते एव । तासु च चिन्नम्मा नागम्मा नाम्न्यौ कर्णाटकदेशीये स्यातां इति नामसादृश्यात् ऊहास्पदे अभवताम् । लक्ष्मीठाकुराणी ग्रन्थदीपिका केरली मदालसा मदिरेक्षणा सुभद्रा सरस्वतीचेत्यादयो बह्व्यः कर्णविवरमस्माकमापूरयन्ति । एतासामपि द्वित्राणामेव वा पद्यानामुल्लेखेन लेखोमतिविस्तृतः स्यादिति भिया विरमामो लेखनादस्मादित्यलम ।

———

वैज्ञानिक—एक महान् कलाकार

प्रो० ए० पी० सक्सेना एम० एस-सी०

सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम् का प्रदर्शन कला है और इनका प्रदर्शनकर्ता कलाकार है। कला के इस अर्थ में विज्ञान भी एक कला है और उचित ही। वैज्ञानिक एक महान् कलाकार है। विज्ञान सत्य का पुजारी है। उसकी एकमात्र साधना सत्य के हेतु है और यह साधना इस विश्वास के साथ है कि उसका अन्वेषण जगत् को कल्याणकारी हो इसलिए विज्ञान शिवं भी है। जो सत्य है, वह सुन्दर है। इसलिए सत्यं एवं शिवं का यह समन्वय अवश्यमेव सुन्दर है।

जो वस्तु सत्य के नियमों से जकड़ी है, सुन्दर है। प्रभात की उषा, प्रातःकाल का बाल-रवि, दोपहर का सूर्य, और संध्या का अस्ताचलगामी दिनकर नित्य होकर भी सुन्दरता के द्योतक हैं। नीलाकाश में टिमटिमाते तारे, पूर्णता को प्राप्त होता हुआ चन्द्रमा, अँधेरे को चीरता हुआ प्रकाश नित्य होकर भी सुन्दरता को उद्भासित करता है। सूर्य की प्रदक्षिणा करते हुए ग्रह, ग्रहों की प्रदक्षिणा करते हुए उपग्रह एक नियमित रूप से आते-जाते हैं। इन ग्रहों-उपग्रहों के सिवाय असंख्य तारे हैं [जो स्वयं सूर्य हैं] जिनके अपने ग्रह-उपग्रह हैं। संक्षेप में, यह ब्रह्माण्ड असंख्य तारों, ग्रहों और उपग्रहों का एक बृहत् समुदाय है। इतनी विषम संस्था (Complicated Organisation) होते हुए भी तारे, ग्रह आपस में टकराते नहीं। यह लंदन की स्वयं चालक संस्था का चौराहा है। (Electrically Controlled) जिस पर दुर्घटनाओं की सम्भावना है ही नहीं। यदि हम अपना स्थान सूर्य पर निश्चित कर, इन असंख्य तारों की दौड़-धूप लुका-छिपी का दृश्य देखें, तो उस सुन्दर दृश्य से विमोहित हुए बिना न रह सकेंगे। एक का एक के बाद नियत समय पर जाना, फौजी कवायद से सहस्रगुणा अधिक सुन्दर दृश्य उपस्थित करेगा; फिर भी मजा यह कि आप अरबों-खरबों वर्ष सूर्य पर बैठे रहें तो भी ऐसी दुर्घटना होने की सम्भावना बहुत ही कम है, कि जिसमें कोई इस लुका-छिपी खेल का खिलाड़ी, आपसे आकर टकरा जाय। खिलाड़ियों की संख्या बृहत् है, लेकिन ब्रह्मांड बृहत्तर हैं, जिससे आपकी दिव्य दृष्टि में खिलाड़ियों की संख्या कम ही नजर आयेगी। यह लुका-छिपी का खेल सत्य को प्रकाशित करता हुआ क्या आपको आनंदित और आह्लादित नहीं करता?

बीज से अंकुर, अंकुर से पौधा व पौधे का वृक्ष में रूपान्तरित होना—जिसके एक-एक अवयव से सत्य फूटा पड़ता है—क्या सुन्दर नहीं है? स्वयं हमारा जीवन भी इसी सत्य का एक ज्वलंत दिग्दर्शक है। वृक्ष सीधे क्यों बढ़ते हैं? लताएँ आश्रय क्यों चाहती हैं, वृक्षों और पौधों में रूप की एकता (Symmetry of Form) क्यों हैं, कुसुमों का यह रंगीन आवरण अपना स्वाभाविक गुण क्यों रखता है, तितिलियाँ क्यों रंगीन हैं—इन प्रश्नों के उत्तर में निहित सत्य, सुन्दरता का द्योतक है।

ये कलकल-निनादिनी नदियाँ, संगीतपूर्ण निर्झर, जो अपने अस्तित्व को महासमुद्र में खोने को लीन हैं—क्या सत्य को प्रदर्शित नहीं करते? अपने आपको खोना ही ऊँचा

उठना है जिससे उन्हें पहाड़ों पर चढ़ने की चाह नहीं। यह ज्वार और भाटा समुद्र के अन्तस्तल में क्यों है? काले बादलों के बीच यह रजत फुलझड़ी क्यों चमक-चमक रह जाती है? ऊपर फेंका हुआ पत्थर नीचे ही आता है और उसका वृत्ताकार (Parabolie) पथ जो भी रूढ़ि नियमों से बँधा हुआ है, क्या सुन्दरता का द्योतक नहीं है? तारों से लटकते हुए लट्टू जो अंधकार की दुनिया को प्रकाश-संसार में परिवर्तित कर देते हैं, क्या नियमों से जकड़े हुए नहीं हैं? उपवन में सुशोभित फौवारा, अपनी फुरहरियाँ फैलाता हुआ कितना मनमोहक है। यदि फौवारे का जलकेन्द्र फौवारे से नीचा कर दिया जावे, तो वह अपनी सुन्दरता तुरन्त खो बैठेगा, क्योंकि हमने फौवारे के सत्य को उससे छीन लिया है। अन्धकारपूर्ण प्रकाश, और प्रकाशपूर्ण अन्धकार क्या जीवन में सत्य एवं सुन्दरता को प्रकाशित नहीं करते? लाखों मील दूर बैठे हुए प्रेमी की तसवीर, आपकी आँखों के सामने खिंचती हुई, आपके हृदय को आह्लादित नहीं करती,—उसकी मधुर वाणी क्या आपको शर्बत सी प्रिय नहीं लगती? सत्य का यह परिवर्तित स्वरूप सुन्दर है।

भिन्न-भिन्न स्वभाव के कण, एक अत्यन्त ही अद्भुत व स्वभावहीन वस्तु का सृजन नियमों से बाध्य नहीं है—और क्या वही वस्तु किन्हीं कणों से सृष्ट की जा सकती है? रंगहीन वस्तुएँ एक अत्यन्त नेत्ररंजक वस्तु की सृष्टि करती हैं। ये वेगवान् विद्युत्कण क्या कुरूप लोहे का सुन्दर सोने में परिवर्तित नहीं करते? नियम सत्य है और नियमों से बँधी हुई वस्तु ही तो विज्ञान है।

अस्तु, यदि विज्ञान सत्य और शिवं का आराधक है, तो सुन्दरम् स्वयं उसमें अन्तर्हित है। इन अर्थों में विज्ञान एक कला है, और वैज्ञानिक एक महान् कलाकार है। सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम् की कसौटी पर कला और विज्ञान अपने स्वाभाविक अर्थ को खो बैठते हैं। यह कसौटी वह शाश्वत धर्म है, जिस पर छूत-अछूत की समस्या स्वयं हल हो जाती है। जब विज्ञान और कला अपने अर्थों को खो बैठते हैं, तो विज्ञान कला हो जाता है और कला विज्ञान; वैज्ञानिक कलाकार हो जाता है और कलाकार वैज्ञानिक। कलाकार, वैज्ञानिक शब्द का पर्यायवाची हो जाता है।

गद्य काव्य

श्री लक्ष्मी कुमारी

(१)

वनसुन्दरी शृंगार करने में तल्लीन है। उसने टेसुओं की लाल चूनरी ओढ़ ली। विविध पुष्पों के आभूषण धारण किये।

कोकिला मादक कण्ठ से गाना गाने लगी। मयूर ने नृत्य आरम्भ किया। याचक भौंरे गुनगुना कर वसन्त के गुण गाने लगे और दान में पुष्पपराग पाई।

लताओं ने झूला डाला। युगल पक्षियों ने अपने अपने नीड़ सँवारे।

हरी पत्तियों ने निकलकर अभिनन्दन किया। तितलियों ने रंगीन वर्दी पहनी। जुगुनुओं ने दीपक जलाये।

शुकदेव घोषणा-पत्र सुनाने लगे।

राजाओं के से आचरण करने के कारण ही तो वसन्त को ऋतुराज की उपाधि प्राप्त हुई।

(२)

अय मेरे मन, अब तुम मेरी सम्पत्ति नहीं रहे। मैंने तुम्हें गिरवी रख दिया है। मेरे हाथ से तुम निकल चुके।

मुझे आशा भी नहीं कि गिरवी से तुम्हें छुड़ा सकूँगी, क्योंकि प्रेम ब्याज इतना बढ़ चुका है!

आश्चर्य है, तुम्हें खोकर भी मैं प्रसन्न हूँ और चाहती हूँ तुम उनकी ही स्थायी सम्पत्ति बन जाओ।

(३)

तुम्हारी निर्दोष मुस्कान मेरे जीवन में मधुर रस का संचार कर देती है!

तेरे स्पर्श से मेरी हृत्तन्त्री के तारों में एक मीठी झनकार उत्पन्न हो जाती है।

अय मेरे लाल, मेरे प्रेमोद्यान का तू वह पुष्प है जिसकी मोहक सुगन्धि मुझे मस्त बना देती है।

(४)

लोगों को किसी वस्तु के जीतने पर प्रसन्नता होती है किन्तु मैं तो अपने हृदय को हारकर हर्षित हूँ।

प्रायः मानव-मन दान देने में अपना गौरव समझता है परन्तु आज मैं स्नेह-दान पाकर कृतकृत्य हो गई।

स्वाधीनता की रट संसार ने लगा रक्खी है, किन्तु मुझे तो स्नेह-बंधन की अधीनता में भी संतोष है।

(५)

मुख की उपमा भी कमल है। आँखें भी कमल-पँखुड़ियों के आकार की हैं। श्वास में गन्ध भी कमल की सी आती है। हाथों की तुलना भी कमल से की। अन्त में चरण कमल बन गये। सारा शरीर ही कमल सा कोमल है।

क्या कवियों को कोई और उपमा न मिली जो उन्होंने नायिका को ही कमलिनी बना डाला?

(६)

कदली वृक्ष का सर्वाङ्ग सुन्दर है। कोमल गाल, सुन्दर चिकने पात, लाल-लाल पुष्प, किन्तु प्रसव करती है कायर कपूर को।

वायु से भी थर थर काँपनेवाली माता से वीर कैसे उत्पन्न हो सकता है?

मृगी जिसके से लोचन पाने के लिए सुराङ्गनाएँ भी लालायित रहती हैं, स्वयं सुन्दरी है। उसी के अनुरूप शावक सुन्दर होते हैं, किन्तु पत्ती के खड़कने से ही भाग खड़े होते हैं।

मातृत्व के गौरव को ऊँचा उठाने के लिए केवल सौन्दर्य ही पर्याप्त नहीं।

(७)

मेरी कामना थी, मेरा अँधेरा घर जगमगा उठे।

चमकीली वस्तुएँ सजाईं सैकड़ों दीपक जलाये, लाखों प्रयत्न किये, परन्तु सब व्यर्थ।

शिशु तुम्हारे आगमन से मेरी कामना पूरी हुई।

(८)

पक्षी, अपने पंख मुझे दे दो। इसके मूल्य में जो चाहे ले लो। उधार ही दे दो। मैं यत्नपूर्वक इन्हें सँभाल रक्खूँगी, तुम्हें ज्यों का त्यों सौंप दूँगी।

केवल एक बार दे दो पक्षी।

जब तुम्हें वायु में पंख फैलाये उड़ते देखती हूँ, मानो सागर में नाव जा रही हो, तो मेरे जी में एक लालसा, मीठी-सी पीड़ा उत्पन्न हो जाती है।

काश मुझे पंख मिल जायँ, रात्रि के अंधकार में तारिकाओं के धुँधले प्रकाश का सहारा ले उड़ पड़ूँ और जा पहुँचूँ अपनी जन्म-भूमि में।

जहाँ माता की ममता, पिता का प्रेम और स्वजनों का स्नेह मेरा स्वागत करेगा।

एक बार पंख मुझे दे दो पक्षी।

(९)

कवि ने क्या ही कलापूर्ण कृति की रचना की है। किसी स्थूल पदार्थ का सहारा लिये बिना ही चित्र बना डाला है।

मानस पट को ही कागज बना चित्र अंकित करने लगा। उसने शब्दों की तूलिका को भावों के रंगों में डुबा डुबा इस सुघड़ता से हाथ चलाया कि कल्पना सजीव हो चित्र बन गई।

काव्यमर्मज्ञ मानस-चक्षुओं से इन चित्रों को मुग्ध हो निहारा करते हैं।

(१०)

चित्तौड़ दुर्ग, तू खिन्न क्यों होता है ? दुखी क्यों हो रहा है ? तेरे जो अन्तस्तल में पीड़ा है, उसे हम जानते हैं। तुझे अपनी सन्तान पर क्षोभ हो रहा है।

हमें कायर मत समझ। तेरा उत्थान ही हमारा स्वप्न है।

जौहर की ज्वाला जो तू ने जलाई थी उसकी आग बुझ गई किन्तु कुछ चिनगारियाँ, जो राख में दबी बच रही हैं, अनुकूल वायु चला तो ये ही प्रचण्ड ज्वाला को धधका देंगी।

जो वीर-नाद सदियों तक तेरे आँगन में गूँजता रहा वह वायु में विलीन हो चुका, किन्तु उसकी गूँज हमारे हृदय अब भी अनुभव कर रहे हैं।

तेरे मस्तक को ऊँचा उठानेवाले हमारे ही पूर्वज थे। उन्हीं का विशुद्ध रक्त हमारी नाड़ियों में दौड़ रहा है। उसी वीरगर्भा देश की सन्तान हैं।

हमें कायर मत समझ। तेरा उत्थान ही हमारा ध्येय है।

(११)

जान पड़ता है, मेरे नयनों की प्रशंसा में कुछ कहना चाहते हो। अवश्य कहो। हृदय के इन दिव्य द्वारों की प्रशंसा क्यों न की जाय।

जरा सोचकर किसी वस्तु से इनकी तुलना करना। हाँ, उर्दू कवियों की भाँति कहीं तुम भी इन्हें "छलकता हुआ पैमाना" समझने का धोखा मत खा जाना।

इनमें वह मादकता नहीं है और न मुझे चाहिए भी। मेरी तो यही कामना है कि पीड़ित को देख सहानुभूति में आँसू की दो बूँदें आँखों में छलक आयें, वही मेरे हृदय का प्रतिनिधित्व कर देंगी।

कवि, प्रायः कवियों की भाँति तुम भी इन्हें नयन-बाण घोषित मत कर देना।

मैं तो यह चाहती हूँ कि नेत्रों में वह ज्योति उत्पन्न हो जिसके सम्मुख पाप आँख उठाकर भी न देख सके।

इसी में नारीत्व की महत्ता और सफलता है।

(१२)

मेरा हृदय, अब हृदय न रह, केवल दर्पण-मात्र रह गया है, जिसमें तेरी मूर्ति का ही प्रतिबिम्ब झलकता रहता है।

मैं इसे तुम्हें समर्पित कर चुकी, किन्तु एक प्रार्थना स्वीकार करो। इसे सँभाल कर रखना।

यह इतना सुकुमार है, कहीं तुम्हारी दृष्टि से भी गिरा तो बस गिरते ही टूटा।

(१३)

सामर्थ्यवान की सब प्रकार स्तुति की जाती है। दोषों पर गुणों का आवरण चढ़ा सर्वगुण-सम्पन्न करने की चेष्टा करते रहते हैं।

मध्याह्न में तपते सूर्य की प्रखर किरणें कमल की कोमल काया को क्लान्त कर देती हैं।

वह सुकुमार उस ताप को कैसे सहन कर सकता ? सन्ध्या होते होते इस अत्याचार से घबरा, मलिन मुख हो, अंगों को शिथिल कर पड़ रहता है।

किन्तु कहा जाता है, कमल सूर्य का सच्चा प्रेमी है। रात भर के लिए भी उसका वियोग सहन नहीं कर सकता। विरह के दुःख से मुरझा गया। कमल के हृदय से पूछो, वह सूर्य का प्रेमी है या उससे पीड़ित ?

कमलिनी को मुरझाई देख चन्द्र के चित्त को चोट लगती है। शीतल वायु उसके शिथिल अंगों में नव-जीवन का संचार कर, हिला हिला उसे सचेत करता है।

चन्द्रिका गोदी में ले उसे स्नेह-सन्देश सुनाती है।

उषा मोतियों का थाल भर उसे उपहार देने आती है। रात भर की सेवा और स्नेह कमलिनी को विकसित कर देता है।

प्रसन्न वदन हो मुस्कुराने लगती है, किन्तु इसका श्रेय चन्द्र को नहीं, सूर्य को दिया जाता है।

(१४)

एक नहीं, अनेक लेखकों और लेखिकाओं द्वारा मेवाड़ का इतिहास लिखा गया है; दुर्गम गिरि-मालाओं पर घाटी घाटी जिसका एक एक अध्याय है, वैभव के स्वर्णाक्षरों में नहीं शोणित के लाल अक्षरों में, कलम से नहीं भाले की नोक से।

पन्ना पन्ना देश-प्रेम से ओत-प्रोत, पंक्ति पंक्ति वीर रस में डूबी हुई।

कितने ही भव्य चित्र लगे हैं। इस इतिहास में वह रोमांचकारी चित्र कुमारी कृष्णा का, जन्मभूमि के हितार्थ हँसते हँसते विष का प्याला होठों से लगाना।

बल्लु शक्तावत के अपार साहस का वह चित्र, देश को आजाद करने के खातिर मस्त हाथी को अपने सीने पर ठेलाना।

(१५)

माननीय चित्तौड़गढ़, आशा भरी दृष्टि से हमारी ओर देख। उसी दृढ़ विश्वास से हमारी ओर देख जैसा तुमने हमारे पूर्वजों की ओर देखा था।

यह मत सोच कि समय हमारे अनुकूल नहीं। समय अनुकूल नहीं आता, वीर स्वयं ही उसे अनुकूल बना लेते हैं।

तेरे प्रति भक्ति का हमारे दिलों में सोता बह रहा है। वह दबाया नहीं जा सकता, जितना ज्यादा दबाया जावेगा उतने ही वेग से फव्वारे के जल की भाँति ऊपर उछलेगा।

हमारे हृदय-रूपी कमलों से तेरे स्नेह के सौरभ को पृथक् नहीं किया जा सकेगा।

ये दमन, ये अनीतियाँ हमारे लिए वाष्पयन्त्र बनकर वरदान ही सिद्ध होंगी। इन कमलों से वह इत्र निकल आवेगा, जिसमें सुगन्धि तीव्र और स्थायी होगी।

ओ चित्तौड़, आशा-भरी नजर से तू हमारी ओर देख।

महत्तर युग

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

आज महत्तर युग का प्रारंभ हो गया। महत्तर काल का यह प्रारंभ 'अणुमहास्त्र' के प्रयोग के साथ प्रारंभ हुआ। इस अणुमहास्त्र के प्रयोग की विश्व पर दो प्रतिक्रियाएँ हुईं।

१—जब यह निर्मम नृशंस प्रयोग जापान के दो असावधान नगरों पर किया गया तो विश्व ने इस पर तनिक भी क्रोध या घृणा नहीं प्रकट की और इस घोर नरहत्या को उसने चुपचाप सह लिया।

२—इसका प्रयोग होते ही 'युद्ध' शब्द निरर्थक हो गया।

यह 'युद्ध' यद्यपि मानव की सम्पत्ति नहीं—पशु की प्रकृति है; परन्तु मानवता के बाल्यकाल से लेकर आज तक मानव-जीवन के विकास का महत्तर आधार 'युद्ध' है। 'युद्ध' ही में महाजातियों की चरम-शक्तियाँ निहित और केन्द्रित रही हैं। 'युद्ध' ही ने जातियों का निर्माण किया है। 'युद्ध' को संक्षेप में हम मानव-जीवन और उसकी सम्पदा के विकास का आधार ही कह सकते हैं। 'युद्ध' ही मानवीय सभ्यता का इतिहास है। 'युद्ध' मानव की सबसे बड़ी सामर्थ्य है। अत: मानव अपने जीवन के शैशव काल ही से 'युद्ध' को अपने जीवन में लिप्त करता आया है। उसने युद्ध को इतना प्यार किया है कि आश्चर्य-जनक उल्लास और वेग से उसने अपने प्राण और प्राणाधिक पदार्थ युद्ध की भेट किये हैं। और जिसने जितना अधिक यह किया है, साहित्य ने अतिपुरुष कहकर उसको कीर्तिमान किया है। परन्तु 'युद्ध' मनुष्य की सम्पत्ति नहीं, पशु की प्रकृति है। फिर किसलिए पुरुष ने अपनी सम्पदा, प्राण और पौरुष इस 'युद्ध' की भेंट किये हैं? किसलिए मानुप की इस पशु-वृत्ति की कविजनों ने प्रशंसा कर-करके मेदिनी को ध्वनित कर दिया है? इसका एक ही सत्य और गम्भीरतम उत्तर है। वह यह कि मनुष्य कभी सम्पूर्ण मनुष्य नहीं हो पाया। वह पशुत्व से थोड़ा ही विकसित एक प्रगतिशील पशु रहा है। इसी से उसने अपने विकास की सारी प्रतिभा और प्रगति पशुत्व के इस महान् प्रतिनिधि 'युद्ध' के विकास में व्यय की है। और यह 'अणुमहास्त्र' इस दिशा में उसके चरम उद्योगों का नूतनतम परिणाम है। परन्तु सम्भवत: यह मानव-मस्तिष्क में चिराधिष्ठित 'युद्धतत्त्व' का पूर्ण विराम है। इस महास्त्र के प्रादुर्भाव ने अब तक विकसित सम्पूर्ण युद्ध-कला को निरर्थक कर दिया है। अब मनुष्य के सामने दो ही मार्ग हैं। या तो वह अपने अपूर्ण मानवतत्त्व को एक बारगी त्याग कर सम्पूर्ण पशु बन जाय तथा इस और इस जैसे महास्त्रों से अपना सर्वतोभावेन विध्वंस कर ले; या अपने में व्याप्त पशुत्व को एकबारगी ही निकाल फेंके और 'पूर्णपुरुष' होकर विश्व-सम्पदाओं का बेखटके भोग करे। निश्चय ही उसे दूसरा मार्ग चुनना होगा।

मानुप में जो रोप है, यही पशुत्व का प्रतीक है। मानुप में मानुष का प्रतीक 'विचार' है। वह जब तक विचार के अधीन रहता है, रोप सुप्त रहता है। परन्तु विचार-

हीन होते ही वह रोषाभिभूत होकर जितना अधिक उसमें मानुष तत्त्व है उतना ही अधिक हिंस्र बन जाता है। क्योंकि उसकी विचार-सत्ता रोष की गुलाम बन जाती है।

रोष में आविष्ट होकर पशु जब युद्ध करता है तब वह अनिवार्य रूप से मृत्यु को वरण करता है। अल्प कारण ही से वह उस प्राणघाती मार्ग पर चल पड़ता है; क्योंकि वही उसकी प्रकृति है। परन्तु मानुष ऐसा नहीं करता। वह रोषावेश में भी बलाबल, कारण और साधनों पर दृष्टि रखता है। पराजित होने पर रोष का दमन कर लेता है, इसलिए कि फिर वह बदला लेगा। यह सब वह उस विचार-सत्ता के द्वारा करता है जो वास्तव में उसके मानुष तत्त्व का प्रतीक थी, परन्तु अब वह रोषाधीन हो गई है। फिर बदला लेने की भावना तमोगुण-बहुला है। इसके लिए उसे नई विरोधिनी शक्तियों को जुटाने में विकट श्रम करना पड़ता है, तथा समय पाकर वह फिर 'युद्ध' करता है। इस युद्ध में वह चाहे हारे चाहे जीते, पर श्रद्धा और आशा जीतने की ही रखता है। कारण, प्रतिस्पर्द्धी की शक्ति के विषय में वह संदिग्ध है।

परन्तु 'अणुमहास्त्र का आज के मानव-मस्तिष्क पर एक बिलकुल ही नया और अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा है, इससे वह रोष को दबाने का नहीं, अपने में से दूर निकाल फेंकने की सोचने लगा है। उसकी चेतना में स्वच्छ विचारधारा का उदय हुआ है, और अब उसके 'पूर्ण पुरुष' होने का युग आ गया है। इस युग में वह सर्वथा रोषहीन होकर विचार-सामर्थ्य से अपना संगठन करेगा। बड़े बड़े क्रुद्ध जन निरर्थक फूत्कार करके आकण्ठ रक्तस्नान कर मरण-शरण हुए। 'लोहू और लोहा' जिनका नारा था, उनकी बेहद दुर्दशा हो गई। मानव-रोष की निस्सारता विश्व ने देख ली। जातियों के भाग्य पलट गये, विश्व-रेखाएँ बदल गईं। इन सबसे मानुष ने अब चार बातें सीखी हैं—

१—विश्व के सब मनुष्य एक हैं—वे परस्पर भाई भाई हैं, समान हैं, अभय हैं, और विश्व की सम्पदाओं के अधिपति हैं।

२—मानव विश्व की सबसे बड़ी इकाई है।

३—जगत् सत्य है, भूत-सम्पदा मानव-उत्कर्ष का साधन है।

४—कला और 'विज्ञान' मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क हैं। दोनों को विचार-कौशल से एक करके उसे मानव-कल्याण और मानव-विभूति-वर्धन में लगाना चाहिए, जिससे मानव रोषहीन हो।

साहित्य की सार्वभौम सत्ता और हमारा उत्तरदायित्व

विद्यावारिधि पं० रामनिवास शर्मा, भूतपूर्व सम्पादक 'सौरभ'

साहित्य को यदि हम विश्व की निखिल ज्ञान-राशि का सम्राट् या तिलक कहें तो अनुचित न होगा; क्योंकि इसका निजका सुबृहत् साम्राज्य है और अनन्त विषयों पर इसकी सार्व-भौम सत्ता (Sovereignity) है। यद्यपि आजकल प्रायः यह जन-साधारण की बात-चीत में और वैसे भी, साहित्य-क्षेत्र में, किसी महान् साम्राज्य का अधिष्ठाता नहीं समझा जाता, फिर उस पर इसका चक्रवर्तित्व स्वीकार किया जाना तो दूर की बात है, तथापि यह विचारणीय विषय अवश्य है और इस पर विचार करने के लिए पर्याप्त सामग्री भी है।

न्याय, उपयोगिता, और वाद-विवाद के विचार से इस पर ऊहापोह करना साहित्यिक वाग्विलास अवश्य है, साथ ही इससे साहित्य-विज्ञान के तात्त्विक विवेचन का भी अवसर मिलता है।

साहित्य पर विद्वानों ने, विविध भाषाओं में तरह तरह के विचार प्रकट किये हैं, विशेषतः आर्य विद्वानों ने तो इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। परन्तु हमें इस सुविशाल साहित्याकाश में जो कुछ दिखाई देता है, वह यह है--

साहित्य कला, दर्शन, विज्ञान, धर्म, इतिहास और पुरातत्त्व आदि अनेक विषयों की योग्यता रखता है। इसके सहारे हम पचासों विषय तैयार कर सकते हैं, अनेक विषयों को यथानियम पढ़ सकते और कुछ विषयों का इससे आविष्कार भी कर सकते हैं। ऐसी दशा में यह कहना कि साहित्य सम्राट् है, औचित्यपूर्ण बात है।

दर्शन और विज्ञान विद्या-क्षेत्र की पहली मंजिलें हैं या यों कहें कि साहित्य के विश्लेषणात्मक साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य वस्तु तो एकमात्र साहित्य ही है।

ईश्वर-तत्त्व की प्राप्ति, धार्मिक दृष्टि से, मनुष्य का अंतिम ध्येय हो सकता है। ईश्वर रस-स्वरूप है और साहित्य भी रसात्मक है। ऐसी दशा में भक्तिसूत्र और साहित्य एक ही ध्येय की प्राप्ति के साधन हैं या स्वयं ध्येय हैं।

साहित्य में एक और अद्भुत बात यह है कि यह हमारा प्रतिदिन का विषय है। वह सदैव हमारी चेष्टा, अंग-भंगी, भाव और बात-चीत में अपना काम करता रहता है। हमारे विचार तो उसकी रंगस्थली ही हैं। हमारी चाल-ढाल, वेश-भूषा और मौन में भी वह मौजूद रहता है। इस दृष्टि से संसार का कोई भी विषय साहित्य के सम्मुख नहीं ठहरता। अधिक क्या, यह समस्त जगत् ही नाटक-रूप होने से विशाल साहित्य है और इसकी प्रत्येक वस्तु स्वयं एक काव्य-संगीत है।

साहित्य के पाठ से मनुष्य में सर्वांगीणता उत्पन्न होती है। साहित्य से मनुष्य के अधिकाधिक ज्ञान-कोषों का विकास होता है। इतिहास, गणित, विज्ञान आदि विषय एकांगी हैं। उनसे एक ही प्रकार के तत्त्वों का विकास हो सकता है; परन्तु साहित्य सर्व-विषयमय होने से समस्त मानव-तत्त्वों के विकास में सहायता देता है। ऐसी दशा में यदि किसी जाति

का साहित्य उन्नत और पूर्ण हो, तो वह पूर्णोन्नत मनुष्य पैदा कर सकता है। हिन्दू-साहित्य करीब-करीब ऐसा ही है। उसका काव्यमय महाभारत ही अनन्त विषयों का खजाना है। उसमें ज्ञान, कर्म और उपासना के सम्बन्ध के तत्त्वों का बड़ा मनोरंजक वर्णन है। यही दशा वाल्मीकि और तुलसीदास की रामायणों की है। ये हमारे जातीय महाकाव्य हैं। इनसे हमारे सम्पूर्ण जातीय तत्त्वों का गहरा सम्बन्ध है। इनमें पूर्ण और आदर्श मनुष्य उत्पन्न करने की योग्यता है।

ललित कला, मानव-तत्त्व, मनोविज्ञान, छन्दःशास्त्र, संगीत-शास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र और उपयोगितावाद का तो इसके साथ अन्योन्य सम्बन्ध है। इसके सिवा पचासों प्रकार के शास्त्र, विज्ञान-कला, धर्म-वाद आदि का इससे प्रत्यक्ष-परोक्ष सम्बन्ध है। इनमें से अनेक इसके आवश्यक अंग और तत्त्व-सम्बन्धी विषय हैं। जो विषय रह जाते हैं वे भी सब इसके आलंबन (Object) में आ जाते हैं, क्योंकि जगत् का कोई भी ऐसा विषय नहीं, जिस पर थोड़ा-बहुत साहित्य न लिखा गया हो या न लिखा जा सके। इतिहास, वेदान्त, विज्ञान, अन्यान्य कलाएँ और यहाँ तक कि शास्त्र तथा भूगोल तक पर साहित्य मिलता है। संस्कृत में तो प्रायः सभी विषय साहित्यमय हैं। प्रकृति, जीव, ईश्वर और ब्रह्म तक पर साहित्य मौजूद है। समस्त दृश्य जगत्, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र के विषय भी इससे बचे हुए नहीं हैं। सारांश यह कि, कवि या काव्य-शास्त्र से कुछ भी दूर नहीं है। इसकी सर्वत्र पहुँच है। किसी के कथनानुसार कवि का काव्य है—

"The poets eye in a fine frenzy rolling
Doth glance heaven to earth, from earth to heaven.
And as imagination bodies forth,
The form of things unknown, the poet's pen.
Turns them to shape and gives to airy nothing.
A local habitation and a name."

सारांश यह कि पृथ्वी और आकाश कवि-कल्पना की क्रीड़ास्थली है, यह सदैव इनमें नवीन वस्तु की खोज में रहती है। जो कुछ मिल जाता है, उसको बड़े सुन्दर रूप में संसार के सामने पेश करती है। Arnold के शब्दों में यह विशेषतः मानव-जीवन को हमारे सामने रखती है। इसके प्रताप से हमें सत्य और जीवन की व्याख्या बड़ी सुन्दर और सरल भाषा में पढ़ने को मिलती है। बेली (Baily) ने तो यहाँ तक कह दिया है कि, साहित्य और काव्य परम सत्य के प्रकाशक हैं। इस विवेचना से यही मालूम होता है कि, साहित्य से बढ़कर किसी विषय के ज्ञेय की सीमा नहीं। फिर इससे बढ़कर जगत् के विस्तृत ज्ञेय, ध्येय और प्रेय क्षेत्र का सम्राट् कौन हो सकता है ?

साहित्य की उपयोगिता किसी से छिपी हुई नहीं है। ललित-कला की दृष्टि से इसका उपयोग हृदय, मन और आत्मा का भोजन है। यह असल में आत्मिक भोजन है। आत्मा के विकास में इससे बहुत सहायता मिलती है। यह रस-स्वरूप होने से आत्म-ज्ञान और आत्मदर्शन का कारण है। इसकी व्यावहारिक उपयोगिता भी प्रत्यक्ष है। समाज की जागृति और उत्थान में कवि और काव्य ने जो काम करके दिखाये हैं, उनकी तुलना किसी से

नहीं की जा सकती। जातीय जीवन की दृष्टि से तो काव्यों और महाकाव्यों का महत्त्व बहुत बढ़ा हुआ है। इसका अस्तित्व और उपयोग जातियों की जीवन-शक्ति है। ऐसे ही नाटकों और उपन्यासो का उपयोग भी कम नहीं है। सामाजिक सुधार में तो नाटकों और उपन्यासों का स्थान दूसरा कोई ले ही नहीं सकता। राजनीतिक विषयों में भी इनकी उपयोगिता कुछ कम नहीं है। आजकल तो नाटकों, उपन्यासों और कहानियों का राजनीतिक उपयोग बहुत बढ़ गया है। गत महायुद्ध में इंगलेण्ड ने नाटकों द्वारा प्रजा को युद्ध के लिए उत्तेजित करने में बहुत सफलता प्राप्त की थी। उपन्यास और विशेषत: कहानियाँ तो इस समय साहित्य की मुख्यतम वस्तुएँ बनी हुई हैं। आजकल प्राय: सभी महापुरुष इन्हीं के द्वारा अपने उद्देश्यों और मन्तव्यों का प्रचार-प्रसार करना चाहते हैं। उपन्यासों का महत्त्व तो इसी से प्रकट है कि वे तोल-मोल और संख्या में बहुत बढ़े हुए हैं।

साहित्य के साथ कल्पना-शक्ति का गहरा सम्बन्ध है और कल्पना ही असल में नव-निर्माण, नव-रचना का साधन है। यह विज्ञान में अनुमानानुमिति द्वारा अपने करिश्मे दिखाती है और साहित्य में रस, भाव और उक्ति-वैचित्र्य के सहारे भौतिक, दैनिक और आध्यात्मिक सत्यों और तथ्यों को हमारे सामने रखती है। पाश्चात्य विद्वानों के मत में तो भौतिक विज्ञान की अनेक बातें पहले कवि-कल्पना का ही विषय रही हैं। भौतिक विज्ञान की उन्नति में कवि-कल्पना का बहुत कुछ हाथ रहा है। यद्यपि अन्यान्य शास्त्रों से भी कल्पना का थोड़ा बहुत सम्बन्ध है, परंतु साहित्य से तो समधिक है। फिर साहित्य में इसका रूप उपयोगी और विशेष सुंदर बन जाता है। साहित्यिक कल्पना हमारी मनोवृत्ति और हृदय का मधुर भोजन है। इसस न केवल हृदय की तृप्ति होती है; अपितु मानसिक शक्ति के विकास में भी इससे बहुत सहायता मिलती है। सच तो यह है कि, कल्पना और साहित्य का जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है वैसा किसी का नहीं। चेम्बर्स साहब (Mr. Chambers) मत में सच्चा काव्य और साहित्य वही है, जिसमें कल्पना की प्रधानता हो। फिर साहित्यिक कल्पना एकांगी नहीं होती, सर्वतोमुखी Hormonious होती है। इससे सम्भाविनी औरसंग्रहिणी. दोनों प्रकार की कल्पना-शक्तियों का पूर्ण विकास हो जाता है।

साहित्यिक विवादात्मक विषयों में पचासों बातें हैं, और हो सकती हैं। उनको साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् अच्छी तरह समझ सकते हैं। यहाँ साहित्यिक विवाद से हमारा अभिप्राय यह है कि साहित्य, अलंकार-शास्त्र और सौन्दर्य-विज्ञान एक ही वस्तु हैं या इनकी रूप-रेखा और परम्परा विभिन्न हैं ? एक सम्प्रदाय की सम्मति से तो साहित्य-शास्त्र से अलंकार-शास्त्र ही अभिप्रेत है और अलंकार से सौन्दर्यशास्त्र। "अलंकार-कारिका" की सम्मति में 'सौंदर्यमलंकार:" है। इसके विरुद्ध एक विचार यह है कि अलंकार-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र नहीं हो सकता; क्योंकि सौन्दर्य-शास्त्र भौतिक है और उसकी रूप-रेखा अलंकार-शास्त्र से बिलकुल भिन्न है। सौन्दर्य-शास्त्र में रूप-रेखा और प्रकाश आदि की प्रधानता है और अलंकार-शास्त्र में सूक्ष्म भाव और वैचित्र्य की; परन्तु एक ऐसा भी सम्प्रदाय है, जिसका यह मन्तव्य है कि समस्त आर्य-साहित्य ही मुख्यत: सूक्ष्म और आत्मिक साहित्य है और उसमें विवेचन भी सूक्ष्म वस्तुओं का ही है। ऐसी

दशा में इसके सौन्दर्य की रूप-रेखा बाह्य और मोटी न होकर सूक्ष्म और आन्तरिक भाव-भावना प्रधान होगी। इस दृष्टि से अलंकार-शास्त्र ही रस, भाव और कल्पना के विचार-सौन्दर्य का विवेचन होने से सौन्दर्य-शास्त्र होगा।

अन्य देशीय ललित साहित्य का आर्य-साहित्य से तुलनात्मक विचार करने का यहाँ पूर्ण अवसर नहीं है तो भी, प्रसंगवश, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि, साहित्य हृदय-प्रधान वस्तु है। इस तरह भाव-प्रधान साहित्य ही सर्व-प्रधान हो सकता है। भाव का मुख्य स्थान प्रेम और भक्ति है; क्योंकि इसी भूमि पर यह पैदा होकर फलता-फूलता देखा जाता है। प्रेम और भक्ति का आश्रम सत्य, शिव और सुन्दर वस्तु ही हो सकता है। विदेशों में हमारी तरह, भगवच्चरण में आत्म-समर्पण का सिद्धान्त ही नहीं है। ऐसी दशा में अन्य देशीय साहित्य से हिन्दू-साहित्य की तुलना करना असम्भव है। अब रहा प्रकृति-वर्णन-प्रधान साहित्य। वह वैसे भाव-प्रधान साहित्य की कोटि में क्षण भर के लिए भी नहीं ठहर सकता। यही कारण है कि शेक्सपियर को अनेक समालोचकों ने सौन्दर्य का कवि न कह कर मनोवृत्तियों के विश्लेषण का ही कवि कहा है। दूसरे, वहाँ विज्ञानात्मक लक्षण-साहित्य अभी बिलकुल ही नगण्य दशा में है। इस दृष्टि से भी हम उससे आर्य-साहित्य की तुलना नहीं कर सकते।

आर्य-दर्शनों का लक्ष्य मुक्ति और परमानन्द की प्राप्ति है। न्याय-दर्शन इसी तत्त्व की प्राप्ति "तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" बतलाता है। वैशेषिक शास्त्री "तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्" की शिक्षा देते हैं। सांख्य "ज्ञानान्मुक्ति" का निर्देश करता है। ऐसी ही विचार-परम्परा अन्य दर्शनों की भी है। अष्टादशदर्शनकार की दृष्टि में भी किसी विशेष उपाय द्वारा परमानन्द की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है। मुक्ति-मीमांसा दर्शन तो एक प्रकार से साहित्य का बन्धु ही है। उसमें भावों की विवेचना है। वह भावों के द्वारा ही आनन्दस्वरूप ईश्वर की प्राप्ति बतलाता है। वह कहता है कि सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभाव द्वारा ही सच्चिदानन्द का साक्षात्कार हो सकता है।

इस दृष्टि से साहित्य दर्शन कोटि की वस्तु है। वह भी रसानुभव द्वारा रसेश्वर ब्रह्म के चरणों में पहुँचाने का दावा करता है। उसका दावा कहाँ तक सत्य है, इसे साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् ही ठीक-ठीक बता सकते हैं। साहित्य-शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय ही रस है। फिर 'रसो वैसः' और "आनन्दरूपं परमं यद्विभाति" वेद भी कहते हैं। इसके सिवा भक्ति-मीमांसा दर्शन (जो कि भावनात्रय द्वारा सच्चिदानन्द की प्राप्ति बतलाता है) यदि दर्शन हो सकता है, तो फिर साहित्य की दार्शनिकता में संदेह करना बिलकुल अद्भुत बात है।

साहित्य का विज्ञानमय होना तो स्वतः सिद्ध है, क्योंकि काव्य और लक्षण ग्रन्थों में भाव, रस आदि तत्त्वों की बड़ी सुन्दर मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है। क्या कोई कह सकता है कि, साहित्यात्मक निम्न लिखित वैज्ञानिक तत्त्व किसी एक विज्ञान में देखने को मिलेंगे? १—रस-भाव (मनोविज्ञान), २—आलम्बन (विश्व-विज्ञान), ३—उद्दीपन (प्रकृतिविज्ञान), ४—स्वभावोक्ति (सौन्दर्य विज्ञान), ५—रसविश्लेषण (मनस्तत्त्व)।

साहित्य के वेदांगत्व को तो चित्रमीमांसाकार राजशेखर और अप्पय दीक्षित तक मानते हैं। "सविशेषेण हीति न्यायोपन्यासो वाक्यमीमांसकानां शोभते, नालंकारमीमांसकानाम्" इत्यप्पयदीक्षितवचनेन (चित्र-मीमांसा प्र० ४१,४२) चाभ्युपेयते।" राजशेखर तो यहाँ तक कहते है कि, वेद के ६ अंग नहीं, अपितु ७ हैं; क्योंकि

"उपकारकत्वादलंकार: सप्तममङ्गम्।"

अर्थात् उपकारक होने से अलंकारशास्त्र सातवाँ अंग है। विद्यानाथ के मत में साहित्य "शास्त्र" भी है; क्योंकि उन्होंने 'वक्ष्ये सम्यगलंकारशास्त्रसर्वस्य संग्रहम्" कहा है; और इसका कारण वी० वेकटेशरमणार्य के शब्दों में 'अनुशासकत्वाच्छास्त्रस्य' ही है।

साहित्य का एक प्रधान अंग समालोचन-विद्या है। इसका तर्कशास्त्र, मनस्तत्त्व, विचार-कला और न्याय-शास्त्र से गहरा सम्बन्ध है, किन्तु यह स्वयम भी एक विद्या है, इसकी लाक्षणिकता है और इसका व्यक्तित्व भी सर्व-सम्मत और सर्वप्रधान है, परंतु इसका उपयोग सर्वाधिक साहित्य में ही होता है। इस दृष्टि से भी साहित्य का महत्त्व अधिक हो जाता है। समालोचना के विषय में विद्वानों की यह सम्मति है कि, समालोचना स्वयम् एक कला है। इसका क्षेत्र विस्तृत है, जगत् के समस्त विषयों से इसका सम्बन्ध है। कोई विज्ञान, दर्शन, कला और साहित्य इससे बचा हुआ नहीं। इसका सर्वत्र प्रवेश है। इस कला को जन्म देने का श्रेय साहित्य को ही है। साहित्य ऐसी ही पचासों बातें उत्पन्न करने की शक्ति रखता है। साहित्य असल में उत्पादक शास्त्र है।

भाषा के साथ साहित्य का बहुत गहरा सम्बन्ध है। भाषा विचारों का विषय है और साहित्य भाषा और विचार, दोनों का। इस दृष्टि से भाषा-विषयक सब विषय साहित्य के विषय हो जाते हैं। शिक्षा-विज्ञान, भाषा-विज्ञान, इतिहास, दर्शन आदि सैकड़ों विषय भाषामय होने से साहित्यमय ही हैं। मनुष्यमात्र भाषा का विषय है; क्योंकि मनुष्य का मस्तिष्क एक ऐसी भाषा-विषयक प्रयोगशाला है, जहाँ समस्त विषय भाषा के रूप में अपना काम करते रहते हैं। साहित्य भाषा के द्वारा भाषात्मक विषयों पर शासन करता है। यदि हम भाषा को छोड़ दें तो फिर भौतिक वस्तुओं के सिवा जगत् में रह ही क्या जाता है ? साहित्य असल में भाषा ही है या यों कहें कि समुन्नत भाषा है।

विषय की महत्ता के साथ-साथ मनुष्य का उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है। जब हम यह कहने को तैयार हैं कि—

"न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवे: ॥

अर्थात् एक भी शब्द, ऐसा अर्थ, दर्शन और कला नहीं जो काव्यांग और उपलक्षण से साहित्यांग न हो सके। क्या ऐसी दशा में साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की विशेष प्रणाली की ओर हमारा ध्यान खिंचना स्वाभाविक नहीं है ? उसके उद्धार और निर्माण के लिए हम कुछ न करेंगे ? अपने बचे-बचाये संस्कृत साहित्य और हिन्दी-साहित्य को एक सम्पत्ति नहीं समझेंगे ? साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय तुलनात्मक समालोचना की ओर कदम न बढ़ायेंगे और विश्व-साहित्य के निर्माण की ओर ध्यान न

देंगे ? यदि ऐसा न किया और इन बातों से मुँह मोड़ा, तो हम साहित्य के वास्तविक लाभ से वंचित ही रहेंगे। परन्तु हम देखते हैं कि हमारे यहाँ अभी कुछ नहीं हो रहा है। अभी तो हमें कुछ करने-धरने का विशेष ध्यान भी नहीं हुआ है। अभी हमने साहित्य के महत्त्व को इस दर्जे तक समझने-समझाने का वातावरण भी तैयार नहीं किया है। अभी तो इसके महत्त्व के गुण-गान का भी ठीक-ठीक समय नहीं आया है। अभी तो कवि और काव्य के वास्तविक अर्थ की ओर भी हम ध्यान नहीं दे रहे हैं। "जन्मना कवि" के अर्थ को भी ठीक ठीक नहीं समझ रहे हैं। फिर जो विषय अनन्त-जन्म-साध्य है, जिसके लिए अनन्त-जन्म-कालीन संस्कारों की आवश्यकता बतलाई जाती है, उसके लिए हम अभी उसके सहयोगी परम आवश्यक विषयों को पढ़ना भी कहाँ पसन्द करते हैं ? उसकी विस्तृत ज्ञान-राशि के अन्वेषण की विधि भी संसार में अभी कहाँ तक तैयार हुई है। अभी तो उसके आत्मतत्त्व, मनोविज्ञान, मानव-विज्ञान और रस-विज्ञान की ओर भी पूर्णत: हमारा ध्यान नहीं खिंचा है। विश्व-साहित्य और काव्य की दृष्टि से ब्रज-भाषा और संस्कृत-भाषा के महत्त्व का समझना भी तो अभी कठिन हो रहा है। काव्योचित मारवाड़ी और गुजराती भाषाओं के अध्ययन की चर्चा तो अभी दूर की बात है। आर्य-जाति का साहित्य कैसा है ? उसके रक्षण की कितनी आवश्यकता है, साहित्य को ही आर्य-जाति ने सर्वश्रेष्ठ क्यों समझा है, भारत-भूमि और साहित्य के गहरे सम्बन्ध का क्या अर्थ है ? ये बातें भी अभी हमें पाश्चात्यों से ही सीखनी पड़ती हैं ? परमात्मा ही हमारी रक्षा करे।

गीत

श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' एम० ए०, साहित्याचार्य

कली को, फूल को मधुमास देता हूँ
मधुर मधुमास देता हूँ।
लताओं को मनोहर हास देता हूँ
सुरभि की श्वास देता हूँ।

उछलती जा रही सरिता नवेली-सी
पिया की गोद में छिपने
पिया के स्वप्न ले कितने
मिलन का मौन बनकर मैं खड़ा पथ में
उसे उल्लास देता हूँ
अमिट विश्वास देता हूँ।

न जाना रूप अपना कौन हूँ, क्या हूँ,
किसे प्रतिपल बुलाता हूँ
कहाँ, किस ओर जाता हूँ
प्रलय की लपलपाती प्यास को पीकर
हृदय की प्यास देता हूँ
नया इतिहास देता हूँ।

क्षितिज को, व्योम को मुस्कान देता हूँ
सजल मुस्कान देता हूँ
धरा को ज्योति का वरदान देता हूँ
विभा का दान देता हूँ।

तिमिर के तीर छूटे काल के कर से
लिये अभिशाप की छाया
लिये विध्वंस की माया
छिपाकर मैं उन्हें अपने कलेजे में
नया दिनमान देता हूँ
किरण-संधान देता हूँ।

खड़ा युग साँस रोके मरण के पथ पर
प्रलय तूफान की वेला
लगा है नाश का मेला
रुधिर से आँक ज्योतिर्गान देता हूँ
प्रगति पहचान देता हूँ।
तुम्हारे ही हृदय की व्याप्ति का कण हूँ
खड़ा सीमान्त के आगे
प्रतीक्षा, विश्व उठ जागे
तुम्हारे ही हृदय का एक कंपन हूँ।
उठो, अभिमान देता हूँ
अमिट अभिमान देता हूँ।
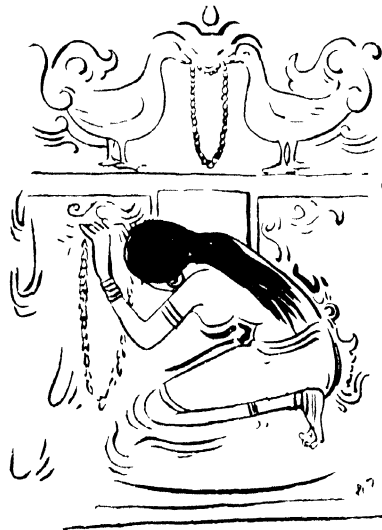
प्रताप-सप्तक

संस्कृती पं० अक्षयकीर्ति व्यास एम० ए० 'अखय'

(१)

'अखय' अकास तैं प्रभाकर-प्रभा सी साह !
औचक चकासैगी सु भासै बात भोरी सी ।
रोरत प्रताप त्यौं निहोरी सी करोर भाँति
थोरी हूँ प्रकासैगी न ठुमकि ठगोरी सी ॥
जौ उर जरी है कुल-कानि-नेह-बोरी जोति
मान हित मौत जौ भरी है अंक गोरी सी ।
निपट निगोरी सी परी है जौ कृपानी कर
तौ फिर सुतंत्रता खरी है कर-जोरी सी ॥

(२)

वसन-फटे की छटा-वलित पटोरी और
दसन-जटे की सुधा-कलित कटोरी है ।
कौन धौं तिहारी सो न 'अखय' टटोरी पर
रोरत प्रताप ये हमारी प्रान-डोरी है ॥
साह ! पै सुतंत्रता ये अंतर कठोर खरी
जाने ढरि काहू सौं करी न गँठजोरी है ।
चोरी है न काहू की कृपा कैं कीच बोरी है न
ये तौ नीच कोरी चन्द्रहास की चकोरी है ॥

(३)

नीकी जस-झोरी है 'अखय' कुल-रोसनी की
सरस खमोसी-पोसे तोस की तिजोरी है ।
प्यारी हमजोरी है हमारी तन-संगम की
जीवन-तुरंगम की न्यारी बागडोरी है ॥

रोरत प्रताप पै या सुन्दर सुतंत्रता मैं
साह ! जौ टटोरी तौ कठोर एक खोरी है।
होति सर-जोरी है जरूरि सरजोरी पर
पर कर-जोरी हूँ न होति कर-जोरी है ॥

(४)

'अखय'-सलोक की त्रिलोक निकरी सी गरी
उर-सुर-लोक की मनोहर परी सी है।
नैन-पुतरी सी है प्रवीन प्रान-नागर की
साह ! मान-मागर की सुघर तरी सी है ॥
ररत प्रताप ये सुतंत्रता हमारी घिरी—
रन-बदरी की बरजोर बिजरी सी है।
जीवन-जरी सी है हरी सरीर-संगम की
जंगम सरीर की सजीवन जरी सी है ॥

(५)

तेरी तौस-धौंस कैं असर अफसोसी पर
जाहिर न रोसी उर हीं उर मसोसी है।
पोसी है न हौंस ऊँचे 'अखय' अवासनि की
बस बन-वास कैं बिलास ही सँतोसी है ॥
ऐसी निरदोस हूँ सजोस साह ! कोसी तैं सु
घोसत प्रताप कहा लाइ कै परोसी है।
चूसि लै खमोसी है सुतंत्रता हमारी ठोस
रोम रोम सोसी सो सिदौसी कौन खोसी है ॥

(६)

सोहे मन-मोर की 'अखय' धुरवा की घोर
आनँद-विभोर भोर चित-चकवा की है।
साह ! सविता की है किरन उर-कंज पै त्यौं
उमग-सिरंज पै फिरनि कविता की है ॥
कूकत प्रताप न हमारी है सुतंत्रता ये
अगद अचूक हूक अंतर बिथा की है।
मार बनि ताकी है सँजोग-रस-भोग मैं त्यौं
बैहर बिजोग मैं बहार बनिता की है ॥

(७)

'अखय' सुराज की उदर-अँतरी है साह !
अंतर अवाज ये हृदय-तँतरी की है ।
निडर-नेवाज हेरी कूट-राटता की गाज
चाटुता-बटेर-बाज लाज पगरी की है ॥
टेरत प्रताप ऐसी सुघर सुतंत्रता क्यों
डगर करार दी तैं गरि बगरी की है।
नेह-नगरी की है निवासिनी रसीली धार
ये तौ चारु चासनी सनेह गगरी की है ॥

—
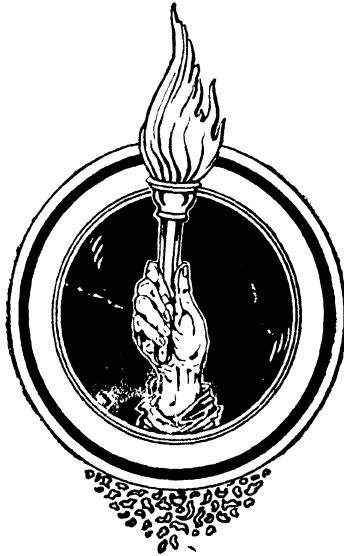
विसाल

गंगा का समुन्दर से ख़िताब

सर शान्तिस्वरूप भटनागर ओ० बी० इ०, डी० एस्-सी०, एफ० आर० एस०

मैं कभी लज्ज़तकशे गेहवारए कोहसार थी।
रौनके सेहने-चमन ज़ीनत दहे गुलज़ार थी॥
दीदए बीना मे शमा जल्वागाहे यार थी।
मै हिमालय के गले में मोतियों का हार थी॥
बर्फ़ के शफ़्फ़ाफ़ गालों में कभी रक्खा मुझे।
ता न दे आज़ार मौजे बादे बेपरवा मुझे॥१॥

मेरे झूले को हिलानी थी कभी बादे बहार।
मेरे मुँह धोने को पडती थी कभी हलकी फ़ुहार॥
गर कभी हो जाता उरियाँ मेरे जिस्में सीमवार।
बख़्श देती मादरे फ़ितरत लिबासे ज़र निगार॥
ज़ीनते आग़ोशे मादर, भाई-बहनों में रही।
लाल ओ गुल के सदा रंगीन गहनो में रही॥२॥

एक दिन मशरिक से हँसकर दीदए ख़ुरशीद ने,
टकटकी बाँधे निगाहे ग़ौर से देखा मुझे॥
इक नज़र में सैकड़ों टुकड़े हुए दिल के मेरे।
और हर टुकड़े में हुस्नेयार के जल्वे बसे॥
रूह को इक इज़तराब और दिल में बेताबी हुई।
ज़िन्दगी मेरी कभी संगीन थी अब आबी हुइ॥३॥

झूमती हँसती मचलती नाचती गाती हुई।
मुस्कुराती गुनगुनाती नाज फ़रमाती हुई॥
रह गुज़र के ज़र्रे ज़र्रे को मैं ठुकराती हुई।
फ़र्ते मस्ती में कभी खुद ठोकरे खाती हुई॥
वादिये रंगीं से निकली इस तरह मस्तानावार।
जैसे मैख़ाने से आए कोई रिन्दे बादाख़्वार॥४॥

छू सका कोइ न मेरे दामने पोशाक को।
साअदे सीमी—रुखे रोशन—जिबीने पाक को॥
लाल ओ गुल गम क्या करते दिले बेबाक को।
मैने गर्दे राह समझा इस खसो खाशाक को॥
देखकर मेरा वक़ारे शौक़ वो जोशे इज़तराब।
हो गया कुहसार का संगीं जिगर भी आब आब ॥५॥

चश्मे नरगिस से लजाती—शर्म से गड़ती हुई।
दीदए अख़्तर से बचती पाँव सी पड़ती हुई॥
जोश मस्ती में हवा से भी कभी लड़ती हुई।
हर कदम पर रहरवाने शौक से अड़ती हुई॥
नग़मए रंगीं कभी नाला कभी शेवन बनी।
मै उरूसे नौ कभी तेरे लिए जोगन बनी ॥६॥

सीनए नाज़ुक मेरा खारे जुनूँ से था फ़िगार।
दीदए मफ़मूम था वक्फ़े ख़िरासे इन्तज़ार॥
लोहे दिल पर आरज़ूए वस्ल के नक़्शोनिगार।
आह वो मेरा तलातुम जब मैं पहुँची हरदुआर॥
मेरे घरवालों ने लड़-भिड़ कर मुझे गंगा किया।
दुश्मियों ने नाम तक बदला मुझे गंगा किया ॥७॥

हाय मैं परवरदए नाज़े बहारे कोहसार।
तेरी खातिर दश्त में उड़ती फिरी मिस्ले ग़ुबार॥
दिल अगर महवे तजस्सुस-आँख वक़्फ़े इन्तज़ार।
मेरे सीने को चिराग़ों ने बनाया दाग़दार॥
घर से मै बेघर हुई छूटा मेरा असली वतन।
हड्डियों की राख अब क़िस्मत है मुर्दों का कफ़न ॥८॥

गुलशने दाग़े मोहब्बत बाग़बाँ ने-आरज़ू।
वसअते दश्ते तख़य्युल कारवाने आरज़ू॥

क़िस्सए महरूमये उल्फ़त-जुबाने आरज़ू।
किश्तिए दिल और उस पर पर बागबाने-आरज़ू॥
आह रा नाकामये राज़ निहाने ज़िन्दगी।
तुझसे मिलकर लुट गया मेरा जहाने ज़िन्दगी॥९॥

कामयाबी की निगाहें शौक़ में ख़ुश मन्ज़री।
जाने क्या करती रही दिल पर मेरे जादूगरी॥
हो गया ग़ायब यकायक महर उन्से मादरी।
पड़ गई इक देव के हाथ उफ़ हिमालय की परी॥
मुझको जमना गोमती आई मनाने के लिए।
पर हुई हरगिज न मैं तैयार जाने कि लिए॥१०॥

आह! कुछ पूछो न जज़्बे इन्तज़ारे आरज़ू।
मैंने उनको भी बना डाला शिकारे आरज़ू॥
मस्त होकर मिल गये उम्मीदवारे आरज़ू।
फिर चले जामेशराबे ख़ुशगवारे आरज़ू॥
पारा पारा मैंने कोहो दश्त का दामाँ किया।
ख़ानए मादर को मैंने छोड़ कर वीराँ किया॥११॥

वस्ल की भी साअतेरंगीं बिलाख़िर आ गई।
एक मौज आग़ोश तेरा मरहमत फ़रमा गई॥
तुझसे मिलकर मुर्दनी चेहरे पै मेरे छा गई।
आ गई बज़्मे तमन्ना में क़यामत आ गई॥
आह! वो बज़्मे उमीद उफ़ वह जहाने आरज़ू।
दिल से मेरे मिट गया इक इक निशाने आरज़ू॥१२॥

आह! वो जोशेतरब रंगे ख़ुशी बाक़ी नहीं।
वह जमाले जीस्त—हुस्ने ज़िन्दगी बाक़ी नहीं॥
वह नज़र—वह दिल वो इशरत वह हँसी बाक़ी नहीं।
सैकड़ों चीज़ों में से इक चीज भी बाक़ी नहीं॥
टुकड़े-टुकड़े हो गया कुछ इस तरह जामेहयात।
सुबह हस्ती में भी है तारीकिए शामेहयात॥१३॥

आह ! ए गारत गरे रंगे गुलिस्ताने वफ़ा।
खून अरमाने मोहब्बत—चाक दामाने वफ़ा ॥
रहज़ने राहे मुरव्वत—दुश्मने जाने वफ़ा।
तेरा गुलशन है हक़ीक़त में बियाबाने वफ़ा ॥
तुझसे मिलकर लुट गई गुलज़ारे जिन्नत की मकीं।
मैं कहाँ, अफ़सोस ! मेरा नाम तक बाक़ी नहीं ॥१४॥

जब सुने उस बहे बेपायाने ये शिकवे मेरे।
बन के नश्तर चुभ गये फ़िकरे मेरी तक़रीर के ॥
हलके-हलके ठंडे-ठंडे साँस पहले कुछ भरे।
फिर मुख़ातिब में हुआ मुझको ज़बाने मौज से ॥
ए तहे दस्ते मोहब्बत—आह ए नादारे इश्क़।
तू अभी अफ़सोस है नामोरहमे इसरारे इश्क़ ॥१५॥

तू न होता इश्क़ में मेरे अगर आवारा गाम।
ना रसाए ख़ल्क़ होता तेरे जल का फ़ैज़े आम ॥
ख़्वाब में भी मिल न सकता यह तुज़क यह एहत शाम।
कौन गंगा माइ कहकर तेरा करता एहतराम ॥
जल तेरा गंगाजली कुहसार में होता न था।
तुझसे ठंडा क्या हिमालय में कोई सोता न था ॥१६॥

किस क़दर कमसिन थी तू जब कोह से आगे बढ़ी।
ओढ़ कर अफ़सोस इक छोटी सी चपटी ओढ़नी ॥
जिस क़दर तूने मेरी जानिब निगाहे ग़ौर की।
तेरी क़ामत के मुताबिक़ ओढ़नी बढ़ती गई ॥
तुझ पै फिर जोशे अक़ीदत ने किये रोशन दिये।
तेरी चादर पर सितारे नूर के क़ुर्बां किये ॥१७॥

साथ ले जाती मना कर तुझको जमना गोमती।
ग़ैर मुमकिन था कि तू आग़ोशे मादर देखती ॥

दश्त में सेहरा नवर्दों की तरह भटकी हुई।
खुश्क हो जाती न मुझको देख सकती तू कभी ॥
क्या हुआ बहन तेरी क़ुहसार से गर आ गई।
पहले फ़ानी थीं हयाते जावदाँ अब पा गई ॥१८॥

इस क़दर तेरी अक़ीदत का हुआ चर्चा यहाँ।
तुझको समझे चश्मए आबे हयाते जावदाँ ॥
तेरी गिर्देरह बनी लाखों की ख़ाके इस्तख़्वाँ।
तेरा इन फूलों से सीना बन गया है गुलसिताँ ॥
जिसको तेरा एक क़तरा मिल गया जाँबर हुआ।
और चक्कर से तनासिख़ के भी वो बेडर हुआ ॥१९॥

तू ये कहती है कि मैंने तुझको बेघर कर दिया।
नासमझ ! मैंने तो क़तरे से समुन्दर कर दिया ॥
तूने इक क़तरा भी जो मुझ पर निछावर कर दिया,
मैंने उस क़तरे को तेरे रश्के गौहर कर दिया ॥
तू फ़ना समझी है जिसको, है वफ़ा की इब्तिदा।
इन्तहाए इश्क़ है यानी वफ़ा की इब्तिदा ॥२०।

हसरतो अरमाँ के ख़ूँ से सुर्ख़ है गुलज़ारे इश्क़।
है वही बुलबुल जो है सीना फ़िगारे ख़ारे इश्क़ ॥
है ग़मे पैहम में पिन्हा चारए आज़ारे इश्क़।
बंद होते ही ज़बाँ के खुल गये इसरारे इश्क़ ॥
इश्क़ सादिक़ की तजल्ली जा के परवाने में देख।
तू हयाते जावदाँ जलभुन के मर जाने में देख ॥२१॥

वसन्त-गीत

श्रीयुत प्रभाकर माचवे एम० ए०

खिले कुंज, लता-पुंज
 मालती, प्रियंगु वकुल;
 मुखरित विहंगम कुल

रक्त, श्वेत, पीत, नील,
 कुरवक से झुकी डाल।

आरग्वध कर्णिकार,
स्वर्ण-वर्ण सुमन-हार,
चम्पक मँभार धार
सुरभिपूर्ण हरसिंगार
 पिंगलाभ पुष्पनाल।

गदराये, बौराये,
पिक-कोकिल घर आये,
सहकारी तरु लाये
 पुष्पकेतु अंतराल।

दिन बढ़े, निशा परास्त
भ्रमरों के दल समस्त,
व्यस्त हुए; मस्त स्वास्थ्य-
पूर्ण दिशा आशाल,
 नभ निरभ्र औ' विशाल।

वसन्त और हम

गोविददास "विनीत"

आ वसन्त ! दिखला जा, फिर से कलित कलेवर।
किन्तु मिलेंगे यहाँ बारहों मास बराबर।
पतझड़ तव आरंभ, यहाँ प्रतिदिन पतझड़ है।
तू उजाड़ दिन चार, यहाँ जीवन ऊजड़ है।
यह अति हताश-हृद्-वाटिका, मानो तेरा तोड़ है।
इसलिए प्रथम पतझाड़ में; मेरा-तेरा जोड़ है॥

ले आया दस दिन पीछे, तू नूतन किसलय।
विटप-राजि पर यथा; गर्भितानल की संचय।
नवल-तरुण-कोमल-स-कान्ति, यह शान्ति-दात्र हैं।
किन्तु न जाने कहाँ ? आज वे शान्ति-पात्र हैं।
इस जगह शान्ति-सुख का प्रभट; नित नव काल-दुकाल है।
अब केवल तेरे साम्य को; एक धधकती ज्वाल है।

अहो, दिये यह तान, बेलिमय बहु वितान वर।
कर लेंगे निर्वाह चलो, इनमें ही बेघर।
यह पीतमा पुनीत, पुष्पिता लता लिये है।
या दुखियों के पीत वदन का साथ दिये है।
तू लसत निरालस ऋतुपते ! पर सहयोगी अलस है।
है इतना ही अन्तर सखे, हम नीरस तू सरस है।

भ्रमरावलि की गुंज, कुंज गुंजित करती है।
कूक कोकिला हूक कामिनी में भरती है।
यहाँ भूक की हूक टूक उर के करती है।
हास्य भाव या दस्यु भावनाएँ भरती है।
है प्रकृति सखी तेरी, यहाँ सखा विधाता हन्त है।
रे रे वसन्त ! तुझसे प्रथम, इस वसन्त का अन्त है।

दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक खण्ड

वेदस्वरूपनिरूपणम्

श्री दीनानाथ शर्म्मा शास्त्री सारस्वतः [विद्याभूषणः, विद्यावागीशः, विद्यानिधिः]

श्रीमतो रायरायां महीमहेन्द्र-महाराजाधिराजमहारावल-सर श्री लक्ष्मणसिंह साहब बहादुर के० सी० एस० आई-इत्यभिख्यया विश्रुतस्य डूंगरपुरनरेशस्य शुभे रजत-जयन्तीमहोत्सवेऽस्मिन्नस्माकमपि तदभिनन्दनग्रन्थे सांस्कृतिकस्थायिनिबन्धप्रकाशनस्य अवसरः प्राप्तः। आशास्यते यद्विद्वज्जनानामावश्यकविषयेऽत्र अवश्यं दृक्पातः स्यात्।

वेदस्य परिमाणनिरूपणं वेदस्वरूपस्यान्तः पतति। अयमीदृशोऽस्ति विषयो यद्-यदीयपरिचयो द्विजानां विशिष्टतयापेक्षणीयः; परन्तु दुःखेनेदं कथ्यते यत् तेषामितः प्रणिधानमेव नास्ति। मनुस्मृतौ प्रोक्तम्—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (२।६) अर्थाद् धर्म्मस्य मूलं सम्पूर्णो वेदोऽस्ति। तद् यावद् वेदस्य इत्ता न ज्ञायेत; तावद् धर्म्मस्य पूर्णज्ञानं कथं भवितुमर्हेत्?

अद्यतनैरर्वाचीनसम्प्रदायैः स्वस्वार्थं सिद्ध्यर्थं हिन्दुजनता इमां भ्रान्तिं नीता यद्—वर्तमानकाले प्राप्यमाणा ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता, सामवेदसंहिता, अथर्ववेदसंहिता—इति चत्वारो ग्रन्था एव चत्वारो वेदाः; अवशिष्टाः काठकसंहिता, काण्वसंहिताप्रभृतयोऽमीषामेव शाखाः; न ता वेदाः इति। एताभ्यो भिन्नानि शतपथब्राह्मणादीनि ब्राह्मणभागान्तर्गतानि; ना तानि वेदाः। बहवः सनातनधर्म्मिपण्डिता अपि एतदेव प्रतियन्ति। एतद्भ्रान्ति-प्रसारे प्रमुखभाग आर्यसमाजप्रवर्त्तकेन स्वामिदयानन्देन तदनुयायिभिश्च उपात्तः, अन्यो भागः स्वयं सनातनधर्म्मपण्डितमण्डलेनाऽऽत्तो यो वेदमन्यदीयां सम्पत्तिं मत्वा वैदिकवाङ्मये प्रणिधानमेव नार्प्ययति।

अत्र निष्कर्षोऽयं ज्ञातव्यो यद्वेदस्य स्थूलरूपेण द्वौ भेदौ; एको मन्त्रभागः, द्वितीयो ब्राह्मणभागः। इमावुभौ मिलित्वा वेदो भवति। उपनिषद् आरण्यकं च ब्राह्मण-भागान्तर्गण्यते। वेद-मन्त्रभागस्य चत्वारो भेदा भवन्ति, ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्ववेदश्च। एषां चतुर्णां ११३१ संहिता भवन्ति। आसां नाम मन्त्रभागात्मको वेद इति। संहितानाम् (शाखानाम्) एतावन्त्येव ब्राह्मणानि, एतावन्त्येव आरण्यकानि, एतावत्य एवोपनिषदो भवन्ति। अयं सर्वो ब्राह्मणभागात्मको वेदः। तस्यैव मन्त्रभागस्य प्रयोगार्थं तावन्ति श्रौतसूत्राणि, गृह्यसूत्राणि, धर्म्मसूत्राणि च भवन्ति-सोऽयं कल्प उच्यते। अयं कल्पो वेदस्य सहायकः। इति संक्षेपेणाभिधाय विषयोऽयमुपक्रम्यते तथाहि—

वादिप्रतिवादिसम्मतेन व्याकरणमहाभाष्यकृता श्रीपतञ्जलिमुनिना पस्पशाह्निके 'सर्वे देशान्तरे' इति वार्त्तिकं विवृण्वानेन प्रोक्तम्—'चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः। एकशतम् (१०१) अध्वर्यु (यजुर्वेद) शाखाः। सहस्रवर्त्मा (१०००) सामवेदः, एकविंशतिधा (२१) बाह्वृच्यम् (ऋग्वेदः)। नवधा (९) आथर्वणो वेदः, अत्र महाभाष्यकारेण यजुर्वेदस्य १०१ संहिताः, सामवेदस्य १००० संहिताः, ऋग्वेदस्य

२१, तथा अथर्ववेदस्य ९ शाखा: प्रोक्ता:। तत: १०१+१०००+२१+९ एषां योगाच्चतुर्णां वेदानां ११३१ संहिता भवन्ति।

सर्व्वानुक्रमणीवृत्ति-भूमिकायां षड्गुरुशिष्येणाप्येवं स्वीकृतम्। केवलमथर्ववेदस्य, तेन मतान्तरात् १५ शाखा अपि मता:, परं सिद्धान्तपक्षो नवशाखानामस्ति। एवं 'प्रपञ्चहृदय' ग्रन्थस्य द्वितीयप्रकरणेपि चतुर्णां वेदानां ११३१ संहिता: (शाखा:) स्वीकृता:। स्वा० दयानन्देनापि वसुकालाङ्कचन्द्राब्दे प्रणीते स्व 'नामिक' ग्रन्थे महाभाष्यस्योक्तोद्धरणं दत्त्वा इत्थमर्थापितम्—'साङ्गोपाङ्ग वेद अर्थात् एक सौ एक व्याख्यानयुक्त यजु:, हजार व्याख्यानयुक्त साम, इक्कीश व्याख्यानयुक्त ऋक्, नव व्याख्यानयुक्त अथर्ववेद' पृ० ४। अत्र शाखा इत्यस्यार्थो व्याख्यानम्—अत्र उपरिष्टाद् विचार्य्यते। फलतोस्मिन्नप्यर्थे वेदस्य ११३१ शाखा: सिद्ध्यन्ति। परं पश्चात् सत्यार्थप्रकाशस्य द्वितीयावृत्तौ स्वामिदयानन्देन अथवा तत: पश्चात् तदीयेन केनचिच्छिष्येण तत्र किञ्चिदन्तरं कृतम्। तत्रेदं सिद्धान्तितं यद्—मूलवेदाश्चत्वार: सन्ति, परमदसीया: शाखा: ११२७ सन्ति। इदमेव मतं सम्प्रति आर्यसमाजस्यापि मान्यम्। इदमेव स्वा० दयानन्दस्य मतं कथ्यते था च आर्यसमाजिपण्डितेन श्रीराजारामशास्त्रिणा स्वकीयाथर्ववेदभाष्यस्य भूमिकाया: प्रथमपृष्ठे लिखितम्—'श्री स्वामी दयानन्दसरस्वती का मत यह है कि—शाकल्यसंहिता ऋग्वेद, माध्यन्दिनसंहिता यजुर्वेद, कौथुमसंहिता सामवेद, शौनकीयसंहिता अथर्ववेद है" यद्यपि स्वामिना आसां शाखानां नाम क्वचन नोक्तं न च स्वीकृतम्।

परन्तु शास्त्रीय: सिद्धान्तोऽयं यत् सर्व्वा: शाखा एव चत्वारो वेदा:। एतदुक्तं भवति—यथा वेदशब्द: समुदायवाचकोऽस्ति; तथा ऋग्वेदादिशब्दा अपि समुदायवाचका: सन्ति। यथा समुदायवाचकेन वेदशब्देन ऋग्यजु:सामाथर्वेति-चतुरवयवा: संहत्यापि गृह्यन्ते, 'समुदायेषु हि शब्दा: प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इति पस्पशाह्निकस्थमहाभाष्योक्त्या च ऋग्यजु:सामादिषु अन्यतमस्यापि नाम वेद इति कथ्यते; तथैव ऋग्वेदादिशब्दा अपि समुदायशब्दा:। तदिमे शब्दा: स्वस्वसर्व्वशाखा: समुदितीकृत्यापि कथयितुं शक्यन्ते, 'समुदायेषु हि शब्दा: प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते, इत्युक्त्या च ऋग्वेदादिशब्दास्तदीयैकैकशाखाया अपि कथयितुं शक्या:।

तथा च ऋग्वेदस्यसर्व्वा: २१ शाखा: समुदायरूपेणापि ऋग्वेदनाम्ना आख्यायन्ते, पृथक् पृथक् शाकल्यसंहितादयस्तदीय शाखा अपि ऋग्वेदनाम्ना आख्यायन्ते। एवं यजुर्वेदस्य सर्वा: १०१ संहिता अपि समुदायरूपेण यजुर्वेदनाम्ना कथयितुं शक्या:; पृथक् पृथक् तस्य वाजसनेयीसंहिता, काण्वसंहिता, तैत्तिरीयसंहिता, मैत्रायणीसंहिता काठकसंहितादिशाखा अपि यजुर्वेदनाम्ना कथयितुं शक्या:। यजुर्वेदस्य विषये एतदपि स्मर्तव्यं यत्—तस्य शुक्ल-कृष्णनाम्ना द्वौ भेदौ। महाभाष्यादौ यजुर्वेदस्य १०१ शाखा उभयो: संहत्यैवोक्ता:। तत्र १५ शाखा: शुक्लयजुर्वेदस्य, तथा ८६ शाखा कृष्णयजुर्वेदस्य सन्तिइति सर्व्वसम्मतम्। एवं सामवेदाथर्ववेदविषयेपि ज्ञेयम्।

अत्रेदमवधेयं यत्—११३१ शाखात्मको वेदस्याऽयं भागो मन्त्रभागनाम्ना कथ्यते। अन्यो वेदभागो ब्राह्मणभागनाम्ना प्रसिद्ध:। पृथक् पृथग् उभयोरिदमिदं नाम; सम्भूय उभयोर्नाम वेद इति, यतो हि वेद इति समुदायवाचक: शब्द इति प्राक् प्रत्यपीपदाम। परं

'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते' इति भाष्यकारोक्तन्यायाद् उभौ भिन्न-भिन्नतयापि वेदनाम्ना कथयितुं शक्यौ। ब्राह्मणभागस्यैवान्तरूपनिषदारण्यकयोः सामवेशोपि जायते। इदमेव प्राचीनमतम्। आर्यसमाजिना श्रीराजारामशास्त्रिणा श्रौतसूत्रकाराणां मतमाचक्षाणेन स्वकीयाथर्ववेदभाष्यभूमिकायां लिखितम्—'वैदिक साहित्य के दो भाग हैं, मन्त्र और ब्राह्मण। जिनमें मन्त्रों का संग्रह है, वे मन्त्रसंहिताएँ कहलाती हैं, और जिनमें ब्राह्मणों का संग्रह है वे ब्राह्मण कहलाते हैं। आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मणभाग के परिशिष्ट होने से ब्राह्मणभाग के अन्तर्गत माने जाते हैं, यह सारा साहित्य मिलकर वेद कहलाता है। यह कात्यायन आदि श्रौतसूत्रकारों का मत है'।

'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणम्' ७।१।२ इति छान्दोग्योपनिषद्-वचने ऋग्वेदादिशब्दाः समुदायपराः। तैर्ऋग्वेदादेः मन्त्राणां संहितानां सर्वेषां च ब्राह्मणानां ग्रहणमिष्टम्; अथवा उक्तपूर्वभाष्याकारन्यायेन स्वकुलपरम्परागतैकैकशाखाब्राह्मण-चतुष्टयस्य वा नाम। अत एव मनुस्मृतेः ३।२ पद्यस्य टीकायां श्रीकुल्लूकभट्टेन प्रोक्तम्—

'वेदशब्दोऽयं भिन्नवेदशाखापरः। स्व-शाखाध्ययनपूर्वकवेदशाखात्रयं द्वयमेकां वा शाखां मन्त्र ब्राह्मण क्रमेणाधीत्य' इति।

परन्तु स्वा० दयानन्देन तदनुयायिगणेन च इयं भ्रान्तिः प्रसारिता यद्-अद्यत्वे सर्वत्र प्रचलिताश्चतस्रः संहितास्तु चत्वारो वेदाः सन्ति, अवशिष्टाः ११२७ संख्यका-स्तदीयाः शाखाः सन्ति—इति; परन्तु मतस्यास्य भित्तिर्बालुकामय्यस्ति। यं स्वा० दयानन्द ऋग्वेदमभिधत्ते, सा ऋग्वेदस्य 'शाकल्यसंहिता' नाम्नी शाखा। यं स यजुर्वेदमाचष्टे, सा यजुर्वेदस्य 'वाजसनेयी संहिता' नाम्नी शाखा। यमसौ समवेदं वक्ति, असौ साम-वेदस्य 'कौथुमसंहिता'ख्या शाखा। अथर्ववेदं यं स सूचयति; साऽथर्ववेदस्य 'शौनकी-संहिता' नाम्नी शाखा। यथा शाखासमुदायात् पृथक् शाखी न लभ्यते, यथा ऋग्वेदादितः पृथग् वेदो न लभ्यते, तथा ऋग्वेदादयोऽपि स्वशाखाभ्यः पृथक् स्वभिन्नसत्तां न निदधति। अत एव 'ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च' (१२।११२) इति मनुस्मृतिपद्यस्य व्याख्यायां श्रीकुल्लूकभट्टेन प्रोक्तम्—'ऋग्यजुःसामवेदशाखानां येऽध्येतारस्तदर्थ-ज्ञातरश्च'। १२।२६४ पद्यस्य व्याख्यायामपि श्रीकुल्लूकभट्टेन प्रोक्तम्—'ऋच ऋग्मन्त्राः, यजूंषि-यजुर्मन्त्राः, सामानि, एषां त्रयाणां पृथग् पृथक् मन्त्रब्राह्मणानि, एष त्रिवृद्वेदो ज्ञातव्यः। य एनं वेद स वेदवित्'। एवं मन्त्राः (शाखाः) ब्राह्मणानि च मिलित्वा वेदाः सिद्धाः।

केचिद् आधुनिका अनुसन्धायका 'ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः सशाखा-श्चत्वारः पादा भवन्ति' १।२ इति नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषदो वाक्ये वेदतः पृथक् शाखाशब्दं दृष्ट्वा भ्रान्ताः सन्तः 'शाखा वेदावयवाः' इति मतं सदोषं मन्वते; ते स्खलन्ति। नैरुक्त-वाक्ये 'एकशतमध्वर्युशाखाः' इत्यादिमहाभाष्यकारस्य वाक्यतः किं वैलक्षण्यं दृष्टम्, यत् तेषामुक्तोपनिषद्वाक्यं स्वपक्षोपोद्वलकं प्रतीमभूत्? 'सशाखो वृक्षः' इतिकथनेन शाखा-वृक्षौ पृथक्-पृथक् सत्तावन्तौ न भवतः।

११२७ शाखा व्याख्यानम्, ४ वर्तमानग्रन्थाश्च मूलवेद इतिमतमपि निर्मूलम्। तैत्तिरीयकाण्वादिशाखासु वादिसम्मतवेदानां व्याख्या नास्ति, किन्तु तादृशा एव मन्त्राः। यदि प्रतिपक्षिणः शाखा वेदान् न मन्यन्ताम्, तदा शाखाऽतिरिक्तान् वेदान् कचिद् गवेषयन्तु। किं शाखातो भिन्नोपि शाखी कचिद् मिलेत्? कदापि नहि। सर्वाः शाखाः सम्भूयैव शाखी भवति। विषयेऽत्र वयमार्यसमाजिकविचारवतोर्द्वयोर्विदुषोर्मतमुद्धरामो येन ज्ञायेत यत्-शाखाभ्यो भिन्नो वेदो न भवति, शाखाश्च व्याख्यानं न भवति-इति।

स्वा० हरिप्रसादवैदिकमुनिना स्व'वेदसर्वस्व'प्रथमभागे ४०पृष्ठतः ४२पृष्ठपर्य्यन्तं लिखितम्—'स्वा० दयानन्द ने 'शाखा' पद का अर्थ वेदव्याख्यान लिखा है। ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य-विषय प्रकरण में लेख का आकार इस प्रकार है—'एकादशशतानि सप्तविंशतिश्च (११२७) वेदशाखा वेदव्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति' इस लेख का खण्डन करते हुए सत्यव्रत सामश्रमी ने ऐतरेयालोचन के शाखानिर्णय प्रकरण में बड़ा उपहास किया है—'हन्त! का नाम संहिता शाखेति व्यपदेशशून्या तेन महात्मना उररीकृता, यस्या मूलवेदत्वं मत्वा शाखेति प्रसिद्धानामन्यासां तद्व्याख्यानग्रन्थत्वं मन्तव्यं भवेदिति तु अस्माकमज्ञेयमेव'।

इस उपहास का आशय स्पष्ट है कि—जितनी वेदसंहिता हैं, वे सब शाखा नाम से कही जाती हैं। ऐसी एक भी संहिता नहीं, जो शाखा नाम से न कही जाती हो। जिस यजुर्वेदसंहिता पर स्वा० दयानन्द ने भाष्य किया है, वह भी 'माध्यन्दिनी शाखा' सुप्रसिद्ध है। फिर उनका यह कथन कि 'ग्यारह सौ सत्ताइस शाखा जो वेदों के व्याख्यान-ग्रन्थ हैं—परतः प्रमाण मानता हूँ—' सर्वथा त्याज्य है [या सभी शाखा व्याख्यानग्रन्थ वा परतः-प्रमाण होंगी, या सभी मूलग्रन्थ (वेद) वा स्वतःप्रमाण होंगी]।

इस उपहास के अनन्तर पं० सत्यव्रत ने उसका समाधान किया है, वह भी द्रष्टव्य है। वह यह है कि—"अपि वा शाखातत्त्वानभिज्ञेन केनचित् तच्छिष्येण तत्रैवं स्या विनिवेशितम्।" इस समाधान को चाहे कोई अदूरदर्शी समाधान समझे, वस्तुतः यह भी उपहास है। प्रथम उपहास स्वामीजी की व्यक्ति पर है, यह दूसरा उनके अनुयायियों पर है। प्रायः श्रद्धाजड, विद्याविमुख, अज्ञानमत्त पुरुष, स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में लिखी गई प्रमाण-विरुद्ध, शास्त्रविरुद्ध तथा स्वमन्तव्यविरुद्ध बातों को दूसरों की मिलाई हुई कह देते हैं, जो अत्यन्त निन्दनीय है। क्योंकि स्वा० दयानन्द ने एक ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में ही नहीं, स्वमन्तव्यामन्तव्य में भी लिखा है—"११२७ वेदों की शाखा जो वेदों का व्याख्यान हैं, परतः-प्रमाण मानता हूँ।' मिलाना एक पुस्तक में हो सकता है, सब पुस्तकों में नहीं।

मैंने [वैदिक मुनि ने] बहुत चाहा कि—पण्डित सत्यव्रत के प्रथम उपहास का – जो स्वामी दयानन्द की व्यक्ति पर किया गया है, किसी प्रकार प्रतीकार किया जावे, क्योंकि स्वामी में मेरी भी श्रद्धेय बुद्धि है। परन्तु कोई वश नहीं चला। स्वामी का अर्थ सर्वथा निराधार होने से अत्यन्त निर्बल है'।

उक्तपुस्तकस्य ४३पृष्ठे 'वैदिकमुनिना' लिखितम्—'जब यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि—सब शाखा-ग्रन्थों में कोई ग्रन्थ व्याख्यान और व्याख्येय नहीं है, किन्तु काचित्क पाठभेद और पाठ न्यूनाधिक्य को छोड़ के सब एक दूसरे के समान हैं, तब ११३१ में चार शाखा व्याख्येय और शेष ११२७ [शाखा] व्याख्यान हैं, यह कल्पना करना और मानना कैसे समञ्जस कहा जा सकता है। वास्तव में महाभाष्य कृत् पतञ्जलिमुनि का उक्त [११३१ शाखावाला] लेख शाकल आदि प्रवचनकर्ता ऋषियों के भेद से वेदों के ११३१ भेदों को कहता है'।

पाठकैरुक्तोद्धरणतो ज्ञातं स्याद् यत् सर्व्वा एव शाखा मूलवेदाः सन्ति; व्याख्यान-व्याख्येयता एषु सर्व्वथा नास्ति।

केचिद् आग्रहिणो वर्त्तमानशाखाचतुष्टयस्थकतिचिन्मन्त्रपदानामन्यशाखासु पर्य्यायवाचकान् दर्शयित्वा ताः शाखा व्याख्यानग्रन्थान् सिषाधयिषन्ति। तेषां कथनमस्ति यद् "ऋग्वेदे एकः पाठोऽस्ति 'सचिविदं सखायं' १०। ७१। ६ एतदीयमेव व्याख्यानं तैत्तिरीयारण्यकेऽस्ति 'सखिविदं सखायं' १। ३। १ इति। यजुर्वेदे एकः पाठोऽस्ति 'भ्रातृव्यस्य वधाय' १। १८, तदीयमेव व्याख्यानं काण्वसंहितायां 'द्विषतो वधाय' १। ३ इत्यस्ति।" परमिदमसङ्गतम्। एवं सति तु तदभिमतवेदचतुष्टयेऽपि ईदृशव्याख्यानं लभ्यते; तदा ते तानपि वेदान् न मन्यन्ताम्। यथा च—यजुर्वेदे (वाजसनेयी संहिता) १९। ६०) मन्त्रे। 'ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ताः इति पदमस्ति; ऋग्वेदस्य (शाकल्य सं०) १०। १५। १४ मन्त्रे, अथर्ववेदस्य (शौनकसंहिता) १८। २। ३५ मन्त्रे च (यं ते मूलवेदं मन्वते) 'ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धाः' इत्येवम् 'अग्निष्वात्त' पदस्य व्याख्या प्राप्ता; अवशिष्टः सर्व्वो मन्त्रः समानोऽस्ति। तत् किं तथाऽऽचक्षाणा ऋग्वेदं (शाकल्य सं०) तथा अथर्ववेदं (शौनक सं०) मूलवेदं न मन्येरन्?

एकद्वाऽन्योदाहरणान्यपि दृश्यन्ताम्—'प्रजापते! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव' ऋ० (शा० सं०) १०। १२१। १० अत्र 'विश्वाजातानि' इति पाठोऽस्ति; यजुर्वेदे (वा० सं०) 'प्रजापते! विश्वा रूपाणि परि ता बभूव' २३। ६५ अथर्ववेदे (शौ० सं०) च 'विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान' ७। ८५ (८०)। ३ इति पाठोऽस्ति। अवशिष्टः सर्व्वो मन्त्रस्तुल्यः। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इतिमन्त्रे अथर्ववेदे (शौ० सं०) द्वितीयपादस्तृतीय-पादश्च—'बाहू राजन्योऽभवत्। मध्यं तदस्य यद्वैश्यः' १९। ६। ६ इति पाठोऽस्ति। यजुर्वेदे च (वा सं०) 'बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद् वैश्यः' ३१। ११ इति पाठोऽस्ति। शिष्टा सर्वा समानता। तत् किमत्र इतरेतरव्याख्यानं नास्ति? एवं यजुर्वेदे पुरुषसूक्ते 'उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति' ३१। २ इति पाठः, परमथर्ववेदे तद्व्याख्यान-रूपोऽयं मन्त्रः—'उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह' १९। ६। ४ इति, अत्र 'ईशानः' इत्यस्य स्पष्टतया व्याख्यानम् 'ईश्वरः' इति। 'ततो विराडजायत' ३१। ५ इति यजुर्वेदे पाठः, तस्यैव व्याख्यानभूतपाठोऽथर्ववेदे 'विराडग्रे समभवत्' १९। ६। ९। एवं यजुर्वेदे। 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' यजुः ३१। ३ इतिपाठः; सामवेदे च 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' आरण्यकपर्वणि ६। ४। ५ इति पाठः 'विश्वा' इत्यस्य 'सवा' इति व्याख्या।

एवं 'वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत' अथर्व० १८ । ३ । १३ अत्र 'सपर्यत' इति विशिष्टः पाठः । 'वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य' ऋ० १० । १४ । १ अत्र 'दुवस्य' इति पाठः ययोरर्थः समानः । तत् किमेतदाख्याता श्रीभगवद्दत्तो महाशयो व्याख्यान व्याख्येयतां मत्वा अथर्ववेदमृग्वेदादेः शाखां मन्येत ? एवमत्र अन्येपि मन्त्रा दातुं शक्याः । तदेवं शाखानां व्याख्यानग्रन्थता पराहता ।

किम् 'एष वोमी राजा' यजुः (वा० सं०) ९ । ४० अस्य मूलपाठस्य 'एष वः कुरवो राजा, पञ्चाला राजा' शु० यजुः (काण्व०) ११ । ३ । ३ 'भरतो राजा' कृष्णयजुः (तै० सं०) १८ । १० । १२ 'जनते राजा' कृष्णयजुः (काठ०) १५ । ७, मैत्रा० ११ । ६ । ९ इति शाखान्तरपाठाः पर्यायवाचकशब्दाः ? 'ततो न विचिकित्सति' यजुः (वा० सं०) ४० । ६ इति पाठस्थाने 'ततो न विजुगुप्सते' यजुः (काण्व०) ४० । ६ इति पदं किं पर्य्याय-वाचकम्? कस्याञ्चित् शाखायां बालखिल्यसूक्तानां भावः, क्वचिच्चाऽभावः किमियं व्याख्यान-व्याख्येयता ? एवमाचक्षाणा ब्राह्मणभागमपि वेदस्य व्याख्यानं मन्यन्ते । तत् किं ते तं वेदस्य शाखासु अन्तर्भावयन्ति ? किं त 'सचिविदं सखायं' इत्यस्य व्याख्यानभूतं 'सखिविदं सखायं' इति तैत्तिरीयारण्यकं शाखान्तर्भूतं मन्यन्ते ? वस्तुतोऽयं तेषां निर्मूलः पक्षः । शाखा अथवा अवयवाः, शाखी अथवा अवयवी पृथक् पृथग् न भवतः । न्यायदर्शने प्रोक्तम्—

'यस्य [अवयविनः] यतः [अवयवसमुदायाद्] अन्यत्र [भिन्नतया, स्वातन्त्र्येण इत्यर्थः] आत्मलाभानुपपत्तिः [स्वस्वरूपा निष्पत्तिः]; तस्य [अवयविनः] सः [अवयवसमुदायः] आश्रयः [आधारः] । न कारणद्रव्येभ्यः [अवयवेभ्यः] अन्यत्र [भिन्नस्थाने, स्वातन्त्र्येण इतिभावः] कार्यद्रव्यम् [अवयवि] आत्मानं लभते [स्वसत्तां स्थापयतीत्यर्थः]' ४।२।१२ एतेन ये मूलवेदं तथा शाखाः पृथक् पृथक् पृथग् मन्यन्ते, तेषां मतं निरस्तम् ।

वयं पूर्वमलिखाम यद्-महाभाष्यकृता यजुर्वेदस्य याः १०१ शाखाः प्रोक्ताः, तास्तु शुक्लकृष्णा, उभयविधा अपि शाखा गणिताः । इमाः सर्वा एव वेदाः । स्वा० दयानन्देन कृष्णयजुर्वेदो वेदो न मतः; परं तन्मान्यः श्रीपतञ्जलिः कृष्णयजुर्वेदमपि वेदं मेने । प्रत्युत वेदस्य सर्वाः शाखा वेदं मेने । एतद्विषयं कतिचित् तदुद्धरणानि दृश्यन्ताम्— अन्येषामपि च ।

(१) ३।१।७ सूत्रस्य भाष्ये श्रीपतञ्जलिना लिखितम्—'ऋषिः पठति, शृणोत ग्रावाणः' इति । अत्र ऋषिः—वेदः, यथा च 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः' ३।२।१८६ 'बन्धने चर्षौ' ४।४।९६ इति पाणिनिसूत्रेषु । तदेवोक्तभाष्यस्थलं विवृण्वानेन श्रीकैयटेन लिखितम्—'ऋषिः वेदः ।' एवम्'ऋषिः' नाम गृहीत्वा 'शृणोत ग्रावाण' 'इति मन्त्रोद्धरणेन सिध्यति यद्-भाष्य-कारोऽमुं वेदमन्त्रं मन्यते । पाणिनिनापि 'तप्तनप्तनथनाश्च' ७।१।४५ इति वैदिकसूत्रे 'तप्' इत्यस्योदाहरणे स एवाभिप्रेतः । परमयं शुक्लयजुर्वदे न लभ्यते । तदीय वाजसनेयी-संहितायां तु 'श्रोता ग्रावाणः' ६।२६ इत्येवंरूपे दृष्टः । एवमेव काण्वसंहितायाम् ६।३८। यद्यपि 'शृणोत' 'श्रोता' इत्यनयोरर्थभेदोनास्ति, तथापि शब्दभेदस्तु वर्त्तते एव । वेदः शब्दप्रधान एव तु सर्वसम्मतः । 'तत् सवितुर्वरेण्यं' इति गायत्रीमन्त्रोस्मिन्नेव शाब्दिकरूपे तु वेदः; न एतस्मिन्नर्थे । अन्यथा तु विवाहादयः संस्काराः केवलं वेदमन्त्रानुवादैरपि कार्य्येरन्;

परं तत्र वेदता न भवति। अस्तु, कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहितायां तु 'शृणोत ग्रावाणः' १।३।१३।१ इति दृश्यते। काठकसंहितायामपि ३।३३, मैत्रायणसंहितायामपि १।३।४ किञ्चिद्भेदेन दृश्यते। ततश्च कृष्णयजुर्वेदोपि वेदः (ऋषिः) सिद्धः। तद् वेदत्वे सर्वाः संहिता* वेदः सिद्धः।

महाभाष्यस्य प्रत्याहाराह्निके 'एओङ्'सूत्रे भाष्यं कुर्वता श्रीपतञ्जलिना वादिद्वारा अर्धैकारविषये एकः प्रश्न उपस्थापितः **'ननु भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं च अधीयते—'सुजाते एश्वसूनृते, अध्वर्यो ओद्रिभिः सुतम्'** इति; अर्थात् सात्यमुग्रि-राणायनीयनामक सामवेदशाखायाम अर्ध एकारो मिलति। तत्र अस्य एवमुत्तरं दत्तम्—**'पारिषद कृतिरेषा तत्रभवताम्! नैहि लोके नाऽन्यस्मिन् वेदे अर्धएकारोऽर्धओकारो वास्ति'** इति। अर्थात् अस्मिन् राणायनीयसंहितानाम्नि वेदे तु अर्धौकारः प्राप्यते; अन्यस्मिन् वेदे नास्ति। अत्र सामवेद(छन्दोग)स्य राणायनीय-शाखा वेद उक्तः। इह 'नैव हि लोके नापि च वेदे' इत्यनुक्त्वा 'नान्यस्मिन् वेदे' इति यदुक्तम्; एतेन स्पष्टं यद्-राणायनीयप्रभृतयः शाखा वेदाः।

(२) आर्यसमाजानुसारमथर्व्व वेदः स, यस्यारम्भे 'ये त्रिषप्ताः परियन्ति' (शौनक-संहिता) इत्यादिमन्त्रोस्ति, परन्तु महाभाष्यकारेण अथर्ववेदस्य आरम्भिकमन्त्रः 'शं नो देवी' रिति लिखितः। गोपथब्राह्मणं यद् अथर्ववेदस्य पैप्पलादसंहिताया ब्राह्मणमस्ति, तेनापि अथर्ववेदस्यारम्भिको मन्त्रः 'शं नो देवी' रिति मतः। ततः पैप्पलादशाखापि अथर्ववेदः सिद्धः, यतो हि उक्तमन्त्रः पैप्पलादशाखाया एव आरम्भिकमन्त्रः। यथा च—छान्दोग्य-मन्त्रभाष्ये गुणविष्णुनापि प्रोक्तम् 'शं नो देवी' रिति अथर्ववेदादिमन्त्रोयं पिप्पलाददृष्टः'। 'वेदसर्वस्वे' आर्यसमाजिकस्वामिहरिप्रसादेनाप्युक्तम्—'शौनकसंहिता का आरम्भ 'ये त्रिषप्ताः परियन्ति' मन्त्र से होता है, और पैप्पलादसंहिता का 'शं नो देवीरभिष्टय' मन्त्र से आरम्भ होता है······महाभाष्यकार पतञ्जलिमुनि और गोपथ ब्राह्मण के कर्ता ने जिस 'शन्नो देवी' मन्त्र से अथर्वसंहिता का आरम्भ लिखा है वह पिप्पलादसंहिता में भी पाया जाता है, शौनकसंहिता में नहीं।' पृ० १०२। एवं पैप्पलादशाखाया अपि अथर्ववेदत्वात् सर्वाः शाखा वेदः सिद्धाः।

---

*वेदस्य सीमा केवलं वर्तमानसंहिताचतुष्टयमात्रं नास्ति; अत्र एकं प्रबलं गृह्यताम्—पाणिनिना लौकिकस्य महाव्याकरणसमुद्रस्य त्रिषष्टिरष्टाध्याय्यां परिमितैः सूत्रैः कृता। यदि वेद इदं वर्तमानपुस्तकचतुष्टयमात्रमभविष्यत्, तदा तत्समस्तं तन्नियमव्यवस्थापने किं नाम काठिन्यमासीत्। परं तेन वैदिकनिष्पत्तिप्रदर्शने कथं नाम बहुत्र व्यत्ययाः स्वीकृताः; कथन्नाम 'बहुलं छन्दसि' इति बहूनि सूत्राणि बहुलशब्दयुक्तानि प्रणिनाय; तेन स्पष्टं यद्—११३१ संहितास्तावन्त्येव ब्राह्मणानि; तावत्य एव मन्त्रोपनिषदः, तावत्य एव ब्राह्मणोपनिषदः, तावन्त्येवारण्यकानि—इत्येवमनन्तो विद्यते वेदः; यत्पारमप्राप्य तेन छान्दससूत्रेषु बहुत्र व्यत्ययस्य बहुलतायाश्चाश्रयो गृहीतः। एतेन स्पष्टं यद् वेदस्य सीमा वर्तमानग्रन्थचतुष्टयमात्रं नास्ति; किन्तु मन्त्रब्राह्मणात्मकः सर्वः समुदाय एव वेदः।

(३) महाभाष्यस्य पस्पशाह्निके 'अस्त्यप्रयुक्त:' इत्याक्षेपवार्तिके दर्शितानामप्रयुक्त-शब्दानां विषये श्रीपतञ्जलिना प्रोक्तम्—'ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमता: शब्दा:, तेषामपि प्रयोगो दृश्यते। क ? 'वेदे' इत्युक्त्वा तेषां वेदे प्रयोगो दर्शित:। तत्र 'यद्वो रेवती' इति मन्त्र: शाखान्तरस्य। अत एव सर्वा: शाखा वेद: सिद्धा:।

(४) 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' २।३।६२ इति कात्यायनस्य छान्दसवार्तिकम्। अत्र भाष्यकृता 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्व:' इत्युदाहरणमुद्धृतम्। परमिदं वेदव्यपदेश्यं प्रसिद्ध ग्रन्थचतुष्टये तु न प्राप्तम्; किन्तु तैत्तिरीयसंहितायां २।५।१।७ अथवा तद्ब्राह्मणे; यतो हि ब्राह्मणभागोपि तत्र मिश्रित एव। तत: प्रचलित-शाखाचतुष्टयतोऽन्या: शाखा अपि वेद: सिद्धा ब्राह्मणभागोपि च।

(५) 'स्नात्व्यादयश्च' ७।१।४९ इति पाणिनिसूत्रम्। अत्र 'क्त्वापि छन्दसि' ७।१।३८ सूत्रत: 'छन्दसि' इति प्रकृतम्। अदसीयमुदाहरणं 'स्विन्न: **स्नात्वी** मलादिव' इति। सोऽयं मन्त्र: काण्वसंहितायां (शु० य०) 'स्विन्न: स्नातो मलादिव' २२।५ इतिरूपे दृश्यते। वाजसनेयसंहितायामपि (शु० य०) २०।२० एवमेव। अथर्ववेदशौनकसंहितायां 'स्विन्न: स्नात्वा मलादिव' ६।११५।३ इतिरूपे दृश्यते। परं कृष्णयजुर्वेदीय-काठकसंहितायां 'स्विन्न: **स्नात्वी** मलादिव' ३८।६३ इति पाणिनिप्रोक्तरूपे, एवमेव च कृष्णयजुर्वेदीयमैत्रायण-संहितायामपि ३।११।१११ दृश्यते। वादिन: कृष्णयजुर्वेदं शाखामात्रं वा वेदं न मन्वते; परमत्र पाणिनिना कृष्णयजुर्वेदस्य शाखाविशेषो पि वेदो मत:।

(६) 'छन्दसि निष्टर्क्य—' ३।१।१२३ सूत्रे पाणिने: 'निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकाम:' त्युदाहरणमिष्टम्। परमिदं संहितायां न दृष्टम्, ब्राह्मणभागस्य च प्रसिद्धम्। ततो ब्राह्मण-भागोपि वेद: सिद्ध:। आख्यातिके स्वा० दयानन्देनापि इदमेवोदाहरणं दत्तम्।

(७) 'नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम' इत्युदाहरणं निपातप्रकरणे निरुक्ते १।११।१ उद्धृतम्। ३।४।८ पाणिनेश्छान्दससूत्रे च उदाहृतम्। परं वर्तमानसंहिताचतुष्टये च न लब्धम्। ऋक्परिशिष्टे (अष्टमाष्टके पञ्चाध्याये द्वितीयवर्गान्ते) प्राप्तमिदम्। तत् परिशिष्टमपि वेद: सिद्ध:।

(८) यास्कीयनिरुक्ते वेदमन्त्राणां व्याख्यास्ति। स्वा० दयानन्देन शोलेतूरे मुद्रापिते विज्ञापनपत्रे लिखितमासीद्—'नैरुक्तम् १२ तत्र वेदमन्त्राणां निरुक्तय: सन्ति। तत्रैव निरुक्ते ९।१५।१ 'भद्रं वद दक्षिणत:' इति ऋगुद्धृता। परं वर्तमानर्ग्वेदे (शा० सं०) नेयं लब्धा; किन्तु ऋक्परिशिष्टे २।१३।१। तत ऋग्वेदपरिशिष्टमपि ऋग्वेदसंहिताऽसिध्यत्।

(९) 'ओषधे ! त्रायस्वैनं स्वधिते मैनं हिंसी:' इति मन्त्रो यास्केन वेदमन्त्र-भागस्य सार्थक्यनिरूपणप्रकरणे निरुक्ते १।१५।६ उद्धृत.। एवम् 'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' १।२।३५ इति मीमांसादर्शनसूत्रभाष्येपि एष एव मन्त्र उद्धृत:। परं शुक्लयजुर्वेदीय काण्वसंहितायाम् 'ओषधे ! त्रायस्व स्वधिते ! मैनं हिंसी:' ४।२, ५।५४, ६।२० इत्यादौ 'त्रायस्व' इत्यनेन सह 'एनं' इति न दृश्यते। एवं शुक्लयजुर्वेदीयवाजसनेयसंहितायामपि ४।१, ५।४२, ६।१५ काण्ववद् 'एनं' रहितं पाठो दृश्यते; परं निरुक्ते तु 'एनं' द्वयसहित:। तत्र प्रथमम् 'एनं' पदं 'त्रायस्व' इत्यनेन सध्रीचीनम्। द्वितीयम् 'एनं' पदं 'स्वधिते मा'

इत्यनेन सध्रीचीनम्। परं कृष्णयजुर्वेदीयमैत्रायणीसंहितायाम्—'ओषधे ! त्रायस्वैन ँ स्वधिते ! मैन ँ हि ँ सीः' १।२।२, १।२।१०, १।२।११०, ३।९।३ इत्येवं यास्कोद्धृतः 'एनं' द्वयसहित एव पाठो दृश्यते। कृ० य० काठकसंहितायामपि ३।२।९ एवम्। कृ० य० तैत्तिरीयसंहितायामपि १।२।१।१, १।३।५।१ इत्यादि स्थले 'एनं'द्वयघटितपाठो दृष्टः। तदेवं यास्कमते कृष्णयजुर्वेदः शाखामात्रं च वेदः (मन्त्रभागः) सिद्धः।

(१०) एवं यास्केन निरुक्ते पूर्वप्रकरणे एव 'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' १।१५।८ इति मन्त्रभाग उद्धृतः। सोऽयं शुक्लयजुर्वेदेऽस्माभिर्न प्राप्तः; परं कृष्णयजुर्वेदीय-मैत्रायणसंहितायाम १।४।४५ उपलब्धः।

(११) एवमेव पूर्वत्रैव प्रकरणे 'एक एव रुद्रोवतस्थे न द्वितीयः' निरु० १।१५।७ इति मन्त्र उद्धृतः। अयमन्त्वे प्रसिद्धे वेदग्रन्थचतुष्टयमध्ये न प्राप्तः। परमयं मन्त्र इत्थं-रूपे अवश्यमस्ति; यस्तत्रैव दुर्गाचार्येण स्वभाष्ये कात्स्न्र्येन लिखितः। एतेन स्पष्टं यत् प्रचलित-वेदग्रन्थचतुष्टयमात्रं न वेदसीमा, किन्तु सर्वाः ११३१ संहिताः संहत्यैव वेदः। तत् सोयं मन्त्रः क्वचित् शाखान्तरे भवेत्। कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहितायां तु 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' १।८।६।१ इतिरूपे प्राप्तः। ततः सर्वाः संहिता वेदः सिद्धाः।

(१२) निरुक्तकारः 'इत्यपि निगमो भवति' इत्युपन्यस्य वेदप्रमाणं दत्ते—इति विज्ञ-समाजे प्रसिद्धम्। तत्र 'अमेनाँश्चिज्जनिवतश्चकर्थ' 'ग्रास्त्वाऽकृन्तन्नयसोऽतन्वत' इत्यपि निगमौ भवतः, ३।२१।२ इति निरुक्तस्थलं दृश्यताम्। अत्र 'अमेना' इति मन्त्र ऋग्वेद (शा० सं०)स्य। परं 'ग्रास्त्वा' १।१।८ इति सामवेदीयताण्ड्यब्राह्मणस्य, मैत्रायणीय-संहितायां १।९।४ काठकसंहितायां ९।९ वा। तद् ब्राह्मणभागोपि, वर्तमानवेदव्यपदेश्य-शाखाचतुष्टयतोतिरिक्ताः संहिता अपि वेदः सिद्धाः।

(१३) एवं 'पीयति त्वो' 'नेमे देवाः' इत्यपि निगमौ भवतः, इति निरु० ३।२०।५। तत्र पूर्वमन्त्र ऋग्वेदे (शा० सं०) १।१४७।२ 'दृश्यते' 'नेमे देवाः' इति तु ब्राह्मणस्य; अथवा काठकसंहितायां १४।९ स स्वेन वर्तमानप्रसिद्धशाखाचतुष्टयातिरिक्तसंहितायामस्ति। ततो ब्राह्मणभागोपि सर्वाः संहिताश्च वेदः सिद्धाः।

(ख) एवं 'नोपरस्याविष्कुपरि-इत्यपि निगमो भवति' ३।५।२ इत्यपि ब्राह्मणभागस्य कण्डिकानिरुक्ते 'निगम' शब्देन प्रोक्ता। (ग) एवं निरुक्ते 'उतपव्या रथानामद्रिं' 'तं मरुतः क्षुर ँ' इत्यपि निगमौ भवतः, ५।५।१। तत्र प्राक्तनऋग्वेदे (शा० सं०) ५।५२।९ अपरो ब्राह्मणस्य।

(१४) एवं निरुक्ते 'यस्मात् परं नापर—तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' इत्यपि निगमो भवति, २।३।१ इति लिखितम्। इयं कृष्णयजुर्वेदीयश्वेताश्वतरोपनिषदः कण्डिका ३।९ अत्र निगमो (वेदः) यतः। एवमुपनिषदोपि वेदः सिद्धाः।

(१५) 'बहुलं छन्दस्यमाङ—' ६।४।७५ इति पाणिनिसूत्रे 'या वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः' इत्युदाहृतम्। बोधायनधर्मसूत्रेपि २।३।३६ उद्धृतमिदम्। परं मन्त्रोऽयं वर्तमानसंहिताचतुष्टये न प्राप्तः। तत् संहितान्तरे ब्राह्मणे वा क्वचिद् भवेत्। तद् मन्त्रभागस्य सर्वाः संहिता ब्राह्मणभागश्च वेदः सिद्धः।

(१६) 'यथा च' 'व्यवहिताश्च' १।४।८२ इति पाणिनेर्वैदिकसूत्रम् 'आ मन्द्रैरिन्द्र ! हरिभिर्याहि' ऋ० (शा० सं०) ३।४।१ इति मन्त्रभागे प्रवृत्तं दृष्टम्; तथा 'समिधँ सोम्य ! आहर; उप त्वा नेष्ये' ४।४।५ इति छान्दोग्योपनिषद्यपि प्रवृत्तम्। तत उपनिषदोऽपि वेदाः सिद्धाः।

(१७) 'सुपां सुलुक्' ७।१।३९ इति पाणिनिसूत्रे 'कृत्यापि छन्दसि' ७।१ ३८ इति सूत्रतः 'छन्दसि' इति प्रकृतम्। ततोऽनेन सूत्रेण यथा 'सविता प्रथमेऽहन्' ३९।६ इति शुक्ल० वाजसनेयसंहितायां ङेर्लुक्संजायते; 'न ङि० सम्बुद्ध्योः' ८।२।८ इति छान्दसो नलोपाऽभावश्च; तथैव 'यश्चाऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः' इति शु० य० शतपथब्राह्मणे १४।६।८।३ एवं छान्दोग्यबृहदारण्यकादिषु उपनिषत्स्वपि दृश्यते। तेन ब्राह्मणभागस्तत्परिशिष्टभाग-उपनिषच्च वेदः सिद्धः।

(१८) 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' ७।२।८८ इति आकारस्य प्रत्युदाहरणं यथा भाषा(लोक)तो भिन्ने मन्त्रभागे 'युवँ सुराममश्विना' यजुः (वा० सं०) २०।७६ प्राप्यते; तथैव 'युवं वै ब्रह्माणौ भिषजौ' शत० ८।२।१।३ 'युवमिदं निष्कुरुतम्' ऐतरेय ब्रा० २।२८ इति ब्राह्मणेपि दृश्यते। ततो ब्राह्मणभागो वेदः सिद्धः।

(१९) 'भगवः—इति ह शुश्राव' ४।५।१ इति छान्दोग्योपनिषदि। एवमन्यास्वपि उपनिषत्सु पाठः। अत्र 'भगवः' इति 'भगवत्'शब्दस्य सम्बुद्धौ। 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' ८।३।१ इति छान्दसे सत्वे प्रयोगः। एवमुपनिषदोपि वेदः सिद्धाः।

(२०) यथा च 'व्यत्ययो बहुलम्' ३।१।८५ इति पाणिनेर्वैदिकं सूत्रं मन्त्रभागे प्रवर्तते; तथा ब्राह्मणभागान्तर्गते आरण्यकेपि। यथा च 'आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम्। पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम्' तैत्तिरीयारण्यके १०।२३ अत्र 'ब्रह्मणस्पतिः' इति अपः स्थाने सुः। यद्वा 'सुपां सुलुक' ७।१।३९ इति छान्दससूत्रेण। 'ब्रह्म पूता' इति 'पूतम्' इत्यस्य स्थाने लिङ्गव्यत्ययः। 'पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिः' इति वचनव्यत्ययः। एवमारण्यकमपि वेदः सिद्धः। अथ च यः पाणिनिः सर्वं विशालं लौकिकसाहित्यं 'कलशे सागरमिव' अष्टाध्याय्याममुमुद्रत्; यदि वेदो वर्तमानग्रन्थचतुष्टयमेव तन्मतेऽभविष्यत्, ततस्तस्य 'व्यत्ययो बहुलं' 'बहुलं छन्दसि' इत्यादिसूत्राणां निर्म्माणावश्यकता नासीत्। तन्निर्माणेन सिध्यति यद्वेदस्य वर्तमानग्रन्थचतुष्टयमात्रं न तन्मते वेदसीमा; किन्तु ११३१ मन्त्रसंहिताः, तावानेव ब्राह्मणभागः, तत्रैव तावन्ति उपनिषदारण्यकानि च सम्भूय वेदो भवति। तस्य चानन्त्याद् 'व्यत्ययो बहुलम्' इति निर्म्माणं स्वाभाविकमेव।

(२१) इदानीमार्यसमाजप्रवर्त्तकस्य स्वा० दयानन्दस्यापि कतिचित् प्रमाणान्येतद्विषये दर्श्यन्ते, यानि तेन वेदस्योदाहरणानि स्वीकृतानि।

(क) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः ३८० पृष्ठे 'उपसंवादाशङ्कयोश्च' ३।४८ इति सूत्रस्य यद् वैदिकोदाहरणं स्वामिना 'नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम' इति दत्तम्; तन्न तदभीष्टवेदे किन्तु ऋक्परिशिष्टे इति प्रागुक्तम्। तत ऋक्परिशिष्टमपि ऋग्वेदः सिद्धः।

(ख) वेदाङ्गप्रकाशे आख्यातिके ३२८ पृष्ठे स्वा० दयानन्देन 'बहुलं छन्दसि' ३।२।८८ इति वैदिकसूत्रस्योदाहरणं 'मातृहा सप्तमं नरकं प्रवेशेत्' इति वेदोदाहरणं दत्तम्; तदिदं

तत्सम्मते वेदे नास्ति; ततो वर्तमानग्रन्थचतुष्टयतो वेदस्याधिका सीमा सिद्धा। ततः शाखाः समस्ता ब्राह्मणभागश्च वेदः।

(ग) 'सामासिके' स्वा० दयानन्देन 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्' 'अष्टा हिरण्या दक्षिणा' इत्युदाहरणं 'छन्दसि' ६।३।१२६ इत्यस्य दत्तम्, परं नेदं तदभीष्टवेदे, किन्तु ब्राह्मणभागे।

(घ) एवमत्रैव अव्ययार्थभागस्य २१ पृष्ठे 'तवै-तुमर्थे छन्दसि' इति लिखित्वा तत्र 'ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै' इत्युदाहरणं दत्तम्; परं नेदं तदभीष्टवेदे, किन्तु ब्राह्मणभागे। तद् ब्राह्मणभागोपि वेदः सिद्धः। ब्राह्मणभागस्य अवेदत्वे या युक्तयः स्वा० दयानन्देन दत्ता, तासां निराकरणमस्माभिर्लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर कल्याण(मुम्बई)मुद्रिते 'सायणभाष्यसंवलितशतपथब्राह्मणप्रस्तावनाभागे कृतम्; तत् तत्रैव द्रष्टव्यम्।

(ङ) 'अन्येभ्योपि दृश्यते' ३।३।१३० इति सूत्रस्योदाहरणम् आख्यातिकस्य ३९० पृष्ठे 'सुवेदनामकृणोद् ब्रह्मणे गाम्' इति। इदमपि ब्राह्मणभागास्ति।

(च) आख्यातिकस्य ३९३ पृष्ठे-'भावलक्षणे...तोसुन्' ३।४।१६ सूत्रस्योदाहरणं 'काममाविजनितोः सम्भवाम' इति दत्तम्; इदं ब्राह्मणभागस्य प्रसिद्धम्; ततो ब्राह्मणभागोपि वेदः सिद्धः।

(छ) 'बहुलं तणि [संज्ञाछन्दसोः]' (३।२ ८ वा०) एतदुदाहरणं स्वा० दयानन्देन 'या ब्राह्मणी सुरापी भवति; नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति' इति वेदोदाहरणं दत्तम्। स्वा० दयानन्द ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदेतिप्रसिद्धं ग्रन्थचतुष्टयमेव वेदं मन्यते; न च तत्र प्रक्षिप्ततां स्वीकरोति, न च न्यूनताम्। परं तान्युदाहरणानीमानि तत्साम्मते वेदे न प्राप्यन्ते; तत् सिद्धं यद् वेदस्य सीमा इतोधिकास्ति। सर्व्वाः शाखा अद्यत्वे न प्राप्यन्ते, न च सर्व्वाणि ब्राह्मणान्येव प्राप्यन्ते। तत एतदाद्युदाहरणानि तेष्वेव स्युः ततः ११३१ शाखास्तावन्त्ये ब्राह्मणानि; तावत्य एव आरण्यकोपनिषदो वेदपदार्थः सिद्धः।

ऋग्वेदस्य अद्यत्वे शाकल्यसंहिता प्राप्येत, तदीयं ब्राह्मणं तु लुप्तम्। तदीया आश्वलायनी संहिता तु लुप्ता; परन्तु तदीयं ब्राह्मणमैतरेयनामकं प्राप्यते। ऋग्वेदस्य शाङ्खायनीसंहिता तु लुप्तास्ति; परन्तु तदीयं शाङ्खायनब्राह्मणं प्राप्यते। एवं लुप्तशाखानां मध्ये बाष्कलसंहितायाः कतिचिन्मन्त्राः कासुचिद् यज्ञपद्धतिषु प्राप्यन्ते; अन्याः शाखा ब्राह्मणानि च लुप्तानि।

यजुर्वेदे शुक्लस्य वाजसनेयी कण्वसंहिता प्राप्यते। तयोः पृथक् पृथक् शतपथ-ब्राह्मणमपि लभ्यते। अन्याः संहिता ब्राह्मणानि च लुप्तानि। कृष्णयजुर्वेदस्य तैत्तिरीय-संहिता एवं तैत्तिरीयब्राह्मणं च लभ्येते। काठकसंहिता मैत्रायणीसंहिता च किञ्चित्समयतः प्राप्ते। अन्याः शाखा ब्राह्मणानि च लुप्तानि।

सामवेदस्य कौथुमीसंहिता सुलभा। तदीय ताण्ड्यच्छान्दोग्यादिब्राह्मणानि सुलभानि। जैमिनीयसंहितापि अस्य वर्तते; अस्माभिर्न दृष्टा। राणायनीयसंहिता कर्णाटकादिदक्षिणापथे विद्यते; तदीयं ब्राह्मणं लुप्तमस्ति। अवशिष्टसंहिता ब्राह्मणानि न प्राप्यन्ते।

अथर्ववेदस्य शौनकसंहिता तु सुलभैव; परन्तु तदीयं ब्राह्मणं लुप्तमस्ति। तस्य पैप्पलादसंहिता इदानीं प्राप्ता; तदीयं गोपथब्राह्मणं तु सुलभम्। अन्यशाखाब्राह्मणानि लुप्तानि। मुक्तिकोपनिषदि लिखितम्—'एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता:' एतदनुसारं ११३१ मन्त्रोपनिषद: स्यु:; ११३१ च ब्राह्मणोपनिषद:। अद्यत्वे १०८ उपनिषद: प्राप्यन्ते; परन्तु तासु बह्वीनां ज्ञानं न जायते यत् कस्य वेदस्य कस्या: शाखाया ब्राह्मणस्य वा। एवं कासाञ्चिच्छाखानां सूत्रग्रन्थास्तु प्राप्यन्ते; तेषु तच्छाखयानां मन्त्रा: सन्ति; परन्तु ता: शाखा लुप्ता:। काश्चिच्छाखास्तु प्राप्यन्ते, तासां सूत्रग्रन्था लुप्ता:। एवमस्यैव साहित्यस्य तावत्संख्याकानि श्रौतसूत्राणि; तावन्त्येव गृह्यसूत्राणि, तावन्त्येव धर्मसूत्राणि, तावत्य एव स्मृतय:।

फलत: 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' मनु० २।६ इति योऽखिलो वेदो धर्ममूलं मत:, सोऽयमेव; यस्य वर्णनमस्याभिनिबन्धेऽस्मिन् कृतम। आशास्यते यद्—ये जना अद्य यावद् अस्यां भ्रान्तौ स्थिता यद् अद्यत्वे प्राप्यमाणाश्चत्वार: संहिताग्रन्था एव चत्वारो वेदा:, अन्याश्च शाखा:; इयं भ्रान्तिरनेनोल्लेखेन दूरीभवेत्। एतद् अवश्यमस्ति यत् स्वकुलपरम्परानुसारं स्वस्वशाखाब्राह्मणारण्यकोपनिषत्सूत्राण्येव मुख्यतया अध्येतव्यानि भवन्ति; तदनुसारमेव विवाहसन्ध्यादिकर्माण्यनुसर्त्तव्यानि भवन्ति; परं तच्छाखालोपे अन्यशाखानुसरणं हान्यावहं नास्ति; स्वशाखाग्रहणेऽपि एतन्नास्ति यद्—अन्या शाखा वेद एव न मन्येत; प्रमाणं वापि न मन्येत। एतन्नास्ति। अद्यत्वे प्रचलिताश्चत्वारो वेदाश्चतुर्णां वेदानामेकैकशाखैवास्ति। तत्र ऋग्वेदनाम्ना प्रसिद्धो ग्रन्थ:, ऋग्वेदस्य शाकल्यशाखा; यजुर्वेदनाम्ना वर्त्तमाने प्रसिद्धो ग्रन्थो यजुर्वेदस्य वाजसनेयीसंहिता (माध्यन्दिनी), अद्यत्वे सामवेदसंहितानाम्ना विश्रुतो ग्रन्थ: सामवेदस्य कौथुमी शाखा, अथर्ववेदनाम्ना विख्यातोऽद्यतनग्रन्थोऽथर्ववेदस्य शौनकीसंहितास्ति; नेमे सम्पूर्णा वेदा इति अवश्यं ज्ञायताम्। आशास्यते यद् द्विजानामावश्यकेऽस्मिन् विषये प्रणिधानं स्यादिति।

———

पञ्च महाभूत

श्री हनूमान शर्मा

सामूहिक दिग्दर्शन

पूर्वांग

(विषय-प्रवेश)

[पर्याय १—अनारोपित स्वरूप, २—ईश्वर, ३ तत्त्व ४—पञ्चतत्त्व, ५—पञ्च-भूत, ६—पञ्च महाभूत, ७—प्रकृति, ८—परमात्मा, ९—वास्तविक, १०—भूत, ११—महा-भूत १२—माया, १३—यथार्थ, १४—सारांश, १५—सारभूत, १६—स्वस्वरूप, १७—सूक्ष्म-पञ्चतत्त्व, १८—स्थूल पञ्चमहाभूत ९—स्थूलपञ्च तत्त्व और २० शक्ति।]

(१) **ईश्वरप्रसूत महाभूत**—यद्यपि तत्त्वों की पूर्ण संख्या पचीस है और गुण तथा कर्म के भेद से वे सब प्रयोजनीय हैं तथापि प्रस्तुत निबन्ध में प्रधानतया 'पञ्च महा-भूत' (या पञ्चतत्त्व) का वर्णन करना वाञ्छनीय है। जो शास्त्र और संसार (दोनों) में पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश के नाम से विख्यात हैं और वेदादि सभी शास्त्र तथा कपिलादि सभी ऋषि महर्षि उनके महान् महत्त्व को मानते हैं। यही क्यों, कल्पारम्भ के समय जब परमात्मा से पञ्चमहाभूत प्रकट होते और कल्पान्त में उन्हीं में लय हो जाते हैं तब अवश्य ही ये ईश्वर के प्रतिरूप हैं और इनका जो वर्णन किया जाता है वह ईश्वर का ही है।

(२) **भूतों का प्रादुर्भाव**—(१) 'वेदों के अनुसार'[१] पञ्च महाभूतों में सर्वप्रथम 'आकाश' उत्पन्न होता है। आकाश से 'वायु', वायु से 'तेज', तेज से 'जल' और जल से 'पृथ्वी' का प्रादुर्भाव होता है। अथवा ये सब हिरण्यगर्भ से उत्पन्न होते हैं। (२) उपनि-षदों[२] के अनुसार आत्मा (अर्थात् ब्रह्म) से आकाश, आकाश से पवन, पवन से अग्नि, अग्नि से अप, अप से इला, इला से वनस्पति, वनस्पति से अन्न और अन्न से भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं। (३) 'स्वर के अनुसार'[३] महेश्वर से आकाश, आकाश से वायु, वायु से

---

(१) 'आकाशाद्वायुर्वायो तेजः तेजसा आपः अद्भ्यः पृथ्वी चोत्पद्यते' (श्रुति)—'हिरण्य-गर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'। (ऋग्वेद)........(२) 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधीभ्योऽन्नम् अन्नात्पुरुषः' (तैत्तिरीयोपनिषद्).........(३) 'निरञ्जनो निराकार एकोदेवो महेश्वरः। तस्मा-दाकाशमुत्पन्नमाकाशाद्वायुसम्भवः। वायो तेजस्ततश्चापस्ततः पृथ्वीसमुद्भवः। एतानि पञ्च-भूतानि विस्तीर्यानि च पञ्चधा'। (शिवसंहिता)

तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। (४) स्मृति के अनुसार सर्वप्रथम जल, जल से (सुवर्ण सदृश) अण्ड, अण्ड से ब्रह्माजी और ब्रह्माजी से सम्पूर्ण ब्रह्मांड उत्पन्न होता है। (५) पुराणों के अनुसार प्रलय के अन्त में शेषशय्या पर सोये हुए भगवान् के नाभिकमल से ब्रह्माजी प्रकट होते हैं और वह सर्वेश्वर के आदेश के अनुसार सृष्टि की रचना करते हैं। (६) मन्त्रशास्त्र[२] के अनुसार तीन प्रकार के अहङ्कारों में विकारयुक्त अहङ्कार से विकारी दशदेव उत्पन्न होते हैं। तेजस अहंकार से सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। और भूतादि के अहंकार से 'पञ्चभूत' (पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश) का उद्भव होता है। (७) राघव भट्ट के मतानुसार विकारी अहंकार 'सात्विक, तेजस अहंकार 'राजस' और भूतादि का अहंकार 'तामस' होता है। क्रम यह है कि प्रकृति से महत् (बुद्धि) महत् से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा और पञ्चतन्मात्रा से पञ्च-महाभूत उत्पन्न होते हैं। (८) 'गीता के अनुसार[३]' ब्रह्मा के दिन का उदय होने पर दृश्यमाण जगत् के प्रत्येक प्राणी और पदार्थ उस अव्यक्त सूक्ष्म सत्ता) से क्रमशः प्रकट होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि का आरम्भ (सायंकाल) होने पर वे सब उसी सत्ता में लय हो जाते हैं। (९) उत्तर वेदान्तियों के अनुसार सर्वप्रथम एक गुण (शब्द) का पदार्थ 'आकाश' उत्पन्न होता है। उससे दो गुण (शब्द और स्पर्श) का पदार्थ 'वायु' उत्पन्न होता है। उससे तीन गुण (शब्द, स्पर्श और रूप) का पदार्थ 'तेज' उत्पन्न होता है। उससे चार गुण (शब्द, स्पर्श, रूप और रस) का पदार्थ 'जल' उत्पन्न होता है और उससे पाँच गुण (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) का पदार्थ 'पृथ्वी तत्त्व' उत्पन्न होता है। और (१०) पाश्चात्य विज्ञान के अनुसार लाखों करोड़ों वर्ष पहले के किसी जमाने में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सर्वत्र आकाश (शून्य मात्र) था, भाफ व्याप्त था। पीछे कालान्तर में प्रत्येक वाष्पकण के परस्पर संघर्षण से अणु और परमाणु उत्पन्न हुए। उन्हीं से ये विविध प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं। परमाणुओं के यथाक्रम इकट्ठे होने से उनमें नये-नये गुण उत्पन्न होते रहते हैं और उन्हीं से विभिन्न पदार्थ बन जाते हैं। इसी प्रकार मन और आत्मा के भी परमाणु होते हैं और वे जब इकट्ठे हो जाते हैं तब चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है। इनके अतिरिक्त पञ्चभूत के परमाणु तो स्वभावतः पृथक्-पृथक् हैं ही। उनमें पृथ्वी के परमाणु (रूप, रस, गन्ध और स्पर्श) ये ४ गुण हैं। और इसी प्रकार जल के ३, आतप के २ और वायु का १ है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् में सूक्ष्म और नित्य परमाणु भरे हुए हैं और इनके संयोग के आरम्भ से ही सृष्टि के व्यक्त पदार्थ बनने लग जाते हैं।

---

(१) 'तेभ्यो ब्रह्माण्डमुत्पन्नं तैरेव परिवर्तते। विलीयते च तत्रैव तत्रैव रमते पुनः' (शिवपुराण).........(२) 'पञ्चतत्त्वमये देहे पञ्चतत्त्वानि सुन्दरी। सूक्ष्मरूपेण वर्तन्ते ज्ञायन्ते तत्त्वयोगिभिः।' (मन्त्रसार).........(३) 'सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्। प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः। मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। भूमिरापोऽनलो वायुः खंमनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।' (श्रीमद्भगवद् गीता) (४) 'जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।

(३) **तत्त्वों की उत्पत्ति के क्रम का कारण**—इस विषय में उत्तर वेदान्तियों का कथन है कि 'गुणागुणेषु वर्तन्ते' इस न्याय से पञ्च महाभूतों (या पञ्च तत्त्वों) में पहले एक गुणवाला 'आकाश' उत्पन्न हुआ। इसमें केवल शब्द-मात्र का गुण है। इसके पीछे (स्पर्श और शब्द) दो गुणवाला 'वायु' उत्पन्न हुआ। इसके प्रवाहित होने पर शब्द तो होता ही है, साथ ही ज्ञानेन्द्रियों का स्पर्शज्ञान भी हो जाता है। वायु के पीछे (शब्द, स्पर्श और रूप) ३ गुणवाला 'तेज' उत्पन्न हुआ यह अपने गुणों का यथोचित अनुभव करा देता है। इसके पीछे (शब्द, स्पर्श, रूप और रस) ४ गुणवाला 'जल' उत्पन्न हुआ। इसमें रस अथवा रुचि की विशेषता है और इन सबके पीछे (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) ५ गुणवाली 'पृथ्वी' उत्पन्न होती है। इस प्रकार इन पञ्च महाभूतों के मिश्रण से ही सृष्टि उत्पन्न होती है।

(४) **भूतों की व्यापकता**—ईश्वर की चराचर सृष्टि में 'पञ्च महाभूतों, (या पञ्चतत्वों) का सर्वत्र प्राधान्य है। सृष्टि इनसे ही बनती है, इनसे ही बनी रहती है और इनका लय होने पर इन्हीं में मिल जाती है। भूत, परमात्मा के अंश-प्रसूत हैं। इनके स्थूल[१] और सूक्ष्म दो स्वरूप हैं। स्थूल रूप से पञ्चमहाभूत के नाम से प्रत्यक्ष प्रकट होते हैं। और सूक्ष्म रूप से पञ्चतत्त्व के नाम से प्रच्छन्न रहते हैं। विशेषता यह है कि जिस प्रकार इस दृश्यमाण बाह्य जगत् में स्थूल पञ्चमहाभूतों का साम्राज्य है उसी प्रकार देहधारियों के अन्तरजगत् में सूक्ष्म[२] पञ्चतत्वों का एकच्छत्र राज्य है और जिस प्रकार पञ्चमहाभूत और पञ्चतत्त्व दोनों ही गुण, कर्म और प्रभाव में समान हैं (केवल पर्याय-वाची शब्द का अन्तर है) उसी प्रकार बाह्य जगत् और अन्तरजगत् भी दोनों समान हैं। केवल प्रत्यक्ष दीखने और प्रच्छन्न रहने मात्र का अंतर है।······स्थूलदृष्टि से देखने में बाह्य जगत् (चराचर सृष्टि, और अन्तर्जगत् (प्राणधारियों के शरीर की रचना) विभिन्न मालूम होती है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो चराचर सृष्टि की जो रचना (आकाश, पाताल या पृथ्वी पर) स्थूल रूप में दीखती है वह सब देहधारियों के शरीर में सूक्ष्म रूप से वर्तमान है।······बाह्य जगत् के सभी वस्तु पदार्थ यथा जीव-जन्तु, अन्न-जल, नदी, तालाब, लतापत्र या जन्ममरण आदि जो कुल हैं या होते हैं वे सब अन्तर्जगत् में भी हैं और होते भी हैं। यहाँ तक कि सूर्य-चन्द्र-तारागण, जन्म-मरण, मित्रगण, गंगा,

भागस्तस्यतु षष्ठोयः परमाणुः सः उच्यते।' **(तर्कामृत)** 'जालान्तर्गत अर्थात् कुटी, झोपड़े या महल-मकान आदि की जाली में होकर आई हुई सूर्य की किरणों की सीधी धारा में जो उड़ते हुए सूक्ष्म रजकण देखने में आया करते हैं उनका भी छठा भाग **परमाणु** होता है।······

(१) 'पञ्चतत्त्व मये देहे पञ्चतत्त्वानि सुन्दरी। सूक्ष्मरूपेण वर्तन्ते ज्ञायन्ते तत्त्वयोगिभिः।' **(स्वरशास्त्र)**······(२) 'साइन्सवेत्ता अंग्रेज विद्वान् इस बात को मानते हैं कि मनुष्यों की मनोगत कल्पनाएँ 'प्रतिरूप' चित्र बनकर मस्तिष्क में अंकित होती रहती हैं और सफलता का समय आने पर वे कार्यरूप में परिणत हो जाती हैं। देहधारियों के शरीर में इस प्रकार के अद्भुत और अकल्पित (यंत्र असंख्य मशीनें) मौजूद हैं। **(पाश्चात्य विद्वानों के ग्रन्थ)**

यमुना, सरस्वती, गढ, किले, मकान, कल-कारखाने या फोटोग्राफी आदि भी हैं। विशेषता यह है कि बाह्य जगत् के वस्तु पदार्थ सबको दीखते हैं, किन्तु अन्तर्जगत् के वस्तु पदार्थ या सृष्टि-सौन्दर्य किसी के देखने में सहसा नहीं आते हैं। क्योंकि यह अनुभव से ज्ञात होते हैं। इनको वेद और वेदान्तादि के विशेषज्ञ विद्वान् या शरीरशास्त्र के सुदक्ष ज्ञाता डाक्टर बतला सकते हैं। अतएव यह लिखना अनुचित नहीं है कि बाह्य और आभ्यन्तर जगत् के यावन्मात्र प्राणी और पदार्थों में पञ्चमहाभूत या पञ्चतत्त्वों की सत्ता सब में विद्यमान हैं और ये उनका यथायोग्य पालन, पोषण, परिवर्धन या शोषण भी करते हैं। यह विषय इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जगन्नियन्ता की चेतन और अचेतन सम्पूर्ण सृष्टि में चींटी से हाथी पर्यन्त या रजकण से पर्वत पर्यन्त जितने भी चर या अचर हैं, वे चाहे देव, दानव या मनुष्य हों, चाहे पशु-पक्षी या कीटादि हों, चाहे वृक्ष, बेलि अन्य औषधियाँ धनादि हों, चाहे कंकर, पत्थर, धूल, कोयले या लकड़ी हों और चाहे घास, फूस सरकण्डे या भस्म ही क्यों न हों, सबमें पञ्च महाभूत या पञ्चतत्त्व प्रविष्ट रहते हैं और लय अथवा प्रलय होने पर सम्पूर्ण सृष्टि को अपने में मिला लेते हैं।......नित्य प्रति काम में आनेवाले अनेक पदार्थ ऐसे हैं जिनसे चेतन और अचेतन का भेद मालूम हो जाता है। यथा आग से गर्म की हुई बालू से जौ, गेहूँ और चने आदि सेके जाते और पार्श्वशूल या जोड़ों के दर्द दूर किये जाते हैं। इसी तरह फल, फूल, पत्ते या घी, तेल, मसाले और वनौषधि आदि भी पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश के मिश्रण, घर्षण या सहयोग से सुख-सम्पत्ति, सन्तान या सुस्वास्थ्य और सौभाग्यप्रद बन जाते हैं। शारीरिक रोग दोषादि को दूर करके तद्गत शक्तियों को रक्षित और वृद्धिंगत करते हैं। ये सब चेतन के ही परिचायक हैं।

(५) महाभूतों का महान् महत्त्व—पहले लिखा गया है और अब फिर लिखा जाता है कि चराचर सृष्टि में पञ्च महाभूतों का सर्वत्र प्राधान्य है और ये जिस प्रकार विश्वगत वस्तुओं में विद्यमान हैं उसी प्रकार देहधारियों के सावयव शरीरों में भी व्याप्त रहते हैं। इनके बिना न विश्व रह सकता है और न उसके प्राणी या पदार्थ ही सत्व-सम्पन्न हो सकते हैं। भूतों के उद्भव से ही विश्व का विकास होता है और इनके लय से ही उसका विनाश हो जाता है।......जन-साधारण में एक उक्ति प्रसिद्ध है कि 'पाँच में परमेश्वर होते हैं' वास्तव में यह पञ्च महाभूतों या पञ्चतत्त्वों में ही घटती है, क्योंकि जो कार्य ईश्वर करते हैं (या उनकी आज्ञानुगामिनी प्रकृति करती है) वही कार्य पञ्च महाभूत भी (पृथक्-पृथक् रहकर या एकत्र होकर) कर सकते हैं। जिस प्रकार जगन्नियन्ता के 'भ्रू' भ्रमण मात्र से सम्पूर्ण विश्व का विकास या विनाश होता है उसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, पवन और आकाश भी यथाक्रम सम्पूर्ण विश्व को हिला सकते, बहा सकते, जला सकते, उड़ा सकते, या लुप्तप्राय कर सकते हैं। अतएव ये निःसन्देह ईश्वर के प्रतिरूप हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता[१] में स्वयं स्वीकार किया है कि 'कल्प के अन्त में सर्वभूत मेरी प्रकृति में

---

(१) 'सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्। प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः। मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा'। (भगवद्गीता)

आकर मिल जाते हैं और कल्प के आरम्भ में मैं ही उनको फिर प्रकट करता हूँ। मैं अपनी प्रकृति को हाथ में लेकर (अपने-अपने कामों में बँधे हुए) भूतों का पुनर्निर्माण करता हूँ और मैं अध्यक्ष होकर प्रकृति से चराचर सृष्टि को उत्पन्न करवाता हूँ। पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन सबमें मेरी ही प्रकृति विभाजित रहती है। यही 'अपरा' प्रकृति है। इसके सिवा जगत् को धारण करनेवाली जीवन-स्वरूपिणी 'परा' प्रकृति है। इन्हीं दोनों से सृष्टि के सम्पूर्ण प्राणी प्रकट होते हैं।

(६) **भूतजनित उत्पातों में भूतों का सहयोग**—यद्यपि पञ्च महाभूतों के गुण कर्म और प्रभाव पृथक्-पृथक् हैं जिनके द्वारा होनेवाले भूकम्पादि (दैवी उत्पात) एक एक से ही होते हैं तथापि उन एक एक में भी अन्य भूतों का सहयोग रहता है। यथा—'भूकम्प' पृथ्वी के पेट से ही निर्गत होता है किन्तु उसके अन्तस्थल में रहनेवाले जल, अग्नि, वायु और आकाश ही उसकी भीषणता को बढ़ाते हैं। 'जलप्लावन' (बाढ़ आदि) अतिवृष्टि होने से ही होते हैं किन्तु पृथ्वी के नद, नदी, नाले, वायु के प्रचण्ड तूफान, सूर्य की तपाई हुई पृथ्वी के उत्तेजक प्रदेश और बाँध, झील या सागर आदि के पोले जलस्थल ही उसको 'जलप्रलय' में परिणत करते हैं। 'तेजोताप' सूर्य की प्रखर किरणों के प्रताप से ही होता है किन्तु पृथ्वी के तृण-कण और मरुस्थल के जलसम्भूत वाष्प समूह—एवं आकाश की अति विस्तृत ही उसे अधिक दाहक बनाते हैं। 'आँधी-बगूले या प्रचण्ड तूफान' वेगवती वायु के प्रचण्ड प्रभाव से ही होते हैं किंतु तेज से तप्त मरुस्थलों के जलशून्य जंगलों में प्रकट हुए वायु बान्धव ही उनको घर, छप्पर या वृक्ष-विशेषादि को विध्वस्त करने में मदद देते हैं। और अत्यन्त भीषण शब्द आकाश से ही होता है किंतु उसको व्यापक विस्तृत और अति गम्भीर करने में पृथ्वी, अप, तेज और वायु भी सहयोग देते हैं।

(७) **भूतों के विशेष गुण**—'पृथ्वी' में १ रूप, २ रस, ३ गन्ध, ४ स्पर्श, ५ संख्या, ६ परिमिति, ७ पृथकत्व, ८ संयोगत्व, ९ विभागत्व, १० परत्व, ११ अपरत्व, १२ वेगवत्व, १३ गुरुत्व (काठिन्य) और १४ नैमित्तिकत्व ये १४ गुण हैं। 'जल' में शुक्ल-रूपत्व और नैमित्तिक द्रवत्व ये २ गुण हैं। 'वायु' में प्रवहन-चापल्य और शीत-स्पर्शत्व ये ३ गुण हैं। 'तेज' में प्रकाश और दाहकता ये दो गुण हैं और 'आकाश' में केवल शब्दाश्रयत्व एक गुण है। सांख्य और वेदान्त के अनुसार पृथिव्यादि भूत-चतुष्टय का उत्पादक आकाश है और ये सम्पूर्ण पञ्चमहाभूत जगत् की आत्मा हैं।

(८) **पुरुष और प्रकृति**—पुरुष वह जो परब्रह्म रूप है और प्रकृति वह जो पुरुष के आदेशानुसार सृष्टि की रचना करती है। पुरुष चेतन और द्रष्टा है किन्तु निर्गुण और साधनहीन है (दूसरे शब्दों में पंगु या लँगड़ा है) और प्रकृति त्रिगुणात्मक ('सत्व', 'रज' और 'तम') संयुक्त है; किन्तु जड़ है। (अथवा दूसरे शब्दों में अन्धी है।) ऐसी परिस्थिति में भी कार्य-साधन के अनुरोध से यह कहा जा सकता है कि अन्धी प्रकृति प्रकृति अपने कन्धों पर पंगु पुरुष को आरूढ़ करके उसके (शब्द-संकेत) या आदेश के अनुसार सृष्टि की रचना के सम्पूर्ण विधान स्वयं सम्पन्न करती है और उसको सुचारु बनाती है। विचार कर देखा जाय तो प्रकृति और पुरुष की जोड़ी 'अन्धे और पंगु' के

सम्बन्ध से, या 'प्रकृति और पुरुष' के सम्बन्ध से अथवा 'माया और ब्रह्म' के सम्बन्ध से यथायोग्य ही है। प्रकृति और पुरुष में वैसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसा गन्ने के गूदे और उसके रस में—जल और उसकी मछली में—अथवा भक्त और भगवान् में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अत: सामान्य मनुष्य प्रकृति के गुणों से मोहित होकर अपनी स्वाभाविक भिन्नता या अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाते हैं और इस कारण संसार के निःसार चक्र में फँस जाते हैं। यदि न फँसें तो निस्सन्देह मुक्त होकर ज्ञाता, प्रबुद्ध और परब्रह्म के जाननेवाले बन जाते हैं और कृत-कृत्य हो जाते हैं। अस्तु, उपरोक्त वर्णन मुख्यतया 'पञ्चमहाभूत' के विषय का है और आगे जो लिखा जाता है वह शरीरगत 'पञ्चतत्त्व' के विषय में है। अत: यहाँ उनका भी 'सामूहिक' दिग्दर्शन ही कराया गया है।

(९) **भूत तथा तत्त्वों का साम्य**—उपरोक्त विवरण से विदित हो सकता है कि जो भूत हैं वही तत्त्व हैं और जो तत्त्व हैं वही भूत हैं। अन्तर इतना ही है कि 'पञ्च महाभूत' बाह्य सृष्टि में स्थूल रूप से व्याप्त हैं और 'पञ्चतत्त्व' सूक्ष्म रूप से देहधारियों की अन्तःसृष्टि में व्यापक रहते हैं। और इनके गुण, कर्म और प्रभाव भी स्थूल में स्थूल और सूक्ष्म में सूक्ष्म—दोनों में समान हैं और दोनों ही दोनों जगह (संसार और सांसारियों में) यथायोग्य काम करते हैं। स्थूल या बाह्य सृष्टि में 'पञ्च महाभूत' परब्रह्म के प्रतिरूप में प्रतिष्ठित हैं और सूक्ष्म या अन्तःसृष्टि में 'पञ्चतत्त्व' ईश्वर के अंश प्रसून रूप में परिलक्षित होते हैं। स्थूल पञ्च महाभूत दृश्यमाण बाह्य जगत् में सर्वत्र दीखते हैं और सूक्ष्म पञ्चतत्त्व अनुभवसिद्ध की दृश्यमाण अन्तर्जगत् में अदृश्य रहते हैं। जिस प्रकार दृश्यमाण जगत् में भूतों से सुख-शान्ति आदि का प्रवर्द्धन या ह्रास-सन्ताप और उपद्रव आदि होते हैं—उसी प्रकार अदृश्यमाण जगत् में तत्त्वों से भी शान्ति, अशान्ति या इष्ट, अनिष्ट आदि सब कुछ होते रहते हैं। जिस प्रकार बाह्य सृष्टि में पृथ्वी से 'भूकम्प', अप से 'जल-प्रलय', तेज से 'दाहकता', वायु से 'बवंडर' और आकाश से 'उच्च घोष' आदि होते हैं, उसी प्रकार शरीरगत अन्तःसृष्टि में पृथ्वीतत्त्व से 'देहकम्प', जलतत्त्व से 'शुक्र शोणितादि का उसर्ग', (रज-वीर्य और मूत्र का त्याग), वायु तत्त्व से प्राणायानादि के 'सदसत्कार्य' और आकाशतत्त्व से 'शब्दध्वनि' आदि होते हैं। विशेषता यह है कि जो प्राणी अपने उपयुक्त आहार-विहारादि के व्यवहार में संयम और नियम रखते हैं उनकी अन्तःसृष्टि में पञ्चतत्त्व के आकस्मिक उत्पात नहीं होते। यथ पशु-पक्षी और कीटादि (मिथ्याहार विहारादि न करने में दृढ़ व्रती होते हैं इस कारण वे सुखी और स्वस्थ रहते हैं। और जो मिथ्याहार विहारादि में प्रवृत्त रहते हैं उनको तत्त्वों के कुपित होने का फल भोगना पड़ता है। और जिस प्रकार एक एक भूत के उत्पातों में अन्य भूतों का सहयोग रहता है उसी प्रकार एक एक तत्त्व की सुख शान्ति या रोग दोषादि में अन्य तत्त्वों का सहयोग भी रहता है।) यथा, शरीर के अङ्ग-उपाङ्गों का 'कम्पन' पृथ्वी-तत्त्व से होता है; परन्तु उसके मुख, मस्तक, नेत्र और भुजा आदि के कम्प (या स्फुरण) में सर्दी (जल), गर्मी (अग्नि) और बादी (पवन) का सहयोग होता ही है। शुक्र-स्रावादि जलतत्त्व से होते हैं, परन्तु उनमें वात, पित्तादि भी योग देते हैं। अन्तर्दाहादि अग्नि तत्त्व से होते हैं परन्तु उनमें कम्पनशक्ति और द्रवत्व साथ रहते हैं। उदर-शूलादिक वायु-

तत्त्व से होते हैं परन्तु उनमें जल, अग्नि और आकाश शामिल रहते हैं। और शब्द-विकृति आकाश तत्त्व से होती है, परन्तु साथ में जल, आतप, समीर और मृदणु का सहयोग मिलता ही है। अस्तु।

(१०) **तत्त्व इन्द्रियाँ और मन के उद्भवादि**—जन-समाज में विख्यात है कि 'आत्मा ही परमात्मा' है और शास्त्र भी यही सूचित करते हैं कि—'आत्म[१]' ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से वनस्पति, वनस्पति से अन्न और अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं। दूसरे सूर्य की प्रतिच्छाया के समान ब्रह्म की वशवर्तिनी सत्व, रज और तमोमयी प्रकृति से महत् (बुद्धि),महत् से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा (१ शब्द, २ स्पर्श, ३ रूप, ४ रस, और ५ गन्ध) और तन्मात्रा से पञ्चतत्त्व (पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश) उत्पन्न होते हैं; तीसरे—सत्त्वोगुणी और रजोगुणी अहंकार से ५ ज्ञानेन्द्रियाँ (कर्ण, नेत्र, त्वचा, जिह्वा और नासिका ५ कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पाँव, लिंग, गुदा और वाणी) उत्पन्न होती हैं और इनके साथ में ग्यारहवाँ मन उत्पन्न होता है। यह इन्द्रियों का चालक और रक्षक है।......ज्ञानेन्द्रियों में कानों से 'शब्द श्रवण' नेत्रों से 'रूप दर्शन', नाक से 'गन्ध ग्रहण', जिह्वा से 'स्वाद-परिक्षण', और त्वचा से 'स्पर्श-ज्ञान' होता है। और कर्मेन्द्रियों में पाँवों से 'चलन-फिरने', हाथों से 'लेने-देने', इन्द्रिय से 'शुक्र मूत्र त्यागने', गुदा से 'पुरीष के निकालने' और वाणी से बोलने के काम होते हैं।

(११) **इन्द्रियों के विशेष गुण**—कर्मेन्द्रियों में हाथों की 'उत्क्षेपण' (ऊर्ध्व-गमन, ऊँचे जाने), पाँवों की 'अवक्षेपण' (अधोगमन नीचे जाने), गुदा की 'आकुञ्चन' (रोकने-सिकोड़ने), मूत्रेन्द्रिय 'प्रसारण' (सृष्ट्युत्पादन या फैलाने) और वाणी के 'गमन' (प्रचलन या शब्दोच्चारण) की क्रिया है। किन्तु ये इन्द्रियाँ केवल क्रिया कर सकती हैं. आत्मा को किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं करा सकतीं। ज्ञान, ज्ञानेन्द्रियाँ ही कराती हैं सो भी मन की संलग्नता होने से। यदि मन संलग्न न हो, मनुष्य अन्यमनस्क हो (दूसरी ओर मन लगा रखा हो) तो ज्ञानेन्द्रियों के कहने, सुनने, सूँघने, जानने और देखने का ज्ञान निरर्थक हो जाता है। उदाहरणार्थ, भगवद्भक्तिपरायण मनुष्य भगवान् के स्वरूप, दर्शन में तल्लीन होकर उनके सुस्वरूप का मनन कर रहा हो, उस समय उसके दृष्टिपथ में होकर विविध प्रकार के कर्णमधुर 'वादन', चित्ताकर्षक 'गायन' और हृदयद्रावक 'नृत्य' के साथ शतशः मनुष्यों का भारी जुलूस निकल जाय तो भी उसे मालूम नहीं होता कि किधर से कौन आया और कौन गया, वह तो उसी रूप-दर्शन के समुद्र में निमग्न रहता है। अतः ज्ञानेन्द्रियों के विषयज्ञान में यह बड़ी विशेषता है कि वे अपने एक एक विषय का ही ज्ञान करा सकती हैं, दूसरे का नहीं। १ 'कान' सुन सकते हैं, देख नहीं सकते। २ 'नाक' सूँघ सकती है, रूप रंग नहीं बतला सकती। ३ 'नेत्र' देख सकते हैं, सूँघ नहीं सकते। ४ 'जीभ' चख सकती है, सुन नहीं सकती और ५ 'त्वचा' स्पर्श का ज्ञान कर सकती है, देख, सूँघ या

---

(१) 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या औषधयः। औषधीभ्यो अन्नम्। अन्नात्पुरुषमजायत। **(तैत्तिरीयोपनिषद्)**

सुन नहीं सकती। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ भी किसी अंश में अपना ही काम करती हैं।··· देहस्थ दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ देह के दो काम विशेष रूप से करती हैं। यथा ज्ञानेन्द्रियाँ देह के उपयोगी ग्राह्य पदार्थों को बाहर से लाकर अन्त:प्रविष्ट करती हैं और कर्मेन्द्रियाँ अन्दर के त्याज्य या निकालने योग्य पदार्थों को बाहर निकालती हैं। बहुज्ञ विद्वानों ने इस विषय को एक प्रकार का कारखाना बतलाया है। उनका कथन है कि मन उस कारखाने का मालिक है, बुद्धि हानि-लाभ का ज्ञान कराती है और दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ कर्मचारी हैं, जो अन्दर बने हुए सामान को बाहर भेजती हैं और उपयोग में आनेवाले बाहर के सामान को कारखाने के अन्दर यथास्थान स्थापन करती और यथासमय उपयोग में लेती हैं।······भगवान् के भक्त इसको दशद्वार का 'देह-दुर्ग' मानते हैं। उनके मत से मन उस किले का राजा है। बुद्धि उसकी रानी है। शम, दम, दया, धर्म, नीति, उदारता, परोपकारता, प्रजापालन, सुदक्षता और गुण (या विद्या-कला और व्यवसाय) आदि इसके रक्षक, निरीक्षक या सिपाही हैं और काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ या ईर्ष्या आदि ही इसके शत्रु-गण हैं और आत्मा इसका सुरम्य निवास-स्थान (या अद्वितीय महल) है। कुयोगवंश कभी शत्रुगण कुबुद्धि करने लग जाते हैं तो राजा अपने धैर्य-धनुष को धारण करके क्षमा के खड्ग से उनको स्तब्ध कर देता है और कदाचित् वे सामना कर लें (या युद्ध छिड़ जाय) तो राजा सत्य के रथ पर आरूढ़ होकर शत्रुगण को परास्त कर देता है।······यद्यपि ऊपर के लेखानुसार प्रत्येक इन्द्रिय का एक एक गुण ही निश्चित हुआ है और वे एक एक गुण के करने में ही समर्थ हैं तथापि अवान्तर भेद से एक के अनेक भी हो जाते हैं। यथा १ 'शब्द' एक ही है परन्तु यही छोटा, बड़ा, कर्कश, कर्णप्रिय, कोमल या कठोर अथवा संगीत के अनुसार षड्ज, निषाद या गान्धार अथवा व्याकरण के अनुसार कण्ठ्य-ओष्ठ्य और तालव्य आदि हो जाता है। इसी प्रकार २ 'रूप' एक ही है परन्तु कालान्तर में उसके भी (काला-पीला या सफेद आदि) अनेक भेद हो जाते हैं। ३ 'रस' एक ही है परन्तु वह भी खट्टा, मीठा, चरपरा या कड़ुआ आदि अनेक प्रकार का हो जाता है। ४ 'मिठास' एक ही होता है परन्तु गुड़-गन्ना और शर्करा के भेद से वह भी अनेक प्रकार का हो जाता है। और ५ 'गन्ध' एक ही है परन्तु फल, पुष्प, पत्ते, रस कस मसाले या सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेद से वह भी अनेक प्रकार का हो जाता है। इस भाँति एक के अनेक भेद मालूम हो सकते हैं।

१२ तत्त्वों के विभिन्न भेद—ब्रह्ममय विश्व में जो कुछ विद्यमान है वह सब भी ब्रह्म ही है अत: तत्त्व भी ब्रह्म ही है। शास्त्रकारों ने तत्त्वों के अनेक भेद निश्चय किये हैं। उनमें 'एक तत्त्व' केवल ब्रह्म है। उसके अतिरिक्त 'दो तत्त्व' पुरुष और प्रकृति, 'तीन तत्त्व' सत्त्व, रज और तम; 'चार तत्त्व' आप, आतप; इला और व्योम, 'पाँच तत्त्व' पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ('कौलमत से[1]' मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन) एवं 'वैष्णव मत से[2]' गुरु, मन्त्र, मन, देव और ध्यान हैं। 'छः तत्त्व' पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और ईश्वर 'सात तत्त्व' भूमि, आप, अनिल, समीर, व्योम, जीव और परमेश्वर 'आठ

---

(१) 'मद्यं मांसं तथा मत्स्यं, मुद्रा मैथुनमेव च। पञ्च तत्त्वमिदं देवि मुक्तिनिर्वाणहेतवे (कैवल्य तंत्र) (२) 'गुरुतत्त्वं मंत्रतत्त्वं मनस्तत्त्वं सुरेश्वरि। देवतत्त्वं ध्यान तत्त्वं पञ्च तत्त्वं वरानने।' (तंत्रसार) 'तत्वज्ञानमिदं प्रोक्तं वैष्णवे शृणु यत्नतः। पञ्चतत्त्वविहीनानां कलौ सिद्धिर्न जायते।' (निर्वाणतंत्र)

तत्त्व' पृथ्वी, जल, सूर्य, पवन, आकाश, सत्त्व, रज और. तम 'नौ तत्त्व' पुरुष, प्रकृति, महत्त्व, अहंकार, आकाश, पवन, ज्योति, जल और पृथ्वी, 'ग्यारह तत्त्व' श्रोत्र, नेत्र, रसना, नासिका, वाक्, पाणि, पाद, वायु, उपस्थ, त्वचा और मन 'तेरह तत्त्व' नभ, समीर, रवि, नीर, धरित्री, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, घ्राण, रसना, मन, जीवात्मा और परमात्मा 'सोलह तत्त्व' पृथिव्यादि ५, रूपादि ५, ज्ञानेन्द्रिय ५ और मन 'सत्रह तत्त्व' उपरोक्त १६ और एक परमात्मा 'अठारह तत्त्व' महत्, अहंकार, मन, १० इन्द्रियाँ और ५ तन्मात्रा और 'पचीस तत्त्व' प्रकृति, महत्, अहंकार, मन १० इन्द्रियाँ, ५ तन्मात्रा, ५ पञ्च तत्त्व और पुरुष (अथवा पृथिव्यादि ५, जलादि ५, तेजादि ५, वाय्वादि ५ और आकाशादि ५ हैं।

(१३) **तत्त्वों के स्थान**—देहधारियों के शरीर में कौन-सा तत्त्व किस स्थान में रहता है, इसके दो मत हैं। प्रथम के अनुसार नाभि से ऊपर के स्थान में 'पृथ्वी', मस्तिष्क (कपालीय स्थान) में 'जल', पित्त के स्थान में 'अग्नि', हृदय स्थल में 'वायु', और शीर्ष में 'आकाश' तत्त्व रहता है। और दूसरे मत[1] से पैरों से गोड़ों तक 'पृथ्वी', गोड़ों से नाभि तक 'जल', नाभि से कण्ठ तक 'अग्नि', कण्ठ से भ्रूमध्य तक 'वायु' .और भ्रूमध्य से ब्रह्मरंध्र तक आकाश तत्त्व रहता है। योगी लोग इसी क्रम से अपनी प्राणवायु को पाँवों से गोड़ों में, गोड़ों से नाभि में, नाभि से कण्ठ में, कण्ठ से भ्रूमध्य में और भ्रूमध्य से ब्रह्मरन्ध्र (कपालीय स्थान) में स्थापित करते हैं और वहाँ शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव से 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना में स्थिर हो जाते हैं। फिर उसी प्रकार मस्तिष्क के प्राणवायु को भ्रूमध्य में, भ्रूमध्य से कण्ठ प्रदेश में, कण्ठ से नाभि में, नाभि से गोड़ों में और गोड़ों से पावों में प्रवाहित करके शरीर की परिस्थिति को पहले के समान (यथापूर्व) बना लेते हैं।

(१४) **तत्त्वों के द्वार आदि,** (द्वार और क्रिया)—पृथ्वीतत्त्व का द्वार 'मुख' और क्रिया भोजन हैं। जलतत्त्व का द्वार 'इन्द्रिय' और क्रिया रजवीर्यादि का त्याग है। तेजतत्त्व का द्वार 'नेत्र' और क्रिया सृष्टिनिर्माण है। वायुतत्त्व का द्वार 'नासाछिद्र' और क्रिया 'आघ्राण' (गन्धग्रहण) है और आकाशतत्त्व का द्वार 'कर्णरन्ध्र' और क्रिया शब्द श्रवण है।

---

(१) 'पादादि जानुपर्यन्तं पृथ्वी स्थानं। जान्वादिनाभिपर्यन्तं आपस्थानं। नाभ्यादि कण्ठपर्यन्तं तेजस्थानं। कण्ठादिभ्रू पर्यन्तं वायुस्थानम्। भ्रूमध्यादिब्रह्मरंध्रपर्यंतं आकाश स्थानम्। एवं स्वशरीह प्रविलापन कुर्यात्। तद्यथा-पृथ्वीं अप्सु। आपस्तजौ तेजवायौ। वायुमाकाशे। आकाशं तन्मात्राहंकार महदात्मिकायां मातृकासंज्ञक ब्रह्मस्वरूपायां हल्लेखार्धभूतायां प्रकृतिमायायां प्रविलापयामि। तत्र त्रिविधां मायां च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे स्वात्मप्रकाशरूपे सत्यज्ञानानन्दलक्षणे परमार्थभूते परब्रह्मणि प्रविलापयामि। तत्र नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सच्चिदानन्दस्वरूपिणीं पूर्णं ब्रह्मैवाहमस्मीति भावयेत्। ततस्तस्याः मायायाः सकाशात् यथोक्तमाकाशमुत्पन्नम्। आकाशाद्वायुः। वायुस्तेजसि। तेजोरापः। अद्भ्यः पृथिवी समजायत। इति ध्यात्वा। तेभ्यः पञ्चमहाभूतेभ्यः सकाशात् स्वशरीरं तेजःपुञ्जात्मकं पुरुषार्थ साधनदेवयोग्यमुत्पन्नम्। इति ध्यात्वा। तस्मिन् शरीरे सर्वात्मकं सर्वसंज्ञं सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्मात्मरूपेणानुप्रविष्टमिति भावयेत्।' **(आह्निक तत्त्वप्रकाश)**

(१५) तत्त्वों का वर्गीकरण

(१) सांख्य	(२) वेदान्त	(३) गीता
१ पुरुष न प्रकृति न विकृति	परब्रह्म श्रेष्ठ स्वरूप	परा प्रकृति—
१ प्रकृति मूल प्रकृति	परब्रह्म का कनिष्ठ रूप	अपरा प्रकृति के आठ
१ महान् १ अहंकार ७ प्रकृति	(आठ प्रकार का)	प्रकार विकारयुक्त होने से
५ तन्मात्रा १ मन ५ ज्ञानेन्द्रियाँ	विकारयुक्त होने से १६	गीता में १५ तत्त्वों की
५ कर्मेन्द्रियाँ ११ विकार	तत्त्वों को वेदांती नहीं	गणना नहीं की है
५ महाभूत	मानते	

(१६) **तत्त्वों का ज्ञान और उनका विशेष प्रभाव**—शरीर में पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश इन तत्त्वों में किसकी प्रवृत्ति कब होती हैं, यह जानने के लिए नासाछिद्र से निकलनेवाले श्वास को देखना चाहिए। यदि वह १२ अंगुल[1] लंबा हो तो उस समय 'पृथ्वी तत्त्व' प्रवृत्त रहता है। उसका रंग पीला, कोण चार, स्वाद मीठा, आश्रय मध्यम और भोगदायक फल होता है। यदि उक्त[2] श्वास १६ अंगुल लंबा हो तो उस समय 'जलतत्त्व' प्रवृत्त रहता है। उसका रंग सफेद, अर्धचन्द्र आकार, कसैला स्वाद, आर्द्र प्रकृति और लाभदायक फल होता है। यदि श्वास[3] ४ अंगुल लंबा हो तो. उस समय 'तजतत्त्व' प्रवृत्त रहता है। उसका रंग लाल, कोण तीन, तीक्ष्ण स्वाद, ऊँचा प्रवाह और दीप्तिदायक फल होता है। यदि श्वास[4] ८ अंगुल लंबा हो तो उस समय 'वायु तत्त्व' प्रवृत्त रहता है। उसका रंग मेघश्याम, आकार गोल, आम्ल स्वाद, तिर्यक् आश्रय और चपलता रखनेवाला होता है। और यदि श्वास[5] अस्वाभाविक (ओछा, लंबा या तेज और मंद) हो तो उस समय 'आकाश तत्त्व' प्रवृत्त रहता है। उसके वर्ण, आकार या स्वाद आदि नहीं होते, वह सर्वगामियों का मोक्ष करनेवाला और कार्य को निष्फल करनेवाला है।·········इसी प्रकार शरीरधारियों के [6]आस्थिमांस, त्वचा, नाड़ी और रोमकूप १ 'पृथ्वी तत्त्व' से बनते हैं। रज-वीर्य[7] मूत्र, मज्जा-लार थूक और रींट आदि २ 'जल तत्त्व' से होते हैं। भूख, प्यास,[8] नींद, कान्ति और आलस्य ३ 'तेज तत्त्व' से बनते हैं, चलना-फिरना[9] दौड़ना, गाँठ लगाना, संकुचित करना और फैलाना ४ 'वायु तत्त्व' से होते हैं। और राग[10]-द्वेष भय, लज्जा और मोह ५ 'आकाश तत्त्व' से प्रकट होते हैं।········इसी प्रकार तत्त्वों का प्रभाव मनोगत प्राणों

---

(१) 'प्राणस्य तु गतिर्देव स्वभावादादशांगलम्। भोजने वचने चैव गतिरष्टादशाङ्गुलम्। 'प्राण एव परं मित्रं प्राण एव परोसखा। प्राणतुल्य परो बन्धुर्नास्त्येव भुविसण्डले।' —'तत्त्वाप्रमो जयं प्राप्त: समतत्त्वेधनञ्जय:। कौरवा निहता: सर्वे युद्धे तत्त्व विपर्ययात्।' 'पीतवर्णं' चतुष्कोण मधुरं मध्यमाश्रितम्। भोगदंपार्थिव तत्त्वं प्रवाहो द्वादशांगुलम्।··· (२) 'श्वेतमर्धेन्दु सकाशं स्वादु कापाय मार्दूकम्। लाभ कृच्छारुणं तत्त्वं प्रवाहो षोड़शांगुलम्।······(३) 'रक्तं त्रिनेत्रं तीक्ष्णं च ऊर्ध्वभाग प्रवाहकम्। दीप्तं च तैजसं तत्वं प्रवाहो चतुरंगुलम्।'······(४) 'नीलं च वर्त्तुलाकारं स्वादाम्लं तिर्यगाश्रितम्। चपलं मारुतं तत्त्वं प्रवाहोऽष्टांगुलं स्मृतम्।'·········(५) 'वर्णाकारं स्वाद वाहोऽव्यक्तं सर्वगामिनम्। मोक्षदं नाभसं तत्त्वं सर्वकार्येषु निष्फलम्।' (ब्रह्मज्ञानतंत्र)

(६) 'अस्थिमांस त्वचा नाड़ी रोमकूपे तु पंचमम्। पृथ्वी पञ्चगुणा प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषितम्। ···(७) 'शुक्रश्रोणितमज्जाश्च मूत्रं लालं च पञ्चमम्। आप: पञ्चगुणा: प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषितम्।

पर भी पड़ता है। यथा शरीर[१] में ५० अंश 'पृथ्वी' तत्त्व, ४० अंश, 'जल' तत्त्व, ३० अंश, तेज तत्त्व, २० अंश 'वायु' तत्त्व और १० अंश 'आकाश' तत्त्व प्रवृत्त रहता है। अतएव प्रश्न के समय पृथ्वी तत्त्व हो तो मूल (वृक्षादि) के विषय का, जल तत्त्व हो तो शुभ कार्यों का, अग्नि तत्त्व हो तो धातु-विज्ञान का, वायु तत्त्व हो तो यात्रा तथा जीवन-निर्वाह का और आकाश तत्त्व हो तो शून्य अथवा शून्यता की भावना का प्रश्न होता है।.........पृथ्वी तत्त्व में मन की भावना विलंब से, जल तत्त्व में तत्काल, तेज तत्त्व में स्वल्पतम और वायु तत्त्व में भावना का नाश होता है।.........यदि किसी वस्तु या व्यक्ति संबंधी प्रश्न हो तो पृथ्वी तत्त्व में प्राप्तव्य वस्तु जहाँ की तहाँ ही स्थिर रहती है। जल तत्त्व में प्राप्त हो जाती है। तेज तत्त्व में नष्ट होती है और पवन तत्त्व में अन्यत्र चली जाती है। ....और यदि पृथ्वीतत्त्व और जलतत्त्व में पूछा जाय तो तुष्टिपुष्टि-रति और क्रीड़ा होती है। अग्नितत्त्व और वायुतत्त्व में पूछा जाय तो सुप्त (शयन) ज्वर और कम्प होता है। और आकाशतत्त्व में पूछा जाय तो गतायु अर्थात् मृत्यु होती है।

(१७) वायु के दश भेद और उनके कार्य—१ प्राण, २ अपान, ३ समान, ४ उदान और ५ व्यान एवं ६ नाग, ७ कूर्म, ८ कृकल, ९ देवदत्त, और १० धनञ्जय ये दश वायु हैं। इनमें 'प्राण'वायु हृदय में, 'अपान'वायु गुदा में, 'समान' वायु नाभिदेश में, 'उदान' कंठ में, और 'व्यान' सांगोपांग सारे शरीर में रहता है। इनके सिवा 'नाग' वायु उद्गार (डकार) लिवाता है। 'कूर्म'वायु उन्मीलन करता (नेत्र खोलता) है। 'कृकल' क्षुधा उत्पन्न करता है। 'देवदत्त' विजृंभण (जँभाई-उबासी) लाता है और 'धनञ्जय' प्राणान्त हुए पीछे भी शरीर में ढाई घड़ी (एक घंटा) तक रहता है। अस्तु, उपरोक्त दोनों (१६वाँ और १७वाँ) शीर्षक यद्यपि विषयान्तर के हैं किंतु साधारण मनुष्यों के उपयोगी होने से यहाँ इनको युक्त कर दिया है।

(१८) पञ्चतत्त्व का लय—पञ्चभूतात्मक देह का जब नाश हो जाता है तब मानवदेहधारी जीव अदृष्ट होकर सत्रह अवयव सम्पन्न-विशिष्ट 'स्थूल देह' में इस शरीर का त्याग कर देता है। और पञ्च महाभूत (या पञ्चतत्त्व) पृथ्वी का जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में और वायु का आकाश में लय हो जाता है और वह पञ्चतन्मात्रा में मिल जाता है। उस समय माता-पिता के संयोग से उत्पन्न हुआ शरीर रसान्त या भस्मान्त हो जाता है......उपरोक्त 'सूक्ष्म शरीर' में ११ इन्द्रियाँ, ५ तन्मात्रा और १ महत् ये १७ अवयव होते हैं। शरीरान्त के समय सात्विक गुण का उदय हो तो गतप्राणी 'देवयोनि' में जाता है। रजोगुण का उदय हो तो 'मनुष्ययोनि' में जाता है और तमोगुण का उदय हो तो 'तिर्यक् योनि' (पशु) आदि में उत्पन्न होता है। इस प्रकार के आवागमन होने से ही 'चौरासी लाख योनि' पूरी होती हैं।..."प्रलय" के विषय में शास्त्रकारों के अनेक मत

---

(८) 'क्षुधा तृषा तथा निद्रा कान्तिरालस्यमेव च। तेजः पञ्चगुणं प्रोक्तं ब्रह्मज्ञानेन भाषितम्।' ......(९) 'धावनं चलनं ग्रन्थः संकोचनविकुञ्चने। वायोः पञ्चगुणं प्रोक्तं ब्रह्मज्ञानेन भाषितम्।' ...(१०) 'रागद्वेषौ तथा लज्जा भयं मोहश्चपञ्चमः। नभः पञ्चगुणं प्रोक्तं ब्रह्मज्ञानेन भाषितम्।'..

(१) पृथ्व्याः पलानि पञ्चाशच्चत्वारिंशत्तथाम्भसः। अग्नेस्त्रिंशत्पुनर्वायो विंशतिनभसो दश।' (ब्रह्मज्ञान तन्त्र)

हैं। उनमें एक मत यह भी है कि 'जिस समय एक ही बार में सम्पूर्ण भूत (प्राणी और पदार्थ) उस महान् आत्मा में लय हो जाते हैं तब वह महान् आत्मा (परमात्मा) सुख से शयन करता है। (तब तो बड़ी अच्छी नींद आती होगी) उसी का नाम प्रलय हो सकता है।

पृथिवी

पञ्च महाभूत में प्रथम

(१)

[आरम्भ के पूर्वाङ्ग में पञ्चमहाभूत या पञ्चतत्त्व के विषय में जो कुछ लिखा गया है वह उनका सामूहिक दिग्दर्शन है। और अब जो लिखा जाता है यह 'पञ्च महाभूत' (पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश) के विषय में एक एक का यथाक्रम पृथक्-पृथक् विस्तृत वर्णन है। इसमें सर्वप्रथम पृथ्वी का प्रदर्शन कराया गया है। पृथ्वी क्या है? कैसे बनी है? आरम्भ में कैसी थी? अब कैसी है? आगे कैसी बन जायगी? इस पर स्वर्ग, नरक, सुमेरु, कुमेरु, नद, नदी, समुद्र, झील, तालाब, बन्धे, गिरि, पर्वत, पहाड़ियाँ, देश, द्वीप, द्वीपान्तर, नगर, पुरी, शहर, रूस, जर्मनी, जापान, अमरीका, इँग्लैंड या भारतवर्ष कहाँ है? और विश्व की विचित्र वस्तुएँ आदि कहाँ किस प्रकार की हैं, उनका विस्तार, आबादी, आमदनी, गुण, कर्मप्रभाव और व्यापार व्यवसाय एवं विद्या आदि का यथाप्रसंग सप्रमाण विस्तृत वर्णन किया है। लेखक चाहता है कि विज्ञ पाठक इसे साद्यन्त पढ़ें और जो ज्ञातव्य विषय हो उसके लिख भेजने की उदारता दिखलावें।

पृथ्वी के पर्याय—१ कु, २ गो*, ३ गौ, ४ ज्मा*, ५ भू*, ६ क्ष्मा, ७ ज्ञा*, ८ ज्या, ९ आग्ना, १० इड़ा, ११ इरा, १२ इला*, १३ उर्वी*, १४ क्षिति*, १५ क्षामा*, १६ क्षोणी*, १७ गातु*, १८ गोत्रा*, १९ द्विरा, २० धरा, २१ धात्री, २२ दारा, २३ पृथ, २४ पूषा*, २५ पृथ्वी*, २६ वरा, २७ भूर*, २८ भूमि*, २९ मही*, ३० रिप*, ३१ रमा*, ३२ सहा, ३३ स्थिरा, ३४ श्यामा, ३५ अचला, ३६ अदिति*, ३७ अनन्ता, ३८ अवनी*, ३९ ईलिका, ४० इड़िका, ४१ उर्वरा काश्यपी, ४२ खण्डनी, ४३ खण्डिनी, ४४ जगती, ४५ देहिनी, ४६ धरित्री, ४७ धरणी, ४८ धारिणी, ४९ निऋति*, ५० निश्चला, ५१ पृथिवी, ५२ वसुधा, ५३ विपुला, ५४ मेदिनी, ५५ अब्धिद्विपा, ५६ अब्धिवस्त्रा, ५७ क्रोड़कान्ता, ५८ खगवती, ५९ गन्धवती, ६० जगद्वहा, ६१ जगन्माता, ६२ जगद्धात्री, ६३ धारयित्री, ६४ वसुन्धरा, ६५ विश्वंभरा, ६६ वसुमती, ६७ बीजप्रसू, ६८ भूतधात्री, ६९ महाकान्ता, ७० रत्नगर्भा, ७१ रत्नावती, ७२ सर्वसहा, ७३ अचलकीला, ७४ अब्धिमेखला, ७५ गिरिकर्णिका, ७६ अब्धिवसना, ७७ अब्धिद्वीपा, ७८ उदधिवस्त्रा, ७९ गन्धदायिनी, ८० धरणीधरा, ८१ भुवनमाता, ८२ सागराम्बरा, ८३ समुद्रवसना, ८४ श्री विष्णुपत्नी और ८५ मध्यमलोकवर्त्मा है। इनमें * ऐसे चिह्नवाले नाम वैदिक पर्याय के हैं और शेष सब 'शब्दार्णव' कोश एवं 'अमर कोशादि' से लिये हैं।

उपरोक्त नामों से पृथ्वी के आकार, प्रकार, गुण, कर्म, स्वभाव और विस्तार आदि मालूम हो सकते हैं। यथा 'धरा, धरित्री, धरिणी' (अर्थात् धारण रखनेवाली)

'विश्वम्भरा' (विश्व को धन धान्यादि से भरनेवाली), 'धात्री' (धाय के समान पालनेवाली), 'वसुन्धरा', 'वसुमती', 'रत्नगर्भा' (धन सम्पत्ति और रत्नोंवाली), बीजप्रसू (बीज उत्पन्न करनेवाली), 'काश्यपी' (सूर्य के द्वारा प्रकट होनेवाली), 'गन्धवती' (फल-पुष्पादि में गन्ध देनेवाली), 'सर्वसहा' (सब प्रकार के अनिष्ट-अरिष्ट, अनाचार [शुक्र, मूत्र, पुरीषादि] और अपमान आदि को सहनेवाली), 'अचला', 'निश्चला', 'स्थिरा' (न चलनेवाली या स्थिर रहनेवाली) और 'अब्धिद्वीपा', 'समुद्रमेखला', 'गिरिकर्णिका' (अर्थात् समुद्र के द्वीपों और वस्त्रोंवाली तथा पर्वतों की कर्णिका (किरणोंवाली है)। ये सभी नाम सार्थक और शास्त्रसम्मत तो हैं ही, साथ ही कुछ नाम ऐसे भी हैं जो क्यों और कब हुए आदि के प्रश्न उठवाते हैं। यथा मेदिनी, विष्णुपत्नी और मध्यमलोकवर्त्मा आदि इनका परिचय आगे दिया है।

(१) **पृथ्वी की उत्पत्ति**—(१) श्रुति के अनुसार पृथ्वी जल[१] से उत्पन्न हुई है।······(२) ऋग्वेद के अनुसार वह ज्योतिःस्वरूप वैश्वानर (सूर्य) पृथ्वी[२] की नाभि है अर्थात् सूर्य का आकर्षण और उनकी संतप्त किरणें पृथ्वी की रक्षक हैं। (३) यजुर्वेद के अनुसार किसी अवसर में रुद्रगणों[३] ने सिकता (बालू), लोह, किट्ट और पाषाण-संभूत चूर्ण अर्थात् पत्थरों का चूरा आदि के मिश्रण से पिण्ड के आकार में पृथ्वी का निर्माण करके 'बृहज्ज्योति' अर्थात् पूर्ण प्रकाश प्राप्त किया था।···(४) शतपथ के अनुसार पृथ्वी 'पञ्चमहाभूतों[४]' में प्रथमजा अर्थात् सबसे पहले प्रकट हुई है। (५) सांख्यतत्त्व के अनुसार[५]—पञ्चगुणवाली पृथ्वी धारण भाव से (व्योम, वायु, वैश्वानर और जल) इन चारों का उपकार करनेवाली है।···(६) स्मृतियों के अनुसार भगवान् मनु ने ध्यानयोग के द्वारा जल उत्पन्न करके उसमें शक्तिरूप बीज मिलाकर सुवर्ण वर्णोपम सूर्य सदृश तेज से देदीप्यमान आभासम्पन्न अण्ड निर्माण किया। उसमें ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और उन्होंने एक वर्ष तक तप करके पृथ्वी उत्पन्न की और उसको शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से संयुक्त की। (७) ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार आरम्भ में लिखे हुए महदादि के अनन्तर पाञ्चभौतिक शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-गुण-संयुक्त पृथ्वी उत्पन्न हुई। ··(८) मतान्तर के अनुसार आकाश, पाताल और सम्पूर्ण देव-दानव या मनुष्य पृथ्वी के ही आश्रय हैं।······(९) ऋग्वेद के अनुसार सूर्य[६] का आस्तरण (बिछौना) पृथ्वी ही है।······(१०) ब्रह्मवैवर्त (प्रकृति खण्ड) के अनुसार योगनिद्रा में सोये हुए विष्णु के कर्णमल से उत्पन्न होनेवाले मधु-कैटभ ने नाभिकमल से निकलते हुए ब्रह्माजी को डराया तब विष्णु ने अपनी जंघाओं पर रखकर उनका संहार किया, क्योंकि जल के घात-प्रतिघातादि से उन दिनों पृथ्वी के अधिकांश अङ्ग हीन हो गये थे अतः उनको उक्त दानवों के मेद से पूर्ण कर दिया। इस कारण पृथ्वी का 'मेदिनी' नाम विख्यात हुआ।···(११) मुक्तकसंग्रह के अनुसार भगवान् के मैल से पृथ्वी का निर्माण हुआ था।···(१२) विष्णु पुराण[७] के अनुसार प्रलय के पीछे पृथ्वी का पुनः उद्धार करने

(१) 'अद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते' (श्रुतिः)...(२) 'अयमग्निपृथिव्या भूमेश्च नाभिः।' (ऋग्वेद) (३) 'रुद्राः संसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे। तेषां भानुरजस्र इच्छुक्रो देवेषु रोचते।' (यजुर्वेद) (४) 'इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा' (शतपथ) (५) 'धारण भावेन प्रवर्तमाना पृथिवी चतुर्णामुपकारं करोति।' (कपिलदेव) (६) 'सूर्यस्यास्तरणं पृथ्वी', (ऋग्वेद)···(७) 'एवं संस्तूयमानस्तु परमात्मा महीधरः। उज्जहार क्षितिंक्षिप्रं न्यस्तवांश्च महाम्भसि।' (विष्णु पुराण)

के हेतु से भगवान् ने वराह अवतार धारण करके पृथ्वी को प्रकट किया तब यह उनकी पत्नी हुई। इसके अङ्ग से मङ्गल और मङ्गल से घण्टेश उत्पन्न हुआ। इस अंश को पाश्चात्य पण्डित भी मानते हैं और पुराणाचार्यों के 'मङ्गलो भूमिपुत्रश्च' आदि वाक्यों से भी इसकी पुष्टि होती है।...(१३) श्रीमद्भागवत के अनुसार पृथ्वी के अनुर्वर (उपजाऊ शक्ति से हीन) हो जाने पर धर्मप्राण पृथु ने पृथ्वी का पुनः संस्कार किया था और हल जोतकर इसे उर्वरा (बीज उगा देनेवाली) बनाया था।...(१४) न्याय-शास्त्र के अनुसार पृथ्वी बहुत भारी और रससंयुक्त है। इसमें रूप, नैमित्तिक, द्रवत्व और प्रत्यक्ष योग्यता विद्यमान है। स्पर्शादि १४ गुण इसमें हैं। सौरभ (सुगन्ध) और असौरभ (निगन्ध) ये दोनों भी हैं। सौरभ पृथ्वी से प्रकट होता है। जिस पदार्थ में गंध होती है उसमें उसी प्रमाण का पृथ्वी का अंश होता है। पृथ्वी परमाणुस्वरूपा होने से नित्य और अवयवशालिनी होने से अनित्य है और देह-इन्द्रिय तथा विषम भेद से तीन प्रकार की है। योनिजादि, देहरूपा, घ्राणरूपा, इन्द्रियात्मिका और द्व्यणुकादि ब्रह्माण्ड पर्यन्त विषयात्मिका है।...(१५) ज्योतिर्विज्ञान और पाश्चात्य मत के अनुसार इस दीखने वाले मौजूदा ब्रह्माण्ड के सिवा ऐसे ही या इससे भी अधिक विस्तृत और भी अनेक ब्रह्माण्ड हैं। और उनमें भी ऐसे ही सूर्य चन्द्रादि वर्तमान हैं। उनमें कई एक तो इनसे भी बड़े हैं।.. (१६) जिस समय संसार में सर्वत्र ही भाप फैला हुआ था और उसमें सर्वत्र ही अन्धकार का एकच्छत्र राज्य हो रहा था, उस समय इस संसार में कुछ भी नहीं था। केवल प्रज्वलित 'गैस के पिण्ड' जैसा सूर्य था सो भी अपनी प्रचण्ड ज्वालाओं से धधक रहा था।...उसके अतिरिक्त उन दिनों के शून्य आकाश में अपने सूर्य से भी कई गुने ज्यादा बड़े अनेकों सूर्य थे। एक बार कुयोगवश एक महासूर्य अपने सूर्य के समीप आ गया (विज्ञान का नियम है कि बड़ा आकर्षक छोटे आकर्षक को ग्रस लेता है अतः) उस समय अपने सूर्य का गैसपिण्ड द्रव पदार्थों का था इस कारण यह चञ्चल हो गया और इसका कुछ अंश स्खलित होकर (खिसककर) अलग हो गया। उसी से हमारी पृथ्वी उत्पन्न हुई, जिस पर स्वर्ग, नरक और मृत्युलोकादि सब हैं।...(१७) पाश्चात्य विद्वानों की कल्पना के अनुसार आरम्भ में पृथ्वी भी सूर्य के समान जल रही थी, किन्तु कालान्तर में कुछ ठण्ढी होने पर इसके ऊपर का हिस्सा मलाई के समान जमकर कठोर हो गया और कुछ नीचा चला गया जिसके दबाव से पृथ्वी के अन्तस्तल की गैस उफन कर ऊपर आ गई और आक्सिजन अर्थात् पिघलनेवाली होने के कारण जल बनकर बहुत वर्षों तक मूसलधार बरसती रही।...(१८) यद्यपि उस वर्षा का जल गर्म था तथापि वायु के प्रवाह से ठण्ढा होकर उसने पृथ्वी की उपरोक्त पपड़ी को कठोर रूप में जमा दिया। उस अवसर में पृथ्वी पर अनेक प्रकार के विलक्षण जीव-जन्तु और मनुष्यादि उत्पन्न हुए थे। इन दिनों उनके जो टूटे-फूटे अस्थि-पञ्जर प्राप्त होते हैं उनके आधार पर अँगरेज विद्वानों ने पृथ्वी की तत्कालीन परिस्थिति का अनुमान किया है और पठित संसार को उसे साहित्यिक रूप में दिखलाया है।......(१९) पाश्चात्य विद्वानों की कल्पना है कि जिस प्रकार वृक्षों के बक्कल, पशुओं के चर्म, नारियल, बादाम, अखरोट अथवा आम, दाड़िम और कदलीफल आदि के छिलकों का वेष्टन होता है उसी प्रकार पृथ्वी के चारों

ओर भी अन्दर की तरफ कई कोस तक की मोटी पपड़ी का वेष्टन है और वह ऊपर की अपेक्षा अन्दर (नीचे की ओर) यथाक्रम अधिक कठोर होता गया है। सम्भव है, अधिक नीचे तो वह फौलाद से भी ज्यादा कठोर होगा।······(२०) उक्त वेष्टन गैस में गले हुए धातु-उपधातुओं के रासायनिक द्रव पदार्थों से जमकर बन गया है, जिसमें ऊपर की ओर मामूली मिट्टी के काले, पीले, नीले, हरे और मिश्र वर्ण के पाषाणमय पर्त आते हैं और उनके नीचे वैसे ही रंगों के तथा स्वच्छ संगमरमर जैसे पर्त हैं। उनके पीछे टाँकियों से भी न कटनेवाली कठोर चट्टानों के पर्त हैं और उनके नीचे प्रज्वलित गैस के समुद्र भरे हुए हैं।······(२१) इस प्रकार के वेष्टनों से सुरक्षित बनी हुई पृथ्वी पर भी एक बार किसी कुग्रह की दृष्टि पड़ी थी जिसके खोटे प्रभाव से इसके तीन अङ्ग टूट गये और उनके चन्द्र, मंगल और बुध हो गये। अंगरेज विद्वान् इनको पृथ्वी के पुत्र मानते हैं और भारतीय विद्वान् 'मङ्गलो भूमिपुत्रश्च' अथवा 'कुजः कुप्रभवोपित्वं' कहकर केवल मंगल को पृथ्वी से उत्पन्न हुआ बतलाते हैं। अस्तु······(२२) विचारने का विषय है कि सूर्य के अंग से जलते हुए द्रव पदार्थों का खसकना, उनसे पृथ्वी का बन जाना, पृथ्वी के तीन अंगों का भंग हो जाना और उन तीनों से चन्द्र, मंगल और बुध का उत्पन्न होना और इसी प्रकार पृथ्वी के पेट में फौलादी पर्तो (या पसलियो), पार्वतीय चट्टानों और प्रज्वलित गैसों से समुद्रों का होना और उनकी आकस्मिक दुर्घटनाओं का असली रूप में वर्णन करना या उसे चित्र आदि के रूप में मूर्तिमान बनाकर प्रत्यक्ष दिखला देना आदि बातों से दूरदर्शी अंगरेज विद्वानों का अपूर्व बुद्धि-कौशल प्रतीत होता है अथवा कल्पना तो है ही। क्योंकि दुर्घटनाओं के अवसर में न तो कोई सूर्यमण्डल में गया था और न (अष्टावक्र के समान) पृथ्वी के पेट में रहकर उसके अन्तस्तल को देख आया था।······(२३) वैसे देखा जाय तो पृथ्वी के औरस पुत्र तो कोई हुआ ही नहीं, अकेला मंगल (या चन्द्र, भौम, बुध) हुए भी तो उर से नहीं, बाहर के टूटे-फूटे अंगों से हुए हैं। ऐसी दशा में उपरोक्त बातों को कल्पना कहना कोई असंगत नहीं होता।···(२४) हाँ यह अवश्य कह सकते हैं कि ऐसी कल्पनाएँ, ऋषिकाल में भी की गई हैं किन्तु ऋषि लोग, तत्त्वज्ञ, तपोधन, बहुजीवी, त्रिकालदर्शी और परब्रह्म के उपासक या ज्ञाता थे। अतः वर्तमान समय की और ऋषियों के समय की कल्पनाओं में उतना ही अन्तर है जितना बक और हंस में होता है। ऋषियों की कल्पनाओं को आज हजारों वर्ष बीत गये तौ भी वे यथापूर्व तथ्यपूर्ण हैं और आज कल की कल्पनाएँ विशेषकर बदलती ही रहती हैं। फिर भी यह अवश्य मानना चाहिए कि पाश्चात्य विद्वानों के विज्ञानपूर्ण अनुसंधान से अदृष्ट और अश्रुतपूर्व बहुत सी बातें ज्ञात हो रही हैं और उनसे संसार के अनेकों प्रयोजन इच्छानुसार सफल होते हैं। (२५) विज्ञान (या साइंस) के जाननेवालों का यह भी कहना है कि भूमि के जो तीन अंग-भंग हो गये थे और उनकी जगह जो बड़े बड़े गर्त (या खड्ड) पड़ गये थे वे कालान्तर की मूसलधार वर्षाओं से भर गये थे जो आज संसार में १ 'हिन्दसागर' २ 'प्रशान्त सागर' और ३ 'अतलान्तक' (या एटलांटक) महासागर के नाम से विख्यात हैं और उनके वक्षःस्थल पर आरूढ़ होकर या पदतल में प्रवेश करके वर्तमान समय के साहसी व्यवसायी, वरुण और कुबेर के जैसे अलौकिक काम कर रहे हैं। उनमें १ 'लाप्लास', २ 'डार्विन',

३ 'कॉट', ४ 'सर विलियम', ५ 'स्वीडनवर्ग', ६ 'विलियम टामसन्', ७ ज्योतिर्विद 'पिकार्ड' दैवज्ञ, ८ 'केपूलर', ९ पण्डितवर टलेमी', १० पण्डितराज 'रिचार्डनराउड' और ११ पण्डितप्रवर 'हेल्म हल्टस' आदि अँगरेज विद्वान् और अरब के खलीफा 'अलमानु' आदि यवन विद्वान् अधिक विख्यात हुए हैं अस्तु।

[२] **पृथ्वी का आकार**—(१) ऋग्वेद[१] में पृथ्वी के रूप, गुण और कर्म के आधार और इस पर पड़नेवाली सूर्य की किरणों के प्रसार के अनुसार पृथ्वी का 'गोल आकार' बतलाया है।...(२) वेदों का 'पुराण' रूप में व्यास करनेवाले भगवान् वेदव्यासजी ने 'श्रीमद्भागवत' में वराह भगवान् की स्तुति के बहाने पृथ्वी को 'पद्मपत्र' जैसी बतलाया है। स्तुति में कहा है कि 'भगवन्, आपकी दंष्ट्रा (दाढ़) पर यह पृथ्वी मत्त गजेन्द्र के दाँत पर लगे हुए 'पङ्कलिप्त पद्मपत्र' अर्थात् गार से सने हुए कमल के पत्ते जैसी सुशोभित हो रही है।...(३) वास्तव में प्रातःकाल के समय सूर्योदय से कुछ पहले और सायंकाल के समय सूर्योस्त से कुछ पीछे स्तब्धप्राय शून्य जंगल में जाकर देखने से पृथ्वी का आकार अवश्य ही पद्मपत्र समान प्रतीत होता है। यही मत 'विष्णु पुराण'[३] का है।...(४) परन्तु भगवान् में दूसरी जगह शेष भगवान् के सहस्रशीर्ष सूचित करने के साथ ही उनके एक मस्तक पर स्थित हुई पृथ्वी को 'सरसों'[४] के समान (गोल) बतलाया है, जिसमें शेष अर्थात
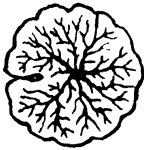
(१) 'चक्राणास: परिणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमाना:। न हिन्वाना सरितिरुस्त इन्द्रं परिस्वशो अदधात्सूर्येण' (ऋग्वेद)... (२) 'आप्रारजांसि दिव्या पार्थिवा श्लोक देव कृणुते स्वाय धर्मणे। प्रवाक् असाक् सविता सवीमनि निवेशयन् सुसवन्नभिर्जगत्।' (ऋग्वेद) (३) दंष्ट्राग्रविन्यस्तमशेषमेतद् भूमण्डलं नाथ विभाव्यते ते। विगाहत: पद्मवनं विलग्नं सरोजिनीपत्रमिवोढपङ्कम्।' (श्रीविष्णुपुराण)...(४) 'यस्येदं क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्तेः सहस्रशिरस एकस्मिन्नेव शीर्षणि ध्रियमाणं सिद्धार्थ इव लक्ष्यते।' (श्रीमद्भागवत) **"भारतीय हिन्दू शास्त्रों में"** अष्टादश पुराण अधिक प्रयोजन के हैं। भगवान् वेदव्यासजी ने सांगोपांग वेदो के सारभूत आवश्यक अङ्गों का बड़ी विलक्षण रीति से इनमें समावेश किया है। यही कारण है कि इनको चारों वेदों के समान मानते हैं। इनकी रचना-शैली किसी स्थल में सरल और सुबोध है तो किसी में क्लिष्ट और दुर्बोध्य भी है। विशेषकर रूपकात्मक वर्णन मे बड़े से बड़े विद्वान भी बहक जाते हैं। और असली आशय समझ में न आने से पुराणों पर अश्रद्धा या आक्षेप करते हैं।...अन्य पुराणों की अपेक्षा "श्रीमद्भागवत" अधिक महत्त्व का है। इसमें १ सर्ग, २ विसर्ग, ३ स्थान, ४ पोषण, ५ ऊति, ६ मन्वन्तर, ७ ईशानुकथा, ८ निरोध, ९ मुक्ति और १० आश्रय, इन १० विषयों का विशद विस्तृत और विवेचनात्मक वर्णन किया है और रचना-शैली शुकस्वरूप शुकदेवजी के शब्दों में 'को चेत्वाष्टौ' प्रसिद्ध है ही। इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी किसी में किसी विषय की और किसी में किसी विषय की विशेषता है। यथा—किसी पुराण में धर्मतत्त्व, मन्त्रानुष्ठान, देवोपासना या तीर्थ माहात्म्य हैं। किसी में वास्तुविज्ञान, मूर्तिनिर्माण, भूगर्भविद्या और कला-कौशल हैं। किसी में राजनीति,

प्रलयान्त में शेष (बाकी) रहनेवाले अनन्त (परब्रह्म) के मस्तक की तुलना में पृथ्वी का लघुत्व और सरसों के समान गोलत्व सूचित किया है।···(५) इस विषय के प्रमाण वाक्यों में क्षितिमण्डल और भूमण्डल शब्दों का उपयोग किया गया है अतः उनसे भी पृथ्वी का गोल आकार होना ही सिद्ध होता है। क्योंकि मण्डल शब्द प्रायः गोलाकार का ही द्योतक है, यथा सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल हैं। अतः भूमण्डल भी वैसा ही गोल है।···(६) किसी पुराण में पृथ्वी को त्रिकोण या चतुष्कोण बतलाया है परन्तु यह पुराणकर्ता की भावना मात्र है। एक अँगरेज विद्वान् ने इसके आकार की समता देखकर दक्षिणोत्तर अमेरिका को भी त्रिकोण बतला दिया था।···(७) गुण और आकृति के अनुरोध से कोशकारों ने इसको गोरूप में प्रकट किया है। कई एक धर्मानुष्ठानों में भी इसकी गोरूप में प्रार्थना की जाती है। और आपत्ति के अवसर में स्वयं इसने भी गोरूप धारण करके अपने कष्टों का निवारण कराने के हेतु ब्रह्मादि को उत्साहित किया है। इन कारणों से यदि इसका गोरूप मान लिया जाय तो चारों समुद्र इसके स्तन हैं, गिरि-गुहा इसके कर्णरन्ध्र हैं, नगराज इसके शृङ्गद्वय हैं और चारों दिग्गज ही इसके चरण हैं।···(८) कोई इसको चक्की के पाट जैसी या कुम्हार के चाक जैसी चपटी और गोल बतलाते हैं। और कोई मुकुर (दर्पण) या काँच जैसी समतल मानते हैं, जिसका विद्वान् लोग समर्थन नहीं करते।...(९) ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता इसको सदा से ही गोल मानते आ रहे हैं और गोल मानने से ही खगोल के खग स्पष्ट किये जा सकते हैं। यदि पृथ्वी गोल न होती (चपटी या त्रिकोणादि की होती) तो गणित-सम्बन्धी प्रायः सभी काम अस्त-व्यस्त हो जाते।···(१०) वैसे देखा जाय तो 'भूगोल' शब्द भी इसकी गोलाई का ही द्योतक है। परन्तु स्वभावतः यह सन्देह हो सकता है कि गोली, गोला, गेंद और मोदक आदि भी गोल होते हैं। अतः पृथ्वी के गोलाकार की समता किसमें मानी जा सकती है। इसका समीचीन उत्तर प्रायः सभी ने यह दिया है कि 'पृथ्वी नारंगी के समान गोल है।' इस विषय में 'सिद्धान्तज्योतिष' के सर्वोत्कृष्ट ज्ञाता या इस विषय के आदर्श भास्कर···(११) भास्कराचार्य ने भी इसको गोल बतलाया है परन्तु उनकी गोलाई में एक सार्थक विशेषता है। भास्कराचार्य इसको 'कदम्ब-कुसुम' जैसी गोल मानते हैं, जो वास्तव में यथार्थ है। क्योंकि जिस प्रकार

व्यवहार-साधन, कृषि-विज्ञान, खनिजज्ञान और रत्नपरीक्षा हैं। किसी में व्रत, उत्सव, उद्यापन, होम, यज्ञ, भूशोधन और आयुर्वेद हैं। किसी में भूगोल, खगोल, ज्योतिष, पशु-विज्ञान, भूतविद्या, सर्पविद्या और षट्कर्म हैं, और किसी में ज्ञान-विज्ञान, यात्रा, इन्द्रजाल, कौतुक-क्रिया और परलोक-परिचय हैं। ऐसे रत्न होने से पुराणों का पारायण करना परम श्रेयस्कर है। इस विषय में पाश्चात्य विद्वान् बहुत अनुसन्धान करते हैं और कुछ न कुछ नवीन बात ढूँढ ही लेते हैं—'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।' इसके अनुसार ब्रह्माजी ने सर्वप्रथम पुराण प्रकट किये और पीछे वेदों की रचना की। अतः हमको पुराणों का मन लगाकर पठन करना चाहिए। क्योंकि भगवान् वेदव्यासजी ने उनमें जो कुछ लिखा है सब सत्य है और स्मरणीय है।

कदम्ब[१] के कुसुम की गोलाइ में उसकी केसर की ग्रन्थियाँ, गुम्फित, सुरभित और सुशोभित रहती हैं उसी प्रकार पृथ्वी भी अपने सर्वांग में रहनेवाले नद, नदी, समुद्र, वन, पर्वत, ग्राम, मन्दिर, किले, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि से युक्त सर्वत्र शोभित है। भास्कराचार्य के गोल बतलाने में यही विशेषता है।...(१२) कुछ सज्जनों का कथन है कि पृथ्वी कुक्कुटाण्ड या मयूराण्ड सदृश है। क्योंकि जिस प्रकार गीली मिट्टी के गोले को आधा सूखते ही भ्रमणशील बना दिया जाता है तब उसके दोनों किनारे कुछ निकल आते हैं उसी प्रकार पृथ्वी के पार्श्व भी लचक गये हैं। और पाश्चात्य विद्वान् उनको ७ और १३ मील (या ३॥ और ६॥ कोस) लंबे बतलाते हैं। यही कारण है कि यह गोल होने पर भी अण्डे जैसी मानी जाती है। अच्छा हुआ, ऐसा होने से 'ब्रह्माण्ड' शब्द भी सार्थक हो गया। अस्तु ..(१३) उपरोक्त गोल, चपटे या समतल आदि आकारों की युक्तिसंगत माननीय भास्कराचार्य ने मीमांसा की है। उनका कथन[२] है कि यदि पृथ्वी का आकार चाक, चक्की, या दर्पण के समान समतल या चपटा है और इसी पृथ्वी पर सुमेरु है जिसके चारों ओर सूर्य का रथ भ्रमण करता है तो वह सदैव क्यों नहीं दीखता ? नित्य प्रति दिन रात होने का झमेला क्यों होता है ? देवताओं के समान छः महीने का दिन और छः महीने की रात यहाँ भी क्यों नहीं होती हैं ?...(१४) यदि यह कहा जाय कि सूर्य के आड़ा सुमेरु[३] आ जाने से यहाँ रात हो जाती है तो सुमेरु को सुवर्ण का क्यों बतलाया जाता है ? क्या वह पर्वत है या और कुछ ही है ? (१५) यदि सुमेरु सोने का है और उस पर देवता रहते हैं तो सूर्य के सम्मुख होने से उसका अधिक प्रकाश क्यों नहीं होता ? उसके बदले रात क्यों होती है ? ऐसी दशा में पृथ्वी को चपटी या समतल मानना केवल भ्रम है। (१६) साथ ही सुमेरु ऊँचा है, उत्तर में है, उस पर देवता रहते हैं, और उसके चारों ओर सूर्य का रथ भ्रमण करता है, यह भी भ्रम है। यदि ऐसा ही होता तो सूर्य सदैव उत्तर में ही दीखता, दक्षिणायन होने पर दक्षिण में नहीं चला आता। अतः पृथ्वी समतल या चपटी नहीं, कदम्ब-कुसुम के समान गोल है। (१७) अधिकांश मनुष्य पृथ्वी को गोल मानने में इस कारण संकोच करते हैं कि यह दीखने में समतल या चपटी दीखती है। परन्तु इस प्रकार की दीखने का यह कारण है कि किसी भी गोल वस्तु के सम्पूर्ण व्यास अर्थात् चारों ओर के घेरे का एक[४] शतांश (सौवाँ हिस्सा) सदैव और सर्वत्र ही सीधा दीखा करता है जिसमें पृथ्वी तो 'महत्सु महती' है। क्योंकि इसका व्यास लगभग २५ हजार मील (या १२५०० कोस) माना गया है अतः
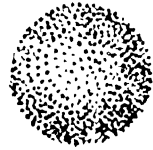
(१) 'सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्यचयैः श्रितः। कदम्बकुसुमग्रन्थिः केसरप्रसरैरिव।' (सिद्धान्तशिरोमणि) (२) 'यदि समा मुकुरोदरसन्निभा भगवती धरणी तरणिः क्षितेः। उपरि दूरगतोऽपि परिभ्रमन् किमु नरैरमरैरिव नेक्ष्यते।' ...(३) 'यदि निशा जनकः कनकाचलः किमु तदन्तरगः स न दृश्यते। उदगयं ननु मेरुरथांशुमान् कथमुदेति च दक्षिणभागके।' (सिद्धान्त-शिरोमणि) (४) 'समो यतः स्यात्परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथ्वी नितरां तनीयान्। नरश्च तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा।'...

इसके एक शतांश का विस्तार ढाई सौ मील (या १२५ कोस) होने से यह सर्वत्र ही सीधी दीखती है।...(१८) उदाहरण के लिए छोटे आकार[1] के नीबू, नारंगी, खरबूजा, या गेंद लीजिए अथवा बड़े आकार के चक्र-गोला या रेल्वे लाइन के 'गंग' (घुमाव की गोलाई) आदि को नापकर देखिए। उनका प्रत्येक शतांश सर्वथा सीधा मिलेगा। यथा, जिस जगह रेल्वे लाइन घुमाव खाती है उस जगह ठीक गोलाकार में होने पर भी ४०-४० फुट लम्बी लीकें बाल भर भी बाँकी नहीं की जातीं; सर्वथा सीधी रहती हैं और उन्हीं से लाइन के गंग की गोलाई बन जाती है।...(१९) एक सन्देह यह भी हो सकता है कि पृथ्वी गोल है तो अपने से नीचे वसनेवाले मनुष्य (या अन्य प्राणी) इस पर कैसे ठहर सकते हैं (वे तो 'ऊर्ध्वमूल अधःशाखा' (नीचे शिर और ऊँचे पाँव ही रह सकते) हैं। परन्तु भास्कराचार्य ने इसका यह समाधान किया है कि अपने अंग के प्रमाण से कई हजार गुने बड़े स्थान या वस्तु आदि पर जहाँ कहीं भी हम, आप या कोई भी जीव-जन्तु सोयें, बैठें, खड़े रहें या भ्रमण करें, सदा सर्वदा अपने से नीचे का स्थान सर्वत्र सीधा रहेगा और उसके ऊपर से कोई भी कहीं नहीं गिरेगा।...(२१) यथा दीवारों पर चलनेवाले चींटी, छिपकली, (या गृहगोधी) आदि सभी जन्तु सोते, उठते, खाते, पीते या दौड़ते हुए भी कभी गिरते नहीं हैं। यही क्यों, औंधी छत पर चलनेवाली छिपकली कीट पतंग या भ्रमरादि को दौड़कर पकड़ लेती है तो भी गिरती नहीं है। अतः उनके लिए जिस प्रकार औंधी छत सीधी है उसी प्रकार अपने से नीचे निवास करनेवालों के लिए उनके स्थान भी सीधे हैं।···(२२) और लीजिए, जैसे जलाशय के किनारे पर खड़े हुए मनुष्यों को उनकी छाया औंधी मालूम होती है परन्तु वास्तव में वह औंधी नहीं, उस स्थान से वह सीधी ही है।···(२३) पृथ्वी के प्रत्येक चतुर्थांश (३१२५ कोस) के अन्तर पर रहनेवाले मनुष्यादि सभी जीव दूसरे चतुर्थांशवालों को तिर्छे या औंधे मानते हैं। और ऐसी स्वाभाविक धारणा प्रायः सब में होती ।···(२४) अस्तु, पृथ्वी चाहे कदम्ब के फूल जैसी हो; चाहे नारंगी के समान हो और चाहे अण्डाकार या 'नर्मदेश्वर'[3] के सदृश हो परन्तु गोल अवश्य है। यदि गोल न होती तो 'लल्लाचार्य[4]' को यह कहने का अवसर नहीं मिलता कि 'पृथ्वी के ऊपर खड़े हुए (वट, पीपल और ताल जैसे) बहुत ऊँचे वृक्ष या नाव, जहाज, अत्युच्च भवन) पर्वत और वायुयानादि जैसे गगनस्पर्शी पदार्थ भी दूर से क्यों नहीं दीखते ? हम उनके सामने जाते हैं या वे हमारे सामने आते हैं तब भी सबसे पहले उनकी चोटी (ऊपर का अंश) दीखता है और फिर जैसे जैसे हमारा और उनका सामीप्य होता जाता है वैसे ही वैसे उनके नीचे के अंग, उपांग यथाक्रम दीख आते हैं।···(२५)

(१) अल्पकायतया लोकाः स्वस्थानात्सर्वतो मुखम्। पश्यन्ति वृत्ता मप्येतां चक्राकारा वसुन्धराम्।' (सूर्यसिद्धान्त)···(२) 'यो यत्र तिष्ठत्यवनीं तलस्थामात्मानमस्या उपरि स्थितं च। स मन्यतेऽतः कुचतुर्थसंस्थामिथश्च ते तत्र वयं यथात्र।' (शिरोमणि) (३) 'भूमेः साष्टमूर्तेश्च मूर्तिः' (शिरोमणि) 'शिवजी की आठ मूर्तियों में एक पृथ्वी भी है और इस कारण इसका पार्थिव पिण्ड होना सार्थक हो जाता है। (४) समता यदि विद्यते भुवस्तरवस्ताल निभा बहूच्छ्र्याः। कथमेव न दृष्टिगोचरं नुरहो यान्ति सुदूरसंस्थिताः।' (लल्लाचार्य) ··

और देखिए, ग्रहण के समय चन्द्रमा पर पृथ्वी की छाया पड़ती है तब चन्द्रग्रहण होता है। वह छाया सर्वथा गोल होती है। और उसको ग्रहण के अवसर में असंख्य मनुष्य देखा करते हैं। यदि पृथ्वी गोल न हो तो उसकी छाया भी गोल नहीं दीखती।...(२६) किसी भी बस्ती के बाहर जनशून्य और वन-विहीन उद्यान में खड़े होकर भूमि को देखा जाय तो वह चारों ओर से गोल दीखती है। उसका कोई भी अंश खण्डित या कोणगत नहीं दीखता। ..(२७) पृथ्वी के किसी भी भाग में शंकु (या ध्वज) खड़ा करके उसके समीप से पूर्वाभिमुख होकर निरन्तर चलते रहें तो अन्त में कोई भी चलनेवाला पश्चिम से निकल कर उस ध्वज के समीप पूर्वाभिमुख हुआ ही पहुँचता है। अतः इससे भी पृथ्वी का गोल होना ही प्रमाणित होता है।...(२८) और लीजिए, कदाचित् उक्त प्रकार से पृथ्वी के चारों ओर न जाया जाय तो एक नीबू, नारंगी या गेंद के किसी भी भाग में एक पिन, सूई या कील रोप कर उसमें पूर्वादि चारों दिशा लिख दीजिए और फिर कील के समीप से रेखा बनाना आरम्भ करके पूर्व की ओर होते हुए चारों ओर बना दीजिए तो अन्त में वह पश्चिम होकर आवेगी और पूर्वाभिमुख होकर कील के समीप पहुँचेगी।...(२९) पृथ्वी के गोल होने का एक प्रत्यक्ष प्रमाण और है। वह यह है कि रात्रि के समय एक दो दिन में होनेवाली वर्षा के प्रभाव से चन्द्रमा के चारों ओर गोल आकार का एक बहुत बड़ा मण्डल देखने में आया करता है, जिसको देहाती लोग 'चाँद का कुंड्याला' कहा करते हैं। वह कब होता है, जब कि सूर्य, पृथ्वी और चन्द्रमा (नीचे ऊपर) समान रेखा में आ जाते हैं। वास्तव में वह क्या है ? यही कि भूमण्डल की सामुद्रीय जलमेखला का छायारूप प्रतिबिम्ब है। और पृथ्वी के गोल होने से ही वह गोल होता है।...(३०) पुराणों में पृथ्वी को 'शेष' (परब्रह्म) के मस्तक पर सरसों के समान रखी हुई बतलाया है। इसी में भी पृथ्वी का गोलत्व ही गर्भित है। यदि पुराणाचार्य इसको चपटी या अन्य प्रकार की सूचित करना चाहते तो फूल की पत्ती, तुलसी की मञ्जरी या बिल्वपत्र जैसी भी बतला सकते थे। किन्तु उन्होंने सरसों के समान बतलाने में शेष के समक्ष पृथ्वी का हलकापन और गोलपना प्रकट किया है। ..(३१) जनकपुर में जनकादि राजाओं के सम्मुख, 'राम के द्वारा शिव-धनुष उठाया जाने के अवसर पर' लक्ष्मणजी ने भी इस पृथ्वी का गोल आकार ही प्रकट किया था। उन्होने जोश में आकर कहा था कि 'कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ'। अस्तु।

(३) **पृथ्वी का आकार**—(१) वेदों के अनुसार यह 'महान्मही' (सबसे बड़ी) अथवा 'महत्सु महती' (बड़ी से बड़ी) है। इतनी बड़ी कि जिस पर भूर्भुवादि तीनों लोक अथवा आकाश, पाताल और मर्त्यलोक बसे हुए हैं।...(२) पुराणों[१] के अनुसार यह (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जिसकी सीमा सूर्य की किरणों का प्रकाश पहुँचने

(१) 'अण्डमध्यगतः सूर्यो द्यावाभूम्योर्यदन्तरम्। सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः।' (श्रीमद्भागवत) पृथ्वीमाण्डकटाहेन पञ्चाशत्कोटिविस्तरा।' (अग्नि पुराण) 'योजनानाञ्च पञ्चाशत्कोटिसंख्याप्रमाणतः। ब्रह्माण्डस्यैव विस्तारो मुनिभिः परिकीर्तिताः।' (शिव पुराण) आगे इसको गणित द्वारा भी स्पष्ट कर दिया है।

पर्यन्त मानी है) पचास कोटि योजन (या दो अर्ब कोस के विस्तार का है) । द्वीप-द्वीपान्तरादि के फैलाव को देखते हुए उपरोक्त विस्तार किसी भी अंश में असंगत या असंभव नहीं । (१) भास्कराचार्य के मत के अनुसार पृथ्वी की 'परिधि' का प्रमाण ४९६७ योजन[१] (या १९८६८ कोस) 'व्यास' (अर्थात् पृथ्वी के बीच की मोटाई) १८८१ योजन (या ७५२४ कोस) और 'क्षेत्रफल' (अर्थात् पृथ्वी के चारों ओर का संपूर्ण विस्तार) ७८५३०३४ योजन (या ३१४१२१३६) कोस है।···(२) आर्यभट्ट के कथानुसार 'व्यास' २०,००० योजन (या ८०,००० कोस) और 'परिधि' ६२,८३२ योजन (या २,५१,३२८ कोस) है।···(३) लल्ल के मतानुसार भूमण्डल[२] का सम्पूर्ण विस्तार अर्थात् 'क्षेत्रफल' २,८५,६३,३८,५५७ कोस है परन्तु सिद्धान्तवालों ने गणित द्वारा स्पष्ट करके देखा तो यह संगत प्रतीत नहीं होता।···(४) 'विषुवद्वृत्त' में भूमण्डल का 'व्यास' ९९०।। योजन (या ३९६३ कोस) 'मेरुदेश' में ९८०।। योजन (या ३९४४।। कोस)—'आयतन' ३३,७५० घनयोजन (या १,३५,००० घनकोस) और भूपृष्ठ का फैलाव ९,८६,५५,००० वर्ग कोस (या २,४६,६३,७५० वर्ग योजन) है। अस्तु···(५) सूर्य से पृथ्वी १,२५,००० योजन या ५,००,००,००० कोस के अन्तर पर है और इस पर सूर्य की किरणों का प्रकाश २० पल, ३२ विपल (या ८ मिनट और १३ सेकण्ड) में आकर पहुँचता है। (६) पाश्चात्य पण्डितों या विलायत के विद्वानों के मतानुसार 'पृथ्वी का पिण्ड' ९८८ योजन (या ३,९५३ कोस), 'चारों ओर के वायु का पर्त' २५ योजन या (१०० कोस) और 'क्षेत्रफल' २,४६,२५,००० योजन (या ९,८५,००,००० कोस) है।···(७) 'जलवेष्टित' भूमि के विषय में विज्ञानवेत्ताओं का यह मत है कि—पृथ्वी के सम्पूर्ण विस्तार २,४६,००,००० वर्गात्मक योजन (या ९,८५,००,००० वर्गात्मक कोस) में १,८१,२५,००० योजन (या ७,२५,००,०००) कोस में जल और शेष ६५,००,००० वर्ग योजन (या २,६०,००,००० कोस) में खुली हुई भूमि है।···(८) वराहमिहिराचार्य के मतानुसार भूमि की 'परिधि' ३,२०० योजन (या १२,८०० कोस) है। साथ ही अन्य ज्योतिषियों ने आकाश की 'कक्षा' का विस्तार १८,७१,२०,६९,२०,००,००,००० योजन (या ७४,८४,८५,७६,८०,००,००,००० कोस) बतलाया है। अस्तु, (९) 'धरा के विस्तार' के विषय में उपरोक्त प्रमाणों की अपेक्षा भास्कराचार्य के प्रमाण अधिक मान्य होते हैं। क्योंकि इनके आधार पर स्पष्ट किये हुए अंक अशुद्ध नहीं होते, शुद्ध होते हैं। भास्कराचार्य ने प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्त, अपने निज के अनुभव-पूर्ण गणितांक, प्रत्यक्ष दीखनेवाले याम्योत्तर ध्रुवों का आधार एवं अपनी कुशाग्र

---

(१) 'प्रोक्तो योजनसङ्ख्यया कुपरिधिः सप्ताङ्गनन्दाब्धयः (४९६७) तद्व्यासः कुभुजङ्गसायकभुवः सिद्धांशकेनाधिकः (१५८१$\frac{1}{24}$) पृष्ठक्षेत्रफलम् तथा युगगुणत्रिंशच्छराष्टाद्रयोगः (७८५३०३४) भूमेः कन्दुकजालवत्कुपरिधिः व्यासाहतेः प्रस्फुटम् ।' (सिद्धान्तशिरोमणि) 'पुरान्तरं चेदिदमुत्तरं स्यातदक्षविश्लेषलवैस्तदा किम् । चक्रांशकैरित्यनुपातयुक्त्या युक्तं निरुक्तं परिधेः प्रमाणम् ।' (शिरोमणि) ···· (२) 'नागशिलीमुखबाण भुजङ्गप्रज्वलवह्निरसेयुगजाश्विनः । कुवलयस्य बहिः परियोजनान्यथा जगुः खलु कन्दुकजालम् ।' (लल्लाचार्य-कृत 'शिष्यधीवृद्धिः)

बुद्धि और दूरदर्शिता के अनुसार निश्चय किया है कि (१०) 'भूपरिधि' ४,९६४ योजन (या १९,८५६ कोस), 'भूव्यास' (ऊपर से नीचे तक भूमध्य के अन्दर की लंबाई) १५८१२४/२५ योजन (या ६३२४८६/२५ कोस) और 'भूक्षेत्र' (पृथ्वी के सांगोपांग चारों ओर की सम्पूर्ण गोलाई का परिमाण) ७८,५३,०३४ योजन (या ३,१४,१२,१३६ कोस) है। (११) 'भूमि के विस्तार' का निश्चय करने में भास्कराचार्य ने जगन्नियन्ता के सुस्थिर साधनों से काम लिया है और ऐसा करने से किसी काम में अन्तर नहीं आता है। पृथ्वी पर छः स्थान ऐसे हैं जहाँ से उत्तर और दक्षिण के दोनों ध्रुव 'क्षितिज संलग्न' (अर्थात् पृथ्वी के याम्योत्तर किनारों में लगे हुए दीखते हैं।···(१२) उनमें १ 'लङ्का'[१] पृथ्वी के ठीक मध्य भाग में है। २ 'सिद्धपुर' लङ्का के ठीक नीचे (पृथ्वी के तल भाग में) है और लङ्का से ३ पूर्व में 'यमकोटि', ४ दक्षिण में 'बड़वानल', ५ पश्चिम में 'रोमक पत्तन' और ६ उत्तर में 'सुमेरु' है। (१३) 'सुमेरु में देवता—बड़वानल में दानवादिक और अन्य स्थानों में अन्य जाति के अधिवासी हैं। (१४) भास्कराचार्य के मतानुसार लङ्का से सुमेरु तक पहला, सुमेरु से सिद्धपुर तक दूसरा, सिद्धपुर से बड़वानल तक तीसरा, और बड़वानल से फिर लङ्का तक चौथा भाग है। (१५) इस प्रकार पृथ्वी के ऊपर दक्षिण से उत्तर तक और उत्तर से पृथ्वी के नीचे होकर दक्षिण तक चारों ओर अभीष्ट रेखा नियत करके याम्योत्तर ध्रुवों की सीध में लङ्का से सुमेरु तक के पहले भाग में 'भूमध्य रेखा'[२] निश्चित की है। उसके ऊपर लङ्का[३] से उत्तर दिशा की ओर १२५ योजन (५०० कोस) कन्याकुमारिका, उससे आगे ८० (३२०) 'काञ्ची' नगर, आगे ३६ (१४४) 'किष्किंधा'—९ (३६) 'पोलग्राम'—१० (४०) 'वासिब' गाँव—४० (१६०) 'उज्जैन' १०८ (४३२) 'कुरुक्षेत्र' और उससे आगे ८२४ योजन (या ३२९६ कोस) 'सुमेरु' है। (१६) इस प्रकार पृथ्वी के प्रथम भाग में लङ्का से सुमेरु तक १२४२ (४९६८) कोस हैं। उससे आगे पृथ्वी के दूसरे भाग में सुमेरु से नीचे
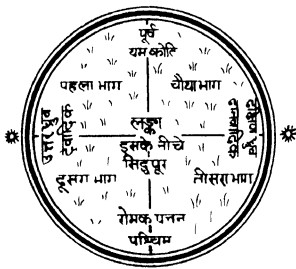
की ओर सिद्धपुर की तरफ पारिवेट, मेलविलसौद, आवलत्सलोट, लाद्ग्रेत्सलेव, आपावास्का त्रिंटिस, आकेगान, बगला नदी, कारियेनेमकेप, ज्वालामुखी पहाड़, कालिमा, ज्वलतगालपा, गासबेट और सिद्धपुर, १२४२ योजन (या ४९६८ कोस) है।···

(१) लङ्का कुमध्ये यमकोटिरस्याः प्राक् पश्चिमे रोमकपत्तनं च। अधस्ततः सिद्धपुरं सुमेरुः सौम्येथ याम्ये वडवानलश्च।' कुवृत्त पादान्तरितानि यानि स्थानानि खंगोल विदो वदन्ति। वसन्ति मेरौ सुरसिद्धसंघा और्वे च सर्वे नरकाः सदैत्याः। (शिरोमणि)···· (२) 'यल्लङ्कोज्जयिनी-पुरोपरि कुरुक्षेत्रा दिदेशान्स्पृशन् सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः। (शिरोमणि) (३) पुरी राक्षसी तत्त्वभूदेवकन्या ततो नग्रकाञ्ची तुखाष्टप्रमाणः। मिताः पर्वतो गर्गरामैश्च संख्या ततो योजनैर्नन्दभिः पर्पली स्यात्।' 'ततो योजनै खेन्दुभिर्वत्स गुल्मं खबाणैः सुदूरवन्तीप्रमाणम्। कुरुक्षेत्रमष्टोत्तर्योजनैः सद्जितैर्नागयुक्तैः प्रमाणैः सुमेरुः।' (सिद्धान्तसार)

(१७) सिद्धपुर से आगे पृथ्वी के नीचे के पेंदे में (तीसर भाग म) 'सलाई गोमेथ, आल अलेकसाँद बेट, समुद्र विक्टोरियालाँद और बड़वानल (असुरस्थान) तक १२४२ यो० (या ४९६८ कोस) है और असुरस्थान से आगे पृथ्वी के (चौथे भाग में) एद्गविलाँद, साकूदानल्हमबेट, करावेलनलाँद, आमस्तरदामबेट, सेन्ट्रीबेट-चगामबेट, और लङ्का तक वही १२४२ योजन (या ४९६८ कोस) है (३१८) इस प्रकार चारों भागों की योजन-संख्या जोड़ने से पृथ्वी की परिधि के वही ४९६८ योजन (या १९८७२ कोस) हो जाते हैं। (धन्य कहिए उन पाश्चात्य विद्वानों को जो अनेकानेक कष्ट सहकर और अपरिमित अर्थ व्यय करके पृथ्वी के नीचे, ऊपर चारों ओर घूम आये हैं और इसके अधिकांश अंग-उपांगों को देख आये हैं। उपरोक्त नगरों के अटपटे नाम उन्हीं की यात्रा के विवरण से लिये गये हैं।) (१९) ऊपर निर्दिष्ट किये हुए नगर या स्थान भूमध्य रेखा के निकट-वर्ती हैं और देवस्थान (सुमेरु) तथा असुरस्थान (बड़वानल) यथाक्रम उत्तर और दक्षिण ध्रुवों के ठीक नीचे हैं। इन स्थानों में किसी में भी जाकर खड़े होने से दोनों ध्रुव यथास्थान मस्तक पर आ जाते हैं। उन्हीं को 'ध्रुवप्रदेश' कहते हैं। अस्तु, (२०) लङ्का से आगे उत्तरी ध्रुव की ओर अथवा लङ्का से पीछे दक्षिणी ध्रुव की ओर जाने से ध्रुव जितने ऊँचे होते जाते हैं उतने ही प्रमाण से अक्षांश बनते हैं और उनसे ही देशान्तर के योजन मालूम किये जाते हैं। यथा, उपरोक्त चारों भागों की गोलाई को ३६० अंशों के मानकर प्रत्येक भाग के ९० अंश नियत किये हैं। और इस प्रकार भूपरिधि के ४९६८ योजनों को ४ भागों में विभाजित करके प्रत्येक भाग के १२४२ योजन स्थिर किये हैं। इस क्रम से ९० अंश के ४९६८ कोस होते हैं। (२१) लङ्का और उज्जैन दोनों भूमध्य रेखा के ऊपर एक सीध में हैं। उज्जैन के अक्षांश २२½ हैं और लङ्का से उज्जैन तक के देशान्तर की योजनसंख्या ३१०१/२ है। अक्षांश २२½, चक्रांश ३६० के सोलहवें भाग के बराबर है इसलिए उज्जैन भूपरिधि के सोलहवें भाग पर स्थित है। देशान्तर ३१०१/२ को १६ से गुणा करने पर भी भूपरिधि के वही ४९६८ योजन हो जाते हैं। अतः इस प्रकार कर लेने से अन्तर नहीं रहता। अस्तु।

(४) **धरा साधार है या निराधार ?**—इस विषय में वेदों[१] का एक मत यह है कि पृथ्वी, सूर्य नारायण के आकर्षण और (प्रलयकाल में शेष रहनेवाले) परब्रह्म की महान् शक्ति के अमित प्रभाव से इस अपरिमित आकाश में स्वयं ही स्थित है। इसके आगे, पीछे या नीचे, ऊपर कहीं भी कोई आधार नहीं है। (२) स्मृतियों का मत यह है कि पृथ्वी का आधार एकमात्र धर्म है। यह उसी के सहारे इस विस्तीर्ण आकाश में निराधार ठहरी हुई है। (३) पुराणों के अनुसार पृथ्वी के जो ४-५ आधार हैं वह रहस्य-मय हैं। उनका गूढ़ आशय पुराणाचार्य ही प्रकट कर सकते हैं। यथा (४) 'श्रीमद्भागवत'[२]

(१) प्रजानन्मित्रो दाधार पृथ्वीमुत द्यौ मित्रः। कुष्टीरतभिपामि चष्टे।' (ऋग्वेद) सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात। सभूमि सर्वतस्पृष्ठात्यतिष्ठद्दशांगुलम्। (यजुर्वेद)···(२) 'यस्येदं क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्तेः सहस्रशिरस एकस्मिन्नेव शीर्षणि ध्रियमाणं सिद्धार्थ इव लक्ष्यते।' (भागवत)।

में पृथ्वी को हजार मस्तकवाले शेषजी के एक मस्तक पर सरसों के समान रखी हुई बतलाया है। शेष वही 'ब्रह्म' जो प्रलयान्त में शेष रहते हैं और वही सहस्रशीर्ष, सहस्र-अक्षि, और सहस्रपाद हैं। (५) क्योंकि सर्परूप कोई भी शेष हजार मस्तकवाला होकर सहस्राक्ष नहीं हो सकता द्विसहस्राक्ष (दो हजार नेत्रोंवाला) हो सकता है। अतः पृथ्वी को उसी शेष (ब्रह्म) पर स्थित बतलाया है। (६) अन्य पुराणों में जो मत्स्य, कूर्म, वराहादि के आधार पर स्थित मानी गई है उसका लक्ष्य भी परब्रह्म की ओर ही है। क्योंकि पृथ्वी के उद्धारार्थ या आपन्निवारणार्थ, समयानुकूल स्वरूप में ब्रह्म को प्रतिष्ठित करके मत्स्य, कूर्म, वराहादि के रूप में पृथ्वी का उद्धार करवाया है। सदैव के लिए वह उसे अब तक उसी रूप में धारण किये हुए हों, सो नहीं। (७) 'विष्णु पुराण'[१] में वराह भगवान् की दंष्ट्रा पर रखी हुई पृथ्वी को कीच में सने हुए पद्मपत्र के समान बतलाया है, यह भी उसके उद्धार का ही रूपक है। (८) 'सूर्यसिद्धान्त'[२] का मत है कि ब्रह्माण्ड के बीच केन्द्ररूप आकाश में यह पृथ्वी ब्रह्म की परम शक्ति पर निराधार ठहरी हुई है। (९) ज्योतिर्विज्ञान के सर्वोत्कृष्ट ज्ञाता भास्कराचार्य ने युक्ति और अकाट्य प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि, पृथ्वी साधार नहीं, निराधार है। यदि इसके मात्स्य, कूर्म, वराहादि मूर्तिमान् (साकार-पदार्थों) का (या शेषनागादि का) आधार है तो वह (साकार) पदार्थ किसके आधार पर हैं और आगे उनके आधार का क्या आधार है? यदि कहा जाय कि वह अपनी निज की शक्ति के आधार पर हैं तो पहले ही यह क्यों न मान लिया जाय कि 'पृथ्वी अपनी ही शक्ति पर स्थित है।' क्योंकि शिव की आठ मूर्तियों में एक यह भी तो है। (१०) खगोलवेत्ता इस बात को जानते हैं कि आकाश में जगन्नियन्ता का निर्माण किया हुआ भ-पञ्जर,[४] (नक्षत्रादि का पिञ्जरा) है जिसमें प्रायः सभी गगनेचर गुम्फित हो रहे हैं। वही भ पञ्जर अहोरात्रि में सदैव ही पृथ्वी के चारों ओर अति वेग से घूमता है, नीचे होकर ऊपर आता है और ऊपर होकर नीचे जाता है। इस बात को हम, आप और अन्य सब सदैव देखते हैं। फिर यदि पृथ्वी के नीचे कोई आधार हो तो भपञ्जर उसके नीचे होकर कैसे आ सकता है? यह उस आधार में अटक सकता है। इसलिए पृथ्वी अवश्य निराधार[५] है। (११) फिर यदि यह सन्देह किया जाय कि इतनी भारी वस्तु अपने आप कैसे ठहर है तो, इसका समाधान भास्कराचार्य ने ही यह किया है कि जिस प्रकार सूर्य[६] और अग्नि

(१) दंष्ट्राग्रविन्यस्तमशेषमेतद् भूमण्डलं नाथ विभाव्यतेते। विगाहतः पद्मवनं विलग्नं सरोजनीपत्र मिवोढपंकम्।' (विष्णु पुराण) (२) मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति। बिभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम्।' (सूर्यसिद्धान्त) (३) मूर्तोधर्ता चेद्धरित्र्यास्ततोन्यस्याप्यन्योऽस्यैवमत्रानवस्था। अन्त्ये कल्प्या चेत्स्वशक्तिः किमाद्ये किं नो भूमेः साष्टमूर्तेश्च मूर्तिः (सिद्धान्तशिरोमणि) (४) भपञ्जरस्य भ्रमणावलोकादाधारशून्या कुरितिप्रतीतिः।' (शिरोमणि) (५) भूमेः पिण्डः शशाङ्कः ज्ञकविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षा, वृत्तैर्वृत्तो वृतः सन्मृदनिलसलिलव्योमतेजो मयोऽयम्। नान्याधारः स्वशक्त्यौ वियति नियतं तिष्ठतीहास्य पृष्ठे तिष्ठं विश्वं चशश्वत्यादन्तु मनुजादित्य दैत्यसमिन्तात्।' (शिरोमणि) (६) यथोष्णताकानलयोश्च शीतताविधौ द्रुतिः के कठिनत्वमश्मनि। मरुच्चलो भूरचला स्वभावतो यतो विचित्रा वत वस्तु शक्तयः।' (सिद्धान्तशिरोमणिः)

स्वभावतः गर्म हैं, चन्द्र स्वभावतः शीतल है, जल स्वभावतः द्रव (बहनेवाला) है, पाषाणादि स्वभावतः कठोर है और वायु स्वभावतः चञ्चल है, उसी प्रकार पृथ्वी भी स्वभावतः ठहरी हुई है। (१२) इसके अतिरिक्त पृथ्वी के अन्दर एक आकर्षण[१] शक्ति है और यह उसी के प्रभाव से ऊपर की प्रत्येक वस्तु को अपनी ओर खींचती है। न्यूटन[२] नाम के एक पाश्चात्य विद्वान् ने सिद्ध किया है कि संसार का प्रत्येक अणु, प्रत्येक अणु का आकर्षण करता रहता है। और जिस पदार्थ में अधिक अणु होते हैं उसकी आकर्षण शक्ति बढ़ जाती है। पृथ्वी में ऐसे अणु अपरिमित हैं इसलिए इसकी आकर्षणशक्ति भी अपरिमेय है। (१३) बौद्धमत वाले पृथ्वी को निराधार तो मानते हैं परन्तु साथ ही इसके भारीपन को देखकर इसे नित्यप्रति नीचे जाती हुई बतलाते[३] हैं। भास्कराचार्य ने इसका भी खण्डन किया है। उन्होंने लिखा है कि यदि यह अधोगामिनी होकर प्रतिक्षण नीचे जाती तो इसके चारों ओर घूमनेवाले ग्रह नक्षत्रादि में यह अटक जाती; (१४) या भारी वजन की होने से यह तो अपनी द्रुत गति से नीचे चली जाती और ग्रहादिक ऊँचे रह जाते जिसमें पृथ्वी के और ग्रहादि के बीच अब तक बड़ा भारी अन्तर पड़ जाता (१५) अथवा इसके ऊपर से आकाश की ओर फेंके हुए गेंद, तीर या पत्थर आदि वापस गिरकर भी इसको नहीं पहुँचते। अतः यह नीचे या ऊँचे नहीं जाती, यथास्थान स्थित रहती है।······(१६) इस विषय में दिगम्बर जैनियों ने एक विलक्षण कल्पना की है जिसको शायद स्वयं जैनी भी नहीं मानते होंगे। उनका कहना है कि आकाश[४] में दो सूर्य, दो चन्द्रमा, ५४ नक्षत्र और चार स्तम्भ का एक सुमेरु है। इसकी असत्यता सिद्ध करने में भास्कराचार्य ने कहा है कि जैनी लोग पृथ्वी के

(१) 'आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् स्वस्थं गुरुः स्वाभिमुखं स्वशक्त्या। आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात्क्व पतत्वियं खे' (शिरोमणि) (२) आकर्षण एक महान् अद्भुत शक्ति है। वह दीखती नहीं परन्तु काम सब करती है। उसके स्वरूप का आभास लोहचुम्बक (लोहचुगा) से भी हो सकता है। लोहचुगा दीखने में एक अस्त्र या औजार सा दीखता है परन्तु उसके सामने लोहे का टुकड़ा (या सूई अथवा खेरे) डालने से वह उनको अपनी ओर खींच लेता है। यही शक्ति पृथ्वी में है। पृथ्वी बहुत भारी है, इस कारण इसकी आकर्षण शक्ति भी अपरिमित है। और यही शक्ति ग्रह-नक्षत्रादि में भी है अतः पृथ्वी और नक्षत्रादि सब अपने अपने स्थान में एक दूसरे का आकर्षण करते हुए या परस्पर आकृष्ट होते हुए यथास्थान स्थित रहते हैं। यह ईश्वर की एक विलक्षण रचनाशैली का आश्चर्यजनक उदाहरण है। (मुक्तक संग्रह) (३) स्वस्थं न दृष्टं च गुरुत्वमात्तः खेऽधः प्रयातीति वदन्ति बौद्धाः। (शिरोमणि) भूखेऽधः खलु यातीति बुद्धिर्बौद्ध सुधा कथम्। जाता यातं तु दृष्ट्वापि खेयात्क्षिप्तं गुरुक्षितिम्। (शिरोमणि) (४) 'अर्हल्लोकेऽर्केन्दू द्वौवावेकान्तरोदयौ किल तौ। यद्येवमर्कसूत्रात्कि ध्रुवचिह्नं भ्रमत्यह्ना।' (पञ्चसिद्धान्तिका) 'द्वौ द्वौ रवीन्द्रभगणौ च तद्वदेकान्तरौ तावुदयं व्रजेताम्। यदब्रवन्नेवमनम्बरात्मा ब्रवीम्यतस्तान् प्रतियुक्तियुक्तम्'। किं गण्यं तत्र वैगुण्यं द्वैगुण्यं यो वृथा कृथाः। भार्केन्दूनां विलोक्याह्ना ध्रुवमत्स्यपरिभ्रमम्।' (सिद्धान्तशिरोमणि) 'अधःपतन्त्याः स्थितिरस्ति नोर्व्या नभस्थनन्तेऽत्र वदन्ति जैनाः। द्वौ द्वौ रवीन्दू द्विगुणाम्भसंस्थां चतुर्भुजस्तम्भनिभंच मेरुम्। (श्रीपति)

धुरे (ध्रुव) के समीप 'ध्रुवमत्स्य' के मुख में सूर्य का अस्त और उसके पुच्छ में सूर्य का उदय प्रतिदिन देखते हुए भी दो दो सूर्यादि होने की कल्पना करते हैं, यह सर्वथा असम्भव है। इसी प्रकार 'श्रीपति' ने भी इसका खण्डन किया है। अस्तु"। (१७) आधार के विषय में शास्त्रकारों का यह भी मत है कि पृथ्वी के चारों ओर चार दिशाओं में चार दिग्गज हैं, उन्हीं के आधार पर यह पृथ्वी टिकी हुई है। इस सम्बन्ध में महामुनि वाल्मीकिजी ने लिखा[1] है कि भूगर्भ के अधोभाग में 'कुमुद', 'अञ्जन' और 'विरूपाक्ष' नाम के चार पर्वत, समान शरीरवाले हैं और पुराणों में उन्हीं को दिग्गज (या दिशागज) बतलाया है। (१८) जनश्रुति में यह भी विख्यात है कि पृथ्वी के चारों ओर प्रतिदिन एक तिल मृत्तिका चढ़ती है। इसकी पुष्टि में 'आर्यसिद्धान्त[2]' का यह कथन है कि ब्रह्मा के एक दिन में पृथ्वी के चारों ओर एक योजन (४ कोस) मिट्टी चढ़ती है और ब्रह्मा की एक रात में उतनी ही नीचे उतर जाती है। अस्तु।

(५) **पृथ्वी अचल है या भ्रमणशील**—इस बात को जानने के लिए पाश्चात्य विद्वानों ने बड़ी छानबीन या परीक्षण-निरीक्षण करने के पश्चात् यह निश्चय किया था कि 'पृथ्वी अचला, निश्चला या सुस्थिरा नहीं—भ्रमणशीला है। और सूर्य अचल या सुस्थिर है।' यह चलता हुआ दीखता है सो दृष्टि का दोष है। (१) जिस प्रकार वेगवती रेल में बैठे हुओं को दोनों ओर के अचल वृक्षादि चलते हुए दीखा करते हैं उसी प्रकार पृथ्वी के ऊपर से सूर्यादिक दीखते हैं। (२) यह सिद्धान्त वर्तमान की शिक्षा में भी सिखाया जाता है। और किसी अंश में यह जानने और मानने योग्य है भी। क्योंकि उच्च श्रेणी का गणित करने में पृथ्वी या सूर्य में किसी भी एक को चल और दूसरे को स्थिर मान लेने से काम चल जाता है। (३) किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतीय विद्वान् सदा से ही पृथ्वी को अचल मानते आ रहे हैं। चल होना उनको ज्ञात नहीं था। प्राचीन ज्योतिष के देखने से ज्ञात हो सकता है कि पाश्चात्य विद्वानों से हजारों वर्ष पहले ही भारत के विद्वानों ने पृथ्वी का चल होना ज्ञात कर लिया था किन्तु सूर्य या पृथ्वी में से किसी एक को चल मानने से गणित ठीक आ गया तब उन्होंने पृथ्वी के चल होने पर विशेष ध्यान नहीं दिया। (४) प्रतीति के लिए लल्ल श्रीपति, भास्कराचार्य और आर्यभट आदि के ग्रन्थ देखने चाहिए। उनमें भास्कराचार्य[3] विक्रम संवत् ११७१ (शके १०३६ या ईसवी सन् १११४) में उत्पन्न हुए थे। 'आर्यभट' संवत् ५३२ (सन् ४७५) में कुसुमपुर में जन्मे थे और लल्ल तथा श्रीपति उन दोनों के मध्य समय में हुए थे। (६) उधर पाश्चात्य विद्वानों में, १ कोपर्निकस विक्रम संवत् १५१९ (ई० सन् १४७२) में, २ गैलीलियो संवत्—१६२१ (सन् १५६१) में,

---

(१) 'खन्यमाने ततस्तस्मिन्ददृशुः पर्वतोपमम्। दिशागजं विरूपाक्षं धारयन्तं महीतलम्। (वाल्मीकीय रामायण) (२) ब्रह्म दिवसेन भूमेरुपरिष्टाद्योजनं भवति वृद्धिः। दिनतुल्यै यैवरात्र्या मृदुपचिता यास्तदिवहानिः। (आर्यसिद्धान्त) (३) 'रस[6] गुण[3] पूर्ण[0] मही[1]' (१०३६) समशक नृपसमयेऽभवैन्ममोत्पत्तिः। रस[6] गुण[3] वर्षेण (३६) मया 'सिद्धान्तशिरोमणि'- रचितः। (गोलाध्याय)

और ३ आई एजिक न्यूटन संवत १६९९ (सन् १६४२) में हुए थे। ये तीनों विद्वान्[1] ज्योतिर्विज्ञान में निपुण थे। विशेषकर न्यूटन अधिक मर्मज्ञ था। उसने अपनी निज की मननशीलता तथा यथोचित अनुसन्धान के द्वारा निश्चित किया था कि 'पृथ्वी भ्रमणशील है।' अस्तु। (७) इस अंश से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य विद्वानों ने जो अनुभव विक्रम संवत् २००० (ईसवी सन् १९४४) से ४७०—३८० या ३०० वर्ष पहले किया उसे भारतीय विद्वानों ने लगभग १५०० वर्ष पहले ही कर लिया था। किंतु पृथ्वी और सूर्य में से किसी भी एक को चल और एक को अचल मान लेने से उनका गणित अशुद्ध नहीं हुआ, तब उन्होंने पृथ्वी को ही अचल मान लिया। (८) आर्यभट ने तो पृथ्वी को भ्रमणशील बतलाते हुए वह उदाहरण भी दिया है जो वर्तमान के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है। आर्यभटीय[2] में लिखा है कि जिस प्रकार द्रुत वेग से गमन करनेवाली नौका में बैठे हुए मनुष्यों को तटवर्ती अचल वृक्षादि चलते हुए दीखते हैं उसी प्रकार सत्वरगामिनी पृथ्वी पर से सूर्यादि भी चलते हुए दीखते हैं। अस्तु। (९) इस सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी का पश्चिम से पूर्व की ओर गति होना प्रतीत होता है अर्थात् आकाश में जो ग्रह और नक्षत्र पूर्व से पश्चिम में जाते हुए दीखते हैं उनके बदले पृथ्वी ही पश्चिम से पूर्व में जाती है। जो भी कुछ हो, अपने अपने मत हैं। परन्तु (१०) जिस जमाने में पृथ्वी का भ्रमणशील होना प्रकट किया गया था उसी जमाने में 'लल्ल'[3] और 'श्रीपति'[4] ने इसका बहुत कुछ प्रतिवाद भी किया था, उसका परिणाम यह हुआ कि पृथ्वी को गतिशील मानने[5] में ढील हो गई। और भास्कराचार्य ने तो इसको अचल मानकर ही अपने सिद्धान्तशिरोमणि को शिरोमणि बनाया। (११) अत: इस विषय में भगवान् वेदव्यास जी ने पुराणों में जो कुछ लिखा है उसका गूढ़ रहस्य या असली अर्थ ज्ञात करना ही आवश्यक है।

---

(१) न्यूटन आदि का वर्णन गोलतत्त्व प्रकाशिका से लिया है। (२) 'अनुलोमगतिर्नौस्था पश्यत्यचलविलोमगं यद्वत्। अचलानि भानि तद्वत्समपश्चिमगानि लंकायाम्'। (आर्यसिद्धान्त) (३) 'यदि च भ्रमति क्षमा तदा स्वकुलायं कथमाप्नुयुः खगाः। इषवोऽभिनभः समुज्झिता निपतन्तः स्युरपां पतेर्दिशि।'—'पूर्वाभिमुखे भ्रमे भुवो वरुणाशाभिमुखो व्रजेद्घनः। अथ मन्दगमा तथा भवेत कथमेकेन दिवा परिभ्रमः।' (लल्लाचार्य) (४) 'नौस्थोनुलोमगमनाद चलं यथा न चामन्यते चलति नैवमिला क्रमेण। लंकासमा परगति प्रचलद् भचक्रभाभाति सुस्थिरमयीति वदन्ति केचिद्।'—'यद्येवमंबरचरा विहगाः स्वनीडमासादयन्ति न खलु भ्रमणे धरित्र्या। किं चाबुदा अपि न भूरि पयोमुचः स्युर्देशस्य पूर्वगमने न चिराय हन्त।'—'भूगोलवेगजनितेन समीरणेन केत्वादयोप्यपरदिग्गतयः सदा स्युः। प्रासादभूधरशिरास्यपि संपतन्ति तस्माद्भ्रमत्युडुगणस्त्वचलाऽचलेव।' (श्रीपति) (५) पृथ्वी की भ्रमणशीलता जानने के लिए पेरिस के फूकोल्थ साहब ने संवत् १९०८ (सन् १८५१) में एक बहुत ऊँचे मकान पर से २०० फुट लंबा तार लटकाया जिसके तल भाग में सूई लगा हुआ १ फुट लंबा गोल तल था। थोड़ी देर में उसके नीचे स्वच्छ भूमि में पूर्वापर क्रम से रेखाएँ होने लगी, उनसे साहब ने मान लिया कि पृथ्वी चलती है। परन्तु जिस मकान पर वह चढ़े थे यह मकान भी तो इसी पृथ्वी पर था अत: पृथ्वी से अलग अन्तरिक्ष में रहकर यह क्रिया की जाती तो सम्भव है, रेखाएँ नहीं होतीं।

(६) **मही की महत्ता**—(१) जिस पृथ्वी को महत्सु महती मानते हैं, अण्ड-कटाह सहित जिसका सम्पूर्ण विस्तार ५० कोटि योजन कूता गया है, जिसके शारीरिक मण्डल की परिधि ४९६८ योजन (या १९८५२) कोश है, जिसके मध्य भाग की मोटाई (ऊपर से अन्दर की तरफ नीचे तक) चार हजार कोश है, जिसकी गोलाई का एक शतांश भी लगभग दो सौ कोश है, (२) उस एक ही शतांश में अनेक नगर, ग्राम, बस्तियाँ, नद-नदी, तालाब, नाले, टीले, पर्वतराज, झील, बन्धे, समुद्र, सड़क, रेलवे और उनके स्टेशन और हजारां लाखों नहीं करोड़ों प्राणी और पदार्थ अपने अपने स्थान, मकान या वनखण्डों में बड़े आराम से निवास करते हैं। (३) ऐसी महान्मही पृथ्वी की 'लोक-रचना' का यथोचित वर्णन करना सामान्य मनुष्यों का काम नहीं; दिव्य दृष्टिवाले तपोधन महर्षियों का है। और हिन्दूशास्त्रों से अवश्य ही पृथ्वी के प्रत्येक भाग की लोक-रचना का पता लग सकता है। (४) उसकी अपेक्षा आधुनिक विज्ञानवेत्ता विद्वानों ने अद्भुत और अद्वितीय साधनों से जो कुछ अनुसन्धान किया है वह तो तुम्बी भर तिलों में एक तिल के समान है। अतः (५) उचित तो यह है कि इस निबन्ध में लोक रचना के प्रकाश को भारतीय महर्षियों के निश्चित किये हुए आधार पर लिखा जाय और साथ में आधुनिक विद्वानों का अनुसन्धान भी ले लिया जाय। (६) जो लोग शतशः शताब्दियों के सुदीर्घ काल में रूपान्तरित होनेवाली परिस्थिति का विचार बिना किये ही प्राचीन काल के अनुसन्धान को तथ्यहीन मानते हैं यह उनका प्रमाद या अदूरदर्शिता है। (७) देखते नहीं कि जो भूभाग आज नगर-ग्रामादि-युक्त और धन-जन से पूर्ण हैं वे किसी दिन जन-शून्य जंगलों के रूप में परिणत हो रहे थे। आज जिस भूभाग में समुद्र का साम्राज्य हो रहा है वह किसी दिन तृण-कण-विहीन बालू का मरुस्थल बना हुआ था। और जो भूखण्ड आज नम्रप्राय पर्वतों के भार से दबे जा रहे हैं वह किसी दिन जलमग्न होकर प्रलयकाल की परिस्थिति को परिलक्षित करा रहे थे। और उनके ऊपर विभिन्न प्रकार के महाकाय पशु, पक्षी निःशंक विचरण करते थे जिनके अस्थि-पञ्जर यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं और उनके महत्त्व को दिखलाते है। ऐसी अवस्था में हजारों वर्ष पहले के अनुसन्धान को असत्य या असंगत नहीं कह सकते।

(७) १—**सर्वाङ्गपूर्ण भूमण्डल**—इसका विस्तृत वर्णन करने के पहले पृथ्वी के ऊपर की बनावट को जान लेने से लोक-परलोकादि की सद्व्यवस्था में सन्देह नहीं होगा। (१) पहले लिखा गया है कि भास्कराचार्य ने पृथ्वी की बनावट कदम्ब-कुसुम के समान बतलाई है। क्योंकि कदम्ब-कुसुम के सर्वाङ्ग में सरसों जैसे गोल और छोटे छोटे ऐसे अणु होते हैं मानो इस विस्तृत भूमण्डल में नगरादि

मेघ, बादल, ध्वजा, पक्षी और राकेट आदि जो अपने छोड़े हुए स्थान मे यथावत् आ जाते हैं अथवा स्थित रहते हुए दीख पड़ते हैं उनके इस बर्ताव से भी पृथ्वी का अचल होना ही प्रतीत होता है। पृथ्वी की तीव्र गति से मन्द गतिवाले तीर, पक्षी, ध्वजा, बादल और हवाई जहाज आदि निश्चित स्थानों में नियत समय पर पहुचते हैं। यह पृथ्वी की अचलता का ही द्योतक है।

बसे हुए हों, या सरोवरादि सुशोभित हों। (२) आरम्भ में भूमण्डल की बनावट कदम्ब-कुसुम से बहुत कुछ मिलती हुई थी। उन दिनों इसके चारों ओर कहीं तो सैकड़ों हजारों कोश में फैले हुए बिल, दरार या परत थे जो कालान्तर में तलातल बन गये, (३) कहीं उखड़े हुए पर्वतों के गर्त समान गहरे खड्डे थे, जिनमें हजारों वर्ष की महावृष्टि का जल भर जाने से वे अतलान्तक समुद्र हो गये। (४) कहीं तृण-कण-विहीन नग्नप्राय नगराज थे जिनसे कालान्तर में दिग्गजों की प्रतिष्ठा हुई (५) और कहीं भूटान जैसे जल-हीन जंगल या संतप्त सिकता के अति विस्तृत मैदान थे, जिनमें लोक पर लोक बस गये। (६) इस प्रकार अनेक बार के स्थित्यन्तर को देख-सुनकर या सोच-समझकर ही पुराणाचार्यों ने भूर्भुवादि लोकों, अतल वितलादि पातालों और वर्ष, द्वीप या खण्डों को हजारों कोस के विस्तारवाले बतलाने में कोई भूल नहीं की है; (७) क्योंकि प्रथम तो पुराणों की रचनाशैली ही ऐसी है जिसमें आध्यात्मिक, रूपकात्मक, लोकदृष्टयात्मक या तत्त्वज्ञानात्मक रचनाओं का यत्र-तत्र समावेश किया गया है और दूसरे उनके तथा अपने देखने-सुनने और समझने में भी अन्तर है। (८) जब मनुष्यों के इस छोटे से शरीर में ही ३ दोष, ७ त्वचा, ७ कला, ७ आशय, ९ नाड़ियाँ, ९ स्रोत, २४ धमनियाँ, ७२ कोठे, १०७ मर्मस्थान, २१० सन्धिस्थान, ३०० अस्थियाँ, ५०० पेशियाँ, ७०० शिराएँ और ९०० स्नायु हैं और ये सब शरीर के भीतर सुविधानुसार सद्व्यवस्था रूप में लगे हुए हैं तब इस महत्सु महती विश्वम्भरा के सावयव शरीर में हजारों कोश लम्बे-चौड़े लोक-परलोकादि का होना किसी अंश में असत्य अथवा असम्भव नहीं।

(८) २—**लोकरचना का सूत्रपात**—आरम्भ में एक अण्ड (ब्रह्माण्ड या भूमण्डल) तत्पश्चात् 'दो कटाह' (पृथ्वी के नीचे-ऊपर आकाशस्वरूप ढक्कन), फिर यथाक्रम तीन लोक, छः स्थान, सात द्वीप, महासागर, सप्त कुलाचल, नौ खण्ड और चौदह भुवन मुख्य हैं। (२) ऋषिकाल में इन सबकी तत्त्वदृष्टि से नाप-जोख की गई थी और उसके अनुसार निरक्ष देशस्थित लङ्का से आरम्भ करके (फिर उसी तक) पृथिवी के चारों ओर भूमध्य रेखा स्थिर की गई थी। (३) उसके अनुसार निरक्ष देश (जिसमें अक्षांश[1] न हों) अर्थात् जिस स्थान में खड़े होने से उत्तर और दक्षिण दोनों ध्रुव क्षितिज[2] के संलग्न दीखते हों उस स्थान में लङ्का है और वह स्थान भूपृष्ठ के बीच में है।

(१) अक्षांश जानने के लिए पूर्वाचार्यों ने सम्पूर्ण पृथ्वी को ४ भागों में विभाजित करके प्रत्येक भाग में ९० अंश माने हैं और इस प्रकार सारी पृथ्वी के ३६० अंश नियत किये हैं। जिस जगह खड़ा होने से याम्योत्तर दोनों ध्रुव क्षितिज-संलग्न दीखते हों उस जगह अक्षांश नहीं होते; किन्तु उस जगह से आगे ध्रुव की ओर जाने से ध्रुव जितना ऊँचा दीखने लगे उतने ही प्रमाण के अंश अक्षांस के होते हैं और इस प्रकार चलने से जिस जगह ध्रुव ठीक मस्तक पर आ जाय उस जगह ९० अंश हो जाते हैं।—(२) 'क्षितिज' उस स्थान का नाम है जिस जगह उदय या अस्त होते हुए सूर्यादिक पृथ्वी में से निकलते हुए या प्रवेश करते हुए दीखा करते हैं।—
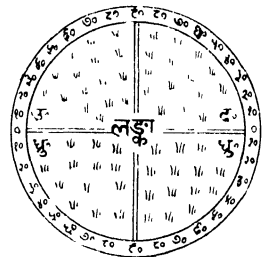
(९) ३—**भूपृष्ठ के ऊपर के लोक** १ लङ्का से दक्षिण में १ भूलोक[१] उससे उत्तर में २भुवर्लोक और वहीं सुमेरु में, ३ स्वर्लोक है। उसी का नाम स्वर्ग है। इसके ऊपर ४ महर्लोक ५ जनलोक ६ तपलोक और ७ सत्यलोक है। ये सब क्रमशः एक के ऊपर एक हैं। (२) इनमें भूलोक पृथ्वी है जिस पर हम रहते हैं। यह अकेली नहीं है। इसके ऊपर प्रकट और प्रच्छन्न अनेक लोक हैं। (३) भुवर्लोक अन्तरिक्ष (आकाश) है। इसमें प्रकाशमान और अप्रकाशित अगणित पिण्ड (मण्डल) हैं। ये दोनों लोक भूर्भुवः (पृथ्वी और आकाश), भौम स्वर्ग (पृथ्वी के स्वर्ग) हैं और (४) स्वर्लोक माहेन्द्र स्वर्ग (मही के इन्द्र का स्वर्ग) है। (५) महर्लोक प्राजापत्य स्वर्ग (ब्रह्मा का स्वर्ग) है। और (६) शेष जन, तप और सत्य ये तीनों ब्रह्म स्वर्ग (परब्रह्म के स्वर्ग) हैं। (७) इन लोकों में प्राणिगण अपने कर्म और पुण्य के अनुसार निवास करते और सात्विक फल भोगते हैं; और फल की प्रबलता के अनुसार क्रमशः उत्तरोत्तर ऊपर के लोकों में जाते हैं। भू (पृथ्वी) जिस पर अनेक लोक हैं और भुवः (अन्तरिक्ष) जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारा, नक्षत्र, ध्रुव और पृथ्वी आदि हैं। इसी प्रकार—

सत्यलोक
तप लोक
जन लोक
महर्लोक
आकाश स्वर्लोक
भुव र्लोक विषुवत रेखा भुवर्लोक

(१०) ४—**भूतल के नीचे के लोक** हैं। ये १ अतल[२] २ वितल, ३ सुतल, ४ तलातल, ५ महातल, ६ रसातल और ७ पाताल के नाम से विख्यात हैं और पृथ्वी के तल भाग में ही ये सब बने हुए हैं। ये एक के नीचे दूसरा और दूसरे के नीचे तीसरा, इस क्रम से अधः अधः स्थित हैं—निराधार नहीं, साधार हैं। (२) इन लोकों में दैत्य, दानव, देवाङ्गना, नागकन्या और सिद्धगण रहते हैं। इन लोकों में सूर्य, चन्द्रादि की अपेक्षा मणिधर सर्पों की[४] अगणित मणियों का सुप्रकाश फैला रहता है। (३) पातालों की बनावट कैसी है, इस विषय में विज्ञवर भास्कराचार्य ने लिखा है कि 'पाताल के लोक पृथ्वी के पुट हैं अर्थात् कालान्तर में बने हुए स्तर, परत या दरार हैं। (४) सम्भव है, ऐसे ही हों, क्योंकि पृथ्वी पर छोटे से छोटे मूषक, शृगाल, शश और सर्प या बड़े से बड़े झील, तालाब, नहर, सुरंग, गुप्तगृह, तहखाने अथवा भूगर्भगत घर, गाँव, शहर और सुदीर्घ मार्ग आदि

---

(१) 'भूलोकाख्यो दक्षिणे व्यक्षदेशा तस्मात्सौम्योऽयं भुवः स्वश्च मेरुः (शिरोमणि) भूर्भुवः स्वर्महस्त्वैवततश्च तप एव वा सत्यलोकश्च सप्तैते लोकास्तु परिकीर्तिताः' (अग्नि पुराण) (२) अतलो वितलश्चैव सुतलस्व तलातलः। महातलो रसालश्च पातालो सप्तमस्तथा। अग्निपुराण। (३) पाताललोकाः पृथिवीपुटानि (गोलाध्याय)। (४) चञ्चत्फणामणिगणांशुकृतप्रकाशा एतेषुसासुरागणाः फणिनो वसन्ति। दिव्यन्ति दिव्यरमणीरमणीयदेहैः सिद्धाश्च तत्र च लसत्कनकावभासैः (सिद्धान्तशिरोमणि)

अपने देखने मे भी आते है जो पहले बने थे और अब भी बनते या बनाये जा सकते है। अन्तर यह है कि ये लघुकाय है और पाताल महाकाय एवं स्वत: निर्मित थे। (५) भारत मे प्राचीन काल के बने हुए गुप्त गृह अब भी कई ऐसे है जिनमें आपत्ति के समय आश्रय मिलता है; युद्धादि के अवसरो मे ससैन्य निवास किया जा सकता है। वहाँ बहुत वर्षों तक प्रयोजन की पूर्ति होने योग्य अन्न, धन, वस्त्र, आभूषण और गोला-बारूद आदि

का अधिकाधिक संग्रह किया जा सकता है। और कई जगह सैनिक-सवारी, रेल, नहर और नदी आदि पृथ्वी के पेट में ही रहती, बहती या आती-जाती है। यही नहीं, गोलाकार के छत, गुम्बज या अधर लटकते हुए अन्य पदार्थों के पेदे में दीमक की दीवार, भ्रमर के बिल और मधुमक्खियो के छत्ते आदि भी किसी अंश में सूक्ष्म रूप के पाताल ही है और उनमें निवास करनेवाले जीवों के लिए वे ही महल, मकान या हवेलियाँ है। अस्तु।

(११) **५—भूमि के प्रख्यात पुर**—१ लङ्का[१] किस स्थान में है, यह ऊपर सूचित किया गया है। वह कैसी है, इस विषय में पुराणो में यह लिखा है कि कई कोस ऊँचे और अनेक प्रकार के खनिज पदार्थोंवाले गिरि के किनारे पर सुवर्णादि धातुओं के परकोटा वाली सौ योजन विस्तीर्ण (चार सौ कोस में फैली हुई) और अनेक प्रकार के रंग, चित्र और बनावट से सुशोभित महल, मकान, गढ़, किले और अट्टालिकाओंवाली परम शोभायमान लङ्कापुरी है। (२) वह कामी राक्षसो का नगर है। उसमें अपने बल का अभिमान रखनेवाले राक्षस रहते है। मनुष्यों के लिए तो वह महापुरी अगम्य और त्रासदायक है। किसी समय उसमें रावण का राज्य था। वह जाति का ब्राह्मण और विद्वत्ता में वेदो पर भाष्य करनेवाला था। किन्तु अभक्ष्य-भक्षणादि दुराचरणो और अगम्यागमनादि महापापो के कारण 'रावणो लोकरावण:' (संसार को रुलानेवाला)

---

(१) तथा त्रिकूटनिलये नानाधातुविभूषते। अनेकयोजनोत्सेधे चित्रसानुदरी गृहे। तस्य कूटतटे रम्ये हेमप्राकारतोरणा। निर्यूहवलिभिश्चित्रा हार्म्यप्रासादमालिनी। शतयोजन-विस्तीर्णा त्रिंशद्योजनमायता। नित्यप्रमुदिता स्फीता 'लङ्का' नाम महापुरी। सा कामरूपिणां स्थानं राक्षसानां महात्मनाम्। आवासो बलदृप्तानां तद्विद्यादेवविद्विषाम। मानुषाणामसंबाधा ह्यगम्या सा महापुरी। (पद्मपुराण मत्स्यपुराण)।

हो गया था। अब वहाँ भगवद्भक्त विभीषण का राज्य है। (३) गोस्वामी तुलसीदासजी ने मानस रामायण में लङ्का[१] के महत्त्व को इस प्रकार प्रकट किया है कि 'त्रिकूट पर्वत पर लङ्का बड़े अच्छे विधान से बसाई गई है। उसकी मनोहरता कही नहीं जा सकती। (४) उसमें ५ लाख मकान पत्थर के, नौ लाख काठ के, ७ कोटि ताँबा के, ४ कोटि चाँदी के और अनेक मकान रत्नों के हैं जिनमें मणि-प्रदीपादि का भव्य प्रकाश है। (५) घास-फूस, वल्कल और पत्त आदि के और बाँस की छाल आदि के भी अगणित मकान हैं। इनके सिवा नौ कोटि स्फटिक (संगमरमर) के और हजारों मकान नीलमणि आदि के हैं। इस प्रकार वह आदर्श महानगरी सौ योजन (चार सौ कोस) में फैली हुई है।

(१२) ६—**सावयव सुमेरु**—(१) लङ्का से उत्तर में जम्बूद्वीप के बीच सुमेरु है। वह स्वयं सुवर्ण का नहीं, उसके समीप में सुवर्ण की सैकड़ों खानें हैं और हीरे, पन्ने, नीलम या चन्द्रकान्त आदि रत्नों के अनेक स्थान हैं। (२) सुमेरु दिव्य[२] देश है। उसमें देवता और सिद्धगण निवास करते हैं। उसके निकटवर्ती पुण्य स्थानों में रहकर इन्द्रादिकों ने अपनी अभीष्ट कामनाओं के लिए अनेक बार यज्ञ किये हैं। (३) सुमेरु का आकार 'पद्मकर्णिका' (कमल के फूल की किरण या पत्ती के समान है), अर्थात् ऊपर से चौड़ा और नीचे बारीक है। (४) उसकी उँचाई पृथ्वी के ऊपर से ३,३६,००० कोस और पृथ्वी के भीतर नीचे की ओर ६४,००० कोस है। (५) इतना बड़ा और इतने विस्तार का होने पर भी महाकाय पृथ्वी के सामने खिलौना सा है। मान लीजिए पृथ्वी पद्म समान और सुमेरु उसकी १ कर्णिका समान है। (६) सुमेरु के ३ शिखर[३] हैं उनमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पृथक् पृथक् तीन पुरी हैं। उनमें अन्तरिक्ष के अन्दर ५६,००० कोस के विस्तारवाली ब्रह्मपुरी है। उसमें वैकुण्ठवासी भगवान् के चरणकमल से निकली हुई श्रीगङ्गाजी चन्द्रमण्डल को आप्लावित करके उक्त पुरी में आकर गिरती हैं और फिर चारों दिशाओं में सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा नाम से विभक्त हो जाती हैं। इसका विशेष वर्णन जलतत्त्व में दिया गया है। (७) इसके अतिरिक्त उसी सुमेरु पर पूर्व में इन्द्र की १ अवन्तिका, अग्नि में अनिल की २ तेजोवशा, दक्षिण में यम की ३ संयमनी, नैर्ऋत्य में निर्ऋति की ४ कृष्णाङ्गना पश्चिम में वरुण की ५ श्रद्धावती, वायव्य में पवन की ६ गन्धवती उत्तर में कुबेर की (७) महोदया और ईशान में ईश की ८ यशोवती पुरी है। (९) सुमेरु के दक्षिण में हिमवान्, हेमकूट और निषध तथा उत्तर में नील

सुमेरु

(१) 'पाच लक्ष हैं पत्थर के घर, अरु नवलाख काष्ठ के सुन्दर।' 'सात कोटि हैं ताम्र के चाँदी के श्रुति कोटि। जातिरूप के हूहते माणिक कोटि सुकोटि।' 'तृणनिर्मित शत कोटि विशाला, वंशछाल शत कोटि दयाला। नव करोड़ सो स्फटिक सुहाये, सहस कोटि मणि नील सु छाये। शतयोजन में पुरी सुहाई। धनी बसत अतिशय रघुराई।' (तुलसीकृत मानस रामायण सुन्दरकाण्ड क्षेपक) (२) 'इह हि मेरुगिरिः किल मध्यमः कनकरत्नमयस्त्रिदशालयः'।' (शिरोमणि) (३) 'सद्रत्नकाञ्चनमयं शिखरत्रयं च मेरो मुरारिकपुरारिपुराणितेषु। तेषामधः शतमखज्वलनान्तकानां रक्षोम्बुपानिल शशीशपुराणि चाष्टौ।' (सिद्धान्तशिरोमणि)

श्वेत और शृङ्गी ये छः पर्वत हैं। इन्हीं से वर्षों का विभाग होता है। इनमें बीच का निषध और नील ४-४ लाख कोस में हैं और शेष ४ पर्वत इनसे ४०-४० हजार कोस कम हैं। ये सब ८-८ हजार कोस ऊँचे और ८-८ हजार कोस ही चौड़े हैं। (९) सुमेरु के चारों ओर चार पर्वत बड़े श्रेष्ठ हैं। उनमें मन्दराचल पूर्व में है जिसके ऊपर ध्वजस्वरूप कदम्ब का वृक्ष है। दक्षिण में गन्धमादन है जिसके ऊपर ध्वजस्वरूप जम्बू है। पश्चिम में विपुल है जिसके ऊपर वट है और उत्तर में सुपार्श्व है जिसके ऊपर अश्वत्थ (पीपल) है। ये चारों पर्वत सुमेरु के आधार हैं (मानो ऊपर से फैले हुए और नीचे सकुचाये हुए ऐसे सुमेरु के ये खम्भे हैं)। (१०) उक्त चारों पर्वत ४०-४० हजार कोस ऊँचे हैं और इनके ऊपरवाले चारों वृक्ष ४-४ हजार ४-४ सौ कोस ऊँचे हैं। उनमें जम्बू (जामुन) वृक्ष जम्बूद्वीप का प्रकाशक है। इस वृक्ष के फल हाथी समान मोटे होते हैं और पके पीछे जब वे पड़ते हैं तब उनका रस सर्वत्र फैल जाता है। उसी के बाहुल्य से वहाँ जम्बूनद[1] बहता है और उसके अमृतोपम रस को वहाँवाले भरपेट पीते हैं। उस रस से भीगी हुई और वहाँ की मन्द वायु से सूखी हुई मृत्तिका सुवर्ण हो जाती है। वहाँ के सिद्ध पुरुषों का वही भूषण है। (११) सुमेरु के समीप में अरुण, मानस, महानद और श्वेतजल नाम के ४ सरोवर हैं और वहीं चैत्ररथ और नन्दन वन हैं जिनमें अप्सराएँ और देवगण आनन्द से रहते हैं।

(१३) ७—**मेरु के केसराचल**—सुमेरु के पूर्व में शीताम्भ, कुमुन्द, कुररी, माल्यवान् और वैकंक ये ५ केसराचल हैं। अर्थात् पद्मस्वरूप पृथ्वी के सामने ये केसर-तुल्य हैं (२) सुमेरु के दक्षिण में त्रिकूट, पतङ्ग, रुचक और निषाद ये ४ केसराचल हैं। (३) पश्चिम में शिखिवासा, वैडूर्य, कपिल, गन्धमादन और जारुधि केसराचल हैं। और (४) उत्तर में मेरु के समीप इलावृत्त वर्ष में और जठरादि देशों में शङ्खकूट, ऋषभ हंस, नाग और काञ्चन केसराचल हैं। इनके अतिरिक्त (५) जठर और देवकूट ये दोनों मर्यादापर्वत हैं और इनके बहिर्भाग में भारत-केतुमाल, भद्राश्व और कुरु वर्ष पत्रोपम पर्वत हैं। अर्थात् पृथ्वी के सामने ये उसके पत्तों के समान हैं। (६) और पूर्व तथा पश्चिम की ओर फैले हुए गन्धमादन और कैलाश समुद्र के अन्दर प्रविष्ट हैं। इनका विस्तार ३-३ सौ २०-२० कोस का है। (७) उपरोक्त पर्वतों की कन्दराओं में सिद्ध, चारण और गन्धर्वादि रहते हैं। वहाँ उनके सुन्दर रमणीय नगर और उपवन हैं और वहीं लक्ष्मी, विष्णु, अग्नि और सूर्य आदि देवताओं के मन्दिर हैं जो किन्नरों से सदैव सेवित होते हैं। (८) इन सुन्दर पर्वतों में यक्ष, राक्षस, गन्धर्व और दैत्यादिक अहर्निश क्रीड़ा किया करते हैं। ये सब "भौमस्वर्ग" हैं। इनमें धार्मिक पुरुष रहते हैं। (९) भद्राश्ववर्ष में श्रीविष्णु भगवान् हयग्रीव रूप से, केतुमाल वर्ष में वराह रूप से, भारतवर्ष में कूर्म रूप से और कुरुवर्ष में मत्स्य-रूप से रहते हैं। इस प्रकार यह सम्पूर्ण पृथ्वी ही विष्णुमय है। (१०) स्मरण रहे कि किम्पुरुषादि आठ वर्षों में श्रम, शोक, क्षुधा और उद्वेग आदि का

---

(१) 'जम्बूफलामलगलद्रसतः प्रवृत्ता: जम्बूनदीरसयुता मदभूत्सवर्णम्'। (सिद्धान्त-शिरोमणि)

भय नहीं है। वहाँ के निवासी स्वस्थ और सुखी रहते हैं। वे आतङ्क से तथा दुःख से कभी पीड़ित नहीं होते हैं। उनकी आयु भी १०-१२ हजार वर्ष की होती है। वहाँ वर्षा नहीं होती तो भी पृथ्वी का जल पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है और वे स्थान सत्ययुगादि के समान हैं और उनमें सात-सात कुल पर्वत हैं।

(१४) ८—**सुमेरु से आगे**—पृथ्वी के तल-भाग में लङ्का से नीचे सिद्धपुर है। वहाँ का वर्णन पातालों के वर्णन में आ गया है। सिद्धपुर से आगे दक्षिण दिशा में बड़वानल है। वहाँ असुरादिक अथवा नारकीय दैत्य रहते हैं। इसी कारण यह असुरालय कहलाता है। इससे आगे भूमध्य में लङ्का है ही। (२) लङ्का से पूर्व में यमकोटि और पश्चिम में रोमक पत्तन है। इन स्थानों में म्लेच्छ या अन्त्यज आदि रहते हैं। (३) उपरोक्त छहों स्थान (लङ्का, सिद्धपुर, सुमेरु, कुमेरु, यमकोटि और रोमकपत्तन) परस्पर एक दूसरे से ९०-९० अंश अर्थात् पृथ्वी के चौथे चौथे अंश पर स्थित हैं और
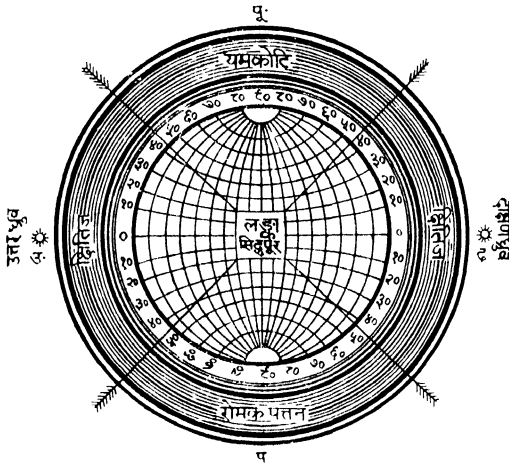
अपने अपने भूमध्य में ठहरे हुए हैं। इनमें भारतवासियों के लिए लङ्का भूमध्य में है। उसमें खड़े होकर देखने से याम्योत्तर के दोनों ध्रुव क्षितिज-संलग्न दीख सकते हैं। (४) इसी प्रकार सिद्धपुर नीचेवालों के लिए भूतल के मध्य में है। वहाँ से भी दोनों ध्रुव क्षितिज-संलग्न ही दीख सकते हैं। विशेषता यह है कि जिस समय लङ्का में सूर्योदय होता है उस समय यमकोटि में मध्याह्न, सिद्धपुर में सायाह्न और रोमकपत्तन में अर्द्धरात्रि होती है। ये सब भूगोल और खगोल सम्बन्धी गणित करनेवालों के उपयोगी हैं। (६) उक्त पुरों में जिस दिशा में सूर्य उदय हो वह पूर्व, जिसमें अस्त हो वह पश्चिम, और पूर्वाभिमुख होने पर दाहने हाथ दक्षिण और बायें हाथ उत्तर दिशा होती है।

अस्तु। उपरोक्त स्थानों में चातुर्वर्ण्यव्यवस्था नहीं है सबका एक ही वर्ग में समावेश रहता है।

(१५) ९—**भू-पृष्ठ के द्वीपादिक**—इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम 'जम्बूद्वीप' मुख्य है। यह क्षार समुद्र से उत्तर में भूमि के आधे भाग पर स्थित है। इसके दूसरे अर्धांश से दक्षिण में 'प्लक्ष', 'शाल्मलि', 'कुश', 'क्रौंच', 'शाक', और 'पुष्कर' स्थित हैं। और इनके साथ में लवणादिक सात समुद्र भी हैं। (२) उनमें पद्मपत्र के समान मध्य से आगे तक कुछ उठा हुआ और किनारों की ओर कुछ झुका हुआ जम्बूद्वीप है। यह ४ लाख कोस के विस्तार में फैला हुआ है और लवणार्णव (खारा समुद्र) है। (३) प्लक्षद्वीप आठ लाख कोश के विस्तार में है और इक्षुरस समुद्र से घिरा हुआ है। (४) शाल्मली द्वीप सोलह लाख कोस में है और वह सुरा के सागर से घिरा हुआ है। (५) कुशद्वीप बत्तीस लाख कोस के विस्तार में है और घृतसागर से व्याप्त है। (६) क्रौंचद्वीप चौंसठ लाख में है और दधिसागर से वेष्टित है। (७) शाकद्वीप एक सौ अट्ठाईस लाख में विस्तृत है और दुग्धसागर से घिरा हुआ है। (८) पुष्करद्वीप दो सौ छप्पन लाख में है और वह जलसमुद्र से अभिशिक्त हो रहा है। (९) 'स्वादूदक' जलसागर से दक्षिण में है जहाँ लोकालोक पर्यन्त का भूभाग काञ्चन भूमि कहलाता है, अथवा जिस पर्वत ने काञ्चन भूमि को घेर रक्खा है वह पर्वत ही लोकालोक है। इन द्वीपों के नाम, काम और प्रमाण पुराणों में इस प्रकार लिखे हैं कि—(१०) कर्दमजी ने राजा प्रियव्रत के साथ अपनी पुत्री का विवाह किया था। उस ऋषिपुत्री (राजपत्नी) के गर्भ से यथाक्रम दस पुत्र हुए। (११) उनमें पुत्र, मेधा और अग्निबाह्य ये तीनों पुत्र पूर्वजन्म का वृत्तान्त जानते थे इस कारण उन्होंने राज्य के कामों में मन नहीं लगाया। (१२) शेष में अग्नीध्र(जम्बूद्वीप) के मेधातिथि, (प्लक्ष) द्वीप के वपुष्मान, (शाल्मलिद्वीप) के ज्योतिष्मान्, (कुशद्वीप) के द्युतिमान्, (क्रौंचद्वीप) के भव्य (शाकद्वीप) के और सबन (पुष्करद्वीप) के अधिष्ठाता हुए थे। (१३) पद्मपत्र सम आकारवाला जम्बूद्वीप आग्नीध्र के अधिकार में आया था और इसके नाभि. किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत्त, रम्य, हिरण्यवान्, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल ये नौ पुत्र थे। अत: अग्नीध्र ने जम्बूद्वीप को नौ भागों में विभाजित करके अपने नौ पुत्रों को दे दिया।

(१६) १०—**जम्बूद्वीप के नौ खण्ड**—उपरोक्त नौ पुत्रों में नाभि को हिमवर्ष, किम्पुरुष को हेमकूट, हरिवर्ष को नैषध, इलावृत्त को इलावृत्त, जिसके मध्य में सुमेरु है। रम्य को हिरण्यवान्, यह नीलाचल के समीप है। हिरण्यवान् को श्वेतवर्ष, कुरु को शृंगवान् के समीप का वर्ष भद्राश्व को मेरु के समीप का वर्ष और केतुमाल को गन्ध-मादन प्राप्त हुआ। (२) इनके पीछे आग्नीध्र के ज्येष्ठ पुत्र नाभि के ऋषभ और ऋषभ के भरत हुए। भरत ने अपने अधिकार में आये हुए हिमवर्ष को अपने नाम पर 'भारतवर्ष' नाम से विख्यात किया। (३) अन्य वर्षों की अपेक्षा भारतवर्ष कर्मक्षेत्र हुआ, क्योंकि और सब तो देवलोक के भेद हैं, उनमें स्वर्ग से वापस आये हुए जीव अपना पुण्यफल भोगने के निमित्त से निवास करते हैं। (४) उनमें धर्माधर्म, उत्तम अनुत्तम या निकृष्ट या उत्कृष्ट का

भेद नहीं है। पुण्यफल के भोक्ता सभी हैं। विशेषता यह है कि वहाँ अशुभ, अकाल अथवा मृत्यु का भय नहीं होता है। साथ ही युग-परिवर्तन भी संभव नहीं है। सर्वत्र स्वतः सुख-भोग प्राप्त होते हैं। (५) इस परिलेख से सूचित हो सकता है कि पृथ्वी के अन्य भाग स्थूल नहीं, सूक्ष्म हैं और उनके लक्षावधि विस्तार भी सूक्ष्म हैं। मानव-दृष्टि से देखने में जो देश या द्वीप अथवा द्वीपान्तर आते हैं वे सब भारतवर्ष के ही अन्तर्गत या अंग-उपांग हैं। वर्तमान में एशिया, अमरीका, यूरोप या अफ्रीका आदि जो महादेश देखने में आते हैं ये सब भारतवर्ष के ही अंग-उपांग हैं और कालान्तर के कारण रूपान्तरित हो गये हैं।

(१७) ११-- **भारतवर्ष**—[१]ऊपर लिखा गया है कि आग्नीध्र के प्रपौत्र भरत ने हिमवर्ष को अपने नाम से 'भारतवर्ष' विख्यात किया था। यह जम्बूद्वीप के अन्तगत ही एक क्षेत्र है। इसके अधिष्ठाता भरत ने इसको प्रजाजनों के भरण-पोषणादि के योग्य बनाया था, इसी कारण यह भारतवर्ष हुआ। अन्य मत से दुष्यन्त के पुत्र भरत के नाम से भी इसको 'भारत' कहा गया है। (२) भारतवर्ष के नौ भेद[२] हैं—वे इन्द्रद्वीप[३] कसेरु, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वारुण और भारतवर्ष कहलाते हैं। और समुद्र के अन्तर्गत होने से परस्पर में अगम्य भी हैं इनमें जलयानादि के बिना गया नहीं जा सकता है। (३) यह द्वीप उत्तर-दक्षिण में एक हजार योजन (४ हजार कोस) में है और तिर्यग्रूप (त्रिकोण) होने से उत्तर में तीन हजार योजन (१२ हजार कोस) में फैला हुआ है। (४) इसके उपद्वीप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र निवास करते हैं। ये लोग होम-यज्ञ, पूजा-पाठ, वाणिज्य-व्यवहार, सेवाकार्य या युद्धादि काम यथायोग्य करते हैं। (५) इनके सिवा इस द्वीप के पूर्वान्त प्रदेश में किरात, पश्चिम में यवन, दक्षिण में आन्ध्र और उत्तर में वीर तुरुष्क हैं। यह सागर[४]-संवृत (समुद्र से घिरा हुआ) नवम द्वीप दक्षिणोत्तर अंश में कुमाराख्य (कुमारिका) नाम से विख्यात है। (६) अन्य आठ में ताम्रवर्ण और नागद्वीप सिंहल के अंश-विशेष हैं। उपरोक्त इन्द्र-द्वीपादिक जो नौ द्वीप बतलाये हैं ये सब भारतवर्ष के अन्तर्गत हैं। इन सबको ही भारतवर्ष

(१) भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते। निरुक्तवचनाच्चैव वर्षं तद्भारतं स्मृतम्। (ब्रह्माण्डपुराण) नाभेः पुत्रस्तु ऋषभात् भरतो चाभवत्ततः। तस्य नाम्नादिदं वर्षं भारतं चेति-कीर्त्यते (कुमारिका) हिमाह्वदक्षिणं वर्षं भरताय ददौ पिता। तस्माच्च भारतं वर्षं विख्यातं पृथिवीतले। (मार्कण्डेय पुराण) 'उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणं च यत्। वर्षं तद् भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा। (ब्रह्म-मत्स्य-विष्णुपुराणादि)। (२) भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदाः प्रकीर्तिताः। समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम्। (३) इंद्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्। नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वस्त्वथ वारुणः। योजनानां सहस्रं तु द्वीपोयं दक्षिणोत्तरम्। आयतोस्या कुमाराख्यादागंगाप्रभवाच्च वै। तिर्यगुत्तरविस्तीर्णः सहस्त्रत्रयमेव च। द्वीपोह्युपनिविष्टोऽयं म्लेच्छैरन्त्येषु नित्यशः।' (४) 'पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्मृताः। आन्ध्रा दक्षिणतो वीर तुरुष्काश्चापि चोत्तरे।' अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः। कुमाराख्यपरिख्यातो द्वीपोयं दक्षिणोत्तरः।' (विष्णु पुराण)।

कहते हैं और इनमें जो नौवाँ है वह भारत अथवा भारतद्वीप है जिसको वर्तमान में हिन्दुस्थान कहते हैं। इनके नामान्तर या रूपान्तर होने का कारण आगे बतलाया है।

(१८) **१२—अनुद्वीप**—ये अन्य द्वीपों की अपेक्षा धन, रत्न और माणिक्य आदि से पूर्ण और जनसमुदाय से आकीर्ण (भरे हुए) हैं। इनकी अङ्गद्वीप[1], यवद्वीप, मलयद्वीप, शंखद्वीप, कुशद्वीप और वाराहद्वीप नामों से विख्याति की गई है। इनमें (१) अङ्गद्वीप[2] का विस्तार बहुत बड़ा है। उसमें अनेक नद, नदी, पर्वत और वन हैं। अनेक प्रकार के संघ (जत्थे या टोले) हैं। म्लेच्छ वहाँ अधिक हैं। उस द्वीप में सुवर्णादि धातुओं और विद्रुमादि रत्नों की अनेक खानि हैं। उसके चारों ओर लवणार्णव हैं। उसी में नागदेश है, जिसमें नागों के अनेक स्थान हैं। (२) दूसरा यवद्वीप[3] है जिसको जावा कहते हैं। उसमें पहले सोना, चाँदी और रत्न बहुत थे। अब वहाँ द्युतिमान् पर्वत महत्त्व-सम्पन्न है। (३) तीसरा मलयद्वीप[4] जिसमें सोना, चाँदी और रत्न तो हैं ही, साथ में वहाँ मलय पर्वत बड़ा सुन्दर है जिसके नाम से यह द्वीप विख्यात है और सुवर्णादि धातुओं तथा मणिक्यादि रत्नों के सिवा वहाँ अनेक प्रकार का 'मलयागरू' चन्दन भी बहुत होता है। वहीं मन्दर[5] और त्रिकूट पर्वत और अगस्त्य मुनि का आश्रम है और त्रिकूट के निकट ही लंका है जिसका वर्णन ऊपर आ गया है। (४) चौथा शंखद्वीप[6] है। उसमें अनेक प्रकार के म्लेच्छ निवास करते हैं। वहीं शंखगिरि पर्वत है जो धोये हुए शंख के समान श्वेत और अत्यन्त सुन्दर है। उसमें धातु, रत्न और पुण्यात्मा मनुष्य बहुत हैं। वहाँ शंखमुख जाति के राजा शासन करते हैं। (५) पाँचवाँ कुशद्वीप[7] है। उसमें विविध प्रकार के वन, बाग, बगीचे, नद, नदी और पर्वत हैं। वहीं दुष्ट लोगों के चित्त का मर्दन करनेवाली महाभागा भगवती है जिसका नाम कामदा है। प्रभाभिज्ञ लोग उसकी सेवा करते हैं। (६) और छठा वाराहद्वीप[8] है जिसमें म्लेच्छों के अतिरिक्त और भी अनेक जातियाँ रहती

---

(१) अंगद्वीपं यवद्वीपं, मलयद्वीपमेव च। शंखद्वीपं कुशद्वीपं वाराहद्वीपमेव च। (२) अंगद्वीपं निबोध त्वं नानासंघसमाकुलं। नानाम्लेच्छगणाकीर्णं तद्वीपं बहु विस्तरम्। हेमविद्रुम-पूर्णानां रत्नानामाकरं क्षितौ नदीशैल वनैश्चित्रं सम्मितं लवणाम्भसा। तत्र चक्र गिरेर्नाम नैक-निर्झरकन्दर। तत्र सानुदरी चास्य नानासत्वसमाश्रयः "समध्ये नागदेशस्य नैकदेशो महागिरिः कोटिभ्यां नागविजयं प्राप्तो नदनदीपतिः" (३) यवद्वीपमिति प्रोक्तं नानारत्नाकरान्वितं। तत्रापि पर्वतो धातुमण्डितः। समुद्रगानां प्रभव प्रभवः काञ्चनस्य च। (४) तथैव मलयद्वीपं एवं एवमुसंवृतम्। मणिरत्नाकरस्फीतमाकरं कनकस्य च। आकरं चन्दनाञ्च समुद्राणां तथाकरम्। नान म्लेच्छ गणाकीर्णं नदीपर्वतमण्डितम्। तत्र श्रीमांस्तु मलयः पर्वतो रजताकरः। महा-मलय इत्येवं विख्यातो वरपर्वतः। (५) द्वितीयं मन्दरं नाम प्रथितं च सदा क्षितौ। अगस्त्यभवनं तत्र देवासुरनमस्कृतम्। तथा काञ्चनपादस्य मलयस्यापरस्य हि। निकुञ्जैस्तृण सो मार्गै-राश्रमम् सिद्धसेवितम्। नानापुष्पफलो पेतं स्वर्गादपि विशिष्यते। (६) 'तस्य द्वीपस्य वै पूर्वे तीरे नंदनदीपतेः। गोकर्णनामधेयस्य शंकरस्यालयो महान्। तथैव राज्यं विगेयं शंखद्वीपसमास्थितम्। शतयोजनविस्तीर्णं नानाम्लेच्छगणालयम्। तत्र शंखगिरिर्नामधौतशंखदलप्रभ। नानारत्नाकरः पुण्य, पुण्यकृद्भिर्निषेवितः। शंखनागा महापुण्या यस्मात्प्रवहतिर्नदी। यंत्र शंखमुखोनाम नागराज-कृतालयः। (७) तथैव च कुशं द्वीपं नानापुण्योपशोभितम्। नानाग्रामसमाकीर्णं नानारत्नाकरं शिवम्। कामदा नाम विख्याता दुष्टचित्तानिवर्हणम्। महाभागा भगवति प्रभाभिस्ताभिरिज्यते। (८) तथा वाराहद्वीपे च नानाम्लेच्छगणाकुले। नदीशैलवनैश्चित्रैर्बहुपुष्पफलोपगैः। नाना जाति

हैं। उनके अनेक प्रकार के स्थान है। उस द्वीप में धन धान्य और धर्मात्मा अधिक है। नदी, पर्वत और फलपुष्पादि के वनों से वह देश शोभित है। वहाँ अत्यन्त ऊँची शिलाओं वाला वाराह पर्वत है जिसके अन्दर गुहा, कन्दरा, दरी और झरने हैं और वहीं अधिक मीठे जल की वाराही नदी है। इस प्रकार के उक्त छहों द्वीप अनेक प्रकार की विशेषताओं से सम्पन्न, धनधान्यादि से युक्त और बहुमूल्य रत्नों से संयुक्त हैं। किन्तु अब उनके रूप-रंग, वेश-भूषा और शोभा आदि बदल गये हैं। आगे देखिए-

(१९) १३—द्वीपों का रूपान्तर। समें सन्देह नहीं कि संसार परिवर्तनशील है। इसमें किसी भी वस्तु, पदार्थ या प्राणी की परिस्थिति सदैव समान नहीं, रहती। उदाहरणार्थ, द्वीपों को ही लीजिए, पूर्व में पूर्व नीलगिरि, इन दिनों। रकी नाम से विख्यात है। (२) दक्षिण में लवणार्णव और पश्चिम में पूर्व निषिधाचल इन दिनों अल्हान कहे जाते हैं। (३) उत्तर में गन्धमादन है ही। इन चारों के बीच में भद्राश्ववर्ष' था। वह समुद्र के गर्भ में सो रहा है। (४) जिस भूभाग के उत्तर में नीलगिरि दक्षिण में श्वेतगिरि और पूर्व तथा पश्चिम में लवणार्णव है उस भूभाग का नाम रम्यक वर्ष है। वही इन दिनों अमेरिका कहलाता है। इसके भी कई अंश छिन्न-भिन्न हो गये हैं। (५) श्वेतगिरि से दक्षिण में शृंगवान पर्वत तक के भूभाग को हिरण्यवर्ष और शृंगवान से दक्षिण में जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग को कुरुवर्ष कहते हैं। सम्भव है, ये दोनों लुप्त हो गये और इनके कुछ अंश दक्षिणोत्तर अमेरिका में मिल गये हैं।

(२०) १४—रूपान्तर का मुख्य कारण—यह प्रतीत होता है कि उपरोक्त द्वीपों में अब चातुर्वर्ण्यव्यवस्था, वेद, ब्राह्म और भाषा, आहार, विहार और आचरण आदि का अभाव हो जाने से हम उनसे और वे हमसे सर्वथा पृथक् हो गये और पृथक् भी कम नहीं, इतने अधिक कि हमारे और उनके रूपरंग, खानपान, वेश-भूषा और व्यापार-व्यवहार में काले और गोरे या दिन और रात के समान अन्तर आ गया। (२) शास्त्रों में उन द्वीपों के जो नाम इन्द्रद्वीप कसेरु द्वीप और ताम्रपर्णादि हैं वह आज सब बदल गये हैं, जिनसे महान् आश्चर्य होता है। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि आज जो भूमि देखने में आती है उसमें चाहे कहीं भी यूरोप अमेरिका या फ्रांस आदि कोई भी हो, वे सब भारतवर्ष की सीमा के अन्तर्गत ही मान्य होते हैं। और (३) शेष रहा हिन्दुस्तान सो तो भारतवर्ष का द्वीप है ही। इसे चाहे भारत कहें, चाहे भारत द्वीप कहे और चाहे हिन्दुस्थान कहें, है यह भारतवर्ष। अस्तु। (४) नीचे टिप्पणी में इस अवतरण के जो पुराण वाक्य दिये गये हैं उनमें 'भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदाः प्रकीर्तितताः। समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्तेतत्वगम्याः

समाकीर्णे नानाविज्ञानपत्तने। धनधान्ययुते स्फीते धर्मिष्ठजनसंकुले। वाराहपर्वतो तत्र तत्र रम्यः शिलोच्चयः। अनेककन्दरदरीगुहानिर्झरशोभितः। तस्मात्सुरस पानीया पुण्यतीर्थतरंगिणी। वाराही नाम वरदा प्रवृत्तास्य महानदी। तत्र वाराहरूपेण विष्णवे प्रभविष्णवे। अनन्यदेवता तस्मै नमस्कुर्वन्ति वैः प्रजा। एवं षडेते कथिता अनुद्वीपाः समन्ततः। भारतद्वीपदेशो वै दक्षिणे बहुविस्तरः (विष्णु पुराण)

परस्परम्' यह वाक्य उपरोक्त सीमा की सत्यता को इस प्रकार सूचित करता है कि समुद्र के द्वारा भारतवर्ष के जो नवद्वीपादि विभाग हो गये हैं और अब उनमें जलयानादि के बिना जा नहीं सकते हैं, ये सब इंगलैण्ड और अमेरिका आदि भारतवर्ष के ही भेद या अंग-उपांग हैं। (५) और हमारा हिन्दुस्तान, जो भारतवर्ष के नाम से विख्यात है इसके लिए भी पुराणों में सूचित किया गया है कि 'अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।' अर्थात् उन्हीं में यह सागरसंवृत नवां द्वीप भारत, या कुमारिका क्षेत्र अथवा हिन्दुस्तान के नाम से प्रसिद्ध है। (६) इस सम्बन्ध में यह सन्देह हो सकता है कि 'जब यूरोप और अमेरिका आदि महादेश भारतीय सीमा के अन्तर्गत हैं और यह भारत उनमें नवाँ है तो शास्त्र और संसार दोनों में ही यह भारतवर्ष के नाम से क्यों प्रसिद्ध है। (७) इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार भूलोक का विस्तार बहुत होने से अधिकांश सज्जन इस पृथ्वी को ही भूलोक मानते हैं, उसी प्रकार सारा मृत्युलोक भारतवर्ष होने पर भी अकेले हिन्दुस्तान को ही भारतवर्ष कहते हैं। (८) इनके सिवा स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्र, आवर्तन, रमणक, मन्दहरिण, पाञ्चजन्य, सिंहलद्वीप और लङ्का ये 'आपद्वीप' हैं। इनमें सिंहल और लङ्का इनके सिवा सब के नाम बदल गये हैं। अस्तु।

(२१) १५—**भूपृष्ठ के विशिष्ट लोक**—भागवत में पृथ्वीलोक, ऊर्ध्वलोक, प्रेतलोक और पितृलोक ये ४ लोक विशिष्ट बतलाये हैं। इनमें से मनुष्यलोक में १ 'उद्भिज' शरीर (वनस्पति आदि) २ 'स्वदेज' शरीर (जूँ-लीक और खटमल आदि) ३ 'अण्डज' शरीर (चींटी, चटक और मयूरादि) और ४ 'जरायुज' शरीर (मनुष्यादि, द्विपद और गोवृषभादि चतुष्पदि) ये ४ प्रकार के शरीर हैं और ये मनुष्यलोक में ही रहते हैं। (२) इस लोक की मर्यादा हिन्दूशास्त्रों में वर्णन की गई है। उसके अनुसार अपनी अपनी मर्यादा का सब पालन करते हैं। (३) लवण समुद्र के तट पर भारतीय सीमा के अग्निकोण में नीचेवाले स्तर (या परत पर) नरक हैं। वे देखे नहीं जा सकते हैं। वे एक प्रकार के कारागार (या जेलखाने) हैं, जिनमें अपने किये हुए पापों का फल भोगने के लिए अनेक जीव जाते हैं। उनका शरीर 'यातना शरीर' कहलाता है। (४) पृथ्वी के ऊपर अन्तरिक्ष में थोड़ी दूर तक प्रेतलोक है। उसमें मृत्यु के अनन्तर अनेक वासनाओं (मोहजाल) में फँसे रहनेवाले जाते हैं। उनका शरीर 'वासना-शरीर' कहलाता है। (५) 'पितृलोक' पुण्यात्माओं का स्थान है। उसमें कुछ नित्य पितर भी रहते हैं। इन सबकी मर्यादा का भी शास्त्रों में वर्णन है। (६) ऊर्ध्वलोक में भी ज्योतिश्चक्र से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त की मर्यादा भी सुनिश्चित है और ये सब मर्यादा भगवान् की सदिच्छा से निर्मित हुई हैं। (७) भागवत में यह भी वर्णन किया गया है कि पृथ्वी के जितने विभाग हैं वे सब सूर्य के द्वारा ही विभाजित होते हैं। (८) जितनी दूर तक सूर्य की किरणें[२] पहुँचती हैं और दूर

(१) 'सूर्येण हि विभज्यन्ते दिशः खं द्यौर्मही भिदा। स्वर्गापवर्गौ नरका रसौकांसि च सर्वशः। (श्रीमद्भागवत) (२) 'रविचन्द्रमसोर्यावन्मयूखैः रवभासते। ससमुद्रसरिच्छैला तावती पृथिवी स्मृता।' (विष्णुपुराण) लोकव्यवस्था के विषय में ऊपर जो कुछ लिखा गया है वह अग्निपुराण, मार्कण्डेय पुराण, भागवत पुराण, विष्णुपुराण, वायुपुराण और भागवताक के आधार से लिखा है अतः विशेष के लिए इनका देखना अच्छा है।

तक पूर्ण चन्द्र का प्रकाश फैलता है उतनी दूर के सम्पूर्ण प्रदेश का नाम पृथ्वी है। वह चाहे नदी, पर्वत या समुद्र के रूप में हो और चाहे स्वतन्त्र भूमि हो, है पृथ्वी ही। (९) पञ्चीकरण की प्रक्रिया के अनुसार पृथ्वीतत्त्व-प्रधान वायुमण्डल और समुद्र इन दोनों को दृष्टि में रखकर ही पृथ्वी की पूरी लम्बाई और चौड़ाई पचास कोटि योजन बतलाई है और सात प्रकार के समुद्रों का वर्णन (एवं सुदीर्घ पर्वतों के आयतन भी) इसी दृष्टि से प्रकट किये हैं। (१०) प्रस्तुत पृथ्वी के मध्य की गहराई ४ हजार कोश मानी गई है और गोल पदार्थ के घनफल निकालने की क्रिया से पृथ्वी का परिणाम निकाला जाय तो वह पचास कोटि योजन (या दो अरब कोश) ही होता है। ऐसी दशा में ऊपर जो द्वीपादि का विस्तार लाखों कोश का निर्द्धारित किया है वह असंगत नहीं सर्वथा संगत है। (११) पृथ्वी और सूर्यादि का सम्बन्ध प्राचीन शास्त्रों और अर्वाचीन अन्वेषणों का प्रायः एक सा ही है और वैज्ञानिकों ने इस दिशा में अब तक कोई निश्चित मार्ग निकाला भी नहीं है। अतः उनके अनिश्चित मत के साथ प्राचीन शास्त्रों के मत की तुलना करना आवश्यक नहीं।

(२१) १६—**भूपृष्ठ के उत्कृष्ट गिरि**। उनमें माहेन्द्र, मलय, सह्याद्रि, शक्तिमान्, ऋक्षाभिवन्ध्य और पारियात्र ये छः गिरि भारत के 'कुल पर्वत' हैं। (२) कोलाहल, विभ्राज, मन्दर, दर्दुर, वातस्वन, विद्युत, मैनाक, स्वरस, तुंगप्रस्थ, नागगिरि, रोचन, पाण्डुर, पुष्प, उर्जयन्त, रैवन्त, अर्बुद, ऋष्यमूक, गोमन्त, कूटशैल, कृतस्मर, क्रोड़ और श्रीपर्वत ये आर्य और अनार्य के विभाजक हैं। (३) पृथ्वी पर जितने द्वीप हैं वे सब पर्वतों के बीच में आई हुई जलावृत भूमि से बने हैं। (४) पचास कोटि योजन के विस्तारवाले भूमण्डल में जम्बूद्वीप का दैर्घ्य और विस्तार १ लाख योजन (या ४ लाख कोश) है। उसमें निषध और पारिपार्श्व मेरु के दक्षिण-पश्चिम में हैं और सागर में प्रविष्ट रहते हैं। शृंगवान् और जारुधि मेरु के उत्तर में हैं। (५) इन पर्वतों के सानु (शिखर) विस्तारवाले हैं, उच्छ्रत (ऊँचे) हैं विपुलायत (फैले हुए) हैं और अत्यन्त मनोज्ञ हैं। (६) इनमें हिमवान्, हेमकूट, निषध, नील श्वेत, शृंगवान्, महेन्द्र, मेरु, माल्यवान्, गन्धमादन, मलय, सह्य, सुक्तिमान्, ऋक्षमान्, विन्ध्य, पारियात्र, कैलाश, मन्दर, लोकालोक और उत्तर मानस ये २० पर्वत श्रेष्ठ हैं। (७) वराह पुराण में लिखा है कि उक्त प्रकार के पर्वतों में देवता रहते हैं। इनके मध्य भाग में शान्त नाम के पर्वत पर महेन्द्र का क्रीड़ाभवन है और उसमें पारिजाति (कल्पवृक्ष) भी है। (८) उसके पूर्व में कुञ्जर पर्वत है। उस पर दानवों के १८ पुर हैं। इसी प्रकार वज्रकेतु पर राक्षसों के और महानील पर्वत पर किन्नरों के १५ हजार पुर हैं। ये सब सुवर्ण के हैं। (९) इनके सिवा चन्द्रोदय पर नागों का, कुञ्जर पर पशुपति का, वसुधा पर वसुओं का, रत्नधार पर सप्तर्षियों का, एक शृंग पर प्रजापति का और गज पर भगवती का वासस्थान है। (१०) फिर वसुधा पर सिद्ध, विद्याधर और मुनि रहते हैं। इस पर अनेक पुर हैं जिनके तोरण और प्रकार बहुत बड़े हैं। यहाँ युद्धशील गन्धर्व भी रहते हैं जिनमें पिंगल राजाधिराज है। (११) पञ्चकोर पर राक्षस और शतशृंग पर यक्षों के पुर हैं।

प्रभेद के पश्चिम में देवों और दानवों के पुर हैं। और प्रभेद के मस्तक पर बृहत्सोम शिला है जिसके द्वारा प्रत्येक पर्वत से सोमरस प्राप्त किया जाता है। (१२) इसके उत्तर में त्रिकूट पर्वत है। उस पर वह्नि का आयतन है, जिसमें अग्निदेव मूर्तिमान् होकर रहता है और देवता उसकी उपासना करते हैं। ऐसे पर्वत पाषाणमय होने पर भी अन्तर्गत-देह होते हैं। जगत् की स्थिति के हेतु से भगवान् ने इनको बनाया है। यदि इनका स्थावर शरीर बिखर जाय तो अशुभ है।

(२२) १७—**भारत के पवित्र पर्वत**। (१) उनमें गोकुल का गोवर्धन मुख्य है। इसको श्रीकृष्ण ने धारण करके व्रज की रक्षा की थी। (२) हिमालय भारत के पर्वतों में सर्वप्रथम है। यह उत्तर की सीमा का धारक और निर्धारक है। (३) 'एवरेस्ट' (गौरी-शङ्कर) शिखर हिमालय का ही अंग-विशेष है। इसके सर्वोच्च शिखरों की उँचाई २९१४१ फुट (अथवा पाँच मील) से कुछ अधिक है। अधिकांश मनुष्य इसको कैलाश मानते हैं; परन्तु यह कैलाश नहीं तो कैलाशपति की प्रतिमूर्ति अवश्य है। इसके दो शिखर दूर से 'हर-गौरी' जैसे दीखते हैं। (४) इस शिखर की चोटी पर चढ़ने के लिए उत्साही अँगरेजों ने चार बार प्रयास किया, लाखों रुपये लगाये और बहुत से विद्वानों के प्राण भी गये परन्तु १५-२० या २५ हजार फुट से अधिक ऊपर जा ही नहीं सके। (५) हिमालय में नर-नारायण-स्वरूप बदरीनारायण जी विराजते हैं, जिनके दर्शन करने को ग्रीष्म काल में अगणित यात्री जाते हैं। इसके गंगोत्तरी स्थान से गंगाजी निर्गत होकर पृथ्वी पर आती हैं। (६) हिमालय के सिवा मन्दराचल पर इन्द्रादिक रहते हैं। गिरिनार जैनियों का पूज्यस्थान है। तुलजा पार्श्वनाथ और अर्बुदाचल (आबू) प्रसिद्ध हैं ही। (७) इनके सिवा सामोर का मालकेतु, गणेश्वर का मालगिरि और लोहागरजी का माल-सिकन्दर सुमेरु के पोते माने जाते हैं और तीर्थस्थान होने से यहाँ वर्ष भर में ५-६ बड़े मेले भरते हैं। (८) इनके सिवा अन्यत्र के पर्वतों में ओलम्पिस ग्रीसवालों का देवस्थान है। सेरबल के समीप वेदीपन् पर अरब लोग जूते नहीं ले जाते हैं। जबल मुताहसर पवित्र स्थान है। वहाँ मोजेस के साथ जेहोमा का वार्तालाप हुआ था और 'आरारट' पर्वत के समीप एक बार अगणित धर्मात्माओं के प्राण बचे थे, इस कारण वह भी पूजनीय माना गया है।

(२३) १८—**भारत के प्रसिद्ध देश**। इनमें मत्स्य, अश्मकूट, कुल्य, कुन्तल, काशी, कौशल, अथर्व, कलिंग, मलक और वृक ये दस देश भारत के मध्यदेश में हैं जहाँ गोदावरी नदी और सह्याद्रि पर्वत हैं। ये देश उत्कृष्ट और रमणीक हैं। (२) भार्गव का गोवर्द्धनपुर, वाह्लीक, वसृधान, आभीर, कालतोष, अपरात्र, शुद्ध पल्लव, चर्मचण्डिक, गांधार (कंधार), यवनसिंधु, सौवीर, मद्रक, शतद्रुज, कलिंग, पारद, हारहूण, मागर, बहुभद्र, कैकय, देशमलिक, चात्रोपनिवेश, शूद्रोपनिवेश, काम्बोज, दारुक, बर्बर, हर्षवर्द्धन, चीन, तुषार, बाह्मारी, आत्रेय, भारद्वाज, पुष्कल, कसेरुक, लंपक, शूलकार, चूलिक, जागड़, ओपक, आविमान, किरात, तामस, हंसमार्ग, काश्मीर, तुंगन, शूलिक, कुरक और औणदर्व ये सब उत्तर में हैं। (३) अध्रावक, मुदकर, अन्तर्गिरि, प्रवंग, बंगेय, मालव, मालवार्तिक, व्रणेता,

प्रविजय, भार्गव, मल्लक, प्राग्ज्योतिष, मद्रक, विदेह, ताम्रलिप्त, मल्ल, मगध और गौतम ये पूर्व में हैं। (४) पौण्ड्र, केरल, गोलांगूल, शैलेय, कुसुम, वामक, महाराष्ट्र, माहिषक कलिंग, आभीर, वैशिक, आष्यक, शबर, पुलिंद, विन्ध्यमौलेय, विदर्भ, दण्डक, पौणिक, मौलिक, भोगवर्द्धन, नैषिक, कुन्तल, आन्ध्र, उद्भिद और वनदार ये दक्षिण में हैं। (५) सूर्यारक, कलिवर्ण, दुर्गनालिक, पुलिंद, सुग्रीव, रूपक, श्वापद, कुर्मी, कटाक्ष, वासिक्य, उत्तर नरपद, मरुकच्छ, माहेय सारस्वत, कश्मीर, सुराष्ट्र, आवन्त्य और अर्बुद ये 'अपरान्त्य' (पश्चिम) के हैं। (६) सरुज, करुष, उत्तपर्ण, उत्कल, दशार्ण, अज, किष्किंधा, तौसल, कौशल, त्रिपुर, वेदप तुंबरु, तुंबलु, पटु, नैषध, अन्नन्त, तुष्टिकर, व्रीहिहोत्र और अवन्ती (उज्जैन) ये विन्ध्यप्रष्ट के हैं। (७) नीहार, हंसमार्गकुरु, गुर्गर, खस, कुन्त, प्रावरण, कुर्णा, दार्य, त्रिगर्भ, मालव, किरात और तामस ये पार्वत्य हैं। इन देशों में सत्ययुग के समान व्यवहार होता है। इनसे पूर्व, दक्षिण और पश्चिम में भारतीय महासागर और उत्तर में धनुषाकार हिमालय है। (८) भूमण्डल में भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जिसमें अपने कर्मों के शुभाशुभ प्रभाव से मनुष्यों को ब्रह्मत्व, इन्द्रत्व या मनुष्यत्व आदि पद प्राप्त होते हैं। यही क्यों, देवता भी अपना कर्मभोग पूरा होने पर स्वर्ग से यहाँ आने की इच्छा रखते हैं। (९) उपरोक्त देशों में मरु, जांगल और अनूप श्रेणी के देश भी हैं। उनमें ब्रह्मपुत्र जैसे महानद समीपी, 'अनूप' जलपूर्ण और वृक्षादि से आच्छादित 'जांगल' और जल-तृण तथा वृक्षादि से हीन मरु देश होता है। (१०) मरु में विशेष कर बालू और उसके टीले होते हैं। यथा—जोधपुर, बीकानेर और रतनगढ़ आदि। जांगल में विशेष-कर जल और वृक्ष होते हैं। यथा—बंगाल के बैजनाथ, औरंगाबाद आदि। और अनूप में विशेष कर जल होता है। यथा—आसाम के चाय-बगीचे आदि हैं।

(२४) १९—**पाश्चात्यों का भौगोलिक अनुसन्धान**। यूरोप और अमेरिका आदि के विद्वानों का मत है कि पृथ्वी महान् आकार का गोला है। इस पर जल या स्थल-मार्ग से यात्रा करते समय यह चपटी मालूम होती है; परंतु बहुत समय पहले इसका गोल आकार होना सिद्ध हो चुका है और वह वास्तव में सत्य है। (२) चपटी दीखने का कारण यह बतलाया है कि हमारी दृष्टि में इसका एक सहस्रांश भी अधिक दीर्घ दीखता है, जो भारतीय भास्कराचार्य के मत के अनुकूल है। (३) इसकी परिधि का व्यास २५ हजार मील (या १२,५०० कोस) है। दोनों ध्रुवों के बीच की भूमि का व्यास ७,८९९ मील (या ३९४९½ कोस है) और सम्पूर्ण धरातल का क्षेत्रफल १९,७०,००० मील (या ९,८५,००० कोस) है जो ब्रह्माण्ड के प्रमाण से २०,३०,००,००० कम है। (४) वर्तमान के भौगोलिकों ने भूमण्डल को दो भागों में विभक्त करके एक को पूर्व (या पुराने) और दूसरे को पश्चिम (या नये) महाद्वीप नाम से विख्यात किया है। (५) इनमें यूरोप, एशिया और अफ्रीका प्राचीन महाद्वीप माने गये हैं और उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका नवीन महाद्वीप माने गये हैं। इस प्रकार ये पाँच महाद्वीप विख्यात हैं।···(६) इनमें धन जन-पूर्ण एशिया (भारत) हिमालय से कन्याकुमारिका तक ९५० कोश (या १९०० मील) लंबा और इतना ही चौड़ा है। इसका क्षेत्रफल लगभग ७७६९६२॥ वर्गकोश (या

१५,५३,९२५ मील) और आबादी लगभग ४० करोड़ है। शासन के संबंध से भारत के ४ भाग हैं। यथा—१ भारत—२ देशी रियासतें—३ स्वाधीन राज्य और
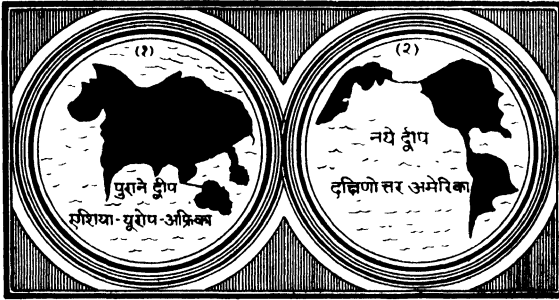
४ अन्य देशीय राज्य। (७) भारत में बंगाल की जनसंख्या ७१,२७,७३० । क्षेत्रफल १,६३,९०२ वर्गमील। उत्तर प्रदेश की जनसंख्या ४,६९,०३,१०२, क्षेत्रफल १,०६,१०४, पंजाब की, जनसंख्या २,०८,६६,८४७, क्षेत्रफल १,०७,९८९ बंबई की जनसंख्या १,५९,८५,२७०, क्षेत्रफल १, २४,१२२, मद्रास की, जनसंख्या ३,५६,३०,४४०, क्षेत्रफल १,३९,६९८, बर्मा की जनसंख्या ४६,५८,६२७, क्षेत्रफल ८७,२२०, आसाम की जनसंख्या ५४,७६,८३३, क्षेत्रफल ४६,३४१, मध्यहिन्द १,०७,८४,२८७, क्षेत्रफल ८४,४४५, 'अण्डमन' टापू (या निकोबारद्वीप), ३०,०००, क्षेत्रफल ३,२८५, अजमेर की, जनसंख्या ५,४२,३५८, क्षेत्रफल २७१० 'बरार' २८,९७,४९१, क्षेत्रफल १७,२११ और कुर्म १,७३,०५५, क्षेत्रफल १,५८३···(८) देशी राज्यों में—१ अजयगढ़, २ अलवर, ३ अलीराजपुर, ४ इन्दौर, ५ इडर, ६ उदयपुर, ७ दूसरा उदयपुर, ८ ओर्छा, ९ कच्छ, १० कपूरथला, ११ करौली, १२ कारोड, १३ काल्लूर, १४ काश्मीर, १५ कृष्णगढ़, १६ कूचबिहार, १७ कोचीन, १८ कोटा, १९ कोल्हापुर, २० खम्भात, २१ खिलचीपुर, २२ खैरपुर, २३ गहरवार, २४ गौंड, २५ ग्वालियर, २६ चम्बा, २७ चरखारी, २८ छतरपुर, २९ जयपुर, ३० जैसलमेर, ३१ जावरा, ३२ जूनागढ़, ३३ जोधपुर, ३४ जंजीरा, ३५ झाबुआ, ३६ झालावाड़, ३७ झींद, ३८ टिपरा, ३९ टोंक, ४० डूँगरपुर, ४१ ट्रावंकोर, ४२ दतिया, ४३ देवास, ४४ धर्मपुरा, ४५ धरोल, ४६ धार, ४७ धौलपुर, ४८ ध्रांगध्रार, ४९ नरसिंगगढ़, ५० नया नगर, ५१ नागोर, ५२ नाभा, ५३ पटियाला, ५४—पन्ना, ५५ पालनपुर, ५६ पालीताना, ५७ प्रतापपुर, ५८ पोरबंदर, ५९ फरीदकोट, ६० बड़वानी, ६१ बड़ौदा, ६२ बनारस, ६३ बहावलपुर, ६४ बेरोद, ६५ बड़वान, ६६ बावनी, ६७ बारिया, ६८ बालासिनोर, ६९ बाँसदा, ७० बाँसवाड़ा, ७१ बाँकानेर, ७२ बीजापुर, ७३ बीकानेर, ७४ बूँदी, ७५ भवानी, ७६ भावनभट, ७७ भोपाल, ७८ मणिपुर, ७९ मालेरकोटला, ८० मैहर, ८१ मैसूर, ८२ मोरवी, ८३ मण्डी, ८४ रतलाम, ८५ राधनपुर, ८६

राजगढ़, ८७ राजपीपला, ८८ राजकोट, ८९ रामपुर, ९० रीवाँ, ९१ लींबडी, ९२ लूणवाड, ९३ समथर, ९४ सावंतवाड़ी, ९५ सिरोही, ९६ सिरमोर, ९७ सिकिम, ९८ सीतामऊ, ९९ सुकेत, १०० सैलाना, १०१ सौंठ और १०२ हैदराबाद (दक्षिण) है। (९) स्वाधीन राज्यों में नैपाल है जिसके उत्तर में हिमालय, पूर्व में सिकिम, दक्षिण में अवध और बंगाल के जिले और पश्चिम में काली नदी है। दूसरा राज्य भूटान है जिसके उत्तर में हिमालय, पूर्व में चीन, दक्षिण में आसाम और पश्चिम में सिकिम है। (१०) और अन्य राज्यों में फ्रांसीसियों की राजधानी चन्द्रनगर और पुर्तगालवालों का गोआ है (११) यूरोप की लम्बाई ३००० मील और चौड़ाई २४०० मील है। क्षेत्रफल ३०००० मील और जनसंख्या ३५७५०००००। यूरोप में इँगलेण्ड जिसकी राजधानी लण्डन, क्षेत्रफल ५८३२० मील और जनसंख्या २०९७२४३९। स्काटलेण्ड की राजधानी एडिनबरा, क्षेत्रफल ३०४६३, जनसंख्या ३७३५५७३, आयर्लेण्ड की राजधानी डबलिन्, क्षेत्रफल ३१७५४, जनसंख्या ५१७४८३६, फ्रांस (पेरिस), क्षेत्रफल २०१९००, जनसंख्या ३७६७३०००, 'स्पेन' (मेड्रिड), क्षेत्रफल १८२७५७, जनसंख्या १६८५८७२१, 'पुर्तगाल' (लिसबन), क्षेत्रफल ३६५००, जनसंख्या ४७४५१२४, 'बेल्जियम' (ब्रुसेल्स), ११३५०, जनसंख्या ५९१००००, 'हालेण्ड' (एम्सटर्डम्), १२६३७, जनसंख्या ४३५१०००, 'प्रुशिया-जर्मनी' (बर्लिन), क्षेत्रफल [illegible], जनसंख्या [illegible], 'डेनमार्क' (कोपनहेगन्), क्षेत्रफल १४५१३, जनसंख्या १२१८०७, 'स्वीडेन' (स्टाकहोम), क्षेत्रफल १६८०४२, जनसंख्या ४७१७०००, 'यूरोपीय रशिया' (मास्को), क्षेत्रफल २२०००००, जनसंख्या ८८५००००००, 'आस्ट्रिया' (वियना) क्षेत्रफल २४०१४३, जनसंख्या ३९२२४०००, 'स्विटजरलेण्ड' (बर्न), क्षेत्रफल १५७२७, जनसंख्या २८४६१०२, 'इटली' (रोम), क्षेत्रफल ११४५४५, जनसंख्या २९९३४०००, 'टर्की' (कुस्तुंतुनिया-इस्तंबोल), क्षेत्रफल १३६५००, जनसंख्या ८९८७०००, 'रोमानिया' (बुखारेस्ट), क्षेत्रफल ४९४६३, जनसंख्या ५३७६०००, 'सर्विया' (बेलग्रेड), १८८७६-१९५०००० 'मांटिनिग्रो' (सेटिन), २८९८-२३६००० और 'ग्रीस' की राजधानी (एथेन्स), क्षेत्रफल २५४४१ मील, जनसंख्या १९८०००० है। (११) अफ्रीका लंबा ५०००, चौड़ा ४३००, क्षेत्रफल ११७५०००० मील, जनसंख्या २०६०००००। अफ्रीका के मिस्र की राजधानी काहिरा, ऐल्जियरा का आलजियर्स और मोराको, सोडान का टिम्बकटू, सेनिगेम्बिया का बैथर्स्ट, उत्तरी गिरी का कोमासी, दक्षिणी गिरी का लोआंगो, केप कालोनी का केपटाउन, नेटाल का पीटरमेरिटनबर्ग, मैडेगास्कर का टेनिनरियो, मौनेम्बिक का मेजिम्बिक और जेंजिबार का जेंजिबार है। (१२) अमेरिका उत्तरांश लंबा ४४००, चौड़ा ३०००, क्षेत्रफल ९०००००० मील, जनसंख्या ७२००००००, इसके राज्यों में ग्रीनलेण्ड का जूलिअनशावे, कनाडा का ओटावा, नोवास्कोशिया का हैलिफैक्स, न्यूब्रंजविक का फ्रेडरिक, आन्टेरियो का ओटावा, मानीटोबा का विनीपेग, ब्रिटिश कोलंबिया का विक्टोरिया, केनाटिन् का फोर्ट यार्क, न्यूफाउण्डलेण्ड का सेण्ट जान्स, यूनाईटेड स्टेट्स का वाशिंगटन, मेक्सिको का मेक्सिको, ग्वाटेमाला का ग्वाटे, सैल्साल्वेडोर का··ब्रिटिश हाण्डूराज का बेलीज, दक्षिणांश लंबा ४५००, चौड़ा ३२००, क्षेत्रफल ६५००००० मील, जनसंख्या २८००००००। इसके राज्यों में कोलंबिया का

वगैरा, इक्वेडार का कर्वाटो, वेनेज्यूला का केरेंकास, गियाना का ज्यार्जटाउन, गियाना का पैरेमैरिवो, ब्राजील का राओजैनीरो, बोलीविया चुकीसा का पेरूलाइमा, पैरावे (फ्रांस) का राशेन्सन, लाप्लाटा (ब्रिटिश) का बोनसगडीज, युरुग्वे (डची) का मोएटविड्यो, चील्ली का सेनशियेगो, पेटेगोनिया का पएटाशारिनाज, (१३/३) ओशीनिया के द्वीपों में सुमात्रा का वेनकटन, जावा का बटेविया, बोर्नियो का त्रूनी, सेलबीज का मकासर, मौल्यू, कस का एंबायना, फिलीपाइन का मेविल्ला, ओचीन द्वीप में न्यूसाउथवेल्स का सिडनी-विक्टोरिया का मेलबोर्न, दक्षिण आस्ट्रेलिया एडिलेड, क्विन्सलेंड का ब्रिस्बेन, पश्चिमी आस्ट्रेलिया का वर्थ, उत्तरी आस्ट्रेलिया का पोर्टएर्मिगटन, न्यूगिनीज का..., सुलेद्वीप का , न्यूहेब्रिडीज का···,न्यूकैलोडेनिया का , टैस्मानिया का हावर्टटाउन, न्यूजीलेण्ड का आकलेण्ड, आस्ट्रेलिया लंबा २५००, चौड़ा १९५०. क्षेत्रफल ३८०००००० मील (यह दुनिया में सबसे बड़ा है)। इसकी जनसंख्या ५६२५००० है। मलीनेशिया जनसंख्या १५००००० है। (१३/३) एशिया लंबाई ६००० मील, चौड़ाई ५३०० मील, क्षेत्रफल १७५००००, जनसंख्या ७९६०००००० (१३/४) एशियाईरूस लंबा ९५०, चौड़ा ७६०, क्षेत्रफल ७१०३० मील, जनसंख्या १७०००००० अरब लंबा १५००, चौड़ा १३००, क्षेत्रफल १२१९००० मील, जनसंख्या ४००००००, ईरान लंबा १३००, चौड़ा ८००, क्षेत्रफल ५८००० मील, जनसंख्या ७६५३०००(१३/५), काबुल अफगानिस्तान क्षेत्रफल २६०००० मील और जनसंख्या ४०००००० बिलोचिस्तान क्षेत्रफल १००००००, जनसंख्या १००००००—(१३/६) पूर्वी प्रायद्वीप लंबा १८००, चौड़ा ९६०, क्षेत्रफल ८७८००० मील, जनसंख्या २५५०००००(१३/७) मुख्य चीन लंबा १६००, चौड़ा १३००, क्षेत्रफल १६००००० मील; जनसंख्या ३८१००००००, तिब्बत (चीन) लंबा १५००, चौड़ा ७००, क्षेत्र ७००००००, जनसंख्या ६००००००। चीन में एक दीवार है। वह १४०० मील लंबी और २० से ३० फुट तक ऊँची है। ऐसी ही एक नदी है जो ७०० मील लंबी है। (१३/८) मंगोलिया लंबा १०००, चौड़ा १००० मील और जनसंख्या २००००००—मंचूरिया क्षेत्रफल १२०००००० मील, (१३/९) पूर्वी तुर्किस्तान, लंबा ९००, चौड़ा ५००, क्षेत्रफल ११४००० मील, जनसंख्या ३००००००, एशियायी रूस, (१३/१०) लंबा ४०००, चौड़ा २०००, क्षेत्र ६२२१००० मील, जनसंख्या १३००००००। कोरिया क्षेत्रफल, ८५७६० मील, जनसंख्या ९०००००० (१३/११) जापान क्षेत्रफल १५०००० मील, जन संख्या ३८१५१०००—(१४/१) विभिन्न देशों का विशेष वर्णन (यूरोप) में विद्या, कला, शिल्प, आदर और योग्यता सबसे विशेष है। (१४/२) अफ्रीका में जलवायु उत्तम है। ग्रीष्म और वर्षा दो ऋतुएँ हैं; किन्तु मनुष्य असभ्य हैं। (१४/३) अमेरिका की हवा ठंढी है, मनुष्य विद्वान्, अनुभवशील और नवीन निर्माण में कुशल है। अमेरिका गर्म है। (१४/४) एशियायी रूस में ऊन के बकरे बहुत अच्छे होते हैं। यहाँ सूर्यनारायण के जीर्ण-शीर्ण अनेक मन्दिर हैं। यह देश और यहाँ का इतिहास दोनों अत्यन्त प्राचीन हैं। (१४/५) अरब में मक्केश्वर हैं। यह यवनों का तीर्थ है। यहाँ पानी नहीं है। ऊँट और गधे अधिक हैं। यहाँवाले समुद्र से मोती, मूँगा और अंबर निकालते हैं। और रूई की १५-१५ टोपी ओढ़ते हैं, कम ओढ़नेवाले गरीब हैं। (१४/६) ईरान में भारतीय वर्णाश्रम की व्यवस्था देखने में आ सकती है। सन् ६३६ में वहाँ मनाधम था। बाद में सब बदल गया और हिन्दू

मुसलमान हो गये वहाँ की वर्णमाला में वेद और संस्कृत का संयोग है। मूर्तियों की खुदाई, सुधराई, वेषभूषा और दर्शन सब भारतीय हैं। (१५) अफगानिस्तान में मेवा सर्वोत्तम और बहुत अधिक होता है। इसके सिवा हींग के वृक्ष, सोना, चाँदी, माणिक, सीसा, लोहा, सुरमा, गंधक, हरताल और फिटकरी आदि बहुत होती हैं। (१६) वर्मा में चावल, सोना, माणिक्य, नीलम, लोहा, सीसा, सुरमा, गंधक, हरताल, संखिया, तेल, कोयला और संगमरमर बहुत होता है। (१७) स्याम में चावल, दालचीनी, तेजपात, इलायची, काली मिर्च, अगर, हीरा, नीलम, माणिक, लोहा, राँग, सीसा, ताँबा और सुरमा होता है। इसके सिवा 'चुंबक के पहाड़' भी हैं। उस देश के मनुष्य कायर, कपटी, सशंक, चालाक और परिश्रमी होते हैं। उनका मुँह लाल, पेशी बड़ी, नेत्र छोटे और बाल काले होते हैं। और स्त्रियों के पैर आरम्भ से ही बाँधे रखने से बहुत छोटे होते हैं। (१८) वहाँ चाय, कोयला, रेशम और अनेक प्रकार के खनिज पदार्थ होते हैं। उनकी वर्णमाला में ३०,००० अक्षरों का योग है। (१९) एशियायी रूम में सोना, चाँदी, प्लाटिनम्, ताँबा, सीसा, लोहा, पारा, गंधक, फिटकरी, हीरा, लहसुनियाँ और पुखराज होता है। और (१२) जापान में बौद्धधर्मी होने पर भी वहाँवाले चावल और मांस खाते हैं। स्त्रियाँ पतिव्रता होती हैं, विदुषी भी हैं और वहाँ रेशम तथा सूती वस्त्र सस्ते मिलते हैं। फौलादी चाकू और तलवार तथा चीनी के बर्तनों का भी बाहुल्य है। जापान के मनुष्य चालाक, परिश्रमी, निष्कपटी, उदार, सन्तोषी, मिलनसार और सच्चे होते हैं। विशेषता यह है कि वे लोग चुगलखोर नहीं होते। उसमें पाप मानते हैं। अस्तु।

(२५) २०—**भारत**। इसकी आकृति त्रिभुज के समान है। गिरिवर हिमालय और पूर्व घाट इसकी भूमि है और पश्चिमी घाट दोनो भुजा हैं। उत्तर में हिमालय की दुर्भेद्य प्राचीर [परकोटा] है और उसके परे तिब्बत आ जाता है। इसके दक्षिण में भारत महासागर, पश्चिम में प्रथम शाखा, अरब महासागर और पूर्व में दूसरी शाखा बंगोपसागर है। उधर भारत के बीच विंध्याचल आ जाने से इसके दो भाग हो गये हैं जो उत्तर में आर्यावर्त्त और दक्षिण में दाक्षिणात्य हैं। इनमें पहले के १ हिमालय प्रदेश, २ मध्यप्रदेश, ३ प्राच्यप्रदेश और ४ प्रतीच्य प्रदेश हैं। दूसरे के १ नर्मदा प्रदेश, २ गोदावरी प्रदेश, कृष्णा प्रदेश और कावेरी प्रदेश होने से ४-४ भाग हो गये हैं। इनमें १ भारत का गणराज्य, २ देशी राज्य, ३ स्वाधीन राज्य और पारदेशीय राज्य के रूप में ४ भाग हो गये हैं। इनमें गणराज्य १४ भागों में विभक्त है। यथा १ बंगाल, २ आसाम, ३ बिहार ओड़ीसा, ४ उत्तरप्रदेश, ५ मध्यप्रदेश, ६ पंजाब ७ मदरास, ८ बंबई, ९ वर्मा तथा १० कुर्ग (मेरकरा वा महदेवपट्टनम्), ११ अजमेर-मेरवाड़ा, १२ बरार-अमरावती, १३ अण्डमन कालापानी, १४ विशिष्ट बिलोचिस्तान, कोटा और सीमान्त प्रदेश (पेशावर) हैं। उक्त प्रकार से विभक्त हुए भारत के पर्वत्य प्रदेशों में विशाल शालवन, सेगुन, सीसम, पीपल, बबूल, महुआ और झाऊ आदि विस्तृत वृक्षों के बीच में नदी-माला से समाकीर्ण समतल क्षेत्रों में आम्रकानन वासन्ती मलय से मस्त रहते हैं। नदियों के जल से प्लावित निर्धूल सिकता (बालू) के अति विस्तीर्ण देशों में धान्यक्षेत्रों के बीच बाँस, नारियल, केले, कदम्ब, सुपारी,

खजूर और ताड़ के वृक्ष समुन्नत शीर्ष होकर खड़े रहते हैं। अत्युच्च स्थानों का त्याग करके नीचे आनेवाली नदियों के देश में प्राकृतिक स्वरूप को बदलकर उसमें जौ, गेहूँ, मक्का, बाजरा, मूँग, मोठ, उड़द, तिल, सन, ईख, तीसी, सरसों, तम्बाकू, रूई, नील, जाफरान, कुसुम, हलदी, धनिया, आल, मजीठ, जीरा, प्याज, लहसुन और पित्तकारी आदि के क्षेत्र बनाती रहती हैं। उत्तर-पश्चिम भारत यथा बंगाल आदि में रंग के पदार्थ, मुसब्बा, अण्डी और गुल्माच्छादित वनों में विविध प्रकार की जड़ी-बूटी, ओषधियाँ, रत्न, गोंद और महुआ आदि भोग-विलास के साधन उत्पन्न होते हैं। आसाम में चाय, काश्मीर में जाफरान (केसर), उत्तर, प्रदेश में अफीम और बंगाल आदि में रेशम, पाट, सन् और लाख आदि अनेक प्रकार के पदार्थ प्राप्त किये जाते हैं। राजपूताना में सब प्रकार के अन्न, धन, वस्त्र, पशु, शाक पत्र, पेठा, कद्दू, तरबूज, ककड़ी, बैंगन, नींबू, निबौली और आम आदि अगणित पदार्थ होते हैं। नीचे लिखे देशों में निम्नलिखित एकड़ भूमि में धान्य की खेती की जाती है, जिसमें जलबाहुल्य या जल की न्यूनता आदि कारणों से न्यूनाधिक भी हो जाता है धान्यादि

उत्पन्न होनेवाले	मदरास	बंबई	सिंध	पञ्जाब	मध्यप्रदेश	निम्न ब्रह्म	मैसूर	बरार
धान्य (चावल)	४६०००००	११९५०००	५१७०००	४०००००	४५५००००	२५५५०००	५४००००	३१०००
जौ, गेहूँ, चने	१६०००	५६१०००	२५४०००	७००००००	३६०००००	...	११०००	५२५००
मूँग, मोठ	१०६०००००	५८०००००	९३५०००	६००००००	५१४००००	...	३४०००००	२७६०००
तिल, सरसों, मूँगफली	८०००००	६२८०००	१८००००	८०००००	१३६००००	१५०००	१३००००	४६००००
उड़द	१६०००००	८३००००	११५०००	३२०००००	...	...	...	१८००००
तम्बाकू	६००००	३५०००	६०००	८००००	४८०००	१७०००	१५०००	१७०००
ईख (गन्ना)	२१०००	५००००	४०००	३८००००	१०००००	४०००	१३०००	५०००
रुई	१००००००	१२५००००	७००००	६६००००	८४००००	१००००	१५०००	२०८०००
नील	१२००००	१४०००	१००००	११००००	...	७००	...	...

के सिवा अधिकांश देशों में बैल, भैंस, ऊँट, घोड़े और खच्चर या गधों से भी खेती की जाती है। बंगाल और पश्चिम प्रदेशों में युद्धादि के उपयोगी घोड़े और खच्चर, घी-दूध के लिए गाय, भैंस और बकरी, सवारी के लिए ऊँट, घोड़े और रथ, बेचने के लिए हाथी, ऊन के लिए भेड़ और बकरे और चरबी तथा मांस के लिए सूअर आदि पालते हैं। बाँकुड़ा में रेशम और टसर के थान अच्छे होते हैं। कलकत्ता अँगरेजों के भारत-पदार्पण का प्रथम सोपान है। यहाँ फोर्ट विलियम किला भूगर्भ के अन्दर बनाया गया है। सोनपुर में कार्तिकी पूर्णिमा के हरिहर मेले में भारत के लाखों यात्री एकत्र होते हैं। नदिया नगर में संस्कृत के उच्च कोटि के विद्वान् हैं। चटगाँव से लकड़ी और चावल बाहर जाते हैं। गया भारत का

सुप्रसिद्ध तीर्थ है। सहारनपुर में सफेद लकड़ी के सन्दूक और कलमदान अच्छे बनते हैं। रुड़की में धुरों का कारखाना प्रसिद्ध है। बड़ौल में लोहे के बर्तन अच्छे बनते हैं। अलीगढ़ में ताले और हाथरस में चाकू, कैंची और सरौते अच्छे बनते हैं। चंदौसी में पोशाक की छींटें और बरेली तथा पीलीभीत आदि में पलँग के पाये, खड़ाऊँ, मेज, कुर्सी और टेबुल देखने योग्य होते हैं। तिलहर में तीर-कमान, वृन्दावन में कृष्णकुञ्ज, आगरे में ताजमहल, प्रयाग में त्रिवेणी और अक्षयवट, चुनारगढ़ में मिट्टी के बर्तन, लुधियाने और मुलतान में रेशमी वस्त्र, अटक में किला और रावलपिण्डी में फौजें सर्वोत्कृष्ट हैं। इनके सिवा भारत में अनेक नदी, पर्वत, पुरी और प्रदेश ऐसे मान्य और पवित्र हैं जिनका महान् महत्त्व हिन्दूशास्त्रों में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ, सात पुरियाँ लोकप्रसिद्ध हैं। उनमें (१) अयोध्या[1] भगवान् रामचन्द्र की जन्मभूमि होने से किसी दिन स्वर्गोपम सुखों से सम्पन्न थी। उसमें सूर्यवंशी राजाओं का राज्य था। सार्वभौम हिन्दू सम्राट् महाराज विक्रमादित्य ने भी उसका राज्य किया था। उस अवसर पर उन्होंने ३६० देवालय बनवाये थे। सरयू का स्थान सुधरवाया था, रामेश्वर के मन्दिर का उद्धार भी किया था। कहा जाता है कि राम की आज्ञा से हनूमान ने भी अयोध्या का राज्य किया था। वहाँ रामचंद्र के अनेक स्थान हैं। उनमें रामकोट और हनूमानगढ़ी विख्यात हैं। इनके सिवा ६३ मंदिर विष्णु के और ३३ शिव के हैं और रामनौमी का मेला होता है। (२) मथुरा (या मधुपुरी) का राज्य-विस्तार १४४४ वर्गमील में है। यमुना इसके दक्षिण भाग में बहती है। यह बहुत प्राचीन है। कंस ने इसी का राज्य किया था। वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण के १२ और राधिका के २४ भवन हैं और १२ वन, १२ उपवन, १२ प्रतिवन और १२ अधिवनों के अतिरिक्त ५ सेव्यवन, १२ तपोवन, १२ मोक्षवन, १२ काम्य वन, १२ धर्मवन, और १२ सिद्धिवन हैं। इनके सिवा अनेक महल, मन्दिर और मकान हैं जो यात्रियों के देखने योग्य हैं।

इतिहास से ज्ञात होता है कि विक्रम संवत् १९०४ और ३४ में बड़ा भारी अकाल पड़ा था। उस समय गवर्नमेंट की ओर से २० हजार मनुष्यों को कई महीनों तक भोजन दिया गया था। (३) माया (हरिद्वार) हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। स्वर्ग से आई हुई गंगा जी का भूमि पर पदार्पण पहले पहल यहीं पर होता है। प्राचीन काल में यहाँ 'मग्दला' नामक ग्राम था। वह अब मायापुर के नाम से विख्यात है। वहीं मायादेवी का मन्दिर भी है जो केवल पाषाणमय है। देवी के ३ मस्तक और ४ हाथ हैं। (४) काशी[2] शुभाशुभ कर्मों का क्षय करके मोक्ष देनेवाली होने से काशी कहलाती है। इसका विस्तार पूर्वापर में दो योजन और याम्योत्तर में अर्द्ध योजन है। यह वरणा (सूखी नदी) से पर्वतेश्वर तक फैली हुई है। यहाँ मानघाट, मणिकर्णिका घाट, अन्नपूर्णा घाट और विश्वेश्वर विश्वनाथ तथा अन्नपूर्णा विश्वविख्यात हैं। इनके सिवा ज्ञानवापी, कालभैरव, काशीकरोत, जलशायी विष्णु, दशाश्वमेध, पिशाचमोचन, अग्नितीर्थ,

(१) अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका। पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैता मोक्षदायिकाः। (आह्निकतत्त्व) (२) कर्मणां कर्मनाशत्वा काशीति परिकथ्यते। (काशी-महात्म्य)

भोसला घाट, मानमन्दिर और धराशायी हनूमानजी आदि दर्शनीय हैं। (५) काञ्ची—काञ्जीवरम् के नाम से विख्यात है और मद्रास राज्य के अंतर्गत चेंगल जिले में अवस्थित है। भूपरिमाण ५८५८ वर्गमील है। प्राचीनता में यह महाभारतकाल से पहले का है। इसके 'विष्णुकाञ्ची' और 'शिवकाञ्ची' दो भाग हैं। यहाँ १ में एकाम्रनाथ, कामाक्षी, शंकराचार्य की प्रतिमा और कम्पानदी तीर्थ हैं। और दूसरी में बरदराज स्वामी, उल्लंगमूर्ति, वेगवती धारा और सप्तग्रहों के ७ तीर्थ हैं। यहाँ एक आम्रवृक्ष ४ सौ वर्ष का है। इसकी ४ शाखाओं में खट्टे, मीठे, कड़वे और तीखे ४ प्रकार के आम लगते हैं। फलने के समय का प्रथम फल एकाम्रनाथ के अर्पण किया जाता है। (६) अवन्तिका' (उज्जैन)—यहाँ एक जलप्रासाद (जलद यंत्रों का महल) है। यह कालिंदी के मध्य में द्वीप के समान सुशोभित है। इस महल में सर्वोत्कृष्ट संगमरमर (या अन्य कोई भिन्न मसाला) लगा है जिसके कारण इस पर काई नहीं आती है। यहाँ शिप्रा पापनाशिनी है। (७) द्वारका—भगवान् श्रीकृष्ण की राजधानी है। सुदामा जैसे अति रंक ब्राह्मण को इसी पुरी में अमित सम्पत्ति उपलब्ध हुई थी। वर्तमान में यह बड़ौदा के अन्तर्गत अमरेली जिला के ओखामण्डल तालुके का एक बन्दरगाह (जहाजी स्थान) अथवा हिन्दुओं का सुपूजनीय तीर्थ है। यहाँ द्वारकानाथ का मन्दिर सौ फुट ऊँचा और ५ खण्ड का है। इसके सामने के नृत्यमन्दिर की छत ६० खम्भों पर खड़ी है और त्रिकोणाकार के चबूतरे पर १७१ फुट ऊँची बनाई गई है। इस पुरी में यात्रियों से २ हजार रुपये वार्षिक आय होती है। भगवान् का नाम रणछोड़जी है। मन्दिर की मूर्ति २ बार चली गई थी। यह तीसरी है। द्वारका ४ धामों में मानी गई है। चारों धाम १ जगदीश, २ रामेश्वर, ३ द्वारका और ४ बदरीनारायण के नाम से विख्यात हैं और भारत के प्रत्येक प्रांत से अगणित यात्री वहाँ जाते और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

(२५) २०—२ **देशादि के प्राकृत स्वरूप**। भूमण्डल के स्थलभाग में पृथ्वी का जो अंश बहुत दूर में फैला हुआ हो वह महादेश होता है (यथा भारतवर्ष)। महादेश के अन्य अंश देश होते हैं (यथा यूरोप, अमेरिका)। जो अंश जल से वेष्टित हों वह द्वीप होते हैं (यथा बंबई आदि)। जो महादेश के समीप में जल से वेष्टित हों वह 'उपद्वीप होते हैं (यथा भारत के तटवर्ती स्थान)। जिस जगह कई द्वीपों का समावेश हो वह द्वीपपुञ्ज होता है (यथा अमेरिका के उपसमीपी द्वीप)। जो भूभाग क्रमशः क्षीण होता हुआ समुद्र की ओर चला जाय उसका अग्र भाग अन्तरीप होता है (यथा भूगोल के कई देश)। जिस भूभाग से अन्य दो खण्ड संयुक्त होते हैं वह योजक (जोड़नेवाला) होता है (यथा डमरू मध्य)। जो देश समुद्र के तीरवर्ती हो वह उपकूल होता है (यथा करांची आदि) और जो प्रस्तर (पाषाण) मय अत्यन्त ऊँचा हो वह पर्वत होता है (यथा गढ़ गिरिनार आदि)। विशेष के लिए भारत-भ्रमण, भारतदर्शन, हिन्दी-विश्वकोश और ऋतुसंहार नाटक आदि देखने चाहिए।

---

(१) निशाशशाङ्कः क्षतनीलराजयः क्वचिद्विचित्रं जलयन्त्रमन्दिरम्। (ऋतुसंहार)

(२६) २१—**पर्वतों के विभिन्न भेद।** पृथ्वी के ऊपर अत्यन्त उन्नत और अत्यन्त विस्तृत शिलासमूह को 'पर्वत' होता है। पर्वत के साथ एक से एक अन्य कई पर्वत जुड़ते चले जायँ वह पर्वतश्रेणी होती है। इसी प्रकार छोटे छोटे और पृथक् पर्वतों हों वह पहाड़ होते हैं। पर्वतों के ऊर्ध्व भागों, को शृंग, चूड़ा या शिखर कहते हैं। जिस पर्वत के शृंगस्थ छिद्रों से भस्म, धुआँ या अग्नि की ज्वाला, शिखा अथवा लपट निकलती हो वह ज्वालामुखी पर्वत होता है। इनके अतिरिक्त दो पर्वतों के बीच में जो विस्तीर्ण प्रान्तर क्षेत्र हो वह उपत्यका है। पर्वतमय ऊँची भूमि को अधित्यका कहते हैं। अववाहिका के मध्य की पार्वतीय भूमि जलत्राधिका होती है। दो पर्वतों के बीच में संकीर्ण (सकड़ा) पंथ हो वह गिरिवर्त्म (घाटी) कहलाता है। जिस भूमि के ऊपर का भाग समान हो और साथ ही पर्वत आदि से हीन भी हो वह समतल होता है।

(२७) **भूमि के विभिन्न भेद**—भूमि में स्थिरता[१] गुरुता, पतन, प्रतियोगिता, काठिन्य, प्रसवार्थता (धान्यादि के उत्पन्न करने की सामर्थ्य), संघात, श्लिष्टावयव, (अंग-उपांगों का मिश्रण), स्थापनत्व (प्राणी और पदार्थों को आश्रय देनेवाली) और धृति (अर्थात् पाँच भौतिक मतिका धृत्यंश) ये स्वाभाविक गुण होते हैं। (२) इस कारण अन्य दानादि की अपेक्षा भूमिदान[२] का फल अधिक होता है। अंगुष्ठमात्र भूमि के दान से भी महत् फल मिलता है। (३) भूमि का देनेवाला[३] और उसका लेनेवाला दोनों ही स्वर्ग में जाते हैं। क्योंकि पुण्य-धर्म और परोपकारादि का मुख्य साधन भूमि ही है। प्रत्येक प्रकार के भोग्य और देय पदार्थ भूमि से ही मिलते हैं। (४) भूमण्डल में भूमि की समता[४] करनेवाला अन्य कोई दान नहीं है। इस कारण भूमि का कम दान भी भुक्ति, मुक्ति और सुख का देनेवाला होता है। (५) पूजा आदि के प्रसंग में पृथ्वी का नाम प्रियंवदा कहना चाहिए और 'प्रियंवदायै नमः' इस नाम से उसका दान, मान, दक्षिणा और अर्चन करना चाहिए। (६) प्रातःकाल शय्या से उठते ही सर्वप्रथम 'प्रियंवदायै', 'भूम्यै' या 'समुद्रमेखले०[५]' आदि से नमस्कार करने के अनन्तर पृथ्वी पर पाँव रखना चाहिए। (७) भूमि के शुद्ध और अशुद्ध ये दो भेद हैं। इनमें शुद्ध वह है जो पवित्र हो और अशुद्ध वह जो अपवित्र हो। अपवित्र में भी अमेध्या, मलिना और दुष्टा ये तीन भेद

---

(१) भूमेः स्थैर्यं गुरुत्वं च काठिन्यं प्रसवार्थता। गन्धो गुरुत्वं शक्तिश्च संघातस्थापना धृतिः। (महाभारत) (२) सर्वेषामेव दानानां भूमिदानं विशिष्यते। यो ददाति महीं राजन् विप्राय-कैश्चिताय वै। अगुष्ठ मात्रमथवा स भवेत्पृथिवीपतिः। न भूमिदानसदृशं पवित्रमिह विद्यते। (महाभारत) (३) भूमिं यः प्रतिगृह्णाति भूमिं यश्च प्रयच्छति। उभौ तौ स्वर्गमापन्नौ वनिकां स्वर्गगामिनी। (महाभारत) (४) भूमिदानसमं दानं नास्त्येव पृथिवीतले। स्वल्पादल्पे समं चैव भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्। (पद्मोत्तरम्) (५) नमः स्याप्रियदत्तेति गुह्यं देव्याः सनातनम्। दाने वाप्यथवादाने नामास्याः परमं पदम्। समुद्रमेखले देवि पर्वतोत्तममण्डले। विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे। (तिथितत्त्व)

और होते हैं। (८) यथा, जिस जगह गर्भिणी[१] स्त्री प्रसूता हुई हो या कोई मनुष्य मर गया हो या चाण्डालों ने दूषित की हो अथवा उस जगह मलमूत्रादि त्यागे गये हों तो (६) ऐसी भूमि को अग्नि जलाकर, गोबर आदि से लीपकर, जल से धोकर (निर्लेप कर) (१०) मार्जनी से बुहार कर 'अञ्जन' (गोबर) से लीपकर अथवा उस जगह की मिट्टी उठवाकर और उस जगह गायों को बाँधकर उसे शुद्ध कर लेना चाहिए। (११) शास्त्रकारों ने भूमि शुद्ध करने के यही तीन विधान बतलाये हैं। इसके सिवा दहन[२] (जला देने), खनन (खोद डालने), उपलेपन (लीप देने), वापन (बोने) या पर्जन्य (मेघ) बरस जाने से भी भूमि की शुद्धि हो जाती है। अस्तु, (१२) पृथ्वी[३] पर किसी कामना के लिए यंत्र, मंत्र या श्लोकादि लिखा जाय तो उसका अच्छा फल नहीं होता। (१३) जो भूमि रंग में सफेद[४], गंध में सुखदायी, स्वाद में मीठी, डाभ उगी हुई और गंभीर हो वह ब्राह्मण वर्ण की होती है। (१४) जो भूमि आकार में सम[५] हो, रुधिर जैसी गंध हो, कसैली हो, दूर्वा उगी हुई हो और ऊँचाई में हो, वह क्षत्रिय वर्ण की होती है। (१५) जो रंग[६] की पीली हो, शहद जैसी गंध हो, खट्टी हो, फल-पुष्प लगे हुए हों और सम हो, वह वैश्य वर्ण की होती है। (१६) और जिसका रंग काला हो, मदिरा जैसी गंध हो, तीखा स्वाद हो, घास-फूस उगे हुए हों और आकृति में विकट (बाँकी, टेढ़ी या डरावनी) हो वह शूद्र वर्ण की होती है। इनमें प्रयोजन के अनुसार अपने वर्ण की या सबके लिए ब्राह्मण वर्ण की भूमि शुभ होती है। (१७) बाँकी, टेढ़ी, कुरूप[७] शूर्प के आकार की, मूसल जैसी डरानेवाली, पवनपीड़ित, मिला देने की विकट रूपवाली, कुत्ता और शृगाल जैसी, गधों से बोई हुई या श्मशान और बाँबी (सर्प के बिल) की भूमि अनिष्टकारी होती है। (१८) काली, चिकनी या गीली भूमि खेती के लिए अच्छी होती है। जलपूर्ण और रस युक्त भूमि ईख के लिए लाभदायक होती है। बालू और खाद मिली हुई भूमि बाड़ी (शाक-पातादि) के लिए उपयोगी होती है। बालू से युक्त, कठोरता से रिक्त और जल-गर्भ से संयुक्त भूमि वट-पीपल जैसे दीर्घजीवी वृक्षों के लिए अच्छी होती है। (१९) विशेष कर जलप्लावित भूमि खजूर, जलबे तथा नारियल

---

(१) प्रसूते गर्भिणी यत्र म्रियते यत्र मानुषः। चाण्डालदूषिता ये च यत्र विन्यस्यते शरः। विण्मूत्रोपहतं यत्र कुणपो यत्र दृश्यते। (आह्निक) (२) दहनं खननं भूमेरुलेपनवापने। पर्जन्यवर्षणे चैव शौचं पञ्चविधं स्मृतम्। सम्मार्जनेनाञ्जनेन सेकनोल्लेखनेन च गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चधा।(शुद्धिनिर्णय) (३) न भूमौ विलिखेद्वर्णं न मन्त्र पुस्तकं लिखेत्। भूमौ तिष्ठति देवेशि जन्म जन्मसु मूर्खता। (योगिनीतंत्र) (४) श्वेतोसम तथा पीता कृष्णवर्णानुपूर्वशः। सुगन्धा ब्राह्मणी भूमिः रक्तगन्धानुक्षत्रिया। मधुगंधा भवेद्वैश्या मद्य गन्धा च शूद्रिणी। (५) मधुरा ब्राह्मणी भूमिः काषाया क्षत्रिया मता। अम्ला वैश्या भवेद भूमिस्तिक्ता शूद्रा प्रकीर्तिता। (६) सर्वेषां नैव वर्णानां श्वेतभूमिः शुभावहा। कुशकाशयुता ब्राह्मी दूर्वा नृपतिवर्गगा। फलपुष्पलता वैश्या शूद्राणां तृणसंकुला। (७) वक्रां सूर्पनिभातद्वल्लकुटाभ्यां कुरूपिणीम्। मुसलनां महाघोरां वायुना वापि पीड़ितां। वल्लभल्लकसंयुक्तां मध्ये विकटरूपिणीम्। एतान्सर्वात्मयत्नेन बर्जयेच्च दा गृही। (विश्वकर्म-विद्याप्रकाश)

आदि के लिए उत्तम है। (२०) जिस भूमि के अन्दर भूरे रंग का मोरीड़ा या काले रंग की मिट्टी हो वह स्थायी मकान बनाने के काम की होती है। (२१) जिस भूमि के ऊपर थोड़ा अंश मिट्टी का और अधिक अंश पाषाण का हो वह दीर्घजीवी गढ़, किले या दुर्ग-निर्माण के लिए अच्छी होती है। (२२) जिस भूमि का रंग सफेद मोरीड़ा जैसा हो और उस जगह में फल-मूलादि स्वत: जीवित रहते हों ऐसी भूमि कुआँ, बावड़ी या तालाब आदि के लिए अच्छी होती है। (२३) और जिस भूमि में वृक्ष अधिक हो और वह उनकी सघन छाया से सदैव आच्छादित रहती हो वह भूमि इन्द्र की प्रिया होती है। उस भूमि पर इन्द्र-देव अधिक जल बरसाते हैं। इसके विपरीत (२४) जिस भूमि में वृक्षों की न्यूनता या सर्वथा हीनता हो उस भूमि में वर्षा कम होती है। (२५) अनुभव से ज्ञात हो सकता है कि गत २०-२५ वर्षों में रेल, तार, स्टेशन, सड़क और वासभवन या महल-मकान बहुत बढ़ जाने से उनके निमित्त प्रतिवर्ष अगणित वृक्ष कटते (और अंधकार आदि से स्वत: भी गिर जाते हैं) इस कारण वृक्ष-छाया प्रति दिन हीन होती जा रही है और इस कारण वर्षा कम होती है। इसका परिणाम यह होता है कि देश में बालू बढ़ रही है। (२६) ऐसी दशा में उचित तो यह है कि वृक्षों के वंश की रक्षा की जाय और एक के बदले दस बार लगाये जायँ। धर्म और व्यवहार दोनों के मर्म को जाननेवाले प्राय: सभी ऋषि, मुनि, महात्मा, पीर-पैगम्बर, विज्ञानी या पाश्चात्य विद्वान् भी वृक्ष लगाने में बड़ा धर्म मानते हैं। उनका मत यह है कि कूपादि बनवाने[1] की अपेक्षा वृक्षों के लगाने से अनन्त फल होता है और उनके काटने से महापाप[2] होता है। कारण यह है कि (२७) वृक्ष दूषित वायु को दूर करते हैं। स्वच्छ वायु का सञ्चार करते है। सर्दी और गर्मी को समान रखते हैं। जलपूर्ण बादलों को अपनी ओर आकर्षित करते (खींचते) हैं और फल, फूल, पत्ते, मञ्जरी, औषध, लकड़ी और चारा देने आदि के द्वारा अपने पालक या लगानेवालों को धन, मान, सम्पत्ति देने के सिवा उनके नाम को भी अमर करते हैं।

(२८) रोगहर मृत्तिका—इसमें सन्देह नहीं कि भूमि पर उत्पन्न होनेवाले प्राणिमात्र के लिए पृथ्वी की मृत्तिका माता के समान पोषक और पिता के समान तोषक (सन्तुष्ट रखनेवाली) है। यदि रहस्य ज्ञान के साथ भूमि की सेवा की जाय तो प्रथम तो कोई रोग होता ही नहीं और कुयोगवश कभी कुछ हो जाय तो प्राणहर रोग भी इसके उपयोग से दूर हो सकते हैं। उदाहरण के लिए (१) छोटे बच्चों को गोद में रखने के बदले निष्कंटक भूमि में स्वच्छन्द खेलने के लिए छोड़ दिया जाय (और जौ की रोटी तथा महिषी का दही खाने को दिया जाय) तो वह हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ट होते हैं। (२) बड़ी अवस्था होने पर ग्रीष्मकाल के दिनों में सूर्य के आतप से तपी हुई भूमि में थोड़ी देर नंगे शरीर उलट-पुलट लेटा जाय और उसका अभ्यास बढ़ाया जाय तो शरीर के त्वग्रोगकारी कीटाणु नष्ट हो जाते है और साथ ही शक्ति का सञ्चार भी होता है। (३) निमोनिया

(१) दसकूपसमा वापी दशवापीसमो ह्रदः। दशह्रदः समो पुत्रः दशपुत्रसमो द्रुमः (पराशरस्मृति) (२) वृक्षांश्छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्। यद्येन गम्यते स्वर्गः नरकः केन गम्यते। (चार्वाक)

(जिसको देहाती लोग गुजराती रोग या पाँशू का दर्द कहते हैं और वह प्राणान्तक भी होता है उस) के निवारण के लिए बालू को गर्म करके दर्द की जगह सुहाता हुआ सेंक किया जाय और दैवात् रोग का वेग बढ़कर वायु हो जाय तो रोगी के बिछौने पर सुहाती हुई गर्म बालू फैला करके रोगी को उस पर लिटा दिया जाय और ऊपर से वस्त्र उढ़ा दिया जाय तो बलवती वायु का वेग रुक जाता है। (४) ग्रीष्म काल में प्राय: नकसीर (नासाछिद्र द्वारा रुधिर स्राव) हो जाया करता है उसके लिए पीली मिट्टी के टुकड़े को ठंडे जल में भिगोकर दोनों छिद्रों से सूँघने से नकसीर बन्द हो जाती है। इसी प्रकार बवासीर के रक्तस्राव के लिए भी मिट्टी के ढेले से (शौच के पीछे) गुदा को पोंछने से रक्तस्राव रुक जाता है और प्रतिदिन ऐसा करने से मश (अर्श) भी रुके रहते हैं। (५) गर्म पदार्थों के सेवन से कई बार मूत्राशय में जलन पैदा होकर मूत्र के होने में न्यूनता और दर्द हो जाता है, उसके लिए पीली मिट्टी को गीली करके नाभि के नीचे लगा दिया जाय (लेप कर दिया जाय तो) थोड़ी देर में आराम हो जाता है। (६) अंग में किसी जगह फुंसी की सूजन हो तो उस पर पुराने बर्तन की ठीकरी को जल में घिसकर लेप कर देने से वह समान हो जाती है। (७) यदि फोड़ा या फुंसी बड़ी हो, पकी न हो, सूजन और दर्द भी हो तो लाल भौंरे के बिल की मिट्टी को पानी से ढीली करके आग से पकावे और सूजन पर सुहाता हुआ सेंक करे तो गूमड़ी पककर फूट जाती है और दर्द कम हो जाता है। (९) यदि इस प्रकार से पकाई हुई मिट्टी को 'प्लेग' की गिल्टी (गाँठ) पर थोड़ी थोड़ी देर से सेंक करता रहे तो उसमें भी बड़ा लाभ होता है। (१०) गले में गलसूँड़ा (जो एक प्रकार की गाँठ होती है) हो जाय तो उस पर लाल भौंरा के बिल की मिट्टी ठंढे जल में मिलाकर लेप करें तो वह स्वत: बैठ जाता है। (११) प्लीहा (तिल्ली जो पेट में गाँठ होती है) हो तो भेड़ों के बैठने की जगह की मिट्टी को साग की तरह सिझा कर सायं प्रात: पेट पर बाँधता रहे तो प्लीहा मिट जाता है। (१२) जिस स्त्री के कोई रोग न होने पर भी सन्तान न हुई हो तो काली मिट्टी की अण्ड सदृश शिवमूर्ति बनाकर उसका पूजन करे और उस पर चढ़ाये हुए बिल्व पत्रों को सूँघ कर प्रसाद भक्षण करे तो इस प्रकार वर्ष भर करने से वन्ध्यापन दूर हो जाता है। (१३) और यदि दैवयोगवश दारिद्र्य बढ़ गया हो और जातिवाले नाराज रहते हों तो हाथी, घोड़े, गौ, वल्मीक, चौराहा, कचहरी और, नगर के प्रधान पथ की सात मृत्तिकाओं को शुद्ध जल में मिलाकर उससे स्नान करे और इस प्रकार १,३,५ या ७ सप्ताह तक नित्य करता रहे तो अभीष्ट की सिद्धि होती है। स्नान के पीछे बट, पीपल और तुलसी का पूजन और सूर्य के दर्शन भी नित्य करने चाहिए।

(२९) **भूमंडल के विलक्षण प्राणी और पदार्थ**—वैसे देखा जाय तो विश्वकर्त्ता के बनाये हुए किसी भी प्राणी या पदार्थ के नख, लोम, मज्जा, मांस, पंख, पत्ती, पुष्प, पराग, फल, तिल या तितली जैसे सामान्य अंग की भी तादृश रचना कोई नहीं कर सकता। उसमें भी कई एक तो ऐसे अद्भुत या विलक्षण हैं जिनके स्पर्श, दर्शन या श्रवण मात्र से ही आश्चर्य होता है। ज्ञातव्य विषय होने से यहाँ पृथ्वी भर के अद्भुत और विलक्षण प्राणी या पदार्थों का अति संक्षेप में यथाक्रम उल्लेख किया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसी पृथ्वी पर उत्तर में सुमेरु और दक्षिण में कुमेरु हैं जिन पर देव और दानव यथा-

स्थान रहते हैं। मनुष्य तथा पशु-पक्षी तो भूमण्डल के जल और स्थल में सर्वत्र हैं ही। (१) देवों में हाथी की सूँड़वाले एकदन्त गणेशजी, नाभिगत कमलवाले चतुर्भुज भगवान्, तीन मस्तकवाले दत्तात्रेय, चार मुखवाले हंसारूढ़ ब्रह्माजी त्रिशूलधारी त्रिनयन शिव, मयूरारूढ़ षडानन, स्वामिकार्तिक और वानरेन्द्र हनुमानजी अवश्य ही स्मरणीय, दर्शनीय और विलक्षण हैं। (२) दानवों में दशशीर्ष रावण, सश्रृंग महिषासुर, सहस्र-भुज सहस्रार्जुन और गतग्रीव कवन्ध आदि अवश्य ही अद्भुत थे। (३) मनुष्यों में वैसे तो सभी में एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि हजारों लाखों में एक भी ऐसा नहीं जिसकी मुखाकृति या स्वरूप दूसरे से मिलता हो, फिर भी तिब्बत से कुछ आगे ऐसे १ महाकाय मनुष्य हैं जिनके शरीर पर सीढ़ी लगाकर चढ़ते हैं। २ इँगलेण्ड के लिमेस्टर में एक मनुष्य हाथी के समान मोटा और नौ मन वजन का था। ३ भारत में कुछ व्यक्ति ऐसे स्थूलकाय थे जिनकी शौच-शुद्धि खादी के थान और १ मशक पानी से होती थी। ४ फीजी टापू में ऐसे भी मनुष्य हैं जो मनुष्य का मांस खाते हैं और कीड़े-मकोड़े मधुमक्खी और छिपकली तक को सेंककर चबा जाते हैं। ५ कण्ठपर्यन्त भरपेट भोजन करनेवाले अतिभोजी चौबे तो विख्यात हैं ही, ६ तिब्बत की तलैटी में दानवाकृति के मनुष्य भी हैं जिनके दर्शनों से सामान्य मनुष्यों के ज्वर हो जाता है। ७ अमेरिका के यूटा प्रान्त में एक बार २० हजार वर्ष पूर्व के मनुष्य का अस्थिपञ्जर प्राप्त हुआ था। ८ एक बार विलायत का कौलसन् ४५ वर्ष तक नहीं सोया था, इसके विपरीत ९ स्वीडेन की केरोलिन् ३२ वर्ष तक सोती रही थी। १० बीस वर्ष हुए, ग्वालियर में एक विकृत आकृति का बालक हुआ था जिसके नाक, कान और नेत्र आदि बड़े विलक्षण थे और जन्म से थोड़ी देर पीछे ही उसके एक इंच लंबे दाँत उग आये थे। ११ संवत् १४८७ में हालेण्ड के निवासियों ने अपने समीप के समुद्र में एक ऐसी जलनारी देखी थी, जिसके कटि प्रदेश से नीचे का अंग मछली जैसा था और नाभि से ऊपर का अंग सुन्दर स्त्री के समान था, १२ संवत् १९६२ की प्रयाग की प्रदर्शनी में भी एक ऐसा ही 'नरमत्स्य' देखने में आया था। जिसका अर्धांग मत्स्य जैसा और ऊर्ध्वांग मनुष्य जैसा था। १३ सिसली द्वीप में एक ऐसी अद्भुत स्त्री देखने में आई थी जिसका गाना सुन कर मनुष्य मोहित हो जाते और मर जाते थे। १४ रटलेण्ड सायर में संवत् १६७६ में एक ऐसा वामन (बौना मनुष्य) था जिसकी लंबाई ५२ नहीं केवल २७ अंगुल थी। ऐसा ही एक दूसरा बौना और था जिसमें पूरा वजन केवल १ सेर था। भारत में बहुत से वामन बावन वर्ष के होने पर भी लंबाई में ५२ अंगुल के ही होते हैं। उनमें कई एक तो हिन्दी, उर्दू और अँगरेजी के भी बड़े विद्वान् हैं। १५ संवत् १९३२ में इटली के ट्यूरन में और संवत् १९६२ में भारत में दो जुड़े हुए बालक ऐसे उत्पन्न हुए थे जिनके १ पेट, १ नाभि, २ मस्तक, ३ कुच और ४ हाथ थे। १६ फ्रांस में जेम्स नाम की स्त्री के दाढ़ी मूंछ थी। वैसे ही एक युवती पंजाब के कुंजरूगाँव में भी थी जिसके मूँछ जम आई थी। १७ सुदूर देश में गलानि जाति के मनुष्यों के पूँछ होती है। अँगरेज लोग ऐसे मनुष्यों को वानर के वंशज बतलाते हैं। १८ इटली के फोगिया स्थान में एक स्त्री के एक ही प्रसव में पाँच पुत्र हुए थे। इस प्रकार कुतिया के ८ और शूकरी के १२ होते हैं। १९ बुद्धि विषय में यूरोप का कार्डिनाल मेजोफाण्ट महामेधावी था। वह अस्सी भाषाएँ जानता था। इसी प्रकार बंगाल का पं०

जगन्नाथ जो भी कुछ वाक्य, भाषण, भाषा या वाणी सुनता उसे सदैव स्मरण रखता और कोई पूछता तब यथावत् सुना देता था। इनके सिवा भारत के समुज्ज्वल भास्कर भास्कराचार्य, रामाचार्य, गणेश, दैवज्ञ, नीलकण्ठ और गट्टूलालजी आदि अनेक आचार्य महा-मेधावी हुए हैं जिनके समान तो अब होते भी नहीं है। २० लंबाई के विचार से आयर्लैंड का चार्ल्स ओब्राइन ८ फुट ४ इञ्च लंबा था। भारत में तो प्रलंब मनुष्य अनेक हैं। २१ दीर्घायु के विचार से भारत के ऋषि महर्षि सैकड़ों वर्ष जीवित रहते थे और हिमालय में अब भी तीन सौ से हजार वर्ष तक के महात्मा मिलते हैं। परन्तु उनके अतिरिक्त वर्तमान में भी सौ सवा सौ के वृद्धा और वृद्ध कई हैं। भोपाल की हलीमा बीबी ११६ वर्ष की तथा चौमू का चीमा चमार ११० वर्ष का जीवित है। २२ संसार की अवस्था के विषय में शकस्थान विश्वविद्यालय (यूनिवर्सिटी) के प्रोफेसर ने लगभग सात परार्ध वर्ष बतलाये हैं। २३ ऐसे ही एक दूसरे विद्वान् ने सारे संसार में खेती के द्वारा जो अन्न उत्पन्न होता है उसे १३ अरब मनुष्यों के भरपेट खाने योग्य बतलाया है। २४ इसमें सारे संसार का विस्तार दो अरब कोस और सारे संसार की जन-संख्या १ अरब ८०, करोड़, २० लाख सूचित की है। (४) पशुओं में सर्व-प्रथम गौ की गणना इसलिए की जाती है कि यह मनुष्य जाति का माता के समान पोषण करती है और सद्‌गृहस्थों का उससे असीम उपकार होता है। १ महर्षि वशिष्ठजी की नन्दिनी के अपरिमित प्रभाव से विश्वामित्र का ससैन्य सत्कार हुआ था। २ भगवान् श्रीकृष्ण के बाल्यकाल में ऐसी पयश्रवा गायें थीं जिनके दूध से नदी बहती थी और घी से भण्डार भरते थे। ३ ध्रुवदेश, हिमालय और कजली वन में सुरगाय बड़ी बलवान् और विलक्षण होती हैं। उनकी पूँछ से सुन्दर और आरोग्यवर्धक चमर बनते हैं। ४ अमेरिका में ऐसी गायें हैं जो ३०-३५ सेर दूध देती हैं। उनका मूल्य ५ हजार से २० हजार तक होता है। ५ भारत में आस्ट्रेलिया से आई हुई अम्बाला की गायें २८ सेर दूध देती हैं। ६ संवत् २००० में पर्वतसर के मेले में ऐसे बैल आये थे जिनका मूल्य ५ हजार रुपये और गति रेल के समान थी। ७ न्यूयार्क में बिजली के संयोग से एक कृत्रिम गौ (मशीन) बनाई गई है जो चारा खाती और दूध देती है। ८ अफ्रीका में बबरी और भारत में नौहत्थे सिंह बड़े भयङ्कर होते हैं। ९ हिमालय में सर्वोत्कृष्ट कस्तूरीवाले काले मृग और अत्यधिक चर्बीवाले सफेद भालू हैं। १० इसी प्रकार आसाम के हाथी भी गुणवान् होते हैं। उनमें सफेद हाथी का राजद्वार में बड़ा मान होता है। ११ समुद्र के महाकाय जीवों में एक जीव तीन सूँड़ का होता है। सम्भव है, वह इन्द्र के ऐरावत का वंशज हो। १२ अफ्रीका के जंगलों में बहुत से शेर, हाथी और गैण्डे ऐसे महाबली होते हैं जिनकी ठोकर से रेल का इञ्जिन उड़ जाता है। १३ शेखावाटी के अधिकांश घोड़े १० फुट ऊँची दीवार तथा गहरे कुंड नलों को उलाँघ जाते हैं। वहाँ के कई एक ऊँट रात भर में सौ कोस का सफर कर आते हैं। १४ संवत् १९६२ में चौमूँ में दो थूहे का ऊँट बड़ा अद्भुत था। उसके बाल बड़े मुलायम और बहुत ज्यादा थे। चाल उसकी धीमी और सुखदायक थी। १५ भूटान के बहुत से ऊँट बहुत दिनों तक प्यासे रह जाते हैं। १६ अफ्रीका के कई

एक गैण्डे ऐसे होते हैं जिनके मस्तक पर दो खड्ग होते हैं। १७ राजपूताने में कई एक कुत्ते व्रतधारी होते हैं। वे किसी एक अभीष्ट वार के दिन निराहार रहते और सूर्याभिमुख सोते हैं। १८ इनके विपरीत वानरों की बदमाशी और बुद्धिमानी तो विख्यात ही है। वह पहरा देते, शाक-पात ले आते, चिट्ठी बाँट आते और फोटो भी उतार लेते हैं। इतना ही नहीं, वे बिजली के घातक होने को भी जानते हैं। १९ बनारस में जब बिजली लगाई गई थी जब एक बन्दर उसके प्रवाही तार से स्पर्श होकर मर गया था। उसे देखकर वहाँ के सम्पूर्ण बन्दर इकट्ठे हुए और यह निश्चय किया कि बिजली के धाराप्रवाही तार का स्पर्श न किया जाय। तब पीछे वहाँ एक भी बन्दर बिजली की पकड़ में नहीं आया। (५) पक्षियों में कौवे की कुचेष्टा और हंस के सद्-गुण तो सर्वत्र विख्यात हैं ही। उनके सिवा १ लन्दन में एक दीर्घजीवी सूआ था, वह ५ सौ वर्ष तक जीवित रहा था और वहाँ के कई बादशाहों को देख चुका था। २ राज-पूताने में बया पक्षी बड़ा बुद्धिमान् होता है। उसकी भुवन-निर्माण-कला देखने योग्य होती है। उसके अधो-मुख घोंसले में जनाने-मरदाने और आगंतुक के लिए अलग अलग कमरे होते हैं और उनमें दीपक की जगह 'जगमेंगना' रहता है। ३ जगमेंगना हरी मक्खी जैसा होता है। वह जलाशय के समीप देखने में आता है। रात्रि के अँधेरे में उसके नीचे से प्रकाश निकलता है और उससे अन्धकार में कुछ दीख आता है। ४ गोस्वामी तुलसीदासजी ने कबूतरों के एक अद्भुत गुण की परीक्षा की है। उन्होंने लिखा है कि वह बिना किसी शिक्षक की सहायता के निराधार आकाश में ऐसी कलाबाजी करता है जैसी पृथ्वी का आधार लेकर करनेवाले नट भी नहीं कर सकते। इसके सिवा वह युद्धादि के अवसरों पर पोस्टमैनी का काम भी करते हैं, जिसका पता शत्रुओं को भी नहीं लगता। ५ तोता-मैना' के मनुष्योचित वार्तालाप को तो अधिकांश गृहस्थ सुनते ही हैं। (६) कीटपतङ्गादि में १ धान्य के लिए अति तुच्छ 'ईली' और 'घुन' तथा काठ के लिए 'कीड़ा' बड़े ही बलवान् होते हैं। वे धान्य और काष्ठ को काटकर खा जाते और उनको दर्शन मात्र का खोखला कर देते हैं। २ बहुत सी तितलियाँ बड़ी रंग-बिरंगी और परम सुन्दर होती हैं। भगवान् ने उनके पंखों में चित्रलेखन की विचित्र रचना की है। ३ विषधर कीड़ों में मणिधारी सर्प महत्त्व-सम्पन्न होते हैं। उनके मस्तक में एक प्रकार की मणि होती है जिसका मूल्य और प्रकाश बहुत ज्यादा होता है। ४ संवत् १९७० के ग्रीष्म काल में कालीकट के समीप मिस्टर जानसन् ने एक भयङ्कर अजगर पर आक्रमण किया था। आरम्भ में बन्दूक की १-२ करके ४ गोलियों का उस पर कोई असर ही नहीं हुआ। उलटा अजगर ही जानसन् को भक्षण करने में प्रयत्नशील हुआ, किंतु पाँचवीं गोली से उसका प्राणान्त हो गया और जानसन् बच गये। ५ अफ्रीका के जंगलों में कई एक सर्प ऐसे भी हैं जो अपने आधे शरीर को मार्ग-मध्य के वृक्ष में लपेटकर आधे से आने-जानेवालों पर आक्रमण करते हैं और अश्वारोही मनुष्यों तक को पकड़कर खा जाते हैं। ६ संवत् १४९८ में स्वीडन में एक बहुत लम्बा सर्प देखने में आया था। वह २०० फुट लंबा और कई फुट मोटा था। उसके पेट में पशु-पक्षी और मनुष्य भी समा जाते थे। (७) 'वृक्षों और वनौषधियों में प्रयाग आदि के १ अक्षयवट तो विख्यात ही हैं जो कभी

घटते-बढ़ते ही नहीं, सैकड़ों वर्ष हो गये सदैव ढाई पात के रहते हैं। २ विश्वामित्री नदी के समीपी उद्यान में एक अति विशाल वटवृक्ष है जिसकी सुखद और सुविस्तृत छाया में २००० अश्वारोही आराम से रह सकते हैं। ३ हिमालय में बहुत से वृक्ष प्रकाशमान् हैं। रात्रि के समय उनके पेड़-पत्ते और शाखाएँ चमकती हैं। पुराणाचार्यों का मत है कि ऐसे वृक्षों को सूर्य और अग्नि से तेज मिलता है। ४ वहीं एक ऐसा वृक्ष भी होता है जिसकी ६ तोला त्वचा (बक्कल) को उबालकर पीने से दो दिन तक भूख और प्यास की निवृत्ति हो जाती है। ५ उत्तर अमेरिका के केलीफोर्निया नगर में एक वृक्ष १८० हाथ ऊँचा है और उसके पेड़ की मोटाई ७० हाथ है। यदि उसमें खड़ा किया जाय तो वह १३ गज लंबा और उतना ही चौड़ा हो सकता है जिसमें ३६० मनुष्य कोठरी की तरह बैठ सकते हैं। इटैसेरिक पर्वत के समीप आरोटमा स्थान में और मेक्सिको के मेंटामेरिया डेलट्यूथ स्थान में पृथक् पृथक् ५ हजार वर्ष के २ पुराने वृक्ष हैं। कहते हैं कि उस जाति के वृक्ष दीर्घजीवी होते हैं। ७ कुछ ऐसे पेड़ भी हैं जो अपने पत्तों से पक्षियों और शाखाओं से पशुओं को खा जाते हैं। ८ सुमात्रा टापू में एक अति विशाल फूल होता है जिसकी १-१ फुट लंबी पत्तियों के बीच की गाँठ को उखाड़ दिया जाय तो उस जगह ९ सेर पानी भरा जा सकता है। ९ भारत का सूर्यमुखी पुष्प बड़ा तो होता ही है, साथ ही सूर्य का उपासक भी होता है। वह दिन में सूर्य के सम्मुख रहता है और रात्रि में अधोमुख हो जाता है। १० इसी प्रकार कमल फूल सूर्य से खिलता है और रात्रि में संकुचित हो जाता है। ११ इनके अतिरिक्त सदाचारिणी स्त्री के समान आचरण रखनेवाली लज्जावती अवश्य ही लजवंती कहलाने योग्य है। उसको कोई युवक स्पर्श करता है तो वह तत्काल कुड़-मुड़कर नतमस्तक हो जाती है और युवती या बच्चे स्पर्श करते हैं तो यथावत् (प्रफुल्ल) रहती है। १२ सोमलता देवताओं की लता है। इसके द्वारा कायाकल्प किया जाता है; किन्तु अब इसके दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं। (८) गिरिगुहा और पाषाणादि में १ हिमालय तो सर्वश्रेष्ठ है ही जिसके अंग से पतितपावनी गंगा जैसी नदियाँ, मानसरोवर जैसे जलाशय और विविध प्रकार के पादप-पाषाण, औषधियाँ और देवदुर्लभ रत्नादि निर्गत होते हैं। २ उसके सिवा अजंता की गुफा जैसे अद्भुत दर्शनों को उदरदरी में रखनेवाले कई पर्वत और हैं जिनमें अजन्ता और एलीफेण्टा के अद्भुत दृश्य अवश्य द्रष्टव्य हैं। ३ वर्जीनिया में एक स्वतः प्रभूत पहाड़ी पुल है जिसको ईश्वरकृत कहा जाय तो कोई अनुचित नहीं। वह उसी पर्वत के अत्युच्च शिखरों पर उसी पर्वत के हजारों मन वजनवाले एक प्रलम्ब खण्ड के स्वतः गिर जाने से बन गया है मानों महाकाय दो खंभों पर पर्वतराज के अंगविशेष को ईश्वर ने आड़ा रख दिया हो, जिसके ऊपर होकर अगणित मनुष्य सदैव आते-जाते हैं। पुल की पूरी लंबाई १५० गज और उँचाई पर्वत-समान है। ४ आफ्रिका के अलजीरिया प्रदेश में भूगर्भ के अन्दर १ महाह्रद (या झील) है जिसके निर्झर-जल से अन्दर ही अन्दर नदी बहती है। वह अवश्य ही गुप्त गंगा है जो कभी प्रकट ही नहीं होती। ५ हिमालय के सर्वोच्च शिखरों में गौरीशङ्कर सुप्रसिद्ध है जिसका परिचय पहले दिया गया है।

(३०) **भूपृष्ठ की अति विशिष्ट अद्भुत वस्तुएं**—भवनों की विशिष्टता के विचार से ८ देवहूती का वास-स्थान और पाण्डवों का सभा-भवन निर्माण-कला के

अवर्णनीय आदर्श थे। परन्तु वर्तमान काल में भी अनेक मकान अद्वितीय और आश्चर्यजनक हैं। १ रामेश्वर, भुवनेश्वर, कोणार्क और मदुरा आदि के नगरोपम मन्दिर स्वर्गीय सौन्दर्य से सम्पन्न हैं। रामेश्वर के मन्दिर का दालान ४००० फुट चौड़ा है और कोणार्क का सूर्य-मन्दिर अवश्य ही देवनिर्मित माना गया है। २ कई सौ वर्ष पहले भिलसा (दक्षिण) में एक सर्वोत्कृष्ट मन्दिर था जिसकी ऊँचाई १०५ गज और विस्तार आध कोस का था। वह ९२ करोड़, ७३ लाख, ८२ हजार, ७६५ रुपये के सद्व्यय, से तैयार हुआ था। खेद है, उसको मुहम्मद गौरी ने तुड़वा दिया था। ३ ऐसा ही एक अतिविशाल मन्दिर मथुरा में था जिसको ५०० कारीगरों ने २० करोड़ के खर्च से १०० वर्ष में तैयार किया था। ४ विक्रम संवत् ५०० में तत्कालीन चन्द्रराजा ने इन्द्रप्रस्थ में विश्वविदित 'लौह स्तम्भ' स्थापित किया था उसका संघटन विष्णु के नाम पर हुआ था। उसका निर्माण भारत के बुद्धिमान् कारीगरों ने किया था। उसमें लौहादिक विशुद्ध धातु मिलाये गये थे। वह आठ गज ऊँचा है और डेढ़ हजार वर्ष से आतप, प्रवर्षण, शीताधिक्य और प्रकृति का संघर्षण आदि सहता रहकर भी यथावत् निर्दोष खड़ा है। ५ इसके समीप में कुतुब मीनार नाम का गगनस्पर्शी स्मारक है। इसको राय पिथौरा ने अपनी सूर्यमुखी पुत्री के स्मारणार्थ दिल्ली से १४ मील दक्षिण में संवत् १२०० में बनवाया था। कालान्तर में भूकम्प के आघात से उसके ऊपर का एक खण्ड टूट गया जिसको तत्कालीन सम्राट् कुतुबुद्दीन ने बनवा दिया। इस कारण वह लोक-प्रसिद्धि में कुतुब मीनार विख्यात हुआ। इसकी वर्तमान ऊँचाई २३८ फुट और सीढ़ियाँ ३७९ हैं। इसका प्रथम खण्ड ९५ फुट ऊँचा है और शेष क्रमशः उतरते हुए कम हैं। ६ आगरे का ताजमहल ताजबीबी का स्मारक है। वह सम चौरस १८ फुट ऊँचे और ३१२ फुट लंबे-चौड़े चबूतरे पर बनाया गया है। उसको १० रुपये से ३ हजार रुपये मासिक तक वेतन पानेवाले कई सौ कारीगरों ने ३½ करोड़ के खर्च से २० वर्ष में तैयार का किया था। ७ ऐसे ही आमेर का शीशमहल, सामोद का काचमहल और जयपुर के हवामहल भी देखने योग्य हैं। ८ विलायतों में बोलीविया प्रदेश का 'सैरोड़ी पोटोशी' पर्वत संसार में चाँदी का पहाड़ कहलाता है। उद्यमशील व्यवसायी उसमें से अब तक ४७½ अरब रुपये की चाँदी निकाल चुके हैं और अभी उसका कोई अनुमान नहीं कि आगे कितनी और निकाल लेंगे। ९ जापान में बौद्धधर्मावलंबी 'कोजोदीसी' महात्मा की समाधि के सामने ११ सौ वर्ष से आग जल रही है। १० पम्पिआई नगर की खुदाई में १ पत्र निकला था, वह १७ सौ वर्ष पहले की स्याही से लिखा हुआ था। ११ न्यूयार्क (अमेरिका) की कल्वर्थ बिल्डिंग ७९२ फुट ऊँची है। उसमें २९ लिफ्ट (बिजली की सीढ़ियाँ), १८०० टेलीफोन, ३०,००० आने-जानेवाले, १२ हजार रहनेवाले और ५४ खण्ड हैं। १२ इससे भी अधिक बड़ा एक एम्पायरस्टेट बिल्डिंग है। उसकी ऊँचाई १२४८ फुट है। उसमें १०२ खण्ड, ६३ लिफ्ट, ६,४०० खिड़कियाँ, पर्याप्त डाकखाने और तारघर एवं अस्पताल और ८० हजार मनुष्यों के रहने योग्य कमरे हैं। उसके बनवाने में १६। लाख मन इस्पात (पक्का लोहा) और कई लाख मन ईंट, चूना और पत्थर आदि लगे थे। इसमें सम्पूर्ण खर्च १५ करोड़ हुआ था। १३ संसार में सबसे बड़ा शहर लन्दन है। उसमें लाखों मनुष्य बसते हैं। इसके सिवा स्वर्गीय शोभावाला पेरिस और जयपुर भी अद्वितीय है।

पहला विलायत का और दूसरा भारत का है। १४ स्टेशनों में सोनपुर के रेल्वे स्टेशन का विस्तार २,४१५ फुट में है किन्तु इससे भी अधिक बड़ा न्यूयार्क का स्टेशन है जिसमें ५० प्लेटफार्म हैं। १६ समुद्रों में प्रशान्त महासागर ३५,४६६ फुट गहरा है। फिलीपाइन के समीप का समुद्र ९,७८० मीटर (या ६ मील) गहरा है। १७ चीन की लम्बी दीवार १००० मील लम्बी है। १८ मिस्र के पिरामिड और आस्ट्रेलिया का बाड़ा सबसे बड़े हैं। बाड़े का विस्तार १,१३९ मील का है। १९ ऐसा ही रेगिस्तान का मैदान है जिसकी लंबाई ३५ लाख वर्गमील है। २० औरंगजेब के सफरी डेरे तीन मील के घेरे में फैलते थे। २१ दक्षिण मेक्सिको के डेलत्यूथ स्थान में अमर वृक्ष अनेक हैं। २२ बगदाद में ६ हजार वर्ष पहले के 'दादूशाह' की मूर्ति है। २३ दिल्ली का तख्तताऊस ३½ गज लंबा, २½ गज चौड़ा और ५ गज ऊँचा था। उसमें ३ सीढ़ियाँ, १२ खम्भे और २ मोर थे। उसमें ८६ लाख के नानाविध रत्नों की जड़ाई की गई थी। कुल १० करोड़ रुपये व्यय हुए थे। २४ पीजा (इटली) में ९ खण्ड और २०० फुट की उँचाई का एक टेढ़ा-मकान है। वह गगनस्पर्शी होने पर भी गिरता नहीं है। २५ बीजापुर के गोल गुम्बज का व्यास १४४ फुट है। २६ कोटा राज्य की चम्बल नदी का प्रकृति ने स्वयं निर्माण किया है। वह भूगर्भ के पार्वत्य प्रदेश को कई कोस तक नहर के समान काट कर शांत रूप में प्रवाहित होती है। २७ जयपुर में पहले एक महाकाय लोटा और अति विस्तृत कटोरी थी। लोटे में २०० घड़े जल और कटोरी में २०० मनुष्यों के भर-पेट खाने योग्य खीचड़ी भरी जाती थी। २८ समुद्र के भ्रमरपूर्ण (विपत्तिकारी) जहाजी मार्ग में दो पर्वतों के शिखर पर एक अष्टधातु की पुतली है जिसके नीचे होकर जहाज आते-जाते हैं। २९ संवत् १९४२ में स्वीडेन में एक बार एक डाक का टिकट हरे रंग के बदले पीले कागज पर छप गया था। कालान्तर में मालूम होने पर वह ७५ हजार का हो गया। ३० भारत में किसी समय कोहनूर हीरा सबसे अधिक मान और मूल्य का था और उसने बहुतों का दुर्भाग्य और बहुतों का अभ्युदय किया था। ३१ समुद्र के पदार्थों में मोती, मूँगा, शंख और सीप प्राय: सबके काम में आते हैं। उनमें विद्ध हुए मोती और शेष सब सीप तो होते ही हैं किन्तु उनमें भी कई एक मोती १) रुपया से लेकर शत सहस्रायुत ही नहीं, लाख रुपये मूल्य तक के भी मिल जाते हैं। कहा जाता है कि मयूराण्ड सम मोटे या अंगूर के गुच्छे जैसे गुथे हुए मोती दुर्लभ होते हैं। २ मूँगे में तन्तुसम सूक्ष्म और ईश जैसे मोटे मूँगे भी मिलते हैं जो राजाओं के यहाँ शय्या-निर्माण के काम आते हैं। ३ शङ्ख बाँके टेढ़े, सुडौल-बेडौल, छोटे-बड़े, एकायन-पञ्चायन, वामावर्त, दक्षिणावर्त और विकृत या अद्भुत आकृतिवाले अनेक प्रकार के होते हैं। ४ और सीपों में सुश्वेत के सिवा काली, पीली, हरी, पँचरंगी और चितकबरी एव छोटी-बड़ी और गमले जैसी भी होती हैं। उनमे अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती हैं।

(३१) भूमण्डल के सुप्रसिद्ध देश और वहाँ के व्यवसाय—पवित्रता के विचार से भारत का कुमारिका नाम क्षेत्र सर्वमान्य है। यहाँ के धर्मप्राण हिन्दू अपने आचार-विचार, वेश-भूषा, विद्या, कला और व्यवसायादि में सर्वश्रेष्ठ हैं। इसमें श्रम-

जीवी मनुष्यों के उपयोगी सभी धन्धे हाथ से होने के अधिक हैं और अन्नादि पदार्थ तथा धन-सम्पत्ति और सच्छास्त्रों का अनुभव, अभ्यास या अनुशीलन भी यहाँ अतः-पर होता है। २ जूड़िया (टर्की) पाश्चात्य देशों में पवित्र माना गया है। महात्मा ईसा मसीह उसी में उत्पन्न हुए थे और वहीं वह शूली पर चढ़ाये गये थे। ३ काल्डिया में निमरूद राजा ने बैलील बसाया था और सिकन्दर उसी में मरा था। ४ सर्केशिया नगर में रूपवती स्त्रियाँ अधिक हैं। यहाँ भारत के पञ्जाब में भी वैसी ही हैं। ६ उत्तम जाति के फल-फूल तथा दुशालों के लिए कश्मीर विख्यात है; और गुड़, शक्कर, चीनी, चावल, कपड़े, रेशम, रूई, सोरा और अफीम आदि के लिए बरेली प्रान्त प्रसिद्ध है। ६ चीन में चाह, रेशम, मिसरी, मखमल, कागज, कपूर, हाथीदाँत, बर्तन, मुरब्बे और कच्छप पीठ के लट्टू अधिक होते हैं। ७ फारस में दाख, गालीचे, चमड़ा, अंजीर और घोड़ों का बाहुल्य है। ८ सिंहल द्वीप में आबनूस, हाथीदाँत, दालचीनी, खोपरे का तेल और मोती मिलते हैं। ९ मोलक्का और बयाना में गर्म मसाले, जायफल और मोटी लौंग होती है। १० रूस वर्मा और अमेरिका में मिट्टी का तेल अधिक होता है। ११ अरब में अरबी घोड़े उत्कृष्ट होते हैं। किस देश में कैसी प्रकृति के मनुष्य हैं, इस विचार से १२ भारत में कलकत्ता, बंबई, कानपुर, काशी, प्रयाग, मदरास, लखनऊ, दिल्ली, लाहौर और जयपुर जिस प्रकार देखने योग्य हैं उसी प्रकार विद्या, कला, व्यवसाय और वस्तुनिर्माण में भी नामी हैं। १३ चीन में चतुर, परिश्रमी, धूर्त और डरपोक मनुष्य अधिक हैं। १४ फारस के मनुष्य रसिक और सुख-भोगी होते हैं। १५ तातरी के नर-नारी भ्रमणशील और वन्य हैं। १६ जापानी लोग देशहितैषी, स्वाभिमानी और दृढ़व्रती होते हैं। १७ अँगरेज लोग दूरदर्शी, धैर्यधारी और परमनीतिज्ञ हैं। १८ जर्मनी कल, बल, साहस और मायावी होते हैं। १९ यहूदी अत्यन्त स्वार्थी और लोलुप होते हैं। २० अमेरिका वाले कला-कौशल, सभ्यता और विज्ञान में कुशल तथा सम्पत्तिशाली हैं। धन के विषय में वे कुबेर के वंशज हैं। २१ अरमनी, सिंहली, कश्मीरी, नैपाली, सरकेसियस्थ और जार्जियस्थ मनुष्य शूर, साहसी, सहिष्णु और सुरूप होते हैं।

(३२) **भूगर्भ के खनिज पदार्थ**—'अष्टधातु' १ चीन, भारत, आस्ट्रेलिया, अमेरिका और सुवर्णभद्रा नदी आदि में सोना; २ भारत, यूरोप, अमेरिका और चन्द्रभागा आदि में चाँदी; ३ भारत तथा सुपरिया झील में ताम्बा; ४ (रासायनिक संयोग में) जस्ता; ५ हिंगलू आदि से निकाला हुआ तथा खान से प्राप्त किया हुआ बीजरूप का गोलाकार पारा; ६ खान से निकले हुए, बंग की मिलावट का टीन; ७ गन्धक में मिला हुआ और खान से निकला हुआ नर्म जाति का सीसा और ८ भारत तथा भारतेतर अन्य देशों में निकलनेवाला लौह ये विख्यात (या प्रशस्त) धातु हैं। अन्यत्र की अपेक्षा भारत में लौह की खानें सर्वत्र पाई जाती हैं और विशेषता यह है कि भारत का अपरिष्कृत (मैला-कुचैला या भद्दा) लोहा भी पृथ्वी भर के लोहे की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं श्रेष्ठ होता है। इसके द्वारा बनाये जानेवाले शस्त्रास्त्र आदि के घड़ने में सुविधा मिलती है। इनके सिवा १ करमण्डल उपकूल से उड़ीसा पर्यन्त के समुद्रीय स्थानों में जल को जलाकर

'लवण' तैयार करते हैं। (दाक्षिणात्यों में स्थानीय लवण काम में आता है।) पञ्जाब के पर्वतों में लवण की कई खानें हैं। बंगाल में विलायती और उड़ीसा में देशी लवण काम में आता है। साँभर झील का निर्विकार लवण तो सर्वत्र विख्यात है ही। २ इसके अतिरिक्त सिंध का सैंधव (सेंधा नमक) औषध और उपवास के उपयोगी होता है। ३ बिहार के अन्तर्गत तिरहुत, सहारनपुर, चम्पारन एवं उत्तर प्रदेश के कानपुर, गाजीपुर, प्रयाग और बनारस आदि में प्रतिवर्ष १ लाख ६० हजार मन सोरा उत्पन्न किया जाता है और उसे अमेरिका आदि में भेजते हैं। ४ भारत के अनेक भागों में भवनादि के निर्माण की सामग्री (पिट्टी, कातले, खम्भे, टोड़े, वारणे, आँगन, फर्श, रोड़ी लट्टे और पत्थर आदि) प्राप्त होती है। मकराने में संगमरमर (मकराने का पत्थर काला और सुश्वेत दोनों प्रकार का) मिलता है। इनके अतिरिक्त हींगलू, हिरमच, हरताल और अभ्रक आदि बहुमूल्य वस्तुएँ भी इस देश में बहुत हैं। बंगाल के गिरीडीह और हजारीबाग के समीपी स्थानो में काला और सफेद तथा छोटा और बड़ा अभ्रक बहुत अधिक मात्रा में निकलता है। इसके कई एक विशिष्ट तख्ते १ गज चौड़े और १$\frac{1}{2}$ या १$\frac{1}{2}$ गज लम्बे भी मिलते हैं। इनकी उपलब्धि से खानवाले का भाग्य खुल जाता है और वह थोड़े ही समय में लखपती से करोड़पती हो जाता है। ५ कोटा के समीप मोड़क स्थान में एक प्रकार के साफ-सुथरे और कोरदार कातले निकलते हैं जो छोटे से छोटे और बड़े से बड़े (२० गज तक के भी) ऐसे सद्व्यवस्थ होते हैं जिनमें (एक एक में से भी) एकाधिक दो, चार, छः या दस तक परत खुल जाते हैं और उनसे मनमाना सब सामान सुविधानुसार घड़ा जा सकता है। ६ जयपुर राज्य में माँवड़ा के समीप सफेदी करने का पत्थर बहुत अधिक निकलता है। उससे ५ कोस परे (दक्षिण में) गणेश्वर के समीप लाल, काली और सफेद मिट्टी तो पहले ही से मिलती थी और अब पीली मिट्टी और निकली है जो रंग-रूप और पोताई में बड़ी सुन्दर है। उस मिट्टी से यदि कच्चे घरों की दीवारों पर लिपाई करा दी जाय तो उसकी शोभा और सुन्दरता स्वतः बढ़ जाती है। ७ नर्मदा नदी में नर्मदेश्वर और गल्लकी में शालग्राम की मूर्तियाँ बड़ी विशिष्ट प्राप्त होती हैं। नर्मदेश्वर की कोई कोई मूर्ति बड़ी विलक्षण, भावगर्भित और चित्ताकर्षक होती है जिसकी उपासना करने से उपासक का चित्त स्वतः तल्लीन हो जाता है। ९ कहा जाता है कि नर्मदा के उद्गम स्थान में नीलम और पन्ना आदि बहुमूल्य रत्न प्राप्त होते हैं। ११ दार्जिलिंग से पश्चिम कुमायूँ के मध्यवर्ती हिमालय में ताँबा की कई खानें हैं। १२ पाण्डवों के राजत्वकाल में गौरीशङ्कर शिखर के नीचे मणिमाणिक्य आदि की अनेक खानें थीं। पाण्डवों का सभाभवन बनाने के लिए मय दानव ने उन्हीं खानों से रत्न मँगवाये थे। १३ गोलकुण्डा में किसी समय आदरणीय हीरा मिलता था। मद्रास के गंजाम और नर्मदा के निजाम में भी हीरा था। अब केवल पन्ना राज्य में मिलता है। उसके सिवा १४ भारत, अमेरिका और आफ्रिका आदि में हीरा, पन्ना, चुन्नी, नीलम, लाल आदि प्राप्त होते हैं और किसी किसी महानद या महानदी में भी बहुमूल्य रत्न मिल जाते हैं।*

---

* वर्तमान भारत की कुछ ज्ञातव्य बातें—१ भारत का विस्तार उत्तर से दक्षिण

(३३) **भूगर्भ का कोयला**—भोजन बनाने के लिए इस देश में लकड़ी का कोयला उपयोग में लिया जाता है। इसके गुण, सुविधा और क्रिया सब जानते हैं। अवसर अ ये नारी-कुनारी और अनारी भी दो रोटियाँ कोयलों में सेंक लेते हैं और बंबई आदि में रहनेवाले साधारण मनुष्य तो प्राय: इसी से काम चलाते हैं। १ यह काष्ठ-खण्ड की आतप से परिपाचित किये पीछे की अवशिष्ट अग्नि को दबा देने या बुझा देने से बनता है। और फिर आवश्यक होने पर इसको प्रज्वलित करके अनेक वस्तुएँ बना लेते हैं। इसके सिवा २ लोहार, सुनार, खाती, कसेरे, सद्गृहस्थ और श्रमजीवी मनुष्य नित्य व्यवहार के अनेक काम इसी से करते हैं। किन्तु इन दिनों अकेले इसी देश में नहीं, सर्वत्र ही रेल का कोयला काम में आता है। ३ इञ्जिन आदि (मशीनरी) के द्वारा होने-वाले काम रेल के कोयले से ही होते हैं और रेल, जहाज या स्टीमर आदि इसी से चलते

१००० कोस, पूरब से पश्चिम १२५० कोस और क्षेत्रफल (आधुनिक मत से) २५,००,००० वर्ग-कोस है। भारत की सीमा, खुश्की से लगभग ३००० कोस और जल मार्ग से २५०० कोस थी। गणतन्त्र भारत का क्षेत्रफल १८,६८,०८५ वर्ग-कोस और देशी रियासतों का ३,५५,२५४ वर्ग-कोस है। ४ देशी रियासतें ६०० थी जिनकी जनसंख्या ८,७१,३१,८४५ थी। गणतन्त्र भारत की जन-संख्या १८,००,००,००० से कुछ अधिक थी। ५ रेलवे लाइन सारे भारत में ४८,०२१ मील (या २४,०१०) में है। ६ अन्य प्रान्तों की अपेक्षा आबादी में बंगाल बड़ा है। ७ अन्यत्र की अपेक्षा मदरास में स्त्रियाँ अधिक हैं। इसके विपरीत पंजाब में स्त्रियों की संख्या कम है। ८ यहूदियों में बच्चे अधिक होते हैं। वहाँ की उत्पत्ति प्रत्येक परिवार में अनुमान से ५-६ है। ईसाइयों में कुटुम्ब अधिक होते हैं। प्रति परिवार में औसतन ५ आदमी हैं। ६ बंगाल में विधवा स्त्रियों की संख्या प्रति हजार २२६ है। १० अजमेर-मेरवाड़ा में अन्यत्र की अपेक्षा अन्धे अधिक हैं। प्रत्येक लाख में ३८३ अन्धे हैं। ११ क्षेत्रफल के अनुरोध से सबसे बड़ी रियासत जम्बू (कश्मीर) है। १२ आबादी में दक्षिण हैदराबाद प्रथम श्रेणी का है। १३ सम्पूर्ण भारत में सबसे कम आदमी बिलोचिस्तान में हैं। १४ संवत् १८.१ में सर्वप्रथम अहमदाबाद में म्यूनिसिपैल्टी स्थापित की गई थी। १५ जेकोबाबाद में ठंढी जगह में भी १२५ डिगरी तक गर्मी बढ़ जाती है और वहाँ ठंढ भी इतनी अधिक पड़ती है कि थर्मामीटर का पारा २५ डिगरी तक उतर जाता है। १६ सबसे अधिक वर्षा चेरापूँजी में ५२३ इञ्च और सबसे कम वर्षा ऊपरी सिंध में ३ इञ्च होती है। (इसके सिवा सम्पूर्ण भारत की वर्षा का प्रमाण जलतत्त्व में देखना चाहिए।) १७ समग्र भारत में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या प्रति हजार ६४० है। १८ जन्म और मरण की संख्या भारत के सिवा कहीं भी अधिक नहीं है। १६ भारत में लगभग २५,००० सरकारी डाकखाने हैं। उनमें विक्रम-संवत् १६६३-६४ में सम्पूर्ण चिट्ठियों की संख्या ११ अरब ८० करोड़ ५१ लाख ४७ हजार थी। उसमें ४ करोड़ २६ लाख ११ हजार रजिस्ट्री हुए पत्रादिक, ३३ लाख १८ हजार बीमा किये हुए पत्रादिक और ४ करोड़ ५ लाख ४५ हजार मनिआर्डर थे। २० भारत के सबसे अधिक आबादी-वाले प्रान्तों में विजगापट्टम ४६,०७,६४८ दरभंगा, ३१,३६,०६४, मैमनसिंह ५,१०,३०,२२१, गोरख-पुर ३५,६७,५६६, लाहौर १३,८७,५७०, रत्नागिरि (बंबई) १३,०१,५२७, सिलहट २७,२४,३४२, रायपुर (म० प्र०) १५,२७,५७३ और अक्याब (बर्मा) ६,३७,५८० हैं।

हैं। इसके सिवा कोल गैस, बेंजोल, कोलतार, डामर, गोली कपूर, अमोनिकल (द्रवद्रव्य) और साफ्टकोल आदि भी इससे बनते या बनाये जाते हैं। ४ यहाँ तक कि हलवाई, भड़-भूँजे और इमारतवाले भी अपनी सामग्री को इसी से तैयार करते हैं। ५ यह कोयला आया कहाँ से या हुआ कैसे ? इस विषय में विलायतवालों का वक्तव्य तो यह है कि हजारों वर्ष पहले पृथ्वी के ऊपर अनेक वनखण्ड दबकर गल गये थे। वे अब कोयले के रूप में प्राप्त होते हैं। ६ और भारतीय विद्वान् यह बतलाते हैं कि प्राचीन काल में पृथ्वी पर हजारों यज्ञ हुए थे और उनमें ठोस, पुष्ट एवं दीर्घजीवी यज्ञकाष्ठ में घी, तिल, मेवे और पौष्टिकादि अन्य पदार्थ अपरिमित होमे गये थे अतः यह कोयले उन्हीं अश्वमेधादि के अवशिष्ट हैं। वास्तव में इनके रूप-रंग और बनावट से भी ऐसा ही प्रतीत होता है। (७) रेल का कोयला भूगर्भ से निकाला जाता है। यूरोप, अमेरिका और भारत में इसकी कई खानें हैं। भारत में रानीगंज, गिरीडीह और झरिया आदि में यह प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। (८) इसके लिए हजारों आदमी पृथ्वी के पेट में प्रवेश करके कई सौ फुट नीचे जाकर कोयला निकालते हैं। खुदाई का काम अविच्छिन्न होता रहने से खानों का विस्तार बहुत दूर तक फैल जाता है और उसमें खान के खसक जाने की शंका हो जाती है इसलिए खान के अन्दर हर जगह छत, खम्भे, हौज और सड़क आदि रखते और खोदते हुए आगे बढ़ते हैं और प्रतिवर्ष लाखों मन कोयला निकालते हैं। (९) अधिक नीचे जाने पर खानों में पानी भर जाता है। उसको पाइप के द्वारा बाहर फेंक देते हैं और लोहे की लम्बी जंजीरों में बँधे हुए अगणित ठेलों को कोयलों से भरकर, इञ्जिन के जोर से, पृथ्वी के ऊपर भेजते रहते हैं। (१०) खानों के अन्दर प्रकाश रहने के लिए जगह जगह बिजली की बत्तियों का प्रबन्ध रहता है और माल तथा मनुष्यों को अन्दर ही अन्दर (खान के पेट में) इधर-उधर लाने, ले जाने और कोयला आदि इकट्ठा करने आदि के लिए रेलवे लाइनों पर इञ्जिन दौड़ते रहते हैं, अतः खान क्या हैं, मानो वे पृथ्वी के पेट में काम करनेवालों के गाँव, कस्बे या बस्तियाँ बसी हुई हैं।

(३४) पृथ्वी के पेट में तेल के समुद्र—(१) वर्तमान की अपेक्षा भूतकाल में केवल इसी देश में नहीं सर्वत्र ही तिल, काकड़े, खोपरा और एरण्ड के या विशेष कर तिलों के तेल का प्रकाश प्रधान था और वह देश धन, स्वास्थ्य और नेत्रज्योति आदि के लिए हितकारी था। (२) अब कतिपय देव-मन्दिरों के अतिरिक्त सर्वत्र ही मिट्टी के तेल का प्राधान्य है और बिजली की रोशनी तो अब सर्वप्रिय हो ही गई है। (३) मिट्टी का तेल भूगर्भ की मिट्टी से निकलता है। उसके समीप ही गैस रहती है और उसको स्वच्छ करने में घास का उपयोग किया जाता है। अतः ऐसे संयोग के होने से इसको मिट्टी का तेल, गैस का तेल और घासलेट का तेल कहते हैं। (४) इसको प्रकट करने-वाले रूस के बाकू नगर में दो बाप-बेटे थे। बाप का नाम था एमुएल नोबिल और बेटे का लडविग नोबिल। ये जाति के तेली किन्तु प्रतिष्ठा में राजा थे। उन्होंने अपने शहर से ४ कोस के अन्तर पर भूगर्भ में से मिट्टी का तेल निकालने का प्रयत्न किया। (५) इस काम के लिए सर्वप्रथम तेल देनेवाली भूमि का निरीक्षण और

परीक्षण करने के पश्चात् १० इंच की मोटाई का फौलादी बर्मा और उसको भूगर्भ में गाड़ने के ६०-६० फुट लम्बे काठ के डंडे बनवाये जो साफ-सुथरे, मजबूत और गोल थे (६) जिस जगह तेल के निकल आने की संभावना थी उस जगह ८० फुट लम्बी और ऊपर से ३ तथा नीचे से २० फुट मोटी पाढ़ खड़ी करके उपरोक्त बर्मा से पृथ्वी के पेट में छेद किया। वह छेद दीखने में एक प्रकार का बिल या सूक्ष्म कुँआ था। (७) उसमें ६० फुट नीचे और अन्यत्र कई जगह सौ, दो सौ या पाँच सौ फुट नीचे भी तेल मालूम हुआ। जिस समय उक्त बर्मा तेल के समीप गया उस समय कुएँ में से गैस का शब्द और तेल की सरसराहट सुनाई दी। थोड़ी देर पीछे उसमें से तेल की वेगवती धारा ऊपर आ गई और वह भूमि से दो सौ फुट ऊंचे तक बहने लगी। (८) वह उपरोक्त छेद के समीप १० इञ्च और दो सौ फुट की उँचाई पर ३० फुट चौड़ी बह रही थी। देखते देखते निकलनेवाले तेल की नदी बह चली और उससे उपरोक्त तेली राजा के ४ तालाब तेल से भर गये। (९) उस तेल को साफ करने के लिए समीपवाले गाँव में प्रबन्ध था। अतः उसके धुआँ से सारा गाँव काला हो गया और इस कारण उस गाँव का नाम भी 'काला गाँव' प्रसिद्ध हुआ। यहाँ तक कि उस गाँव के घर, द्वार, मकान और मनुष्य सब काले हो गये थे। (१०) इसके पीछे तेली राजा ने वहाँ चार सौ कुएँ अपने निज के बनवा लिये थे जिनसे प्रतिदिन एक हजार मन से ढाई हजार मन तक तेल निकलता था और उससे ७५ हजार रुपये प्रतिदिन आय होती थी। (११) तेली राजा ने अपना तेल बाहर भेजने के लिए एक स्टीमर बनवाया था जिसमें १९ हजार ६ सौ मन तेल भरा जाता था। (१२) अमेरिका में वैसे कुएं २५ हजार हो गये थे किन्तु उनकी आय तेली राजा के ४ सौ कुओं से अधिक नहीं थी। अस्तु, उपरोक्त बर्मा हाथ से, मशीन से और इञ्जिन से भी यथासामर्थ्य तीनों प्रकार से आरोपित किया जाता है और निकले हुए तेल को साफ करके उत्तम श्रेणी का 'पेट्रोल', मध्यम श्रेणी का 'सफेद तेल' और निकृष्ट श्रेणी का 'लाल तेल' तैयार हो जाता है। (१३) तेल के मैल से 'बेनजोल' बनता है। बेनजोल से 'वेसलीन' तथा लाल और नीला रंग बनाया जाता है। (१४) रूस, जर्मनी, अमेरिका और बर्मा आदि के तेल देनेवाले कुओं में कइयों में लाखों मन और कइयों में करोड़ों मन तेल और उसके व्यवसाय में अरबों-खरबों से भी अधिक धन प्राप्त हुआ है और होता रहता है। ऐसी अवस्था में ऐसा कौन हिसाबी होगा जो पृथ्वी से प्राप्त हुए और होनेवाले सभी पदार्थों के धन-लाभ का यथार्थ हिसाब लगा सके।

(३५) **भूकम्प**—जिससे पृथ्वी कम्पित हो जाती है उसमें भूमण्डल का कोई एक अंश या अंग हिल जाता है, उसके कारण पक्षीगण डर जाते या उड़ जाते हैं और उसके हलके, भारी या भीषण शब्द से तद्देशीय प्राणियों और पदार्थों का न्यूनाधिक सर्वनाश हो जाता है। २ इस विषय का परिचय देने के पहले यह मालूम करा देना अच्छा है कि पृथ्वी के आन्तरीय अंगों में किस किस प्रकार के पदार्थ भरे हुए हैं। उनका यत्किञ्चित् दिग्दर्शन हो जाने से सहज ही मालूम हो जायगा

कि भूकम्प क्या है और क्यों होता है। ३ जगन्नियन्ता ने पञ्चमहाभूतों के नियत करने में अपनी सर्वोत्कृष्ट सत्ता, महत्ता या प्रवीणता को पूर्णतया प्रकट किया है। ४ पञ्च महाभूतों में केवल एक पृथ्वी को ही देखा जाय तो असीम आश्चर्य से चकित होना पड़ता है। ५ तत्त्व के जाननेवालों ने अनुमान और अनुसन्धान से ज्ञात किया है कि पृथ्वी के चारों ओर ऊपर का वेष्टन (बेठन) जो (वृक्षों की त्वचा या पशुओं के चर्म के समान) लगा हुआ है वह कई कोस के विस्तार जितना मोटा और टाँकियों से भी तोड़ा न जा सके ऐसा कठोर है। ६ उसको ऊपर से काटते (या खोदते) हुए नीचे जाने में यथाक्रम कठोर आता जायगा (अर्थात् ठोसपना बढ़ता जायगा)। यह अनुमान कुआँ खोदते समय प्रत्यक्ष देखने में आ जाता है। ७ एक बार कलकत्ते में कई एक विज्ञानियों ने दो हजार फुट गहरा कुआँ खुदवाकर उसके प्रत्येक परत की आकृति और प्राप्त पदार्थों का पता लगाया था। तब उन्हें ज्ञात हुआ था कि आगे की कठोरता क्रमशः अधिक है। ८ पृथ्वी के अन्तस्तल में (ऊपर से नीचे को) रेत, मिट्टी, मोरीड़ा, कंकरीट, जल, पवन, आकाश, तेल, कोयले, लोहा, अभ्रक, पत्थर, संगमरमर, स्फटिकशिला, स्फोटकपदार्थ, (भक से उड़ जाने, भभक जाने या घनगर्जन समान शब्द करनेवाले मसाले) गैस, पेट्रोल, राल, गंधक, अग्नि और जठराग्नि आदि अनेक प्रकार के वस्तुपदार्थ अमित मात्रा में भरे हुए हैं। ९ उनमें द्रव पदार्थों के समुद्र, कठोर पदार्थों के पर्वत, स्फोटक पदार्थों के ढेर और ज्वलनशील पदार्थों के देश भरे हुए हैं। अतः इस प्रकार की महत्सुमहती भूमि के गर्भ में कुयोगवश कभी कुछ गड़बड़ या उत्पात हो जाय तो वह पृथ्वी के सामने तो गौ के पृष्ठ पर बैठे हुए मच्छर के हिलने के समान है किन्तु हमारे लिए तो चींटी पर पन्सेरी डालने के आघात से भी अधिक हो जाता है।

(३६) **भूकम्प होते क्यों हैं?** इस विषय में पुराणाचार्यों[१] का यह मत है कि १ पृथ्वी पर धर्मानुराग के घट जाने, पापाचार के बढ़ जाने, दिग्गजों के विश्राम लेने, समुद्र के महाप्राणियों के हिल जाने, पवन से पवन के भिड़ जाने, सद्भविष्य के अन्तर्गत असद्भविष्य के आ जाने, शेष जी का शिरोभाग हिल जाने, अथवा लोकप्रसिद्ध एकशृंग वृषभ के भाराक्रान्त हो जाने से भूकम्प होता है। २ वराहमिहिराचार्य[२] के मतानुसार वायु, अग्नि, इन्द्र और वरुण ये चारों अहोरात्र के प्रथम आदि प्रहरों में पृथ्वी को यथाक्रम कम्पित करते हैं, उसी से भूकम्प होता है। ३ इन चारों में 'वायुजनित' भूकम्प होने के पहले आकाश में धुआँ फैल जाता है, पृथ्वी पर प्रचण्ड पवन चलने लग जाता है जिससे धूल उड़ती और वृक्ष उखड़ जाते हैं। और सूर्य का प्रकाश कम हो जाता है। ऐसी स्थिति होने के उपरान्त भूकम्प होता है। ४ इस भूकम्प से देश का धन-धान्य, जल और वनौषधियाँ नष्ट हो जाती हैं। बलवान् मनुष्य और सुन्दर पुरुष हीन हो जाते हैं

---

(१) 'क्षितिकम्पमाहुरेके बृहदन्तर्जलनिवासि सत्वकृतम्। भूभारखिलदिग्गजविश्रामसमुद्भवं चान्ये।' 'अनिलोनिलेन निहतः क्षितौ पतन् सास्वनं करोत्येके।' 'केचित्त्वदृष्टकारितामिदमन्ये प्राहुराचार्याः।' (वाराही संहिता) (२) 'क्षित्वनिलदहनसुरपतिवरुणाः सदसत्फलान् बोधार्थभू—प्रागद्वित्रिचतुर्थभागेषु दिन, निशोः कम्पयिष्यन्ति।' (वराह मिहिराचार्य)

और मत्स्य, मगध, सौराष्ट्र एवं कुरु देश के शिल्प, व्यापारी और संगीतवाले नष्ट हो जाते हैं। इसका फल दो महीने में होता है। उत्तराफाल्गुनी, ह०, चि०, स्वा० रे०, मृ० और अश्विनी ये वायु के नक्षत्र हैं। ५ अग्निजनित भूकम्प होने के ७ दिन पहले से आकाश में उल्कापात और दिग्दाह होता है। सप्तविशाख पवन का अग्नि के साथ सहयोग रहता है। ६ इस भूकम्प से वर्षा की कमी, जल की कमी, राजाओं में वैर, दाद, खाज और फुन्सियों की बीमारी होती है। अंग, वंग, बाल्हीक, कलिंग और द्रविड़ देश के शबर (भील) गणों की हीनता होती है। इस मण्डल के पुष्य, कृ०, वि०, भ०, म० और भाग्य ये नक्षत्र हैं। इसका फल तत्काल या १॥ मास में होता है। ७ इन्द्रजनित भूकम्प होने के पहले उड़ते हुए पर्वतों जैसे विद्युत्प्रयुक्त बादलों से वर्षा होती है। उनमें वनभैंस और भ्रमर या सर्पाकृतिवाले बादल होते हैं और घनगर्जन करते हैं। ८ इस भूकम्प से नदी और समुद्र-तटवर्ती बस्तियाँ, राजाओं, महन्तों और गणाधिपों की हानि होती है। अतिसार, गलग्रह, मुखरोग और वमन के विकार होते हैं। काशी, युगंधर, पौरव, किरात, कीर, अभिसार, हल, मुद्र, अर्बुद, सुवास्तु और मालवा में पीड़ा होती है। ९ और वरुणजनित भूकम्प होने के अवसर में नीलकमल, भ्रमर और कज्जल-तुल्य प्रतिभावान् बादल और प्रकाशमान् बिजली के साथ मधुर और सुखद शब्दवाली वर्षा होती है। इस भूकम्प से नदी-तट और समुद्र के समीप रहनेवालों की हानि होती है। और गोनर्द, कुक्कुर, किरात, विदेह और चेदिवालों का क्षय होता है। १० पवनमण्डल के भूकम्प का प्रभाव दो सौ योजन (आठ सौ कोस), अग्निमण्डल के भूकम्प का प्रभाव ११० योजन (४४० कोस) तक, इन्द्रमण्डल के भूकम्प का प्रभाव ६०-७० योजन (२४०-२८० कोस) तक, वारुणमण्डल के भूकम्प का प्रभाव १८० योजन (७२० कोस) तक होता है। इनका फल २ मास, १॥ मास, ७ दिन और तत्काल यथाक्रम मिलता है। ११ अद्भुत सागर[1] के अनुसार मेष और वृश्चिक राशि को क्रूर या पापग्रह ग्रसें तो दिग्गज, धन, मीन, कर्क और वृष को ग्रसें तो कच्छप और तुला, कुम्भ, सिंह, मिथुन, कन्या तथा मकर को ग्रसें तो पन्नग चलते हैं और इनके चलने से भूकम्प होता है। इनमें कच्छप[2] और पन्नग जनित-भूकम्प का नेष्टफल और गज-जनित का अच्छा फल होता है। १२ पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार पृथ्वी के अन्तस्तलों में जो भक से उड़ जानेवाले और पहाड़ों तक को फोड़कर उड़ा देनेवाले पदार्थों के भण्डार किसी कारण जल उठें या १३ ज्वालामुखी पर्वतों के आग उगलनेवाले स्रोत (या मुख) किसी कारण बंद हो जायँ या १४ सहसा जलनेवाले तेल, कोयले और पेट्रोल जैसे दहनशील पदार्थों में अकस्मात् ही अग्नि का उत्पात हो उठे या १५ भूगर्भ की प्रकृति के अंग-प्रत्यंगों में विकृति हो

---

(१) मेषे वृश्चिकभे गजः प्रचलति व्यासादिभिः कथ्यते चापे मीनकुलीरभे च वृषभे सत्यं चलेत्कच्छपः। जूके कुन्तधरे मृगेन्द्रमिथुने कन्यामृगे पन्नगस्तेषामेकतमो यदि प्रचलति क्षोणी तदा कम्पते। (अद्भुतसागर) (२) कच्छपे मरणं ज्ञेयं मरणं चापि पन्नगे। सर्वत्र सुखदं चैव पृथिव्या चलिते गजे। (ज्योतिषतत्त्वं)

जाय या १६ पृथ्वी के चारों ओर का भारी वेष्टन किसी कारण कहीं से चटख जाय या उसमें अस्वाभाविक दरारें हो जायँ और उनके द्वारा भूगर्भ की जलपूर्ण नसों का अपरिमित जल अन्दर के आकाश (पोले स्थान) में भरकर रुक जाय और उस अंग में किसी प्रकार की गड़बड़ (या खलबली) मच जाय अथवा १७ आन्तरीय अवयवों की स्वाभाविक क्रिया बिगड़ जाय तो इन सब कारणों में किसी भी एक से भूकम्प हो सकता है और कारण के अनुसार उसका न्यूनाधिक प्रभाव सर्वत्र ही होता है।

(३७) **भूमण्डल के गत भूकम्प**—भूगर्भ के ज्ञाताओं का कथन है कि वर्ष भर में १०-१२ भूकम्प सदैव होते हैं। एक इतिहासज्ञ ने लिखा है कि ४२ वर्ष में १६२ नामी भूकम्प हुए थे। दूसरे ने हजार वर्ष के अन्तर्गत १११ भीषण भूकम्प होना बतलाया था। विक्रम संवत् ३४२ में जापान के उपसमीपी निफोन द्वीप में अद्भुत और असाधारण भूकम्प हुआ था। उससे वहाँ का एक ही रात्रि में ७२ मील लंबा और १२ मील चौड़ा स्थल-विभाग झील बन गया था। ३ संवत् ७०१ में खुरासान में जो भूकम्प हुआ उसके पहले स्थानीय आकाश का वर्ण विशेष भाव का हो गया था। हवा बड़े वेग से चली थी और प्रचण्ड वायु के बवंडर आये थे। उस भीषण भूकम्प से पारस, सीरिया, मेसोपोटामिया, इजिप्ट, तुर्किस्तान और इराक ये सब दुर्दशा बन गये थे। ४ संवत् ७५७ में कई स्थानों में भयंकर भूकम्प हुआ था। ५ संवत् ९५० में भारत में एक भारी भूकम्प हुआ था। उससे २ लाख मनुष्य काल के गाल में चले गये थे। ६ संवत् १०९७ में पारस में और संवत् ११९६ में गब्रिजन में जो भूकम्प हुए उनमें यथाक्रम ५० हजार और १० हजार मनुष्य मरे थे। ७ संवत् १५५७ में काबुल में जो भूकम्प हुआ उससे उस देश का सर्वनाश हो गया था। ८ संवत् १६५९ में दूसरा भूकम्प हुआ। वह काबुल से अधिक अनिष्टकारी था। उससे जापान का सर्वनाश हो गया था। ९ संवत् १७४३ में जापान में फिर भूकम्प हुआ। उससे सारा जापान हिल गया था और शाकजा से मियाको तक की भूमि ४० दिन तक कंपित होती रही थी। १० संवत् १७६७ में फिलिपाइन में दीर्घसूत्र भूकम्प हुआ था। उससे वहाँ के अग्निगर्भ पर्वत आग उगलते थे और साथ में खौलता हुआ जल और भाड़ जैसी बालू भी निकली थी। ११ संवत् १७६० में जापान में तीसरा भूकम्प और हुआ था। उससे २ लाख आदमी मरे थे। १२ संवत् १७८८ के भूकम्प से चीन की प्रसिद्ध राजधानी पेकिन शहर के एक लाख मनुष्य मर गये थे। १३ संवत् १७९४ में शरद् ऋतु के भूकम्प से भारत में गंगासागर से लेकर गंगा के अन्तर्वर्ती ९० कोस की बस्तियों का नाश हो गया था। और तो क्या, अकेले कलकत्ता में २० हजार और उसके उपसमीप में ३ लाख मनुष्य मरे थे। हवड़ा पुल के समीपी स्थानों में गंगा का जल ४० फुट ऊँचा चढ़ गया था, जहाज और नावें रुक गई थीं और चेटुआ द्वीप १२ से १७ फुट तक ऊँचा हो गया था। १४ संवत् १८०७ के भूकम्प से लिसबन शहर सिर्फ ६ मिनट में धूल में मिल गया था और उसके ६० हजार मनुष्य तत्क्षण मर गये थे। १५ संवत् १८११ में पुर्तगाल काल के गाल में गया था। १६ संवत् १८१९ के भूकम्प से भारत के बर्दवान की नदी सूख गइ थी। चटगाँव में जल और गंधयुक्त कीचड़ निकल आया था। समुद्र के समीपी बड़-

छेरा ग्राम तो प्रायः सभी जीव-जन्तुओं सहित भूगर्भ में धँस गया था; और उसी समय रामड़ी, रेगुयान और चेदुआ द्वीप के आग्नेयी अंश ऊँचे हो गये थे। १७ सं० १८९८ के भूकम्प से निम्नवंग के सुंदरवन असुन्दर हो गये थे। १८७६ में दक्षिण-पश्चिम भारत में और संवत् १९५३ में पूर्व भारत में बड़ा भीषण भूकम्प हुआ था। उसका केन्द्र कच्छ था। उस समय कच्छ की राजधानी भुज तीन मिनट के कम्पन से समतल हो गया था और उससे दो-ढाई हजार मनुष्य मर गये थे। १९ सं० १९५९ के भूकम्प से बंगाल, आसाम, ढाका, कलकत्ता, राजशाही, दिनाजपुर और गंगपुर के बड़े बड़े महल और मकान धराशायी हो गये थे। रंगपुर की भूमि में से जल, भाप और कीचड़ निकल आया था। उस देश की कई एक नदियाँ उलटी बहने लगी थीं। २० और संवत् १९६० के भूकम्प से पारस के अब्बास बंदर में अनेक घरों के पशु-पक्षी और मनुष्य मर गये थे। २१ इनके अतिरिक्त संवत् १९८० में जापान में भारी भूकम्प हुआ था। उससे वहाँ के २,७६,५४० मनुष्य हताहत हुए थे। उनमें १ लाख मरे; ४३,४७६ दबे और शेष १,३३,०६४ घायल हुए थे। इससे १० हजार वर्ष पहले के भूकम्प से जिबराल्टर टापू अपने ३ करोड़ मनुष्यों को लेकर समुद्र में डूब गया था। इसके अतिरिक्त संवत् १८४० के केलेब्रिया में ३ लाख, १९१४ में नेपल्स में १,२३,००० संवत् १९५३ में जापान में २९,०००, संवत् १९६२ में २०,०००, संवत् १९६५ में मेलिना में १ लाख, संवत् १९७२ में मध्य इटली में २० हजार, संवत् १९७७ में चीन में १ लाख, संवत् १९८० में जापान में १,४२,००० और संवत् १९९० में भारत में जो भारी भूकम्प हुआ उससे क्वेटा आदि में अगणित मनुष्य मरे थे और कई स्थान, मकान, नगर या उद्यान धराशायी हो गये थे। ईश्वर ऐसे अनिष्टकारी अति-भीषण भूकम्पों से भारतवर्ष की सदैव रक्षा करें।

(३८) **भूकम्प का महाबल**—ऊपर के वर्णन से विदित हो सकता है कि भीषण भूकम्प में कितना भारी बल होता है। वह क्षण-मात्र में सौ-सौ, ५०-५० कोस दूर तक के देश, गाँव, नदी, पर्वत, वन और पुल आदि का सर्वनाश कर देता है। २ राज-धानियों के भारी से भारी किले सहसा तहस-नहस हो जाते हैं। बड़े-बड़े महल, मकान और अट्टालिका आदि टूट-फूटकर काँच की तरह बिखर जाते हैं। ३ रेलवे लाइन की फौलादी पटरियाँ कोसों तक उखड़ जाती हैं और सूखी घास की भाँति टूट जाती या त्रिबंक हो जाती है। ४ नदी आदि के हजारों मन वजनवाले भारी से भारी, महाकाय खम्भों या लट्ठोंवाले पुल छिले हुए सरकण्डे के खिलौने की तरह कुड़मुड़ कर ढेर हो जाते हैं। ५ किसी भी भारी भार को हजारों आदमी मिलकर भी उठा नहीं सकते। वह भूकम्प के एक ही धक्के से क्षण भर में कागज के टुकड़े की भाँति उठ जाता या उड़ जाता है। ६ किसी भी भूभाग के कई मील लंबे जलाशयों को क्षण भर में रीते करके मैदान बना देता है अथवा सैकड़ों कोस के लंबे-चौड़े मैदान को समुद्र के समान सरोवर (झील) कर देता है। ७ कहाँ तक बतलाया जाय, भूभ्रमण मात्र में असम्भव को सम्भव या असाध्य को साध्य बनाकर अपने अपरिमित पुरुषार्थ को स्मरणार्थ छोड़ जाता है।

(३९) **पशु-पक्षियों को भूकम्प होने का भविष्य-ज्ञान**—भगवान् ने

यथायोग्य ज्ञान सबको दिया है, विशेषकर भविष्य ज्ञान की मात्रा मनुष्यों के बदले पशु-पक्षियों में अधिक होती है। २ किसी भी वन, बाग, बगीचे या स्थानादि में जिस जगह पशु-पक्षी रहते हों उस जगह निकट भविष्य में (थोड़े दिन पीछे) यदि किसी प्रकार की विनाश-कारी आपत्ति आनेवाली हो तो उसका वहाँ के पशु-पक्षियों को पहले ही ज्ञान हो जाता है और होनेवाले विनाश के विचार से वे बड़े चिन्तित और करुणाप्रयुक्त होकर अनिष्ट आने के पहले ही उस देश का त्याग करके अन्यत्र चले जाते हैं। इसकी प्रतीति के लिए यहाँ एक सत्य घटना का वृत्तान्त दिया जाता है। ३ अमेरिका के समीप अतलान्तक महासागर के सामने द्वीपपुञ्ज के आस-पास कई एक ज्वालामुखी पर्वत हैं। उनमें मोंट पीरी सबसे बड़ा है। उसकी ऊँचाई ४,४३० फुट है। जिस समय कोलम्बस (फ्रान्स का गवर्नर) वहाँ गया उस समय मोंट पीरी ने अपना विकराल रूप धारण किया था। ४ उसमें उसका देश-भक्षी मुख खुल गया और उसमें से भीषण शब्द होता रहने के साथ ही राख, पत्थर, कोयले, विषैला धुआँ और पिघले हुए धातु आदि की अविच्छिन्न वर्षा होने लगी। ५ कोई बीस मिनट के भीतर ही मोंट पीरी के ३० हजार मनुष्य मर गये, सारा देश भस्म हो गया और फ्रांस का गवर्नर (कोलम्बस) तथा अमेरिका के बड़े-बड़े अफसर समाधिस्थ हो गये—परलोक पधार गये। ६ इस घटना के एक महीना पहले ही मोंट पीरी के ग्रामवासी और वनवासी प्रायः सभी पशु-पक्षी करुणापूर्ण आकृति के हो गये थे और मोंट पीरी का त्याग करके अन्यत्र चले गये थे। ७ भगवान् की बड़ी विचित्र लीला है। जिस बात को विज्ञान के धुरन्धर विद्वान् नहीं जान सकते उसको मूक पशु और पक्षी स्वभावतः जान लेते हैं और उसके उपयुक्त विधि-विधान या प्रयत्न स्वतः कर लेते हैं।

(४०) **परिशिष्ट (पृथ्वी का महत्त्व)**—स्मरण रहे कि संसार में जनयित्री (जन्म देनेवाली), धरित्री (धारण रखनेवाली) और गौ (पोषण करनेवाली) ये तीन माता हैं। इन तीनों से संसार का अमिट उपकार होता है, इसी लिए जनश्रुति में इनको माता, गोमाता और धरित्री (धरती) माता कहते हैं। प्रसंगवश यहाँ पृथ्वी का महत्त्व सूचित करना संगत प्रतीत होता है। १ क्षमा की दृष्टि से वास्तव में पृथ्वी का महत्त्व सर्वमान्य है। शुक्र, मूत्र, पुरीषादि के द्वारा जो कुछ अशिष्ट आचरण किये जाते हैं—उनके लिए पृथ्वी केवल क्षमा ही नहीं करती किन्तु प्रत्येक प्रकार के अपद्रव्यों को मिट्टी बनाकर अपने में मिला लेती है। यदि वे अपने स्वरूप में पड़े रह जायँ तो जनता में अनेक प्रकार की व्याधियाँ बढ़ जायँ और स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़े। २ आर्थिक दृष्टि से संसार को अन्न, धन, वस्त्र, आभूषण, अस्त्र-शस्त्र और आश्रय आदि जो कुछ आवश्यक होते हैं, सब पृथ्वी से ही प्राप्त किये जाते हैं। इसके सिवा अन्यत्र से तो केवल जल आता है, सो भी पृथ्वी से लेकर पृथ्वी को ही दिया जाता है। ३ पार-मार्थिक दृष्टि से दस बीघा भूमि के द्वारा खेती-बारी, घास-फूस, बाग-बगीचे और वृक्षादि से द्रव्योपार्जन होते रहने के सिवा भी भूख-प्यासे अनेक जीवों की क्षुधा-तृषा और व्यवहार-साधनादि सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहने से भारी उपकार होता है। ४ आरोग्यता की दृष्टि से प्रत्येक प्रकार के रोग दूर करने में पृथ्वी ही मूलभूत है।

इसके ऊपर प्राय: सभी प्रकार की जड़ी-बूटी, धातु, उपधातु और वनौषधि आदि उत्पन्न होती हैं और उनके द्वारा संसार के सम्पूर्ण रोग-दोष दूर होने के सिवा रोगादि को दूर करनेवाले वैद्य. हकीम और डाक्टर आदि उन औषधियों से असीम लाभ उठाते हैं। यदि औषधियाँ उत्पन्न ही न हों तो रोगी और रोगों को दूर करनेवालों की बड़ी हानि हो। ५ और धार्मिक दृष्टि से तो अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन सबके प्राप्त कराने में पृथ्वी ही कल्पवृक्ष या कामधेनु है। इसी लिए ऋग्, यजुः, साम और अथर्व में या भागवतादि पुराणों में और मनु आदि स्मृतियों में भूमिदान का अनन्त और अमिट फल बतलाया है।

(४१) **पृथ्वी-पूजाविधि**—शुद्धदेशे मृण्मयपीठं निर्माय तदुपरि रक्त-वस्त्रमाच्छाद्य मध्ये अक्षतपुञ्जोपरि शास्त्रोक्तविधिना कलशं संस्थाप्य तस्योपरि अक्षतादिना अष्टदलं कृत्वा तदुपरि सुवर्णनिर्मितां सुस्वरूपां गौरवर्णां श्वेतवस्त्रविभूषितां कूर्मपृष्ठोपरि संस्थितां चतुर्भुजां शङ्खपद्मशूलाभयधरां स्त्रीरूपिणीं भूमिं संस्थाप्य 'अपवित्रः पवित्रेति०' आत्मानं जलेना भिषिञ्च्य दक्षिणहस्ते जलफल-गन्ध-पुष्पाक्षतान्यादाय संकल्पं कुर्यात्। तद्यथा ॐ तत्सदद्येत्यादि अमुकगोत्रो अमुकशर्मा (वर्मा गुप्त दासो वा) मम अमुक कर्म अविघ्नसिद्धिकामनया यथालब्धोपचारैः पृथ्वीपूजनमहं करिष्ये। तत्रादौ गणपतिपूजनपूर्वकधराध्यानं कुर्यात्। आगच्छ देवि कल्याणि वसुधे लोकधारिणि। पृथिवि ब्रह्मदत्तासि काश्यपेनाभिवन्दिता। उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना दंष्ट्राग्रैर्लीलया देवि यज्ञार्थे प्रणमाम्यहम्। रत्नाकरे विष्णुना त्वं धृता वाराहधारिणी। आगच्छ वरदे देवि गृहेऽस्मिन् शुभदायिनी। आवाहयामि तां देवि धरित्री लोकधारिणी। जंबूद्वीपं तथा प्लक्षं शाल्मलं च कुशं तथा। क्रौंचद्वीपं तथा शाकं पुष्करं चेति सप्तमम्। सप्तद्वीपावती पृथ्वी सशैलवनकानना। आगच्छ पृथिवी देवि यज्ञेऽस्मिन्सन्निधा भव। (एवं मेरुकर्णिकाशोभितां शैलवननदी समायुक्तां सागरपरिवेष्टितां भूमिं ध्यात्वा) 'ॐ महीद्यौः पृथिवी च न ऽइमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पिपृतान्नो भरीमभिः।' (इति मंत्रं पठित्वा पृथिवीं पूजयेत्) 'ॐ भूर्भुवः स्वः १ भूम्यै नमः, २ धरायै नमः, ३ पृथिव्यै नमः, ४ प्रियंवदायै नमः, ॐ विष्णुधारिण्यै नमः। आवाहयामि, स्थापयामि, आसनार्थे अक्षतानि समर्पयामि। पादयोः पाद्यं समर्पयामि, अर्घ्यं, आचमनीयं, स्नानं समर्पयामि, वस्त्रं समर्पयामि, गन्ध समर्पयामि, अक्षताः समर्पयामि, पुष्पाणि समर्पयामि, धूपं आघ्रापयामि, दीपं दर्शयामि, नैवेद्यं निवेदयामि, मध्ये जलपानीयं, नैवेद्यान्ते आचमनीयं, मुखशुद्ध्यर्थे फलं तांबूलं दक्षिणां प्रदक्षिणां समर्पयामि। (एवं पूर्वे इन्द्राय नमः, आग्नेय्यां, अग्नये नमः, दक्षिणे यमाय नमः, नैर्ऋत्यां निर्ऋतये नमः, पश्चिमे वरुणाय नमः, वायव्यां वायवे नमः, उत्तरे कुबेराय नमः, ऐशान्यां शङ्कराय नमः, पूर्वेशानयोर्मध्ये ब्राह्मणे नमः, नैर्ऋतपश्चिमयोर्मध्ये अनन्ताय नमः, इति नाममंत्रेण सर्वाह्निकपालान् सम्पूज्य) आरार्तिकां कुर्यात्। ततः पुष्पादीन्यादाय 'उपचारमिदं तुभ्यं ददामिपरमेश्वरि। भक्त्या गृहाण देवेशि त्वामहं शरणं गतः। इत्युच्चार्य पुष्पाञ्जलिं दद्यात्। ततो 'विष्णुशक्तिसमुत्पन्ने शंखवर्णे महीतले। अनेकरत्नसम्भूते भूमि देवि नमोस्तुते।' इति प्रणम्य ततो अर्घ्यपात्रमादाय 'वसुधे पूजितासि त्वं विष्णुना

शङ्करस्य च । पार्वत्या चैव गायत्र्या स्कन्दाय श्रवणादिभिः । इन्द्राद्यैः पूजितासि त्वं धर्मस्य विजिगीषया । सौभाग्यं देहि पुत्रांश्च धनधान्यशुभामतिः । गृहाणार्घ्यं इमं देवि कर्म-सिद्धिः प्रयच्छ मे' । इत्युच्चार्य अर्घ्यं दद्यात् । ततः एकस्मिन् पात्रे पायसापूपसक्तुशर्करादीन् गृहीत्वा धरित्र्या सम्मुखे (पीठसमीपे वा धृत्वा) मंत्रमुच्चार्य ॐ नन्दे नन्दय वाशिष्ठे वसुधे पूजया सहा । जय भार्गवदा पादे प्रजानां जयमावह । पूर्णे गिरीशदापादे पूर्णकामे कुरुष्वमे । भद्रं काश्यपिदापादे कुरु भद्रमतिं मम' । इत्यनेन बलिं दद्यात् । ततः 'ॐ कूर्माय नमः' इति मन्त्रेण कूर्मं सम्पूज्य । 'मत्स्यकूर्मगृहे वासः सर्वसिद्धिर्लभेन्नरः । जलमध्ये विना भूमिं तद्वासः शुभदायकः' इति स्मृत्वा 'ॐ तन्मित्रस्य करुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुतेद्योरुपस्थे । अनन्तमस्य द्रुसदस्यपजः कृष्णमन्यद्धरितः सम्भरन्ति ।' इति पठित्वा 'ॐ अनन्ताय नमः' इति नाममन्त्रेण अनन्तं पूजयेत् । (इति पृथ्वीपूजाविधिः)

(४२) **विशेष विनय**—पञ्च महाभूत के विषय में यत्र तत्र जो कुछ वर्णन मिलता है उससे सर्वसाधारण का एतद्विषयक ज्ञान पूर्णतया प्रकाशित नहीं हो सकता। इसी कारण मैंने इस निबन्ध के संकलन करने का अनधिकार प्रयास किया है। अनधिकार इसलिए कि मैं किसी स्कूल, कालेज, पाठशाला या सुपठित पण्डितों के समीप कुछ पढ़ा नहीं हूँ और न मुझे किसी शास्त्र की शिक्षा मिली है। केवल अपने पुस्तकालय के सद्रत्नों को देखते रहने से कुछ अभ्यास हो गया है। फिर भी मुझे विश्वास है कि सर्वसाधारण मनुष्यों को पञ्च तत्त्व या पञ्च महाभूत के विषय में कुछ जानने की इच्छा होगी तो उनको इस निबन्ध से बहुत सी अज्ञात बातें ज्ञात हो सकेंगी। और विशेषज्ञ विद्वान् भी अनेक ग्रन्थों के एतद्विषयक आशय इस पुस्तक में देख सकेंगे। इसके 'पूर्वाङ्ग' में (१) ईश्वरप्रसूत पञ्च महाभूत, (२) भूतों का प्रादुर्भाव, (३) तत्त्वों की उत्पत्ति के क्रम का कारण, (४) भूतों की व्यापकता, (५) महाभूतों का महान् महत्त्व, (६) भूतजनित उत्पातों में भूतों का सहयोग, (७) भूतों के विशेष गुण, (८) पुरुष और प्रकृति, (९) भूत तथा तत्त्वों का साम्य, (१०) तत्त्व इन्द्रियाँ और मन के उद्भवादि, (११) इन्द्रियों के विशेष गुण, (१२) तत्त्वों के भेद, (१३) तत्त्वों के स्थान, (१४) तत्त्वों के द्वार, (१५) वर्गीकरण, (१६) तत्त्वों का ज्ञान और प्रभाव, (१७) वायु के दस भेद और (१८) पञ्च तत्त्व का लय···(१) 'पृथ्वी तत्त्व' (पृथ्वी के पर्याय) (१) पृथ्वी की उत्पत्ति, (२) पृथ्वी का आकार, (३) पृथ्वी का विस्तार, (४) धरा साधार है या निराधार, (५) पृथ्वी अचल है या भ्रमणशील, (६) मही की महत्ता, (७) सर्वांगपूर्ण भूमण्डल, (८) लोकरचना का सूत्रपात, (९) भूपृष्ठ के ऊपर के लोक, (१०) भूतल के नीचे के लोक, (११) भूमि के प्रख्यात पुर, (१२) सावयव सुमेरु, (१३) मेरु के केसराचल, (१४) सुमेरु से आगे, (१५) भूपृष्ठ के द्वीपादि, (१६) जंबूद्वीप के नौ खण्ड, (१७) भारतवर्ष, (१८) अनुद्वीप, (१९) द्वीपों का रूपान्तर, (२०) इसका मुख्य कारण, (२१) भूपृष्ठ के विशिष्ट लोक, (२२) भूपृष्ठ के उत्कृष्ट गिरि, (२३) भारत के पवित्र पर्वत, (२४) सुप्रसिद्ध देश, (२५) पाश्चात्यों का भौगोलिक अनुसंधान, (२६) भारत, (२७) देशों के प्रकृत स्वरूप, (२८) पर्वतों के विभिन्न भेद, (२९) भूमि के विभिन्न भेद, (३०) रोगहर मृत्तिका, (३१) भूमण्डल के

विलक्षण प्राणी और पदार्थ, (३२) भूपृष्ठ की विशिष्ट वस्तुएँ. (३३) भूमण्डल के देश और व्यवसाय, (३४) भूगर्भ के खनिज पदार्थ, (३५) भूगर्भ का कोयला, (३६) पृथ्वी के पेट में तेल के समुद्र, (३७) भूकम्प, (३८) ये क्यों होते हैं ? (३९) भूमण्डल के गत भूकम्प, (४०) भूकम्प का महाबल, (४१) पशु-पक्षियों को इसके होने का ज्ञान, (४२) परिशिष्ट, (४३) पृथ्वीपूजाविधि, (४४) पृथ्वीसूक्त और (४५) विशेष विनय। (२) 'जलतत्त्व' (१) विषय-प्रवेश जल, (२) जल की उत्पत्ति (३) जल के गुण और वर्ण, (४) अँगरेजों के मतानुसार, (५) जल-परिवार, (६) सागर, (७) उनकी संख्या और विस्तार, (८) उपसागर, (९) समुद्र के जल का रंग और स्वाद, (१०) उत्ताल तरंगें, (११) आवर्त, (१२) चौदह रत्न, (१३) रत्न और अन्य वस्तुएँ, (१४) जलजीवी जानवर, (१५) जलौका, (१६) फलपुष्प, (१७) जल-स्तंभ, (१८) जलप्लावन, (१९) अन्य समुद्र, (२०) ताल बँधे सरोवर, (२१) नद नदी महानद, (२२) नैसर्गिक क्रिया, (२३) प्रधान नदियों की लंबाई, (२४) उद्गम स्थान, (२५) जल की उत्कृष्टता, (२६) भारतीय महानदी, (२७) वर्षा, (२८) वार्षिक औसत, (२९) अनावृष्टि दूर करने के प्रयोग, (३०) अतिवृष्टि रोकने के उपाय, (३१) वरुणपूजन, (३२) व्यापक उपयोग और महत्त्व, (३३) जलयान और (३४) जलसूक्त (३) 'तेज' तत्त्व, (सूर्य या अग्नि) पर्याय (१) प्राक्कथन, (२) सूर्य की उत्पत्ति, (३) इनका महत्त्व, (४) सूर्य का तेज, (५) सूर्य के व्यास, कक्षा, ऊँचाई, (६) विविध स्वरूप, (७) सूर्य की किरणें, (८) उनका रंग (९) सूर्य-विज्ञान, (१०) सूर्य का रथ, (११) सूर्य के सम्पर्की, (१२) वर्ण की विकृति, (१३) सूर्य-ग्रहण, (१४) सूर्य के सह-गामी, (१५) सौर-परिवार, (१६) पूजनेवाले, (१७) सूर्य का ध्यान, (१८) उपासना, (१९) सूर्यव्रत, (२०) अहोरात्र, (२१) ऋतुएँ (२२) सूर्य के मन्दिर, मूर्ति और ध्वजा (२३) रविवार के धर्मानुष्ठान, (२४) सूर्यकिरण-चिकित्सा, (२५) 'अग्नि' (परिशिष्ट), (२६) सूर्योपनिषद्, (२७) सावित्र्युपनिषद्, (२८) ब्रह्मोपनिषद् और (२९) सूर्यसूक्त, (४) 'वायुतत्त्व' (पर्याय) (१) वायु की उत्पत्ति, (२) वायु का स्वरूप, (३) विविध भेद, (४) आयुर्वेदीय अनुसंधान, (५) अस्तित्व का ज्ञान, (६) वायु के गुण, (७) इष्टानिष्टसूचक वायु, (८) वायु के विषय में, (९) वायुकृत वाणिज्य, (१०) समुद्र वायु, (११) मानसून वायु (१२) वायु की व्यापकता, (१३) वायु की सीमा, (१४) वायु तरल है, (१५) गति और वजन, (१६) आँधी, बवंडर और तृणावर्त, (१७) आँधी के उत्पात, (१८) वायु या शब्दविज्ञान (१९) वायु का रंग, (२०) वायु दूषित होने के कारण, (२१) जल का भाप, (२२) पुत्रप्रद वायु, (२३) देहगत वायु की क्रिया, (२४) श्वासोच्छ्वास, (२५) पचनक्रिया, (२६) श्वासक्रिया, (२७) प्रकार (२८) श्वास की संख्या, (२९) स्वास्थ्य और वायु, (३०) वायु नापने का यंत्र, (३१) आकाश वायु, (३२) अद्भुत दृश्य, (३३) वायु की मूर्ति, (३४) परिशिष्ट-पूजनविधि, (३५) मूर्तिदान और (३६) वायु-स्तंभन। और (५) 'आकाश तत्त्व' पर्याय (१) शास्त्रीय विवेचन, (२) आकाश की उत्पत्ति, (३) महत्ता और धारण शक्ति, (४) आकाश की अनन्त विभूतियाँ, (५) सूर्यादि का सामुदायिक परिचय, (६) ग्रहों के व्यास, कक्षा उच्छ्रुति, (७) सूर्य, (८) चंद्रमा, (९) चंद्रग्रहण, (१०) मंगल, (११) बुध, (१२) बृहस्पति, (१३) शुक्र, (१४) शनि, (१५) राहु, (१६) केतु, (१७) नवीनग्रह, (१८) ध्रुव, (१९) सप्तर्षि (२०) आकाश गंगा, (२१) अमर घड़ी, (२२) नक्षत्र, (२३) तारे, आकृति, देव और मुख, (२४) उपयोग और प्रभाव, (२५) द्वादश राशियाँ, (२६) तारागण

(२७) अद्भुत दृश्य या उत्पात, (२८) परिशिष्ट, (२९) आकाशपूजन और (३०) सूक्त आदि सभी विषय हिन्दूशास्त्रों, पाठ्यपुस्तकों, नवनिर्मित ग्रन्थों और हिन्दी, अँगरेजी, मराठी या संस्कृत के प्रामाणिक ग्रन्थों से संगृहीत हुए हैं। साथ में सबके प्रमाण और ज्ञातव्य विषय टिप्पणियों में दिये गये हैं। उपरोक्त दिग्दर्शन से विज्ञ पाठक जान सकते हैं कि यह ग्रन्थ एक प्रकार से सर्वथा नवीन और उपयोगी है।

हमारा जगत्-विषयक दृष्टिकोण

श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय

(१)

हम जगत् में रहते हैं। हमारा और जगत् का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम जगत् के ही तो एक भाग हैं। अत: हमारे जीवन का स्वरूप जगत् के स्वरूप के ऊपर निर्भर है।

हम जगत् के हैं और जगत् हमारा है। परन्तु यह नहीं कह सकते कि जगत् हमको बनाता है या हम जगत् को बनाते हैं। वस्तुत: हमारा प्रभाव जगत् पर पड़ता है और जगत् का प्रभाव हम पर। हम भी जगत् को बहुत कुछ बनाते हैं, सौ प्रति सैकड़ा तो नहीं। जगत् भी हमको बहुत कुछ बनाता है, परन्तु सौ प्रति सैकड़ा नहीं। इससे पता चलता है कि हम और जगत् हैं तो दो सत्ताएँ परन्तु एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।

(२)

जगत् क्या है? इसका उत्तर भिन्न भिन्न विचारकों ने भिन्न भिन्न दिया है। विचारकों के हम दो भाग कर सकते हैं—एक आस्तिक और दूसरा नास्तिक। आस्तिक वह हैं जो मानते हैं कि इस जगत् की रचनेवाली एक सुविज्ञ, चेतन तथा सर्वशक्तिमयी सत्ता है। नास्तिक वह हैं जो इसके विपरीत हैं। वे किसी चेतन सत्ता पर विश्वास नहीं रखते। इन नास्तिकों को भी हम दो विभागों में विभाजित कर सकते हैं। एक वह जो चेतन सत्ता को न मानते हुए भी यह कहते हैं कि एक ज्ञान और इच्छा-शून्य ऐसी सत्ता जगत् पर शासन करती है जो अटल है जिसके नियमों में परिवर्तन नहीं होता। इसके नियम एक से रहते हैं। यह नियम स्वयं ही काम करते रहते हैं। कोई इनका उल्लंघन नहीं कर सकता। दूसरे नास्तिक वह हैं जो नियमों की अटलता से भी इनकार करते हैं, जिस प्रकार एक मूर्ख बच्चा कभी कुछ और कभी कुछ करता है इसी प्रकार जगत् की प्रगतियों का भी कोई कुछ निश्चय नहीं कर सकता। हम यह तो कह सकते हैं कि इस समय कौन से नियम काम कर रहे हैं परन्तु यह नहीं जानते कि भविष्य में क्या होगा। जगत् का कोई व्यापार निश्चयात्मक नहीं है। न इसमें प्रयोजन-वत्ता है। जगत् को किसी ने सोच-समझ कर तो बनाया नहीं, जिससे ज्ञात हो सकता कि अमुक घटना इस प्रकार और इस प्रयोजन के कारण घटी। जैसे अन्धे के हाथ बटेर लग जाय उसी प्रकार का जगत् भी है। कौन कह सकता है कि मनुष्य के चहरे पर दो आँखों के बीच नाक क्यों बनाई गई? मनुष्य के पाँच उँगलियाँ ही क्यों हैं, छ: क्यों नहीं? गधे के सिर पर सींग क्यों नहीं होते और बकरे के सिर पर दो अथवा गैंडे के सिर पर एक सींग क्यों होता है। यही कह सकते हैं कि ऐसा देखते हैं। अकस्मात् ऐसा हो गया है। इसका न कोई कारण है, न हेतु, न प्रयोजन। कौन कह सकता है कि कल गैंडे के सिर पर चार सींग निकल आवें अथवा बन्दर की पूँछ पीछे के बजाय सिर पर लटकने लग जाय।

(३)

जिस प्रकार सब नास्तिकों के विचार जगत् के विषय में भिन्न भिन्न हैं उसी प्रकार आस्तिकों के भी बहुत से वर्ग हैं। जगत् का सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् कर्ता मानते हुए भी सभी आस्तिक एक ही प्रकार के विचार नहीं रखते। आस्तिक लोग नास्तिकों की भाँति यह तो कह नहीं सकते कि जगत् का निर्माण बिना किसी विशेष प्रयोजन के हुआ है। परन्तु उनके लिए उस प्रयोजन का निर्दिष्ट और निश्चित करना बहुत ही कठिन हो गया है। माना कि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है; फिर भी प्रश्न यह है कि उसने जगत् को क्यों बनाया, उसका प्रयोजन ही क्या था ? इसका उत्तर भिन्न भिन्न सम्प्रदायों ने भिन्न भिन्न दिया है और यह समस्या ऐसी जटिल हो गई है कि इसका समाधान करना कठिन हो गया है। इस विषय में आस्तिकों का मतभेद वैमनस्य की सीमा तक पहुँच गया है और नास्तिकों को यह कहने का अवसर मिल गया है कि ईश्वर के भक्त कुत्तों के समान लड़ते-झगड़ते हैं। (Godly persons became dogly in thelr dealugs with each other.) हम यहाँ उन धर्मयुद्धों का उल्लेख करना नहीं चाहते जिनसे इतिहास के पन्ने काले पड़े हुए हैं। हमको यहाँ केवल इतना ही अभीष्ट है कि जगत् के विषय में दृष्टिकोण के भेद ने मनुष्य के चरित्र को कितना भिन्न बना दिया है।

(४)

किसी किसी अंश में सब मनुष्यों के व्यवहार एक से हैं, चाहे वह आस्तिक हों चाहे नास्तिक, चाहे हिन्दू, चाहे मुसलमान, चाहे ईसाई। सब एक प्रकार से खाना खाते, एक प्रकार से सोते; एक प्रकार से हँसते और एक प्रकार से सन्तानोत्पत्ति करते हैं। 'आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।' और यदि स्थूल दृष्टि से देखा जाय तो आहार, निद्रा, भय और मैथुन के अतिरिक्त संसार में है ही क्या ? ईश्वर हो या न हो, वह शक्तिमान् हो या शक्तिशून्य, ज्ञानी हो या अज्ञानी, मनुष्य तो उसी प्रकार से बर्तेगा जैसे सहस्रों पीढ़ियों से बरतता चला आया है। इसलिए दृष्टिकोणों को दार्शनिक मीमांसा मनोविनोदमात्र है। इससे कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। जैसे साधारण पुरुष ताश खेलकर समययापन करते हैं उसी प्रकार जिनके मस्तिष्कों पर दर्शन का भूत सवार है वह दार्शनिक उलझनों को सुलझाने या यों कहिए कि और उलझाने में लगे रहते हैं।

बेकार मबाश कुछ किया कर।
कपड़े ही उधेड़ कर सिया कर।

(५)

परन्तु यह दृष्टि बहुत ही स्थूल है। थोड़ा सा विचार करने से ही भेद प्रतीत होने लगता है। साधु और बदमाश दोनों के दृष्टिकोण में आकाश-पाताल का भेद है। महात्मा गांधी जैसे सर्वत्यागी और एक मस्त शराबी को हम एक ही तल पर नहीं रख सकते। यह दोनों खाना खाते हैं परन्तु इनके खाने के प्रकार और खाने के प्रयोजन में भेद है। इन दोनों के आन्तरिक मस्तिष्किक व्यापार इतने भिन्न हैं कि इनमें बहुत कम सामान्य है।

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन तु मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥

तो क्या बुद्धिमान् और मूर्ख एक से ही हैं ? कदापि नहीं। विद्वान् अपने जीवन और जगत् का प्रयोजन समझता है। मूर्ख नहीं समझता। बुद्धिमान् अपने जीवन के उद्देश्य को समझकर सन्मार्ग की खोज करता है। मूर्ख पशुवत् चल पड़ता है। बुद्धिमान् उत्तरोत्तर उन्नति करता है। मूर्ख वृद्ध होकर भी जैसा का तैसा ही रहता है। विद्वान् सभ्यता के विशाल भवन का निर्माण करता है। मूर्ख को पता ही नहीं कि सभ्यता क्या वस्तु है। विद्वान् विचार करता है कि जीवों पर दया क्यों करनी चाहिए, सत्य क्यों बोलना चाहिए, हिंसा क्यों महा-पाप है। ब्रह्मचर्य धारण करने से क्या लाभ है। मूर्ख को यह सब ढकोसला प्रतीत होता है। वह नित्य अपने स्वार्थ के लिए चोरी करता, डाका डालता और प्राण तक ले लेता है। प्राणियों को अपने भोजन की सामग्री जुटाने के लिए मार डालना उसका साधारण सा काम है। परन्तु बुद्धिमान् सोचता है कि यदि मेरे जान है और मुझे दुख सताता है तो दूसरे प्राणी के भी उसी प्रकार की जान है और उसे सताना नहीं चाहिए। यह दो प्रकार के विचार क्यों पाये जाते हैं ? इसका समाधान दृष्टिकोण की मीमांसा से मिलेगा।

(६)

अच्छा, आइए हम देखने का यत्न करें कि जगत् के विषय में हमारा दृष्टिकोण क्या है। कुछ दार्शनिक लोगों ने जगत् को स्वप्नवत् मिथ्या माना है! उनका कहना है कि जैसे स्वप्न के समय हम देखते हैं कि हाथी पर सवार हैं, सहस्रों परिजन हमारे साथ हैं, हम उनसे बातें कर रहे हैं; परन्तु जब आँख खुलती है तो न हाथी दीखता है न परिजन। हम अपने को चारपाई पर लेटा हुआ पाते हैं। इसी प्रकार हम देखते हैं कि महल में बैठे हुए हैं। ठंडी ठंडी हवा बह रही है या सूर्य निकल रहा है। परन्तु वास्तव में न महल है, न हवा है, न सूर्य। यह सब स्वप्न के समान छलावा है, भुलावा है, धोखा है, यह एक दृष्टिकोण है। वास्तविकता क्या है ? इस पर हम यहाँ बात नहीं करते। हम तो यह देख रहे हैं कि इस दृष्टिकोण का हमारे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। स्वप्न देखनेवाले का व्यवहार जागने-वाले के समान नहीं होता। इसी प्रकार जो जगत् को स्वप्न के समान मिथ्या समझते हैं वे भी जगत् का ठीक ठीक उपयोग नहीं कर सकते। यदि मुझे विश्वास हो जाय कि जिन मकानों में मैं रहता हूँ वे स्वप्न के समान झूठे हैं तो मैं मरम्मत करने में संलग्न नहीं हूँगा। यदि मुझे विश्वास हो जाय कि जिन ईंटों से मकान बनाना है वह मिथ्या हैं, जिस चूने या गारे से ईंटों को चुना जायगा वह स्वप्नवत् हैं तो मैं भवन-निर्माण की सामग्री के जुटाने में क्यों लगूंगा। जो कृषक बड़े परिश्रम से खेत को जोतता और उसमें बीज बोता है उसको यह दृढ़ विश्वास है कि जिस खेत को मैं जोत रहा हूँ वह सच्चा है। जिस बीज को मैं बो रहा हूँ वह सच्चा है और यदि मैं परिश्रम करता रहूँगा तो अन्त में मुझे स्वप्नवत् नहीं अपितु सच्चा अनाज प्राप्त होगा। हमारे कुछ दार्शनिक अपनी जगत्-मिथ्या-प्रतिपत्ति का राग अलापते रहे। उन्होंने बहुत कुछ स्वप्नवाद की दुहाई दी, परन्तु संसार के साधारण व्यक्तियों ने इस को इस कान से सुना और उस कान से निकाल दिया। यही कारण है कि संसार का काम
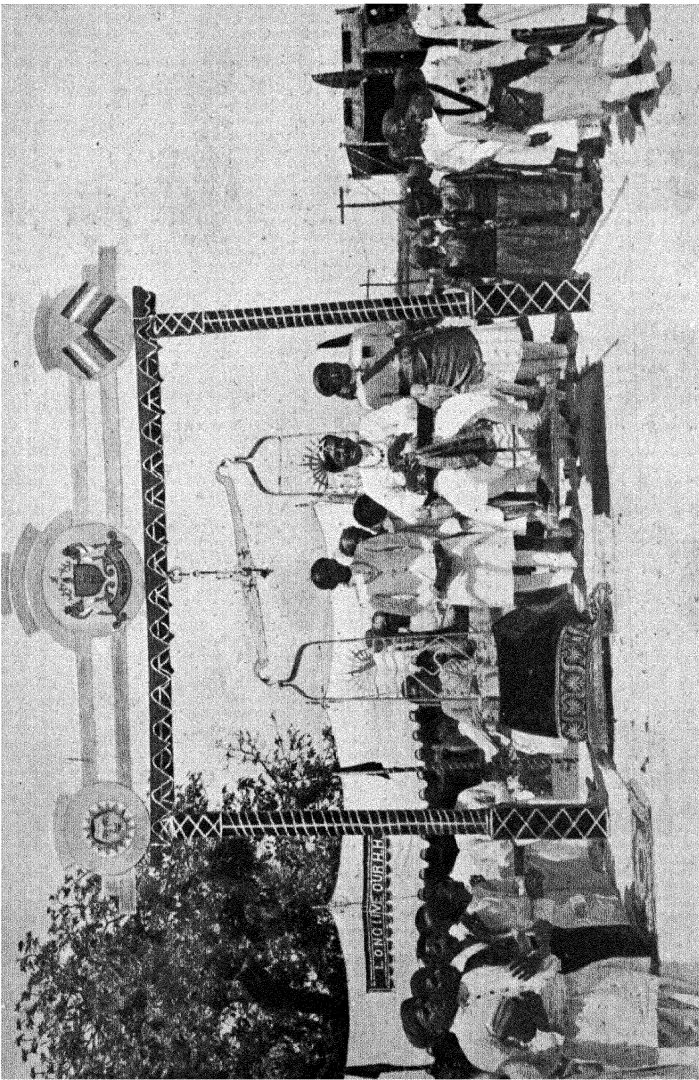
श्रीमान् रायरायाँ महीमहेन्द्र महाराजाधिराज महारावल सर लक्ष्मणसिंहजी साहब बहादुर के० सी० एस० आई० डूंगरपुर-नरेश के श्री रजत-जयन्ती महामहोत्सव के शुभ अवसर पर तुलादान-संस्कार का एक दृश्य।

नीचे स्तर में चलता रहेगा। ऊपरी स्तर के कुछ लोगों पर स्वप्न का जादू चल गया, उनको संसार की वास्तविकता में सन्देह हो गया। वह जगत् को स्वप्नवत् समझने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि ऊपरी स्तर की उन्नति बन्द हो गई। दार्शनिक और वैज्ञानिक लोगों से जिस उच्च कक्षा-सम्बन्धी उन्नति की आशा हो सकती थी वह नहीं हुई। अभी संसार का एक भीषण युद्ध लड़ा जा चुका है। इसमें लक्षों मनुष्यों का संहार हो गया। यदि हिटलर को यह विश्वास हो जाता कि संसार मिथ्या है तो वह क्या जर्मन-आधिपत्य के लिए इतना बड़ा परिश्रम करता? यदि इँगलैंड को विश्वास हो जाता कि यह वास्तविक आक्रमण नहीं अपितु स्वप्नवत् है तो क्या वह घोर प्रयत्न करके हिटलर को परास्त कर सकता? जिन वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक अन्वेषण करके अणु बम तैयार किये, जिन सेनापतियों ने जान को जोखों में डालकर लड़ाई की, जिन नीतिज्ञों ने रात-दिन इसी विचार में एक कर दिये कि किस प्रकार युद्ध में विजय प्राप्त की जाय, जिन सैनिकों ने युद्ध-क्षेत्र में जान की बाजी लगा दी उन सबके मस्तिष्कों का विश्लेषण तो कीजिए। क्या उनको स्वप्न में भी यह विचार हुआ कि हम स्वप्न देख रहे हैं। और जो स्वप्न देखते रहे वह स्वप्न तक ही रह गये। कभी कभी ऐसा भी होता है कि हम स्वप्न देखते समय यह भी भान करते हैं कि हम स्वप्न देख रहे हैं। इनका स्वप्न से छुटकारा उसी क्षण हो जाता है जब वह जाग जाते हैं। यदि संसार की समस्त कठिनाइयाँ स्वप्नवत् हैं तो इनसे छुटकारा पाने के लिए जागृति के क्षण की प्रतीक्षा ही पर्याप्त है।

(७)

जो संसार को स्वप्नवत् मानते हैं वह अपने सिद्धान्तों को सुसंगत रखते हुए यह भी नहीं मान सकते कि एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर इस सृष्टि को बनाता है। स्वप्न का बाध जागृत से हो जाता है। यदि किसी व्यापार का बाध हो गया तो उस व्यापारी के बाध में क्या सन्देह रहा। जरा सोचिए। मनुष्य स्वप्न कब देखता है? प्रथम जब वह जागता नहीं अर्थात् उसकी इन्द्रियाँ इतनी थक गई हों कि वह बाह्य संसार के पदार्थों के साथ सन्निकर्ष न कर सकती हों, दूसरे वह इन्द्रियाँ इतनी थकी हों कि मन की बेचैनी सुषुप्ति अवस्था के लाने में भी असमर्थ हो। एक स्वस्थ मनुष्य जब सोता है तो शीघ्र ही गाढ़ निद्रा में डूब जाता है और उसे स्वप्न नहीं होते। स्वप्न थोड़ी-बहुत अस्वस्थता का चिह्न है। यही कारण है कि स्वप्न में देखी गई वस्तुएँ काल और देश की अपेक्षा से सुसंगत नहीं होतीं। वेदान्त दर्शन में कहा भी है 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' (अ० २, पा० २,२९) "संसार स्वप्न के समान नहीं है क्योंकि स्वप्न के धर्म उसमें पाये नहीं जाते।" यदि स्वप्न जागृति के समान सुनियमित हो तो स्वप्न और जागृति में भेद न रहे। कल्पना कीजिए कि आपके घर में एक अँधेरी कोठरी है जिसमें एक छोटी सी खिड़की है। आप बाहर से जो चीजें लाते हैं, उसमें फेंक देते हैं। सँभाल कर नहीं रखते। एक कोट लाये। कोठरी में फेंक दिया। फिर आम लाये, वह भी उसी में फेंक दिये। फिर तेल लाये, वह भी उसी में फेंक दिया। फिर कागज लाये, वह भी उसी में फेंक दिया। इस प्रकार हजारों वस्तुएँ उस कोठरी में जमा हैं। आपको टोपी की जरूरत है। आप निकालने लगे तो टोपी के बजाय मोजा

हाथ में आ गया; आम चाहा और चूहा हाथ में आ गया। उस समय जो आपकी दशा होगी वही स्वप्न देखनेवाले की होती है। सो रहा है प्रयाग में और देख रहा है लाहौर को। सिर उसके कन्धों पर है परन्तु देखता है कि मेरा कटा सिर मेरे हाथ में है। यह नियम-शून्यता स्वप्न का लक्षण है। यदि सृष्टि भी ऐसी ही होती तो इसके बनानेवाले को सर्वज्ञ और शक्तिमान् कैसे कह सकते। और यदि इश्वर ऐसा बेढंगा हो तो उसके उपासकों में नियमता कैसे आ सके। स्वप्न में आम के पेड़ पर इमली लग सकती है। स्वप्नवत् सृष्टि के कर्त्ता के उपासक भी आम का पेड़ लगाकर इमली की आशा कर सकते हैं, अथवा बिना पेड़ लगाये भी इमली मिलने की प्रतीक्षा हो सकती है। कुछ लोग कहा करते हैं कि परमार्थ दशा और है और व्यवहार दशा और। जगत् को स्वप्न मानते रहो और जगत् का व्यवहार भी यथोचित रीति से चलाते रहो। परन्तु यह लोग एक बात नहीं सोचते। हमारा व्यवहार हमारी मनोवृत्ति के अनुकूल होता है। मन में तो स्वप्न की बात बैठी हुई है फिर संसार के व्यवहार में चित्त कैसे लगे? खाना पीना आदि अनैच्छिक व्यवहार तो हो ही जाते हैं, उनके लिए यत्न की आवश्यकता नहीं। परन्तु जब तक मनोवृत्ति ठीक न हो, वह कार्य्य नहीं हो सकते जिनके लिए विचारशीलता की आवश्यकता है। यूरोप में जब तक दूषित मनोवृत्ति रही, सायंस ने उन्नति नहीं की। भारतवर्ष में भी स्वप्न की मनोवृत्ति ने जागते हुओं को सुला दिया? सृष्टि को स्वप्न मानना और एक सर्वनियन्ता ईश्वर पर विश्वास रखना असंगत है। भारत में लाखों साधु संसार को स्वप्न मानते हैं और केवल गीता-पाठ या माला फेरने को ही अपने नियम का साधन समझते हैं। यह उनकी मनोवृत्ति का परिणाम है।

(८)

कुछ आस्तिक लोग मानते हैं कि ईश्वर सृष्टि का स्वामी और सृष्टि का कर्त्ता है। ईश्वर के सिवाय और कोई स्वतंत्र और नित्य सत्ता नहीं। सृष्टि के पूर्व ईश्वर के सिवाय कुछ नहीं था। उसी ने सृष्टि बनाई। क्यों बनाई? वह जाने। स्वामी को अधिकार है कि जो चाहे बनावे। हमको तो ईश्वर के अधीन रहना चाहिए। वह हमारा स्वामी है। हम उसके बनाये हुए खिलौने हैं। संसार कठपुतलियों का नाच है। इन पुतलियों को चलानेवाला कोई और है। उसी को ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार का दृष्टिकोण मनुष्य को सतर्क और प्रयत्नशील नहीं रहने देता। "होगा वही जो राम रचि राखा।" इसलिए हाथ-पैर हिलाओ भी क्यों? हमारे करने से होगा क्या? यदि ईश्वर चाहेगा तो बिना किये भी सब कुछ हो जायगा, यदि नहीं चाहेगा तो लाख सर मारते रहो कुछ न होगा।

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये सब के दाताराम॥

हम हर बात पर कह उठते हैं "ईश्वर की लीला"। इन लीलावादियों ने ईश्वर को एक खिलाड़ी लड़का बना दिया और मनुष्य को खिलौना। खिलौना तो खिलौना ही है। वह तो एक मूर्ख लड़के के हाथ में है। बुद्धिमान् के हाथ में भी नहीं। बुद्धिमान् जो

करता है उसमें प्रयोजन-वत्ता होती है। खेल केवल मनोविनोद के लिए होता है। उसका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं होता। यदि ईश्वर की सृष्टि ईश्वर के मनोविनोद के लिए है तो वह जैसे चाहे खेले। मनुष्य के उद्योग और ऊहापोह का वहाँ स्थान नहीं। अधिकतर आस्तिक भक्त लोग इसी मनोवृत्ति के हैं, अतः भक्ति और यत्नशीलता में सामंजस्य नहीं रह गया। और उन्नतिशील पुरुषों को भक्ति के शब्द-मात्र से घृणा हो गई है। इसका कारण भक्ति नहीं अपितु भक्ति के विषय में अज्ञान और भक्ति का दुरुपयोग है। सबसे बड़ा भक्त वह कहलाता है, जो 'राम राम' जपता रहे और कुछ न करे।

(९)

कुछ आस्तिकों का विचार है कि जगत् एक जेल है। हमने पिछले जन्म में कोई खोटा कर्म किया होगा, इसलिए ईश्वर ने हमको इस दुःखमय संसार के बीच डाल दिया, जेल से छूटेंगे तो सुख मिलेगा। यहाँ से कहाँ जायँगे ? स्वर्ग में। स्वर्ग कैसा है और कहाँ है ? यह ज्ञात नहीं, पर संसार से अच्छा ही होगा। यहाँ से भागने की कोशिश की जाय क्योंकि यहाँ तो दुःख ही दुःख है। यह है कैदी की मनोवृत्ति। यह जेलवाद मनुष्य को कैदी बना देता है। कैदी अपने लिए कुछ नहीं करता और अपनी इच्छा से भी कुछ नहीं करता। करे भी क्यों ? कैदी ही तो ठहरा। यदि चक्की पीसे तो भी वही सूखी रोटी और कालीन बुने तो भी वही सूखी रोटी। उसका भोग नियत है। उसकी कमाई उसको मिलती नहीं। ऐसे पुरुषों से स्वतंत्र उद्योग की आशा व्यर्थ है। वह तो उन्हीं बातों को सोचते हैं जिनको कैदी सोचा करते हैं। हम पूछते हैं कि क्या यह जेलवाद हमारे स्वभाव के अनुकूल है ? वेद में कहा है 'जीवेम शरदः शतम्' (हम सौ वर्ष जीवें)।" जब कोई हम को प्रणाम करता है तो हम आशीर्वाद देते हैं 'दीर्घायु हो !' क्यों ? सौ वर्ष की जेल की इच्छा क्यों और दूसरों के लिए दीर्घ जेल का आशीर्वाद क्यों ? यदि मैं जेल में हूँ और मेरा लड़का भी जेल में आ जाय तो मैं यही चाहूँगा कि यदि मैं नहीं तो मेरा लड़का तो इसी क्षण कारावास से मुक्त हो जाय। क्या कोई ऐसा चाहता है ? जब बच्चा पैदा होता है तो माता को कितना आनन्द होता है ? यह आनन्द क्यों होना चाहिए ? माँ जेल में है तो क्या वह अपने बच्चों को भी जेल में बुलाना चाहती है ? हम मित्रों के जन्म-दिवस पर क्यों आनन्द मनाते और उनकी मृत्यु पर क्यों समवेदना प्रकट करते हैं ? जेल में आना कौन अच्छी बात है और जेल से जाना कौन बुरी बात ? परन्तु हममें से कितने ऐसे हैं जो जगत् को जेल समझकर नित्य हाय हाय ही किया करते हैं। उनके लिए जगत् एक आनन्द-शून्य वस्तु है। वह न चैन से रहते हैं न किसी को रहने देते हैं। इस हाय हाय में कितना जीवन नष्ट होता है ? कितना समय व्यर्थ जाता है ! रोना ! रोना ! सदा रोना ! कैसा भयानक सिद्धान्त है ! यह सिद्धान्त है तो आस्तिकों का परन्तु इससे आस्तिकता बढ़ती नहीं, घटती है। साधारण भाषा में यमराज के लिए जो हमारी प्रवृत्ति है वही जेलवादियों की ईश्वर के प्रति है। चोर जिसको जेल में डाला गया है, जेलर को धन्यवाद नहीं देता। वह तो उसकी जान को ही कोसता है। इसी प्रकार जो समझते हैं

कि हम जेल में हैं उनके हृदय में ईश्वर के लिए कोई सच्ची भक्ति अथवा सच्चा प्रेम नहीं उपज सकता।

(१०)

अच्छा! यदि आस्तिकों का यह दृष्टिकोण दूषित है तो क्या नास्तिकों के दृष्टिकोण को रखकर हम कुछ उन्नति कर सकते हैं? आइए, इस पर भी विचार करें। यदि संसार विज्ञानशून्य और चेतना-शून्य है और यदि जिसको चेतन कहा जाता है वह जौ की शराब के समान जड़ वस्तुओं का ही एक क्षणिक परिणाम है तो संसार की उन्नति का कोई अर्थ नहीं रहता! जड़ वस्तुओं की उन्नति कैसी और अवनति कैसी? ऊँच क्या और नीच क्या? एक ईंट मकान की छत पर रख दी जाय तो क्या? और फर्श पर रख दी जाय तो क्या? एक वीर योद्धा अपने देश के लिए अपनी जान देने को तैयार है। क्यों? यदि उसकी जान जड़-जगत् का एक क्षीण उबाल ही है तो उसका क्या देना और क्या लेना? और यदि देश से तात्पर्य केवल जड़-जगत् से ही है तो उसकी स्वतंत्रता क्या और परतंत्रता क्या? लाखों मर जायँ तो क्या और जीते रहें तो क्या? यह मनोवृत्ति है जिसने वर्तमान युग में जीवन के मूल्य को बहुत घटा दिया है। एक आदमी का इतना मूल्य नहीं जितना मशीन के एक पुरजे का है। जड़-जगत् में हिंसा का क्या अर्थ और अहिंसा का क्या अर्थ? उचित का क्या अर्थ और अनुचित का क्या अर्थ? जीवन एक लहर है। जल पर वायु का एक थपेड़ा-मात्र है। कोई लहर कुछ बड़ी हो गई, कोई छोटी। लहर क्या है? वायु का झोंका-मात्र है। उसका अन्त होना है। वास्तविकता कुछ नहीं। कहते हैं कि चारवाक ने आनन्द में रहने का एक गुर बताया कि—

यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत: ?

आनन्द से रहो, उधार लेकर घी पियो। शरीर जल जायगा, यही तुम्हारा अन्त है। कौन तुमसे उधार वसूल करेगा?

आजकल बहुत से आस्तिक भी ऐसा ही व्यवहार करते हैं और नास्तिकों को तो करना ही चाहिए। परन्तु यदि यह नास्तिकता अधिक बढ़ जाय तो विश्वास उठने पर ऋण भी कौन देगा? घी पियोगे ही कैसे? प्राणियों की क्या दशा होगी और संसार कैसा हो जायगा?

(११)

यदि जगत् का समस्त व्यापार आकस्मिक है और नियम कुछ नहीं, तो नियम का भाव ही मनुष्य के मस्तिष्क में कैसे घुसा? और आकस्मिक संसार में हम कर ही क्या सकते हैं? यदि नियम पर विश्वास न हो तो मनुष्य भूख लगने पर खाना ही क्यों खावे?

क्या मालूम कि रोटी खाने पर भूख दूर होगी या नहीं ! रोटी पकाने मनुष्य तभी बैठता है जब जानता है कि रोटी खाने से ही भूख दूर होती है। यह अटल नियम है। यदि कभी जौ बोकर गेहूँ उपजें, कभी मक्का बोकर और कभी कुछ न बोकर, तो कौन गेहूँ बोने की चिन्ता करे ? "अन्धेर नगरी बेबूझ राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा", नियम तो कोई है ही नहीं। जो होता है अकस्मात्। जो हुआ वह अकस्मात् और जो होगा वह अकस्मात्। फिर तो यही जी चाहेगा कि—

किस किस की फिक्र कीजिए, किस किस को रोइए ?
सबसे भली यह बात कि मुँह ढकके सोइए ॥

(१२)

इस प्रकार हम देखते हैं कि नास्तिकों ने आस्तिक के विरुद्ध शोर तो बहुत मचाया परन्तु वे संसार को अधिक उत्कृष्ट बनाने में सफल न हुए। यदि आस्तिक कुत्तों की भाँति लड़ते थे तो नास्तिक भेड़ियों के समान लड़ते रहे। यदि ईश्वर के पुजारी मन्दिर, मस्जिद और गिरजों पर रक्तपात करते रहे तो नास्तिकों ने रोटी के एक एक टुकड़े पर हत्याएँ कीं। जगत् की समस्या ज्यों की त्यों रही। नाम बदल गया, रूप बदल गया, रोग तो नहीं बदला। बदलता उस समय जब जगत् के विषय में हमारा दृष्टिकोण ठीक होता।

(१३)

एक और दृष्टिकोण है। वह है तो आस्तिकों का ही परन्तु उसका साधारण आस्तिकों से बहुत भेद है। यह लोग संसार को न तो जेल मानते हैं, न स्वप्न, न दुःख-सागर, न चेतन-शून्य, न आकस्मिक और न नियम-रहित। इनका विचार है कि अनादि, अनन्त और अमर असंख्य जीव हैं जो चेतन सत्ताएँ हैं। यह जीव न तो सर्वज्ञ हैं, न सर्वशक्तिमान्। यह हैं तो अल्प, परन्तु इनकी अल्पता के स्तर भिन्न भिन्न हैं और इनमें जीवों के उद्योगों के अनुसार न्यूनता और आधिक्य होता रहता है। इनका अधिपति या पालक और रक्षक एक सर्वनियन्ता ईश्वर है जो इनके सहायतार्थ अनेक प्रकार की वस्तुएँ संसार के रूप में इनको देता है। यह जीव अपने उद्योग से इन नाना प्रकार के पदार्थों को काम में लाते और तदनुकूल अपनी उन्नति या अवनति करते हैं। जिन्होंने संसार के पदार्थों की उपयोगिता को जानने का यत्न किया वह उन्नत हो गये, जो आलस्य और प्रमाद में निमग्न रहे वह अवनति को प्राप्त हो गये। इस मत के अव-लम्बियों के लिए संसार एक पाठशाला है जिसमें विद्या-बुद्धि को सम्पादन करने की विविध वस्तुएँ उपस्थित हैं। विद्यार्थी उनका उपयोग करने में स्वतंत्र हैं। जो पढ़ते हैं वह उन्नति करते हैं; जो नहीं पढ़ते वह मूर्ख रह जाते हैं। संसार के पुस्तकालय में विविध भाँति की पुस्तकें रक्खी हुई हैं; विद्यार्थी आवें, उनको खोलें। देखें कि उनमें क्या है। जो विद्यार्थी पुस्तक खोलने का कष्ट नहीं उठा सकता वह ज्ञान कैसे प्राप्त करेगा ? परन्तु जो पुस्तक खोलता है उसे उसमें विद्या का कोष निहित मिलता है। पुस्तक स्वयं खुलकर विद्यार्थी के पास नहीं आती। 'विद्यार्थी को विद्या का चसका होना चाहिए। वैज्ञानिक और

तत्त्ववेत्ता वह विद्यार्थी हैं जिन्होंने प्रकृतिरूपी पुस्तक को खोला और उनका दामन मणियों से भर गया। कुछ आस्तिक लोग समझते हैं कि संसार में ईश्वर के रहस्य गुप्त हैं, और उसके भक्तों को उन रहस्यों के जानने का यत्न नहीं करना चाहिए। जैसे किसी राजा के रहस्य की बातें नौकर जानने लगें तो राजा को बुरा लगता है इसी प्रकार ईश्वर भी उन लोगों को पसन्द नहीं करता जो उसके गुप्त रहस्यों को जानने का यत्न करते हैं। परन्तु जिन आस्तिकों का हमने यहाँ उल्लेख किया है वह कहते हैं कि ईश्वर का कोई ऐसा गुप्त रहस्य नहीं जिसको वह जीवों पर प्रकट न करना चाहता हो; संभव है कि कोई राजा अपने दुष्कर्मों को छिपाना चाहता हो, परन्तु ईश्वर ने तो समस्त सृष्टि जीवों के लिए ही रची। फिर वह उनसे किसी बात को क्यों छिपावे? इसमें सन्देह नहीं कि संसार रहस्यमय है। परन्तु रहस्य का इतना ही अर्थ है कि उद्योगी उसको समझ सकता है और आलसी नहीं। जिसने आलस्य छोड़कर संसार के रहस्य को जानने का यत्न किया उसको अनन्त भण्डार मिल गया। यह दृष्टिकोण सायंस या दर्शन के वेत्ताओं का विरोध नहीं करता। उनको उन्नति के लिए प्रोत्साहित करता है। उनको आलसी नहीं होने देता। हाँ, उनको एक चेतावनी देता रहता है। वह यह कि हमारा समस्त ज्ञान और समस्त प्रयत्न दूसरों की भलाई के लिए होना चाहिए, स्वार्थ के लिए नहीं। ईश्वर सृष्टि को स्वार्थ के लिए नहीं रचता। उसे सूर्य्य की आवश्यकता नहीं। उसने सूर्य्य लीला या विनोद के लिए नहीं बनाया, उसने सूर्य्य हमारी आँखों की सहायता के लिए बनाया है। अतः ईश्वर का सच्चा पूजक या उपासक भी वही है जो दूसरों की भलाई में अथक परिश्रम करता है। जो ऐसा नहीं करता और स्वर्ग की कामना के लिए केवल नाम की ही रटन्त लगाता है वह स्वर्ग तो क्या अच्छी योनि का भी अधिकारी नहीं है। उसने तोता होने का अभ्यास किया है और वह दूसरे जन्म में भी तोता ही बनेगा। जो स्वर्ग की कामना करते हैं उनको चाहिए कि इस संसार को ही अहिंसा, सत्य और शुभ संकल्पों द्वारा स्वर्ग बनाने का यत्न करें; फिर उनको भय नहीं कि मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग मिले या न मिले। वह तो मृत्यु से पहले भी स्वर्ग में हैं और मृत्यु के पश्चात् भी स्वर्ग में।

(१४)

इस दृष्टिकोण का उल्लेख संक्षेप से मुण्डक उपनिषद् के नीचे लिखे तीन श्लोकों में किया है :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥१॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥२॥
पश्यः यदा पश्यति रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति ॥३॥

१—इस संसार रूपी वृक्ष के ऊपर दो शुद्ध, सुन्दर और स्नेहयुक्त पक्षी बैठे हैं अर्थात् एक जीव और दूसरा ईश्वर। जीव तो इस वृक्ष के फल को भोगता है और दूसरा उसका प्रबन्ध मात्र करता है, चखता नहीं। वृक्ष और वृक्ष के फल जीव के उपयोग के

लिए हैं। ईश्वर का उसमें कोई स्वार्थ नहीं। ईश्वर नियन्ता-मात्र है। वह भी अपने लिए नहीं, जीव के लिए। ईश्वर आनन्दस्वरूप है, उसे आनन्द की खोज नहीं। जीव आनन्द का इच्छुक है। उसे आनन्द की ही खोज रहती है। अतः ईश्वर आनन्द प्राप्त करने के पदार्थ रचता रहता है जिससे उसकी प्रजा को दुःख न हो।

२. जो जीव इस संसाररूपी वृक्ष पर बैठा हुआ अपने परम स्नेही परम उपकारक ईश्वर की सत्ता को नहीं देख पाता और संसार की उपयोगिता से अनभिज्ञ रहता है वह मोह अर्थात् अज्ञान में पड़कर अनेक प्रकार के दुःख उठाता है। परन्तु जब उसकी आँखें खुल जाती हैं और उसे इस वृक्ष पर अपने अतिरिक्त इसके परम नियन्ता के भी दर्शन हो जाते हैं तो उसका समस्त शोक छूट जाता है। जैसे रात्रि के समय एक बालक चार-पाई पर लेटा हुआ अपने को अकेला पाकर रो उठता है परन्तु जब उसे ज्ञान हो जाता है कि मेरी माता मेरे पास है तो उसका दुःख दूर हो जाता है इसी प्रकार जीव भी जब तक ईश्वर की सत्ता से अनभिज्ञ रहता है और समझता है कि मैं अकेला हूँ उस समय तक उसको अनेक दुःख सताते रहते हैं। यह दुःख उसको अज्ञानवश होता है। उसका पालक ईश्वर तो उसके साथ है परन्तु उसे पता नहीं, इसी लिए उसे भय और शोक है।

३. जहाँ उसने देख लिया कि इस वृक्ष पर तो उसके साथ ही एक परम ज्योति-स्वरूप, वृक्ष की समस्त गतियों का प्रेरक, तथा स्वामी परम पुरुष और ज्ञान का देनेवाला ईश्वर विद्यमान है उसी समय वह पाप-पुण्य के द्वन्द्वों से मुक्त होकर परम साम्य को प्राप्त कर लेता है।

(१५)

यदि मनुष्य-मात्र का यह दृष्टिकोण हो जाय तो इसका परिणाम यह हो :—

(१) कोई संसार को दुःखमय न समझे।

(२) दुःखों का दोष ईश्वर के सिर न मढ़े।

(३) नाम की भक्ति न करे।

(४) आलस्य न करे।

(५) स्वार्थ को अपने नाश का कारण समझे।

(६) सायंस और फिलासफी को भय या नास्तिकता की दृष्टि से न देखे।

(७) अपने समान अन्य जीवों की भी चिन्ता करे।

(८) किसी को हानि न पहुँचावे।

(९) संसार को जुआघर समझ कर भाग्य के भरोसे न बैठा रहे।

(१०) अपने और दूसरों के लिए दीर्घायु का प्रयत्न करता रहे।

(११) सृष्टि के नियमों का पालन करे।

(१२) ईश्वर की सत्ता पर दृढ़ विश्वास करे।

(१३) अपने को ईश्वर का खिलौना न समझे।

(१४) अपने ऊपर भरोसा रक्खे।

(१५) दुःख पड़ने पर दुःखों का प्रयोजन समझ कर उसको सहन करे और शोक न करे।

न्यायवैशेषिकतत्त्वम्

कलकत्ता-आर्यविद्यालयाध्यक्ष श्री सीतानाथ सिद्धान्तवागीश

माननीय आर्यमिश्राः !

दुरवगाहे न्याय-वैशेषिकतत्त्वार्णवे निमग्नानाम् प्रथमतः सभक्तिकम् सर्वज्ञमनन्त-शक्तिम् भगवन्तम् ततो गुरून् निबन्धकर्त्तॄनाचार्य्यान्, ततश्च यथायोग्यं सादरं ससन्मानं सविनयं समागतान् ज्ञानवृद्धान् वयोवृद्धान् सभ्यान् सभापतींश्च नमस्कृत्य नानादिग्देशागत-वेद - वेदाङ्गादिशास्त्रनिपुणाशेषप्रतिभासम्पन्ननिखिलशास्त्रालोचननिर्मलमतिपण्डितनिवहपरि मण्डितायाम् कल्पपादपालंकृतान् सुराचार्यगर्वितां देवसभामुपहसन्त्यामिव भूदेवग-णपरिवृतायां राजन्यगणाधिष्ठितायाम् कुबेरोपमविविधमणिरत्नाधीश्वरगणालंकृताया-मस्यां परिषदि प्रस्तुतमारभमाणानां वाग्मितायां मूकस्यैव, गिरिलङ्घने पंगुरिव प्रांशुलभ्ये फले उद्बाहोर्वामनस्येव, भेलया हेलया दुस्तरसागरतितीर्षोरिव सर्वथा समुपहास्यतामुपगतानामपि

> "चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः ।
> न शालेस्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते ॥"

इत्यादि महाकविवाक्यानुसारेणाऽस्माकमयमुद्यमः ।

अस्मिन्खलु प्रबन्धे न्यायशब्दार्थविचिकित्सा, प्रतिपाद्यविषया, न्यायभेदाः, प्राची-नता, न्यायवैशेषिकयोरुपयोगिता ग्रंथ-ग्रंथकारनामधेया प्रसंगतोऽन्ये च विषयाः समालोच-नीयाः। इष्टापूर्तादिकर्माणि च सादरं सानुरागञ्चानुतिष्ठन्ति महाभागाः ।

इह हि सर्व एव सुखंकामयमानाःपिपासातुरा हरिणशिशवो मरीचिकायामिव इतस्ततो धावन्ति । केचिद्वेदमार्गानुसारिणि नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तकाम्यकर्म्मणि नितरामासक्ताः केचिन् कुसीदवृत्तय इव आयातौ स्वर्गादिफलकामनया अश्वमेधादिभिर्यजन्ते केचित् फलमूल-समीरणमात्राहारिणो गलितपत्ररसवृत्तयो वा भिक्षा-जीविनो वा, गिरिगह्वरवासिनो वा, शीतवातातपक्लेशसहाः दुःखत्रयाऽभिघाताय प्रयतन्त । केचिन्नैष्ठिकब्रह्मचारिणो ललना-मुखावलोकनमपि बन्धकारणम् मत्वा परमार्थचिन्तया कालमतिवाहयन्ति । केचित्पञ्चाग्नि-योगेनात्मानम् विधूतपापम् कृत्वा परमपुरुषार्थम् कामयन्ते । केचिच्च स्वाध्यायाभ्यसनेन, केचित्तीर्थयात्रादिना, केचिद्दानधर्मोपदेशेन परान् प्रवर्तयन्तः, केचित् परोपकाराय यशः-शरीरमेव प्रमाणीकुर्वन्तः भौतिकम् शरीरम् भूतेष्वेव विभजन्ते । केचिच्च ललनासेवाम् केचिदुदरम्भरिताम् केचिन् प्रवंचनाकुशलताम्, केचिच्च परपीडनमेव परमपुरुषार्थम् मन्यमानाः तत्तन् साधनेषु प्रवर्तन्ते । केचिद्रूपदर्शनोत्सुकाः पतंगा इव, केचित् पिशितावृत-बडिशग्राहिणो मत्स्या इव, केचिद्गन्धामोदिनः षटपदा इव, केचित् स्पर्शनिमीलि-ताक्षकरेणुकोमलाङ्गस्पर्शसुखाभिलाषिणः करिण इव, केचित् सुमधुरवेणुरवाकृष्टाः कुरंगा इव, पञ्चसु विषयेषु नितरामासक्ताः विपत्पयोधावेव मज्जयन्ति । केचिदर्जनरक्षण-क्षयादि-

दोषदर्शनेनापि अनित्येष्वपि कामिनीकाञ्चनादिषु नित्यत्वबुद्ध्याज्ञानबीजोऽपष्टम्भादिना अशुचिष्वपि कायेषु शुचित्वबुद्ध्या दुःखमयेष्वपि संसारेषु दुःखाशबलसुखबुद्ध्या, अनात्मनि देहेन्द्रियादावात्मत्वबुद्ध्या सुखसाधनकर्माण्यकुर्वन्तः सुखं कामयमाना निरन्तरं गतागतं कुर्वन्ति। जन्ममरणव्याधिशोकदौर्मनस्यादिपरीताः तमो-मोह-महामोह-तामिस्रान्धतामिस्रादिमायावर्तसुदुस्तरे संसारसागरे कृतोन्मज्जननिमज्जनाः केचित् कामक्रोधादिव्यालबहुले संसारकान्तारे स्वविनाशमशंकमाना निर्भीका इव विचरन्ति। केचिद्दासत्वं, केचित् साम्राज्यं, केचिद्विनश्वरं, विषयकदम्बं, केचित् क्षणिकं यशः केचिन्नानाशास्त्रभारवाहित्वं केचिद्वर्णाश्रमधर्मरक्षितारः केचिद्वा निरीश्वरवादतल्पमधिशयाना यथेच्छव्यवहारमेव सुखसाधनं मन्यमानाः कुतोऽपि सुखमलभमानाः इतस्ततो संभ्रम्यमाणाः परिदृश्यन्ते। तानेतान् दुःखपंकनिमग्नान् करिण इव दुःखत्रयपरीतान् संसारानलज्वालाकुलान् मानवनिवहानुद्धर्त्तुं। नित्यसुखाभिव्यक्तिरूपं दुःखत्रयात्यन्तनिवृत्तिरूपं वा परमपुरुषार्थमुपदिदिक्षवः परमकारुणिकाः सर्वज्ञा ऋतम्भरप्रज्ञा विमलतपः सलिलविधौतपापमला वेदमार्गप्रवर्तकाः श्रुतिवाक्यतात्पर्यसमन्वयकारिणो दार्शनिका महर्षयः प्रादुरभवन्। तत्र च आस्तिक-नास्तिक-बौद्धजैनादीनां बहूनि दर्शनानि समुपलभ्यन्ते। तेषु च वेदमार्गाविरोधितया प्राचीनतया निर्मलमतिमहर्षिगणनिर्मलतया शिष्टाचारपरिप्राप्ततया सहृदयैरादृततया यथार्थतत्त्वावभासकतया, तत्त्वज्ञानोपयोगितया, दुःखत्रयनिवृत्त्युपदेशपरतया च, न्यायवैशेषिकसांख्य-पातंजल-मीमांसा-वेदान्ताभिधेयानि षडेव दर्शनशास्त्राणि प्रख्यातिमुपागमन्। तत्र च दुरवगाहे न्यायवैशेषिकतत्त्वार्णवे भीतभीता अपि कृतप्रवेशाः न जानीमहे।

अयम् रत्नाकराम्भोधिरित्यसेवि धनाशया।
धनं दूरेऽस्तु वदनमपूरि क्षारवारिभिः॥

रित्युक्तनयेन दारिद्र्यानलसंतप्ता अत एव विजातीया दृष्टवन्तो वयं भवतामन्तिकेतानि सुदुर्लभानि रत्नान्युपहारीकर्त्तुं शक्नुमो नवेति। तद् यातु, प्रस्तुतविषयमनुसृत्य प्रथमतो न्यायशब्दार्थमालोचयामः।

"न्यायोनेतासमीरणः" इति विष्णुसहस्रनामभाष्ये—"नीयन्ते प्राप्यन्ते विविक्षितार्था अभिलषितार्था वा येन इति न्यायः" इत्युक्तम्। वैयाकरणानां मते अश्रेषे चलनेऽर्थे निपूर्वक इणधातोऽर्थोक्तिरूपम्, यथा एषोऽत्र न्याय इति। भाष्यकारस्तु प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय इत्याह। प्राञ्चस्तु "प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनय निगमनरूपपञ्चावयववाक्यं न्याय" इत्याहुः। अन्ये च पञ्चरूपोपन्न लिंगप्रतिपादकं वाक्यं न्याय इति वदन्ति। अपरे च पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षासत्त्व-असत्प्रतिपक्षित्व अबाधितत्वैतत् पञ्चविधधर्मान्वितहेतुनिर्णायकं वाक्यं न्याय" इत्यादि बहूनि लक्षणानि प्रोक्तवन्तः। उपाध्यायास्तु "अणुमिति चरमकारणलिंगपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकवाक्यं न्याय" इति प्राहुः। दीधितिकारस्तु 'उचितानुपूर्वीकप्रतिज्ञादिपंचकवाक्यं न्यायः'। गदाधरस्तु—"प्रतिज्ञादि प्रतिपाद्य तत्तदर्थविषयक यत्किञ्चिच्छाब्दबोधनिरूपितशाब्दज्ञाननिष्ठाया या जनकता तत्तदवच्छेदककोटिप्रविष्ट यत्किंचिज्ज्ञानीयविषयताश्रयवर्णत्वव्यापक समुदायत्व वा न्याय" इत्याह। एवंविधा बहव एव न्यायशब्दार्था विद्वद्भिर्निरूपिताः।

तत्र आपस्तंबीय द्वितीयाध्याये न्यायशब्दः पूर्वमीमांसाबोधको दृश्यते। अस्तु तावत् यावान् यादृशो वा न्यायशब्दार्थः किञ्च पूर्वमीमांसायामेवादौ न्यायशब्दः प्रयुक्तो दृश्यते। तथा च माधवाचार्यकृतन्यायमालाविस्तारः वाचस्पतिमिश्रकृतन्यायकलिका इत्यादि। "वेबर" प्रभृतयः प्राश्चात्यसमालोचकास्तु न्यायशब्देनान्वीक्षिकीशब्देन च मीमांसाशास्त्रमेवोच्यते, अक्षपाददर्शनाविर्भावेन शिथिलादरे मीमांसाशास्त्रे तदेव न्याय-नाम्ना अभिधीयते इति जगुः। एतत्तु पश्चादालोचयामः। स च न्यायो लौकिकाऽलौकिकभेदेन द्विविधः। तत्र अर्द्रजातीयः गोलाङ्गुलीय-काकतालीयादीनाम लौकिकानाम् न्यायानाम पांशुलपादकानाम् हालिकानामप्युपलब्धैनतेषामत्रालोचनावसरः। अत एवास्माभिवृद्धपर-म्परया प्रसिद्धम प्रधानतः प्रतिज्ञादि पञ्चावयवनिर्णायकम् शास्त्रमेवेदानीम प्रस्तूयते।

शास्त्रस्याऽस्य वेदवेदाङ्गत्वाभावेनाप्रामाण्यं नाशङ्कनीयम् वेदोपाङ्गत्वेनैव प्रामाण्य-सिद्धेः। तथा च शौनकविरचित चरणव्यूहे—"प्रतिपदमनुपदं छन्दोभाषाधर्मोमीमांसा-न्यायस्तर्क इत्युपाङ्गानि" इत्यादिना अथर्ववेदोपाङ्गत्वेनेदमभिहित। अपरं च "अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तर" इत्यादिचतुर्दशविद्या परिगणनायाम न केवलं मीमांसातः पार्थक्यमस्य प्रदर्शितं, विस्तरशब्दोपादानाद्दर्शनान्तरेभ्यः प्राधान्यञ्चास्य प्रतिपादितम। एतच्छास्त्रप्रवर्तकोऽक्षपादापरपर्यायः सुप्रसिद्धस्तपोधनो गौतमः। गौतम इति वास्य नाम। अत एवेदं दर्शनम गौतमसूत्रं, अक्षपाददर्शनम न्यायदर्शनम वेत्याख्यायते। ब्रह्माण्डपुराणे—

सप्तविंशतिमे प्राप्ते परि त्ते क्रमागते।
जातुकर्णो यदा व्यासो भविष्यति तपोधनः॥
तदाप्यहं भविष्यामि सोमशर्मा द्विजोत्तमः।
प्रभासतीर्थमासाद्य योगात्मा लोकविश्रुतः॥
तथापि मम त पुत्रा भविष्यंति तपोधनाः।
अक्षपादः कुमारश्च उलूको वत्स एव च॥

इत्यादिना भगवदंशभूतसोमशर्मतनयाक्षपादस्यैव न्यायदर्शनप्रणेतृत्वमवगम्यते।

परमकारुणिकोयम तपोधनो दुर्बलाधिकारिणाम् स्वल्पायुषाम मन्दधियामनेकजन्म-परम्पराया ससाध्ये वैदिक मुक्तिमार्ग सामर्थ्यं प्रवृत्तिञ्चानुपलभ्य स्वावलम्बनेनैव परोपा-सनामन्तरेणैव पदार्थानाम् तत्त्वज्ञानान्मुक्तिः करतलस्थितैव भविष्यतीति मत्वा निरन्तर जननमरणादिरूपसंसारानलसंतप्तानाम मानवानाम् दुःखनिवृत्त्युपदेशकं शास्त्रमिदं प्राणैषीत्। तथा चोपाध्याय :—

"अथ जगदेव दुःखपङ्कनिमग्नामुद्दिधीर्षु रष्टादशविद्यास्थानेषु अभ्यर्हिततममान्वी-क्षिकीम परमकारुणिको मुनिः प्रणिनायेतिशास्त्रप्रणयनप्रयोजनमाचख्यौ।

मथुरानाथस्तु रहस्यव्याख्याने जगदेवेतिजगत् पदं वस्तुत्वविशिष्टपरं। एवकारस्तु या वदर्थकः। तथाच दुःखनिपङ्कनिमग्नाम् तदानीम् दुःखसमूहाधिकरणम यावद्वस्तुउद्दीधीर्षुः तदात्यन्तिक दुःखध्वंस विशिष्टं चीकीर्षुरिति व्याख्यातवान्।

मीमांसादर्शने वैदिकवाक्यतात्पर्यसमन्वयार्थम् तर्कविशेषो न्यायशब्देनाभिहितो इतः मीमांसात एव कालक्रमेण न्यायशास्त्रोत्पत्तिरिति पाश्चात्यसिद्धान्तम कथमपि न वयम स्वीकुर्मः। तथा चात्र आचार्यपादानामभिमतं

सुप्रसिद्धो महाभारतटीकाकारो नीलकंठः शान्तिपर्वीयान्वीक्षिकीशब्द-व्याख्यायाम—"ईक्षा प्रत्यक्षं तामनुवृत्ता अन्वीक्षा, धूमादिदर्शनेन यद्व्याप्त्यनुमानम तत्प्रधानामान्वीक्षिकीम तर्कविद्यां कणभक्षाक्षचरणादिप्रणीतम शास्त्र" मित्युक्तवान। देवस्वामिविमलबोधौ तु तन्मतमेवानुसस्रुः।

मनुसंहितायाम मेधातिथिभाष्ये "आन्वीक्षिक्यपि तर्कशास्त्रार्थशास्त्रादिका" इत्युक्तम्। अस्मत्पूर्वपुरुषाणाम परिव्राजकाचार्यमधुसूदनसरस्वतीपादानाम प्रस्थानभेदे च "न्याय आन्वीक्षिकी पञ्चाध्यायी गौतमेन प्रणीता इत्यभिहितम।" एतेन दर्शनान्तरेभ्यो न्यायशास्त्रस्य प्राधान्यं न्यायान्वीक्षिकीशब्दयोर्न्यायशास्त्रपरत्वञ्च प्रतिपादितम। अन्यत्र तु न्यायशब्द उपचरितस्तर्कान्वयित्वादित्यस्माकमभिमतम्।

आदिपर्वणि "नैयायिकानाम् मुख्येन वरुणस्यात्मजेन च" एवम रामायणे अयोध्या-काण्डेऽपि नैयायिकशब्दप्रयोगो दृश्यते। पाणिनिसूत्रे न्यायशब्दस्य उक्थादिगणे पाठात् नैयायिकशब्दो व्युत्पादितः। सुश्रुतचरकादिप्राचीनतमायुर्वेदग्रंथे तर्कप्रथस्य हेतूपनयादेश्च समुल्लेखो दृश्यते। अतो दर्शनान्तरेभ्यः प्राचीनत्वमस्यावगम्यते। किंतु तत्रभवान् श्रीमहामहोपाध्यायश्चन्द्रकान्ततर्कालंकारमहोदयो वैशेषिकदर्शनमेव प्राचीनतम मित्याख्यातवान्।

यद्यपि न्यायसंज्ञया व्यवहृता बहवो ग्रंथाः परिदृश्यन्ते तथापि "असाधारण्येव व्यपदेशा भवन्ति" इति न्यायः। यथा गौतमोक्तशास्त्रे प्रमाणादिषोडशपदार्थ-निरूपणेपि तदेकदेश न्यायपदार्थस्य अन्यशास्त्रापेक्षया प्राधान्येन प्रतिपादनात् न्यायशास्त्र-मिति तस्य संज्ञा" इतिरघुनाथकृतलौकिकन्यायसंग्रहमतमेव युक्तमुत्पश्यामः।

न्यायसूत्रप्रतिपाद्यविषयाः—अत्र तु मोक्षोपयोगितया प्रमाणादिषोडशपदार्थो-नामुद्देश आत्मसाक्षात्कारः मोक्षरूपप्रयोजनप्रदिपादनम तत्त्वज्ञानाधीनमुक्त्युत्पत्तिक्रमः इत्यादयो विषया विस्तरेणात्र प्रतिपादिताः। गौरवभयात् प्रत्येकं विभागो न प्रदर्शितः। शास्त्रस्यास्य श्रुतिमूलकत्वाभावेनाप्रामाण्यमित्यपि नाशङ्कनीयम—"श्रोतव्य मन्तव्य" इत्यादि श्रुति व्याख्याने "मन्तव्यो अनुमातव्यो बहुभिर्हेतुभिरिति पक्षताग्रन्थे मथुरानाथेनाभिहितम्। अत्र श्रुतितः कृतात्मश्रवणस्य मननेधिकारः मननञ्च आत्मन इतरभिन्नत्वेनानुमानम। तच्च भेदप्रतियोगितरज्ञानसाध्यं। तथा च इतरदेवकियदित्येतदर्थमेव पदार्थनिरूपणम" इति जगदीशाशयः। किञ्च प्रामाण्यसन्देहे अनुकूलतर्कविरहात् व्याप्त्यादेर प्रयोजकत्व-शंकायाञ्च श्रुतेरेवानुकूलप्रमाणतया अंगीकृतत्वेन, "नत्र खण्डप्रलये शब्दसत्वे मानाभावः ब्रह्मणो वर्षशतमायुरित्यागमप्रसिद्धेरेव मानत्वा"दित्यादिना जगदीशतर्कालंकारैः श्रुतेरेव बलीयस्त्वप्रदर्शनं श्रुतिमूलकत्वप्रतिपादनात् "मन्त्रायुर्वेदवच्च तत् प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्या"दिति न्यायसूत्रे वेदप्रामाण्यांगीकाराच्च। शास्त्रमिदम् ख्रिष्टीय पंचमशताब्द्या माविरासीदिति पाश्चात्यानाम सिद्धान्ते वयं तूष्णीम्भूताः। वृद्धपरम्परया, उपदेशपरम्परया, सूत्ररूपेण च

प्रकटनादनादिकालसिद्धमिदमुपनिषद्बीजं कालावच्छिन्नत्वेन परिच्छेत्तुं न शक्यते। निन्दावादास्तु श्रुतिप्रामाण्यमनङ्गीकुर्वताम् केवलं हेतुवादान् प्रवदतां शुष्कतार्किकानामुपरि निपातनीयाः। वेदप्रामाण्यमनङ्गीकुर्वताम् बौद्धजैनपाश्चात्यानाम् न्यायाभासानां प्रबन्धान्तरशंकया नात्राऽऽलोचनावसरः। अतस्तेभ्यो विरम्यते।

नव्यन्यायः

यदा खलु बौद्धजैनादीनाम् बहुलयुक्तिज्ञानतरंगिते दुस्तरदर्शनमहोदधौ भीतभीता इवास्माकं शास्त्रतरणिरनिशं दोदुल्यमाना कृतोन्मज्जननिमज्जना इव बभूव तदानीं नवीन-न्यायाचार्याः प्रादुरभवन्। तत्र च शिवादित्यन्यायाचार्याः न्यायस्य प्राचीनमतम् संस्थापयन् प्रशस्तपादविरचितसंग्रहग्रंथस्य 'व्योमवतीम् वृत्तिं' वितन्वन् सप्तपदार्थांश्च विरच्य व्योम शिवाचार्यसंज्ञया परां प्रसिद्धिमुपगतः। तदानीं नवीनधर्मसंस्थापनाय परस्परं विवद-मानानाम् विजिगीषूणां वाक्कलहाभारदुर्गतेऽस्मिन् भारतवर्षे शास्त्रचिन्तारताः क्रियावन्तो वेदमार्गानुयायिनो दुर्बलाः किंकर्तव्यविमूढा विमनायमाना जगत्कर्तारमीश्वरमेव शरणमु-पैयिवांसः पथभ्रष्टा दुर्बला मातृहीना वत्सा इव सविषादमितस्ततो विचेरुः। खीष्टीय ६ षष्ठ-शताब्द्यां वेदविरुद्धमार्गावलम्बिनां तेषाम् दार्शनिकानामाविर्भाव इत्याधुनिकेतिहासिकानां सिद्धान्तः। तत्र च बहवो नरपतयोऽपि तेषामेव प्रमाणभावम् व्यवस्थापयताम् बौद्धा-दीनाम् मतमनुसस्रुः।

तदानीं वेदमार्गविरोधिनां बौद्धादीनाम् मतं निरसितुम् निखिलवेदमार्गानुसारिणाम् वासनाविशेषवशेन भगवदनुग्रहेण तदंशविशेषभूत इव विपक्षदैत्यदलनो नरसिंह इव ज्ञानगर्भोभययुक्तिम् दधानो निखिलारातिकरीन्द्रकुलकेसरी भारतोदयगिरिशिखरमधिरूढ आर्यकुलगौरवरविः कुतर्कान्धतमसनिरसनपटुविमलज्ञानज्योति भविष्यन्त्या भारत-सम्पदोऽविनाशी सत्सिद्धान्तमणिमयविजयस्तम्भः निखिल विद्वज्जनाग्रगण्यः सुतीक्ष्ण-बुद्धिबलशरनिकरशोभितविपक्षकुरंगकुलः कुपथपतितविरोधिश्वापदकुलदलनमृगेन्द्रः विद्वत्कुलतिलकः पवित्रीकृतान्ववायः कृतार्थमातृकः सम्यगन्वर्थवसुन्धरः उपाध्यायो गंगेशोपाध्यायः समजनि। यस्यातुलनीयम् वाक्चातुर्यम् असाधारणी मनीषा अलौकिक कवित्वशक्तिः निरुपमाविचारपद्धतिः सूक्ष्मदर्शिता च जगन्मंडलमायत्तीचकार। यस्या साधारणपाण्डित्येन प्रलयवात्यासमुत्सारितधूलिराशय इव यूथभ्रष्टाजन्तुर्विरोधिनो दशादिशः। केचिच्च दुरुत्तरविचारकौशलेन वर्षाकालीनजलधर पटलासारकर्दमीकृता मृच्चूर्णा इव प्रह्वीभूताः।

ऐतिहासिकानाम् मतं खिष्टीय १४शताब्द्यामयं प्रादुरभवत्। सोऽयम् वंगदेशीयो मिथिलावासी मिथिलोत्पन्नो वा मिथिलावासीति विप्रतिपत्तिबाहुल्यमद्यापिवर्तते। यद्यप्ययं प्राचीनन्यायमतमेव स्वकृततत्त्वचिन्तामणौ सम्यग् वितताान तथापि गौतमोक्त-षोडशपदार्थलघूकृत्य सप्तपदार्थेष्वेवं तदन्तर्भावं कल्पयन् प्रधानतः षोडशपदार्थान्तर्गत-प्रमाणपदार्थमेव प्रत्ययादिखण्डचतुष्टयेन सविशेषमालोचयन् व्याप्तिज्ञानपरामर्शादि-जन्यानुमानमेव प्रबलविपक्षसुदृढ्यत कण्ठच्छेदनपटीयस्त्वेन निशितासिधारामेवावधारयन् ईश्वरानुमाने च विशेषतः सामर्थ्यं प्रदर्शितवान्।

एतदेवास्य शास्त्रस्यातुलनीयो महिमा गरिमाऽसाधारणत्वञ्च। यदेतदशेषशाखा-प्रशाखादिमत्तया न्यग्रोध इवैतादृशी विशालतामापन्नम् यद्गत्यन्तराऽभावेन सर्वेषामाश्र-यणीयमपि केऽपि पुरुषायुषेनापि वाङ्व्यापारविषयतामधिकर्तुम् न शक्नुवन्ति किमुता-धिकर्तुम्। अत्र च बहवो भट्टामिश्राः आचार्यादीक्षिता उपाध्यायाश्च ग्रंथकारा आसन्। चिन्तामणि-दीधिति कार-रघुनाथशिरोमणि-मथुरानाथतर्कवागीश-जगदीशतर्कालङ्कार-गदा-धर- भट्टाचार्यानाम् ग्रन्था एवेदानीम् बाहुल्येन समादृता परिदृश्यन्ते। वासुदेव सार्व भौमपक्षधरमिश्रादीनाम् बहवो ग्रंथा विलुप्ताः।

वस्तुतस्तु सर्वशास्त्रप्रवेशोपयोगितया बुद्धिनैर्मल्यजनकतया शास्त्रार्थनिर्णयसाधन-परतया सेश्वरवादतया चेदमवश्यमध्येयम्। तथा च वात्स्यायनः

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आधारः सर्वभूतानां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता॥ इति।

एष च नव्यन्यायविशालमहीरुहो व्योमशिवाचार्यैरङ्कुरितः श्रीधरोदयनादिभिः पल्लवितः गंगेशादिभिः पुष्पितो वर्द्धमान-यज्ञपति-पक्षधर-वासुदेव रुचिदत्त-महेश रघुनाथ-मथुरानाथ-भवानंद-जगदीश गदाधरादिभिः फलितश्चेति।

महेश्वराराधनलब्धवरेण उलूकापरनामधेयेन "विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिंगम् काश्य-पोऽब्रवी'दित्यादि वचनप्रामाण्यात् कश्यपगोत्रोत्पन्नेन तंडुलकणमात्रभोजिना धान्य-नोमेकैकगुलिकोच्चयनवृत्तिना वा महर्षिणा कणादेन प्रणीतमिदम् वैशेषिकदर्शननाम्ना प्रसिद्धम्। षड्दर्शनान्यतमरत्नभूतं मोक्षोपयोगितया सर्वैराम्नायते।

"उलूकः परमो विप्रो मार्कण्डेयो महामुनिः" इति महाभारतीयप्रमाणेन उलूक-नाम्ना प्रसिद्धः प्राचीनतमो महर्षिश्रेष्ठश्चायमित्यवगम्यते। माधवाचार्यप्रणीतसर्व-दर्शनसंग्रहे औलूक्यदर्शननाम्ना इदमेवाभिधीयते। अतोऽस्यैव उलूकेति नामान्तरमिति निस्संदिग्धं प्रतीयते।

"अन्यत्रान्तेभ्यो विशेषेभ्य" इति सूत्रानुसारेण दर्शनान्तरेष्वनङ्गीकृतस्य विशेष-पदार्थस्याङ्गीकरणात् वैशेषिकमित्यस्य संज्ञा तथा च अस्यन्त्वे सति नित्यद्रव्येषु समवाय-सम्बन्धेन वृत्तिमत्वं विशेषत्वमितिलक्षणेन मुद्गीयपरमाणुतो माषः माषीयपरमाणुतो मुद्गश्च कथम् न जायतामित्यापत्तिनिराकरणाय परमाणुगतो विशेषोनाम कश्चनपदार्थो-ऽङ्गीकृतः येन समवायेन प्रत्येकपरमाणौ वर्तमानतया विजातीयकारणेभ्यो विजातीयकार्यो-त्पत्तिरूपा कार्यकारणभावगतापत्तिर्निराकृता।

दर्शनान्तरेभ्योऽस्य प्राचीनत्वमनुमीयते। आचार्यपादास्तु त्रिसहस्रवत्सरात् पूर्व-मिदमाविष्कृतमिति वदन्ति तदसहमानानां मुखमुद्रणायास्माभिरिदमेवोच्यते। यत्सार्द्ध-द्विसहस्रवत्सराद् पूर्वम् बौद्धोदधिसमुच्छलितमततोयेनाप्लुतमिदं महीमंडलमासीत्।

यस्य तुमुलकलनिनादो भारतवर्षमतिक्रम्यापि देशान्तरं प्रतिध्वनितवान्। यस्य च महान् विक्षोभः सदाचारपद्धतिं तृणसन्ततिमिव दूरमुत्सारयामास। यस्य च महानावर्तो वेदमार्गानुयायिनाम् काशकुशाट्यास्थली चरुस्थली कमण्डलुप्रभृतीन् प्लावयन् देशान्तर-मनयत्। न च तस्य प्रतिवाक्यत्वेन प्रसंगतोऽपि वैशेषिकमिह उच्चैः नेनाद। यत्किञ्चि-

दुपलभ्यते तत्तु उपनिषदादिस्वन्तर्निहितो भावि बौद्धमतच्छायाया अभाव:। वस्तुतो बौद्धमतनिराकरणाय प्राणपाताऽसौ वैशेषिकदर्शने न दृश्यते। अतो बौद्धमताविर्भावात्पूर्ववर्त्तनमिदमिति सुव्यक्तं प्रतीयते। महामहोपाध्याय तर्कालंकारपादास्तु दर्शनान्तरेणमिदमेव प्राचीनतममिति व्यवहृतवन्त:। यद्यप्यक्षपाददर्शनादस्य प्राथम्यं नाङ्गीक्रियते सर्व्वैस्तथापि तत् समकालवर्त्ति तदल्पोत्तरकालवर्ति वेदमिति निस्संदिग्धम् निश्चेतुम् शक्यते। लिंगपुराणोक्तेन "अक्षपाद: कुमारश्च उलूको वत्स एव च" अनेन भगवदंशभूतसोमशर्मणस्तृतीयशिष्यत्वेनाभिहितत्वादक्षपादस्य च प्राथम्येनोक्तत्वान्नानयोर्दवीयान् काल:। यदि चाक्षपादोक्तषोडशपदार्थान् संक्षिप्य समीचीनतया परिशोधिततया च तन्निष्कर्ष एवात्राभिहित इत्यप्यङ्गीक्रियते। केचित्तथापि दीर्घकालव्यवधानयोरिति कथमपि नाङ्गीकुर्म्म: "न वयम् षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिव"दिति प्रचलितसांख्यसूत्रात् "महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमंडलाभ्या"मिति ब्रह्मसूत्रात् "कर्म्मैके तत्र दर्शना"दित्यध्वरमीमांसायाम् शब्दानामुत्पति-विनाशवस्तुमिति वैशेषिकसिद्धान्तस्य जैमिनिना निराकृतत्वात् लंकेश्वररावणकृतभाष्यस्तित्वस्य रत्नप्रभादौ दर्शितत्वाच्च दर्शनान्तरेभ्य: वैशेषिकदर्शनस्य प्राचीनत्वे न कश्चिदनुपपत्तिलेश:। केचित्तु प्रथमत: कृतस्य ग्रंथस्य संक्षिप्तता सर्व्वत्र सर्व्वजनप्रसिद्धा। पश्चात्तु कालवशेन दुर्बलाधिकारीशिष्यपरम्परया समीचीनतया परिनिष्टतत्वेन च विस्तृतिमापद्यन्ते ग्रंथनिवहा:। तथाचास्मिन् संक्षेपेणोद्दिष्टा अनुमानप्रणालीमहतायत्वेन निपुणतया विस्तरेण च न्यायशास्त्रे समालोचिता। हेत्वाभासाश्रय एवास्मिन् शास्त्रे निरूपिता: न्याये तु सप्रपञ्चम् सोपपत्तिकञ्च पञ्चहेत्वाभासा: समालोचिता:। अत्र तु प्रमाणद्वयं न्याये तु प्रमाणचतुष्टयमभिहितम्। शब्दानित्यत्वमात्मपरीक्षणादिकञ्च संक्षेपत एवात्रोक्तम् अत्र तु षट्पदार्था: न्याये तु षोडशपदार्थानामुद्देशलक्षणपरीक्षादिकं विस्तरेण समालोचितम्। अतोऽनुमीयते वैशेषिकदर्शनात् परत एवाक्षपाददर्शनमाविर्भूतमिति वदन्ति।

दर्शनस्यास्य शंकरमिश्रकृत उपस्कार:। पञ्चाननतर्करत्नकृतस्तस्य परिष्कार: जयनारायणतर्कपंचाननकृता तस्य विवृति:। महामहोपाध्याय चन्द्रकान्ततर्कालंकारकृतं भाष्यञ्चोपलभ्यते। शंकरमिश्रस्तु चिन्तामणिकृतो गंगेशोपाध्यायादधस्तन: ते नहि चिंतामणिमतस्याक्षिप्तत्वात्। केचि तु प्रशस्तपादाचार्यकृतं पदार्थधर्मसंग्रहमस्य दर्शनस्य भाष्यत्वेन व्याहरन्ति। तदयुक्तम् वैशेषिकमतावलम्बनेनैव तद्ग्रंथस्य निर्मितत्वादियमाशङ्का समुदेति वस्तुत: संग्रहनाम्ने व तद् व्यपदेशान्नायम् भाष्यग्रंथ:। तथा च—

प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमादरात्।
पदार्थधर्मसंग्रह: प्रवक्ष्यते महोदय:॥

इत्यस्य व्याख्यानावसरे किरणावल्यामुदयनाचार्यैरभिहितम्—पदार्था द्रव्यादयस्तेषां धर्मा: साधर्म्यवैधर्म्यरूपास्त एव परस्परं विशेषणभूतास्ते—अनेन संग्रह्यन्ते शास्त्रे नानास्थानेषु वितता एकत्र संकलया कथ्यन्ते इति संग्रह: सप्रकृष्टो वक्ष्यते। प्रकरणशुद्धे: संग्रहपदेनैव दर्शितत्वात् वैशद्यं लघुत्वं कृत्स्नत्वञ्च प्रकर्ष: सूत्रेषु वैशद्याभावात् भाष्यस्य च विस्तरत्वादित्यादिना।

दर्शनेस्मिन् षट्पदार्था एवाङ्गीकृता:। तथा च "धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुण-

कर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानाम् साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम् तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसमिति चतुर्थसूत्रात् "नव यं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिव"दिति सांख्यसूत्रात् । अपिच वैशेषिकाः तन्त्रार्थभूतान् षट्पदार्थान्"'अभ्युपगच्छन्ति इति शारीरकभाष्ये च तदधिगतः ।

किन्तु प्रशस्तपादादीनाम् वैशेषिकाचार्याणाम् मते षट्पदार्थाभावाभिप्रायेणोक्ताः अभावोऽपि सप्तमो मुनेरभिमत इत्युक्तम् । वल्लभाचार्योऽपि एतन्मतमेवसमीचीनमन्यमानः अभावश्च वक्तव्यो निःश्रेयसोप योगित्वात् भावप्रपञ्चवत् कारणाभावेन कार्याभावस्य सर्वत्रसिद्धत्वादुपयोगित्वसिद्धेः" इत्याह । उदयनाचार्योऽपि किरणावलीग्रंथे "एते च पदार्थाः प्रधानतया शिष्टाः, अभावस्तु स्वरूपवानपि नोद्दिष्टः, प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वान्नतु तुच्छत्वा"दित्यानाः प्रशस्तपादमतमेव समीचीनतया स्वीचकार। एते खलु वैशेषिकानाम् सुप्रसिद्धषट्पदार्थवादितायाम् विप्रपनार। वस्तुतस्तु प्राचीनमते अभावस्याधिकरणस्वरूपत्वान अभावाभावस्य च प्रतियोगिस्वरूपत्वेन सिद्धान्तितत्वात् द्रव्यत्वादिषट्कवत् अभावत्वं नातिरिक्तपदार्थविभाजकोपाधिरङ्गीक्रियते प्रयोजनाभावात् इति युक्तमुपेश्यामः । शास्त्रस्यास्य प्रयोजनं परमविदुषा शंकरमिश्रेणोक्तम् । तथा च तापत्रयपराहता विवेकिनस्तापत्रयनिवृत्तिनिदानमनुसन्दधानानानाश्रुतीतिहासपुराणेष्वात्मतत्त्वसाक्षात्कारमेव तदुपायमाकलयाम्बभूवुः । तत्प्राप्तिहेतुमपि पन्थानम् जिज्ञासमाना परमकारुणिकम् कणादमुनिमुपसेदुरथ कणादो मुनिस्तत्त्वज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः षण्णां पदार्थानाम् साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम् तत्त्वज्ञानमेवात्मतत्त्वसाक्षात्कारप्राप्तये परमः पन्था इति मनसि कृत्य तत्र निवृत्तिलक्षणाद्धर्मादेतेषाम् अनायासेन सेत्स्यतीति लक्षणतः स्वरूपतश्च धर्ममेव प्रथममुपदिश्य तदनन्तरं षडपि पदार्थानुद्देशलक्षणपरीक्षाभिरुपदेक्ष्यामीति हृदि निधाय तेषामवधानाय प्रतिजानीते अथेति" एतद्दर्शनविषये एते ग्रंथाः समुपलभ्यन्ते—अपशब्दखंडन, अहेतुसमप्रकरण, कणादरहस्यसंग्रह, काणादरहस्य, काणादसंग्रहमाला कारिकावली, किरणावली, कोमला जातिषट्कप्रकरण तत्त्वज्ञानविवृद्धिप्रकरण, तत्त्वानुसन्धान, तर्कप्रदीप, तर्कभाषा, तर्करत्न, द्रव्यपताका, न्यायतन्त्रबोधिनी, न्यायतरंगिणी, न्यायपदार्थदीपिका, न्यायसारपदसंग्रह, पदार्थखंडनप्रमाणमंजरी, . रत्नकोष, राधान्तमुक्ताहारलक्षणावली, वैशेषिकरत्नमालाप्रभृतयः । अत्रेदमवधेयमप्रबन्धेस्मिन्न्यायवैशेषिकयोर्वैशिष्ट्यं प्रमाणपर्यालोचनम् पदार्थानाम् विस्तरशः प्रतिपादनम् अनुमानानां भेदाः कार्यकारणभावनियम इत्यादि बहुविषयानाम् व्यत्वेपि प्रबन्धगौरवभिया अत्रैव विरम्यते ।

वस्तुतः एतद्दर्शनद्वयज्ञानाभावे जगति किमपि ज्ञातं न भवेत् । अत एवेदं चक्षुः पदार्थतत्त्वमविदुषाम् प्रदीपोन्धतमसाच्छन्नशास्त्रगहनसंचारिणाम् पञ्चाननो विपक्षकरिणाम् कल्पतरुःकल्पनाकुशलनाम् महाह्रदः शास्त्रामृतरसपिपासूनाम सर्वमंगलादीनाम् ऐहिकामुष्मिकफलप्रदंवेदप्रामाण्यबोधकम् सदाचारप्रवर्तकञ्चेदं दर्शनान्तरेभ्यो महार्हमासन मारोढुम इति । किमन्यत बहुलकंटकिताम दुरधिगम्याम अतिकर्कशामेतद्दर्शनमहारण्यानीम् सञ्चरतो नास्ति काचिद्विपक्षकुतर्कव्यालभीतिरिति शम ।

वदन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदम्, विशुद्धिमुक्तेरप विपश्चितः ।
इति स्थितायाम् प्रतिपूरुषं रुचो, सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः ॥

THE SO-CALLED MANUSCRIPT OF THE ADVAITA-SIDDHI-KHANDANA MENTIONED BY AUFRECHT AND ITS IDENTIFICATION WITH THE NYĀYĀMṚTA-SAUGANDHYA OF VANAMĀLIN BETWEEN A.D. 1575 AND 1650.

By P. K. Gode, M. A.

Curator, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 4, 1946.

Aufrecht makes the following entries about a work called the अद्वैतसिद्धिखण्डन :—

C C I 10 "अद्वैतसिद्धिखण्डन by वनमालिन् Bhr. 668. C C I, 549—
"वनमालिन् अद्वैतसिद्धिखण्डन"

The only MS of this work recorded by Aufrecht in the above entries is "*Bhr.* 668" which is identical with MS *No.* 668 *of* 1882-83 in the Govt. MSS Library at the B. O. R. Institute, Poona. It is written on country paper (9 lines to a page and 38 letters to a line). The size of each folio is :—$10\frac{1}{4}'' \times 4\frac{1}{2}''$. The arrangement of the folios in the MS is as follows :—

Folio 1 *and folios* 43 *to* 269 (last folio) comprise the old original copy written in thick black letters.

Folio 2 *to* 33 are inserted by a later writer perhaps to make up the missing folios in the above original. They are written in small characters and are whitish in appearance but eaten up by moths.

Folio 1 is pasted on another blank folio, which is of the same appearance as that of folios 2 to 33. This folio however contains the following endorsements :—

"नन्वं वेदय वेदगं नरहरे नैषोधिकारीति चेत्
स्तंभादाविरभूः कुतो मृगतमश्चंद्रांशुतामाश्रिते ॥
द्रोहेणापि न ते स्मरत्ययमतो नेहानुकंपेति चेत्
नत्किं त्वं न नदीश यद्यनिश स्नेहादिन स्मर्यंते ॥ ३—० ॥ श्री ॥

Underneath the above writing but with letters inverted we find the following endorsement :—

"अथ वनमालीमिश्रविरचित अद्वैतसिद्धिखण्डन—
माध्वशास्त्रीय सौगंध्य ग्रंथ तृटितक्रयक्रीतशके
१७८० ॥ श्री ।"

The handwriting of both the above endorsements is identical with that of folios 2 to 33. It would appear, therefore, that these folios 2 to 33 were written and inserted by the owner of the MS, who

purchased this MS in an incomplete condition in Śaka 1742 (A.D. 1820) as stated in the endorsement "ग्रथ नृटितक्रयक्रीतशके १७४२

Folio 1. begins as follows :—

"श्रीनृसिंहाय नमः श्रीमदानंदतीर्थभगवत्पादाचार्येभ्यो नम. श्रीवनमालिदासगुरुभ्यो नम

सकलनिगमवाच्यो हेयशून्यो गुणाब्धि--
भवजलधितितीर्षु ज्ञेयमूर्तिर्मुकुंदः।
भवमतिगतपुंभिः प्राप्य धामाखिलेशः
स्फुरतु स हृदये मे सुप्रसन्नो हयास्यः ॥ १ ॥
ज(ग)दुदयलयादीन् दोषहीनो विधत्ते
भ्रमति निखिलविश्व यस्य शक्तयैकदेशे।
अणुक ...वनवाक्षे नं तया रस्य विष्णो;
स कृपयतु सदा नो गोपसूनुर्मुकुंदः ॥ २ ॥
कृतनिगमविभाग केशवांगं मुनीन्द्र
यतिगुरु मरुदंशं देशिकाचार्यवर्य्यं।
कुमतवनकृशानुं श्री जयव्यासतीर्थो
प्रणमति वनमाली तत्प्रसादैककामः ॥ ३ ॥
श्रीमध्यवशास्त्रदुग्धाब्धे न्यायामृतं यदुत्थितम्।
श्री व्यते तस्य सौगंध्य[1].....स्य शुशुत्सया ॥ ४ ॥

आत्मा वारे द्र...."

The MS ends on folio 269 as follows :—

"किंच त्वदुक्तार्थो न प्रकाश इति सविशेष स्व प्रकाशस्वरूप भिन्ने तथास्तु भासमाने सुखादिस्फुरणेन प्रकाशते राम श्री राम"

The above extracts give us the following particulars about the author and his work :—

(1) The author bows to god नृसिंह, आनंदतीर्थ (=मध्वाचार्य) and one वनमालिदासगुरु at the beginning of the MS.

(2) In *verse* 1 he bows to god Gaṇeśa (हयास्य)

(3) In *verse* 2 he invokes the favour of god मुकुंद

[1] Vide p. 172 of *Cata of Sanskrit MSS*, Adyar Library Pt. II, 1928—"न्यायामृतसौगन्ध्यम्—वनमालिकृतम्
26D 26 ग्र 86 अस (शिथिलम्)"

(4) In *verse* 3 he bows to his preceptor मरुत् who is called यतिगुरु and देशिकाचार्यवर्य्य। He also invokes the blessings of जयतीर्थ and व्यासतीर्थ। The name of the author is वनमाली

(5) *Verse* 5 gives us the title of the work, which is न्यायामृतसौगन्ध्य[2] This title is in agreement with the following verse found on folio 23 :—

"सामान्यतो हि मिथ्यात्वभंजनं मायि भंजनं।
श्री न्यायामृतसौगन्ध्ये श्राविते वनमालिना॥

In the margins of folios 2 to 33 the name of the work is recorded as "सौगंध्यं" On folio 33 occurs the endorsement "अद्वैतसिद्धि-खंडन वनमालीमिश्रीय" Perhaps this endorsement is responsible for the title "अद्वैतसिद्धिखंडन" recorded in the catalogue of 1882-83 Collection to which this MS belongs.

These verses are identical with verses 3 and 4 of the B. O. R. I. MS *No.* 668 *of* 1882-83, which is evidently a MS of न्यायामृतसौगन्ध्य

Besides the references (on folio 1) to जयतीर्थ, व्यासतीर्थ, मरुदंश गुरु (author's preceptor) the work mentions the following authors and works :—

(1) आचार्यवचसः—10
(2) तत्त्वप्रदीपिका—10, 254 (तत्त्वप्रदीप)
(3) शून्यवादिभिः—12
Folio 21 "इति मिथ्यात्वनिरुक्तिभंगः समाप्तः"
(4) पातंजलसूत्र 22
ब्रह्ममीमांसाधिकरणेषु 23
Folio 23 "इति सामान्यतो मिथ्यात्वभं (गः समाप्तः)"
(5) ब्रह्मपुराण, 23

---

[2] Aufrecht (C C III, 67) records the following MS of न्यायामृतसौगन्ध्य "न्यायामृत Vedānta by व्यासतीर्थ—"Comm. न्यायामृतसौगन्ध्य by वनमालिमिश्र H. z. 1541, p. 147"

"Hz 1541"=MS No. 1541 in the *list of Sanskrit MSS* by Hultzsch (Report No. 1, 1895). This MS contained only 8 leaves. The beginning of this MS as given on p. 147 of the Report reads as follows :—

कृतनिगमविभागं केशवांशं मुनीद्रं। यतिगुरु मरुदंश देशिकाचार्य्यवर्य्यं
कुमतवनकृशानुः श्री नयं व्यासतीर्थं। प्रणमति वनमाली तत्प्रसादैककामः
श्रीमध्वशास्त्रदुग्धाब्धेर्यन्न्यायामृतमुत्थितं।
श्राव्यते तस्य सौगन्ध्यं स्वश्रुतस्य बुभुत्सया॥"

Folio 27 "इति दृश्यत्वभंग:"

Folio 29 "इति जड़त्वभंग:"

(6) आनंदबोध, 30

(7) आचार्याशयात् 31

(8) मंडनोक्ते: 43

(9) आकाशाधिकरणे, 56

(10) गौड़मीमांसक, 56, 185

(11) नव्यमीमांसकै: 56, 133

(12) बौद्धधिक्कारे, (2, 125, 156

(13) शाबरभाष्ये, 63, 65 (शबरवाक्यं), 70, 178 (शबरस्वामिना) 234

(14) कुसुमांजलौ 65

(15) टुप्टीकायां 70

(16) शास्त्रदीपिका 70

(17) पाणिने:, 71

(18) विवरणे, 78, 253

(19) पक्षधरमिश्रै:, 81

(20) बौद्धं प्रति वार्त्तिके, 84

Folio 85 "इति भाविबाधकशंकाभंग:"

(21) हरिवंश, 91, 256

(22) प्रत्यक्षदीधितौ 99

Folio 109—"इति विशेषतो मिथ्यात्वानुभंग:'

(23) वार्त्तिके (बौद्धं प्रति) 125

(24) खंडने 130, 131, 199,

(25) महाभाष्ये 162, 188, 207, 209, 211, 224,

Folio 172—"इति प्रतिकमव्यवस्थं भंग: श्रीनृसिंहाय नम: श्री लक्ष्मीनृसिंहाय नम:

(26) वार्त्तिककारै: 192,

Folio 203—"इति द्वैतप्रत्यक्षस्याद्वैतश्रुतिबाधकत्वे खंडनभंग: श्रीनृसिंहाय नम:"

(27) बृहदारण्यके 203, 210, 212,

(28) अमर 206, 211 (अमरव्याख्यायाम्)

(29) कैय्यट, 206,

(30) पदमंजर्याम् 206,

(31) गीतायाम् 208, (many verses from the *Gitā* have been quoted throughout the work)

(32) "तार्किकभाट्टरीत्या" 210

(33) काठके 210, 212

(34) न्यायविद: 211
(35) मणिवाक्य 213
(36) वैशेषिकमत 217
(37) भारते 217
(38) जैमिनिसूत्रे 222
(39) वाचस्पतिना 225
Folio 244—"इति एकजीवमतभंग: श्रीनृसिहाय नम:"
Folio 252—"इति अज्ञाने प्रत्यक्षत्वभंग: श्री नृसिहाय नम:"
(40) विष्णुपुराण, 258
(41) निघंटोक्ते: 258
Folio 265—"इति अविद्यायाश्चिन्मात्राश्रितत्वभंग: श्रीनृसिहाय नम:"

It is clear from the evidence recorded above that the present MS *No.* 668 *of* 1882-83 is a MS of न्यायामृतसौगन्ध्य (of वनमालिमिश्र) of which two other MSS have been noticed by me in this paper viz. (1) the MS described by Hultzsch and (2) the MS mentioned in the Adyar library catalogue. Evidently the title अद्वैतसिद्धिखडन as applied to this MS is not correct.

Vanamālin mentions पक्षधरमिश्र on folio 81 of the MS. In the *Madhyayugina Caritrakośa* (Poona, 1937) p. 753, we are told that व्यासतीर्थ (died A. D. 1533) had a controversy with पक्षधर मिश्र According to Dr. S. K. De[3] the date of पक्षधर is uncertain. According to Satish Chandra Vidyabhushan (*Indian Logic*, Calcutta, 1921, p. 455-56) पक्षधर belongs to the *last quarter of the 13th century* (i.e. *Between A. D.* 1275 & 1300) Gopinath Kaviraj (*Saraswati Bhavan Studies*, IV, pp. 62 f.) shifts this date to the "*3rd quarter of the 15th century*" (i.e., *Between A.D.* 1450 *and* 1475. If this date is correct it will have to be reconciled with the period (*A. D.* 1478-1539) to which व्यासतीर्थ has been assigned by B. N. Krishnamutri Sarma[4] जीवगोस्वामिन् who composed works[5] in *A. D.* 1555, 1589 and 1592, states that he has taken some passages[6] from व्यासतीर्थ. This fact harmonises chronologically with the period of व्यासतीर्थ. viz. *A. D.* 1478-1539 fixed up by Dr. B. N. K. Sarma.

---

[3] Vide foot note 3 on p. 64 of *Vaiṣṇava faith and Movement in Bengal*, Calcutta, 1942.
[4] Vide p. 659 of Vol. II of *New Indian Antiquary*.
[5] Vide p. 122 of *Vaiṣṇava faith* etc.
[6] Ibid, p. 312.

The work प्रत्यक्षदीधिति mentioned on folio 99 by Vanamālin is possibly a section of the तत्त्वचिंतामणि दीधिति of रघुनाथशिरोमणि (A. D. 1477-1547) the great logician of Nudia p. 676 of *Madhyayugina Caritrakośa*.

From the chronology recorded above the present work of Vanamālin viz. न्यायामृतसौगन्ध्य is definitely later than A. D. 1550. This very Vanamālin composed a vigorous defence of the मध्वतंत्र in a work called the मारुतमण्डन on which I have written a special paper[7]. The rare MS of this work at the B. O. R Institute viz. *No.* 718 *of* 1882-83 is dated *Saṁvat* 1741=*A.D.* 1685. In a verse at the end of this work the author Vanamālin informs us that he belonged to a Brahmin family of the *Bharadvāja gotra*, living at a place not far removed from Vṛndāvana (in the U.P.) On folio 7 of the MS of the मारुतमण्डन the author mentions न्यायामृत and on folio 4 he mentions तात्पर्य-चन्द्रिका Both these works were composed by व्यासतीर्थ (*A.D.* 1478-1539).

In view of the above evidence we may assign the न्यायामृतसौगन्ध्य of Vanamālin to the period *A.D.* 1575-1650. This Vanamālin appears to have composed श्रुतिसिद्धांतदीपिका (B. O. R. I. MS dated *A. D.* 1692) and a commentary on the भगवद्गीता, not to say भक्तिरत्नाकर, a MS of which has been described by Hultzsch in his *Report I*, pp. 56 and 129 (extract). All these three works need to be studied separately with a view to collecting data bearing on the personality of the author and his literary career. Besides the five works of our *Vanamālin* viz. (1) न्यायामृतसौगन्ध्य, (2) मारुतमण्डन, (3) श्रुतिसिद्धांतदीपिका, (4) भगवद्गीता टीका और (4) भक्तिरत्नाकर there may be many more, which can be proved to be the works of this author. Aufrecht records several authors of the name वनमालिन् separately, with a work or two to the credit of each. We must, therefore, examine each of these works and prove its authorship on the strength of internal and external evidence. In the present paper I have only examined the So-called MS of the अद्वैत-सिद्धिखण्डन in the Govt. MSS library at the B. O. R. Institute and proved it to be identical with न्यायामृत-सौगन्ध्य of Vanamālin, represented by at least two other MSS elsewhere.

---

[7] "Mārutamaṇḍana, a Vigorous Defence of the Madhava Philosophy by Vanamālin and its Date (Between A. D. 1575 and 1650.)

ORIGIN OF ŚĀKTISM

By Dr. A. P. Karmarkar M. A., LL. B., Ph. D.
Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay.

The Mohenjo Daro discoveries have made it pretty clear that the origin of the Mother Goddess (Ammā-Pārvatī) can be traced to the pre-Vedic period. But surprisingly enough the very fact, that all the references in regard to the Mother-Goddess occur in the Aryan writings of the later period, has given sufficient scope for diversity of opinion amongst scholars.

J. N. Bhattacharya maintains "To me it seems that the Tāntric cult was invented partly to justify the habit of drinking, which prevailed among the Brāhmans even after the prohibition of it by our great law-givers, but chiefly to enable the Brahmanical courtiers of the beastly kings to compete with the secular courtiers in the struggle of becoming favourites, and causing the ruin of their royal masters.[1]

Hauer has shown how close are the parallels between some of the old sacrifices, like that of the *Mahāvrata* and many of the ceremonies which repel us in the Tantras.[2] Starbruck points out that "The Vedas were written before and during the period when the Aryans were conquering the aborigines of India and were engaged in feuds among their own tribes. Under such conditions there are no goddesses, although the literature is richly polytheistic. Since the nation has settled down into a relatively peaceful life and agricultural pursuits, the worship of female deities has risen to a place of supreme importance; Durgā, the eternity; Sarasvatī, Supreme wisdom; and Śakti, mother of all phenomena.'[3] Mackenzie advocates an Asiatic origin. He says 'We are told that a revolution in the Hindu pantheon took place during the Brahmanic age as a result of the rise of the 'middle kingdom', which was inhabited by a group known as the Bharatas, who worshipped Bhāratī a goddess not unlike the mother-goddess of Egypt and early

---

[1] Bhattacharya, *Hindu Castes and Sects*, p. 413 ; Cf. also Payne, *The Saktas.*

[2] J. W. Hauer, *Der Vratya* Payne, *The Saktas*, p. 63.

[3] Starbuck, 'Female Principle' *E. R. E.* V. 828.

Europe; that this goddess became associated with Sarasvati, and was ultimately recognised as the wife of Brahmā, the Supreme God; that when Buddhism declined and Siva became the most popular deity, this goddess worship was transferred to his consort and was organized into a separate sect."[4] Scholars like Vincent Smith[5] and Elliot[6] have held that the migrations of the nomad nations of the central Asian steppes, which culminated in the Kushan or Indo-Scythian conquests in Northern India, must have caused this change in Hinduism. Slater maintained that 'while the Dravidians were Aryanized in language, the Aryans were Dravidianized in culture.'[7] In regard to the peculiarly common characteristic of the village goddesses and the Aryan goddesses, he says that, 'We can hardly refrain from identifying her with Kālī. Kālī with the rounded limbs, wide hips, swelling breasts, exaggerated waist, and with many arms brandishing weapons, tirelessly dancing, a fit emblem indeed for Nature as she is in India, so bountiful in her kindly moods, so deadly when the whim takes her.' He also believes that the cult of the mother-goddess must have arisen first among the matriarchal tribes.[8] Sen points out the close connection between Caṇḍī and her lions and the Cretan goddesses.[9] Barth traced the roots of Śaktism 'far away in those ideas, as old as India herself, of a sexual dualism, placed at the beginning of things (in a Brāhmaṇa of the Yajurveda, for example Prajāpati is androgynous), or of a common womb in which beings are formed, which is also their common tomb.'[10] Recently N. Venkataramanayya, having drawn some comparisons between Durgā and the Goddess Ishtar and Anahita, points out that 'The Mother Goddess entered India in the company of the Vedic Gods, from the far distant regions in the west of Asia, namely, Egypt, Nineveh, and Babylon.'[11]

---

[4] Mackenzie, *Indian Myth and Legend*, p. xxxix.
[5] Smith, *Oxford History of India*, p. 9.
[6] Elliot, *op. cit.*, II p. 276.
[7] Slater, *op. cit*, p. 63.
[8] *Ibid* pp. 91-92, 103.
[9] Sen, *H. B. L. L.*, p. 297.
[10] Barth, *Religions of India*, p. 207.
[11] Venkataramanayya, *Rudra-Śiva*, p. 58.

Marshall points out that the cult of the Mother goddess must have originated in Anatolia (probably in Phrygia) and spread thence throughout the Western Asia.[12]

However, the Mohenjo Daro discoveries have supplied us with the most important clue, namely, that the Indus Valley Civilization is absolutely non-Aryan in nature. It is also significant to note that both the inscriptions and the representations on the seals are silent in regard to the main features of the goddess. Hence the few changes that are made in the case of Ishtar, e.g. her close association of the lion etc. seem to be of a later date.

It is also worth noting that the Mahābhārata, while dealing with the cult of the Vrātyas or otherwise called Vāhīkas speaks of the worship of the female demon, of the singing of youthful women and of the sacrificing of animals on the occasion. This clearly proves beyond doubt that the cult of the mother-goddess must have arisen in this land alone, wherein once the Mohenjo Daro civilization flourished. It is just possible that immediately afterwards the cult must have spread far and wide in the whole of India. And eventually numerous additions and modifications in the cult must have been effected by the people of different provinces—so as to suit their taste and inclinations.

In view of the above observations, one can very easily perceive how, with the exception of Slater and partly Barth, all the other scholars have not arrived at a proper solution of the above problem.

[12] Marshall. *op. cit.* I, p. 50.

YOGA IN PRACTICAL LIFE

By M. H. Udani, M.A., LL.B., Advocate, Rajkot C.S.

Whenever we hear the words Yogi or Yoga, the people believe that we are talking of something Super Human and it is something which can be practised only by a man who has renounced the world or who is living in seclusion or in a cave, and thus people go to him and try to get his blessings, believing, that he can not practise it. This is not correct. Everybody can practise Yoga in practical life and can reap the fruits of his acts personally.

The word Yoga comes from its root युज to join or yoke; it means making yourself one with God. The moment you look within, realise the power of the Soul within and control the mind, the senses, and the instruments of body and join yourself one with the Great Power, make yourself one with the Great Power all pervading and do all your actions in human life, without caring for its results, you are a master of your own self, you feel the Power within and the Soul Force, which is called personal magnetism in America, so do all your work with this view and you are automatically successful in all your pursuits of life. This is called Yoga in practical life.

In the body of every human being, we perceive two things, the Soul and the body. The Soul is immortal. As soon as the Soul goes away from the body the name goes away and it is called a dead body. The dead body can do nothing. It is only to be buried or burned. So it is a proved fact, which everybody knows, that so long as there is life, a man can do anything and as soon as the life goes away he is nothing. And thus all the philosophers and prophets of all religions propound and insist that in every movement of life, you should not forget God, the Divine Power, consisting of the Soul within and the Almighty Power pervading everywhere. We forget this doctrine, which is the basis of all religions and we believe ourselves as bodies only and claim egotism and believe that we can make our efforts and intrigues successful. The moment you assimilate and understand that, man as power is nothing and God's

विलक्षण प्राणी और पदार्थ, (३२) भूपृष्ठ की विशिष्ट वस्तुएँ, (३३) भूमण्डल के देश और व्यवसाय, (३४) भूगर्भ के खनिज पदार्थ, (३५) भूगर्भ का कोयला, (३६) पृथ्वी के पेट में तेल के समुद्र, (३७) भूकम्प, (३८) ये क्यों होते हैं ? (३९) भूमण्डल के गत भूकम्प, (४०) भूकम्प का महाबल, (४१) पशु-पक्षियों को इसके होने का ज्ञान, (४२) परिशिष्ट, (४३) पृथ्वीपूजाविधि, (४४) पृथ्वीसूक्त और (४५) विशेष विनय। (२) 'जलतत्त्व' (१) विषय-प्रवेश जल, (२) जल की उत्पत्ति (३) जल के गुण और वर्ण, (४) अँगरेजों के मतानुसार, (५) जल-परिवार, (६) सागर, (७) उनकी संख्या और विस्तार, (८) उपसागर, (९) समुद्र के जल का रंग और स्वाद, (१०) उत्ताल तरंगें, (११) आवर्त, (१२) चौदह रत्न, (१३) रत्न और अन्य वस्तुएँ, (१४) जलजीवी जानवर, (१५) जलौका, (१६) फलपुष्प, (१७) जल-स्तंभ, (१८) जलप्लावन, (१९) अन्य समुद्र, (२०) ताल बँधे सरोवर, (२१) नद नदी महानद, (२२) नैसर्गिक क्रिया, (२३) प्रधान नदियों की लंबाई, (२४) उद्गम स्थान, (२५) जल की उत्कृष्टता, (२६) भारतीय महानदी, (२७) वर्षा, (२८) वार्षिक औसत, (२९) अनावृष्टि दूर करने के प्रयोग, (३०) अतिवृष्टि रोकने के उपाय, (३१) वरुणपूजन, (३२) व्यापक उपयोग और महत्त्व, (३३) जलयान और (३४) जलसूक्त (३) 'तेज'तत्त्व, (सूर्य या अग्नि) पर्याय (१) प्राक्कथन, (२) सूर्य की उत्पत्ति, (३) इनका महत्त्व, (४) सूर्य का तेज, (५) सूर्य के व्यास, कक्षा, ऊँचाई, (६) विविध स्वरूप, (७) सूर्य की किरणें, (८) उनका रंग (९) सूर्य-विज्ञान, (१०) सूर्य का रथ, (११) सूर्य के सम्पर्की, (१२) वर्ण की विकृति, (१३) सूर्य-ग्रहण, (१४) सूर्य के सह-गामी, (१५) सौर परिवार, (१६) पूजनेवाले, (१७) सूर्य का ध्यान, (१८) उपासना, (१९) सूर्यव्रत, (२०) अहोरात्र, (२१) ऋतुएँ (२२) सूर्य के मन्दिर, मूर्ति और ध्वजा (२३) रविवार के धर्मानुष्ठान, (२४) सूर्यकिरण-चिकित्सा, (२५) 'अग्नि' (परिशिष्ट), (२६) सूर्योपनिषद्, (२७) सावित्र्युपनिषद्, (२८) ब्रह्मोपनिषद् और (२९) सूर्यसूक्त, (४) 'वायुतत्त्व' (पर्याय) (१) वायु की उत्पत्ति, (२) वायु का स्वरूप, (३) विविध भेद, (४) आयुर्वेदीय अनुसंधान, (५) अस्तित्व का ज्ञान, (६) वायु के गुण, (७) इष्टानिष्टसूचक वायु, (८) वायु के विषय में, (९) वायुकृत वाणिज्य, (१०) समुद्र वायु, (११) मानसून वायु (१२) वायु की व्यापकता, (१३) वायु की सीमा, (१४) वायु तरल है, (१५) गति और वजन, (१६) आँधी, बवंडर और तृणावर्त, (१७) आँधी के उत्पात, (१८) वायु या शब्दविज्ञान (१९) वायु का रंग, (२०) वायु दूषित होने के कारण, (२१) जल का भाप, (२२) पुत्रप्रद वायु, (२३) देहगत वायु की क्रिया, (२४) श्वासोच्छ्वास, (२५) पचनक्रिया, (२६) श्वासक्रिया, (२७) प्रकार (२८) श्वास की संख्या, (२९) स्वास्थ्य और वायु, (३०) वायु नापने का यंत्र, (३१) आकाश वायु, (३२) अद्भुत दृश्य, (३३) वायु की मूर्ति, (३४) परिशिष्ट-पूजनविधि, (३५) मूर्तिदान और (३६) वायु-स्तंभन। और (५) 'आकाश तत्त्व' पर्याय (१) शास्त्रीय विवेचन, (२) आकाश की उत्पत्ति, (३) महत्ता और धारण शक्ति, (४) आकाश की अनन्त विभूतियाँ, (५) सूर्यादि का सामुदायिक परिचय, (६) ग्रहों के व्यास, कक्षा उच्छ्रति, (७) सूर्य, (८) चंद्रमा, (९) चंद्रग्रहण, (१०) मंगल, (११) बुध, (१२) बृहस्पति, (१३) शुक्र, (१४) शनि, (१५) राहु, (१६) केतु, (१७) नवीनग्रह, (१८) ध्रुव, (१९) सप्तर्षि (२०) आकाश गंगा, (२१) अमर घड़ी, (२२) नक्षत्र, (२३) तारे, आकृति, देव और मुख, (२४) उपयोग और प्रभाव, (२५) द्वादश राशियाँ, (२६) तारागण

The Soul which is above the will is Super Human or divine. The man who wants to be a Yogi in practical life, should be free from affection or hatred towards everybody. राग और द्वेष He should look upon everybody as his own self and love them with divine love. He should practise truth and make it his ideal, should never try to take away the property of others by any fraudulent or false means. He should look upon every women, except his own wedded wife as a mother or daughter, and he should try to leave in simplicity and should try doing good for others. This is the first stage of a Yogi which is called Yama (यम). After having acquired this method of life, he should be careful in his diet, regularity of life and such other modes of living by practising, equality, justice, and brotherhood which is called (नियम) Niyam. Then he can make his आसन firm and can practise concentration which is the secret of all success. The mind needs work always and keeping it always engaged in healthy occupation and allowing it not to roam about is a spiritual exercise. An idle man cannot be spiritual. The other stages of Yoga come automatically to a person, who can reach the stage of self discipline and concentration. Then he can become free from births and deaths and will acquire confidence of having become Jivan-mukta (जीवनमुक्त). The spiritual life is comprehensive and it is universal. Love wisdom and activity are all necessary aspects of a spiritual life. Avoiding work is not renunciation. A life of complete inactivity is impossible. Real renunciation means non attachment and it is Ya,na. When you devote all your action, and its results to the will of God and you feel nothing by failure or success, you become one with God and He takes care of you. The senses have great power but the mind is greater than the senses. The will is greater than the mind. Greater than the will is God. Control the lower by the higher will, let God manifest his glory through the will, the mind and the body. This is the essence of Yoga in practical life. Life is a perpetual growth, a continuous pilgrimage. If you are able to perform all your actions, as a stepping stone to a higher life, then there is a sacrifice and we rise to spiritual reality. God is working in us and through us. All creation is His work. We are part of it. God is the Stage Director. Let the true self of each one unfold itself in life, in thought word and deed and let it contribute its share to the

beauty and happiness of the world and then you become a Karma Yogi. Everyman has sufficient freedom to become what he wants but he must make real efforts with divinity in him to attain his object. Every undertaking in life should be an offering to god. Every work of a Yogi should be a means to the realisation of his Higher Self. One who has trust in God is never worried about his fate in this world or in the next. Love your work and not its reward is the universal law of success. Man is God in human form. He has a higher and a lower self. His will, mind and body, constitute the lower self. His Soul is a higher Self. When the higher self is able to keep under control the lower self he can use it for the fulfilment of the higher spiritual aspirations, and the lower Self will be a friend and servant of the Higher Self then you will be at peace (शांति) within the Self and will all without. This is real Yogism in practical life, which should be the end and aim of all human beings and then he will be successful in this life as well in the next and will realise the spirit in this body itself.

Know then thyself, presume not God to scan.
The proper study of mankind is man.

सुखी जीवन

पंडित दयाशंकर दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी०
और
ठाकुर राजबहादुरसिंह 'सुमंत'

मानव-जीवन ही व्यक्तित्व का आधार तथा साक्षी है। जब तक जीवन है तब तक संसार का सम्बन्ध भी रहता है। पुनर्जन्मवाद के अनुसार जीवन अनन्त होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति का वर्तमान तथा चालू जीवन जन्म तथा मृत्युरूपी खाइयों में सीमित रहता है। जैसे वर्त्तमान जीवन का प्रारम्भ निश्चित था वैसा ही उसका अन्त भी निश्चित है। जीवन के व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाली प्रधानतः दो वस्तुएँ होती हैं—एक सुख, दूसरी दुःख। जीवन के प्रत्येक भाग में प्रत्येक व्यक्ति का सुख तथा दुःख से सदैव सम्बन्ध बना रहता है। सुख से जीवन में प्रफुल्लता तथा सार्थकता आती है तथा दुःख से जीवन का शोषण तथा विनाश होता है।

अब विचारना यह है कि हम दुःख से बचते हुए किस तरह से सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

सुख तो इच्छाओं की पूर्ण तृप्ति के परिणाम से होता है तथा दुःख इच्छाओं की पूर्त्ति में विघ्न उपस्थित होने से होता है। जीवन में सुख तथा दुःख पग-पग पर मिलता है, इसका यही कारण है कि जीवन भर भिन्न-भिन्न प्रकार की इच्छाओं का ताँता लगा रहता है; प्रत्येक सुख या दुःख में किसी न किसी प्रकार की अच्छी या बुरी इच्छा उसके समानान्तर रूप से वर्त्तमान रहती है अतः ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं है कि मानव-जीवन इच्छाओं का भंडार है। क्या अमीर क्या फकीर, क्या स्त्री क्या पुरुष, क्या बूढ़ा क्या जवान, प्रत्येक के जीवन में कुछ न कुछ इच्छाएँ अवश्य होती हैं; यह हो सकता है कि वे सन्ध्या के बादलों की तरह भिन्न-भिन्न रंगवाली हों पर इच्छाओं का सम्बन्ध रहता अवश्य है और यह स्वाभाविक भी है, उनमें भिन्नता होगी ही—जो बालक की इच्छाएँ हैं, वह बूढ़े की न होंगी, जो स्त्री की इच्छाएँ हैं वे पुरुष की न होंगी, जो अमीर की इच्छाएँ हैं वे गरीब की नहीं होंगी। इस तरह संसार के प्रत्येक व्यक्ति का जीवन इच्छाओं के आधार पर ही खड़ा है और इस आधार-भित्ति का अन्त भी मृत्यु के साथ ही साथ होता है।

जब इच्छाओं का हमारे जीवन से इतना गहरा सम्बन्ध है तो क्या ऐसी वस्तु बुरी हो सकती है? इसका निर्णय करने से पहले हम इच्छाओं की कुछ मनोवैज्ञानिक विवेचना करते हैं।

जब मनुष्य किसी वस्तु के बिना अपने जीवन में एक अभाव अनुभव करता है और उसको पाने के लिए उसके हृदय में कुछ भाव उदय होते हैं, उन्हीं उग्र भावों का नाम इच्छा है; इसी इच्छा की बदौलत मनुष्य संसार में बड़े-बड़े काम करता है; और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति करता है। यदि इच्छा संसार में न होती, तो दुनिया वैसी की वैसी ही रह गई होती, उसमें कोई परिवर्त्तन न हुए होते और मनुष्य का जीवन भी जड़ पदार्थ की तरह कुछ वर्षों में जर्जरित होकर नष्ट हो जाया करता, पर इच्छा-शक्ति ने ही इस मिट्टी के पुतले में एक जान-सी डाल रक्खी है।

इच्छाएँ अनन्त तथा अपरिमित हैं और उनको पूरी करने का साधन, धन परिमित है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति की कुछ इच्छाएँ, चाहे वह कितना ही धनवान् क्यों न हो, अवश्य ही अतृप्त रह जाती है। जब किसी मनुष्य की इच्छा पूरी नहीं होती तो वह विकलता, निराशा तथा दुःख में बदल जाती है। यही कारण है कि केवल गरीब ही दुःखी नहीं रहते बल्कि बड़े-बड़े अमीर तथा राजा-महाराजा व नवाब भी दुःखी रहते हैं। गरीब अमीर दोनों के दुःख का एक ही कारण है—"उनकी इच्छाओं का तृप्त न होना"। इसका तो गरीब व अमीर दोनों का अनुभव है कि जितनी अधिक अतृप्त इच्छाएँ रह जायेंगी उतने ही अधिक दुःख का अनुभव उसे उसके जीवन में होगा अतः दुःख दूर करने का सबसे पहला तथा श्रेष्ठ उपाय इच्छाओं का नियंत्रण है।

इच्छाओं के नियंत्रण में भी मनुष्य स्वभाववश तथा मोह के कारण दुःख ही का अनुभव करता है, परन्तु यदि वह उसके बुरे परिणाम पर ध्यान रखता हुआ, अभ्यास द्वारा विवेकपूर्ण नियंत्रण करे तो नियंत्रण दुःख-रहित तथा सरल हो जाता है।

इच्छा दो प्रकार की होती है—एक सदिच्छा, दूसरी दुरिच्छा। सदिच्छा हम उसी को कह सकते हैं जिसकी तृप्ति से अपने स्वान्तः-सुख के साथ उसके परिणामस्वरूप समाज, देश तथा विश्व का भी कल्याण हो। दुरिच्छा वह है, जिसे अपने या कुछ थोड़े से व्यक्तियों के सुख के लिए समाज, देश तथा विश्व का उसके परिणामस्वरूप अहित हो। जिन इच्छाओं से अपना, समाज का तथा देश का भला हो उन इच्छाओं को प्रकट होने से न रोकना चाहिए, बल्कि उनके पूर्ण करने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए, जैसे भोजन, वस्त्र प्राप्त करने की इच्छा, दूसरों के दुःख दूर करने की इच्छा, बच्चों को शिक्षा देने की इच्छा, समाज-सुधार की इच्छा, देश के स्वतन्त्र कराने की इच्छा, विश्व में शान्ति-स्थापन की इच्छा, इस प्रकार की इच्छाएँ गौरवशीला तथा सराहनीय हैं। दुरिच्छा की तृप्ति से क्षणिक सुख तो मिलता है परन्तु परिणाम में अपने को, समाज तथा देश को कष्ट तथा हानि अवश्य उठानी पड़ती है, उदाहरण के लिए, मादक वस्तु सेवन की इच्छा, विलासिता की वस्तुओं की इच्छा, अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को शोषण करने की इच्छा, हानिकर वस्तुओं के प्रचार की इच्छा, इसी प्रकार की इच्छाएँ हैं। इससे यह हो सकता है कि ऐसी दुरिच्छाओं की पूर्त्ति से थोड़ा सा क्षणिक सुख प्राप्त हो जाय, परन्तु इनसे समाज और देश का अहित होने से परिणाम में अपने को तथा अपनी भावी सन्तानों को अवश्य दुःख भोगना पड़ता है। इनसे हानि ही हानि होती है अतः इन इच्छाओं को अंकुरित ही न होने देना चाहिए और यदि दुर्भाग्य से अंकुरित भी हो जाय तो उन्हें विवेकरूपी पत्थर से कुचल देना चाहिए।

इस तरह विवेक का आश्रय लेने से सादा जीवन तथा उच्च विचार का स्वभाव बन जाता है जिससे स्थायी सुख तथा शांति का अनुभव होने लगता है।

सादे जीवन का यह अर्थ नहीं है, कि मनुष्य उपवास तथा आधे पेट भोजन करके, अपने शरीर को सुखाकर लकड़ी बना ले, और थोड़े ही दिन में मृत्यु-शय्या पर नजर आवे तथा इसका यह भी अर्थ नहीं है, कि वह लँगोटी मारकर सड़कों पर घूमता रहे, या अपने लिए पत्तों व फूस की झोपड़ी बना ले। भोजन व वस्त्र तो जीवन-रक्षा के निमित्त, गरीब व अमीर दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक है। सादा जीवन का सीधा-सादा अर्थ यही है, कि विलासिता की वस्तुओं का त्याग करना, मादक वस्तुओं तथा अनावश्यक व्यसनों में खर्च न करना, तथा उन वस्तुओं के लिए व्यर्थ का व्यय न करना, जिनकी जीवन-रक्षा के लिए आवश्यकता नहीं है। जो सादा जीवन व्यतीत करना लक्ष्य बना लेते हैं, उनको इन अनावश्यक वस्तुओं के अभाव से दुःख भी नहीं होता, क्योंकि उन महान् पुरुषों के हृदय में इन वस्तुओं सम्बन्धी इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती। गरीबी के कारण जो व्यक्ति आधे पेट भोजन करता है, तथा चिथड़ों से तन ढाँकता है, तथा कष्टमय जीवन व्यतीत करता है, उसे हम यह नहीं कह सकते कि वह सादा जीवन व्यतीत कर रहा है; वास्तव में वह तो द्रव्याभाव के कारण विवश होकर कष्टमय जीवन बिता रहा है। ऐसे गरीबों के हृदय में भी विलासिता की वस्तुओं की इच्छाएँ अंकुरित होती हैं, पर द्रव्याभाव के कारण उन इच्छाओं का गला घोंट देना पड़ता है, यहाँ तक कि भोजन व वस्त्र भी जैसी आवश्यक वस्तुओं के बिना कभी-कभी उन्हें अपना जीवन बिताना पड़ता है। उनके बच्चे दुबले-पतले, जीर्ण शीर्ण तथा शिक्षा रहित होते हैं।

मादक वस्तुओं के सेवन करनेवाले के सम्बन्ध में घटनेवाली घटनाएँ प्रायः रोज-रोज देखी जाती हैं; जैसे, मस्तिष्क-विकार, बेहोशी, नाली में गिरना, कुटुम्ब का धनाभाव, बच्चों का भूखों मरना, स्त्री का घर छोड़ कर चली जाना आदि इसके अलावा समाज तथा देश में इससे कितना अनाचार फैलता है। इन बातों को विचार में रखते हुए अपने चरित्र-निर्माण के लिए मादक वस्तुओं की इच्छाओं का अति शीघ्र त्याग कर देना चाहिए।

मध्यम श्रेणी के व्यक्ति, जो कम से कम अपने कुटुम्ब की आवश्यकतानुसार भोजन-वस्त्र तथा शिक्षा के लिए आवश्यक द्रव्य प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें तो कदापि मादक द्रव्यों का सेवन न करना चाहिए, तथा विलासिता की वस्तुओं की भी इच्छा न करनी चाहिए, जैसे यदि एक मध्यम श्रेणी का व्यक्ति एक मोटर खरीदने की इच्छा करे, तो द्रव्याभाव के कारण उसे केवल अपना मन मसोसना पड़ेगा, अथवा मुफ्त का द्रव्य प्राप्त करने के लिए, उसे चोरी, ठगी, जालसाजी, भीख तथा खुशामद का सहारा लेना पड़ेगा, जिससे सिवाय पतन के और कुछ नहीं हो सकता।

प्रश्न यह होता है कि इन दुरिच्छाओं को रोका कैसे जाय? मनुष्य की सभी इच्छाओं का उद्गम मन है तथा मन, शरीर की सभी इन्द्रियाँ—आँख, नाक, कान, रसना आदि का राजा है; इसी मन के इशारे पर सभी इन्द्रियाँ नाचती हैं; सभी इन्द्रियाँ तथा शरीर के अंग-प्रत्यंग इस मन के अनुचर हैं, सेवक हैं; और उसके हाथ बेदाम के

गुलाम हैं। यह मन जैसी इच्छा करता है, उसी की पूर्त्ति तथा तृप्ति के लिए शरीर तथा इन्द्रियाँ, गाड़ी में जुते घोड़ों की तरह, व्याकुल-सी, थकी-सी, विक्षिप्त-सी दौड़ लगाती हैं। अत: सबसे पहले मन को वश में करना होगा, तो इच्छाओं पर आप ही आप विजय प्राप्त हो जायगी। भगवान् कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में मन को वश में करने के लिए केवल दो उपाय बताये हैं—एक अभ्यास, दूसरा वैराग्य।

बहुत से लोग जो विशेषतया पश्चिमी सभ्यता के पक्षपाती हैं, वे यह समझते हैं, कि विलासिता की इच्छाएँ बढ़ाना कोई बुरा नहीं है, क्योंकि इच्छाओं से आवश्यकता बढ़ती है, तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नवीन खोज तथा आविष्कार होते हैं, जिससे सभ्यता की वृद्धि होगी, परन्तु इस तरह की सभ्यता का परिणाम किसी से छिपा नहीं है। अभी आधी शताब्दि भी नहीं गुजरी कि राष्ट्रों की संकुचित मनोवृत्ति, लोलुपता तथा दुरिच्छा के कारण दो विश्वव्यापी महायुद्ध हो चुके; इस नवीन, प्रबल दुरिच्छाओं से परेशान सभ्यता के प्रतिकूल योरोप ही में इस समय कितने ही विद्वान् तथा वैज्ञानिक हो गये हैं।

वर्त्तमान युग की बढ़ती हुई आवश्यकताएँ तभी कम हो सकती हैं जब कि इस नवीन सभ्यता के दलदल में फँसा हुआ मन वश में हो। मन को वश में करने के लिए मन में उच्च विचारों का पैदा करना आवश्यक है। केवल उच्च विचार ही ऐसी वस्तु है, जो कि जीवन को सुखमय बना सकती है। उच्च विचार का अर्थ यही है, कि ऐसे विचार, जिनसे स्वार्थ तथा परमार्थ दोनों सध सकें; ऐसे विचार जिनके द्वारा अपने कल्याण के साथ समाज व देश तथा विश्व का कल्याण भी किया जा सके; दीन दुखियों का दु:ख दूर किया सके; अमीरों द्वारा गरीबों का शोषण बन्द किया जा सके; बच्चों व स्त्रियों को सद्शिक्षा दी जा सके; बेकारों को काम तथा नंगे भूखों को भोजन व वस्त्र दिया जा सके; तथा जातिवाद व सम्प्रदायवाद की कट्टरता के स्थान पर विश्व-बन्धुत्व का प्रचार किया जा सके।

उच्च विचार रखनेवाला मनुष्य दूसरों के स्वार्थों में सम-सहानुभूति तथा उदारता रखता है, वह केवल अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरों की हानि नहीं करता। यह उच्च विचार लम्बे अभ्यास तथा अध्यवसाय से ही मन:क्षेत्र में बोये जाते हैं, अंकुरित होते हैं, बढ़ते हैं, फूलते हैं, फलते हैं तथा अन्त में शान्ति और सुख के कल्पवृक्ष बन जाते हैं।

अभ्यास के लिए सद्ग्रन्थों का पाठ तथा सत्संगति, अर्थात् उच्च विचारवाले महान् पुरुषों के संसर्ग में रहना, ये ही दो मुख्य उपाय हैं। इस भौतिकवादी युग में प्रत्येक के लिए सत्संगति प्राप्त करना तो दुर्लभ है, परन्तु सद्ग्रन्थों का पाठ अवश्य सुलभ है। सद्ग्रन्थों से हमारा तात्पर्य उन्हीं ग्रन्थों से है; जो हमें किसी प्रकार भी दूसरों की, समाज की, व देश की हानि की ओर झुकाने में सहायक नहीं होते, और न हमारे मस्तिष्क में ऐसे विचारों का जहर उगलते हैं, जो हमारे जीवन को संकीर्ण भावों के गहरे खड्ड में गिरा देते हैं। जो ग्रन्थ हमें स्वार्थ से छुड़ाकर, संसार की भौतिकता तथा जड़वाद के दलदल से निकालकर, स्थायी सुख और शान्ति का मार्ग दिखावें वे ही सद्ग्रन्थ हैं; श्रीमद्भगवद्गीता, श्री तुलसीकृत-रामचरितमानस, महाभारत तथा वेदों का

उपनिषद् भाग ऐसे ही सद्ग्रन्थ हैं जिनको नियम व ध्यानपूर्वक अनुशीलन करने से मनुष्य अवश्य उच्च विचारवाला तथा इच्छाओं पर नियंत्रण करनेवाला हो जाता है।

जहाँ तक हो सके उत्तम पुरुषों की संगति की जाय। परन्तु यदि उत्तम पुरुषों की संगति न मिले तो कम से कम कुसंगति से तो सदैव बचता रहना चाहिए, क्योंकि जहाँ सत्संगति से मनुष्य गौरव के शिखर पर चढ़ जाता है, वहाँ कुसंगति होने से नीचता तथा भ्रष्टाचार के गहरे गर्त्त में पतित भी हो सकता है। कुसंगति के प्रभाव से एक भला आदमी गुण्डा और बदमाश बन सकता है, जैसे किसी कवि ने कहा है—"काजल की कोठरी में कैसहू सयानो जाय एक लीक काजल की लागि है पै लागि है।" जब कुसंगति से दोष आना सहज ही है तब इसका त्याग अवश्य करना चाहिए। भाग्यवश यदि महान् पुरुषों का संसर्ग तथा सत्संगति प्राप्त हो जाय तो इससे जीवन अधिक से अधिक उन्नत बनता है तथा एक आदर्श मार्ग का अनुकरण करके स्थायी सुख तथा शान्ति पा लेता है।

अब हम यह बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि सादा जीवन तथा उच्च विचार का सिद्धान्त पालन करने से किस प्रकार निज की, समाज की, देश की तथा विश्व की अशान्ति तथा युद्ध की सम्भावना आदि मिट सकती है। जब धन की उत्पत्ति करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति इस आदर्श का पालन करने लगेगा तब केवल अधिक से अधिक मुनाफा कमाना ही उसका ध्येय न रहेगा, वह अपने स्वार्थ की तरह दूसरों के स्वार्थ की भी रक्षा करेगा, मजदूरों का शोषण बन्द हो जावेगा, उनको खूब मजदूरी मिलने लगेगी। पूँजी-पति और मजदूरों में कोई हित-विरोध न रहेगा, गरीबी दूर होकर हड़तालों का नाम निशान मिट जायगा। इस आदर्श के अनुसार चलनेवाला प्रत्येक दूकानदार कभी भी अपने ग्राहक को ठगने का प्रयत्न नहीं करेगा; वस्तुएँ बिना मिलावट के उचित मूल्य पर मिलने लगेंगी। महाजन भी अधिक सूद न लेकर गरीबों का खून न चूसेगा और जमींदार अपने किसानों की हर तरह की मदद करने लगेगा; तब पूँजीपति तथा जमींदार के अस्तित्व के मिटाने की भी आवश्यकता न रहेगी।

इस आदर्श के अनुसार चलनेवाला प्रत्येक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र को पराजित या शोषण करने का भी प्रयत्न न करेगा, राष्ट्रों का परस्पर का संघर्ष दूर हो जायगा, राष्ट्र संघ तथा शांति सम्मेलन की भी आवश्यकता न रहेगी और संसारव्यापी महायुद्धों की सम्भावना भी मिट जायगी, परन्तु यह बातें तभी होंगी जब संसार के सभी राष्ट्र इस आदर्श का पालन करना स्वीकार कर लें। इसके लिए इस आदर्श के पक्ष में विश्वव्यापी आन्दोलन की आवश्यकता है।

कुछ लोग यह कहेंगे कि इस भौतिक-प्रधान सभ्यता के युग में सादा जीवन तथा उच्च विचार का आदर्श पालन करना असम्भव है। यह मत उन लोगों का हो सकता है जिन्होंने इस आदर्श के पालन पर कभी विवेकपूर्वक विचार नहीं किया। यह पहले ही बताया जा चुका है, कि सादे जीवन का अर्थ लँगोटी लगाकर, उपवास अर्ध-बुभुक्षित रहकर, जीवन-यापन करना नहीं है न उच्च विचारों से यही मतलब है, कि वह वेदान्त का प्रकाण्ड पण्डित हो जाय। इस आदर्श के अनुसार कार्य करने के लिए केवल दो बातों

की आवश्यकता है;—प्रथम तो प्रत्येक व्यक्ति को जान-बूझकर अपनी आर्थिक आवश्यकताओं पर नियंत्रण करना होता है; विलासिता की वस्तुएँ तथा मादक वस्तुओं का उपयोग बन्द कर देना होता है; और दूसरे अपना प्रत्येक कार्य करते समय इस बात का ध्यान रहे कि इसका असर दूसरों पर बुरा तो नहीं पड़ेगा। यदि बुरा असर पड़नेवाला है तो उसे त्याग देना होता है। इन दो बातों का पालन साधारण से साधारण व्यक्ति भी कर सकता है, यदि उसने अपने जीवन का उद्धार करना निश्चित कर लिया हो।

हाथ में दीपक होने पर भी यदि कोई मनुष्य ठोकर खाकर बराबर गिरता रहे तो उससे अधिक मूर्ख और कौन होगा। इस मूर्खता का परिणाम है—'सर्वनाश'! ऐसे मूर्ख आदमी का अस्तित्व इस संसार में सदा खतरे में है। किसी आदमी को उसी रास्ते से नहीं जाना चाहिए जिसमें एक बार काँटे चुभ चुके हों या उसने अपने आपको ठगाया हो। हमें पूरा विश्वास है कि सादा जीवन तथा उच्च विचार का मार्गदर्शक दीपक लेकर केवल मध्यम श्रेणी ही का नहीं, बल्कि किसी भी श्रेणी का मनुष्य अपने जीवन का मार्ग आलोकमय कर सकता है; सुखमय जीवन प्राप्त कर सकता है; तथा जीवन की आर्थिक ठोकरों से बच सकता है।

कितने ही मध्यम श्रेणी के हमारे बन्धुगण रोया करते हैं, और प्रतिदिन उनकी यही शिकायत बनी रहती है, कि आजकल का जमाना बड़ा खराब है, पैसा आता है, चला जाता है; पर कहाँ चला जाता है,—यह उन्होंने कभी नहीं सोचा। जब उनके पास पैसा हुआ तो अपनी अनावश्यक इच्छाओं की पूर्ति में उड़ा दिया, जब समाप्त हो गया तो भाग्य और जमाने को कोसने लगे। पर यदि नियमपूर्वक सादा जीवन तथा उच्च विचार को अपने जीवन का एकमात्र आदर्श बना लिया होता, तो उनकी कुछ दशा ही और होती! तथा अब तक उनकी गरीबी का चोला बदल गया होता! तथा वे सुखमय जीवन व्यतीत करते होते।

अंत में, बन्धुत्व के नाते, हम प्रत्येक भारतीय भाई से अनुरोध करते है, कि जीवन-निर्माण की दृष्टि से, समाज-निर्माण की दृष्टि से तथा राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से, इस महान् आदर्श,—'सादा जीवन तथा उच्च विचार'—को अवश्य अपनाएँ। यही सबसे सरल तथा सबसे सीधा सुखमय जीवन का रास्ता है।

———

शांकर वेदान्त पर आरोप का आधार

स्वामी वेदानन्दतीर्थ ; अध्यक्ष, विरजानन्द वैदिक संस्थान, तथा आचार्य्य,
दयानन्दोपदेशक विद्यालय

सांख्यसूत्रों पर भाष्य लिखते हुए विज्ञान भिक्षु ने पद्मपुराण का एक सन्दर्भ उद्धृत किया है जिसमें शाङ्कर वेदान्त को "मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च" (मायावाद असत् शास्त्र है और गुप्त बौद्ध भी है) कहा गया है। पुराणों में साम्प्रदायिक विद्वेषवार्त्ता बहुतायतसे मिलती है। वैष्णव पुराणों में शैव तथा अन्यों की निन्दा मिलती है। इसी प्रकार शैव पुराणों में शैव-भिन्न वैष्णवादिकों की तीव्र आलोचना की गई दीखती है। इससे तटस्थ विचारक इन सबको उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। मायावाद के विरुद्ध आरोप भी साम्प्रदायिक विद्वेषजन्य होने के कारण उपेक्ष्य कोटि में ही रखने योग्य प्रतीत होता है। जब पहले-पहल यह आरोप-वाक्य हमारी दृष्टि में आया, तो इसी कारण हमने भी इसके साथ वही व्यवहार किया जिसका यह अधिकारी समझा गया, अर्थात् हमने इसे साम्प्रदायिक-विद्वेष-मूलक मानकर उपेक्षित कर दिया। किन्तु कालान्तर में, विभिन्न ग्रन्थों की आलोचना करने पर हम अपने पहले विचार पर स्थिर न रह सके।

मायावाद सच्छास्त्र है या असच्छास्त्र,इसकी विवेचना छोड़कर 'प्रच्छन्नं बौद्धमेव च' (और गुप्त बौद्ध भी है) के सम्बन्ध में हम कुछ कहना चाहते हैं। विचारों का आदान-प्रदान होता रहता है। किसी एक विचारक का दूसरे विचारक के विचारों से प्रभावित होना असंभव नहीं है। समस्त संसार के साहित्य में इसके विपुल उदाहरण मिलते हैं। धार्मिक, वैज्ञानिक आदि सभी प्रकार के साहित्यों में इसके उदाहरण मिलते हैं। अन्वेषकों ने ऐतिहासिक क्रम का निर्धारण करके, इस प्रकार के आदान-प्रदान का अनुसन्धान कर, उसके निदान का भी सन्धान लगाया है।

यदि एक विचारक के विचार अपने से पूर्ववर्त्ती किसी विचारक के विचारों से मेल खाते हों तो विवश होकर ऐतिहासिक सरणि का अनुसरण करनेवाला मनुष्य परवर्त्ती विचारक को पूर्ववर्त्ती विचारक के विचारों का ऋणी मानेगा। जैसे ऐतिहासिक विद्वान् मुसलमानों के धर्म्मग्रन्थ को ईसाइयों के धर्म्मग्रन्थ से प्रभावित मानते हैं, क्योंकि दोनों में अनेक सिद्धान्तों के साम्य के साथ कई ऐतिहासिक कथानकों के वर्णनों की भी समता है। इसी प्रकार ईसाई मत पर बौद्धमत की छाप बताई जाती है। कोई कोई सज्जन ऐसे प्रसङ्ग में यह कह बैठते हैं कि क्या यह संभव नहीं है कि दोनों का मूल स्रोत एक ही हो। हमारा इसमें यह वक्तव्य है कि वे, ऐसी बात कहकर, बिना समझे-बूझे हमारे प्रतिपादित सिद्धान्त का प्रबल समर्थन कर रहे हैं। दोनों ने एक दूसरे से आदान-प्रदान न किया सही, किन्तु दोनों किसी अन्य से प्रभावित हैं, इसको तो वे भी मानते हैं। इस बात में और हमारे प्रतिपादित सिद्धान्त में कोई तनिक भेद नहीं है।

इस तत्त्व को लक्ष्य में रखकर हम 'मायावाद' के 'गुप्त बौद्ध' होने के सम्बन्ध में विचार करना चाहते हैं। शाङ्कर वेदान्त = मायावाद का आधार बादरायणोपज्ञ वेदान्त सूत्र = उत्तर मीमांसादर्शन = शारीरिक सूत्र माना जाता है। किन्तु वेदान्तदर्शन को तो रामानुज, मध्व, निम्बार्क, भास्कर, श्रीकण्ठ आदि एक दूसरे का तीव्र खण्डन करनेवाले, परस्पर विरोधी मतों के प्रतिष्ठापक आचार्य्य भी अपने अपने सिद्धान्तों का मूल एवं प्रतिपादक मानते हैं। इसके साथ शङ्कराचार्य्य के समान वे भी उपनिषदों तथा गीता को अपने मन्तव्यों का मूल प्रतिपादन करते हैं। इन महामति भाष्यकारों के परस्पर विरुद्ध भाष्यों एवं व्याख्यानों के कारण यह प्रस्थानत्रयी (उपनिषत्, गीता तथा वेदान्तदर्शन) अत्यन्त विषम एवं जटिल हो गई है, जिससे विद्वानों को भी अर्थ अनर्थ का निर्णय करना दुष्कर हो जाता है; अकृतविद्य साधारण जनों का तो कहना ही क्या ?

यह समझना भारी भूल है कि मायावाद के विचार सबसे प्रथम शङ्कराचार्य्य ने दिये। उनसे पूर्व उनके दादा गुरु गौड़पादाचार्य की रचित माण्डूक्योपनिषत्कारिकाओं में इस वाद का सुव्यवस्थित प्रतिपादन है। शङ्कराचार्य्य को यह विचार गुरुपरम्परा से प्राप्त हुए थे, दायाद में उपलब्ध हुए थे। गौडपादाचार्य्य की कारिकाओं पर शङ्कराचार्य्य ने भाष्य भी लिखा है। यह सभी मानते हैं कि शङ्कराचार्य्य तथा उनके प्रगुरु गौडपादाचार्य्य के समय में बौद्धों का प्राबल्य था, इनके बड़े बड़े विहार देश के सभी प्रान्तों में थे। जिस प्रकार आजकल सभी पश्चिमी विचारक—क्या दार्शनिक और क्या वैज्ञानिक—डारविन के विकासवाद से प्रभावित हैं, उसी प्रकार शङ्कर और उनके गुरुओं के समय में, भारत में बौद्ध विचारों का साम्राज्य था। इन महामनुष्यों ने बौद्ध-विचारों के निराकरण करने के लिए मानो व्रत लिया था; किन्तु स्वयं भी उनसे अतिशय प्रभावित हुए थे। लेख की दीर्घता के भय से हम यहाँ शङ्करकृत, प्रस्थान-भाष्यों से कोई स्थल उद्धृत नहीं करेंगे। हम यहाँ शङ्कर के प्रगुरु गौड़पादाचार्य्य की कारिकाओं को उद्धृत करके दिखायेंगे कि इनपर कितना बौद्ध-प्रभाव है। हमारा यह निरूपण स्थाली-पुलाक न्याय के अनुसार दिग्दर्शन-मात्र है। बौद्धों में नागार्जुन नामक एक महान् विद्वान् आचार्य्य हुआ है। कहते हैं कि बौद्ध होने से पूर्व वह शैव था। वह बौद्धों के एक दार्शनिक सम्प्रदाय—माध्यमिक का प्रवर्त्तक माना जाता है। सभी इसमें सहमत हैं कि वह गौड़पादाचार्य्य से पर्य्याप्त काल पूर्ववर्ती है। उसने **माध्यमिक-कारिका** नामक पुस्तक लिखी। गौड़पादाचार्य्यकृत माण्डूक्योपनिषत् कारिकाओं में उसकी छाया स्पष्ट दीखती है। भाव-प्रभाव के साथ शब्द-सादृश्य भी देखने योग्य है। देखिए—

गौड़पाद—

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः। निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः। २।३५

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान्, ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदांवरम् ॥४।१

रागभय और क्रोध से रहित, वेदपारगामी मुनियों ने इस प्रपञ्चोपशम अद्वैत को निर्विकल्प देखा है (माना है)। आकाशतुल्य, ज्ञेयों से अभिन्न ज्ञान के द्वारा जिस संबुद्ध ने धर्म्मों को आकाश समान बतलाया, उस नरश्रेष्ठ को मैं नमस्कार करता हूँ।

इसके साथ माध्यमिक कारिका का निम्नाङ्कित वचन मिलाइए—

नागार्जुन—

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम । अनेकार्थमनानात्वमनागमनिर्गमम ।
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशम शिवं । देशयामास संबुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम् ॥ १।१

निरोध (नाश)-रहित, उत्पत्तिरहित, उच्छेदरहित, स्थायित्वरहित, अनेक प्रयोजनोंवाले, किन्तु अनाना अर्थात् एक आगम = वृद्धि और निर्गम = ह्रास अथवा आयव्यय से शून्य प्रतीत्य-समुत्पादरूप प्रपञ्चोपशम शिव का सबुद्ध ने उपदेश किया, उस वक्तृश्रेष्ठ को मैं नमस्कार करता हूँ।

देखिए, इन दोनों सन्दर्भों मे 'संबुद्धस्तं वन्दे वदतां (द्विपदां) वरम' पदसमूह सर्वथा समान है। गौड़पादाचार्य ने 'वदताम' के स्थान मे 'द्विपदाम' कर दिया है किन्तु अर्थ एक है। यह आकस्मिक नहीं है। इन दोनों में संबुद्ध पद विशेष द्रष्टव्य है। बौद्ध नागार्जुन का अपने इष्टदेव-संबुद्ध को नमस्कार करना समझ में आ सकता है; किन्तु वैदिकंमन्य गौड़पाद ने किस दृष्टि से, किस हेतु से संबुद्ध को नमस्कार किया? 'संबुद्धस्तं' शब्दसमुदाय उसे भावापहारक के साथ नागार्जुन का शब्दापहारक भी सिद्ध करता है। और लीजिए—

(२) गौ०—स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥२।३१

जैसे स्वप्न और माया देखे जाते हैं और जैसे गन्धर्वनगर, वैसे ही वेदान्त के पण्डितों ने यह सारा संसार देखा (माना) है।

ना०—यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा ।
तथोत्पत्तिस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतः ॥७।३४
क्लेशाः कर्माणि देहाश्च कर्तारश्च फलानि च ।
गन्धर्वनगराकारा मरीचिस्वप्नसंनिभाः ॥१७।३३

जैसे माया, जैसे स्वप्न और जैसे गन्धवनगर है, वैसे ही उत्पत्ति, स्थिति और नाश माना जाता है। क्लेश, कर्म्म, शरीर, कर्त्ता (आत्मा) और फल ये सब गन्धर्वनगर, मृग-मरीचिका तथा स्वप्न के समान हैं।

प्रपञ्च (संसार) को मिथ्या सिद्ध करने के लिए नवीन वेदान्ती जिन दृष्टान्तों का आश्रय लिया करते हैं, वे सब बौद्धों के यहाँ से उधार लिये गये है। वही माया, वही स्वप्न और वही गन्धवनगर। शब्दों तथा भावों की समता पाठकों के मन पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहती। और लीजिए—

(३) गौ०—न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद् भविष्यति ॥३।२१, ४।७
स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यताम ।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥३।२२, ४।८

अमृत = अविनाशी, मरणधर्मा = विनाशी नहीं हो सकता और न विनाशी अविनाशी हो सकता है। प्रकृति का स्वभाव कभी उलट नहीं सकता। जिसके मत में

स्वभाव से अविनाशी भाव विनाश को प्राप्त होता है, उसके मन में कृत्रिम अमृत कैसे निश्चल रह सकेगा ?

ना०—स्वभावः कृतको नाम भविष्यति कथं पुनः।
अकृत्रिमः स्वभावो हि निरपेक्षः परत्र च ॥१५।२
यद्यस्तित्वं प्रकृत्या स्यान्न भवेदस्य नास्तिता।
प्रकृतेरन्यथाभावो नहि जातूपपद्यते ॥१५।८

जो स्वभाव है वह कैसे कृतक = अनित्य होगा ? क्योंकि स्वभाव अकृत्रिम = नित्य है और दूसरे की अपेक्षा नहीं करता। यदि जगत्स्वभाव से सत् है तो उसका अभाव नहीं हो सकता। प्रकृति= स्वभाव का अन्यथाभाव = उलट नहीं हो सकता।

यहाँ–'प्रकृतेरन्यथाभावो न कथं चिद्भविष्यति' और 'प्रकृतेरन्यथा भावो नहि जातूपपद्यते' वाक्यों में कितनी समानता है। '**भविष्यति**' तथा '**उपपद्यते**' समानार्थक पद हैं। ऐसे ही '**कथंचित्**' और '**जातु**' पद अभिन्नार्थक हैं। दोनों आचार्यों ने एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। स्वभाववाद का आश्रय लेकर दोनो ही जगत् के अभाव के प्रतिपादन में रत हैं। कौन दोनों को परस्पर-विरोधी मान या जान सकता है ? एकार्थ-प्रतिपादक जन परस्पर विरोधी नहीं हुआ करते। नागार्जुन के बौद्ध होने में किसी को सन्देह नहीं, अतः तदनुयायी गौड़पादाचार्य को भी बौद्ध मान लिया जाय तो विशेष क्षति नहीं है। और लीजिए—

गौ०—स्वतो वा परतो वापि न किंचिद्वस्तु जायते।
सदसद्सदसद्वापि न किंचिद्वस्तु जायते ॥४।२२

कोई वस्तु न स्वतः उत्पन्न होती है और न दूसरे से उत्पन्न होती है। कोई वस्तु न सत् उत्पन्न होती है, न असत् और न ही सदसद् उत्पन्न होती है।

(४) ना०—न स्वतो नापि परतो द्वाभ्यां वा नाप्यहेतुना।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥१।१
न स्वतो जायते भावः परतो नापि जायते।
न स्वतः परतश्चैव जायते ज्ञायते कुतः ॥१९।१२

कहीं कोई पदार्थ अपने से उत्पन्न, दूसरे से उत्पन्न, अथवा दोनों से उत्पन्न और न आकस्मिक (हेतु के बिना) उत्पन्न देखे जाते हैं। भाव न स्वतः पैदा होता है और न दूसरे से पैदा होता है। जब न स्वतः पैदा होता है और न परतः, तब जाना कैसे जाता है ?

कितनी समता है ? शब्दगत तथा अर्थगत समताएँ दोनों किसी विशेष उद्देश्य का सूचन कर रही हैं। सुधी समाज को निर्मत्सर एवं पक्षपातरहित होकर इसका विवेचन करना चाहिए। और देखिए—

(५) गौ०—तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत ॥ २।३८

आध्यात्मिक (भीतरी) तत्त्व को जान कर और बाह्य तत्त्व को समझ कर तत्त्वीभूत होकर उसमें रमण करनेवाला तत्त्व से च्युत नहीं हो सकता।

बुद्धवाक्य—शून्यमाध्यात्मिकं पश्यं शून्य पश्य बहिर्गतम्।
न विद्यते सोपि कश्चिद्यो भावयति शून्यताम् ॥ ३५८ पृ०

आध्यात्मिक (भीतर के) के शून्य को देख (समझ) और बाहर के शून्य को देखा (अथवा अन्दर शून्य जान बाहर भी शून्य मान) ऐसा भी कोई नहीं है जो इस शून्यता की भावना करे।

यह वचन नागार्जुन की—

निर्ममो निरहंकारो यश्च सोपि न विद्यते।
निर्ममं निरहङ्कारं यः पश्यति न पश्यति १८०२

कारिका की प्रसन्नपदावृत्ति में चन्द्रकीर्ति ने बुद्ध का वचन कहकर उद्धृत किया है। गौड़पाद के वचन के साथ इसकी स्पष्ट समता के कारण हमने इसे उद्धृत किया है। गौड़पाद ने बुद्ध के शून्य शब्द के स्थान पर तत्त्व रखा है। मायावादी समन्वयवादी हैं। उनका कहना है कि आस्तिक, नास्तिक सभी दर्शनों का एक ही उद्देश्य है, एक ही लक्ष्य है। इस बात को सामने रख कर विचार करें तो 'तत्त्व' और 'शून्य' शब्द पर्यायवाची अथवा एकार्थबोध मानने पड़ते हैं। तात्पर्य यह कि तत्त्व शून्य और शून्य तत्त्व है। जब अन्दर बाहर सर्वत्र शून्य है तो इसका कथन करनेवाला भी शून्य ही होगा। क्योंकि पदार्थ या अन्दर हो सकता है या बाहर; इसके अतिरिक्त अन्य कोई विधा नहीं है। उत्तरार्ध में शब्दभेद होते हुए भी भाव की एकता स्पष्ट है। और देखिए—

(६) गौ०—अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः। ४।८३
कोट्यः चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्॥ ४।८४

आत्मा को कोई 'अस्ति' मानता है, कोई कहता है, आत्मा नहीं है। कोई कहता है, आत्मा है और नहीं भी। कोई कहता है, नहीं भी नहीं है। इस प्रकार चल, स्थिर तथा दोनों और दोनों के अभाव से जो आत्मा को आच्छादित मानता है वह बालिश मूर्ख है। ये चार कोटियाँ हैं जिनके मानने से भगवान् सदा आच्छादित रहता है। जो ज्ञानी भगवान् को इनसे असंपृक्त मानता है, वह सर्वज्ञ है।

ना०—अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः॥ १५।१०
नास्ति यद्धि स्वभावेन न तन्नास्तीति शाश्वतम्।
नास्तीदानीमभूतपूर्वमित्युच्छेदः प्रसज्यते॥ १५।११
अस्तित्वं ये तु पश्यन्ति नास्तित्वं चाल्पबुद्धयः।
भावानां ते न पश्यन्ति द्रष्टव्योपशमं शिवम्॥ ५।८

यदि कहें कि विश्व है तो इसे शाश्वत-नित्य मानना पड़ेगा और यदि कहें कि विश्व नहीं है तो उच्छेद सिद्धान्त मानना पड़ेगा। अतः चतुर मनुष्य अस्तित्व-नास्तित्व में से किसी को न माने। क्योंकि जो स्वभाव से नहीं है वह नहीं है, यह शाश्वतवाद है। अब नहीं है, पहले था, ऐसा मानने से उच्छेदवाद की प्रसक्ति आती है। जो मूर्ख भावों के अस्तित्व-नास्तित्व को मानते हैं, वे द्रष्टव्य शून्य शिव को नहीं जानते हैं।

शब्दों की अतिशय समता के साथ भावसाम्य देखने योग्य है। नागार्जुन कहते हैं वे मूर्ख हैं जो द्रष्टव्योपशम शिव को अस्ति या नास्ति (है या नहीं है) के रूप में जानता है। गौडपादाऽचार्य्य तनिक और अधिक स्पष्ट करके अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति तथा अस्तिनास्ति का अभाव इस प्रकार चार कोटियों में विभाग करके कहते हैं कि भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् (जो भगवान् को इन कोटियों के सम्बन्ध से रहित जानता है वह सर्वज्ञ है)। नागार्जुन ने जिसे द्रष्टव्योपशमं शिवम् बतलाया, उसे गौडपाद ने भगवानाभिरस्पृष्ट हैं: कहा। कितनी समता है? क्या गौड़पादाचार्य्य के नागार्जुन से प्रभावित होने का निषेध करने का साहस कर सकता है? और देखिए—

(७) गौ०—उपलम्भात्समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम्।
जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा ॥४।४२
योऽस्ति कल्पितसंवृत्त्या परमार्थेन नास्त्यसौ।
परतन्त्राभिसंवृत्त्या स्यान्नास्ति परमार्थतः ॥४।७३

बुद्धों (अद्वैतवादियों) ने जन्माभाव से डरनेवाले वस्तुसत्तावादियों के लिए उपलब्धि और आचरण के कारण जाति = जगत् के जन्म का उपदेश किया है। जो पदार्थ कल्पित संवृति के कारण (प्रतीत) होता है, परमार्थ में वह नहीं है। दूसरे के शास्त्र के व्यवहार से जो पदार्थ है, परमार्थ में वह भी नहीं है।

ना०—द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥२४।८

लोकसंवृति (व्यावहारिक) सत्य और पारमार्थिक सत्य इन दो सत्यों का अवलम्बन कर बुद्धों का धर्मोपदेश होता है।

व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्य मायावादियों का सिद्धान्त है। यह वाद बौद्धों से लिया गया है। संवृति सत्य और परमार्थ सत्य शब्दों का प्रयोग दोनो आचार्यों ने एक ही अर्थ में किया है। नागार्जुन का कहना है कि बुद्धों का धर्म्मोपदेश व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दोनों सत्यों को लेकर होता है। गौड़पाद भी यही कह रहे हैं। उनके मत में बुद्धों (अद्वैतवादियों) ने जगत् का जन्मादि व्यावहारिक दृष्टि से माना है। गौड़पाद ने यहाँ 'बुद्ध' पद अद्वैतवादियों के लिए प्रयोग किया है। शङ्कराचार्य्य ने टीका करते हुए बुद्धैः अद्वैतवादिभिः लिखा है। बुद्ध का अर्थ ज्ञानी है। प्रत्येक अपने मतस्थ को ज्ञानी कह सकता है। किन्तु गौड़पाद के समय में तो यह शब्द बौद्धमत-प्रवर्त्तक शाक्यवंशोद्भव बुद्ध के लिए रूढ़ हो चुका था। फिर क्यों उसने अद्वैतवादियों को बौद्ध कहा? क्या वह स्वयं प्रच्छन्न बौद्ध तो न था?

ये थोड़े से उदाहरण अद्वैतियों तथा बौद्धों के मतैक्य का बोध कराने के लिए पर्याप्त हैं। सुधीजन विचार करें कि पद्मपुराणकार तथा विज्ञानभिक्षु का आरोप निराधार नहीं है। संसार-समस्या के समाधान के लिए प्रवृत्त बौद्ध और अद्वैतवादी लगभग एक ही परिणाम पर पहुँचे हैं। दोनों की प्रक्रिया भी लगभग एक-सी है। इस हेतु पुराणकार ने अद्वैतवादियों को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। इसमें संदेह नहीं कि अद्वैतवादियों ने बौद्धों का प्रबल खण्डन किया है और आज भी करते हैं। किन्तु इससे उनका बौद्धों से भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता। जैसे माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक परस्पर एक दूसरे का तीव्र खण्डन करते हुए भी बौद्ध हैं, बौद्ध-क्षेत्र से बहिर्भूत नहीं माने जा सकते। अथवा जैसे विवरणकार, वाचस्पति मिश्र आदि भिन्न और विरुद्ध मतों के स्थापनालापन करते हुए भी अद्वैतवादी कहलाते हैं, कोई उन्हें अद्वैतवादी समुदाय से बाहर नहीं कर सकता, क्योंकि प्रतिपादन वे अद्वैत का करते हैं। ठीक इसी प्रकार अद्वैतवादियों तथा बौद्धों (विशेषकर विज्ञानवादी माध्यमिक बौद्धों) को अभिन्न मानना ही युक्तिसंगत है। क्योंकि दोनों का प्रतिपाद्य चरम तत्त्व एक ही है।

———

TEACHINGS OF 'KATHOPANISHAD'

By NARMADA PRASAD

KATHOPANISHAD, a jewel in that vast treasure of knowledge imparted by the ancient sages of our country, BHARATVARSHA, now called INDIA, and collected by great scholars as UPANISHADS, is full of ethical teachings. Each of the incidents narrated in it, indicates some or the other ideal of life. The very beginning of the story suggests that to attain what is known as 'SWARGA', the place of Highest Bliss, one should perform sacrifices like the popular All-Sacrifce or the others that are meant for it. The sacrifices made should not be lacking in anything; they must be done in good spirits and in accordance with the rules prescribed in the VEDAS and the PURANAS. Then, as the story develops we come across many incidents that tell their own significance.

The obedience and the dutifulness of Nachiketa suggests that everybody should be obedient to elders and particularly to parents while they are to be dutiful as well. As we read we think with Nachiketa that a mortal ripens like corn and like corn he springs up again and realizes the insignificance of ever coming human life together with the importance of duty against purpose to live in this world; since the purpose when defined as the future goal for the present activity, may it be good or bad, is never fulfilled in its completeness in this life, life being so short and uncertain, and therefore only duty which more or less concerns itself with the present, can be of some avail to attain the ultimate good as the Chief Goal of this short Life. Thus, by the incident of Nachiketa's meditation on his father's angry words we are indirectly told that all is insignificant, however bright it may be, as compared to duty the fulfilment of which is sure to bring peace to mind and Eternal Happiness to Self. Next, from the incident of Yama's unrest on being told that Nachiketa had not taken anything in his house and waited for him three nights without food and water when he was a guest, we learn that if somebody, may he be superior in all respects, does not want to lose his peace and happiness he should never treat a guest, specially a Brahmin, improperly.

Nachiketa's second boon suggests that it is very necessary to know the procedure of the Fire-Sacrifice, the right performance of which leads to the Heaven—world where there is no Fear, even of Death. When one has learnt and understood this Fire which knows and makes us know that all is born of Brahma who is venerable and divine, obtains Everlasting Peace. Thus we are told that he who has performed three times the Nachiketa's Fire-rite, has been united with the three namely Mother, Father and Teacher, and has performed three duties namely duties of Study, Sacrifice and Alms-giving, overcomes Birth and Death.

Nachiketa's third boon that asks for the revealation of the Nature of the Mysterious State of the Self after Death (but some say, after Mukti) brings out the fact that the worldly pleasures, which last for a moment, wear out the vigour of all the senses and are ultimately pain-giving in nature though may seem at the first glance to be something that is surely to give Pleasure and then to lead to the Ultimate Good, are to be renounced. This teaches us that nothing is worth desireable than the attainment of SWARGA and then the MUKTI. It is well with him who clings to the Good, but he who chooses the Pleasant, misses the End. It is wise to prefer the Good to the Pleasant and is unwise to choose the Pleasant through Greed and Avarice. Knowledge is worth acquiring for it leads to the choice of Good and Ignorance is a curse as it leads to the choice of Wrong. Those who commit mistakes in the choice, that is, those who follow the path of pleasure bear the consequences of their actions in this life as well as in the life to come; and as they have to bear out, before attaining something good, all the consequences of their past actions while preparing new for the future, never get rid of this cycle of birth and death, and thus never get what is called Salvation. So we should always try to escape the illusionary path of 'PREYA-MARGA' in order to follow the right path of 'SHREYA-MARGA' which though straight is seemingly tiring and difficult to enter, go through and reach the End.

We are further advised not to depend upon the findings of others for all are imperfect and liable to commit mistakes as well as upon the findings of Reason for beyond it lies the path to be

judged by Realization. Nobody who cannot realize the real nature of the self, can discern the path because the path is mere a way to this Mysterious abode.

The Eternal is not obtainable by Non-eternal and therefore what is contained in this world cannot help one to attain the Heavenly Bliss. And when the Heavenly Bliss is not attainable by the worldly non-eternal things, how one can attain that state which is beyond pleasure and pain, that is the Mukti, the Chief Good, when one has to live and act in this world. This is made clear at one place when we are told that the sacrifices lead a man only upto Swarga and leave there to win Mukti in due time. The one who has realized the Self and the God, has already known the way to the Chief Good for he has approached what is a cause for Mukti. A man who is free from desires and thus from grief, sees the Majesty of the self by the Grace of the Creator. The wise who knows the Self as bodiless within the body, as unchanging among the changing, as great and omnipresent, knows everything, does not suffer from grief and sorrow, and has almost attained the Goal of Life. But he who has not turned away from his wickedness, who is not tranquil and stationary in his ways, who has not subdued his desires, or whose mind is not at rest, can never obtain the Highest Self even by knowledge.

Thus, Kathopanishad teaches us the great philosophy of life—the philosophy that to attain what is Good we must at first curb and then eliminate our desires which bind a man into 'golden fetters and lead him astray from the right path. This tallies the ethical theory of Asceticism. So we are told that he who controls himself in every way and is dutiful, is likely to enjoy ultimately the state of Mukti, the Chief Good.

Shreya and Preya, that is, Good and Pleasant, are the two different nature of the path of life and man is bound to choose either of the two. They are open sidewise before a man and the choice rests upon the nature of the chooser. If a man is wise, he is likely to choose the path leading to the Good i.e. Shreya-Marga while a man whose past life had been unholy and is not wise as a consequence of it, is sure to be taken over by the deceptive appearance of the pleasantness to be met on the Preya-Marga. Thus Nachiketa, being

wise and virtuous, first discarded and then firmly rejected the alternative to his third boon, which referred to the acquisition of the ability to enjoy all kinds of worldly pleasures, after seeing that worldly pleasures are transitory in character and ultimately paingiving in nature.

The difference between the Preya-Marga and the Shreya-Marga consist in the fact that the first is easy to get into, difficult to pass through and impossible to get over and reach some end, while the second is difficult to get into, easy to pass through and is certain to get over because this is straight and because the escape of Rightful End is generally impossible. A man who is of ordinary wisdom is unable to catch this difference. He thinks what is pleasure-giving must end in Good, and what is pain-giving is likely to put in fix at the end. Thus he gets himself entrapped by the outward misleading appearance of the Preya-Marga. A wise man verily being virtuous is likely to search for the reality and in his quest he is sure to meet physical pain, worldly troubles and many set backs before he could be able to unravel the real nature of the right path; but if he is firm in his quest it is also verily certain that he will know what is to be known—he cannot fail or go astray. Such a wise man, on finding the zig zag and uncertain Preya-Marga full of darkness, will renounce it in the favour of Shreya-Marga which has been found to be straight, certain and full of light and hope.

Ability to choose Shreya-Marga is the gift of Vidya (knowledge) while disability to find out the superiority of Shreya Marga over the Preya Marga and the choice of the path of Pleasure is the curse of Avidya (Ignorance). And since Vidya and Avidya ar diagonally opposite in their nature, their findings must also widely differ. Thus, those who are not wise always think of holding gold, power and ability to enjoy the various worldly pleasures, and never think that there is something like a world beyond this world where persons go after bearing pain and pleasures of this life in accordance with the past Karma (doings), and from where they come again; while those who are wise, never care for enjoying worldly pleasures and never try to know ways to attain them but work to escape from them—they always get themselves engaged in meditation, which if rightly performed, is bound to lead them ro Swarga and then in due course of time, to Mukti.

हमारा धर्म

पं० योगीन्द्र झा, वेदव्याकरणाचार्य, वेदान्तशास्त्री, प्रधानाध्यापक-ऋषिकुल,
वेद कर्मकाण्ड विभाग

सज्जनो ! इस विशाल संसार में किसी को विद्वान् तो किसी को मूर्ख, किसी को वाचाल तो किसी को मूक, किसी को लोभपरायण तो किसी को कामपरायण, किसी को रोगी तो किसी को स्वस्थ, किसी को धनी तो किसी को निर्धन, किसी को सुखी तो किसी को दुखी, इस प्रकार नाना जाति, आकार तथा स्वभाववाले प्राणियों को देखकर यह निश्चय होता है कि प्रत्येक व्यक्ति में सुख-दुःखादि विधान करनेवाला कोई कारण-विशेष अवश्य है। वह कारण-विशेष यदि केवल ईश्वर माने जावे तो ईश्वर में वैषम्य नैघृ्ण्य दोष उपस्थित होगा अर्थात् ईश्वर यदि सुख-दुःख के कारण हैं तो किसी को अत्यन्त सुखी और किसी को अत्यन्त दुःखी क्यों बनाते हैं ? वह तो समदर्शी तथा राग-द्वेष-शून्य शास्त्रों में माने गये हैं, फिर भेद-भाव करने से तो उनमें राग-द्वेषपूर्णता, पक्षपात, क्रूरता आदि दोष आपतित होंगे । अतः यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर प्राणियों के पूर्वजन्मार्जित शुभा-शुभ कर्म-जन्य अदृष्टविशेष कारण के अनुसार ही इस जन्म में सुख-दुःखादि विधान करते हैं। उसी अदृष्ट-रूप कारण-विशेष को धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप कहते हैं। धर्म-अधर्म ये दोनों पदार्थ परस्पर-विरुद्ध होने के कारण एक को जान लेने से दूसरे का ज्ञान अनायास हो जाता है अतः धर्म का लक्षण स्वरूपादि संक्षेप में बतलाता हूँ, आशा करता हूँ, धार्मिक सज्जन इसे ध्यान देकर पढ़ेंगे।

यद्यपि धर्म के अनेक प्रकार के लक्षण शास्त्रों में आये हैं परन्तु सबका अभिप्राय यही है—"यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः" अर्थात् जिस शास्त्र-विहित कर्म को करने से ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति हो तथा परम-सुख-स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति हो उसे हम धर्म कहते हैं। जैसे गंगास्नान, दान, हवन, जप, यज्ञ, अष्टाङ्ग योग, भगवद्भक्ति, तत्त्वज्ञान आदि धर्म हैं। मिथ्या भाषण, परस्त्री-गमन, चोरी, हिंसा आदि अधर्म हैं। धर्म के साधारणतया शास्त्रों में दो भेद माने गये हैं। एक प्रवृत्तिधर्म, दूसरा निवृत्ति धर्म। पुत्रस्वर्गादि-सम्बन्धी विनाशशील सुख जिससे प्राप्त हों उसे प्रवृत्ति-धर्म कहते है। नित्य निरतिशय परम सुख (परमानन्दानुभव) जिससे प्राप्त हो उसे निवृत्तिधर्म कहते हैं अर्थात् वेद के दो विभाग हैं। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। उपासना-काण्ड भी तीसरा विभाग वेद का कोई मानते हैं। परन्तु उपासना कर्मकाण्ड में ही अन्तर्भूत है। अतः कर्मकाण्ड भाग वेद हमें जिन जिन कर्मों का उपदेश करता है वे सब कर्मप्रवृत्ति कहे जाते हैं। इसी प्रकार ज्ञानकाण्ड वेद हमें जिस तत्त्वज्ञान अष्टाङ्ग योग आदि धर्म का उपदेश करता है वह धर्म निवृतिधर्म कहा जाता है। महाभारत शान्तिपर्व में कहा भी है—"द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः। प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तश्च विभावितः॥ प्रवृत्तिधर्म भी दो प्रकार के हैं, एक साक्षाद्वेदबोधित और दूसरा स्मृति द्वारा वेदबोधित। अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास, चातुर्मास्य, पशु-बन्ध, सोम, अग्नि-चयन, आदि साक्षात् वेदबोधित हैं और स्मार्तधर्म परम्परया वेदबोधित है, जिसका विवरण आगे बतलाया जाता है।

स्मार्तधर्म छः प्रकार के हैं—जैसे वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म, साधारण धर्म, (१) ब्राह्मण को मद्य नहीं पीना चाहिए। अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह, यजन-याजन, ये छः ब्राह्मण के धर्म हैं। इन छः में याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह जीविका है, अवशिष्ट तीन निष्काम धर्म हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय के लिए शस्त्र-अस्त्र का धारण करके प्रजा-रक्षण करना जीविका है; वैश्य के लिए कृषि, गोरक्ष, वाणिज्य जीविका है और अध्ययन, यजन, दान, ये तीन उक्त दोनों जातियों के लिए निष्काम धर्म हैं। शूद्र का धर्म, पूर्वोक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों की सेवा है। सेवा में असमर्थ शूद्र कलाशिल्पादि द्वारा जीवें। यह वर्णधर्म हुआ।

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, और संन्यास। प्रत्येक आश्रम के धर्म भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। जैसे ब्रह्मचर्याश्रम में रहनेवाले ब्रह्मचारियों का धर्म प्रतिदिन दोनों समय सन्ध्यावन्दन, समिदाधान, अभिवादन, भिक्षाचरण, वेदाध्ययन, अजिन-दण्ड मेखला धारण है। गृहस्थ का धर्म त्रिकालस्नान, संध्यातर्पण, पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान। इसके अतिरिक्त यज्ञादि का भी यथा-शक्ति अनुष्ठान करना है "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि", "जप्येनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥" इत्यादि गीता और मनुस्मृति के वचनों के पर्यालोचन से यह सिद्ध होता है कि सन्ध्या, गायत्री जप द्विजाति गृहस्थ तथा ब्रह्मचारियों के लिए परमावश्यक है; क्योंकि गृहस्थों के यहाँ पाँच प्रकार की हिंसाएँ प्रतिदिन हुआ करती हैं—चूल्हे में भोजन बनाने के समय बहुत से जीव मरते हैं तथा मसाला पीसने के समय सिलबट्टे से बहुत से जीव मरते हैं। इसी प्रकार झाड़ू से तथा ओखल-मूसल से और घड़े के स्थान में बहुत से जीव मरते हैं। ये पाँच प्रकार की हिंसाएँ गृहस्थ के यहाँ अनिवार्य हैं। इन हिंसाओं से जो प्रत्यवाय गृहस्थ के ऊपर आता है उसके परिहार के लिए अध्ययन, अध्यापन, होम, तर्पण, गौ, कुत्ते, काक, चाण्डाल, पिपीलिकाओं को बलि देना, अतिथियों को भोजन देना, ये पाँच महायज्ञ अवश्य प्रतिदिन अन्न से अन्न के अभाव में फल-मूल-जलादि से भी अवश्य करना चाहिए। लिखा भी है, "पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः। कण्डनी चोद-कुम्भश्च बध्यते यास्तुवाहयन् (मनु० अ० ३ श्लो० ६८) "अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥" (मनु० अ० ३ श्लो० ७०)। वानप्रस्थधर्म—"गृहस्थस्तु यदा पश्ये द्वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैवचापत्यन्तदाऽरण्यं समाश्रयेत् (मनु० अ० ६ श्लो० १) अर्थात् गृहस्थ जब अपने शरीर में त्वचा का शैथिल्य, बालों की शुक्लता तथा पौत्र को देखे तो घर को छोड़कर स्त्री के साथ या स्त्री को पुत्र के ऊपर सौंपकर वन में चला जाय। सायं-प्रातः स्नान, मृगचर्म-वल्कल-धारण, सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान, उपनिषत् का अध्ययन, चतुर्थकालिक वा अष्टमकालिक होना, पर्णकुटी में रहना इत्यादि वानप्रस्थ-धर्म है।

संन्यासाश्रम का धर्म वृक्षमूल-निकेतन होना (अर्थात् वृक्ष के नीचे रहना), श्वास द्वारा अग्नि को आत्मा में स्थापित करके बाह्य अग्नि का त्याग करना, गुरु सम्प्रदाया-नुसार सावित्री-प्रवेशानन्तर शिखा-सूत्र का त्याग करके या शिखासूत्र को रखता हुआ "प्रज्ञानं ब्रह्म", "अहं ब्रह्मास्मि", "तत्त्वमसि", "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि चतुर्वेदोक्त महा-

वाक्यों की दीक्षा गुरु द्वारा लेना, वंशदण्डधारण, ॐकार का जप, तथा उसका अर्थ जीव-परमात्मा का ऐक्य रूप तत्त्वज्ञान द्वारा अविद्यानिवृत्तिपूर्वक ब्रह्म-साक्षात्कार करना है।

संन्यासियों के चार भेद है—बहूदक, कुटीचर, हंस, परमहंस वर्णाश्रमधर्म—केश-सम्मित पलाश का दण्ड तथा मूँज की मेखला ब्राह्मण-ब्रह्मचारियों को धारण करना चाहिए। ललाटसम्मित वट या खदिर या बेल का दण्ड धनुष की रस्सी की मेखला (कौयनी) क्षत्रिय ब्रह्मचारियों को धारण करना चाहिए। घ्राण (नाक)सम्मित पिलु या गूलर का दण्ड, शण की मेखला, वैश्य ब्रह्मचारियों को धारण करना चाहिए।

गुणधर्म, राज्याभिषेकादि गुणयुक्त राजा को प्रजा-पालनादि करना चाहिए।

निमित्त धर्म—"अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितञ्च समाचरन्। प्राजापत्येन कृच्छ्रेण शुद्ध्यतेनात्र संशयः। (मनु०) इस वचन के अनुसार विहित कर्मों के न करने से तथा निन्दित या निषिद्ध कर्मो के करने से जो प्रत्यवाय मनुष्य के ऊपर चढ़ता है उसके परिहारार्थ प्राजापत्य० चान्द्रायण आदि तदशक्ति में उसके अनुकल्प गोदानादि प्रायश्चित्त है।

साधारण धर्म प्राणिमात्र की हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों को अपने वश में रखना, ये चारों वर्णो का अर्थात् हिन्दू-मात्र का धर्म है। मनुस्मृति १०वें अध्याय में लिखा भी है "अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः। एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः" ॥ (श्लो० ६३) पूर्वोक्त श्रौत प्रवृत्तिधर्म तथा स्मार्त प्रवृत्ति धर्मों में कतिपय धर्म ऐसे है जो भारतवर्ष में ही हो सकते हैं। अन्य विलायत, जर्मनी आदि देशों मे नहीं, जैसे मनु-याज्ञवल्क्यादि ने आदेश किया है—"कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः। स ज्ञेयो यज्ञियो देशोम्लेच्छदेशस्त्वतः परम्" ॥१॥ (मनु० अ० २) "यस्मिन्देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधत ॥२॥ (या० अ० १) अर्थात् कृष्ण मृग जहाँ स्वभावतः भ्रमण करे वहाँ ही यज्ञ होना चाहिए। इसका रहस्य यह है कि "कृष्णोस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टम्प्रोक्षामि" (शु० य० वे० अ० २ म० १) इस वैदिक मन्त्र के ऊपर शतपथ ब्राह्मण में कृष्ण मृगचर्म यज्ञ में क्यों रक्खा जाता है, इसके समाधान रूप में एक इतिहास पाया जाता है "यज्ञो वै देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्ण-मृगो भूत्वा चचार तस्य देवाऽअनुविध त्वच में वावच्छायाजहः। (शतपथ १।१।४।१) एक समय किसी कारण से यज्ञ भगवान् देवलोक से आकर कृष्णमृग का रूप धारण कर भ्रमण करने लगे। देवतागण अन्तर्यामी होने के कारण इस रहस्य को जानकर कृष्ण मृगरूप यज्ञ की त्वचा शरीर से उतारकर ले आये। उस त्वचा में ही यज्ञ का निवास था इत्यादि कथा शतपथ में आई है। प्रकृत में कहना यह है कि कृष्ण मृग यज्ञ-स्वरूप है, वह जिस देश में भ्रमण करता है वह देश यज्ञीय देश माना जाता है, अन्य देश यज्ञीय देश नहीं हैं।

दूसरा रहस्य भारतवर्ष मे ही यज्ञ होने का यह है कि शतपथ ब्राह्मण के सामिधेनी प्रकरण में आया है "विदेहोऽमाथवोऽग्निवैश्वानरं मुखे बभारतस्य गोतमो राहूगणऽऋषिः पुरोहितऽ आस" इत्यादि (शतपथ १।४।१।१०) अर्थात् अग्नि किसी कारणवश देवताओं से रुष्ट होकर स्वर्ग से आकर जनक राजा के मुख में छिप गये और अग्नि ने जनक राजा से कहा कोई देवता या ऋषि स्वर्गलोक से आकर तुझे पूछे कि अग्नि तेरे यहाँ आये हैं तो तू नहीं बोलना। जनक जी ने ऐसा ही किया। पश्चात् ऋषियों में "वीतिहोत्रन्त्वा" इत्यादि मन्त्रों के

द्वारा अग्नि का आह्वान शुरू किया। दो बार मन्त्रों द्वारा आह्वान करने पर प्रत्युत्तर नहीं दिया, तृतीय बार जब घृत शब्दावली "तन्त्वाघृतस्तवीमहे" इत्यादि ऋचा द्वारा अग्नि का आह्वान किया तो घृत शब्द सुनते ही अग्नि से नहीं रहा गया। जनक राजा के मुखसे निकल पड़े और ज्वाला-रूप में होकर सारी पृथ्वी को जलाने लगे। अनेक योजन में विस्तीर्ण अग्नि को जनक नहीं धारण कर सके, ताप से सन्तप्त होकर सरस्वती नदी में घुस गये। अग्नि देव वहाँ से नदी-नद इत्यादि सारी पृथ्वी को जलाते हुए पूरब की ओर बढ़े। गौतम पुरोहित तथा राजा जनक उनकी स्तुति करते हुए पीछे पीछे चले। इस प्रकार भारतवर्ष में भी अग्नि ने जहाँ तक स्थानों को जला कर शुद्ध किया वहाँ तक ही यज्ञीय देश है।

सदानीरा नदी के पूरब अग्नि नहीं जा सके, उसी में शान्त होकर अब तक निवास कर रहे हैं, इसलिए ग्रीष्म ऋतु में भी उस नदी का जल अत्यन्त शीतल रहता है। मानो अग्नि को बुझाने के लिए वह नदी अब भी कोप कर रही हो। सदानीरा के पूरब देश उन दिनों अपवित्र माना जाता था। परन्तु बहुत वेदज्ञ ब्राह्मणों ने वहाँ नाना प्रकार के यज्ञों को करके उस देश को भी पवित्र बनाया। अत: सारांश यह है कि जहाँ तक भारतवर्ष में अग्नि ने स्थान को जलाकर शुद्ध किया है तथा जिस देश में स्वभावत: कृष्ण मृग घूमता है उसी देश में यज्ञ होना चाहिए। अन्य विलायत, जर्मन आदि देशों में नहीं। ऐसा यज्ञीय देश भारतवर्ष है, जिसकी प्रशंसा पुराणादि में आई है "गायन्ति देवा: किल गीतकानि, धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे। स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते भवन्ति भूय: पुरुषा: सुरत्वात्।।" किसी का मत यह है कि यज्ञभूमि चन्द्रमण्डल में है। चन्द्रमा में जो कालिमा दिखाई देती है वह यज्ञ-भूमि है। देवासुर-संग्राम के समय देवताओं ने उसे चन्द्रमण्डल में रख दिया। उसी चन्द्र-मण्डलस्थ पृथ्वी के उद्देश्य से आज भी विद्वान् लोग यज्ञ करते हैं अतएव शुक्लपक्ष में ही यज्ञ होने का विधान शास्त्र में पाया जाता है। पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्सिन्नुदादाय पृथिवीञ्जीव दानु भू। या मैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासोऽ अनुदिश्य यजन्ते। प्रोक्षणीरासादय द्विषतो वधोसि।। (शु० य० वे० अ० १ क० २८) यह वेदमन्त्र भी उक्त विषय में प्रमाण है।

शंका—जो अन्य देश इँगलैंड आदि के लोग हैं, या जो भारतीय सज्जन विदेश में गये हैं उनकी गति किस प्रकार हो सकती है? उत्तर—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, इन्द्रियनिग्रह, ईश्वर-भजन, आत्मज्ञान आदि से उनकी भी गति हो सकती है। यज्ञादि से नहीं।

पद्यत्रयेण श्रीमतां महीमहेन्द्र महाराजाधिराज सर लक्ष्मणसिंहजी साहब बहादुर महोदयानां रजतजयन्ती-महोत्सवे साशीर्वादमभिनन्दनम्—

श्रीमन्नशेषनृपपूज्यकुलावतंस, हे राजहंस! भवता ह्युदये गृहीते ।।
सद्भारतीयजनताकमलाकरस्य, दु:खानि दुर्दिनभवान्यचिराद्धि नश्यन् ।।१।।
तस्माद्वयं सुरनदीतटमावसन्तो युष्मत्प्रतापपरिराजितमानसाब्जा: ।
भृङ्गायमाणनिजवर्णिजनैरुपेता:, श्रीमद्यश: सुविमलं किल वर्णयाम: ।।२।।
आशास्महे च परमेश्वरपादपद्मात्, पुत्राद्यशेषपरिवारयुताभवन्त: ।
आचन्द्रतारमतुलीस्थिरराज्यलक्ष्मी, सम्भुञ्जतान्निजसनातनधर्मनिष्ठा ।।३।।

———

भारतीय दर्शन और जीवन

श्री जगन्नाथप्रसाद मिश्र

भारतवासियों के लिए सबसे बढ़कर गौरव की वस्तु है उनकी अध्यात्मविद्या, उनका दर्शनशास्त्र। किन्तु एक ओर जहाँ भारतीय पंडित भारतवर्ष की संस्कृति में दर्शन एवं अध्यात्म को सबसे बढ़कर महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं वहाँ दूसरी ओर कुछ ऐसे विदेशी एवं देशी विद्वान भी हैं जो भारतीय दर्शन को अलस क्षणों की कल्पना के सिवा और कुछ नहीं समझते। उनकी दृष्टि में भारतीय दर्शन का हमारे वास्तव जीवन के साथ, हमारे नित्य प्रति के जीवन की समस्याओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। भारतीय दर्शन हमें आध्यात्मिक कल्याण का मार्ग तो निर्देश करता है किन्तु वास्तव जीवन की जटिल समस्याओं का किस प्रकार समाधान किया जा सकता है, जीवनसंग्राम में किस प्रकार सफलता प्राप्त की जा सकती है, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं बताता। वह जीवन एवं जड़ जगत् की इच्छाशक्ति की सर्वथा उपेक्षा कर देता है। वह इहलौकिक जीवन के मूल्य एवं महत्त्व को स्वीकार नहीं करता; जड़ जगत् के रहस्यों को जानने एवं उन्हें आयत्त करने की प्रेरणा हमें प्रदान नहीं करता। यह हमें जड़ जगत् से दूर रहकर आध्यात्मिक जगत् की चिन्तन का उपदेश देता है, मनुष्य के व्यक्तित्व की सक्रियता को स्वीकार नहीं करता, जगत को मिथ्या बताकर इहलौकिक सुख-भोग से विरत रहने का हमें उपदेश देता है। यह वर्त्तमान जीवन को उतना महत्त्व न देकर अतीत एवं भविष्य की अनन्त जीवन शृङ्खला के साथ उसे आबद्ध बनाता है। यह अध्यात्म के साथ दुःखवाद, वैराग्य कर्मण्यता एवं पुनर्जन्म की भावनाओं को बद्धमूल मानता है; और ये सब भावनाएँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में, उसके आत्म-प्रकाश कि मार्ग में घातक सिद्ध होती हैं। भारतीय दर्शन के विरुद्ध यही सब आक्षेप हैं जो पश्चिम के विद्वानों और एक दल भारतीय शिक्षितों द्वारा किये जाते हैं। प्राचीन पंडितों का एक दल ऐसा है जो केवल भारतीय दर्शन की आध्यात्मिकता पर ही मोह-मुग्ध बना हुआ है। वह न तो नूतन रूप में उसकी व्याख्या करने की चेष्टा करता है और न धर्म, दर्शन एवं जीवन के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है। दूसरा दल उन शिक्षितों का है जो पश्चिम के मतवादों (Ideology) को अनुचित महत्त्व देकर अज्ञानवश हिन्दू धर्म एवं हिन्दू दर्शन को प्राचीन युग का कुसंस्कार अथवा निरर्थक कल्पना-मात्र समझते हैं। भारतीयों के कर्म जीवन की विफलता, उनकी प्राणशक्ति की क्षीणता का एक बहुत बड़ा कारण उनके दर्शन एवं आध्यात्म को समझते हैं।

यह कहना कि भारतीय दर्शन हमें जीवन की उपेक्षा करने अथवा प्रकृति के रहस्यों के अध्ययन से विमुख रहने का उपदेश देता है या तो भारतीय दर्शन के प्रति अज्ञता का परिचय देना है अथवा जान-बूझकर सत्य पर पर्दा डालना है। भारतीय

सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीय पंडितों ने जड़ जगत् की उपेक्षा नहीं की थी, जीवन के अस्तित्व को नगण्य नहीं माना था। आध्यात्म विज्ञान के साथ-साथ भौतिक विज्ञान की साधना में भी उन्होंने अपने को निरत किया था। गणित, ज्योतिष, रसायन, वैद्यक एवं अस्त्र-चिकित्सा में प्राचीन भारतवर्ष ने सभ्य राष्ट्रों में केवल प्रथम स्थान ही प्राप्त नहीं किया था बल्कि यूनानी पण्डितो के साथ-साथ उसने भी प्राचीन अरब जाति को इन सब विद्याओं की शिक्षा दी थी और इन अरबों से ही यूरोप ने वैज्ञानिक अनुसन्धान की प्रणाली सीखी थी जिससे आधुनिक विज्ञान का सूत्रपात हुआ था। इतना ही नहीं, बल्कि विज्ञान की कई शाखाओं में सर्वप्रथम आविष्कार करने का श्रेय प्राचीन भारतीय पण्डितों को ही प्राप्त है। गणित में दशमलव और ज्योतिष में पृथिवी के सचला होने का आविष्कार भारतीय पण्डितो ने ही किया था। गैलिलियो के आविष्कार के बहुत पहले ही भारतीय ज्योतिषी ने यह घोषणा की थी—"चला पृथिवी स्थिरा गतिः"; अर्थात् पृथिवी चल रही है किन्तु स्थिर जैसी प्रतीत होती है। क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि प्राचीन भारतीय मनीषियों ने जड़विज्ञान की सर्वथा उपेक्षा नहीं की थी; आध्यात्मिक चिन्तन में निरत रहकर उन्होंने प्रकृति के रहस्यों को आयत्त करने से अपने को विमुख नहीं रखा था? इसके विपरीत भारतीय मनीषी की यह एक विशेषता थी कि उसने लौकिक जीवन की साधारण से साधारण बातों की ओर भी पूरा ध्यान दिया था, उसके मुख्य तथ्यों को सूक्ष्म भाव से जानने की कोशिश की थी और संपूर्ण जीवन को क्रमिक रूप में सुसम्बद्ध करने की चेष्टा की थी। भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के बीच सामञ्जस्य स्थापित करके जीवन के सर्वाङ्गीण विकास की ओर उसका ध्यान था। यह ठीक है कि भारतीय दर्शन में आध्यात्मिक जीवन को विशेष महत्त्व दिया गया है और आध्यात्मिक उन्नति को जीवन का परम लक्ष्य माना गया है, किन्तु यह आध्यात्मिक जीवन नेतिमूलक (Negative) नहीं है। इसका उद्देश्य है हर जीवन को सुखी एवं समृद्ध बनाना तथा समाज को कल्याणमार्ग पर प्रवर्तित करना। व्यक्ति एवं समाज का, व्यष्टि एवं समष्टि का एक साथ कल्याण किस प्रकार संभव हो सकता है, यही उस आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य था। वह आध्यात्मिक जीवन दुःखवाद, नैराश्य एवं वैराग्य का द्योतक नहीं था। इसमें जीवन को गंभीर रूप में जानने और समझने की मौलिकता एवं सजीवता थी। वास्तव जगत् के साथ उसका संपर्क होने के कारण उसमें कोरी भावुकता नहीं थी बल्कि वस्तु जगत् के प्रयोजनों के सम्बन्ध में व्यावहारिक चिन्तना (Practical thinking) भी थी। हाँ, यह सत्य है कि बाद में चलकर भारतीय दर्शन की यह व्यावहारिकता एवं मौलिकता क्रमशः लुप्त होने लगी और उसका योगसूत्र हमारे जीवन के साथ शिथिल एवं विच्छिन्न होने लगा। किन्तु इसका कारण यह नहीं था कि उस युग में अध्यात्म-चिन्ता विशेष रूप से होने लगी थी अथवा लोग अधिक संख्या में अध्यात्मवादी बन गये थे और भौतिक भोग-सुख की ओर उनकी प्रवृत्ति बहुत कम हो गई थी। यह हिन्दू जाति के सर्वतोमुखी ह्रास का युग था जब जाति की प्राणशक्ति क्षीण होने लगी थी, उसके बौद्धिक एवं मानसिक तेज का ह्रास होने लगा था। इस ह्रास एवं पतन के युग में जाति मे मौलिक चिन्तना एवं

गवेषणा बिलकुल नहीं रह गई और ज्ञान विज्ञान की साधना का स्रोत शुष्क हो चला था। ऐसा क्यों हुआ, इसके अनेक कारण हो सकते हैं। राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्यान्य कारण। इसके लिए एकमात्र दर्शन एवं अध्यात्म को ही उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

प्राचीन भारतीय जीवन का जैसा चित्रण हम संस्कृत साहित्य, काव्य, पुराण, इतिहास आदि में पाते हैं उससे यह बिलकुल प्रमाणित नहीं होता कि उस समय के भारत-वासियों की एकमात्र प्रवृत्ति परलोक अथवा अध्यात्म की ओर थी और इह जीवन के सुख-सौन्दर्य्य भोग से वे सर्वथा उदासीन थे। संपूर्ण संस्कृत साहित्य मानव-जीवन का साहित्य है। उसमें मानव-जीवन की सार्थकता, उसका सौन्दर्य्य फूट पड़ा है। उसमें हम जीवन की सच्छलता, उसका अदम्य गतिवेग पाते हैं। उसमें जीवन के स्थूल रूप का विशद चित्रण किया गया है और जीवनरस के आकण्ठ आस्वादन की प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया गया है। हाँ, कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनमें इस संसार के भोगसुख से विरत रहकर अध्यात्म की ओर प्रवृत्त होने तथा तत्त्वचिन्ता में जीवन यापन करने का उपदेश दिया गया है। किन्तु इस प्रकार के उपदेशों में भी गृहस्थ-जीवन को सर्वथा तुच्छ एवं निन्दनीय नहीं ठहराया गया है, उसकी उपयोगिता को एकबारगी उड़ा नहीं दिया गया है। मानव-जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में एक ओर यदि आध्यात्मिक मुक्ति को श्रेयस्कर बतलाया गया है तो दूसरी ओर मानव-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों की महत्ता को भी स्वीकार किया गया है। यदि यह बात नहीं होती तो हम प्राचीन काल के पण्डितों को समाज-व्यवस्था कायम रखने के लिए नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजनीति, समाजनीति, कला-कौशल, नियम, कानून आदि की रचना करते नहीं पाते। संहिताओं में लौकिक जीवन के नियमों की ही हम विशद व्याख्या पाते हैं। वहाँ जीवन का कोई भी विभाग छूटने नहीं पाया है। शुक्रनीति में हम राजनीति एवं शासन-नीति की जो अपूर्व व्याख्या पाते हैं वह आज भी सभ्य संसार के लिए ईर्ष्या की वस्तु है। बड़े-बड़े साम्राज्य के संचालन में, राजनीति एवं युद्धनीति के प्रवर्तन में किस प्रकार सुव्यवस्थित नियमों का पालन किया जाता था, इसका परिचय भी हमें इन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। भारतीय शिल्प-कला एवं भारतीय साहित्य में केवल मठों और मन्दिरों का ही वर्णन नहीं पाया जाता बल्कि नागरिक जीवन और राजदरबार का तथा नगर और दरबार के ऐश्वर्य्य एवं वैभव का भी। ये सब ग्रन्थ तथा प्राचीन भारतीय कला के निदर्शन आज भी उपलब्ध हैं और उनके अध्ययन से यह सहज ही जाना जा सकता है कि प्राचीन भारतवर्ष का दर्शन एवं अध्यात्म जीवन संपर्कविहीन, शून्यवाद, दुःखवाद अथवा वैराग्यमूलक धर्म नहीं था और न वह जीवन की अकर्मण्यता, शिथिलता एवं जड़ता का परिपोषक था। उसमें जीवन का सुर था, जीवन-रस की सरसता थी और थी जीवन-देवता की उपासना। उसमें हम जीवन-वीणा के तारों की झंकार पाते हैं, जीवन-वैराग्य का शोकपूर्ण संगीत नहीं।

यह सच है कि भारतीय संस्कृति में मनुष्य के इस भौतिक जीवन से ऊपर उठकर आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने, भौतिक सुखों की अपेक्षा आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त करने की महत्ता को विशेष रूप में स्वीकार किया गया है। संसारी जीवों में एक-मात्र

मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो आध्यात्मिक विकास के चरम स्तर पर पहुँचकर अखिल के साथ अपने ऐक्य की प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त कर सकता है और ब्रह्मानन्द में लीन रह कर अनासक्त एवं निर्लिप्त भाव से जीवन के सारे कर्मों का संपादन कर सकता है। किन्तु इसके साथ ही भारतीय संस्कृति में मानव-जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में उन्नति की जो संभावनाएँ निहित हैं उनका भी निर्देश किया गया है। सबके लिए एक समान जीवन की व्यवस्था न करके मानसिक विकास के अनुसार जीवन को चार श्रेणियों एवं आश्रमों में विभाजित कर दिया गया था। इस व्यवस्था में गार्हस्थ्य जीवन को भी उतना ही महत्त्व दिया गया है जितना वानप्रस्थ या संन्यास को। बाद में चलकर बौद्ध धर्म के प्रचार के फलस्वरूप संन्यास को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा जिससे मठों की स्थापना अधिकाधिक रूप में होने लगी और गार्हस्थ्य की अपेक्षा मठ के जीवन को लोग विशेष कल्याणजनक एवं श्रेष्ठ समझने लगे। इससे समाज में मिथ्या वैराग्य की भावना जोर पकड़ने लगी और लोग बाल्य जीवन में ही संन्यासी बनने लगे। इस प्रकार जीवन की जो क्रमिक व्यवस्था अति प्राचीन काल से चली आती थी उसमें संपूर्ण परिवर्तन हो गया और कलियुगी साधु-संन्यासियों की संख्या बढ़ने लगी। इन संन्यासियों ने दर्शन एवं अध्यात्म की वैराग्य-प्रधान व्याख्या करके तथा सर्वसाधारण जनता में वैराग्य की महिमा का प्रचार करके लोगों के मन में वैराग्य के प्रति एक प्रकार का मोहपूर्ण आकर्षण उत्पन्न कर दिया और उनके मन में यह धारणा बद्धमूल कर दी कि वैराग्य-साधन के बिना मनुष्य का कल्याण, उसकी मुक्ति असंभव है। इस प्रकार के उपदेशों का प्रभाव हमारे जातीय जीवन पर बहुत अवाञ्छनीय रूप में पड़ा और जातीय जीवन तथा देश की राजनीतिक स्वाधीनता के ह्रास का यह एक बहुत बड़ा कारण सिद्ध हुआ।

कुछ लोगों ने कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी भारतीय जीवन की सजीवता के ह्रास का कारण बताया है। किन्तु कर्मफल या पुनर्जन्म का सिद्धान्त किसी प्रकार भी जीवन के भौतिक विकास के मार्ग में बाधक नहीं हो सकता। हिन्दू दर्शन में कर्म-प्रवाह को अनादि एवं अनन्त माना गया है। प्रत्येक जीवात्मा अनादि अाज एवं अनन्त है। कर्मफल के अनुसार जीव विभिन्न देह धारण करता है और पाप-पुण्य के अनुपात से उर्ध्वगति अथवा अधोगति प्राप्त करता है। इस प्रकार अनन्त रूप में आवागमन का चक्र चलता रहता है और कर्मफल के अनुसार प्राणियों की उन्नति-अवनति होती रहती है। जब तक आत्मज्ञान नहीं प्राप्त होता जब तक आवागमन के इस चक्र से जीव की मुक्ति नहीं होती। कर्मफल और पुनर्जन्म का यह सिद्धान्त केवल यही बतलाता है कि जीव का अतीत, वर्तमान और भविष्य जीवन एक ही कर्म-प्रवाह की शृंखला में आबद्ध है। जीवात्मा के अतीत के कर्मफल द्वारा उसके वर्तमान अस्तित्व का स्वरूप निश्चित हुआ है और वर्तमान द्वारा उसका भावी जीवन गठित हो रहा है।

इस प्रकार जीव के बार-बार के जन्म में उसका कर्मफल ही सबसे बड़ा प्रेरक कारण होता है। जीव अपना उद्धार आप ही कर सकता है। वह अपना शत्रु और मित्र आप ही है। इस सिद्धान्त में तो भौतिक जीवन की महत्ता को अस्वीकार न करके उसे

और भी महत्त्व ही दिया गया है। इससे तो वर्तमान जीवन में शुभ कर्म करने, अपने जीवन का सदुपयोग करने तथा मानवी शक्तियों को पूर्ण विकसित करने की ही शुभ प्रेरणा मिलती है। क्योंकि वर्त्तमान जीवन में सत्कर्म करके हम केवल अपने वर्तमान को ही नहीं, भविष्य को भी गौरवपूर्ण बना सकते हैं।

भारतीय दर्शन में गतानुगतिकता को कभी प्रश्रय नहीं दिया गया। प्राचीन काल में जीव, जगत् एवं ईश्वर के सम्बन्ध में स्वतंत्र रूप से विचार करने तथा अपने-अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन एवं प्रचार करने की जितनी स्वतंत्रता भारत में दी गई थी उतनी और किसी भी देश में नहीं। दर्शनशास्त्र की विभिन्न शाखाएँ, आस्तिक से लेकर नास्तिक दर्शन तक इसके प्रमाण हैं। भारतीय दर्शन की इस विचार-स्वतंत्रता के कारण उसकी प्राणधारा हजारों वर्ष तक अक्षुण्ण रूप में प्रवाहित होती रही। जब से देश, काल एवं युगोपयोगी स्वतंत्र विचार का वर्णन करना हमने आरम्भ किया तभी से हमारे जातीय जीवन में घुन लगना शुरू हुआ। भारतीय दर्शन की वह गभीरता एवं मौलिकता नष्ट होने लगी और उसमें वह सजीवता नहीं रह गई जिससे हम अपने जातीय जीवन के गठन में प्रेरणा एवं उद्दीपना प्राप्त कर सकें। भारतीय दर्शन एवं उसकी चिन्ता-प्रणाली को अब संकुचित गतानुगतिकता के अन्दर निबद्ध रखने से काम नहीं चलेगा। जीवन दर्शन के रूप में उसकी नूतन व्याख्या करनी पड़ेगी। वेदान्त दर्शन की नूतन व्याख्या करके स्वामी विवेकानन्द ने जिस प्रकार भारतीय धर्म एवं दर्शन को शक्ति, साहस एवं शौर्य्य का अग्निमंत्र बताया और हिन्दू जाति को इस अग्निमंत्र में दीक्षित होने के लिए आह्वान किया उसी प्रकार आज के दार्शनिकों को भी भारतीय दर्शन को देश एवं कालोपयोगी बनाना होगा। जातीय जीवन के गठन में वह सहायक हो, इसके लिए उसमें शक्ति-मंत्र भरना होगा। वह हमारे व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के बीच सामञ्जस्य स्थापित करके हमें मानवोचित जीवन-यापन करने की प्रेरणा प्रदान करे, इसके अनुकूल उसे बनाना होगा। पश्चिम से जो नई-नई विचारधाराएँ इस देश में आ रही हैं उनका वर्जन करके नहीं बल्कि उन्हें आत्मसात् करके भारतीय जीवन दर्शन के साथ उनका समन्वय स्थापित करना होगा। भारत ने केवल विभिन्न विदेशी जातियों को ही आत्मसात् नहीं किया बल्कि उनकी स्वतंत्र विचारधाराओं को भी ग्रहण करके अपने मतवाद को और भी पुष्ट बनाया। उसी प्रकार हमें भी पाश्चात्य मतवादों की सारवस्तु को ग्रहण करके भारतीय दर्शन को युग के अनुरूप बनाना होगा, आधुनिक जीवन के साथ उसका योग-सूत्र स्थापित करना होगा। दर्शन के साथ जीवन का सम्बन्ध स्थापित करके धर्म को उसी प्रकार व्यावहारिक रूप देना होगा जिस प्रकार का व्यावहारिक रूप प्राचीन काल में धर्म को प्राप्त था। अर्थात् धर्म का अर्थ होगा हमारे लिए इस प्रकार का जीवनदर्शन जिसमें हमें व्यक्ति गत जीवन के परिपूर्ण विकास का सुयोग प्राप्त हो और हमारा वह व्यक्तिगत जीवन समष्टि जीवन के विकास में बाधक नहीं हो। भारतीय धर्म एवं दर्शन की परिवर्त्तनशीलता (adaptability) ही उसे युग-युग तक शक्तिमान् बनाये रही। धर्म एवं दर्शन को एक बार फिर सजीव बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें परिवर्त्तनशीलता लाई जाय, उसे जड़ता से मुक्त कर दिया जाय। परम्परा से जो व्याख्या पण्डित-मण्डली में प्रचलित है उसे ज्यों

का त्यों ग्रहण न करके वैज्ञानिक मनोवृत्ति लेकर हम उस पर विचार करें और नूतन रूप में उसकी व्याख्या करें। आज दर्शन को विज्ञान से पृथक् समझने से काम नहीं चलेगा। विज्ञान के इस युग में आज का मनुष्य जिस दृष्टि से जीवन एवं जगत् को देखता है उसी दृष्टि से दार्शनिक को भी देखना होगा और दार्शनिक चिन्ता-प्रणाली के साथ वैज्ञानिक मनोवृत्ति का सामञ्जस्य साधन करना होगा। भारतीय भावधारा का स्रोत भले ही फल्गु धारा की तरह प्रच्छन्न हो गया हो किन्तु वह मृत नहीं हुआ है। भारतीय मानसिक वृत्ति अब भी सतेज बनी हुई है। त्रुटि केवल इस बात की है कि चिन्ता के साथ कर्म का सामञ्जस्य स्थापित करना हमने नहीं सीखा। चिन्ताजगत् में जहाँ हम बहुत आगे बढ़ गये वहाँ कर्ममय जगत में हम बहुत पीछे रह गये। जीवन की समस्याओं पर गभीर रूप में हमने विचार किया सही मगर उन विचारों के अनुसार कार्य करने के लिए हमने जाति की कर्मशक्ति को उपबुद्ध एवं उद्दीपित नहीं किया। जाति की इस कर्मशक्ति को उद्बुद्ध करके ही उसे तन्द्रालसता एवं जड़ता से मुक्त किया जा सकता है और उसमें नवप्राणों का संचार किया जा सकता है। दर्शनशास्त्र केवल निष्क्रिय बनकर चिन्तन एवं मनन करने की वस्तु नहीं है बल्कि वह जीवन को विविध कर्मों की ओर स्वतःप्रणोदित करने के लिए है। वह जीवन में नैराश्य एवं वैराग्य का उपदेश देने के लिए नहीं है बल्कि जीवन का वास्तविक स्वरूप हमारे सामने उपस्थित करके कर्ममय जीवन में प्रवृत्त करने के लिए हममें नूतन आशा एवं कर्मोन्मादना का संचार करने के लिए है। ऐसा करके ही हम भारतीय दर्शन को प्रकृत जीवन दर्शन बना सकते हैं और उसे प्रचण्ड शक्तिस्रोत का रूप प्रदान कर सकते हैं। यह जीवन दर्शन ही हमें प्रकृत मनुष्य और हमारे व्यक्तित्व को सतेज एवं शक्तिशाली बनायेगा।

काणादगौतमदर्शनम्

श्री माधवाचार्य जी महाराज

इह खलु जगत्यशेषा अपि पुरुषा वपुषा वचसा चेतसा चानवरतं धर्मार्थकाममोक्षाणामेवैकतमं कमप्यर्थयमानाः प्रतीतिपथमवतरन्तीति पुरुषैरर्थ्यमानत्वात्त एव पुरुषार्था इत्याचार्याणां सिद्धान्तः। तत्र धर्मार्थकाममोक्षेषु पुरुषैरर्थ्यमानत्वविशेषेऽपि निरपायत्वानिरुपमदुःखनिवृत्तिरूपत्वात् "न स पुनरावर्तते" श्रुतिशतोपगीतित्वाच्च मोक्ष एव परमपुरुषार्थ इति दार्शनिकानां समेषा मपिमान्यतम एव। तत्र पदार्थज्ञानज्ञानमेव कारणमित्यङ्गीकृत्य काणादगौतमदर्शने किञ्चिदुपन्यस्यते।

कणादेन महर्षिणा प्रणीतं दर्शनं काणादमित्युच्यते। एतदेव च विशेषनामकमेकं पदार्थमधिकृत्य कृतमिति वैशेषिकमित्यपि व्यपदिश्यते। अथ कथमिदं दर्शनमौलूक्यदर्शनेतिनाम्ना व्यपदिश्यते इति चेत्-अत्र केचित् उलूक इति कणादस्य कौलिकमुपनामासीत्। माधवाचार्येण तदाधृत्यौलूक्यनाम्ना दर्शनमिदं व्यापदेशि। अपरे तु उलूको यथा दिवाकरप्रकर भास्वरेऽपि वासरे भासमानानपि पदार्थान् दृष्टिगोचरीकर्तुं न शक्नोति तथा कणादोऽपि निखिलप्रमाणप्रकाशे देदीप्यमानमपि वेदं प्रमाणतया नावलोकमितुमशक्नोदिति स उलूक इति व्यपदिश्यते सादृश्येनोपचारात्। तदीयं च दर्शनं वैदिकदर्शनपक्षपातिनः संगिरन्ते चौलूक्यदर्शनमिति।

दर्शनेऽस्मिन् महर्षिः कणभक्षो द्रव्यगुणकर्मविशेषसामान्यसमवाख्यषट्पदार्थानभ्युपगम्य तेषामेव सविशेषज्ञानादुपगम्यतेऽपवर्गो जनिमद्भिरिति स्वीकरोति। अत एव "धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसमिति" सूत्रयाञ्चकार। प्रमेयाणामेषां प्रमितये प्रत्यक्षमनुमानं चेति द्वे एव प्रमाणे सोऽभ्युपगच्छति।

चेतनादीश्वराद् ब्रह्मणो वोपादानाद् जगदुत्पत्तौ स्वीक्रियमाणायां जगतश्चैतन्यमापद्येत कारण गुण प्रक्रमेण कार्यगुणारम्भस्य दृष्टत्वात्। यथा शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो जायत न जातु कृष्णः।

एवमेव चेतनारब्धमाकाशादि सर्वं चेतनमेव जायते न त्वचेतनम्। तस्मादचेतनेभ्यः परमाणुभ्य एवासौ जगदुत्पत्तिमातिष्ठते। परं तदुत्पत्तौ निमित्तहेतुन्तु परमेश्वरमेवाङ्गीकरोति। कः खलु परमेश्वरमन्तरेणोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वरूपं प्रपञ्चं कर्तृत्वमधिगन्तुं शक्नोति। अपेक्षाबुद्धिजन्यं द्वित्वादिपाकजोत्पत्तिं विभागजविभागन्यायमङ्गीकरोति।

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागजविभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥

मोक्षश्चैतेन एकविंशतिविधदुःखध्वंस इत्यभ्युगम्यतेऽमति च मोक्षे जीवः परमेश्वरेण साम्यमेव प्राप्नोति।

(गौतमदर्शनम)

गोतमेन महर्षिणा प्रणीतं दर्शनं गौतमदर्शनमित्युदीर्यते। एतदेव दर्शनमाक्षपाद-दर्शनमपि भण्यते। अक्षपाद इति भगवतो गोतमस्यैवाभिधानान्तरम। एवं तत्राख्यानकं प्रचरति यत गुरुकुले विद्याध्ययनाय निवसन् निरतिशयतीक्ष्णधिषणःऽतितरांवस्तुतत्त्व-भावनशीलश्च गोतमो कदाचिन्मार्गे गच्छन् भावना परायणतया पुरःसमापतितमपि कूपमपश्यंस्तत्रैव निपपात। आसीच्चासावधिभूमिगतः शीतर्तुरिति शीतेना-तितरां बाध्यमानोऽप्यनायत्याधिकूपमेवाहोरात्रमधिनिनाय। प्रातः कूपा दुदकमुद्धर्तु-मागतवत्याकया प्युदकहारिण्या व्यथमानतया मन्दं क्रन्दन् व्यज्ञायि। तया चाहूतैर्जनैः कथंचित्कूपादुदधारि। आनायि च तदनागमनेन चिन्तितस्य गुरोः सकाशम। ततस्तदीय-क्लेशेनातितरां तस्य दयमानो गुरुः तस्मै "अद्यप्रभृति तव पादावपि चक्षुषी इव चाक्षुषं ज्ञानं जनयितुं प्रभवेताम त्वं यथेच्छं पदार्थान् भावयन् व्रज। ततोऽसावन्वर्थेनाक्षपादु इति-नाम्ना प्रपथे। इदमेव दर्शनमान्वीक्षिकीशब्देनापि च व्यपदिश्यते।

> प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायस्सर्वकर्मणाम।
> आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे परीक्षिता॥

अथैतद्दर्शनं न्यायशब्देन कथमुच्यते इति चेत्। इत्थं प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोप-नयननिगमनान्यवयवाः इति सूत्रोक्तावयवपञ्चकस्य परार्थानुमानस्याऽस्ति न्याय इति-संज्ञा सैव लक्षणया शास्त्रेऽपि प्रयुज्यते इति। तर्कशब्दप्रयोगेऽपि एषैव गतिः तर्कस्य तच्छास्त्रीयान्यतमपदार्थत्वात्।

दर्शनेऽस्मिन् तार्किकः भगवानक्षपादः प्रमाणादीन् षोडश पदार्थादीन् स्वीकरोति। ताँश्चापि षोडशद्रव्यादिषु सप्तस्वेवान्तर्भावयन्त्यर्वाचीनाः। तेषामेषां प्रमायै "प्रत्य-क्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि सूत्रोदितानि चत्वारि प्रमाणान्यूरीकरोति। एष च भूम्ना काणाददर्शनमनुसरन्नपि तद्वैलक्षण्येन प्रमाणद्वयमधिकमुरी कृत्य वेदमपि प्रमाणं मन्वानः स्वीयामास्तिकतां द्रढयाञ्चकार। जगतः सृष्टिञ्चायमपि कणभक्ष इवैव परमाणूनामुपादानत्वेन परमेश्वरस्य च निमित्तत्वेन चाभ्युपगच्छति।

जगत्कर्तृत्वेनैव च परमेश्वरमनुमिनोति। अनुमित्या साधितं च तं श्रुत्यापि द्रढ-यति। न तु प्रथममेव श्रुत्या साधयति। ईश्वरोच्चरितत्त्वेनैव श्रुतेः प्रामाण्यङ्गीकारात्। अपवर्गञ्च दुःखात्यन्तविमोक्षमेव मनुते। "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग" इति सूत्रेण लक्षितत्वात। आत्मानञ्चायं ज्ञानाधिकरणं मन्यते नतु ज्ञानस्वरूपम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादि ज्ञानात्माभेदप्रतिपादिकाः श्रुतीः अभेदभावनयैव यतितव्यमिति श्रुतयः संगच्छन्ते। अत एव निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति साम्यप्रतिपादिकाः श्रुतयः संग-च्छन्ते। मोक्षदशायामपि जीवेश्वरयोरैक्यं न सम्भवति भेदस्य नित्यत्वात्। वेदन्तु पौरुषेयं मन्यते कर्तुसम-रणादपौरुषेयत्वन्तु नशक्यते व्यवस्थापयितुमिति "छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्" इति श्रुतेरेव छन्दसां ततः (परमेशात्) जन्यत्वसिद्धेः।

तिष्ठति । इत्यत एव हेतोः सनातनधर्मावलम्बिसमुदाये विधवायाः पुनरुद्वाहो निषिद्धः । पतिप्राणा सतीत्वव्रतपरायणा आर्यमहिला त्रिलोकपावनी भवतीत्यपि सनातनधर्मशास्त्र-सिद्धान्तो विद्यते । इत्यत एव साक्षाज्जगज्जनन्या दुर्गायाः स्वरूपम्मत्वा सनातनधर्मसमु ाये कुमारीणां पूजनं क्रियते । सौभाग्यवती गृहिणी (आर्यमहिलेति यावत्) न केवलं दुर्गापीठ-स्थानीयेत्युच्यते अपितु विशेषवस्त्राभरणा सौभाग्यवती विशिष्टदेवीस्वरूपेति तां दृष्ट्वा मनसा प्रणमेदित्यपि सनातनधर्मशास्त्रं तासां देवीस्वरूपत्वमेवोपदिष्टं विद्यते ।

विधवा आर्यमहिला तु संन्यासिवदभ्यर्चनीया समादरणीया चोपदिष्टाऽस्ति । अत एव विवाहादिप्रवृत्तिमार्गकार्ये यथा संन्यासिनां प्रवृत्तिर्निषिद्धा तथैव विधवानामपि विवाहादौ प्रवृत्तिमार्गपरके गमनं निषिद्धं दृश्यते । ता हि निवृत्तिमार्गप्रवृत्ताः संन्यासिवदेव प्रवृत्तिमार्ग-कृत्येषु संन्यासधर्मभाजो विगणिताः ।

यद्यपि सम्प्रति अन्यत्रापि सभ्यजातिषु क्वापि रजोवीर्यशुद्धिसमादरणं दृश्यते किन्तु आध्यात्मिकोन्नतिशीलास्वार्य्यजातिषु तु तां रजोवीर्यशुद्धिं वर्णधर्ममर्यादया विवाह-पद्धतिविमर्शतो गृहस्थाचारविचारविवेकेन च परां काष्ठां प्रापयितुं प्रयत्नो विहितोऽवलोक्यते ।

पृथिव्यामन्यासां विविधसभ्यजातीनामुपासनापद्धतौ लौकिकखाद्यादिभोगपदार्था-नामधिगमाय प्रार्थना कृता दृश्यते । परन्तु सनातनधर्मावलम्बिनामार्याणामुपासनादिषु बुद्धितत्त्वस्योपलब्धये प्रार्थनाऽवलोक्यते । तत्र सर्वाभ्यर्हितायाः उपासनायाः प्रथमसोपान-स्वरूपा गायत्रीमन्त्रोपासनैव प्रमाणम् ।

शुद्धाशुद्धविवेकस्यापि सनातनधर्मावलम्बिन्यामार्यजातौ परा काष्ठा दृश्यते । सनातन-धर्मिसमुदायः स्वशरीरे एव एतावन्तं शुद्धाशुद्धविवेकं करोति, यत् येनाङ्गप्रोक्षण-वस्त्रेण नाभेरधोभागस्य आर्याणामङ्गस्य मार्जनं जातं तेनैव वस्त्रेण नाभेरुपरिभागस्थस्याङ्गस्य प्रोक्षणं तावन्न भवितुमर्हति यावज्जलादिना प्रक्षाल्य तद्वस्त्रस्य पूर्णा शुद्धिर्न जायेत । इत्यत एव द्विजगणाः सर्वदा त्रिगुणात्मकं यज्ञोपवीतसूत्रं स्वस्कन्धे परिदधाति यतश्चाध्यात्माधि-दैवाधिभूतशुद्धिः सर्वदैव स्मृतिपथं समारूढा स्यादिति । देशसेवायाः बीजारोपणं रजोवीर्य-शुद्धिद्वारा प्रतिगृहं निहितं विद्यते । कालसेवाया बीजारोपणञ्च त्रिकालसन्ध्यायाः सुदृढ-नियमद्वारा प्रतिद्विजातिजनं निहितं विद्यत इति सनातनधर्मावलम्बिन्या आर्यजातेः संस्कृति-रहस्यपर्यालोचकानां मनीषिणामेव ज्ञातं स्यान्नान्येषाम् ।

सनातनधर्मावलम्बिसमुदायानां सदाचारपरम्परायां ज्ञानवृद्धास्तपोवृद्धाः पर्यायवृद्धाः शीलवृद्धाः वयोवृद्धा इत्यादयो बहवो वृद्धाः परिगणिताः सन्ति । तत्र यथा ज्ञानवृद्धानां सर्वाभ्यर्हितमानसं प्रदत्तं विद्यते । यथा च मातृपितृणां गुरुपादानां पूजा-पद्धतिर्निर्दिष्टास्ति, तानि सर्वाण्यपि कृत्यानि पृथिव्यामन्यासां सभ्यजातीनां कृते आश्चर्यचमत्कारजनकतया विस्मयमेवादधाति ।

सनातनधर्मावलम्बिन्या आर्यजातेः धर्ममूलिकेयमार्यसंस्कृतिः शत्रुणा सह युद्धे प्रवृत्तस्यापि पुंसः कीदृशो व्यवहारो भवितुमर्हतीति विषये सुदृढं नियमयति । यां युद्ध-व्यवहारपद्धतिं साम्प्रतिक्यः सभ्यम्मन्याः जातयस्तु स्वप्नेऽप्यवगन्तुं न समर्थाः किमुत व्यवहरणे । अत्रैकं पौराणिकमुपाख्यानमुदाहरणतया समुपहरामः । तथा हि वीरपुङ्गवोऽर्जुनो

यदा खाण्डववनं ददाह, तदानीं तत्र वनेऽसुरराजो मयनामको दानवोऽपि दह्यमान आसीत्। स च करुणस्वनं चीत्कुर्वन् त्रातारमाकारयामास। तदीयमार्तनादं श्रुत्वा करुणावरुणालयो भगवान्देवकीनन्दनोऽर्जुनमसुरराजस्य प्राणरक्षार्थं वरुणास्त्रप्रयोगमादिदेश।

इत्थञ्च प्रसिद्धतरस्य शिल्पशास्त्रदक्षस्य मायामयविद्याविदुषो मयस्य प्राणरक्षायां जातायां तेनार्जुनोऽभ्यर्थितोऽभूद् यन्मत्पार्श्वे बहूनि एवंविधानि अस्त्राणि शस्त्राणि च सन्ति येषां प्रयोगज्ञानेन आकाशे गुप्तचराः सैनिकाः स्वशत्रून् हन्तुमर्हन्ति। जले प्रच्छन्नाः सन्तो जलोपरि स्थितान् समूलं विनाशयितुं शक्नुवन्ति। दुर्गस्थितानपि शत्रून् दूरत एव समूलघातं हन्तुमर्हन्ति। स्वयं प्रच्छन्नाः सैनिकाः पलायमानान् शत्रून् निहन्तुमर्हन्ति यथेदानीं पाश्चात्यदेशे युद्धेषु परस्परं प्रयुञ्जन्ति योद्धारः। एतस्योत्तरं यदर्जुनेन दत्तं विद्यते तद्धि भारतीयशासकानां शिरः सर्वथा सर्वदा समुन्नयति। तदेव हि भारतीयार्यमर्यादायाः प्रतीकं ज्ञेयम्। मयदानवस्य वाक्यं श्रुत्वा विहस्यार्जुनेनाभिहितम्—अपि प्रत्युपकारिन्! भवदभिमतं कर्तुमहं सर्वथाऽसमर्थोऽस्मि। यतो हि वयमार्या न वयं प्रच्छन्नयोधिनः नापि पलायमानान् शत्रून् पृष्ठतो निहन्मः। नैव चास्माकं नये दूरे स्थिताः कार्यान्तरव्यापृता योद्धारोऽपि शस्त्या-उद्दिष्टा इत्यतो भवतोऽस्त्राणां शस्त्राणाञ्चोपयोगो न मया कर्तुं पार्यते इति। इदं हि एकमेवोपाख्यानमार्यजातीनां धार्मिकायाः युद्धनीतेर्विशदनिदर्शनं विद्यते। साम्प्रतिकानां पाश्चात्ययुद्धविज्ञानवेदिनां युद्धप्रणालीं पश्यतां मानवानां पुरतो भारतीयार्य-मर्यादायाः स्फुटमेव ज्ञान भवतीति किमत्र बहुनोक्तेन।

इत्थञ्चार्याणां शिक्षापद्धतिरपि अन्यादृशी विद्यते। तथाहि भारतीयार्यसंस्कृतौ स्त्रियो हि भूमिरूपिण्यः पुरुषाश्च बीजस्वरूपाः सम्मताः। अतश्चोभयोः शिक्षाप्रणाली धर्माः (कर्तव्याणि) अधिकाराश्च विभिन्ना एवानुमताः। अतो हि या शिक्षा पुरुषाणामु-पयोगिनी नैव स्त्रीणामपि उपयोगिनी कदापि नैव भवितुमर्हति। अत एव मन्वादिभिः स्त्रीणामादर्शस्वरूपा शिक्षा पुरुषतोऽन्यादृश्येवोपदिष्टेत्यपि भारतीयार्यमर्यादायाः वैशिष्ट्यम्।

आर्याणां वेदाः धर्मशास्त्राणि च वैदिकसप्तदर्शनविज्ञानमूलकान्येव प्रमाणवन्ति सुरक्षितानि च भवन्ति। आर्याणां सप्तापि दार्शनिकविज्ञानानि सप्तज्ञानभूम्यनुसारेणैव सुदृढानि सुमहिमशालीनि च सन्ति। यथा बहिर्जगतोऽवलोकनाय बाह्येन्द्रियस्य चक्षुरादेः प्रयोजनं भवति तथैवाभ्यन्तरजगतोऽवलोकनाय, किं बहुनासूक्ष्मातिसूक्ष्मतमस्य परमेशितुरपि साक्षात्कारं कर्तुं दार्शनिकनेत्राण्येव सामर्थ्यवन्ति। सनातनार्यमर्यादायां बलधनविद्याधर्मादि-शक्तीनां प्राप्तिः, धर्मार्थकाममोक्षेति चतुर्वर्गस्येच्छापि तु परमात्मनः प्राप्तिनिमित्तैवेति आबालवृद्धं प्रसिद्धिः। इतीत्थं भारतीयार्य्यमर्यादाया गरिम्णो महिम्नो नास्ति शक्तिः कस्यापि वर्णयितुमिति विरम्यते विस्तरात्।

आर्षज्ञानस्य मौलिकता

नेत्रमणि शर्म्मा मैठाणी

श्रीरायराया महीमहेन्द्र महाराजाधिराज महारावल श्री सर लक्ष्मणसिंह नृपतिवर के० सी० एस० आई० डूंगरपुराधीश्वराणां रजतजयन्तीमहोत्सवे समर्प्यमाणस्य ग्रन्थ-रत्नस्य कृते काश्चित्पङ्क्तयः साशीर्वादं लिख्यन्ते ।

भारतीयानां निखिलभूमण्डलमण्डनायमानानां सर्वतोमुखी शास्त्रसृष्टिः मानुषाणां यथोपकरोति न तथाऽभारतीयानाम् । पूर्वे महर्षयः सर्वेषामिन्द्रियाणां बहिर्मुखीं प्रवृत्तिं स्वयम्भुव एवारभ्य निर्धार्य तत्प्रभवेषु तत्संस्कारान्स्वाभाविकानाकलय्य ततोऽतिपीड्यमानान् मानुषान् समुद्दिधीर्षवो विषयान् अतिग्रहान् आहुः । विषयग्राहीणि ज्ञानसाधनानि च "ग्रहान्" ददृशुः । सोयं ग्रहातिग्रहप्रपञ्च एव संसार इत्युच्यते । तमिमं रूपसंज्ञासंस्कार विज्ञानवेदनामयं बीजाङ्कुरवदन्योन्यमापेक्षं कार्पण्यं मलमात्रमपनिनीष वोहिसंस्कारसमष्टे-र्महतः परमपश्यन्तो निर्दग्धशेषसंस्कारां बुद्धिपटीं प्राप्ताखिलतन्तुप्रदाहामिव निर्वाणपदवीं निःसाक्षिकामाहुः । परमर्षयस्तु "असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्" सर्वदा पूर्वेभ्यः शृण्वन्तो, रूप, विज्ञान, संज्ञासंस्कारवेदनाः समूलकार्पकार्षता अपि गृह्यमाणाः स्वयंज्योतिषा, निखिलासु बुद्धिवृत्तिषु प्रत्यस्तमितास्वपि त्रिकालाबाध्यं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं नित्यं निरतिशयं, सर्वभावाभावसाक्षिणं निर्विषयबुद्धेरपि विज्ञातारं साक्षादपरोक्षादात्मानं सर्ववृत्त्युपसंहृतिमन्वपि न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो भवति, इति सुनिश्चित्य उपशान्तोऽयमात्मेति नित्यकूटस्थं चिन्मात्रं दृश्यमात्र साक्षिणं कदा-चित्कथञ्चिदपि संसारासम्पृक्तं सर्वदाऽपवृक्तं द्रष्टारमाहुः, नायं वर्धते नो कनीयान् । ग्रहातिग्रहौ विषयौ दूरत एवायं साक्षात्करोति तदिदं ज्ञानवैभवं परमर्षेः कपिलस्य तत्त्वसंख्यानेषु विविच्य दृश्यमाणं निगूढरहस्यासु श्रुतिभगवतीषु संश्लिष्टमिवाम्नायते । यद् दृश्यं द्रष्टृ-चोभयं ब्रह्मैव भवति । न पुनर्दृश्यं द्रष्टृक्वचिदुपपद्यते, न घटः कुम्भकारो भवति । तस्माद् भौतिकेषु विकारे-ष्वनास्थैव ज्ञानं वृद्धस्य भवतो युज्यते । दृश्यं तुच्छं, द्रष्टा पुनर्मृग्यः—आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ? नोचेदिहावेदीन्महती विनष्टिरिति प्रत्यगात्मनि कल्पितानि स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमान्यवरणानि तन्मूलभूतामनेकपर्वोऽविद्यां च गुरुं शास्त्रं समाधिभिरन्तःकरणमलानां निश्शेषीकारेण पराणुद्य द्रष्टा दृशिमात्रः स्वस्य रूपे चैतन्यमात्रे समवतिष्ठते । तदिदं चैतन्यं द्रष्टुरात्मनः स्वरूपं न केनचित् कार्यतेऽपि च, पाश्चात्याः खलु परीक्षकाश्चैतन्यस्य मदिरायां इव किण्वान् भणन्तश्चार्वाक चरणां-श्चुम्बन्ति, त इमे सर्वेषु प्रस्तरघटादिषु भूतसङ्घेषु चेतनामपश्यन्तः स्वयं लज्जन्ते, अपरे पुनः कृमिकीटपतङ्गपशुमानुषदैवतेषु चैतन्यं संकोचिविकासि वृक्षत्वकृनिर्मितं

Ruber रबरकन्दुकमिव यथा वाय्वापूरं समुपचीयतेऽपचीयते चेति समभिनिविशन्तो दुराग्रहिणो जिननिर्देशमनिभालयन्त उपचयापचयाभ्या मात्मनो नश्वरतादोपं न पश्यन्ति । अन्नेन पुष्टौ, नीलपीतविवेकरूपवेक्षणेन तुष्टौ, निष्प्राणस्य निर्मनस्कस्य निश्चेष्टस्य विषयानसञ्जानानस्य प्रणष्टौ, नित्यपुष्टतुष्टस्य सर्वप्राणस्य सर्वमन्तुः सर्वभावाभावज्ञातुर्नित्यनिरतिशयस्य सर्वात्मनः पोषातोषादीन् अध्यस्यन्त एव निर्वैरान् निरपराधान् मानुषपशुपक्षिणोपि स्वार्थसिद्धये निष्करुणं परिपीडयन्ति न पुनः सर्वेभ्यो जन्तुभ्योऽपि स्वस्वशरीरेन्द्रियादिपोषतोषादीन् आवश्यकान् मन्यन्ते । त इमे वराकाः कञ्चिदुपदेशमर्हन्ति, पश्यन्तु भवन्तः कियवान् भौतिकानेव, न पुनरेतान् अपि भवन्त उद्पादयन्ति न च तदुत्पादनसामर्थ्यंम्भवतामस्ति तर्हि तद्विनाशन एव दाक्षिण्यं केन मुखेन प्रकटयन्ति भवन्तः । स्वभावतश्चेत् तत्वानि संश्लिष्य विविधान् पदार्थान् प्रसुवते ? तर्हि तन्निरोधोपि स्वभावत एव भविष्यति, किमर्थमेतत्संसारप्रणाशनं चिन्त्यते भवद्भिः, भवन्तु भावाः स्वाभाविका भौतिकाः प्रकृतिका मायिका वा न पुनः सर्वेषु भावेषु पदार्थेषु) कश्चिदेक एव मानवः प्रभुर्भवितुमर्हति । मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत् । सर्वेषां शरीर मस्ति, इन्द्रियाणि सन्ति, मनोऽस्ति, बुद्धिरस्ति, भोगसमीहाऽस्ति, सर्वेषु शरीरेषु सर्वाभ्यन्तरोऽन्तर्यामी पश्यति न पचेदात्मकारणात्-केवलाघोभवति केवलादीति, सर्वमात्मबुद्धयाचपश्यतु भवानिति मौलिकं दर्शनम्

RELIGIOUS ROUTINE OF THE ARYANS

By Rajvaidya Jivaram Kalidas Shastri

Proprietor, The Rasashala Aushadhashram and Oriental Sanskrit Research Institute, etc.

1. India has been enjoying long since the reputation of being the founder of principal religious systems of the world. The Aryan Vedic Religion which has started in India thousands of years back is the key-note, the prop or the centre of the several other religions which can but be regarded as its outgrowths. Exponents of other religions who have well studied the Vedas, the Upnishads and the Gita testify to this statement. Savant and scholars studying deeply the principles of Islam which started in Arabia, of Judaism and Christianity which commenced in Palestine, of Zoroastrianism of Iran, of Buddhism which began in India and spread throughout Asia, of Confucianism and of Jainism—a powerful offshoot of Buddhism—are led to find their beginning in Aryan scriptures and the Vedas.

2. The Aryan Religion which has directly or indirectly influenced other theological systems is the earliest or dates from most primeval times. The religious life of the Aryans has been moulded and preserved on its basis—the Vedas and its branches the Upanishads, the Smrities, the Mahabharat and Puranas. Hence when several cults and nations have fallen in oblivion, the Sanatan Vedic religion of the Aryans has still kept up its entity. The religious instincts which the Aryans have imbibed and kept alive since ages gone by have proved to be main source of strength in their continued existence. Indian philosophy, which has its rise from the Vedas, has its supremacy acknowledged throughout the world. Max Muller, Kant, Hagel and many other eminent scholars of the West have spoken of it in glowing terms.

3. With the Aryans, religion has been interwoven in life, for they regard present life as the beginning of life which begin after death. Religion has also been looked upon by them as the main

goal to achieve welfare in this and the other world. Aryan Religion alone has enabled the world to realise this end. Religion has been given by the Aryans a prominent place in their social, political, industrial, practical and domestic activities of life. Religion has been to the Aryans their very breath, for on its strength rests their existence, despite the terrible onslaughts on their country and system of religion in times past and amidst social or political upheavals in the other countries of the world.

4. The people of the west have for some years begun to evince deep interest in the Aryan scriptures, the Vedant, its philosophy and other literature. They have been charmed to see the vast store of learning and knowledge in them. Going deeper and deeper in their study of the Aryan scriptures, they have, with unbounded delight, acknowledged the pre-eminence of Aryan spiritual Literature. India being a dependent country, the exponents of Aryan Religion have not sufficient means and resources to develop it and to lay bare its rich secrets before the people of the world. But savants and scholars have now begun to realise that the Aryan Vedic Religion will go a great way in establishing peace and fraternity throughout the world. It is a truth undenied that when the nations of the world will understand the significance of the principles of Aryan Vedic Religion in their practical life, this world will be a heaven to live in.

5. The people of the west claim faith in religion. But they have by engulfing the world into two great wars in three decades proved that materialism, selfishness, pride, envy and malice have begun to obtain a hold over them. The countries of the west are independent and richly endowed with means to carry on the activities and propagation of the religion they believe in. Even in India, the foreign government is spending high to encourage the spread of their religion. Despite these efforts in the cause of religion, what a horrible calamity has overtaken the people of the west and through them entire mankind? If wars waged in India since the earliest days of Ramayan and the Mahabharat or during the last one thousand years—a period of chaos and disturbance—be compared with modern ones, it can be found that Indian wars have always been confined

to armies actually in combat. Innocent civilians had never suffered destruction at the hands of warring parties. Their trade, commerce and other worldly activities had gone on unhampered. All this goes to prove noble religious instincts of the ancient Aryans and something defective in the religion of the west.

6. The people of the west accept that inspite of their political and financial dependence and troublesome times which they had to pass through, the Aryans have kept up their superiority not only in the field of spiritualism but even in social and practical affairs of life. Their caste system (Varnashram Dharma) and social fabric are so constituted as to keep them within the bounds of morality, religion and righteousness. Polygamy is not prohibited among the Aryans, but one who marries more than one wife, considers himself morally bound to provide for the maintenance of all of them till life. This prevents the degradation of society through women going on a wrong path. Women on their part, even when uneducated, preserve a high standard of chastity and fidelity. Without even a thought of remarriage, they cherish the memory of their dead husbands with piety and sacredness, if they become widows. The cases of divorce in India are very few as compared with the countries of the west where a husband or a wife often brings forward a flimsy pretext and gets divorce by law. It is much to be regretted that some of the so-called cultured Indians who have been trained in the west have also begun to practise this undesirable mode of life. The Proportion of the divorce cases in the west has been judged at one per ten women whereas in India it is hardly so per thousands. The same may be said of the number of crimes in both the countries. A report recently published by an Investigation Committee in New York states that the number of criminal offenders recorded there stands at sixty lacs. The proportion of criminal offenders thus comes to one for every twenty three persons. In India, hardly one out of thousand is accused of criminal actions. This sort of social degradation in the west is also revealed in the authoritative reports published in respective countries—a matter which has caused no samll anxi ty to the people and the government there. To have this sad state of things reformed, they have turned their eyes now-a-days towards Aryan scriptures. Even the offenders,

outlaws, dacoits or robbers in India maintain a good standard of attitude and mercy towards women, children and the aged. Realising all these things, many prominent people of the west have come to imbibe a great love for the Aryan standard of social and practical life.

7. Religion is the source to attain the grace of God. It should hence be observed and practised in daily life. The Aryans have been viewing religion always from this point of view. Compared with them, the westerners seem to resort to religion only in time of dire calamity. It has been often seen during the last two wars that god's shelter is sought to serve selfish ends, when destruction is aimed to be rained on the innocent civilians or when relief from a horrible calamity is earnestly wished for. The ancient Aryans on the other hand displayed their noble instincts of righteousness even on the field of war. They did not inflict any harm upon the non-combatants. It was deemed by them unfair to strike their enemies in an unprepared condition, when they did not possess arms or weapons. They used to treat the vanquished with due regard and respect. To an adversary superior to them in age, knowledge or learning, they used to bow before going for war with him. The actual course of war was stopped by them at evening and other times when religious rites had to be performed. Adherence to all these rules of fairness by the Aryans even during the operation of war definitely point to their high regard and reverence for religion. Their glory and renown in the world for centuries astretch was solely due to their pious devotion to God and firm faith in religion. The decline of these virtues among them brought about downfall and degeneration. Aryan Vedic Religion thus shows itself best to the people of the world to attain welfare in this and the other world as already said.

8. To confer lasting benefits of peace, Rasesh Dharma strives to propagate principles of Aryan Vedic Religion among the people of the world. The principal preceptors of Arya Veda Dharma Shree Shankaracharya and many others before him followed Vedic Religion in conjunction with this Rasesh Dharma Aversion among the people nowadays to this Rasesh Dharma has brought about

misery, calamities, slavery, diseases, shortness of life and physical and mental deterioration. Efforts are hence being made by us to revive in India this ancient cult of Rasesh.

9. Sandhya forms the root of this tree of Aryan Vedic Religion. It takes men and women nearer to God, bestows happiness and contributes to a better lot in the next world. It also ensures for one, when reborn, a place in the house of Yogin or a rich man amidst virtues and affluence. Sandhya—God incarnate—and Vaishavadeva have hence been prescribed by Aryan scriptures as principal rites in the daily routine of life. The ancient glory and civilisation of India were based on such sacred rites. If the people of the west adopt the principles of Rasesh Dharma, they can live in health and happiness, for धर्मो रक्षति रक्षितः is an old adage. The world will also enjoy through them peace eternal and divine.

10—मंगल त्रिषु कालेषु त्रिषु लोकेषु कर्मसु ।
त्रिषु वर्णेषु यस्यास्ता सध्या वदामहे वयम् ॥१॥

Sandhya, Worship of gods, Study of the Vedas, Vaishvadev etc. are the daily rites imperatively laid down for the three Dwijas—the Brahmins, the Kshatriyas and the Vaishyas. Violation of this sacred injunction brings on sin. The Shudras are not enjoined to perform them, for they can spare little time from their arduous duties and hard personal labour. Bhajans, Kirtans, hearing sacred stories of the Puranas and the Darshan of the deities in temples etc. are the convenient means prescribed for them to attain spiritual welfare. Persons following old school of life still perform these pious duties, but those trained under western civilisation have ceased to observe them. Despite their neglect of Sandhya and other rites, the Brahmins boast of their high birth and the Kshatriyas evince a keen pride in their nobility of race. They seem to overlook the fact that their ancestors used to perform all these duties regularly and whole-heartedly. They get time enough to enjoy pleasures, tours at home and abroad, hunting and other sports but they can hardly spare an hour or two for Sandhya and other duties, hearing or study of scriptures, Puranas, the Mahabharat, the Ramayana etc. This sort of aversion to religion among the

Kshatriyas naturally brought about a fall in the religious instincts of their subjects. The people have ceased to regard the king as their divine overlord and being self-willed clamour for independence.

Kings on their part, decline to regard the subjects as their own progeny. Western ideas and modes of life are thus getting a firm hold over all of them. The saying राजा कालस्य कारणम् the king is the cause of his times—has thus come true. The ancestors of the present day Kshatriyas such as Shree Ramchandra and Shree Krishna—gods incarnate—used to perform Sandhya, Vaishvadeva, study of the Vedas as their daily routine of life. We read that even when the battle of the Mahabharat was in progress, mighty warriors like Shree Krishna, Arjun and others stopped the course of war for a time daily in the evening, removed the horses from their chariots and used to perform evening Sandhya. These ancient Kshatriyas knew the four Vedas, scriptures and devoted themselves to the study of various arts and sciences. It is no small regret to realise that their descendants of to day feel shame in performing these sacred duties, nay, they do not know Gayatri Mantra. The readers of the Mahabharat know well that Shree Krishna, the Pandavas, the Kauravas and hundreds of other warriors who had participated in that war were well-versed in Vedas, Vedangas and other Shastras.

11. Equally regretful is the condition of the Brahmins, who call themselves the descendants of the famous sages—Atri, Vasishtha, Vishwamitra, Jamdagni, Chyavan, Bahradwaj and others and proudly bear the significant surnames—Joshi, Dave, Trivedi, Vyas, Bhatt, Pathak, Pandya etc., but cannot recite even the Gayatri Mantra. How can they be expected to perform their Sandhya and other daily duties. When they feel ashamed even in putting on the sacred thread—Yajnopavitam. So distressing has been the condition of the Brahmins who claim descent from the mighty sages of old and of the Kshatriyas who proudly speak of their birth in solar or lunar dynasty. Their mission in life seems to be nothing else but to bathe for the cleanliness of body, to eat, drink, and to be merry. They think of God and the other world but only when they find themselves overpowered by adversity. Their pride of high birth of lineage is baseless. Men must realise that ever since their birth

they owe some debt to Gods and Manes—a debt which can best be discharged by performing religious rites and ceremonies. They are the true Brahmins, the Kshatriyas and Vaishyas who duly perform their sacred duties and make good their birth in this world as human beings.

12—त्रिदिनं संध्यामनुपासीनो ब्राह्मणो द्विजः शूद्रतामेति पुनः संस्कारमर्हति ।।

A Brahmin or a Dwija who does not perform Sandhya for three days degrades himself to the status of the Shudra and requires re-initiation. Scriptures lay down that Sandhya promotes lustre, health and longevity. Different rites of the Sandhya confer different benefits :—आचमनं brings forth faith, प्राणायामः prolongs life and enhances valour and memory, मार्जनं bestows purity, अघमर्षण wards off sins, diseases pain and malignant planetary influences, and contributes also to success in all undertakings, अर्घ्यं the worship of God incarnate confers boons जपः leads to union with God सूर्योपस्थानं protects the body and grants victory, purifies the heart and wins for one the affection of others by an humble dedication to God of all his sacred actions and गायत्री उपासना secures for him respect and honour from all people. A man who does not perform the Sandhya throws himself and his ancestors into disrepute. His own children are so born as would not obey their parents' commands and would be spoiled and self-willed. He does harm to himself in this world and other world too. Hence a man, wishing good to himself, his children, his ancestors, neighbours, town or a village and his country must always regard Sandhya, Vaishvadeva and other daily rites as essential as air, water and food. This will make him happy in every way in this world and the next.

MEMORY OF THE PAST LIVES

Prof. Dr. B. L. Atreya, M. A., D. Litt.,

Professor of Philosophy and Psychology, Benares Hindu University.

There are numerous facts now and then reported in the daily press in which some child happens to remember certain events, objects, persons, relations and places which they never experienced before in this life; and their memory images are found veridical on investigation. In many cases these images are accompanied by a very strong sense of recognition, and the most simple, direct and naive explanation of these facts is that the person having this experience draws it from some deeper and supernormal record of some of his past life maintained in some stratum of his personality. Such cases occur not only in India, where the belief in reincarnation may be responsible for such " delusions " and " hallucination " as some psychologists may call them, but also in other countries and in families where reincarnation and survival are not articles of faith.

One of the most remarkable and convincing of such cases was published in the Italian periodical, *Filosofa della Scienza* of January, 1911. The case occurred in 1910 in the home of Dr. Carmelo Samona of Palermo in Sicily, a renowned medical man of his place. The facts in brief are these : Alexandrina, a five years old daughter of Dr. Samona passed away on March 15, 1910. Three days after the death of her daughter, the mother saw her in dream, saying, " Mother do not cry any more......I shall come back again." Next morning the parents, while sitting in a room and talking about the dream, heard three loud knocks on the door, the origin of which they could not understand. Being curious, the parents held a number of seances, in the very first of which they received a communication from their deceased little daughter in which she confessed that the statement in the dream was made by her and so also the knocks on the door, and again said " Little Mother, do not cry any more, I shall be born once more with you as my mother." In a seance held on May 4, she made a strange and quite unexpected statement, " Mother, there is another as well within you " indicating that the mother would give birth to twins, which she never

before had done. On November, 22, the lady actually gave birth to twin daughters, one of whom, the younger, grew up in very close resemblance with the deceased Alexandrina even with the tendency to be left-handed. At the age of eight, as appears from the later records of the case, when the mother proposed a visit to a town Monreale and said to her twin daughters, " When you go to Monreale you will see some sights such as you have never seen before, the girl in question, who was called by the parents by the same old name, Alexandrina, said, " But mother, I know Monreale as I have seen it already" and gave a concrete description of the situation in which the family was at Monreale some time before in the company of the deceased Alexandrina. This indicates that the girl preserved still some traces of her past life. These facts appeared, again, in *Quarterly Journal of Psychic Science July*, 1930. Another very interesting case is described by Mrs. Campbell Prael, in her book, *Soul of Nyra*, A lady friend of the authcr of this work, who had received ordinary education, passed at times into dreamlike existence, in which her voice, manners and whole personality underwent a considerable change, and felt herself to be a slave girl, Nyra, who was the personal attendent of Julia, the daughter of the Roman Emperor Titus. She remembered all the incidents of her life in ancient Rome and described in great and minute details the obscure events of her times. She referred to many such characters and events of her times which were not known to ordinary history and which could only be verified after a good deal of research in Roman history, and which neither the lady nor the writer of the book could be expected to have known in their life. Her references to many obscure Roman customs, not mentioned in ordinarily available records were checked by reference to the Latin writers of the period concerned and were found correct. This remarkable fact indicates either of the two things: Nyra of the ancient Rome reborn as the lady concerned or the spirit of Nyra, surviving still somewhere, communicating through the lady. For modern psychology, however, both the hypotheses, are unacceptable and absurd. But facts cannot be set aside on *a priori* grounds of their being absurd. A very interesting case, quite similar to this, has been described in two recently published volumes,

one, *After Thirty Centuries* by Frederic H. Wood, and another, *Ancient Egypt Speaks* by A. J. Howard Hulme (the great Egyptologist of England) and Frederic H. Wood. These works are based on the Records of the seances held with a wonderul English girl, Rosemary, through whom an Egyptian lady Nona, who had lived thirty centuries ago communicated, and who herself claimed to have lived formerly, in Egypt of those times. For the first time in this age, when the spoken Egyptian language is unknown to the world, this girl spoke in the language of Ancient Egypt, whose pronunciation was lost to humanity and enabled the great Egyptologist Hulme, to record and reconstruct the dead dialect. The conclusion arrived at by the authors in these books is, "To sum up, therefore, we may place on record that the Rosemary case appears to provide definite evidence for reincarnation" (*Ancient Egypt Speaks*, p. 106). For many other cases of apparent reincarnation in European countries, Ralph Sirley's remarkable book, *The Problem of Rebirth* may be read. Coming to India, we may here refer to only two cases, out of a host of them that have recently come to our notice, some of which at least are remarkable :—One, that of a son of Mr. Kekai Nandan Sahai of Bareilly, who some twenty years ago, at a very tender age, remembered a lot of details of his previous life at Benares, which were verified by reliable investigation. A full account of this case, and of some other cases of more or less clear remembrance of previous lives, can be found in a small pamphlet, *Reincarnation*, published by Mr. Sahai. Another, that of Shanti Devi of Delhi, who some years ago, remembered in exact and many details her previous household life at Muttra. These details were verified remarkably. An account of this remarkable case of little girl Miss Shanti Devi has appeared in a booklet, *A Case of Reincarnation*, published by the International Aryan League, Delhi. A report of this case appeared in the *Illustrated Weekly of India*, of December 15, 1935. Such cases cannot be set aside. They have to be understood and explained. Normal psychology proves bankrupt in concepts to comprise such facts. Abnormal psychology too proves helpless when it encounters verdical cases, which prove a hard rock to shatter to pieces its concepts of secondary, dissociated, or dramatic personality.

CHARACTER

By Raghubir Saran Agarwal, M. A.,
Hardwar

It is an admitted fact that character is the key-note of success and the highest achievement of life. It is the very essence of nobility and ideal manhood. Character is the chief requisite. It is neither birth nor study and learning, nor power and pelf, nor cleverness and intelligence, nor even health so needful in life as character alone. It is the salt of life without which life is tasteless and dull. A man can not be viewed apart from his character. Without character he is of no worth and value. Character is manifested in thought, in word and in deed. A man of character is he who is in possession of strength and determination enough to carry out his cherished desires under all circumstances.

What are the essential qualities that are noteworthy and remarkable for a man of good and noble character? He is frank and truthful. To be frank in all matters is a genuine quality that enhances the prestige of a person in the eyes of his friend and foe. To be truthful is to be blissful in life. Truth is the highest thing a man can achieve. Truth is like a torch bearer that leads a man to his cherished goal. A good character is always persevering and patient. Patience and perseverence enable a man to overcome all sorts of difficulties and turmoils. He is far sighted and firm minded. When he sets to work he must not turn back until he achieves what he desires for and aims at. He never shirks his duty. He performs it to his hearts content. Duty alone is his motto. For to be dutiful is to be righteous and religious. He obeys his innerself. He is to do what his conscience dictates him. Conscience is the true guide for a noble character.

If the conscience is true, just and pure, then the ultimate success is within reach and power. He is never perturbed in adverse circumstances but he is always active and alive to the sense of his duty.

Self reliance is the chief requisite for a noble character. It is the pilgrims' best staff, the workers' best tool and the warriors' best weapon. It is the master-key that unlocks all the difficulties of life.

Self-help is another help-mate. " Help your self and Heaven will help you is a maxim which receives daily confirmation by a noble character. Good character may best be judged from the following lines :—

In life's rosy morning,
In manhood's firm pride,
Let this be the motto,
His footsteps to guide;
In storm and in sunshine,
Whatever assail,
He'll onward conquer,
And never say fail.

A man is the maker of his fortune and the master of his destiny. It is an all acknowledged proverb—" Sow an act, and you reap a habit, sow a habit and you reap a character; sow a character and you reap a destiny." Habit is second nature. Hence have an eye on yourself and everything will be alright for you. For noble and good character plain living and high thinking is desirable. Neat and clean dress is the sign of the inward purity of heart. Certainly a man is known by the company he keeps but a man is also known by the dress he wears. The worth of a man may be judged from his dress. He is never rude, mean and unreasonable to others. His self sacrificing spirit attracts the notice of even strangers. He enjoys the popularity of his society and state. An ideal character inspires the people at large.

Sincerity to self and to others is of far reaching importance for a good character. His gentlemanlike behaviour towards people that come in contact with him, counts much to make him lovable, respectable and admirable.

From time immemorial there have been many men and women of character in the world to guide the generations to come. Example is better than precept. Their biography is the chief source of inspiration and guidance. H. W. Longfellow rightly observes :—

" Lives of greatmen all reminds us,
We can make our lives sublime;
And, departing, leave behind us,
Footprints on the sands of time. "

India's glorious past is rich enough with instances of good characters. Harish Chandra the king of Ayodhya, underwent as many trials and difficulties as can be imagined for the sake of truth. Ram Chandra, the incarnation of Vishnu was extremely dutiful, obedient, truthful, patient, persevering, loving and sympathetic. Hanuman, Bhishma and Bhima are still remembered and respected for their physical strength, Brahmacharya and ideal life. Yudhisthira was truth loving, affectionate and patient. Rana Pratap the pride of Rajput Chivalry was a true patriot and man of nerve. The whole of Rajputana is proud of his name, glory and deed. Shivaji, the saviour of Hinduism from Muslim culture, was an ideal character. Shri Shankaracharya, Vivekanand, Ram Tirtha and Dayanand Saraswati were the ideals of holiness and awakening in the world of spiritual thought and religion. Sita, Savitri, Damayanti, Draupadi, Rani Laxmi Bai and Durgavati are enough to guide the women folk in India.

Even at present we have topmost politicians and patriots like Gandhi, Nehru, Bose and Azad. They are poineers to get Swaraj for India. Besides, there had been in the past and are at present many Indians worthy of their name and glory.

The importance of character in life is known from the following lines :—

"If wealth is lost, nothing is lost.
If time is lost, nothing is lost.
If health is lost, something is lost.
If character is lost, everything is lost."

The loss of wealth, time and health can be compensated but that of character is beyond compensation at any cost. If there is character nothing is lost. Good and noble character gets the spiritual guidance and becomes an apple of every one's eye. His cordial and amiable nature is appreciated and admired by all. Hatred, egotism and pride can never influence and poison the noble self of a good character. Partiality, and favouratism can never persuade him to act otherwise.

To form and build a good character it is necessary to have good education. Education dispels superstition and ignorance. It is of the highest importance for educationists and teachers to help and

guide students to form a strong, good and noble character. If teachers are nation-builders, they should realize their responsibility that they are duty-bound and morally bound to educate and make students as citizens of ideal character. At home their parents have to repeat the same lesson? But most of the parents neglect to look after the character of their children as their teachers return in the same coin. Most of our country-men are dissatisfied with the present system of education.

How to remodel the whole structure of Education at present? The best intellects and the serious minded people are set to solve this vital problem of our education. It seems it will take a long time and great consideration. But society and state both are paying little attention to the department of Education. Why is the lot of teachers so miserable? They are poorly paid for their work. Unless and until their lot is improved by increasing their salary and their status is raised, no body should expect that they will play a desirable role and prove so useful as they should.

Only the bright side of the picture has been discussed so far. Let us see what the people of bad character do. They set bad examples to others and ruin themselves at the same time. They create undesirable and unhealthy atmosphere around. They disturb the peace and equilibrium of the good and become a source of trouble to others. They bring demoralization, degeneration and degradation in society and state. Wherever they live they mislead and corrupt the people. They spread awe and fear in the society. In fact, bad characters are curse to their family, society and state. How to get rid of them? They must be purged of their immorality and evil by good preachings and instructions. If they do not improve and reform themselves they must suffer for and reap whatever they sow or let the disease end with the patient.

So we feel that the prosperity of the world is for the people of good character. Their contentment, peace of mind and virtuous life is not only blissful for them but for others as well. Character makes the life worth-living and exemplary. Good men are always for goodness. The people of good character set before us the lofty ideals of morality and gentlemanly qualities. Let us hope to be the men of character as to lead a virtuous, comfortable and blissful life.

इतिहास-पुरातत्त्व खण्ड

सम्राट् अशोक और उनका शासन

श्री चन्द्रराज भण्डारी, विशारद

भारत के राजनैतिक रंग-मंच पर अब एक ऐसा प्रतिष्ठित नाम आता है जो संसार के सम्राटों की प्रथम श्रेणी में लिखने योग्य है। यह नाम केवल भारतवर्ष के इतिहास में ही नहीं, प्रत्युत सारे संसार के इतिहास में अपना एक खास स्थान रखता है। क्या राजनैतिक दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से, भारतवर्ष के इतिहास में अशोक के सदृश उन्नत चरित्रवान् दूसरा कोई भी व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होता। सम्राट् अशोक के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध इतिहासज्ञ लिखते हैं—

"सम्राट् अशोक की टक्कर का कोई दूसरा राजा संसार के इतिहास में नहीं हुआ। ऐतिहासिक लोग शार्लिमेन, अकबर और सीजर से उसकी तुलना करते हैं। परन्तु उनकी यह तुलना ठीक नहीं। शायद संसार के इतिहास में कोई दूसरा ऐसा शासक नहीं हुआ जिसने अपने शासन में ऐसे उत्तम नियमों के अनुसार कार्य किया हो, जैसा कि अशोक ने किया। जिस प्रकार महात्मा बुद्ध संसार के महात्माओं में अद्वितीय हैं, उसी प्रकार सम्राट् अशोक भी संसार के शासकों में अनुपम हैं।"

सम्राट् अशोक का जन्म

बौद्धों के प्राचीन साहित्य में "अशोकावदान" नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ प्राय: अशोक की जीवनी से ही अधिक सम्बन्ध रखता है। इसमें अशोक के जन्म से सम्बन्ध रखनेवाली एक विचित्र घटना का उल्लेख किया गया है। उसमें लिखा है :—

"चम्पा नगरी में एक ब्राह्मण के घर पर एक सुन्दर कन्या का जन्म हुआ। ज्योतिषी ने उस कन्या के सब लक्षण देखकर कहा कि यह कुमारी अवश्य किसी चक्रवर्ती की माता होगी। यह सुनकर वह ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ, और जब वह कन्या युवती हुई तो उसे सम्राट् बिंदुसार के पास ले गया, एवं ज्योतिषी के द्वारा कही हुई भविष्यवाणी भी उन्हें कह सुनाई। उस कन्या के अलौकिक रूप को देखते ही सम्राट् बिंदुसार उस पर मोहित हो गये और उन्होंने तुरन्त ही उसे रनवास में भेज दिया। रनवास की दूसरी रानियाँ इस कन्या के रूप को देखकर मन ही मन कुढ़ने लगीं; उनके मन में यह संदेह होने लगा कि कहीं सम्राट् इस कन्या के रूप पर मोहित होकर हमारी उपेक्षा न करने लग जायँ। इस आपत्ति से बचने के लिए उन्होंने एक युक्ति सोची। वे सब उस कन्या को "नापितानी" कहकर प्रकट करने लगीं। और उससे उन्होंने दासी की तरह काम लेना प्रारंभ कर दिया।

कुछ समय के पश्चात् एक दिन सम्राट् बिंदुसार ने उसे देखा, वे उस पर फिर दुबारा मोहित हो गये। वे उससे कहने लगे कि, "तुम्हारी

अपूर्व रूप-राशि ने मेरे हृदय पर अधिकार कर लिया है। बतलाओ, तुम्हारी क्या कामना है ? हम तुम्हारी सब कामनाओं को पूर्ण करेंगे"। यह सुनकर उस ब्राह्मण कन्या ने लज्जा से मुँह नीचा कर लिया। राजा के दूसरी बार प्रश्न करने पर उसने कहा कि मैं तो आपको चाहती हूँ। यह सुनकर राजा ने हँसकर कहा कि तुम तो एक नापित कन्या हो और मैं भारतवर्ष का सम्राट् हूँ; भला यह सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? इस पर ब्राह्मण कन्या ने कहा "भगवन् ! मैं नापित-कन्या नहीं प्रत्युत एक ब्राह्मण-कन्या हूँ। आपकी पत्नी बनने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हो, इसी उद्देश्य से मेरे पिता मुझे आपके सिपुर्द कर गये थे।"

यह सुनते ही राजा को तत्काल पूर्व घटना की स्मृति हो आई और उन्होंने उस ब्राह्मण कन्या को पटरानी बना दिया। इस रानी के गर्भ से दो पुत्रों का जन्म हुआ। पहला अशोक और दूसरा वीताशोक।

अशोक के पहले सम्राट् बिन्दुसार के पूर्व पटरानी से उत्पन्न "सुसीम" नामक एक और पुत्र था। एक बार सम्राट् बिंदुसार ने अशोक पर नाराज होकर उसे तक्षशिला के बलवाइयों को दबाने के लिए भेज दिया। (एक बार तक्षशिला के लोगों ने बिंदुसार के विरुद्ध बलवा किया था) अशोक सेना वगैरह से सुसज्जित होकर तक्षशिला पर चढ़ गया और बिना युद्ध किये हुए उसने कौशल से उस बलवे को दबा दिया। इसके पश्चात् कितने ही दिनों तक वह तक्षशिला का राज-प्रतिनिधि रहा। तक्षशिला के राज्य में उस समय काश्मीर, नैपाल, हिंदूकुश पर्वत तक का सारा अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और पंजाब मिले हुए थे। तक्षशिला का विश्वविद्यालय आयुर्वेदीय शिक्षा के लिए उस समय जगत्-प्रसिद्ध था। अशोक ने बहुत उद्योग करके उस विश्वविद्यालय की बहुत उन्नति की। उस समय सारे भारतवर्ष के धनी-मानी लोगों के लड़के और विद्या-प्रेमी लोग विद्या प्राप्त करने के लिए तक्षशिला जाते थे।

अशोक का राज्यारोहण

इधर तो अशोक के सुप्रबन्ध के कारण बिंदुसार उस पर प्रसन्न हो रहे थे उधर साम्राज्य के प्रधान मंत्री "शल्लाटक" बिंदुसार के बड़े पुत्र "सुसीम" पर किसी कारण रुष्ट हो गये। इसलिए उन्होंने सम्राट् को समझा-बुझाकर सुसीम को तो तक्षशिला भिजवा दिया और अशोक को राजधानी में बुलाकर युवराज पदवी से विभूषित कर दिया। कुछ समय के पश्चात् सम्राट् बिंदुसार स्वर्गवासी हो गये। उनके स्थान पर मंत्रियों ने तत्काल ही अशोक को सम्राट् बना दिया।

एक भ्रममूलक घटना

कुछ लोगों का कथन है कि, अशोक ने राजसिंहासन पर बैठते समय अपने निन्नानबे भाई-बहनों को मरवा डाला। पर आधुनिक इतिहासकारों ने इस बात को अनेक प्रमाणों से बिलकुल गलत साबित कर दिया है। उन्होंने कई आधारों से यह सिद्ध कर दिया है कि सम्राट् अशोक के राज्य के सत्रहवें और अठारहवें वर्ष में उसके भाई बहन जीवित थे तथा वह अपने परिवार के लोगों की विशेष रूप से सेवा किया करता था।

कलिङ्ग देश का युद्ध

हम पहले लिख आये हैं कि सम्राट् अशोक के समय में सारे भारतवर्ष के अंदर बौद्ध-धर्म का प्रचार था। स्वयं सम्राट् अशोक कट्टर बौद्ध मतावलम्बी थे। उन्होंने बौद्धमत के प्रचार के लिए बहुत प्रयत्न किये, जिनका विवेचन आगे के पृष्ठों में किया जायगा। यहाँ पर इतना लिखने का मतलब यह है कि सारे भारतवर्ष में बौद्ध-धर्म का सर्वव्यापी प्रचार होने पर भी कलिंग देश पर उसकी छाया नहीं पड़ी थी। इस प्रांत में ऐसे विपत्ति-काल में भी सनातन धर्म अनवरत रूप से प्रचलित था। यहाँ का राजा स्वयं कट्टर हिन्दू धर्मावलम्बी था। सम्राट् अशोक ने वहाँ के राजा को साम्राज्य की अधीनता और बौद्ध-धर्म स्वीकार करने के लिए कहा, जिसका उत्तर उसने बड़ी उपेक्षा के साथ दिया। इस पर सम्राट् अशोक को बड़ा क्रोध आया, और उन्होंने तत्काल कलिंग देश पर चढ़ाई कर दी। उस समय कलिंग देश की राजधानी सम्भवत: इन्द्रपुर थी। सम्राट् अशोक के जीवन-काल का शायद यही पहला और अंतिम युद्ध था। चार मास तक बराबर यह युद्ध चलता रहा। इस युद्ध में सम्राट् अशोक को बड़ी बड़ी कठिनाइयों और विपत्तियों का सामना करना पड़ा। उनकी सेना में महामारी फैल गई जिसमें उनके हजारों आदमियों का संहार हो गया। हत्या राक्षसी के इन बीभत्स दृश्यों ने, मृत्यु की उस संहारकारिणी रौद्र मूर्ति ने सम्राट् के कोमल हृदय पर ऐसा प्रभाव डाला कि उस युद्ध के समाप्त होते ही उन्होंने युद्ध न करने की शपथ ले ली। कहा जाता है कि उस युद्ध में एक लाख मनुष्य मारे गये और डेढ़ लाख पकड़े गये। कितने ही हजार महामारी के ग्रास हुए। सम्राट् ज्यों-त्यों कर षड्यन्त्र के द्वारा विजयी तो हो गया, पर उस दृश्य से सम्राट् के हृदय में ऐसी स्थायी चोट लगी कि उसने अपनी शेष सारी आयु उसके पश्चात्ताप और धर्म-प्रचार करने में व्यतीत की।

इस विचार को उसी दिन से लिपि-बद्ध कर लिया—"वास्तविक विजय वह है जो मनुष्य अपने ऊपर धर्म-बल से प्राप्त करता है। खड्ग के बल से देशों को जीतना और विजय प्राप्त करना, राजाओं का धर्म नहीं है। यदि विवश होकर उनको युद्ध करना भी पड़े तो उस समय उन्हें धैर्य और सहिष्णुता से काम लेना चाहिए। क्योंकि, वास्तविक विजय वही है जो धैर्य और धर्म से की जाती है।"

देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी

कलिंग-विजय के पश्चात् पाटलिपुत्र में एक बड़ी सभा की गई, जिसमें साम्राज्य के अधीनस्थ सभी राजा सम्मिलित हुए थे। उस सभा में सब सदस्यों ने मिलकर सम्राट् अशोक को "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी" इस उपाधि से विभूषित किया। इसके पश्चात् सम्राट् अशोक का सारा जीवन प्राय: धर्म-प्रचार करने में ही व्यतीत हुआ।

सम्राट् अशोक का विवाह

सम्राट् अशोक के कई विवाह हुए थे, पर उन सबमें दो रानियाँ प्रधान थीं। पहली "चारुवाकी" और दूसरी "असंधिमित्रा"। इनमें से चारुवाकी बहुत धर्मात्मा थी।

अशोक की आज्ञाओं में कई स्थानों पर उसकी उदारता तथा दान-पुण्य का वर्णन है। अशोक की वृद्धावस्था में उसकी दूसरी रानी असंधिमित्रा का देहान्त हो गया। उसके स्थान पर सम्राट् ने वृद्धावस्था में ही एक षोड़शी से विवाह किया। सम्राट् की यह नूतन पत्नी बहुत ही विषयासक्त और चरित्रहीना थी। वह सम्राट् के ज्येष्ठ पुत्र "कुणाल" पर आसक्त हो गई और अवसर पाकर उसने राजपुत्र से प्रणय-याचना भी कर दी। पर कुणाल बड़ा धर्मात्मा और नीतिज्ञ था। उसने बहुत ही नम्रता से उसकी याचना को अस्वीकृत कर दिया। इस अपमान के कारण वह कुचली हुई जहरीली नागिन की तरह क्रोधित हो उठी, और कई षड्यंत्रों द्वारा उसने तक्षशिला में कुणाल की आँखें निकलवाने का यत्न किया, परंतु शायद वह सफल न हुआ हो। यह घटना जब सम्राट् को मालूम हुई तो उन्हें बड़ा क्रोध आया और नूतन रानी को तत्काल ही जीते जी आग में जलाने की उन्होंने आज्ञा दे दी।

इस घटना को कई इतिहासज्ञ सम्राट् अशोक के जीवन में कलंक के तुल्य समझते हैं। पर यदि इस पर ध्यानपूर्वक गौर किया जाय तो यह घटना उतनी भयंकर नहीं ठहरती। यदि उस समय दया करके उस राक्षसी को छोड़ दिया जाता तो भविष्य में वह कितने अनर्थ करती और उन अनर्थों का क्या परिणाम होता, यह कौन कह सकता है ?

सम्राट् अशोक का शासन-विभाग

हम पहले लिख आये हैं कि सम्राट् अशोक का जीवन प्रायः धर्म-प्रचार में ही अधिक व्यतीत हुआ। पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उनके समय की शासन-नीति कमजोर थी। सम्राट् चन्द्रगुप्त और बिंदुसार की नीति के आधार पर सम्राट् अशोक ने अपनी नीति बनाई थी। दीवानी और फौजदारी की अदालतें भी उसी प्रकार चलती थीं। दण्ड-विधान भी उतना ही कड़ा था, बल्कि उसमें एक और विशेषता उन्होंने कर दी थी। कहा जाता है कि, सम्राट् अशोक ने सब राजाओं की सलाह से एक कृत्रिम नरक की स्थापना की थी। नरक की जो कल्पनाएँ शास्त्रों में अंकित हैं, वे सब उसमें बनाई गई थीं—जैसे गरम तेल के कड़ाह में अपराधी को डाल देना, करौती (आरा) से अपराधी का शिरश्छेद करना आदि। इस नरक में वे ही अपराधी लाये जाते थे जिन्होंने हत्या, व्यभिचार आदि की तरह और भी कोई भयंकर अपराध किये हों।

अवश्य सम्राट् अशोक के समान नृपतियों के लिए इस प्रकार की व्यवस्था कलंक-स्वरूप थी। इस व्यवस्था के कारण कई निरपराधों को भी प्राणों से हाथ धोने पड़ते थे। कुछ दिनों तक यह व्यवस्था चलती रही। पर ज्यों ही इसकी भयंकरता सम्राट् को मालूम हुई त्यों ही वह नरकस्थान तोड़ दिया गया।

सम्राट् अशोक ने अपने तमाम कर्मचारियों, अफसरों और जिले के मजिस्ट्रेटों का एक प्रधान कर्तव्य यह ठहराया था कि, वे अपने दौरों में कभी-कभी भिन्न-भिन्न स्थानों पर सभाएँ करके जनता को धर्म, नीति और चरित्र की शिक्षा दें। उन्हें हमेशा प्रयत्नशील रहना चाहिए कि जनता के अपराधों की संख्या न बढ़े। एक नीति-प्रचारकों का दल भी उसने इसलिए नियुक्त किया था कि वह विशेष रूप से जीवों

की रक्षा के लिए कानून बनावे और गुरुजनों के सम्मान और पूजन के लिए जो व्यवस्था राज्य की ओर से दी गई है उसका पालन यत्नपूर्वक जनता से करवावे। इस दल के अफसरों को यह आज्ञा थी कि सभी लोगों और सभी सम्प्रदायों पर यहाँ तक कि राज-परिवार पर भी वह दृष्टि रक्खे।

इससे मालूम होता है कि अशोक ने अपराधों की संख्या घटाने के लिए कितना अधिक प्रयत्न किया था और इसमें भी संदेह नहीं कि वह अपने प्रयत्नों में सफल भी हुआ। अशोक के शासन में अपराधों की संख्या बहुत घट गई थी।

उसकी शासन-नीति की सफलता का एक सुदृढ़ प्रमाण यह भी है कि उसके इकतालीस वर्ष के विस्तीर्ण काल में साम्राज्य के अंदर कहीं भी विद्रोह नहीं हुआ। इतने बड़े साम्राज्य का इतने दीर्घकाल तक बिना किसी विद्रोह के रहना इस बात को प्रमाणित करता है कि उसकी शासन-नीति बहुत ही उत्तम थी और उसके शासन में प्रजा बहुत सुखी और समृद्ध थी।

आयुर्वेदीय विभाग

चन्द्रगुप्त के समय के औषधालय-विभाग को सम्राट् अशोक ने बहुत उन्नत किया। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपने साम्राज्य के ही अन्दर औषधालयों का आयोजन किया था। पर अशोक ने न केवल अपने साम्राज्य में ही प्रत्युत दक्षिण भारत और एशिया के अन्य प्रान्तों में भी औषधालय खुलवाये थे। सारे संसार के इतिहास में शायद यही पहला सम्राट् था जिसने इतनी उदारता का परिचय दिया।

पथिकों के विभाग का प्रबन्ध

सम्राट् अशोक के समय में स्थान-स्थान पर सड़कों का व्यवस्थित प्रबन्ध था। सड़कों पर बड़े-बड़े पीपल के वृक्ष, आमों की बाड़ियाँ और कई प्रकार के ऐसे वृक्ष लगाये जाते थे जिनकी विशाल छाया सड़कों पर पड़ती रहे। इस कारण पथिकों को मार्ग में कष्ट न हो। प्रति मील पर कुएँ भी खुदवाये जाते थे। धर्मशालाएँ और सरायें भी स्थान-स्थान पर बनवाई जाती थीं।

ललित कलाओं की उन्नति

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विन्सेण्ट स्मिथ अशोक के समय की ललित कलाओं का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि "अशोक के समय में भारत की ललित कलाओं ने उन्नति की चरम सीमा देखी थी। राजकीय इंजीनियर और स्थापत्य पत्थर, ईंट और लकड़ी के अत्यन्त विशाल और महलायुक्त भवन-निर्माण करते थे। इनमें भिन्न-भिन्न और उचित अवसरों पर पानी के आने और जाने के लिए द्वार बने हुए रहते थे। वे कठिन से कठिन चट्टानों के बहुत ही सुन्दर, सीधे और बड़े-बड़े स्तम्भ बनाते एवं सुसज्जित कमरे खोद देते थे। आलेख्य वास्तु विद्या का एक आवश्यक अंग समझा जाता था। तमाम महत्त्वपूर्ण इमारतों में आलेख्य और चित्र बड़ी बारीकी से बनाये जाते थे।"

वास्तव में सम्राट् अशोक संसार के उन सम्राटों में से एक थे जिन्होंने बड़े-बड़े विशाल भवनों का निर्माण करवाया। गुप्त साम्राज्य के द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय में जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान आया था तब सम्राट् अशोक का विशाल राजप्रासाद मौजूद था। उसे देखकर चीनी यात्री दंग रह गया। उसने अपनी यात्रा के वर्णन में लिखा है कि, "यह राजभवन इतना विशाल था और उसके अंदर मीनाकारी और पत्थर का ऐसा आश्चर्य-जनक काम हो रहा था कि उसे देखकर कोई भी मनुष्य उसको मनुष्य-निर्मित नहीं कह सकता। वास्तव में ये प्रासाद देव-निर्मित मालूम होते हैं।" राजप्रासाद की ही तरह अशोक ने बहुत से विशाल बौद्ध मंदिर और विहार भी बनाये थे। ये मंदिर भी उस समय की वास्तु विद्या की उच्चता को प्रकट करते हैं। अशोक के समय के बहुत से ऐसे पाषाण के स्तम्भ मिले हैं, जिनकी ऊँचाई लगभग पचास फुट और वजन करीब पचास टन है। उनकी पालिश इतनी सुंदर है कि अब तक वह नहीं मिटी और आधुनिक इंजीनियर लोग भी यह नहीं बतला सकते कि वह पालिश किस प्रकार की जाती है। इसी प्रकार सारनाथ के अशोक के सिंहाकृतिवाले सिरों को जिन्होंने देखा है, वे उस समय की कारीगरी की उत्तमता का अनुमान कर सकते हैं।

अब हम उस मुख्य विषय की ओर झुकते हैं जो सम्राट् अशोक के जीवन का प्रधान विषय था। हम पहले ही लिख आये हैं कि सम्राट् अशोक की प्रधान रुचि धर्म-प्रचार की ओर ही थी। सिंहासनारूढ़ होने के पूर्व वे किस धर्म के अनुयायी थे। इसका प्रमाण देते हुए वे कहते हैं कि, यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त और बिंदुसार जैनी थे। पिता और पितामह के स्वीकृत किये हुए धर्म का अनुयायी होना पुत्र के लिए स्वाभाविक है। यदि उनका मत बदलता भी है तो पूर्ण अध्ययन के पश्चात्। अतएव सम्राट् अशोक का प्रारम्भ में जैनी होना ही अधिक उपयुक्त मालूम होता है। कुछ लोग उन्हें वेद मतावलम्बी सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। वे कहते हैं कि पहले उसकी पाकशाला में सहस्रों जीव मारे जाते थे। बौद्ध-धर्म ग्रहण करने पर भी दो मोर और एक हिरण उसके लिए मारा जाता था। जो कुछ भी हो, पर इस बात के सत्य होने में संदेह नहीं हो सकता कि सम्राट् अशोक अपने पूर्व काल में बुद्धानुयायी नहीं थे। इसका एक प्रमाण यह भी हो सकता है कि उस समय तक बौद्ध धर्म भारतवर्ष में भले प्रकार प्रतिष्ठित भी नहीं हो सका था। यद्यपि बौद्ध और जैनी प्रचारकों ने लोगों के हृदय में हिंदू-धर्म के विरुद्ध बहुत से भाव फैला दिये थे तथापि जनता के हृदय में अभी तक इन नवीन धर्मों की जड़ मजबूती से नहीं जमने पाई थी। वास्तव में सम्राट् अशोक के बुद्ध-धर्मानुयायी हुए पश्चात् ही बौद्ध-धर्म की अधिक उन्नति हुई। ज्यों ही उन्होंने बौद्ध मत स्वीकार किया त्यों ही तन, मन, धन से उन्होंने इस धर्म का प्रचार करना प्रारंभ कर दिया। इसके परिणामस्वरूप कुछ ही समय में पश्चिमी एशिया के कुछ भाग को छोड़कर सारे एशिया में इसका प्रचार हो गया। सिंहासन पर आरूढ़ होते ही सम्राट् ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और उसके पश्चात् करीब ढाई वर्ष तक वे स्वयं भिक्षु के वेश में रहे। उन्होंने स्थान स्थान पर प्रचारकों को भेजकर बौद्धधर्म का प्रचार कर-वाया। उन्होंने न केवल भारत में ही, वरन् पश्चिमी देशों में भी प्रचारक भेजे। एक

प्रसिद्ध इतिहास-लेखक लिखता है कि "सम्राट् अशोक संसार में पहले शासक थे, जिन्होंने अपनी राजकीय सम्पत्ति को धर्म-प्रचार में लगाया और जिसने इस धर्म-प्रचार से अपने लिए, अपने उत्तराधिकारियों के लिए और अपनी जाति के लिए किसी प्रकार के लाभ की इच्छा न रक्खी। सारे संसार के इतिहास में धर्म-प्रचार का यह उदाहरण अद्वितीय और अनुपम है। दूसरे धर्मों में धर्म-प्रचार के साथ-साथ देशों को जीता गया, दूसरे धर्म के मंदिरों को गिराया गया, लूट-पाट मचाई गई, जैसा कि अब भी लोगों का विश्वास है कि, इंजील का प्रचार यूरोपीय जातियों की सेना का अग्रगामी होता है। कई इतिहासज्ञ अशोक की तुलना ईसाई राजा कांस्टेंटाइन से करते हैं परन्तु कांस्टेंटाइन और अशोक की प्रचार-नीति में बहुत अंतर है। न्याय यह चाहता है कि, अशोक को अपने ढंग का आज तक मनुष्य जाति ने उत्पन्न नहीं किया। कान्स्टेंटाइन के समय में ईसाई धर्म बहुत फैल चुका था।"

सम्राट् अशोक ने मिस्र, शाम, सायरीन, मकदूनिया, लंका और दक्षिण भारत के स्वतंत्र राष्ट्रों में भी अपने धर्म-प्रचारक भेजे थे। इसके अतिरिक्त तिब्बत, हिमालय के प्रान्त, हिन्दू-कुश के प्रान्त, काबुल की उपत्यका, गान्धार और यवन देशों में भी उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक अलबेरूनी लिखता है कि, "मुसलमान धर्म के प्रारम्भ के पूर्व सारे मध्य एशिया में बौद्ध-धर्म फैला हुआ था। ईरान, इराक, रूम, अजम, शाम आदि देशों में भी बौद्ध धर्म का गहरा असर पड़ रहा था।" लङ्का में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए स्वयं अशोक का भाई महेन्द्र गया था और उसके साथ अशोक की पुत्री संघमित्रा भी गई थी। उसने वहाँ के तत्कालीन राजा को बौद्ध-धर्म की शिक्षा दी और सारे लंका द्वीप में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। तब से आज तक लंका द्वीप बौद्ध धर्म का उपासक है। महेन्द्र ने अपना सारा जीवन लंका में ही धर्मप्रचार करते हुए व्यतीत किया। आज भी लंका में बौद्ध लोग महेन्द्र की पूजा करते हैं। उसके स्मारकस्वरूप वहाँ पर एक स्तूप बनाया गया था। इस समय भी वह स्तूप लंका में दर्शनीय गिना जाता है। हाल ही में पुरातत्त्ववेत्ताओं के परिश्रम से लंका में अनुराधपुर नामक नगर के कुछ खण्डहर मिले हैं। यह अनुराधपुर संसार में बौद्ध-धर्म का एक उज्ज्वल स्मारक है। एक अँगरेज लेखक ने इस नगर की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि, "इसके सम्मुख रोम और यूनान तुच्छ जान पड़ते हैं।" अस्तु, सम्राट् अशोक ने पेगू—जिसे उस काल में स्वर्ण-भूमि कहते थे—में भी बौद्ध धर्म का प्रचार करवाया था। इसके अतिरिक्त चोल, पाण्ड्य, कुरेलपुत्र और सतियपुत्र इन चार स्वतंत्र दक्षिण प्रान्तों में भी उसने बौद्ध-धर्म के अनेक विहार और मंदिर बनवाये थे। मतलब यह कि, बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए सम्राट् अशोक ने कोई भी बात उठा न रक्खी थी। यदि सम्राट् अशोक और महाराज कनिष्क न होते तो आज भगवान् बुद्ध के बावन करोड़ अनुयायी दिखलाई पड़ते या नहीं, यह कौन कह सकता है। उस समय बौद्ध-धर्म का प्रभाव प्रायः सारी ज्ञात दुनिया पर पड़ रहा था, यूनानी तत्त्वज्ञान और ईसाई धर्म पर भी बौद्ध-धर्म का बहुत प्रभाव पड़ा।

कहा जाता है कि, अशोक ने अपने जीवन-काल में बौद्ध भिक्षुओं की एक सभा की थी। जिसमें उपगुप्ताचार्य आदि बौद्ध-धर्म के महान् भिक्षुक सम्मिलित हुए थे। उनमें उत्तम

और चरित्रवान् भिक्षुओं को चुन-चुन कर प्रचार के लिए भेजा गया था। शेष दुरंगे और पाखण्डी भिक्षुओं से भिक्षुक-वेश छीन लिया गया था। यह बात कहाँ तक सत्य है, इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

सम्राट् अशोक का व्यक्तित्व

सम्राट् अशोक के व्यक्तित्व के विषय में कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाना है। इतने बड़े साम्राज्य का इतना उत्तम ढंग से संचालन करना ही उनके महान् व्यक्तित्व का सूचक है। वे एक अद्भुत कर्मशील, उच्च चरित्रवान् शान्त मनुष्य थे। उनके वचन और कर्म में आश्चर्यजनक एकता पाई जाती थी। उनके जितने भी शिलालेख पाये जाते हैं वे सब उनकी लेखनी के लिखे हुए हैं। उन लेखों से उनकी धार्मिकता और पवित्रता स्पष्ट प्रकट होती है।

सम्राट् अशोक के सिद्धान्त

अशोक के शिलालेखों और उनकी धर्मलिपियों का सम्बन्ध उनके मुख्य सिद्धान्त अहिंसा, सत्य, पवित्र जीव, बड़ों और श्रमण ब्राह्मणों के सम्मान आदि विषयों से है। अहिंसा और जीवरक्षा तो भविष्य में जाकर अशोक के जीवन का मूलमंत्र हो गई थी। पहले उनकी पाकशाला में सहस्रों जीवों की हत्या होती थी; किन्तु बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात् उनके भोजन के लिए दो मोर और एक हिरण मारे जाते थे। पर अपने शासन के सोलहवें वर्ष में उन्होंने अपनी पाकशाला में जीव हिंसा बिलकुल बंद कर दी और उसके दो वर्ष पश्चात् शिकार खेलना भी बंद कर दिया। शासन के २०वें वर्ष में उन्होंने अपने सारे राज्य में जीवों का वध सर्वथा बन्द करवा दिया।

अहिंसा के पश्चात् सम्राट् का दूसरा सिद्धान्त 'सत्य-प्रेम' था। प्रत्येक मनुष्य का सत्यवक्ता होना उनकी दृष्टि में आवश्यक था। इसके अतिरिक्त उस समय जो बौद्ध लोग दूसरे धर्मों को हेय दृष्टि से देखने लग गये थे, उनके लिए भी उन्होंने एक कानून बनाया था। उस कानून के द्वारा उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य ठहराया कि वह दूसरों के धर्म, विश्वास और उपासना की रीति में बाधक न हो। और प्रत्येक धर्म के साथ सहानुभूति और प्रेम का व्यवहार करे। किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि, वह दूसरे धर्म के लिए अपमानसूचक शब्दों का व्यवहार करे। क्योंकि, सभी धर्मों के मूल सिद्धान्त जीवन को पवित्रता की ओर ले जानेवाले होते हैं। अशोक का तीसरा सिद्धान्त बड़ों का सम्मान, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति श्रद्धा और छोटों पर दया करने का था। उनके साम्राज्य में प्रत्येक व्यक्ति का यह अनिवार्य कर्तव्य ठहराया था कि, वह अपने गुरुजनों के साथ सम्मानपूर्वक आचरण करे। यदि कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार अपने गुरुजनों का अपमान करता तो वह दण्ड का भागी होता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति को राज्य की ओर से आदेश था कि, वह अपने अधीनस्थ लोगों के साथ दया और अनुकम्पा का व्यवहार करे। एक धर्मलिपि में अशोक ने दान की बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने कहा है कि, औषधालय मनुष्यों की शरीर-रक्षा के लिए है एवं मन्दिर पुण्य के लिए बनाये जाते हैं परन्तु वास्तविक दान तो धर्म का दान है जो मनुष्य को आध्यात्मिक भोजन देता है।

अशोक का साम्राज्य

अशोक के साम्राज्य का विस्तार जितना अधिक हुआ था उतना शायद ही अभी तक किसी सम्राट् के समय में हुआ हो। उनका राज्य उत्तर में हिमालय और हिन्दू-कुश पर्वत तक था। सारा अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और सिन्ध उनके साम्राज्यान्तर्गत था। काश्मीर, नैपाल, स्वात और बाजौर प्रान्त भी इनके साम्राज्य में मिले हुए थे। काश्मीर की राजधानी "श्रीनगर" को स्वयं सम्राट् ने बसाया था। नैपाल में भी उन्होंने "ललितपुर" नामक एक नवीन राजधानी बसाई थी, जो कि काठमाण्डू से दो-तीन मील दक्षिण-पूर्व में है। सम्राट् की लड़की चारुमती ने भी नैपाल में अपने पति देवपाल के स्मारक-स्वरूप देवपाटन नामक एक नगर बसाया था। यह तो साम्राज्य की उत्तर सीमा हुई। पूर्व में सारा बंगाल अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित था। दक्षिण में कलिंग, आन्ध्र और पूर्वी किनारे का सारा दक्षिण प्रान्त अशोक के अधीन था। केवल चोल, पाण्ड्य, करेलपुत्र और सतियपुत्र अशोक-साम्राज्य के बाहिर थे। इस सारे साम्राज्य को अशोक ने कई भागों में विभक्त कर दिया था। इनमें भिन्न भिन्न भागों में एक एक राज-प्रतिनिधि राज्य करता था। एक राज-प्रतिनिधि तक्षशिला में, दूसरा कलिंग के अंतर्गत तोसली में, तीसरा उज्जैन में और चौथा दक्षिण देश में रहता था। इन प्रतिनिधियों में राजघराने के अथवा सम्राट् के पूर्ण विश्वासपात्र लोग ही होते थे।

सम्राट् अशोक की तीर्थ-यात्रा

ईसा से २४९ वर्ष पूर्व सम्राट् अशोक ने तमाम बौद्ध-तीर्थों की यात्रा करना प्रारम्भ किया। सबसे पहले वे (आधुनिक) मुजफ्फरपुर और चम्पारन के जिलों में होते हुए नैपाल गये। मार्ग में उक्त स्थानों पर उन्होंने पाँच बड़े बड़े स्तम्भ खड़े करवाये। वहाँ से चलकर वे महात्मा बुद्ध के जन्म-स्थान लुम्बिनी कानन में पहुँचे। भगवान् बुद्ध की माता मायादेवी को नैहर जाते समय रास्ते में इसी स्थान पर प्रसव-वेदना हुई थी और यहीं पर सिद्धार्थ कुमार का जन्म भी हुआ था। इस स्थान पर भी सम्राट् ने एक स्तम्भ खड़ा करवाया। वहाँ से चलकर सम्राट् बुद्धदेव के पिता शुद्धोधन की राजधानी कपिल-वस्तु गये। इसके पश्चात् वे सारनाथ, जहाँ पर कि भगवान् बुद्ध ने सर्व-प्रथम उपदेश किया था, गये। सारनाथ से श्रावस्ती होते हुए वे बुद्ध गया पहुँचे। इस स्थान पर भगवान् बुद्ध को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। वहाँ से कुशिनगर होते हुए वे पुनः अपनी राजधानी लौट गये।

उस समय के शिलालेख

सम्राट् अशोक से सम्बन्ध रखनेवाले कई शिलालेख अब तक उपलब्ध हो चुके हैं। इन शिलालेखों में उनकी आज्ञाएँ, उनके शासन का हाल, उनकी तीर्थयात्रा का वर्णन, उनकी धर्म-नीति आदि सभी बातों का उल्लेख किया गया है। इन्हीं लेखों और लिपियों की कृपा से हमारी दृष्टि के सम्मुख भारत का वह स्वर्ण काल उपस्थित हो जाता

है जो हमारे लिए अभिमान की वस्तु है। अशोक के तमाम शिलालेखों को हम निम्न भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) कलिंग के शिलालेख—ये शिलालेख ईसा से लगभग २५६ वर्ष पूर्व अंकित करवाये गये थे। इनकी संख्या दो है।

(२) छोटे स्तम्भों के शिलालेख—ये ईसा से लगभग २४० वर्ष पूर्व खुदवाये गये थे।

(३) सात स्तम्भों के लेख—ये ईसा के पूर्व २४३ और २४२ में खुदवाये गये थे। ये छ: पाठों में हैं।

(४) तराई के शिलालेख - इन दो शिलालेखों का काल लगभग २४९ वर्ष ईसा से पूर्व का अनुमान किया जाता है।

(५) चट्टानों के दो शिलालेख—ये सम्भवत: ईसा से २५७ वर्ष पूर्व खुदवाये गये थे।

(६) चौदह पहाड़ी शिलालेख—इनके भिन्न भिन्न सात पाठ हैं। ये ईसा के २६० वर्ष पूर्व के हैं।

(७) धाब्रू का शिलालेख—यह ईसा से २५७ वर्ष पूर्व का है।

(८) गया के निकट तीन गुफाओं के शिलालेख।

इन सब शिलालेखों के द्वारा अशोक का राज्य-वृत्तान्त जानने में बहुत सहायता मिलती है। इसका अनुवाद आगे दिया जायगा।

अशोककालीन साहित्य

सम्राट् अशोक अपनी धर्मलिपियों, प्रशस्तियों, शिलालेखों और कानूनों के रूप में बहुत-सा साहित्य छोड़ गये हैं। इस साहित्य में राजाओं का धर्म, उनके लिए उपयुक्त नियम, कर्मचारियों के कर्तव्य, और प्रजा का धर्म आदि सब बातों का विवेचन है। उस साहित्य का संक्षिप्त सार लिखना भी यहाँ कठिन है। केवल एक बात इस सारे साहित्य में विचारणीय है। वह यह कि, इस साहित्य में प्रजा के प्रति राजाओं का क्या कर्तव्य है, यह तो बतलाया गया है पर प्रजा का राजा के प्रति क्या कर्तव्य है, अथवा प्रजा को किस प्रकार राजभक्त बना रहना चाहिए, इन बातों का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट जाहिर होता है कि, सम्राट् अशोक का शासन इतना उदार, इतना नम्र, और इतना न्याययुक्त था कि जिसके कारण प्रजा स्वयं ही दृढ़ राजभक्त बनी रहती थी। उसे राजभक्ति के उपदेश की आवश्यकता ही न थी।

इस प्रकार अपने इकतालीस वर्ष के शासन से भारत को समृद्ध कर मौर्यवंश का यह जाज्वल्यमान सूर्य ईसवी सन् से २३२ वर्ष पूर्व भारत-गगन से अस्त हो गया। सम्राट् अशोक के पश्चात् भारत की वही दशा हुई जो सेनापति की मृत्यु के पश्चात् सारी सेना की हो जाती है। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके वंशजों में कोई भी व्यक्ति ऐसा प्रतिभा-सम्पन्न न निकला जो उनके साम्राज्य का योग्यतापूर्वक शासन कर सके। योग्य शासक के अभाव में देश की राजनैतिक स्थिति फिर डावाँडोल होने लगी और अंत में सारे

साम्राज्य के अन्दर एक क्रांति-सी उत्पन्न हो गई। आगे जाकर इस विशाल साम्राज्य का किस प्रकार तीन-तेरह हुआ उसका विवेचन अगले पृष्ठों पर अंकित है।

इसमें सन्देह नहीं है कि, सम्राट् चन्द्रगुप्त की तरह सम्राट् अशोक को नवीन साम्राज्य का संगठन नहीं करना पड़ा। लेकिन ... ोक को चन्द्रगुप्त की तुलना में हीन नहीं कह सकते। उनके अंदर बहुत से गुण ऐसे थे जो सम्राट् चन्द्रगुप्त में नहीं पाये जाते थे। उनका चरित्र बहुत दिव्य था। वे पहिले सिरे के विद्वान् थे। इतने बड़े साम्राज्य के अधिपति होते हुए भी अभिमान ने उन्हें छुआ तक न था। जितनी आज्ञाएँ वे प्रजा के लिए निकालते थे, उन्हें स्वयं भी पालन करने की चेष्टा करते थे। जनता के चरित्र को सुधारने का और सर्वसाधारण में धर्मप्रचार का उन्होंने जो प्रयत्न किया, वह संसार के इतिहास में दुर्लभ है। यही कारण था कि ४१ वर्ष के लम्बे शासन में इतने विशाल साम्राज्य के अन्दर एक भी विद्रोह नहीं हुआ—उनके शासन में हमेशा एक जीवित शांति बनी रही, जो कि अच्छे से अच्छे प्रजातंत्र में सम्भव नहीं है। कुछ लोग उनके दण्डविधान पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि, इस प्रकार का दण्डविधान किसी भी सभ्य देश के लिए कलंकस्वरूप है। सम्भव है, उनका यह कथन सच हो और यह दुर्गुण अशोक और चन्द्रगुप्त में रहा हो, फिर भी उनके इतने गुणों में यह दुर्गुण इस प्रकार छिप जाता है, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में तारे। अस्तु, मतलब यह है कि, हमारे सारे इतिहास में अशोक का काल एक अभिमान की वस्तु है। उनके समान सम्राट् संसार के किसी देश ने अभी तक पैदा नहीं किया।

अशोक की धर्म-लिपियाँ

पीछे हम स्थान-स्थान पर अशोक की धर्म-लिपियों का विवेचन करते आये हैं फिर भी पाठकों के हितार्थ हम नीचे उन सब धर्म-लिपियों का अनुवाद दे देना उचित समझते हैं।

(१)

यह धर्म-लिपि देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की आज्ञा से खुदवाई गई है। इस पृथ्वी पर कोई किसी जीवधारी जन्तु को बलिदान अथवा भोजन के लिए न मारे अथवा किसी प्रकार का समाज न करे। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् ऐसे समाजों में अनेक प्रकार के दोष देखते हैं। यद्यपि कुछ समाज ऐसे भी हैं जो देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् को अच्छे मालूम होते हैं। पहले देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् की पाकशाला में व्यंजन बनाने के निमित्त हजारों पशुओं का वध हुआ करता था, पर आज से उसकी पाकशाला में केवल दो मोर और एक हिरण का वध होगा। जिसमें भी हरिण का वध नियमित नहीं है। भविष्य में ये तीन प्राणी भी नहीं मारे जायँगे।

(२)

देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् के साम्राज्य में सर्वत्र और उनके सीमा प्रदेश में रहनेवाली जातियों (जैसे—चोल, पाण्ड्य, सतिय-पुत्र, केरल-पुत्र आदि) के राज्य में

ताम्रपर्णी (लंका) तक तथा यूनानियों के राजा एएटीओकस के राज्य में और उसके पार्श्ववर्ती दूसरे राज्यों में सर्वत्र देवप्रिय प्रियदर्शी सम्राट् ने दो प्रकार की चिकित्साओं का प्रबन्ध किया है—मनुष्य-चिकित्सा और पशु-चिकित्सा। जिन-जिन स्थानों पर मनुष्यों और पशुओं के उपयोग में आनेवाली औषधियों के पौधे नहीं हैं, उन-उन स्थानों पर वे बाहर से लाये और लगाये गये हैं। प्रत्येक पथ पर मनुष्यों और पशुओं के लिए कुएँ खुदवाये गये हैं, और वृक्ष लगवाये गये हैं।

(३)

देवप्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहते हैं—राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में मैंने इस प्रकार के आदेश किये हैं। मेरे राज्य में सर्वत्र धर्मच्युत, राजुक और नगरों के राज्याधिकारी पाँच वर्ष में एक बार एक सभा में एकत्रित हों और इस प्रकार की धर्म-शिक्षाओं का प्रचार करें :—

अपने माता, पिता, मित्रों, संगियों और संबंधियों की धर्मयुत सेवा करना अच्छा और उचित है। ब्राह्मणों और श्रमणों को भिक्षा देना, प्राणियों के जीवन का सत्कार करना और अपव्यय तथा कटु वचन से बचना अच्छा और उचित है। बौद्ध-संघ इस प्रकार के धर्मयुतों को नियुक्त करेगा और उन पर निगाह रक्खेगा।

सुदूर अतीत काल से यहाँ पर प्राणियों का नाश—जीवों के प्रति निष्ठुर व्यवहार, सम्बन्धियों, श्रमणों तथा ब्राह्मणों के प्रति अनादर भाव चले आ रहे हैं। आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने—जो कि देवताओं के प्रिय धर्मकार्य के बड़े भक्त हैं—ढिंढोरा पिटवाकर लाव-लशकर, हाथी, मशाल और स्वर्गीय वस्तुओं को प्रजा को दिखलाकर, धर्म को प्रकट किया है। जैसा सैकड़ों वर्षों पहले कभी नहीं हुआ था वैसा देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन में होता है। आज जीवधारी पशुओं का सत्कार, उनके लिए दया, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के लिए सत्कार, माता-पिता की आज्ञा का भक्ति के साथ पालन, और वृद्धों का यथोचित आदर होता है। अन्य विषयों की तरह इस विषय में भी धर्म का विचार किया गया है। और देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी इसको बराबर प्रचलित रक्खेगा। देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र इस धर्म के प्रचार को सृष्टि के अंत तक कायम रक्खेंगे। धर्म और भलाई में दृढ़ रहकर वे लोग धर्म की शिक्षा देंगे; क्योंकि धर्म की शिक्षा देना सब कार्यों से उत्कृष्ट है और भलाई के बिना धर्म का कोई कार्य न होगा। धार्मिक प्रेम का दृढ़ होना और उसकी वृद्धि होना वांछनीय है। इस शिलालेख को खुदवाने का प्रधान उद्देश्य यह है, कि वे लोग अपने को इस सर्वोच्च भलाई के कामों में लगावें और इसकी अवनति न होने दें। राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् ने इसे खुदवाया है।

(४)

देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं कि, पुण्य करना बहुत कठिन है। जो पुण्य करते हैं वे कठिन कार्य करते हैं। अभी तक मैंने स्वयं बहुत से पुण्य-कार्य किये हैं। मेरे पुत्र, पौत्र और कल्पान्त तक के सब वंशधर मेरी ही तरह पुण्य-कार्य करेंगे। और

जो सुकृत कार्य के करने में किंचित्-मात्र भी प्रमाद करेगा, वह पाप का भागी होगा; क्योंकि पाप करना बहुत आसान है। देखो, अतीत काल में धर्म का प्रबन्ध करनेवाले कर्मचारी न थे, परंतु मैंने अपने राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में धर्म का प्रबंध करनेवाले कर्मचारी नियुक्त किये हैं। ये लोग सब सम्प्रदाय के लोगों को धर्म का स्थापन और उत्कर्ष करने के लिए और धर्मयुतों की भलाई करने के लिए मिलते हैं। वे यवन, कम्बोज, गान्धार, सौराष्ट्र, पेतेनिक और सीमा-प्रदेश की अन्य जातियों के साथ मिलते हैं। वे योद्धाओं और ब्राह्मणों के साथ, गरीब, अमीर और वृद्धों के साथ, उनकी भलाई और सुख के लिए और सत्य धर्म के अनुयायियों के मार्ग को सब विघ्नों से रहित करने के लिए मिलते हैं। जो लोग बंधनों में हैं उन्हें वे सुख देते हैं और उनकी बाधाओं को दूर करके उन्हें मुक्त करते हैं; क्योंकि उन्हें अपने कुटुम्ब का पालन करना पड़ता है। पाटलिपुत्र तथा अन्य नगरों में, वे मेरे भाई-बहनों तथा अन्य संबंधियों के घर में यत्न करते हैं। सब स्थानों पर धर्म महामात्र लोग सच्चे अनुयायियों, दान करनेवालों और धर्म में दृढ़ लोगों से मिलते हैं। इसी उद्देश्य से यह लिपि खुदवाई गई है।

(५)

देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं—प्राचीन काल में हर समय में राजकार्य, मनोनिवेश और गुप्तचरों के समाचारों को सुनने की प्रथा न थी। मैंने इस प्रकार का नियम कर दिया है कि, चाहे जिस समय में—खाने के समय, विश्राम के समय, शयनागार में, एकान्त में अथवा वाटिका में—वे कर्मचारी लोग जिनके ऊपर प्रजाविषयक कार्यों का भार है, मुझसे मिल सकते हैं। मैं अपनी प्रजा के संबंध की सब बातें उनसे जान लेता हूँ। मेरी कही हुई शिक्षाओं को मेरे धर्म महामात्र लोग प्रजा से कहते हैं। इस प्रकार मैंने यह आज्ञा दी है कि, जहाँ कहीं धर्मोपदेशकों की सभाओं में मतभेद अथवा झगड़ा हो, उसकी सूचना मुझे सदा मिल जाना चाहिए। क्योंकि, न्याय के प्रबंध में जितना उद्योग किया जाय, कम है। मेरा यह कर्तव्य है कि शिक्षा द्वारा लोगों का उपकार करूँ। निरंतर उद्योग और न्याय का उचित प्रबंध सर्व-साधारण के हित की जड़ है और इससे अधिक फलदायक कुछ नहीं है। मेरे सब यत्नों का मुख्य उद्देश्य है कि, मैं सर्वसाधारण के ऋण से मुक्त हो जाऊँ। जहाँ तक मुझसे हो सकता है, मैं उन्हें सुखी रखने का प्रयत्न करता हूँ। और इस बात का भी प्रयत्न करता हूँ कि, भविष्य में भी स्वर्ग-सुख प्राप्त करें। भविष्य में मेरे पुत्र और पौत्र भी सर्व साधारण के हित में रत रहें। इसी उद्देश्य से मैंने यह लिपि खुदवाई है।

(६)

देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी की यह बड़ी इच्छा है कि, सब स्थानों में सब जातियाँ सुखी रहें। सब लोग समान रीति से इन्द्रियों का दमन करें और आत्मा को पवित्र बनावें। मनुष्य संसार की बातों में अधीर है। संसारचक्र के कारण वह जितनी बातें कहता है, कर नहीं सकता। फिर भी आंशिक रूप से उसे कर्तव्य-पालन में रत रहना चाहिए। दान एक श्रेष्ठ धर्म है। लेकिन जो लोग आर्थिक हीनता-कारण दान

नहीं कर सकते, उन्हें संयम, चित्तशुद्धि, कृतज्ञता, दृढ़ चिन्तना आदि गुणों का एकान्त पालन करना चाहिए।

(७)

प्राचीन समय के राजा लोग अहेरिया के लिए जाया करते थे। अपना जी बहलाने के लिए वे जानवरों का शिकार तथा अन्य किसी प्रकार के खेल किया करते थे। मैं देवताओं का प्रियदर्शी सम्राट् अपने राज्य के दसवें वर्ष से इस प्रकार मनोरंजन को बन्द करता हूँ। अब मुझे सत्य ज्ञान प्राप्त हो गया है। आज से ब्राह्मणों और श्रमणों की भेंट करना, उनको दान देना, वृद्धों से परामर्श करना, द्रव्य बाँटना, राज्य में प्रजा से भेंट करना, प्रजा जनों को धार्मिक शिक्षा देना आदि कार्य ही मेरे मनोरंजन की सामग्री होगी। इस प्रकार देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् अपने भले कामों से उत्पन्न हुए सुखों को भोगता है।

(८)

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं:—लोग बीमारी में, पुत्र-कन्या के विवाह में, पुत्र के जन्म पर और यात्रा में जाने के समय अथवा इसी प्रकार के अन्यान्य अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के विधान करते हैं। परंतु भिन्न-भिन्न प्रकार के ये असंख्य विधान जिन्हें कि लोग करते हैं, व्यर्थ और निरर्थक हैं। इन विधानों का कोई फल नहीं होता। जो इन विधानों को छोड़कर इनके विपरीत धर्म कार्य करता है, वह बहुत ही श्रेष्ठ है। गुलामों और नौकरों पर यथोचित ध्यान रखना और संबंधियों तथा शिक्षकों का सत्कार करना प्रशंसनीय है। इन कामों को तथा इसी प्रकार के अन्य भलाई के कामों को ही मैं धर्म कार्य कहता हूँ। पिता, पुत्र, भाई अथवा स्वामी को कहना चाहिए कि, ये ही कार्य प्रशंसनीय हैं। जहाँ तक अभीष्ट सिद्धि न हो जाय तब तक इन सब कार्यों को करना उचित है। यह कहा जाता है कि, दान देना प्रशंसनीय कार्य है, पर और दान इतने प्रशंसनीय नहीं हैं जितना कि, धर्मदान इसलिए मित्र, संबंधी और संगी को यह सम्मति देना चाहिए कि, अमुक-अमुक अवस्थाओं में अमुक-अमुक कार्य प्रशंसनीय हैं। यह में विश्वास रखना चाहिए कि, इस प्रकार के आचरण से स्वर्ग मिलता है।

(९)

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार की कीर्त्ति अथवा यश को पूर्ण नहीं समझता कि, उसकी प्रजा वर्तमान में अथवा भविष्य में उसके धर्म को माने और उसके अनुसार कार्य करे। इसी एक-मात्र यश को देवताओं का प्रियदर्शी सम्राट् चाहता है। प्रियदर्शी सम्राट् के सब उद्योग आगामी जीवन में मिलनेवाले सुखों तथा जीवन-मरण के बंधनों से मुक्त होने के लिए हैं। क्योंकि जीवन-मरण का दुःख ही सबसे बड़ा दुःख है। लेकिन इस दुःख से छुटकारा पाना छोटे और बड़े दोनों ही के लिए कठिन है। तब तक कठिन है जब तक कि, वे अपने को सब वस्तुओं से अलग करने का दृढ़ उद्योग न करेंगे। खास कर बड़े लोगों के लिए इसका उद्योग करना बड़ा ही कठिन है।

(१०)

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं—धर्म की मित्रता के समान मित्रता, धर्म की भिक्षा के समान भिक्षा, धर्म के संबंध के समान संबंध और धर्म के दान के बराबर दान दुनिया में कोई नहीं है। इसलिए क्रीत दास और साधारण भृत्यों के प्रति सदय व्यवहार, माता-पिता की शुश्रूषा, मित्र, परिचित और जाति का सम्मान, ब्राह्मण और श्रमण लोगों को दान, प्राणियों के प्रति अहिंसा भाव आदि सत्कार्यों को सम्पन्न करते रहना चाहिए। सुतरां पिता, पुत्र, भ्राता, मित्र, परिचित और जाति के लोगों को यह उपदेश देते रहना चाहिए कि, ये कार्य सत्कार्य हैं। ये मनुष्य के कर्तव्य हैं। जो लोग हमेशा इस प्रकार का आचरण अथवा धर्मदान किया करते हैं वे इस लोक में पूजित एवं परलोक में अनन्य सुखभोगी होते हैं।

(११)

देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् सब धर्म के लोगों का क्या संन्यासी और क्या गृहस्थ—उचित सत्कार करता है। वह उन्हें भिक्षा और दूसरे प्रकार के दान देकर सन्तुष्ट करता है। लेकिन प्रियदर्शी सम्राट् इस प्रकार के दानों को उनके धर्माचरणों की उन्नति के सम्मुख कुछ भी नहीं समझता। यद्यपि यह सत्य है कि, भिन्न-भिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न प्रकार के पुण्य समझे जाते हैं तथापि उन सबका आधार एक ही है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह कभी अपने धर्म की प्रशंसा और दूसरों के धर्म की निन्दा न करे। किसी भी व्यक्ति का यह कर्तव्य नहीं है कि वह दूसरों के धर्म को बिना कारण हलका समझे। इसके विपरीत सब लोगों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि दूसरे धर्मों का भी सब अवसरों पर उचित सत्कार करें। इस प्रकार का यत्न करने से मनुष्य दूसरों की सेवा करते हुए भी अपने धर्म की उन्नति कर सकता है। इसके विरुद्ध कार्य करने से मनुष्य न तो कभी अपनी ही भलाई कर सकता है, न दूसरों की ही। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति अपने धर्म की वृद्धि करने के लिए दूसरे धर्मों की निन्दा करता है वह अपने ही हाथों अपने धर्म पर कुठाराघात करता है। सहयोग ही सबसे उत्तम वस्तु है। इसी के कारण सब लोग एक दूसरे के मतों को सहन करते हुए प्रेमपूर्वक समाज में रह सकते हैं। देवताओं के प्रियदर्शी की यह इच्छा है कि सब लोगों को इस ढंग की शिक्षा दी जाय जिससे कि, उनके सिद्धान्त शुद्ध हों। सब धर्म के लोगों को यह बतला देना चाहिए कि देवताओं का प्रियदर्शी सम्राट् दान और बाहरी विधानों की अपेक्षा वास्तविक धर्माचरण की उन्नति और सब धर्मों के पारस्परिक प्रेम को अधिक महत्त्व देता है। इसी उद्देश्य से धर्म का प्रबंध करनेवाले कर्मचारी, निरीक्षक और अन्यान्य कर्मचारी लोग काम करते हैं। इसी का फल मेरे धर्म की उन्नति और धार्मिक दृष्टि से उसका प्रचार है।

(१२)

कलिंग देश, जिसे देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक ने अभिषेक के आठवें वर्ष में जीता है, बहुत विशाल है। इस विजय में डेढ़ लाख व्यक्ति बंदी बनाये गये थे, एक लाख आहत हुए तथा इससे कितने ही अधिक मारे गये हैं। इतनी

हत्याओं के उपरान्त कलिंग देश विजय हुआ है। इसी क्षण से देवप्रिय प्रियदर्शी सम्राट् का धर्मपालन, धर्मानुराग और उसकी धर्मानुशास्ति बहुत वृद्धिगत हुई है। कलिंग विजय करने पर देवप्रिय प्रियदर्शी सम्राट् को बहुत पश्चात्ताप हुआ है। क्योंकि, अविजित देश को विजय करते समय हत्या, मृत्यु और बन्दी बनाना अवश्यम्भावी होता है। देवप्रिय प्रियदर्शी सम्राट् को ये हत्याएँ अतिशय गुरुतर और कष्टतर मालूम होती हैं। सभी देशों में ब्राह्मण, श्रमण, संन्यासी और गृहस्थ लोग रहते हैं। उनसे उनके प्रिय जनों का वियोग हो जाता है। यहाँ तक कि उनकी मृत्यु भी हो जाती है। इसलिए उन्हें घोर क्लेश उठाना पड़ता है। मैं, जो कि देवताओं का प्रिय हूँ, इस प्रकार की कठोरता का अनुभव करता और उन पर पश्चात्ताप करता हूँ। कोई ऐसा देश नहीं जहाँ पर ब्राह्मण और श्रमण न बसते हों और कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ वे लोग किसी न किसी धर्म को न मानते हों। और कलिंग देश के अंतर्गत जितने लोग आहत हुए हैं, बन्दी हुए हैं, अथवा जितने लोगों ने प्राण त्याग किया है, उनके लिए देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् को बहुत अनुताप हो रहा है।

देवताओं का प्रियदर्शी सब प्राणियों की रक्षा, जीवन के सत्कार, शान्ति और दया का उत्सुक हृदय से अभिलाषी है। इसी को देवताओं का प्रियदर्शी वास्तविक धर्म-विजय समझता है। अपने साम्राज्य तथा उसके सीमावर्ती प्रदेशों में इसी प्रकार की धर्म-विजय सम्राट् देखना चाहता है। उसके पड़ोसियों में यवनों का राजा एएटी ओकस, एएटी ओकस के उपरान्त चार राजा लोग—टोलेमी, एएटी गोनस, मेगेसी और सिकंदर, दक्षिण में ताम्रपर्णी नदी तक चोल और पाण्डव लोग और विस्मवसी यूनानियों और कम्बोजों में नाभक और नाभपन्ति लोग—सर्वत्र देवताओं के प्रियदर्शी की धार्मिक शिक्षाओं के अनुकूल हैं। जहाँ जहाँ देवताओं के प्रियदर्शी के दूत भेजे गये, वहाँ वहाँ के लोगों ने उन धार्मिक शिक्षाओं को बड़े ही चाव से सुना जो प्रियदर्शी सम्राट् की ओर से भेजी गई थीं। वे सानंद उन धार्मिक शिक्षाओं से सहमत हो गये।

इस प्रकार यह विजय चारों ओर फैलाई गई है। मुझे इससे अत्यन्त आनंद प्राप्त हुआ है। वास्तव में धार्मिक विजय में इसी प्रकार का सुख होता है। यह आनंद यद्यपि अलभ्य है तथापि देवताओं का प्रियदर्शी समाट् उस आनन्द को बहुत अधिक समझता है जो कि अगले जन्म में मिलनेवाला है। इसी उद्देश्य से यह धार्मिक शिलालेख खुदवाया गया है कि हमारे पुत्र और पौत्र यह न सोचें कि किसी नवीन विजय की आवश्यकता है। वे यह न विचारें कि तलवार से विजय करना "विजय" कहलाने के योग्य है। वे उसमें नाश और कठोरता के अतिरिक्त कुछ भी न देखें। वे धर्म की विजय को छोड़कर और किसी प्रकार की विजय को सच्ची न समझें। ऐसी विजय का फल इस लोक और परलोक दोनों जगह मिलता है।

(१३)

ये गिरिलिपियाँ देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् ने खुदवाई हैं। ये कुछ तो संक्षेप में, कुछ साधारण विस्तार में और कुछ अधिक विस्तार में हैं। अभी तक ये एक

दूसरे से सम्बद्ध नहीं हैं; क्योंकि मेरा राज्य बहुत विशाल है। मैंने बहुत सी बातें खुदवाई हैं और बहुत सी अभी और खुदवाऊँगा। कुछ बातों में पुनरावृत्ति भी आ गई है, क्योंकि मैं उन बातों पर विशेष जोर देना चाहता हूँ। प्रतिलिपि में दोष भी हो सकते है कि कोई-कोई वाक्य कट गया हो, पर यह सब खोदनेवाले कारीगर का काम है।

उपरोक्त तेरह सूचनाएँ अशोक की प्रसिद्ध धर्मलिपियाँ है, जिनके द्वारा उसने अपने साम्राज्य में उपरोक्त महत्त्वपूर्ण बातों का प्रचार किया।

उपरोक्त तेरह गिरिलिपियों के अतिरिक्त अशोक ने समय-समय पर अन्य सूचनाएँ भी खुदवाई थीं। उनमें से एक सूचना "धौली" में, दो "जोगड़" में, एक खण्ड शिलालिपि सिद्धपुर में, एक सूचना सहसराम में, एक वैराट् (दिल्ली के दक्षिण-पश्चिम) में और तीन शिलालेख मैसूर में मिले हैं। इनके सिवा गुफाओं के शिलालेख अलग हैं। यद्यपि इन सब शिलालेखों का अनुवाद देना यहाँ पर आवश्यक है, पर इससे ग्रन्थ का कलेवर बहुत बढ़ जाने का डर है। इन सब शिलालेखों को दिया जाय तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ बन सकता है। उपरोक्त तेरह धर्मलिपियाँ बहुत आवश्यक थीं, इसलिए उनका अनुवाद ऊपर दे दिया गया है। शेष आठ स्तम्भलिपियाँ भी बहुत आवश्यक समझी जाती हैं। अतः उनका अनुवाद नीचे दिया जाता है।

पहली स्तम्भलिपि

देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं।—अपने राज्याभिषेक के छब्बीसवें वर्ष में मैंने यह सूचना खुदवाई है :—एकान्त धर्मानुराग, विशेष आत्मपरीक्षा, पूर्ण आज्ञापालन, प्रगाढ़ अध्यवसाय और धर्मभय के बिना मेरे कर्मचारियों को ऐहिक और पारलौकिक सुख मिलना कठिन है। मेरे उपदेश के कारण उन लोगों में स्वतः धर्म के प्रति आदर और अनुराग बढ़ रहा है। मेरे कर्मचारीगण क्या उच्च श्रेणी के, क्या मध्यम श्रेणी के, और क्या निम्न श्रेणी के सभी मेरे उपदेश के अनुसार कार्य करते हैं, और भविष्य में करेंगे। चंचल मति लोगों में धर्मानुराग बढ़ाने की व्यवस्था भी वे लोग करते हैं।

उसी प्रकार सीमाप्रान्त के मंत्रिगण (अन्त महामात्र) भी धर्मप्रचार करते हैं। इस उपाय के द्वारा मेरे उद्देश्य—धर्मानुसार पालन, धर्मानुसार शासन, धर्मानुसार उन्नति और धर्मानुसार रक्षा—अनायास ही सिद्ध होते हैं।

(२)

देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं—धर्म उत्तम है पर यह पूछा जा सकता है कि धर्म है क्या पदार्थ ? धर्म थोड़ी से थोड़ी बुराई और अधिक से अधिक भलाई करने में है। धर्म दया, दान, सत्य और पवित्र जीवन में है। इसलिए मैंने मनुष्यों, चौपायों, पक्षियों और जल-जन्तुओं के निमित्त सब प्रकार के दान दिये हैं। मैंने उनके हित के लिए बहुत से कार्य किये हैं। यहाँ तक कि उनके पीने के लिए पानी तक का प्रबन्ध किया है। मैंने इस उद्देश्य से इस सूचना को खुदवाया है जिससे लोग उसके अनुसार चलें और सत्य पथ को ग्रहण करें। यह कार्य बहुत ही उत्तम और प्रशंसनीय है।

(३)

देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं—मनुष्य केवल अपने अच्छे कामों को देखता है और कहता है कि मैंने अमुक उत्तम कार्य किया। पर वह कभी अपने बुरे कामों को नहीं देखता। वह कभी यह नहीं कहता कि मैंने अमुक पाप किया। यद्यपि यह सत्य है कि इस प्रकार की जाँच दुखप्रद है तथापि यह आवश्यक है कि, अपने मन में यह प्रश्न किया जाय और यह निश्चय कर लिया जाय कि दुष्टता, निर्दयता, क्रोध, अभिमान तथा इसी प्रकार के दूसरे दुष्कृत्य पाप हैं। सावधानी के साथ अपना आत्मनिरीक्षण करते रहना आवश्यक है। हृदय के अंदर हमेशा इस प्रकार की भावनाएँ रखना चाहिए कि मैं दूसरों से ईर्ष्या न करूँगा अथवा उनकी निन्दा न करूँगा। इस प्रकार का कार्य मेरे लिए इस लोक और परलोक दोनों स्थानों में लाभप्रद होगा।

(४)

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं—अपने राज्याभिषेक के सोलहवें वर्ष में मैंने यह सूचना खुदवाई है। मैंने अपने लाखों प्रजागणों के लिए रज्जुकों को नियुक्त किया है। रज्जुकों को दण्ड देने का अधिकार मैंने स्वयं अपने हाथ में रक्खा है जिससे कि वे पूरी दृढ़ता के साथ मेरे राज्य के लोगों की भलाई और उन्नति करें। प्रजा के सुखों और दुखों की वे बराबर जाँच करते रहते हैं और धर्मयुतों के साथ रहकर वे मेरे राज्य के लोगों को शिक्षा देते हैं जिससे कि लोग इस लोक में सुख और भविष्यत् में मुक्ति प्राप्त कर सकें। रज्जुक लोग मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। पुरुष लोग भी मेरी इच्छा और आज्ञाओं का पालन करते हैं और मेरे उपदेशों का प्रचार करते हैं जिसमें रज्जुक लोग संतोषजनक कार्य करें। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने बच्चे को किसी सचेत दाई के हाथ में सौंप कर निश्चिन्त रहता है और सोचता है कि मेरा बच्चा सचेत दाई के पास है, उसी भाँति मैंने भी अपनी प्रजा के लिए रज्जुकों को नियुक्त किया है और जिसमें वे दृढ़ता और रक्षा के साथ बिना किसी चिंता के अपना कार्य करें, मैंने उनके अभियुक्त करने और दण्ड देने का अधिकार स्वयं अपने हाथ में रक्खा है। अभियुक्त बनाने और दण्ड देने में समान दृष्टि से काम लेना आवश्यक है। इसलिए आज की तिथि से यह नियम किया जाता है कि जिन कैदियों का न्याय हो जाय और जिन्हें फाँसी की सजा का दण्ड मिले उन्हें तीन दिन की अवधि दी जाय और उनको सूचना दे दी जाय कि वे तीन दिन तक जीवित रहेंगे, न इससे अधिक और न इससे कम। इस बीच में वे परलोक-साधन के लिए जितना दान-पुण्य करना चाहें, कर लें। मेरी इच्छा है कि कारागार में भी उन्हें भविष्यत् का निश्चय दिलाया जाय और उसके साथ मेरी यह भी दृढ़ इच्छा है कि मैं प्रजा के अन्तर्गत इन्द्रिय दमन और दानशीलता के भाव देखूँ।

(५)

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं—अपने राज्याभिषेक के छब्बीसवें वर्ष के उपरान्त मैंने निम्न-लिखित जानवरों के मारे जाने का निषेध किया है—तोता, मैना, अरुण, चक्रवाक, हंस, नन्दिमुख, गैरन, चमगीदड़, अम्बक, पिल्लिक, दद्धि, अनस्थिक-

मछली, वेदवेयक, गंगा नदी के पुपुत, संकुज, ककतमयक, पमनमम, मिमल, संदक, ओकपिण्ड, पलमत, श्वेत कपोत, ग्रामकपोत और सब चौपाये जो किसी काम नहीं आते और खाये भी नहीं जाते। बकरी, भेड़ और शूकरी जब गर्भवती हों, अथवा दूध देती हों, या उनका बच्चा छः मास का न हो गया हो, तब तक न मारी जायें। लोगों के खाने के लिए मुर्गी को खिला-पिलाकर मोटी न बनाया जाय। जीते हुए जानवरों को न जलाया जाय। निरर्थक ढंग से अथवा हिंसा के प्रयोजन से जंगल न जलाये जायँ। एक जानवर को दूसरा जीवित प्राणी न खिलाया जाय। चातुर्मास की प्रत्येक पूर्णिमा को, पौष मास की पुष्य नक्षत्र-युक्त पूर्णिमा को, चतुर्दशी, अमावस्या और प्रतिपदा को और वर्ष के उपोसथ दिन में मछलियाँ मारी और बेची न जायें। प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी, अमा-वस्या अथवा पूर्णिमा को पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्रों से युक्त दिनों में, अथवा चातुर्मास के प्रत्येक उपोसथ दिन में कहीं भी साँड़, भैंसा, बकरा, सुअर अथवा किसी भी वध किये जानेवाले जानवर का वध न किया जाय। पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र में चातुर्मास की प्रत्येक पूर्णिमा और अमावस्या को और चातुर्मास के शुक्लपक्ष में घोड़े और बैल को दागना न चाहिए। अपने राज्याभिषेक के छब्बीसवें वर्ष में पच्चीसवीं बार मैंने बंदियों को कारागार से मुक्त किया है।

(६)

देवप्रिय प्रियदर्शी राजा कहते हैं—अपने राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में प्रजा के लाभ और सुख के लिए मैंने सर्वप्रथम सूचनाएँ खुदवाईं। मैं यह समझकर प्रसन्न हूँ कि लोग इससे लाभ उठावेंगे एवं धर्म में अनेक प्रकार से उन्नति करेंगे। इस प्रकार ये सूचनाएँ लाभ और सुख का कारण होंगी मैंने ऐसे उपाय किये हैं कि जिनसे मेरी दूरवर्ती और समीपवर्ती प्रजा के एवं मेरे संबंधियों के सुख की वृद्धि होगी। इसी कारण मैं स्वयं अपने कर्मचारियों पर देख-भाल रखता हूँ। सब पन्थ के लोग मुझसे अनेक प्रकार के दान पाते हैं, परन्तु मैं उनके धर्म-परिवर्तन को बहुत अधिक आवश्यक समझता हूँ। यह सूचना मैंने अपने राज्याभिषेक के छब्बीसवें वर्ष में खुदवाई है।

(७)

देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी कहते हैं—प्राचीन काल में जो राजा लोग राज्य करते थे वे चाहते थे कि मनुष्य धर्म में उन्नति करें, परन्तु उनकी इच्छानुसार मनुष्यों ने धर्म में उन्नति नहीं की।

तब देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् ने कहा—मैंने सोचा कि, प्राचीन समय के राजा लोग यह सोचा करते थे कि किस प्रकार प्रजागण आशानुरूप धर्मवृद्धि कर सकते हैं, पर उनकी इच्छानुसार वे धर्मोन्नति लाभ न कर सके। तब किन उपायों से प्रजागण को धर्मोन्नति में प्रवृत्त करवाया जाय? किन उपायों से उन्हें धर्म पालन में प्रवृत्त किया जाय? किन उपायों से उनके हृदय में धर्म अपनी वृद्धि कर सकता है?

इस विषय में देवप्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहते हैं—मैंने धर्म-संबंधी

उपदेशों को प्रकाशित करने और धार्मिक शिक्षा देने का निश्चय किया है, जिसमें मनुष्य इनको सुनकर सत्य पथ को ग्रहण करें और अपनी उन्नति करें।

मैंने धार्मिक शिक्षाओं को प्रकाशित किया है और धर्म के विषयों में अनेक उपदेश दिये हैं जिसमें धर्म की बहुत शीघ्र उन्नति हो। मैंने प्रजा को धर्म-शिक्षा देने के लिए बहुत से कर्मचारी नियुक्त किये हैं। वे सब कर्मचारी अपने अपने कर्त्तव्य-पालन में दत्तचित्त हैं। हजारों मनुष्यों पर मैंने रज्जुकों को नियुक्त किया है और आज्ञा दी है कि धर्मयुतों को सहायता दो।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् ने कहा—बड़ी बड़ी सड़कों पर मैंने न्यग्रोध के वृक्ष लगवाये हैं जिसमें कि वे मनुष्यों और पशुओं को छाया दें। मैंने आम के बगीचे लगवाये हैं। मैंने आधे आधे कोस पर कुएँ खुदवाये हैं और अनेक स्थानों पर मनुष्यों और पशुओं के लिए धर्मशालाएँ बनवाई हैं। परन्तु मेरे लिए यथार्थ प्रसन्नता की बात यह है कि पहले के राजा लोगों ने अनेक अच्छे कार्यों से लोगों के सुख का प्रबंध किया है परन्तु लोगों को धर्मपथ पर चलाने के एक-मात्र उद्देश्य से मैं सब कार्य करता हूँ।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् ने कहा—मैंने धर्म महामात्रों को नियत किया है जिसमें कि वे सब प्रकार के धर्म-प्रचार के कार्य में यत्न करें। सब धर्मों के लोगों में, संन्यासियों में और गृहस्थों में वे धर्म-प्रचार करें। पुजारियों, ब्राह्मणों, संन्यासियों और निर्ग्रन्थ लोगों का ध्यान भी मेरे हृदय में रहा है। और उन सब लोगों में मेरे कर्मचारी कार्य कर रहे हैं। महामात्र लोग अपने समाज में कार्य करते हैं और धर्म के प्रबंधकर्ता लोग प्राय: सब धर्मों में कार्य करते हैं।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् ने कहा—कि ये कर्मचारी तथा दूसरे कार्यकर्ता मेरे हथियार हैं। वे मेरे तथा रानियों के दिये हुए दान का वितरण करते हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि वे यहाँ तथा दूसरे प्रांतों में मेरे लड़कों के दिये हुए दान को धर्मकार्यों के साधन तथा धर्मवृद्धि के कार्यों में बाँटते हैं। इस प्रकार संसार में धर्म कर्म अधिक होते हैं। धर्म के साधन जैसे दया और दान, सत्य और पवित्रता, उपकार और भलाई की वृद्धि होती है।

देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी कहते हैं—मेरे किये हुए भलाई के अनेक कार्यों को उदाहरणस्वरूप समझकर लोगो ने सम्बन्धियों और गुरु की आज्ञा-पालन में, वृद्धों पर दयाभाव रखने में, ब्राह्मणों और श्रमणों का सत्कार करने में, गरीब, दुखियों, नौकरों तथा गुलामों का आदर करने की उन्नति की है।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं—मनुष्यों के धर्म की उन्नति दो प्रकार से हो सकती है—(१) स्थिर नियमों के द्वारा; (२) उन लोगों के हृदयों में धार्मिक नियमों को उत्तेजित करने के द्वारा। दोनों प्रकार के मार्गों में कठोर नियमों का रखना उचित नहीं है। केवल हृदय को धर्म की ओर प्रवाहित करने ही से लोगों में धार्मिक भावों का विकास होता है। यद्यपि दृढ़ नियमों के द्वारा पशु-वध-निषेध आदि उत्तम कार्यों के प्रचारित करने से भी धर्म-वृद्धि हो सकती है, पर धर्म की वास्तविक उन्नति तो जनता के हृदयों में धार्मिक भावनाओं का संचार करने से ही हो सकती है। इसी उद्देश्य से मैंने यह

लेख प्रकाशित किया है कि वह मेरे पुत्रों और पौत्रों के समय तक स्थिर रहे और तब तक स्थिर रहे जब तक कि गगन-मण्डल में सूर्य और चन्द्रमा उदय और अस्त होते रहें। क्योंकि मेरी इन शिक्षाओं पर चलने से मनुष्य दोनों लोकों में सुख प्राप्त कर सकता है। मैंने यह सूचना अपने राज्याभिषेक के २७वें वर्ष में खुदवाई है। देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं जहाँ कहीं यह सूचना स्तम्भों पर है, वहाँ पर चिरकाल तक स्थिर रहे।

इन धर्मलिपियों पर विशेष आलोचना करने की आवश्यकता नहीं। सहृदय पाठक इन लिपियों से अशोक के प्रजा-प्रेम, धर्मप्रेम आदि का सहज ही अनुमान कर सकते हैं। हमारे शास्त्रों में राजा के कर्तव्य का वर्णन करते हुए कहा है कि प्रजा के सुख और दुःख, सम्पत्ति और विपत्ति, आचार और व्यभिचार आदि सब बातों का जिम्मेवार राजा है। उस पर केवल प्रजा के इसी लोक के सुधारने का उत्तरदायित्व ही नहीं है परन्तु प्रजा के परलोक सुधारने का भी वह जिम्मेवार है। वास्तव में सम्राट् अशोक ने अपनी जिम्मेदारी को खूब समझा था और उन्होंने जितनी उत्तमता से अपने कर्तव्य को पूरा किया उतना शायद संसार के किसी नृपति ने न किया होगा।
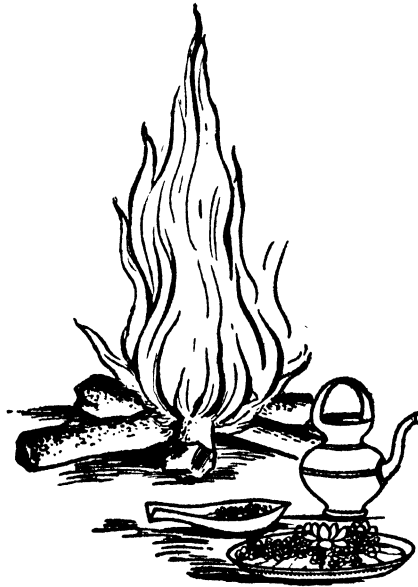
अकबरकालीन जैन साधु उपाध्याय भानुचन्द्र

(जीवन पर एक दृष्टि)

आचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि

गुजरात में सिद्धपुर नगर में (आजकल यह स्थान बड़ौदा राज्य के अन्तर्गत है) रामजी शाह नाम का एक बनिया था। उसकी पत्नी का नाम रमादे था। इनके दो पुत्र थे—रंगजी शाह और भानजी शाह। जब भानजी शाह दस वर्ष के हुए तो दोनों भाइयों को पंन्यास सूरचन्द्रजी का व्याख्यान सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। बाद में दोनों भाई पंन्यास सूरचन्द्रजी से दीक्षा लेकर साधु हो गये और इनके नाम क्रम से रंगचन्द्र और भानुचन्द्र रखे गये। पंन्यास सूरचन्द्रजी हाण ऋषि के शिष्य सकलचन्द्र उपाध्याय के शिष्य थे। इस प्रकार भानुचन्द्र शिष्य परम्परा में तो हाण ऋषि की परम्परा में थे, पर आचार्य-परम्परा में हीरविजय सूरि की आज्ञा में थे। जब भानुचन्द्रजी जैन शास्त्रों का अच्छे प्रकार अध्ययन कर चुके तो आचार्य हीरविजय ने इन्हें पंन्यास (पण्डित) पद से विभूषित किया।[१]

भानुचन्द्रजी की प्रखर बुद्धि को देखकर हीरविजय सूरि ने इन्हें अकबर के दरबार में भेजा, उन्हें आशा थी कि ये अपनी बुद्धि के बल पर अकबर को प्रभावित करके जैन-संघ को लाभ पहुँचायेंगे। आचार्य की आज्ञा से भानुचन्द्र लाभपुर (लाहौर) गये और वहाँ के जैन गृहस्थों ने उनका बहुत अधिक आदर किया और उन्हें एक उपाश्रय में ठहरा दिया। यहाँ अकबर के मंत्री अबुलफजल ने भानुचन्द्रजी को अपने साथ राजकीय दरबार में ले जाकर अकबर से भेंट कराई। भानुचन्द्रजी के बातचीत करने के ढंग तथा बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तरों से अकबर बहुत प्रभावित हुआ और उसने भानुचन्द्रजी से प्रतिदिन दरबार में आने की प्रार्थना की। साथ ही अकबर ने द्वारपालों को यह आदेश दे दिया कि भानुचन्द्रजी को प्रतिदिन दरबार में आने की सुविधाएँ दी जायँ। अकबर के समय में जो प्रतिष्ठा इन्होंने प्राप्त की, वह जहाँगीर के काल में भी निरन्तर बनी रही। इस प्रतिष्ठा का महत्त्व इसी से प्रकट है कि अकबर ने भानुचन्द्रजी को अपने राजकुमारों—सलीम और दानियाल—की शिक्षा के लिए नियुक्त किया था।[२]

१—संघवी ऋषभ कवि प्रणीत 'श्री हीरसूरिरास' (श्री आनन्द काव्य-महोदधि भाग ५) पृष्ठ १७६-१८१

२—जांगीरसा ने दानिआर, भणे जैन शास्त्र तिहाँ सार;
कहे अकबर गाजी मीर, भाणचन्द ते अबल फकीर।
—श्री हीरसूरि रास (आ० का० म०, भाग ५), पृष्ठ १८०

इसी प्रकार जहाँगीर ने अपने राजकुमार शहरयार के शिक्षण के लिए भी भानुचन्द्र से निवेदन किया था।[3]

स्वयं अकबर भी भानुचन्द्र से पढ़ा करता था। इसका उल्लेख सिद्धिचन्द्र-विरचित 'भानुचन्द्र गणिचरित' में मिलता है। एक बार अकबर ने दरबार में रहनेवाले ब्राह्मणों से सूर्य के सहस्र नाम माँगे, परन्तु वे उन्हें कहीं प्राप्त नहीं हो रहे थे। भाग्यवशात् किसी बुद्धिमान् ने उन्हें वे नाम दे दिये और उन्होंने वे नाम अकबर के सम्मुख प्रस्तुत किये। उन्हें अकबर देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, और उसने ब्राह्मणों से ऐसे व्यक्ति की माँग की जो इन नामों को उसे समझा सके। ब्राह्मणों ने उत्तर दिया कि इन नामों को ऐसा व्यक्ति ही समझा सकता है जिसने वासनाओं का दमन कर लिया हो, भूशायी हो तथा ब्रह्मचारी हो। तब, अकबर की दृष्टि भानुचन्द्र की ओर गई और उसने कहा कि ऐसे व्यक्ति तो आप ही हैं। मुझे इन नामों को पढ़ाया कीजिए।[4] इस प्रकार भानुचन्द्र उन्हें प्रतिदिन सूर्य सहस्रनामों का अभिप्राय समझाने के लिए जाया करते थे।

उन दिनों लाहौर किले में जैन साधुओं के निवास के लिए कोई उपाश्रय नहीं था। भानुचन्द्र की यह इच्छा थी कि यहाँ कोई उपाश्रय बनना चाहिए। पर उसके लिए स्थान प्राप्त करना अति दुष्कर था, क्योंकि म्लेच्छ तथा अजैन लोग जैन धर्म से द्वेष रखते थे। तो भी भानुचन्द्र ने एक युक्ति सोची और उसके अनुसार एक दिन वे अकबर को पढ़ाने के लिए देर से गये। अकबर ने इसका कारण पूछा तो भानुचन्द्र ने उत्तर दिया कि मेरे पास कोई उपयुक्त स्थान नहीं है, जो है वह अत्यन्त संकीर्ण स्थान है तथा दूर है। इसलिए राज-दरबार में आने में कठिनाई होती है। अकबर ने उनके निवास के लिए अपने प्रासाद में स्थान देना चाहा, पर वह भानुचन्द्र के अभिप्राय के अनुकूल न था। इसलिए अकबर ने उन्हें एक भूमि का टुकड़ा दे दिया। वहाँ स्थानीय श्रावकों ने एक उपाश्रय बनवाया तथा वहीं एक शान्तिनाथ स्वामी का चैत्य भी बनवा दिया।[5]

इसके अतिरिक्त अकबर के दरबार में रहकर उपाध्याय श्री भानुचन्द्रजी ने एक

३—विजय तिलक सूरिरास (ऐतिहासिक रास संग्रह भाग ४) में इस प्रकार पद है:—

मिल्या भूप नई, भूप आनंद पाया,
भलई तुमे भलई आहीं भाणचन्द आया;
तुम पासिथिई मोहि सुख बहूत होवइ,
सहरिआर भणवा तुम वाट जोवइ। १३०९
पढ़ावो अह्म पूत कुं धर्म्म वात,
जिउं अवल सुणता तुम्ह पासि तात;
भाणचन्द ! कदीम तुमे हो हमारे
सब ही थकी तुह्म हो हम्महि प्यारे। १३१०

४—श्री भानुचन्द्र गणिचरित (सिंघी जैन ग्रन्थमाला) पृष्ठ १४-१५, द्वितीय प्रकाश, श्लोक ६७-७१

५—उपर्युक्त ग्रन्थ, पृष्ठ १८-१९, द्वितीय प्रकाश, श्लोक १२२-१३५

तो शत्रुञ्जय के यात्रियों पर से जजिया कर हटवा दिया[६] तथा ग्वालियर (गोपाचल) के किले में जो दिगम्बर जैन मूर्तियाँ आक्रान्ताओं और दुष्ट जनों द्वारा विकृत कर दी गई थीं, उनका जीर्णोद्वार आपने अकबर की सूचना से उसी के राजकीय कोष से करवाया।[७] ग्वालियर के किले में जैन मूर्त्तियों के होने का समर्थन 'हीरसौभाग्यम्' काव्य से भी होता है।[८] आज भी किले के अन्दर और बाहर हजारों मूर्त्तियाँ खण्डितावस्था में पड़ी हैं। किले में वर्ष में एक बार दिगम्बर जैनों का एक मेला भी लगता है।

यद्यपि भानुचन्द्र स्वयं श्वेताम्बर जैन थे, परन्तु उन्होंने दिगम्बर जैन मूर्त्तियों के जीर्णोद्धार के प्रति कोई पक्षपात नहीं प्रदर्शित किया। इससे उनकी उदार प्रवृत्ति का परिचय प्राप्त होता है। इस प्रकार श्वेताम्बरों का दिगम्बरों के प्रति व्यवहार का यह हमें प्रथम ही उदाहरण प्राप्त हुआ है। भानुचन्द्र श्वेताम्बर जैन थे और तपागच्छ के थे तथा जहांगीर ने इन्हें तपागच्छ का प्रमुख लिखा है।[९]

६ – उपर्युक्त ग्रन्थ पृष्ठ २५, तृतीय प्रकाश, श्लोक ३६-४२

७— ,, पृष्ठ ३५-३६, चतुर्थ प्रकाश, श्लोक १२३-१२९

अथ प्रतस्थिवान् जेतुं दाक्षिणात्यनृपान्नृप: ।
चतुरङ्गचमूचक्रैर्युक्तश्चक्रीव मूर्तिमान् ॥१२३॥
प्रयाणैश्च रिपुप्राणप्रहाणप्रवणै: क्रमात् ।
गोपाचलेति विख्यातं दुर्गदुर्गमुपागमत् ॥१२४॥
तत्र चाद्रिं समुत्कीर्य केनचिज्जैनभूभुजा ।
निर्मापितानि विद्यन्ते जैनबिम्बानि लक्षश: ॥१२५॥
तानि व्यङ्गानि संवीक्ष्य विहितानि दुरात्मभि: ।
अवोचत् खेदभृत् क्ष्माभृद्वाचकान् स्वच्छमानस: ॥१२६॥
'यो गुणी प्रगुणी कुर्याद् बिम्बान्येतानि बुद्धिमान् ।
तस्मै मत्कोशतो द्रव्यं प्रयच्छामि यथेप्सितम्' ॥१२७॥
इत्थं तस्मिन्नुत्तमत्वाविसंवादिप्रवादिनि ।
तस्मै तत्कृत्ययोग्यं ते श्राद्धमेकमदर्शयन् ॥१२८॥
तेन श्राद्धेन तद्द्रव्यात् तत्कृत्यमचिरात्कृतम् ।
विलम्ब: सर्वथा धर्मे यतो नौचित्यमञ्चति ॥१२९॥

८—गोपालशैलेऽथ सुपर्वसद्मावष्टम्भनस्तम्भ इवाभ्युपेत्य ।
समं जनौघैर्जिनसार्वभौमं ककुब्धकेतुं नतवान्व्रतीन्द्र: ॥२५१॥
द्वापञ्चाशद्गजमितवृषभप्रतिमां स सिद्धशैल इव ।
प्रभुरपरा अपि तस्मिन्मूर्त्तीर्जैनीरनंसीत्स: ॥२५२॥

—हीरसौभाग्यम् (निर्णयसागर प्रकाशन) सर्ग १४, पृष्ठ ७२६

९—The Tuzuk-I-Jahangiri Or Memoirs of Jahangir. पृष्ठ ४३७ तथा पृष्ठ ४५४

श्री भानुचन्द्र गणिचरित से यह भी ज्ञात होता है कि शेख अबुलफजल ने भानुचन्द्र से 'षड्दर्शन-समुच्चय' पढ़ने की इच्छा प्रकट की थी, जिसे स्वीकार करके भानुचन्द्र ने नियमित रूप से शेख को शिक्षा देनी प्रारम्भ कर दी। शेख अबुलफजल पढ़ते समय भानुचन्द्र के प्रवचनों को लिपिबद्ध करते जाते थे।[१०] आइने अकबरी में अबुलफजल ने जहाँ भारत में प्रचलित धर्मों का वर्णन किया है वहाँ जैन श्वेताम्बर धर्म के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि श्वेताम्बर जैन-धर्म का ज्ञान उसे श्वेताम्बर जैन साधु से ही प्राप्त हुआ है।[११] ये जैन साधु उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार भानुचन्द्र उपाध्याय ही प्रतीत होते हैं। यह भी एक आश्चर्य का विषय है कि अबुलफजल ने जैन-धर्म पर एक-आध स्थल को छोड़कर इतने अधिक सुन्दर ढंग से लिखा है कि विरले ही लेखक इस प्रकार लिखने में सफल हो सके हैं।

अबुलफजल ने आइने अकबरी में दरबार में रहनेवाले विद्वानों का वर्गीकरण किया है। प्रथम वर्ग में वे लोग थे जो कि दोनों लोकों के रहस्य को जानते थे, दूसरे वर्ग में मन और हृदय के रहस्यों के ज्ञाता थे, तीसरे वर्ग में धर्म और दर्शनशास्त्र के ज्ञाता थे, चौथे वर्ग में दार्शनिक थे और पाँचवें वर्ग में वे लोग थे जो कि परीक्षणों तथा पर्यालोचनों पर आश्रित विज्ञान के जाननेवाले थे। इन सम्पूर्ण वर्गों में केवल तीन जैन विद्वानों के नाम अबुलफजल ने गिनाये हैं। इनमें आचार्य श्री हीरविजय सूरि तो प्रथम वर्ग में थे, और विजयसेन सूरि तथा भानुचन्द्र उपाध्याय पाँचवें वर्ग में थे।[१२]

भानुचन्द्रजी को उपाध्याय पद अकबर के आग्रह से दिया गया था। अकबर ने एक बार भानुचन्द्रजी के वार्तालाप से प्रसन्न होकर यह पूछा कि जैन समाज में सबसे बड़ा पद कौन सा है। भानुचन्द्र ने उत्तर दिया, सबसे बड़ा पद 'आचार्य' है और उससे छोटा 'उपाध्याय' है। अकबर ने उन्हें आचार्य-पद से सम्मानित करना चाहा, पर भानुचन्द्र ने कहा कि इस पद के मैं अभी योग्य नहीं हूँ, वर्त्तमान समय में तो इस पद के योग्य केवल आचार्य श्री हीरविजय सूरि हैं। अबुलफजल के परामर्श पर अकबर ने इन्हें 'उपाध्याय' पद देना चाहा, तो जैन समाज के किसी प्रमुख व्यक्ति ने अबुलफजल को सुझाया कि इस कार्य के लिए हमारे समाज स आचार्य की अनुमति आवश्यक है, आप

१०—अन्येद्युः प्रश्नयांचक्रुस्तानाऽऽहूय स गौरवम्।
स्वयं व्युत्पित्सवः शेखाः षड्दर्शनसमुच्चयम् ॥५८॥
तदुक्तं सविशेषं तत् श्रुत्वा श्रीशेखपुङ्गवः।
प्रोचे श्रीमन्मुखादेव शिक्षणीयमिदं मया ॥५९॥
प्रारेभे तल्लिपीकर्तुं श्रीशेखैः प्रत्यहं ततः
तद्दिनादभवत्तेषां प्रीतिः स्फीतिमतां मिथः ॥६०॥

—श्री भानुचन्द्र गणिचरित, द्वितीय प्रकाश।

११—आइने अकबरी, तीसरा भाग (एच० एस० जैरट द्वारा अनूदित) पृष्ठ २१०

१२—आइने अकबरी, प्रथम भाग (एच० ब्लाखमैन द्वारा अनूदित, द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ६०७ से ६१७।

वह हीरविजय सूरि से मँगवा लें। अबुलफजल ने एक पत्र द्वारा हीरविजय सूरि से अनुमति मँगवाई। हीरविजय सूरि ने अनुमति के साथ वासक्षेप भी भेजा। इस प्रकार भानुचन्द्र उपाध्याय पद से सम्मानित किये गये।[१३] इस घटना का समर्थन हीर-सौभाग्य काव्य[१४] और हीरसूरि रास[१५] से होता है।

भानुचन्द्र उपाध्याय ने राज-दरबार में रहते समय जो कुछ साहित्य कार्य किया, वह इस प्रकार है :

१—सूर्यसहस्रनामस्तोत्रम्

२—रत्नपालकथानकम्

३—वसन्तराजशकुनशास्त्रवृत्ति:

४—कादम्बरी—पूर्वार्द्ध टीका

५—सारस्वत व्याकरणवृत्ति: (भाव्यं, टिप्पणं, विवरणं वा)

६—काव्यप्रकाशवृत्ति:

७—नामश्रेणिवृत्ति: (नामसंग्रह:, नाममाला, विविक्तनामसंग्रहो वा)

८—विवेकविलासटीका

९—षट्त्रिंशिकावृत्ति (ईर्यापथिकी)

भानुचन्द्र ने राजदरबार में रहकर जो कुछ किया उस पर जहाँगीर के निम्न फरमान से अच्छा प्रकाश पड़ता है :—

बड़े कामों से सम्बन्ध रखनेवाली आज्ञा देनेवालों, उनको अमल में लानेवालों, उनके अहलकारों तथा वर्तमान और भविष्य के मुत्सद्दियों.........आदि और मुख्यतया सोरठ सरकार को—जिसे शाही सम्मान प्राप्त है तथा भविष्य में अन्य सम्मानों की आशा रख सकती है—ज्ञात हो कि **भानुचन्द्र** यति और 'खुशफहम' के खिताबवाले **सिद्धिचन्द्र** यति ने हमसे प्रार्थना की कि,—"जजिया, कर, गाय-बैल-भैंस और भैंसे की हिंसा, प्रत्येक मास के नियत दिनों में हिंसा, मरे हुए लोगों की सम्पत्ति पर अधिकार करना, लोगों को कैद करना और सोरठ सरकार द्वारा शत्रुंजय के तीर्थयात्रियों से वसूल किये जानेवाला कर,—इन सब बातों की आला हजरत (अकबर बादशाह) ने मनाही और माफी की है।" और, क्योंकि हम प्रत्येक व्यक्ति पर कृपालु हैं इसलिए हमने निम्न तिथियों में (पशुओं की हत्या का) निषेध कर दिया है, (इन तिथियों में) एक वह मास और जोड़ लिया जाय, जिसके अन्त में हमारा जन्म हुआ है। हमारे इस श्रेष्ठ आज्ञापत्र के अनुसार अनुसरण किया जाय।

तथा विजयदेव सूरि और विजयसेन सूरि—जो कि गुजरात में हैं—की अच्छी प्रकार देख-रेख की जाय और भानुचन्द्र तथा सिद्धिचन्द्र के लौटने के बाद उनकी भी सार-

---

१३—श्री भानुचन्द्र गणिचरित, द्वितीय प्रकाश, श्लोक १६६-१८६

१४—हीरसौभाग्य काव्य (निर्णयसागर), सर्ग १४, श्लोक २८६

१५—श्री हीरसूरिरास (आ० का० म०) पृष्ठ १८३

सँभाल की जाय। वे जो कुछ काम कहें उसे पूरा कर दिया जाय, जिससे वे जीते गये राज्य को सर्वदा स्थिर होने की 'दुआ' करने में दत्तचित्त रहें।

और, पूना परगने में एक वाटिका है, उसमें उन्होंने अपने गुरु हीरजी (हीर-विजय सूरि) की चरणपादुका स्थापित की है। उसे पुरानी रीति के अनुसार 'कर' आदि से मुक्त समझकर, उसके सम्बन्ध में कोई विघ्न नहीं डालना।

लिखा (गया) ता० १४ शहेरीवार महीना, सन् इलाही ५५ (विक्रम संवत् १६६७ आसो वदी ४)[१६]

१६—सूरीश्वर और सम्राट् (हिन्दी संस्करण) पृष्ठ ३८७,
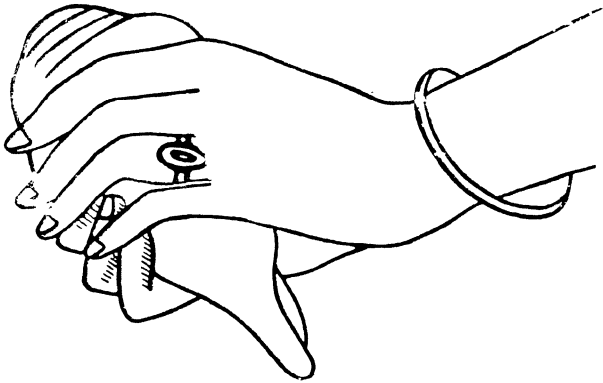
वैशाली गणतन्त्र का अध्यक्ष राजा चेटक

श्री विद्यासागर विद्यालंकार

ऐतिहासिक विद्वानों ने कुछ प्राचीन भारतीय गणतन्त्रों (प्रजातन्त्रों) की सत्ता को तो प्राय: एकमत से स्वीकार कर लिया है, पर उसके अध्यक्ष के सम्बन्ध में कोई विवरण अभी तक उपस्थित नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में जो विवरण प्राप्त है उसके आधार पर विभिन्न राज्यों और राजाओं के पारस्परिक सम्बन्धों, नीति और सामाजिक स्थिति आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ब्राह्मण सम्प्रदाय के ग्रन्थों में गणतन्त्रों का वैसा विस्तृत विवरण नहीं दिया गया जैसा जैन और बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है। परन्तु राजा चेटक के सम्बन्ध में भी बौद्धग्रन्थ प्राय: चुप ही हैं और जो कुछ वर्णन मिलता है वह केवल जैन ग्रन्थों में ही मिलता है।

राजा चेटक और उसके सम्बन्ध

बौद्ध साहित्य के अनुसार वज्जीसंघ लिच्छवियों का ही गणतन्त्र था। यह जाति महात्मा बुद्ध के समय एक अत्यन्त शक्तिशाली जाति थी और इसकी राजधानी वैशाली थी।[१] निरयावलियाओ[२] के अनुसार यह गणतन्त्र केवल लिच्छवियों का नहीं था अपितु मल्लों और लिच्छवियों दोनों का सम्मिलित गणतन्त्र था। इसी गणतन्त्र का अध्यक्ष राजा चेटक था। शासन-कार्य संचालन के लिए राजा चेटक के साथ नौ लिच्छवि गण राजा और नौ मल्ल राजा रहते थे।[३] इस राजा चेटक के पारिवारिक इतिहास के सम्बन्ध में आवश्यक चूर्णि[४] में इस प्रकार वर्णन मिलता है: 'वैशाली नगरी में हैहय वंश में राजा चेटक का जन्म हुआ था। इस राजा की भिन्न-भिन्न रानियों से सात पुत्रियाँ हुई थीं जिनके नाम ये

१—डिक्शनरी आफ पाली प्रापर नेम्स, भाग २, पृष्ठ ७७६

२—निरयावलियाओ, पृष्ठ २७

३— ,, पृष्ठ २७

४—पाठ इस प्रकार है: एतो य वेसालीए नगरीए चेडओ राया हेहयकुलसंभूतो, तस्स देवीणं अण्णमण्णाणं सत्त धूताओ—पभावती, पउमावती, मिगावती, सिवा, जेट्ठा, सुजेट्ठा, चेल्लणति। सो चेडओ सावओ परविवाहकरणस्स पच्चक्खातं। धूताओ ण देति कस्सति। ताओ मातिमिस्सगाओ रायं आपुच्छित्ता अण्णेसिं इच्छितकाणं सरिसगाणं देति। पभावती वीतिभए उदायणस्स दिण्णा, पउमावती चंपाए दहिवाहणस्स, मिगावती कोसम्बीए सताणियस्स, सिवा उज्जेणीए पज्जोतस्स, जेट्ठा कुंडग्गामे वद्धमाणसामिणो जेट्ठस्स नन्दिवद्धणस्स दिण्णा, सुजेट्ठा चेल्लणा य दो कण्णगाओ अच्छंति।

—आवश्यक चूर्णि (उत्तरभाग) पत्र १६४

थे : १—प्रभावती, २—पद्मावती, ३—मृगावती, ४—शिवा, ५—ज्येष्ठा, ६—सुज्येष्ठा, और ७—चेल्लणा।······प्रभावती वीतिभय के उदायन को, पद्मावती चम्पा के दधिवाहन को, मृगावती कौशाम्बी के शतानीक को, शिवा उज्जयिनी के प्रद्योत को और ज्येष्ठा कुण्डगाम के वर्धमान स्वामी के बड़े भाई नन्दिवर्धन को ब्याही गई थी। सुज्येष्ठा और चेल्लणा तब तक कुमारी ही थीं।'

यही वर्णन त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र[५] में भी इसी प्रकार से मिलता है। इस वर्णन से यह प्रकट होता है कि राजा चेटक ने अपनी बड़ी कन्या को तो सिन्धु-सौवीर के राजा उदायन के साथ ब्याह कर उससे मैत्री स्थापित की थी। उत्तराध्ययन नेमिचन्द्र-कृत टीका[६] में मूल पाठ स्थान स्थान पर '**उद्दायण**' है। इसका संस्कृत रूप उदायन नहीं अपितु **उद्रायण** होगा। बौद्ध ग्रन्थों से भी उदायन नाम की नहीं अपितु उद्रायण नाम की पुष्टि होती है।[७] आवश्यक चूर्णि के उपर्युक्त छपे उद्धरण में यद्यपि पाठ उदायण दिया गया है परन्तु प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में उद्दायण है। इसी उद्रायण राजा का संग्राम अपने सम्बन्धी (साढ़ू) उज्जयिनी के राजा प्रद्योत से हुआ था। इसका विस्तृत विवरण त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में उपलब्ध है।

राजा चेटक का जहाँ सिन्धु-सौवीर जैसे दूर देश में सम्बन्ध स्थापित हो गया था, वहाँ अपने राज्य की पश्चिमी सीमा के साथ संलग्न वत्सदेश के राजा शतानीक को मृगावती और दक्षिणी सीमास्थित अङ्ग देश के राजा दधिवाहन को पद्मावती ब्याह दी। एक कन्या—शिवा—मध्यभारत में उज्जयिनी के राजा प्रद्योत को ब्याह दी। ज्येष्ठा अपने ही राज्य में राजा सिद्धार्थ के पुत्र तथा महावीर स्वामी के बड़े भाई नन्दिवर्धन को ब्याह दी। यहाँ यह स्मरण रखने की बात है राजा सिद्धार्थ राजा चेटक के बहनोई थे[८]। महावीर

५—श्री हेमचन्द्राचार्य विरचित त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक १८४-१९३।

६—उत्तराध्ययनसूत्र नेमिचन्द्रकृत टीका, पत्र २५४-२५५

७—दिव्यावदान (पृष्ठ ४६७) में निम्न श्लोक में उद्रायण पाठ है:

मुक्तो ग्रन्थैश्च योगैश्च शल्यैर्निर्वरणैस्तथा।
अद्याप्युद्रायणो भिक्षू राजधर्मैर्न मुच्यते॥

८—आवश्यक चूर्णि (पूर्व भाग) पत्र २४५ में पाठ इस प्रकार है: 'भगवतो माया चेडगस्स भगिणी, भो(जा)यी चेडगस्सधूया।' अर्थात् भगवान् महावीर की माता चेटक की बहिन थी और भौजाई चेटक की पुत्री।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि महावीर स्वामी के भाई का विवाह अपने मामा की लड़की से हुआ था। इसी प्रकार महावीर स्वामी की पुत्री प्रियदर्शना का ब्याह उनके भानजे जमालि क्षत्रिय के साथ हुआ था। हारिभद्र कृत आवश्यक-सूत्र-टीका पृष्ठ ३१२ पर पाठ दिया है : 'कुण्डपुरनगरं तत्थ जमाली सामिस्स भाइणिज्जो······तस्स भज्जा सामिस्स दुहिता।' ऐसा प्रतीत होता है, प्राचीन काल में कुछ देशों में ऐसी प्रथा प्रचलित थी जहाँ मामा की लड़की पर भानजे का प्रथम अधिकार माना जाता था। आज भी त्रावनकोर रियासत में गद्दी का

स्वामी की माता 'विदेहदत्ता' इसी कारण कहलाती थीं, क्योंकि राजा चेटक का घराना विदेह नाम से प्रसिद्ध था। उस घराने से दिये जाने के कारण ही यह नाम प्रसिद्ध हुआ।[९]

मगध के राजा श्रेणिक [बिम्बसार] ने राजा चेटक की कन्या सुज्येष्ठा के रूप और यौवन की ख्याति सुनकर उससे विवाह के लिए राजा चेटक के पास प्रस्ताव भेजा। पर राजा चेटक ने इसका उत्तर दिया : 'वाहीक कुल में उत्पन्न होकर हैहयवंश की कन्या से विवाह करना चाहता है !'[१०] और अपनी कन्या का श्रेणिक से विवाह करना अस्वीकार कर दिया। तब श्रेणिक ने अपने दूतों द्वारा सुज्येष्ठा को अपनी ओर आकृष्ट किया और वह श्रेणिक से प्रेम करने लगी। सुज्येष्ठा की सम्मति से एक सुरंग द्वारा उसके हरण की योजना तैयार की, पर भाग्यवशात् वह सुज्येष्ठा की छोटी बहन चेलणा को तो ले गया और सुज्येष्ठा पीछे रह गई। इस घटना से सुज्येष्ठा को वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह दीक्षा लेकर साध्वी हो गई।

वाहीक और उनका देश

राजा चेटक ने श्रेणिक को विवाह के सम्बन्ध में जो उत्तर दिया है वह महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि मगध देश की सीमाएँ राजा चेटक के गणतन्त्र संघ की सीमा के साथ बिलकुल लगी हुई थीं। ऐसी स्थिति में उसके साथ मैत्री-सम्बन्धों का होना राजनीतिक दृष्टि से बहुत आवश्यक था। इस स्थिति को राजा चेटक भी अवश्य जानता होगा, फिर भी उसके साथ मैत्री—सम्बन्ध विवाह द्वारा स्थापित करने से राजा चेटक ने जो इनकार किया उसका उत्तर उपर्युक्त श्लोक में 'वाहीककुलजो' से स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् राजा चेटक तथा उस काल के अन्य लोग भी वाहीक कुल के इस राजघराने को घृणा की दृष्टि से देखते थे। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यह राजघराना वस्तुतः मगध का नहीं था अपितु पंजाब से इस ओर आया था। पाँच नदियों और छठीं सिन्धु नदी के बीच जो लोग बसनेवाले हैं वे ही वाहीक कहाते थे।[११] अधिक विस्तार से वाहीक देश

उत्तराधिकारी महाराजा का लड़का नहीं अपितु भानजा होता है। महाराष्ट्र में मामा की लड़की के साथ विवाह की सामान्य प्रचलित प्रथा है। इसी प्रकार झंग जिले में यह देखा गया है कि कुछ जातियों में अपने मामा और मौसी की लड़की से ब्याह कर लिया जाता है। महाभारत (कर्ण-पर्व अ० ४५, श्लोक १३) के अनुसार त्रावनकोर की भाँति वाहीक देश (पञ्जाब) में उत्तराधिकारी भानजा होता है।

९—आचारांगसूत्र पत्र ३८९ में पाठ इस प्रकार है :—

'समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मा वासिट्ठस्सगुत्ता तीसे णं तिन्नि नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा तिसला इवा विदेहदिन्ना इवा पियकारिणी इवा।'

१०—'वाहीककुलजो वाञ्छन् कन्यां हैहयवंशजाम्'।

—त्रि० श० पु० च०, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक २२६,

११—पञ्चानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिताः।
तान्धर्मबाह्यानशुचीन्वाहीकानपि वर्जयेत्॥

—महाभारत, कर्णपर्व, अध्याय ४४, श्लोक ७,

का ठीक स्थान इस प्रकार बताया गया है: हिमालय के बाहर जहाँ अनेक पीलुवन हैं और शतद्रु, विपाशा, इरावती, चन्द्रभागा, वितस्ता और सिन्धु ये छ: महानदियाँ बहती हैं वह आरट्ट नाम का वाहीक स्थान है।[१२] इस आरट्ट नाम की पुन: व्याख्या करते हुए कहा: जहाँ पर्वत से निकल कर पाँच नदियाँ बहती हैं वह आरट्ट अथवा वाहीक देश है।[१३] अर्थात् महाभारत के अनुसार हिमालय, गङ्गा, यमुना, सरस्वती और कुरुक्षेत्र से बाहर का देश जो कि सिन्धु नदी तथा उसकी पाँच सहायक नदियों के बीच पड़ता है वह आरट्ट अथवा वाहीक देश है।

इस देश के लोगों के प्रति चेटक की ही घृणा नहीं थी अपितु महाभारत के कर्ण पर्व में तो स्थान स्थान पर इनकी निन्दा कर कहा है कि ये दुराचारी और वैदिक धर्म[१४] को न माननेवाले होते हैं। इसलिए आर्यों को इस देश में दो दिन रहने के लिए भी मना किया है।[१५] वाहीक लोगों को प्रजापति की सन्तान न बताकर वहि और हीक नाम के पिशाचों की सन्तान बताया है।[१६] इसी प्रकार से साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ ने लिखा है: 'गौर्वाहीक:'—अर्थात् वाहीक लोग बैल होते हैं।[१७]

१२—पञ्चनद्यो वहन्त्येता यत्र पीलुवनान्युत ॥
शतद्रुश्च विपाशा च तृतीयैरावती तथा।
चन्द्रभागा वितस्ता च सिन्धुषष्ठा बहिर्गिरे: ॥
आरट्टा नाम ते देशा:················।

—म० भा० कर्णपर्व, अ० ४, श्लोक ३१-३३

१३—पञ्चनद्यो वहन्त्येता यत्र नि:सृत्य पर्वतात्।
आरट्टा नाम वाहीका:················।

—वही, अ० ४४, श्लोक ४०-४१

१४—सीधो: पानं गुरुतल्पावमर्दो भ्रूणहत्या परवित्तापहार:।
येषा धर्मस्तान्प्रति नास्त्यधर्म आरट्टजान्पाञ्चनदान्धिगस्तु।

—वही, अ० ४५, श्लो० ३८,

१५—न तेष्वार्यो द्व्यहं वसेत्। —वही, अ० ४४, श्लोक ४१,

१६—वहिश्च नाम हीकश्च विपाशायां पिशाचकौ।
तयोरपत्यं वाहीका नैषा सृष्टि: प्रजापते: ॥

—वही, अ० ४४, श्लो० ४१-४२

१७—गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज में प्रकाशित काव्यमीमांसा के सम्पादकों ने वाल्हीक और वाहीक दोनों को एक मान लिया है (देखो पृष्ठ ३०८)। इसी प्रकार 'ए न्यू हिस्ट्री आफ दी इण्डियन पीपल' भाग ६ में डा० आर० सी० मजूमदार ने वाल्हीक और वाहीक को एक समझकर व्यास नदी का प्रदेश बताया है (देखो १६८ पृष्ठ)। परन्तु वस्तुत: यह स्थापना ठीक नहीं है। काव्यमीमांसा और अभिधान-चिन्तामणि दोनों में वाहीक और वाल्हीक दोनों को पृथक्-पृथक् गिनाया गया है:

मगधाधिपति राजा कूणिक

ऊपर हमने यह निर्देश किया है कि राजा श्रेणिक ने राजा चेटक की कन्या चेल्लणा को भगाकर उससे विवाह किया था। चेल्लणा से जो सन्तानें हुई उनमें कूणिक (= अजातशत्रु) प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति है। यह स्वभाव से अत्यन्त क्रूर और दुष्ट था। इसने अपने पिता को, अपने भाइयों की सहायता से, षड्यन्त्र रचकर कैद कर लिया और उसको भोजन तथा जल के स्थान पर प्रातः और सायं सौ कोड़े लगवाता था।[१८] कूणिक (= अजातशत्रु) के दुष्ट स्वभाव के कारण कूणिक की माता चेल्लणा ने उसे धिक्कारते हुए कहा था: 'जब तू मेरे गर्भ में तीन मास का ही था, तभी तूने अपने पिता के उदर का मांस खाना चाहा था, उस इच्छा को तेरे पिता ने अपने उदर में से मांस-रक्त देकर पूरा किया था। तेरे इस दुष्ट स्वभाव को जानकर तेरे जन्म लेने पर मैंने तुझे अशोक वृक्ष के नीचे फिकवा दिया था। पर तेरे पिता ने स्नेहवश तुझे वहाँ से उठवा कर तेरा पालन-पोषण किया, उसी पिता के प्रति तेरा यह उपकार है!'[१९] यह वर्णन वस्तुतः वाहीक कुल के अनुकूल ही था। कूणिक को यह स्वभाव अपने कुल के उत्तराधिकार रूप में प्राप्त हुआ था।

राजा चेटक और कूणिक

कूणिक ने केवल अपने पिता के साथ ही दुर्व्यवहार नहीं किया था, अपने नाना राजा चेटक के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया। यह एक आश्चर्य का विषय है कि जिस वैशाली गणतन्त्र संघ ने अपनी शक्ति और संगठन के बल पर विशेष ख्याति प्राप्त की थी—जिसकी प्रशंसा महात्मा बुद्ध को भी करनी पड़ी थी—उसे उस संघ के अध्यक्ष राजा चेटक के दौहित्र राजा कूणिक वाहीक ने अपनी कूटनीति द्वारा नष्ट कर दिया।

(i) ततश्च स पाञ्चालान्प्रत्युच्चचाल यत्र पाञ्चालशूरसेन-हस्तिनापुर-काश्मीरवाहीक वाल्हीक-वाह्लेयादयो जनपदाः।

—काव्यमीमांसा (गायकवाड़ सिरीज) पृष्ठ ८

(ii) वाहीकाष्टक्क नामानः वाल्हीका वाल्हिकाह्लयाः।

—अभिधान चिन्तामणि ४।२५

दी जर्नल आफ दी यूनाइटिड प्राविन्सिज हिस्टारिकल सोसायटी के सं० १७ और भाग १ (जुलाई १९४४) में 'जियोग्राफिकल एण्ड इकानामिक स्टडीज इन दी महाभारत' लेख में श्री मोतीचन्द्र एम० ए० ने पृष्ठ ६८ के सम्मुखस्थ मान-चित्र में वाहीक देश को ऊपर वर्णित महाभारत के अनुसार माना है और वाल्हीक देश बलख माना है।

१८—कथाकोश (पण्डित जगदीशलाल शास्त्री द्वारा सम्पादित) ० १२९—'पूर्वाह्णेऽपराह्णे कशानां शतेन हन्ति, भक्तपानं च कारितम्।'

१९—निरयावलियाओ, पृष्ठ १३-१४; निरयावलियाओ के अनुसार कूणिक के बड़े भाई अभयकुमार ने वस्तुतः राजा श्रेणिक के उदर का मांस-रक्त नहीं अपितु किसी अन्य प्रबन्ध द्वारा रक्त-मांस रानी को दिया था। पर चेल्लणा को इस सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं था।

इसका कारण तथा इसकी कथा निरयावलियाओ[20], त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र[21], और कथाकोश[22] में प्राप्त होती है।

राजा श्रेणिक ने अपने जीवन-काल में चेलणा के पुत्र और कूणिक के छोटे भाई हल्ल और वेहल्ल[23] को सेयणग हाथी और अट्ठारसवंक हार दिया था। राजा कूणिक की पत्नी पद्मावती ने इन्हें प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। कूणिक ने पत्नी के आग्रह से हल्ल और वेहल्ल से इन्हें माँगा। हल्ल और वेहल्ल ने कूणिक को इस शर्त के साथ देना स्वीकार किया कि कूणिक दोनों भाइयों को आधा राज्य दे दे। पर कूणिक ने उनकी बात पर ध्यान न देकर अपनी माँग का ही पुन: पुन: दोहराया। दोनों भाइयों ने यह सोचकर कि यदि हम ये वस्तुएँ कूणिक को नहीं देंगे तो मार दिये जायेंगे, चम्पा से भाग कर वैशाली में अपने नाना राजा चेटक का आश्रय लिया। कूणिक ने अपने दूत को भेजकर हाथी, हार और हल्ल-वेहल्ल को चेटक से वापस माँगा। चेटक ने उत्तर दिया: 'कूणिक राजा श्रेणिक का पुत्र और मेरी पुत्री चेलणा से उत्पन्न है अतएव मेरा दौहित्र है, एवं हल्ल और वेहल्ल भी राजा श्रेणिक के पुत्र हैं और मेरी पुत्री चेलणा से उत्पन्न हैं अतएव मेरे दौहित्र हैं। इसलिए मेरे लिए तीनों एक समान हैं। राजा श्रेणिक ने अपने जीवन-काल में हल्ल और वेहल्ल को हाथी और हार दिये थे। यदि कूणिक इन दोनों को आधा राज्य देना स्वीकार करे तो मैं हाथी, हार और हल्ल-वेहल्ल को लौटा दूँगा।' परन्तु कूणिक ने इसे न मान कर युद्ध-घोषणा करके वैशाली पर आक्रमण कर दिया।

चेटक और कूणिक का युद्ध

इस युद्ध में कूणिक की ओर से उसके भाई काल आदि दस कुमार अपनी सेनाओं सहित भाग ले रहे थे। राजा चेटक की ओर नव मल्ल और नव लिच्छवि गण राजा अपनी सेनाओं सहित भाग ले रहे थे। निरयावलियाओ[24] के अनुसार कूणिक की सेनाओं में ३३ हजार हाथी, ३३ हजार घोड़े, ३३ हजार रथ और ३३ करोड़ पदाति सैनिक थे। राजा चेटक की सेनाओं में ५७ हजार हाथी, ५७ हजार घोड़े, ५७ हजार रथ, ५७ करोड़ पदाति थे। आवश्यक चूर्णि[25] के अनुसार यह युद्ध १२ वर्ष तक चला। यह युद्ध दो प्रकार था: (१) रथमूसल, (२) महाशिला कण्टक। भगवतीसूत्र के अनुसार रथमूसल संग्राम वह है जिसमें अश्वरहित, सारथिरहित, योद्धारहित परन्तु मूसलयुक्त रथ युद्ध में

२०—निरयावलियाओ पृष्ठ १८-२६

२१—त्रि० श० पु० च०, पर्व १०, सर्ग १२

२२—कथाकोश, पृष्ठ १२८-१३५

२३—निरयावलियाओ में केवल वेहल्ल के नाम का ही उल्लेख है, हल्ल का नहीं।

२४—निरयावलियाओ, पृष्ठ २५-२६

२५—आवश्यक चूर्णि (उत्तरभाग) पृष्ठ १७३
'एवं बारस वासा जाता रोहिज्जं तस्स'

चारों ओर दौड़कर जनसंहार करता है और रक्त की नदी बह जाती है।[२६] महाशिला कण्टक वह संग्राम है जिस में घोड़ा, हाथी, योद्धा और सारथि तृण, काष्ठ, पत्ता आदि की मार को ऐसा अनुभव करते थे मानों वे महाशिला से मारे जा रहे हों।[२७] रथमूसल युद्ध में तो ९६ लाख व्यक्ति मारे गये और महाशिला कण्टक युद्ध में ८४ लाख मनुष्य मारे गये।[२८] इस युद्ध में राजा चेटक की हार हुई और इस हार से दुःखी होकर राजा चेटक एक कुएँ में कूद पड़ा। क्रोध से अंधे कूणिक ने वैशाली को गधों के हल से जुतवाया और सारी नगरी को समतल कर दिया।[२९]

राजा चेटक की पराजय के कारण

कूणिक ने यद्यपि वैशाली पर आक्रमण का तात्कालिक कारण हल्ल और वेहल्ल का वैशाली में भागकर आश्रय लेना बताया; परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी थे जो कि कूणिक को अपने साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे। जैन[३०] और बौद्ध ग्रन्थों[३१] के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन वैशाली गणतन्त्र संघ अत्यन्त सम्पन्न और समृद्ध था। वैशाली की सम्पन्नता ही कूणिक को खटकती थी। सीमा-विस्तार की इच्छा और वैशाली का वैभव कूणिक के लिए आकर्षण तो थे ही, दूसरा वैशाली गणतन्त्र के लोगों में जो उच्च कुलीन होने का भाव तथा मगध के राजकुल के प्रति घृणाभाव था, वह भी कूणिक को आक्रमण के लिए उकसाता था। मगध के इस वाहीक राजकुल के प्रति राजा चेटक की कितनी घृणा थी, यह चेटक के ऊपर उद्धृत वाक्य से प्रकट है। यद्यपि मगध की सीमाएँ और वैशाली गणतन्त्र संघ की सीमाएँ मिलती थीं तो भी सम्भवतः चेटक ने मगध को छोड़कर अन्य सीमास्थित सभी राज्यों से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। इसलिए मगध का प्रतिरोध कर सकने की भावना भी

२६—रहमुसले णं संगामे वट्टमाणे एगे रहे अणासए, असारहिए, अणारोहए, समुसले महया जणक्खयं, जहवहं, जणप्पमद्दं, जणसंवट्टकप्पं रूहिरकद्दमं करेमाणे सव्वओ समंता परिधावित्था, से तेणट्ठेणं जाव रहमुसले संगामे।

—भगवतीसूत्र, शतक ७, उद्देशक ६, सूत्र ६

२७—महासिलाकंटकए णं संगामे वट्टमाणे जे तत्थ आसे वा, हत्थी वा, जोहे वा, सारही वा, तणेण वा, पत्तेण वा, कट्टेण वा, सक्कराए वा, अभिहम्मति सव्वे से जाणेइ महासिलाए अहं अभिहए, से तेणट्ठेणं गोयमा! महासिलाकंटए संगामे।

—भगवतीसूत्र, शतक ७, उद्दे० ६, सूत्र ५

२८—भ० सू०, श० ७, उद्दे० ६, सूत्र ६ और १०

२९—उत्तराध्ययनसूत्र (नेमिचन्द्रकृत टीका) पत्र २; और त्रि० श० पु० च०, पर्व १०, सर्ग १२, श्लोक ४०३

३०—त्रि० श० पु० च०, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक १८४

३१—महापरिनिव्वाणसुत्त १,१

सम्भवत: चेटक के मन में रही होगी। कूणिक के मन में भी राजा चेटक की भावनाओं को नीचा दिखाने की सम्भावना हो सकती है। बौद्ध साहित्य से प्रतीत होता है कि कूणिक वैशाली गणतन्त्र को नष्ट करने के लिए बहुत समय से तैयारी कर रहा था। इसी सम्बन्ध में उसने बुद्ध से परामर्श माँगने के लिए अपने एक मन्त्री को भी भेजा था।

वैशाली नष्ट हो गया, उसके अध्यक्ष राजा चेटक को लोग भूल गये, पर उस वैशाली गणतन्त्र संघ की व्यवस्था और शासन-प्रणाली की उपेक्षा ऐतिहासिक विद्वान् न कर सके। इसलिए जब उस गणतन्त्र संघ का ज्ञान लोगों को हो गया तो स्वभावत: उससे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य बातों को भी लोग जानना चाहते हैं। उसी संघ के अध्यक्ष राजा चेटक के सम्बन्ध में यह एक जानकारी है।

———

DACCA

By Dr. Dines Chandra Sircar, M.A., Ph. D.

Department of Ancient Indian History and Culture,
University of Calcutta.

The real meaning of the name of Dacca (Bengali Ḍhākā) which is the second city of Bengal has not been satisfactorily determined. According to some writers, Dacca is a corruption of the name of the ancient kingdom of Ḍavāka which is mentioned in the Allahabad pillar inscription of the fourth century A. D. as a pratyanta (bordering state) of Samudragupta's empire. But serious students of history were never very enthusiastic about this theory. It is now usually believed that the kingdom of Ḍavāka was situated in the valley of the river Kopili in the Nowgong District of Assam. Although the identification of Ḍavāka with the Nowgong District cannot be definitely proved in the present state of our knowledge, its equation with Dacca is totally unconvincing.

It is a general belief that the fame and prosperity of Dacca, which is the name of a city as well as of the region round it, are not older than the days of the Great Mughals. We know that the city is not mentioned in epigraphs of the pre-Muslim period. For a few centuries before and after the advent of the Mahomedans in Bengal in the beginning of the thriteenth century, the celebrated city of Vikramapura was the political centre of Eastern Bengal. There is difference of opinion as regards the location of this ancient city; but some writers hold that it was washed away by the waters of the river Padmā whose erosive activities in the neighbourhood of the Vikramapura Pargana of the Dacca District have earned for her the name Kīrtināśā. Nothing is known about the existence of the city of Dacca even long after the expansion of Muslim rule over Eastern Bengal which had its capital, during this age, at Sonārgāon or Suvarṇagrāma not very far from Dacca. In the early years of the seventeenth century, in the reign of the Mughal emperor Jahāngīr, Sheikh-Alāuddīn Islām Khān was appointed governor of the Subah of Bengal. Islām Khān (1608-13 A. D.) transferred the provincial capital from Rāj-

mahal to Dacca where he built a palace and a brick fort. It has been said that the Mughal governor's desire to crush the Portuguese and Arakanese pirates, who had been ravaging south-east Bengal, was the cause of the transfer of the capital to Dacca. The new capital of the eastern most Subah of Jahāngīr's empire was styled Jahāngīr-nagar after the Mughal emperor and its fame and prosperity began to spread in all directions.

Although Dacca thus seems to have become a great city only in the early years of the seventeenth century, there is reason to believe that it enjoyed; some amount of political importance even in the pre-Muslim period. This is suggested by the name of the city itself. The name Dacca is no doubt a Prakrit corruption of the Sanskrit word Ḍhakkā. As a matter of fact this older form of the name is actually found in some records of the late medieval period. The meaning of the name Ḍhakkā can be determined from the Kashmirian chronicle called the *Rājataraṅgiṇī* wherein the word has been twice used (see III, 227 and v. 39). The two verses in question may be translated as follows :—

"Then he (i.e. Mātṛigupta, *circa* 5th century) reached the Ḍhakka called Kāmbuva in the province named Kramavarta, which is now (i.e., in the middle of the twelfth century when the *Rājataraṅgiṇī* was composed) at Śūrapura."

"By him (i. e., by Śūravarman, minister of the Kashmirian king Avantivarman, 856-83 A. D.) the Ḍhakka of the province of Krama-varta was established at the town called Śūrapura, built by himself".

Ḍhakkā in these cases is no doubt derived from the Sanskrit word *Ḍhakkā* meaning a large or double drum, and scholars have rightly suggested that there was at Śūrapura (modern Hurpor) a watch station of ancient Kashmir. Drums must have been kept at the watch stations and were sounded at the time of danger. It s therefore clear that "the Ḍhakkā called Kāmbuva" really means "The watch station that was situated at the locality called Kāmbuva". The provincial watch-station of Kramavarta was transferred from Kāmbuva to Śūrapura in the ninth century.

It seems that Dacca was a watch station of the pre-Muslim rulers of Eastern Bengal and had therefore some political importance even

in the early period. This suggestion appears to be further supported by a passage in the *Prākṛitānuśāsana* by Purshottama who is supposed to have adorned the court of king Lakshmaṇasena (*circa* 1185-1206 A. D.) of Bengal. The only manuscript of this work is known to have been copied in the year 385 of the Newar era of Nepal whose commencement falls in 879 A.D. The date of the transcription is therefore 1264 A. D. Purushottama's work describes several Prakrit dialects called *Vibhāshā* one of which is styled Ḍhakkā-bhāsha, i.e. the dialect current in the region known as Ḍhakkā. We have no knowledge of any other place called Ḍhakkā excepting the locality of that name in Bengal. It may however be suggested that Ḍhakkā in this case does not refer to Dacca in Eastern Bengal, but is a corruption of the name of the land called Ṭakka which was situated in the Punjab. But this view can hardly be accepted as the Ṭakka deśīya Vibhāsha, i.e., the dialect of Ṭakka deśa, has been separately mentioned in the *Prākṛitānuśāsana*.

It may also be argued that, in the twelfth and thirteenth centuries when the political centre of Eastern Bengal was at the neighbouring city of Vikramapura, Dacca could not have enjoyed so much cultural influence so as to stamp its name on the dialect spoken in the locality. But such a possibility can never be regarded as altogether out of the question.

दिल्ली के सिंहासन पर बनिया

श्री बनारसीदास जैन

पृथ्वीराज चौहान के साथ दिल्ली[1] का राज हिन्दुओं के पास से ऐसा गया कि ८०० बरस में भी मुड़ उनके हाथ नहीं आया। तो भी इस लंबे काल में दिल्ली के सिंहासन को एक वीर बनिये ने सुशोभित किया। चाहे वह उस पर घनघोर घटा में बिजली की चमक के समान क्षण भर ही रहा, परंतु इतने से ही उसने मुसलमानों की विजय-कीर्ति को सदा के लिए कलंकित कर दिया। यह वीर है हेमू बनिया जिसका पूरा नाम कदाचित् हेमचन्द्र था। इसी के संबंध में फारसी पुस्तकों के आधार पर श्रीयुत चंद्रबली पाण्डे ने "विक्रम स्मृति- ग्रन्थ" में जो ग्वालियर से अभी प्रकाशित हुआ है "हेमचन्द्र विक्रमादित्य" शीर्षक लेख प्रकट किया है[2]।

इसमें किसी हिन्दू ग्रंथ का उल्लेख नहीं है। इससे यह भ्रम हो सकता है कि हिन्दुओं ने इस वीर को बिलकुल ही भुला दिया है। मगर यह बात नहीं है, क्योंकि जैन भण्डारों में दिल्ली की राज वंशावलियाँ मिलती हैं, जिनमें हेमू का नाम पाया जाता है। ऐसी ही एक वंशावली अंबाला शहर के श्वेताम्बर भंडार में विद्यमान है[3], जिसमें पाण्डवों द्वारा दिल्ली की स्थापना से लेकर संवत् १८६३ तक के दिल्ली के राजाओं की नामावली है। प्रत्येक नाम के साथ उसका राज्य-काल भी दिया हुआ है। इस प्रति के ३ पत्र हैं। देखने में यह सौ बरस पुरानी प्रतीत होती है और कदाचित् सं० १८६३ के आस-पास लिखी गई हो। इसकी भाषा हिन्दी है। इसके अनुसार दिल्ली पर निम्नलिखित वंशों ने राज किया :—

१—पाण्डवों की ३० पीढ़ियाँ
२—बाबर सेन " १० "
३—नरहरबाहु " १६ "
४—त्रिलोकचंद ,, ९ "
५—हरप्रेम की ४ पीढ़ियाँ
६—वीरविक्रमाजीत १७ "
७—बिल्हणदेव तोमर १९ "
८—जयसीस की १२ "
९—माधोसिंह की ५ "

१—संस्कृत तथा प्राकृत के प्राचीन ग्रन्थों में दिल्ली शब्द का रूप "ढिल्ली" मिलता है। इस बात का कुछ पता नहीं कि "ढिल्ली" का 'दिल्ली, दिहली' कब और क्यों बना। जब भारतवर्ष में फारसी का प्रचार हुआ तो फारसी लिपि में 'ढिल्ली' का "दहली" लिखा जाने लगा, क्योंकि फारसी लिपि में 'ड' के लिए कोई पृथक् अक्षर नहीं था। फारसी अक्षर 'दाल' पर बिन्दु या शोशा डालकर 'ड' को प्रकट करने की प्रथा बहुत पीछे चली। जिन लोगों के ज्ञान का आधार फारसी पुस्तकें थीं, वे उसे दिहली, दहली या दिल्ली बोलने लग गये होंगे।

२—विक्रम स्मृति ग्रन्थ, सं० २००१; ग्वालियर। पृ० २३२।

३—ए कैटेलाग आफ् मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि पंजाब जैन भंडारम्। लाहौर, १९३९; नं० १२२१।

इस वंश का अंतिम राजा राय पिथोड़ा या पृथ्वीराज था, जिसके पीछे "गढ़गंजणी का राजा पठाण जात नाम रुकमदीन अलावै" सं० १२१७ वैशाख बदी १२ को दिल्ली का राजा बना। यहाँ से मुसलमान वंश चले जिनमें मुगलों का वर्णन इस प्रकार है :—

"पछै तबरलंग मुगल गढ़गंजनी माह बसदा, जीसका गढ़ मै मीढ़े ४०० हुंते, चरावता थका एक दरबेस मिला। हमारे तांई कोई रोट सेर १ दे जिमावै तो पातसाह दिली का करूँ। पीछे ७ तबरलंग सूण आपणी मा नै कह्यो। पाछै मा बोली, अछी बात। रोट कर फकीर कुं जिमाया। राजी बहुत हुवा। पछै ७ पातसाही दइ। सोटे ७ मारे। पिछै तिबरलंग हस पड्या। पछै फीकीर सोटा गिर अलोप हुवा। पछै तबरलंग दुमे बेच घोड़े लीए। लुहार कैं आरणै माया पाई। पछै फौज रषणे लगा। हाजरी २५००० घोड़ा जोड़ दीली आया। चुहडषां मार तिवरलंग चौक ते बैठा सं० १५५३ बैसाष बदि १३। तबरलंग ७ व०, ६ मा० १०। बबर साह ४ वर्स, ९ मास, १५ दिन। हमाऊँ साह १० वर्स, ४ मास ९। सर्वराज ३—त्रर्स २२, मास ८, दिन ४। हमाऊँ पातसाह पास फौज बहुत हुई देष मन मै गरभा। सेरसाह उजोर से कहा—और तो हमारी बरोबर है नहीं, कुदरत सुं लड़ेंगे। जब सेरसाह कहा, तम्हारी अकल कहाँ गई। जबाब आपस में बिगड़ गया। हमाउं पकड़ सेरसाह गढ़गंजणी भेजा, आप राज कर्‌या। १ इस भाँत :—

सेरसाह ११ वर्स २ मा० १० दि०
सलीमसाह ८ वर्स ९ मास १० दिन।
पिरोजसाह ३ महीना।
महमंदअली २ वर्स २ मास १८ दिन
इबणदुदी ५ महीना ७ दिन
सर्वराज ५—वर्स २७ मा० ५ दिन २०।

पछै हेमु दिवांण कतपुर का बाणिया जात दूसर था। इबणदुदी का दिवाण था। इबण दुदी नै मार कै पातसाह हो बैठा—वर्ष २ महीना १० दिन ७ पातसाही करी। जब हमाऊं गढ़ गजंणी सुणी दिली सुनी है, बाणीया राज करै हैगा—आप लसकर ले कबीले सहत दिली आया। हेमु बाणीया मारा आप तषत ते बैठा। राज महिना १० दिन ७ करा। पछै मीढ़ी ते गिर पड़ा मुवा, कुदरत चाहै सो करै। पीछे मीर उमराव बहुत षिसत पाई। अकबर साहब जादा वर्ष ९ का तषत बैठाया। तपस्या का धणी था। राज सरब प्रकार कीया।

१—अकबर स्याह ५५ वर्स ९ मास १५ दिन राज कीया
२—जहाँगीरमसाह २२ " १० " १० " " "
३—साहपरासदिन १४ " —
४—पिरोजबकस ० " ३ "
५—साहजहाँ ३२ " ४ " ९ "
६—नौरगंसाह ५५ " ९ " —
७—तेगबहादरसाह ५ " ३ " —

८—मोजदिन कुहाडा	० वर्स	११ मास	... दिन	राज कीया
९—फरकस्याह	६ "	— "	२२ "	
१०—रफलदज सतरसाह	० "	३ "	—	
११—महमंदस्याह	३० "	४ "	१५ "	
१२—अहमंदस्याह	६ "	—		
१३—आलमस्याह	३ "	११ "	—	
१४—आलिम गोहर	२१ "	८ "	१५ "	बैठा

तपकेसर नाम २५ राज वर्ष ४८।१ दिन राज कीया।

पछै आपकी मौत मुवा। राजा स्याह अकबर तपत बैठा संवत् १८६३ काती सुदि २॥ अबे १८० पीढ़ी हुई जिसमै ५३ पीढ़ी मुसलमान की है; और हिंदू छत्री थे।

इति दिलीपत पटावली संपुर्ण श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥

ऐसी ही एक वंशावली के आधार "दिल्लीपति हेमू" शीर्षक लेख लिखा गया है[४]।

दस बारह बरस हुए एक मौलवी के पास मैंने फारसी में लिखी हुई इसी प्रकार की वंशावली देखी थी। इसमें हिजरी सन् ३६० में राय पिथौरा के सिंहासन पर बैठने से औरंगजेब तक ४६ शासकों के नाम दिये हैं। यदि हिंदी वंशावली के नौरंग के पीछे के ८ नाम मिलाकर राय पिथौरा को निकाल दें, तो फारसी वंशावली में भी ५३ पीढी मुसलमानों की हो जाती है। इस वंशावली में नं० २७ पर "खतरी चेतराम" का नाम है जो हिजरी सन् ८१३ में केवल पाँच मास तक दिल्लीपति रहा।

यद्यपि हिंदी और फारसी वंशावलियों में मुसलमान शासकों की संख्या समान है तथापि इनके नामों और सन्-संवतों में काफी अंतर है, जिसे देखकर उनकी प्रामाणिकता में संदेह हो उठता है। तो भी इनकी परीक्षा किये बिना इन्हें कल्पित नहीं ठहराया जा सकता, बल्कि ऐतिहासिकों का कर्तव्य है कि इन हिंदी फारसी वंशावलियों की अन्य साधनों से तुलना करके इस बात का पता लगावें कि इनका आधार क्या है और इनमें तथ्य कितना है। ऐतिहासिकों का ध्यान इनकी ओर खींचने के उद्देश से ही यह लेख लिखा गया है।

४—श्री जैन सत्यप्रकाश, अहमदाबाद, क्रम-संख्या १३४, नवम्बर सन १९४६ | पृ० ४२

डूँगरपुर राज्य के संस्थापक महरावल श्री सामन्तसिंहजी

डा० दशरथ शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०

डूँगरपुर राज्य की स्थापना पर्याप्त प्राचीन घटना है। इसके विषय में सामान्य जनता विशेष न जानती हो तो आश्चर्य ही क्या है? संवत् १७१९ में, अर्थात् इस समय से लगभग २८३ वर्ष पूर्व, प्रसिद्ध ख्यातकार मुहणोत नैणसी को जो वृत्तान्त प्राप्त हुआ था, वह संक्षेपत: इस प्रकार दिया जा सकता है :—

(१) चित्तौड़ के रावल समरसिंहजी ने अपने छोटे भाई की सेवा से प्रसन्न होकर उसे अपना राज्य दे डाला और स्वयं आहाड़ में आ बसे। यह कार्य सरदारों को साक्षी बनाकर किया गया था।

(२) कुछ समय बाद बटबड़ोर (प्राचीन वट पद्रक) के व्यभिचारी स्वामी मलक भूमिया को दण्डित कर समरसिंहजी ने बागड़ की बहुत सी भूमि पर अधिकार कर लिया।

(३) डूँगरपुर के आस-पास का स्थान उन्होंने डूंगर नाम के भील से छीना। यह कार्य धोखे से किया गया।

(४) उस समय डूँगरपुर से बारह कोस की दूरी पर गलियाकोट नाम का दुर्ग था। उसके स्वामी टोटल राजपूत समय समय पर समरसिंहजी की भूमि को लूटकर किले में घुस जाया करते। अपने बन्धु गुप्तचरों द्वारा किले का सब भेद मालूम कर समरसिंहजी ने उसे छीन लिया।

यह लगभग तीन सौ वर्ष पुराना वृत्तान्त भी न केवल अपूर्ण, अपितु अनेकांशों में अशुद्ध भी है।

अनेक शिलालेखों से सिद्ध है कि डूँगरपुर राज्य के संस्थापक सामन्तसिंहजी थे न कि समरसिंहजी। सामन्तसिंहजी का समय लगभग १२२८ और समरसिंहजी का उसके सौ वर्ष बाद है; किन्तु यह असम्भव नहीं है कि अत्यन्त वीर योद्धा होने के कारण उन्हें 'समरसिंह' की पदवी प्राप्त हुई हो, और परवर्ती लेखकों एवं कवियों ने उसे सामन्तसिंहजी का असली नाम समझने की भूल की हो। यह भी सम्भव है कि किसी व्यभिचारी दुष्ट को दण्ड देकर उन्होंने वटपद्रक अर्थात् वटबड़ोद पर अपना अधिकार जमाया हो। ऐसा करना क्षात्र-धर्म के अनुकूल था। किन्तु यह कथा कि सामन्तसिंहजी ने डूँगर नाम के किसी भील को धोखा देकर डूँगरपुर के आस-पास की भूमि पर कब्जा किया था, सर्वथा कपोल-कल्पित एवं इतिहास के अंधकार युगीन काल की सृष्टि है। वास्तव में डूँगरपुर का सम्बन्ध डूँगर भील से नहीं, महारावल श्री डूँगरसिंहजी से है, जिनने संवत १४२५ के लगभग डूँगरपुर बसाया था। डूँगर भील केवल किसी चारण या भाट के दिमाग की सूझ है जिसे मालूम था कि डूँगरपुर के आस-पास भीलों की काफी बस्ती है; किन्तु जिसे यह ज्ञात न था कि डूँगरपुर श्री महारावल डूँगरसिंहजी के नाम की यादगार है, न कि

किसी भील की। गयालकोट की कथा भी सन्देहरहित नहीं है। यद्यपि यह सम्भव है कि वर्तमान राजवंश के पूर्व-पुरुषों ने यह भूभाग टांटल राजपूतों से छीना हो। वीराग्रणी सामन्तसिंहजी सम्भवत: वहाँ तक न पहुँचे थे। उनके शिलालेख केवल वर्तमानकालीन डूँगरपुर और मेवाड़ राज्यों की सीमा के निकट ही मिले हैं।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि नैणसी का वर्णन अपूर्ण है। यह अपूर्णता किसी अंश में प्राचीन लेखों द्वारा पूर्ण की जा सकती है। उनसे ज्ञात होता है कि सामन्तसिंहजी गुहिल-वंशज थे। उन्हें सिसोदिया कहना ठीक नहीं। सिसोदिया रणसिंहजी के छोटे पुत्र की सन्तान है। सामन्तसिंहजी के पिता क्षेमसिंहजी रणसिंहजी के ज्येष्ठ पुत्र थे। सामन्तसिंहजी के गद्दी पर बैठने के समय मेवाड़ की स्थिति विशेष अच्छी नहीं थी। चारों तरफ प्रबल राज्य थे। और प्राय: सभी मेवाड़ की सुहावनी प्रकृति दुर्ग-परिवेष्ठिता भूमि पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते थे। यशोवर्मा के बाद मालवे के परमार कमजोर पड़ चुके थे। किन्तु गुजरात के चालुक्य दिन-प्रतिदिन शक्ति में बढ़ रहे थे। संवत् १२०७ में चौलुक्य कुमारपाल ने चित्तौड़ पर अधिकार जमाकर अपने दण्डनाथ सज्जन को वहा रखा था।[१] कुछ समय के बाद शाकम्भरी शासक चौहान सम्राट् विग्रहराज चतुर्थ ने सज्जन को मार कर चित्तौड़ और मेवाड़ के अन्य कई भागों को शाकम्भरी राज्य में मिला लिया।[२]

लगभग संवत् १२२३ में विग्रहराज चतुर्थ की मृत्यु हुई। सामन्तसिंहजी संभवत: प्राय: इसी समय के आस-पास गद्दी पर बैठे होंगे। वे वीर वृत्ति थे, अपने देश को स्वतंत्र करना उनका ध्येय था, दूसरों के अधीन रहकर जीवन बिताना उन्होंने न सीखा था। यदी 'समरसिंह' उन्हीं का उपनाम है तो बहुत सम्भव है कि इस ऐतिहासिक अनुश्रुति में कुछ सत्य हो कि 'समरसिंह' और पृथ्वीराज एक दूसरे के मित्र और सम्बन्धी थे। विग्रहराज चतुर्थ के बाद उनका पुत्र अमरगाङ्गेय गद्दी पर बैठा। पृथ्वीराज द्वितीय ने उसे युद्ध में हराया और शाकंभरी के राज्य पर कब्जा कर लिया[३]। संभवत: यही पृथ्वीराज द्वितीय सामन्तसिंहजी के सम्बन्धी राजा पृथ्वीराज थे। और सामन्तसिंहजी की सहायता से ही संभवत: उन्होंने दिल्ली और अजमेर का राज्य प्राप्त किया था। यह भी गवेषणीय है कि इन पृथ्वीराज द्वितीय का तंवर वंश से क्या संबंध था। शायद यही तंवरों के दौहित्र रहे हों और परवर्ती कवियों ने इतिहास के अंधकार में पृथ्वीराज तृतीय को तंवरों का दौहित्र मानने की भूल की हो।

पृथ्वीराज द्वितीय ने अधिक दिन तक राज्य नहीं किया; किन्तु सामन्तसिंहजी का पृथ्वीराज द्वितीय के उत्तराधिकारी एवं प्रसिद्ध चाहमान सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय के पिता श्री सोमेश्वर से भी सम्बन्ध ठीक ही रहा होगा। कम से कम उन दोनों के शत्रु एक ही थे। अजयपाल चौलुक्य ने तीन वर्ष राज्य किया; किन्तु इस छोटे से अर्से में उसने सोमेश्वर एवं सामन्तसिंहजी, इन दोनों से युद्ध किया। सोमेश्वर को हार खानी पड़ी!

१—कुमारपाल चौलुक्य का चितौड़ का शिलालेख देखें।
(Historical Inscriptions of Gujrat P. 37)

२—लेखक का Early Chauhan Dynasties ग्रन्थ देखें।

३—उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थ देखें।

संवत् १२५६ के भीमदेव द्वितीय के शिलालेख में लिखा है कि अजयपाल ने सवादलक्ष के राजा को करद बनाया था[४]। 'सुकृतसंकीर्तन' के रचियता अरिसिंह के कथनानुसार सवादलक्ष के राजा को एक 'हैमी मण्डपिका' देनी पड़ी थी[५]। अजयपाल के समसामयिक सवादलक्ष के भूप यही सोमेश्वर थे। इनकी पराजय ख्यातिदायिका थी। किन्तु अजयपाल की यह ख्याति वीराग्रणी सामन्तसिंहजी ने शीघ्र ही दूर कर दी। प्रतीत होता है कि अपने राज्य के पिछले सात आठ साल में इन्होंने अपनी शक्ति पर्याप्त दृढ़ कर ली थी।

सामन्तसिंह जी और अजयपाल का युद्ध किस वर्ष में हुआ और कहाँ हुआ, यह बतलाना कठिन है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि यह संवत् १२३० और १२३३ के बीच में हुआ होगा। शायद सोमेश्वर को हराकर अजयपाल ने सामन्तसिंहजी पर आक्रमण किया है। उसके साथ पर्याप्त सेना थी। चन्द्रावती के प्रहलदन आदि परमार सामन्त उसके साथ थे। युद्ध खूब जोरदार रहा होगा, किन्तु अब उसका केवल निर्देशमात्र हमें निम्मलिखित श्लोक में मिलता है[६]। :—

सामंतसिंह समितिक्षितिविक्षतौजः श्री गूर्ज्जरक्षितिपरक्षणदक्षिणासिः।
प्रह्लदनस्तदनुजो दनुजोत्तमारिचारित्रमत्र पुनरुज्ज्वलयांचकार[७] ॥

(आबू पर्वत का संवत् १२८७ का जैन लेख)

इससे स्पष्ट है कि अजयपाल बुरी तरह से परास्त हुआ। 'सुरथोत्सव' में अजयपाल के वर्णन से स्पष्ट है कि वह काफी घायल हुआ था। शायद जिस प्रकार कुमारपाल चौलुक्य ने शाकंभरीश अर्णोराज से द्वंद्व-युद्ध किया उसी प्रकार अजयपाल ने भी सामन्तसिंहजी से द्वन्द्व युद्ध किया हो। कम से कम इतना तो निश्चित है कि वीर परमार प्रहलदनदेव अजयपाल की इस कठिन समय में रक्षा न करते तो गुजराती सेना की बुरी दुर्दशा होती।

अन्त में यह शानदार विजय सामन्तसिंहजी को कुछ महँगी पड़ी। उस समय चौलुक्यों से वैर पालना सामान्य कार्य न था। उनका साम्राज्य अरब समुद्र से लेकर सवादलक्ष तक फैला हुआ था। उन्होंने अनेक वर्षों के युद्ध के बाद मालवे को अपने राज्य में मिला लिया था। आबू के परमार और नाडोल के चौहान उनके सामन्त थे। अजमेर के चौहानों को भी उन्होंने अनेक बार नीचा दिखाया था। मुहम्मद गोरी जैसे प्रतापी यवनराज को इन्होंने संवत् १२३५ में मार भगाया। सामन्तसिंहजी का राज्य और इनके साधन इस महान् शक्ति के सामने नगण्य नहीं तो कम से कम पर्याप्त न थे।

४—Historical Inscriptions of Gujrat v. 78;
शिलालेख की १२वीं पंक्ति देखें।

५—दण्डे मण्डपिका हैमी सह मेतेर्मतङ्गजै :—
हत्वा पादं गले येन जाङ्गलदेशादगृह्यत् ॥

६—कुछ अस्पष्ट निर्देश 'सुरथोत्सव' में भी वर्तमान है।

७—Historical Inscriptions of Gujrat. Part II. Page 126.श्लोक ३८

दूसरी बार स्वयं चौलुक्यराज सेना लेकर मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए न आये। उन्होंने अपने सामन्त नड्डूलराज केल्हण के छोटे भाई कीर्तिपाल या कीतू को इस कार्यके लिए नियुक्त किया। गुजराती सैन्यकी सहायता प्राप्त कर कीर्तिपाल ने मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। हमें इस विषय का विशेष वर्णन प्राप्त नहीं है, किन्तु अन्य अनेक घटनाओं पर विचार करते हुए हम सामन्तसिंहजी की परिस्थिति का अनुमान कर सकते हैं। कुछ वर्ष बाद उनकी स्थिति प्रायः वही हुई होगी जो बादशाह अकबर से युद्ध कर महाराणा प्रताप की हुइ थी। देश की बर्बादी, जनक्षय और धनक्षय को देखते हुए उनके मन में अनेक कल्प-विकल्प उत्पन्न हुए होंगे। स्वाभिमानी सामन्तसिंहजी के लिए यह असंभव था कि वे किसी की अधीनता स्वीकार करें। किन्तु केवल स्वाभिमान के लिए देश का क्षय भी उन्हें अभीष्ट न था। अतः स्वाभिमानी पुरुष के लिए जो एक-मात्र मार्ग अवशिष्ट था वही उन्होंने ग्रहण किया। उनके छोटे भाई कुमारसिंह गुजरात की अधनीता स्वीकार करने के विरुद्ध न थे[८]। सामन्तसिंहजी उनकी सेवाओं से प्रसन्न थे। अतः सामन्तों की साक्षी में मेवाड़ का राज्य छोटे भाई को सौंपकर स्वदेश से प्रयाण किया। अनेक राजभक्त सामन्तों ने भी अपने स्वाभिमानी एवं सच्चे स्वदेश-भक्त स्वामी का अनु-सरण किया होगा। परमादरणीय श्री गौरीशङ्कर हीराचन्दजी ओझा का यह विचार कि सरदार लोग उनसे पलट गये थे, ठीक प्रतीत नहीं होता। 'पृथ्वीराज विजय' में चौहान राजा सामन्तराज के विषय में यह श्लोक मिलता है। :—

जज्ञे तदन्वयोऽन्वत्सुधांशुर्व सुधापतिः।
सामन्तराजस्सामन्तराजि कैरविणी रविः॥

इस श्लोक के आधार पर कोई यह सिद्ध नहीं करता कि सामन्तराज अपने सामन्तों के विरोधी थे। इसका कारण केवल मात्र यही है कि यहाँ सामंत शब्द का अर्थ मण्डलेश्वर मात्र है। सामन्तराज की यह प्रशंसा है कि उन्होंने अनेक मण्डलेश्वरों को वशी-भूत कर अपने राज्य का विस्तार किया था। महारावल श्री सामन्तसिंहजी के विषय का श्लोक प्रायः इससे मिलता है। उन्होंने भी अनेक मण्डलेश्वरों को परास्त किया था। यह समझना कि सामन्तसिंहजी ने अपने सरदारों के विरुद्ध किसी तरह की कार्यवाही की थी ऐतिहासिक भूल है। कवि को यदि ज्ञात होता कि परवर्ती ऐतिहासिक अनुप्रास का आनन्द न लेकर अर्थ का अनर्थ करेंगे तो संभवत वह उसका प्रयोग न करता।

सामन्तसिंहजी ने इस प्रकार अपने पितृ क्रमागत राज्य का परित्याग किया। किन्तु वीर पुरुष के लिए अपने भुजाओं के बल से नये राज्य का स्थापन करना दुष्कर कार्य नहीं है। सामन्तसिंहजी का संवत् १२२८ का शिलालेख अम्बादेवी के मन्दिर में जगत नाम के गाँव में मिला है। सामन्तसिंहजी ने मन्दिर में सुवर्णकलश चढ़ाया था। उस

८—भ्राता कुमारसिंह भूत् स्वराज्य ग्राहिणं परम्।
देशान्निष्का सयामास कीतू संज्ञं नृपं तु यः॥
स्वीकृत माघाटपुरं गुर्जरनृपतिं प्रसाद्य॥ (कुम्भलगढ़ का शिलालेख)

समय तक वे मेवाड़ के स्वामी थे और उनका प्रबल विरोधी अजयपाल गुजरात के सिंहासन पर आरूढ़ न हुआ था। दूसरा शिलालेख संवत् १२३६ का है । यह डूंगरपुर के सोलज गाँव में श्री बोरेश्वर महादेव के द्वार पर खुदा हुआ है । इससे मालूम पड़ता है कि संवत् १२३६ के लगभग वर्तमान डूंगरपुर राज्य की स्थापना आरम्भ हो चुकी थी।

शिलालेखों में सामन्तसिंहजी को 'कामाधिक सुन्दर शरीर' बतलाया गया है। इस समय इससे भी कहीं अधिक सुन्दर एवं शोभायमान उनका यशः शरीर जगत् को समुज्ज्वल कर रहा है। उनकी वीरगाथा पठनीय एवं मननीय है। उन्होंने अत्यन्त शुभ मुहूर्त में डूँगरपुर राज्य की स्थापना के लिए प्रयाण किया होगा। आज प्रायः पौने आठ सौ वर्ष के बाद भी उनके वंशज डूँगरपुर में राज्य कर रहे हैं और डूँगरपुर की प्रजा, पुत्र, बन्धु, दौहित्र, प्रियजनादि युक्त प्रजावत्सल महारावल श्री लक्ष्मणसिंहजी के राज्याभिषेक के शुभ रजत उत्सव पर यह ग्रन्थ उन्हें सादर समर्पित कर रही है।

जैन साहित्य में डूँगरपुर

श्री अगरचन्द नाहटा

मेवाड़ के निकटवर्ती वागड[1] प्रान्त में डूँगरपुर नामक राजधानी है जिसका प्राचीन नाम गिरपुर भी पाया जाता है। यहाँ का इतिहास 'राजपूताने का इतिहास' जिल्द ३, भाग १ के रूप में माननीय गौरीशंकर ओझा ने सन् १९३६ में प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ के अवलोकन से यह भली भाँति स्पष्ट है कि अभी तक यहाँ का इतिहास बहुत कुछ अंधकार में था। श्रद्धेय ओझाजी ने प्रचुर परिश्रम करके इसे संकलित किया है, फिर भी यहाँ के प्राचीन इतिहास की समस्या को सुलझाने में प्रमाणाभाव से ये पूर्ण सफल नहीं हो पाये। विशेषत: महारावल उदयसिंह के पहले के प्राय: सभी राजाओं का समय शिलालेखों के आधार से अनुमानित रूप में निर्धारित करना पड़ा है। यहाँ की ख्यातें बड़ी ही भ्रान्तिपूर्ण हैं। माननीय ओझाजी ने उनका यथाशक्य संशोधन शिलालेखों के आधार पर किया है, फिर भी कुछ बातें संदिग्ध सी प्रतीत होती हैं और कई अनुमानित संवतों के सम्बन्ध में अन्य प्रमाणों के आधार से नवीन प्रकाश मिल सकता है। प्रस्तुत निबंध उसी दिशा में कुछ नवीन जानकारी उपस्थित कर रहा है।

जैन धर्म भारत के प्राचीन धर्मों में से प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण धर्म है। इसका प्रचार भारत के कोने कोने में रहा और है, अत: भारतीय इतिहास इसके विशाल साहित्य की आलोचना किये बिना अधूरा ही रहेगा। जिस डूँगरपुर के सम्बन्ध में प्रस्तुत लेख लिखा जा रहा है, उससे भी जैन धर्म का अत्यंत प्राचीन सम्बन्ध है। वागड की प्राचीन राजधानी वटपद्र (बड़ौदा) से जैन समाज का सम्बन्ध १०वीं शताब्दी तक का पुराना कहा जाता है। [2]मेवाड़ के प्रसिद्ध जैन तीर्थ केशरियाजी की मूर्ति यहीं से धुलेव पहुँची है। १५वीं शताब्दी में डूँगरपुर बसने के समय से ही यहाँ जैन समाज का निरन्तर निवास रहता चला आ रहा है, अत: जैन साहित्य से यहाँ के इतिहास पर नवीन ज्ञातव्य पाया जाना सर्वथा उचित ही है। माननीय ओझाजी ने कतिपय जैन शिलालेखों का अपने

१—भारतवर्ष में वागड नामक ३ देश हैं जिनसे यहाँ मेवाड़ के निकटवर्ती लिखना आवश्यक हो गया है। अन्य दो वागड देशों में एक दिल्ली का निकट वर्ती प्रदेश एवं अन्य कच्छ का वागड प्रसिद्ध है।

२—यतीन्द्रविहार-दिग्दर्शन भा० ४ के पृ० ८४ में केशरियाजी की प्रतिमा यहीं के एक पीपल के नीचे '० ६०६ में प्रकट होने का उल्लेख है।

इतिहास में उपयोग किया है, फिर भी जैनी होने के नाते जैन साहित्य एवं इतिहास की जानकारी हमें अधिक होना स्वाभाविक है, अतएव प्रस्तुत लेख में जैन साहित्य एवं इतिहास से जितना ज्ञातव्य डूँगरपुर[१] के सम्बन्ध में प्राप्त हो सका है, प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

डूँगरपुर के प्राचीन नाम गिरिपुर का सबसे प्राचीन उल्लेख सं० १४२७ के चैत्र बदि ८ को धुलेव नगर में जयानंद लिखित प्रवास-गीतिका-त्रय के अंतर्गत वागड-प्रवास-गीतिका में पाया जाता है। प्रस्तुत गीतिका से कई महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश पड़ता है अतएव पाठकों की अधिक जानकारी के लिए यहाँ उद्धृत कर देना आवश्यक समझता हूँ।

"वागड-प्रवास-गीतिका"

इग वन कोड, गिरिपुरे, मेघपुरपण मंदिरा।
णागवई, नागिंदपुर इग, पाल दुग पण सव्वरा॥
थाणपुर धुलेव इग इग वापडे जिण चेइया।
मुणि जयाणंद सुपाणिनिया कम्मसत्त विणासणा॥१॥
दोण्णिसय णवसय पणसया इक्क दुग पण इग सया
लक्ख दले धुलेव अहिवइ, इग पयऽप्पभावया
समयसार दियक्खणा धम्म उन्नइकारगा
मुणि जयाणंद धणयसमा देक्रिया सुहसावगा॥२॥

वन कोटई१, गिरीपुरई९, मेघ[२]पुरई५, नागेन्द्रपुरई१, पालपुरई२, सर्वलापुरई५, थानापुरई१, धुलेवइपुरई१, इमि वागड मेवाड़ मांही ३ कर्मरिपुना हणनारा भी जिनवर ना उत्तुंग चइत्य मेटिनई आत्मा पवित्र थरछइं, तिमिजवन कोटई २००, गिरिपुरई ९००, मेघपुरई ५००, नागेन्द्रपुरई १००, पालपुरई २००, सवलापुरई ५००, थानपुरई १०० अन ई लक्षदल मांही प्रगट प्रभावना धणी, अनाथोनां नाथ धुलेवना पति तो एकलडाज, इम सिद्धांत ना विचारो मां विचक्षण धर्मोन्नति ना करणहारं धनद सभा एव सारा श्रावक ना घरो जोइया, घणंड आनंद उपन्युं।

इति वागड-प्रवास-गीतिका लि० जयानंदमुनिना धुलेवानगरे सवंत् १४२७ चैत्र वदि ८ तिथौ।"

जैनाचार्य विजय यतीन्द्र सूरिजी ने उपरोक्त विवरण से वर्तमान जैन मंदिर एवं श्रावकों के घरों की तुलना[३] की है, वह भी यहाँ देता हूँ :—

---

१ यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रस्तुत लेख में मुख्यतः श्वेताम्बर जैन साहित्य का उपयोग किया गया है। संभव है, दिगम्बर साहित्य से भी बहुत कुछ नवीन जानकारी प्राप्त हो।

२—यतीन्द्र विजयजी के मतानुसार बडौदा का ही यह प्राचीन नाम है।

३—विशेष जानने के लिए देखें, जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ३, अंक ८वाँ।

गाँव का नाम प्राचीन, वर्तमान	जिनालय संख्या प्राचीन, वर्तमान		श्रावक-गृह-संख्या प्राचीन, वर्तमान		रियासत वागड, वर्तमान
१—वनकोट, वंकोडा	१	१	२००	९५	डूँगरपुर
२—गिरीपुर, डूँगरपुर	५	४	९००	६०	,,
३—मेघपुर, बड़ौदा	५	१	५००	५०	,,
४—नागेन्द्रपुर, चूंडावाडा	१	०	१००		,,
५—पालपुर, पाल	२	१	२००	१	,,
६—सर्वलापुर, सावगा	५	१	५००	१५	,,
७—थानापुर, थाना	१	०	१००	०	,,
८—धुलेवपुर, केशरियाजी	१	१		०	उदयपुर

उपर्युक्त प्रवास-गीतिका से अनेक महत्त्वपूर्ण बातें प्रकाश में आती हैं जिनमें से कतिपय निम्नलिखित हैं :—

१—डूँगरपुर की स्थापना का समय ख्यातों के अनुसार सं० १४१५ माना जाता है, पर जैसा कि अन्य अनेक बातों में ख्यातों का कथन गलत प्रमाणित हुआ है, डूँगरपुर की स्थापना का समय भी सही नहीं ज्ञात होता। संवत् १४२७ में जयानन्द मुनि के निर्देशानुसार यहाँ ५ जैन मंदिर हों तो उनके निर्माण में २०-२५ वर्ष लग जाना संभव है, अतः डूँगरपुर की स्थापना का समय कुछ और आगे बढ़ना संभव है और वीरसिंह देव के प्राप्त (सं० १३४३ से १३५९) शिलालेखों के आधार से भी इसकी गुञ्जाइश भी है।

२—डूँगरपुर बसने के समय यहाँ जैनों की बस्ती ९०० घरों की थी जो वागड के अन्य सभी यावत् प्राचीन राजधानी बड़ौदा (मेघपुर) से भी लगभग दुगनी थी। नगर के नये बसने के हेतु कई सुविधाएँ राज्य की ओर से दी गई होंगी एवं नवीन के प्रति सहज सुलभ आकर्षण के कारण ही ऐसा हुआ होगा।

३—प्रवास-गीतिका में जैन मंदिरों एवं श्रावकों के घरों की संख्या होने से उन स्थानों की तत्कालीन समृद्धि का भी आभास मिलता है। इन स्थानों की प्राचीनता भी सं० १४२७ के पूर्व सिद्ध हो जाती है एवं वर्तमान स्थिति की तुलना करने पर राज्य में जैन बस्ती कितनी अधिक कम हो गई, इसका पता चलता है। डूँगरपुर नगर के संस्थापक डूँगरसिंह के प्रपौत्र प्रतापसिंह के समय के सं० १५४१ के शिलालेख का उल्लेख ओझाजी ने किया है, पर वह लेख कहाँ है, उस लेख में क्या लिखा है, कुछ भी उल्लेख नहीं किया। तब ब्र० शीतलप्रसादजी ने अपने म० म० और राजपूताने के जैन स्मारक के पृ० १९३ में सं० १५६१ के लेख का उल्लेख इन शब्दों में किया है :—

"सन् १९१६ (सरकारी रिपोर्टें)

डूँगरपुर राज्य ऊपर गाँव—जैन मंदिर की भीत में लेख-मंदिर बनवाया प्रह्लाद ने जो डूंगरपुर के रावल प्रतापसिंह का मंत्री था सं० १४६१।

इस समय पूरा लेख सामने नहीं है पर इससे प्रतापसिंह के मंत्री का नाम "प्रह्लाद" का नया पता चलता है।

इसके पश्चात् राउल गइपालदेव के राज्यकाल में लिखित ४ हस्तलिखित प्रतियाँ जैनभंडारों में प्राप्त हुई हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) पंचप्रस्थानविषमपदव्याख्या (सूरत हुकम मुनिना ज्ञान-भंडार) "स्वस्ति संवत् १४८० वर्षे अद्येह श्री डूँगरपुरनगरे राउल श्री गइपालदेवराज्ये श्री पार्श्वचैत्यालये लिखितं पत्राकेन ।।"

(२) A द्व्याश्रय महाकाव्य सटीक (पाटण, संघवीपाड़ा भंडार) ' संवत् १४८५ वर्षे श्री डूँगरपुरे राउल श्री गइपाल विजयराज्ये श्रावण बदि १५ शुक्रदिने श्री द्व्याश्रय वृत्ति प्रथमखंड लिखितं लिंबा केन"

B उपर्युक्त ग्रन्थ का द्वितीय खंड—

"द्वितीय खंड ग्रन्थाग्रतृया सकल ग्रन्थ १७५७४ संवत् १४८६ वर्षे श्री डूँगरपुरे लिखितं लींबाकेन ।

(३) कथा कोश (जिनेश्वर सूरि रचित) (खंभात विजयनेमि सूरिसंग्रह) "संवत् १४-८७ वर्षे असाढ़ मासे शुक्लपत्ते चतुर्दश्यां तिथौ रविदिने श्री डूँगरपुरनगरे राउल श्री गइपालदेव विजय राज्ये कथाकोश प्रकरणं लिखितं लींबाकेन मंगलमस्तु लेखक पाठकयो: ।।

उपर्युक्त प्रशस्तित्रय[१] से ४ महत्त्वपूर्ण बातों का पता चलता है :—

१—ओझाजी ने जिन महारावल का नाम गोपीनाथ (गजपाल लिखा है, उनका वास्तविक एवं प्रसिद्ध नाम 'गइपालदेव' था ।

२—इनके राज्याभिषेक का समय प्राप्त प्रमाणों के आधार से सं० १४८३ से पूर्व माना गया है । तब सं० १४८० की प्रशस्ति के अनुसार १४८० से पूर्व सिद्ध होता है ।

३—उपर्युक्त तीनों प्रतियाँ खरतार गच्छ के विद्वानों के रचित ग्रन्थों की हैं अत: इस समय इस गच्छ का यहाँ अच्छा प्रभाव होना सिद्ध होता है[२], जब कि आज इस गच्छ के अनुयायी शायद ही वहाँ कोई हों ।

४—यहाँ लींबा एवं पचा नामक सुलेखक निवास करते थे, जिन्होंने इतने बड़े बड़े सुन्दर, शुद्ध एवं सुवाच्य ग्रन्थ लिखकर ज्ञानभंडारों को सुशोभित किया ।

राउल गइपालदेव के उत्तराधिकारी सोमदास के शिलालेखों में ओझाजी के अन्वेषण से सं० १५०६ से १५३६ के प्राप्त[३] हुए हैं और उन्हीं के आधार से ओझाजी ने उनकी मृत्यु भी सं० १५३६ में निश्चित बतला दी है; पर जैन प्रमाणों के आधार से राज्यारोहण समय सं० १५०४ से पूर्ण एवं सं० १५३७ तक विद्यमान रहना प्रमाणित है । प्राप्त प्रमाण इस प्रकार है :—

१—देखें सिंघी जैनग्रन्थमाला से प्रकाशित जैन पुस्तक प्रशस्ति-संग्रह, पृ० १४३-४४ । अहमदाबाद से प्रकाशित संग्रह में संवत् १४८५ के स्थान पर १४८६ है ।

२—आगे दी जानेवाली प्रशस्ति से सं० १६५४ तक तो यहाँ खरतर गच्छ के मुनियों के चातुर्मास होना सिद्ध है ।

३—राउल के नाम-निर्देश बिना सं० १५१० का गिरिपुर के हुवड असाकारित मूर्ति का लेख नाहरजी के जैन लेख संग्रह भाग २ लेखांक १०८६ में प्रकाशित है ।
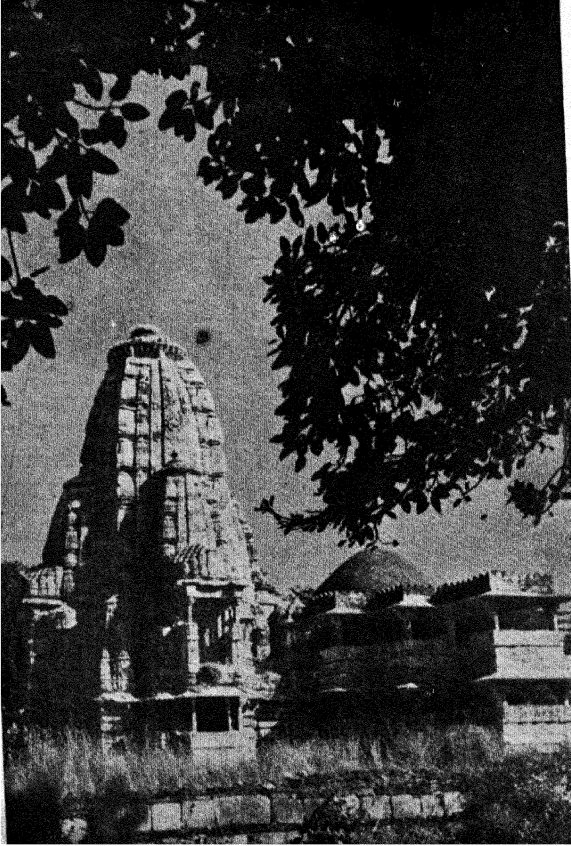
श्रीदेव सोमेश्वर महादेव का मन्दिर जो सोम नदी के तट पर एक बहुत प्राचान एव विशाल देवालय है और वास्तुकला का श्रेष्ठ नमूना है।

१—सिद्ध हेमबृहद्वृत्ति अष्टमाध्याय (बडोदा, हंसविजयजी संग्रह) "संवत् १५०४ वर्षे मार्गशिर सुदि ११ सोमे (श्री गिरिपुरे राउल श्रीसोमदास विजयराज्ये महं, आंबासुतमहं धना जे निज भ्रातृ स्वपठनार्थमिदं प्राकृत व्याकरणम लिखि "श्रीरस्तु सर्वेषां ग्र० २०००

२—श्री सुकमाल स्वामिचरित्रम (सूरत जैनानंद पुस्तकालय)

"संवत् १५२७ वर्षे गिरिपुरे राजाधिराज राउल श्री सोमदास विजयराज्ये श्रीमत् काष्ठासंघे नंदीतटगच्छे विद्यागणे महाराज श्री रत्नकीर्ति अन्वये भट्टारक श्री लखमसेन तत्पदे स्वदेस परदेस विख्यात मान मंडलाचार्य महाराव श्री श्रमनसिन देवान् तत् शिष्य बहम्वीरम पंडित देवा छात्र वेलाउदास द्रहितान् ॥४॥

३—काव्यकल्पलता[१] कविशिक्षावृत्ति (राधनपुर पं० ला० वि० सं० ज्ञानभंडार) "संवत् १५३४ वर्षे आसो वदि १३ रवौ ॥ अद्येह श्री गिरिपुर राउल श्री सोमदास विजय राज्ये ॥४॥ गदाधीश लिखिता ह एवं सर्व ग्र० ३६५७

४—ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी संकलित मध्यप्रान्त, मध्यभारत और राजपूताने के प्राचीन जैन स्मारक के पृ० १९३ में सं० १५३७ के एक स्मारक स्तंभ का उल्लेख इन शब्दों में किया है :—

सन् १९१७ (रिपोर्ट) बांसवाड़ा राज्य नोगमा—

२—एक स्मारक स्तम्भ पर अंकित सन् १५३७ समाधि जैनगुरु डूँगरपुर के राजाधिराज सोमदास के समय में।

इनके अतिरिक्त सं० १५१८ एवं १५२९ की अचलगढस्थ जैन मूर्त्तियों के एवं आँची के लेख का उल्लेख ओझाजी ने किया ही है। सोमदास के राज्य-काल का एक अन्य जैन धातुप्रतिमा का लेख इस प्रकार है :—

(ले० ११५३) सं० १५२५ वर्षे चैत वदि १० गुरौ उदड ज्ञा० षयरज गोत्रे पोमनीया देल्हा मा० हमलदे सु० लपा भा० मांकू सु० सोमा मौजा तेजादिभि पितृश्रे लाथा निर्मितं श्री श्रेयांसनाथ बिंब का० म० श्री तनदेव सूरिभिः डूँगरपुर वास्तव्यः"

(अहमदाबाद श्री मंधर मंदिर प्र० बुद्धि जैन प्रतिमा लेख संग्रह भा० १)

राउल सोमदास के मंत्री सा० साल्हा के सम्बन्ध में गुरु गुणरत्नाकर काव्य[२] (सं० १५४१ में सोमचरित्र रचित) के तृतीय सर्ग में निम्नलिखित २ श्लोक पाये जाते हैं :—

प्रासाद सौधद्धि विधूत तादिपच्छायाभारे श्री गिरिपूर्वक पुरे।
श्री सोमदासावनिजानिमन्त्रिणा धर्मिति धुर्येण चसाल्ह साधुना।
खाद्रि१२०क्षमामान मणो सपित्तूला निर्मापिता या जिनमूर्तिरुज्ज्वला।
तस्याः परस्या अपि बिम्बसततेश्चक्रे प्रतिष्ठा प्रथमं महेन वै ॥४॥

१—इन तीनों प्रशस्तियों को अहमदाबाद से प्रकाशित प्रशस्ति-संग्रह से उद्धृत किया है।

२—यशोविजय जैन ग्रन्थमाला—भावनगर से प्राप्त।

डूँगरपुर के पार्श्वनाथ मन्दिर का भी इन्होंने उद्धार करवाया था जिसका उल्लेख आँतरी के सं० १५२५ वै० व० १० गुरु ४९ श्लोकों के शिलालेख में पाया जाता है :—

श्री साल्हाभिध साधुरेष सचिवोत्तंसश्चतुर्बुद्धिमान।
चैत्योद्धारमकारयद् गिरिपुरे श्री पार्श्वनाथ प्रभोः ॥२८॥

मन्त्रि साल्हा कारित एक प्रतिमा उदयपुर के ऋषभमन्दिर (दिल्ली दरवाजा) की एक धातुमूर्त्ति पर इस प्रकार प्राप्त हुआ है :—

"गिरिपुरे श्री आदिनाथ बिम्बं सा-साल्हा करितं"

राउल सोमदास के पुत्र गंगदास के उत्तराधिकारी उदयसिंह के समय सं० १५७१ के नौगामा के एक जैनमन्दिर के लेख का उल्लेख ओझाजी ने किया है। ब्र० शीतलप्रसाद जी के उल्लेख से कुछ विशेष प्रकाश मिलता है, यथा :—

सन् १९१७ बांसवाड़ा राज्य नोगमा—(१) श्री शांतिनाथजी के जैन मन्दिर की भीत पर १ लेख सं० १५७१ महाराजाधिराज उदयसिंह डूँगरपुर के समय में श्री शांतिनाथजी के मन्दिर को हूमड श्रीपाल और उसके भाई राथा, मांका, रुडा, भन्ना, लाडका और वीरदास ने बनवाया।[1]

इन्हीं उदयसिंहजी के समय के लेख अचलगढ़ में दो पित्तल के घुड़सवारों पर अंकित हैं जो इस प्रकार हैं :—

संवत् १५६६ वृषे (वर्षे) घोड़नपत हसराज डूँगरपुर माहि कंसार जगमाल कक पाठी राजो खात्री सीरोई नु तेनु देश मए तेनु हाकरू हरजी पूजरा सारा काएकपाडी राजो। घोड़ १ कमयदी सवासु १००। बैठामए २॥ नीपनुं।

श्री ठहद्धा १५६६ व्रष (वर्षे) सूत्रदा (धा) र "जगमाल सरतए घोड़ दगराज" (ड) डूँगरपुर मां हेनिपतुं॥ खात्रीराजाने देश मर हाकरू डर पात्री राजु सीरोहीनुं॥ तिके घोडु १ मानु ॥२५ निपनुं मेमुदा १०० बेटा।

(प्र० श्री अर्बुद प्राचीनजैनलेखसंदोह लेखांक ४९४—(च)

उपर्युक्त उदयसिंह के उत्तराधिकारी पृथ्वीराज फिर आसकरण के सेसमल हुए। इनके समय में लिखित चउसरण जैन ग्रन्थ का पुष्पिका-लेख[2] इस प्रकार है :—

"संवत् १६५४ वर्षे कातीक वदि ७ गुरौ श्री गिरिपुरे लिखितं लब्धि कल्लोल मुनिना। श्रीमद् खरतरताच्छाधिराज भट्टारिक जिन माणिक्यादि पट्टालंकार जुगप्रधान श्रीजिनचन्द्र सूरि गुरूणामादेशेन राउल श्री सहस्समलन सानिध्येन विमल रंग मुनि शिष्य कुशल कल्लोल मुनि पंडित लब्धि कल्लोलमुनि प्रमुख चतुर्मासी चक्रे श्री डूँगरपुरे श्री श्रेयांस जिनालये।

इन्हीं सहसमल के पुत्र कर्मसिंह के प्रधान गांधीसिंघ के पुत्र जोगीदास के लिए सं० १६६० के आसोज सुदी १५ को जयविजय मुनि ने शकुनदीपिका चौपट की रचना की जिसकी प्रशस्ति[3] का आवश्यक अंश यह है :—

१—बाँसवाड़ा राज्य का इतिहास के पृ० २२ में ओझाजी ने इसका परिचय दिया है।

२—ऐतिहासिक रास संग्रह भ० १ पृ० ३३ की टिप्पणी से उद्धृत

३—जैन गुर्जर कविओ भा० १ पृ० ३६४ से उद्धृत

"वागड देश विदरागर नाम, जिहां घर दरशनना विश्राम ।
राजधानीनुं रुडड ठाम देश मध्य गिरिपुर वली गांम ॥३८॥
गढ मठ मंदिर पोलि सुचंग जैन शिव प्रसाद उत्तंग ।
राज करइ राजा गुणनिलु दानी मानी भोगी मलु ॥३९॥
कविता श्रोता विरले जाँण सूर वीर धीर (गुण) खांणि ।
सहस्स मल्ल राउल भूपाल प्रथवी प्रजा कण प्रतिपाल ॥४०॥
तस सुत कुमर कुमर सीहं जेह चउद विद्या गुण जाँणइ तेह ।
कीरति तेज अनइ परिवार शत शाख वाधइ विस्तार ॥४१॥
जस करि गांधी संघ प्रधान, पर उपगारी न धरइ मान ।
पुत्र पौत्र करइं नितु केलि, मंगलीक नीवधती बेलि ॥४२॥
संघरत्न पुत्र जोगीदास, गवुन शास्त्रनु करइ अभ्यास ।
तेह नइ भणवा कांजिकरी प्राकृत बंध चउपइ ए खरी ॥४३॥
व्योम[०] ससि[१] रति[६] चंद[१] बखाणि संवछर हइडइ ए आणि ।
सरद रति नइ आ सो मास, राका पूर्ण चंद्र कला वास ॥४४॥
विवुध पुष्प दत्त आणीइं पंडित देवज जग जाँणीइ ।
तास सीस कर जोडी कहइ सकुन भणताँ सवि सुख लहइ ॥४६॥
भणताँ सधि लहीइ रिद्धि ए भणताँ पांमेइ वली बुद्धि ।
जय विजय नइ परमाणन्द भणताँ गुणतां सदा आनंद ॥४८॥
(उदयपुर मतिभंडार)

इस प्रशस्ति में उल्लिखित गांधी जोगीदास मेघजी कलाजी का उल्लेख डूँगरपुर पार्श्व जिनालय के सं० १६७१ के लेख में भी पाया जाता है—"सं० १६७९ वर्षे वैशाख वदि ५ रवौ श्री वागड़ देशमण्डले भूभामिनीभाल तिलकायमान सर्वनगरशिरोमणि श्री गिरिपुरे वागड़ महारावल श्री पुंजराजजी विजयराज्ये प्रधानपदधारि गांधी रधासुत रत्न गांधी श्री जोगीदास मेघजी कलाजी विजयनि (जैनधातु प्रतिमा लेखसंग्रह भा० १ पृ० २५४) उपर्युक्त प्रशस्ति में निर्दिष्ट कर्मसिंह के पश्चात् पुंजराज[१] के गिरधरदास और उनके उत्तराधिकारी जसवंतसिंह हुए। इनके समय में डूँगरपुर से ८ कोस दूरवर्ती आसपुर के पोरवाड भीम ने श्री केशरियाजी तीर्थ का संघ निकाला था जिसका वर्णन कीर्त्तिसागर सूरि के शिष्य ने सं० १७४२ के चैत्र वदि १५ को पुंजपुर में 'भीम चौपर[२]' के नाम से किया है। उसमें डूँगरपुर व रावल जसवंतसिंह के सम्बन्ध में निम्नलिखित वर्णन है :--

१—ऐतिहासिक रास संग्रह भाग १ (यशोविजय ग्रन्थमाला, भावनगर)

२—आपके भी प्रधान (मन्त्री) गांधी जोगीदास थे। उनका उल्लेख सं० १६७१ के पूर्व निर्दिष्ट लेख में आ चुका है।

"महिमंडल छे वागड देश, तिहाँ जसवंत सिंघ नयर नरेश।
धरा पत्रि ससे तेहनो धणी, जस कीरति ने सोभा घणी
गिरीपुर नगर वसवानुं ठांम, पाग भी कीर तो कोट सुचंग ॥१६॥
झलके को सीमानी ओल, चिहूँ दिस सुंदर च्यारे पोल।
रुडा हाट सेरी विस्तार, पंदलशाह करि व्यापार ॥१७॥
छोह बंध उचा आवास, झूलके जाणें रवि प्रगास।
ध्यान सदा सुख भोगवे, सरिखो काल सदा जे गवें ॥१८॥
सोभे सागर जिन प्रासाद, डंडकलस घंटा ना नाद।
सतर भेद पूजा मंडाण, विठा निरखि राणो राण ॥१९॥
ठांम ठांम बहु सज्जकार, निरधन लोक लहै आराम।
सुधाश्रावक दीनदयाल, साचा धर्म तणा प्रतिपाल ॥२०॥
महानुभाव भला महातमा, तिणसे निरमल छे आतमा।
आप तरें परने तारवे, पंच आचार सदा जानवें ॥२१॥
वसि वरण अढ़ारे सुखी, तिण नगरी को न मले दुखी।
दीठि मारगो चालि सहु, परधल पुन्य करिते बहु ॥२२॥
वाड़ी वाघ अने वगीच, सो भी सुन्दर वाली वेस।
गि (पि) य सरोवर गंगा सो नीर, सुंदर नारी पसाले चीर ॥२३॥
पिहियां पटोलां सोवन चीर, जेणै लख्यां छेवा वन वीर ॥२४॥
रूपवंत दिसि नर नारी, दीठां मुख पामें संसार।
चोरासी चोहटाँ बाजार, नाणावटी दोस नहीं पार ॥२५॥
मोटो नगर अति ह मंजण, जो आण एक तणो परमाण।
पालिराज जसवंत संघ नर राय, अरियण केरो काल कहाय ॥२६॥
राजनीत पुंथले राज, देसोनां माहें सबलि लज।
न्याय घंट बाँधि दरबार, सरि विना कोन कहिमार ॥२७॥
करमाँ बांध लही अजी तणी, काजो कोन पडि वांधणी।
देउल उपर दण्डज होय, वीजो डंड नमांणि कोय ॥२८॥
पटराणि वीरपुरी महा सति, सीयलें जाणे सीता सती।
अपछर रंभारी अणुहार, जाणै वस कीधो निज भरतार ॥२९॥
स्त्री तणरो जनम प्रमाण, जियरी पीड़ न लोपे आण।
चाले चतुर पणिइ चमकति, कुलनी रीत न लोपि रति ॥३०॥
सेठ सेनापति मंत्री घणा, कार कुंन प्रधान नहीं मणा।
हस्ती घोड़ा कण कोठार, सोना रूपा न लाभे पारा ॥३१॥
गाम नगर वहों अति चंग, दिठां उपजेइ अधिको रंग।
वसें गाम पात्री से सार, नाम कहुँ सुणजो दोई च्यार ॥३२॥
सागलपुर वहाँ अभिराम, कोट वसि ते मोटो गाम।
सोभावंत भलो सावलो, आसपुर नगर दीसे अतिभलो ॥३३॥

इसके पश्चात् कवि ने, आसपुर के ठा० अमरसिंह चौहान का उल्लेख करते हुए भीमाशाह उनका प्रधान था, उसने संघ सहित प्रथम प्रयाण साबला कर धुलेव जाकर केशरिया जी की, यात्रा की, पूजा की, दान दिया, इसका वर्णन किया है।

ऊपर दिये गये उद्धरण में राउल जसवंतसिंह को ३५०० धरा का धणी बतलाया है एवं उनकी पटरानी का नाम वीरपुरी कहा गया है। इसके पश्चात् महारावल शिवसिंहजी के राज्यकाल संवत् १७९५ का लेखा स्थानीय पार्श्व जिनालय में पाया जाता है[1]। अब जैन विद्वानों के आधुनिक ग्रन्थों में डूँगरपुर के सम्बन्ध में जो कुछ प्रकाशित हुआ है उसे भी उद्धृत कर दिया जाता है। इनमें सबसे अच्छा वर्णन विजय यतीन्द्र सूरि ने किया है। आपने डूँगरपुर राज्य के १ थाना, २ पुनाली, ३ वनकोडा, ४ बड़ौदा, ५ पुंजपुर, ६ आसपुर, ७ सपबारा, ८ वेणेश्वर,[2] ९ नागतन[3] (नागोतन, नागकडा) पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। यहाँ लेख विस्तार भय से केवल डूँगरपुर-सम्बन्धी अवतरण ही दे रहा हूँ :

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन डिरेक्टरी वि०सं० १९७० में बम्बई से प्रकाशित में

डूँगरपुर

बाँसवाड़ा से लगभग ४५ मील नीमच से डीसा तक जो सड़क गई है उसके पास नीमच से १३९ मील राजपूताने में देशी रजवाड़े की राजधानी डूँगरपुर है। यहाँ रेल नहीं है। स्टेशन से डूँगरपुर तक जाने को बैलगाड़ी किराये पर मिलती है। निकटवर्ती स्टेशन उदयपुर और तलोद है। पहाड़ी की बगल पर महारावल का महल पादमूल के पास, झील, जेलखाना देखने योग्य है। यहाँ प्रतिवर्ष मेल भरता है जो १५ दिन तक रहता है।

डूँगपुर का राजवंश सिसोदिया राजपूत है। यह प्रान्त पहाड़ी होने के कारण भीलों की संख्या अधिक है। यहाँ पर दिगम्बर जैनियों के वीसामूहड़, दसामूहड़, नरसिंहपुरा वीसा, नागदा वीसा आदि जातियों के १०२ घरों की ३२१ मनुष्य-संख्या है। ४ शिखरबंद मंदिर हैं। मंदिरों में धर्मशास्त्र ६० हैं। कुछ ग्रन्थ ताड़पत्रों पर लिखे हुए हैं।

डूँगरपुर से दो मील की दूरी पर सुरपुर ग्राम में एक शिखरबंद मन्दिर है। इस मन्दिर के पूजन प्रक्षाल का प्रबन्ध डूँगरपुर के पंच करते हैं। प्रतिवर्ष कुआँर बदी प्रतिपदा (पड़वा, परमा) को यहाँ मेला भरता है। मेला एक दिन रहता है। मेले में श्वेताम्बर और वैष्णव भी आते हैं। सुरपुर ग्राम में जैनियों का एक भी घर नहीं है।

डूँगरपुर के निकटवर्ती सापी ग्राम में एक शिखरबंद मंदिर है। मन्दिर में पूजन प्रक्षाल भी नहीं होता है। कहते हैं कि पहले इस ग्राम में नागदा जाति के ४० घर थे, परन्तु अब एक भी नहीं है। चूँडावाडा ग्राम में भी एक शिखरबंद मंदिर ग्राम से दो मील

१—प्र० जैन धातु प्रतिमा लेख संग्रह भा० १ लेखाङ्क १४६।

२—देखो यतीन्द्र विहार दिग्दर्शन भा० ४ पृ० ७६ से ८६।

३—दे० जैन सत्यप्रकाश वर्ष ३ अंक ८

की दूरी पर पहाड़ की झील में है। प्रचाल प्रति रविवार को एक ब्राह्मण पुजारी करता है। यहाँ पर कई अतिशय लोगों ने देखे हैं।

डूँगरपुर में व्यापार प्राय: सब चीजों का होता है; परन्तु अफीम का अधिक होता है। डूँगरपुर का सफेद पत्थर—जिससे मूर्तियाँ, प्याले बनते हैं—प्रसिद्ध है।

यतीन्द्र विहार दिग्दर्शन भा० ४ पृ० ७७, ८१ से डूँगरपुर सम्बन्धी बातें यहाँ उद्धृत की जा रही हैं।

यह डूँगरपुर (गिरिपुर) धनमाता पहाड़ की त्रिकोण विशाल जमीन पर इस राज्य की मुख्य राजधानी का शहर है और इस पर अहाड़ा शाखा के राणा सरदारों का अधिकार है, जो यहाँ रावल की उपाधि से पहचाने जाते हैं। धनमाता पहाड़ के ऊपर से शहर के चारों तरफ मजबूत किला कोट है, जो थाना गाँव के शिलाशाह ओसवाल का बनाया हुआ है।

किले में डूँगरिया भील की दो सती स्त्रियों के स्मरणार्थ धनमाता और कालीमाता के सशिखर दो देवल बने हुए हैं। शहर के पास उत्तर में गैप सागर नाम का बड़ा तालाब है और उससे छ: मील के फासले पर एक विशाल बाँध बाँधा हुआ है, जिससे नल के द्वारा सारे शहर में और नहरों के द्वारा खेतों में जल पहुँचाया जाता है। शहर से दक्षिण पहाड़ पर विजयगढ़ नाम का राजमहल और नीचे जूने प्रासाद हैं। गैप सागर के दक्षिण किनारे पर उदयविलास और तालाब में बादल महल है, जो हवाखोरी के लिए बनाये गये हैं। जूने महल के मुहल्ले में ५०० घर ओसवाल जैनों के और ५०० घर नागर महाजनों के आबाद थे; परन्तु शालशाह के मर जाने के बाद वे उछाला करके देशान्तरों में चले गये। शहर में अन्दाजन १४००० मनुष्य निवास करते हैं जिनमें बीसा पोरवाड़ों के ३५, बीसा हुबडों के २५, एवं श्वेताम्बर जैनों के ६० और नरसिङ्गपुरा दिगम्बर जैनों के ३०० घर हैं।

इस शहर में मुसलमान बोरा, तीन भाग और हिन्दू एक भाग हैं। शहर में पोस्ट आफिस, विजय हास्पिटल, पिन्हें स्कूल, दफ्तर-पुलिस, लक्ष्मण गेस्ट हाउस और अस्पताल हैं। सड़कों पर सर्वत्र पानी के नल और इलेक्ट्रिक की बत्तियाँ लगी हुई हैं। इस राज्य के नीचे ७७३ गाँव हैं जिनमें २७२ खालसा, ३५९ जागीर और १४२ माफी में हैं। सारे राज्य की जन-संख्या १९२१ की गणना के अनुसार १,८९,२७२ के करीब है जिनमें १,८०,८०१ हिन्दू, ९३,९५२ भील, ८,४५६ मुसलमान, ११ क्रिश्चियन और ४ पारसी हैं। हिन्दुओं में तीस प्रकार के ब्राह्मण, १६ प्रकार के महाजन तथा ४६ जाति के राजपूत हैं। शेष कनिष्ठ वर्ण के जानना चाहिए। यह राज्य राजपूताना के दक्षिण में १४४७ वर्गमील में फैला हुआ है। इसके उत्तर में मेवाड़, पूर्व में बांसवाड़ा, दक्षिण में रेवाकाँठा एजेन्सी की रियासतें और पश्चिम में महीकाँठा रियासत है। इडर और लूणावाडा राज्य है। इसकी लम्बाई ६४ और चौड़ाई ४५ मील है। इसके चारों तरफ बावला बोर, खेर, खेजड़ी आदि कंटक वृक्षों की झाड़ी अधिक है।

जूने महल के मुहल्ले में शालशाह का बनवाया सौध शिखरी जिनालय जो ऊँची कुरसी पर है और इसके आस-पास तथा सामने इस समय मुसलमानों की बस्ती अधिक है। इसमें धातुमय परिकर के बीच में श्री पार्श्वनाथ की १॥ फुट बड़ी प्रतिमा

विराजमान है जो श्वेत वर्ण, सं० १३१२ की प्रतिष्ठित है। कहा जाता है कि इसमें एक प्राचीन राजमहल तक लम्बा भोंयरा था जिसमें होकर महाराणी हमेशा पार्श्वनाथ के दर्शनार्थ आती जाती थीं। इस समय भोंयरा बन्द है और इस जिनालय में मूल नायक के अलावा पाषाणमय ३२, धातुमय १२ प्रतिमा तथा सिद्धचक्र १ स्थापित है, जो वि० सं० १८८९ और १९०४ की प्रतिष्ठित है। इसके पास पिछले भाग में दूसरा जिनालय है जिसमें श्याम वर्ण २ फुट बड़ी सं० १९१५ की प्रतिष्ठित श्री महावीर प्रभु की सुन्दर प्रतिमा है। इसके द्वार पर मङ्गलमूर्ति के ऊपर लिखा है कि :—

संवत् १४८० वर्षे पूर्णिमापक्षे श्री हेमचन्द्र सूरि शिष्य श्री लक्ष्मीचन्द्र सूरि श्री महावीर प्रासादकारापिता गुरुश्रेयोर्थे।

तीसरा जिनालय बाजार में है जो राजशाही सौधशिखरी और बावन देवकुलिका-वाला है। इसको सं० १५२६ में यहीं के निवासी वीसा हुंबड़ जातीय श्वेताम्बर जैन सांवल-दास दावड़ा ने बनवाया है। कहा जाता है कि पहले इसमें धातुमय सपरिकर आदि-नाथ की विशालकाय प्रतिमा थी। उसको मुसलमानों ने सुवर्ण के लोभ से गला डाला। बाद में श्वेत वर्ण २॥ हाथ बड़ी आदिनाथ की प्रतिमा विराजमान की, जो इस समय विद्यमान है। इसका परिकर धातुमय है जिसमें चौबीस जिनेश्वरों की मूर्तियाँ तथा दो काउसगिये हैं। यह परिकर सं० १५२९ का प्रतिष्ठित और बड़ा सुन्दर है। देवकुलि-काओं के सहित इस जिनालय में श्याम पाषाणमय ६८, धातुमय १०, धातु पंचतीर्थि १२ प्रतिमा तथा चतुर्विंशति जिनपट्टक १ और श्याम पाषाण का सिद्धचक्र यंत्र-पट्टक १ मौजूद हैं। ये सभी प्रतिमाएँ संवत् १८८९ की प्रतिष्ठित और इनके प्रतिष्ठाकार तपागच्छीय भ० श्री विजयरत्न सूरि जी हैं। चौथा जिनालय शान्तिनाथ का है जो सशिखर और इसमें मूल नायक श्री शान्तिनाथ की श्वेत वर्ण डेढ़ हाथ बड़ी सं० १९०८ की प्रतिष्ठित सर्वांग सुन्दर प्रतिमा विराजमान है। इन जिनालयों में दो पोरवाड़ जैनों के और दो श्वेताम्बर हुम्बड़ जैनों के सुपुर्द हैं।

शहर में दिगम्बर जैनों के भी तीन चैत्यालय हैं जिनमें आदिनाथ का चैत्य बावन देवकुलिकाओं से शोभित है। ये चैत्यालय श्वेताम्बर जिनालयों के बाद के बने हुए हैं जिनमें सफाई अच्छी नहीं है। आदिनाथ जिनालय के पास ही श्वेताम्बर जैन उपा-श्रय है; जैन साधु-साध्वी इसी उपाश्रय में ठहरते हैं।

———

तुलादान की दृष्टि से दान-प्रणाली का विकास

श्री भवानीशङ्कर उपाध्याय एम० ए०, एल्-एल० बी०, साहित्यरत्न

(१)

युग-प्रभाव के कारण पौराणिक काल में व्रतदानादि कृत्यों को प्राधान्य मिला; जो स्थान वैदिक काल में स्तुति, उपासना तथा प्रार्थनाओं को उपलब्ध था, एवं जो स्थान ब्राह्मणकाल में यज्ञादि क्रियाओं का था वही स्थान पौराणिक युग में व्रत-दानादि कर्तव्यों को प्राप्त हुआ।

वैदिक काल भारतीय संस्कृति का प्रभात काल था; तत्कालीन परिस्थितियों में जनता प्राकृतिक देवताओं (इन्द्र, वरुण, सूर्य, पृथ्वी आदि) की अभ्यर्थना द्वारा अपने अस्तित्व को नियमित तथा ऊर्ध्वगामी बनाने में निरत रहती थी; ब्राह्मणकाल में संस्कृति की धारा यौवन की देहली पर थी। वह काल स्वयं उतावला एवं उलझनों से पूर्ण था, अत: समस्त कार्यों का केन्द्र 'यज्ञ की वेदी' बन गई। मंत्रों तथा याज्ञिक क्रियाओं द्वारा देवताओं के साक्षात्कार तथा तुष्टीकरण की चेष्टा की गई। दीर्घकालान्तर के कारण यज्ञों के भेद, प्रभेद स्थिर किये गये और यज्ञ की वेदी पर अपरिमित शक्ति, प्रचुर सम्पत्ति तथा अनेक जीव बलि किये गये। सूर्य की गति के नियम की तरह इन सभी विचारधाराओं का उद्भव, विकास तथा पतन होना भी स्वाभाविक एवं प्राकृतिक था; इस प्रकार विचारधाराएँ प्रारम्भ हुईं, विकसित हुईं तथा पतनोन्मुख होने पर विलीन भी होने लगीं, जिनका स्थान नवीन विचारधाराओं ने ग्रहण कर लिया। भारतीय संस्कृति का स्वरूप सनातन होने पर भी सदैव विकासोन्मुख रहा है। प्रत्येक युग परिवर्तन के साथ ही साथ धार्मिक, दार्शनिक तथा जीवन की अन्य प्रवृत्तियों का प्राधान्य अथवा केन्द्र निरन्तर बदलता गया है। प्राचीन विचारधारा के अवशेष भले ही रहे हों, पर प्राधान्य युग की माँग के अनुसार अवश्यमेव घटा, बढ़ा या परिवर्तित हुआ है। धर्म और दर्शन के क्षेत्र इस सामान्य नियम के अपवाद नहीं हैं।

प्रत्येक युग-परिवर्तन के साथ ही साथ विचार-परिवर्तन होना सामान्य प्राकृतिक नियम है। युग-परिवर्तन तथा विचार-परिवर्तन अकारण नहीं हो जाता। इनके लिए सजीव एवं अटल कारण होते हैं। ब्राह्मण-युग के यज्ञ-प्रधान धर्म का काल लोकमान्य तिलक के मतानुसार २५०० ई० पूर्व है। तदनन्तर उपनिषदों के समय से (लोकमान्य तिलक के मतानुसार लगभग १६०० ई० पूर्व) ब्राह्मण-विचारधारा के प्रति सन्देह प्रकट किया जाने-लगा था, उपनिषद्काल के तत्त्व-चिन्तकों ने सत्य (Reality) के अन्वेषणार्थ चिन्तना-शक्ति का विकास किया। जैनों और बौद्धों ने भी ब्राह्मणवाद के विरुद्ध नवीन धर्म स्थापित किये, तथापि इस विचारधारा का प्रभाव सूक्ष्म रूप से अब भी मौजूद है; तदपि उपनिषद् काल से ही यज्ञादि क्रियाओं की प्रधानता नहीं रही है, यह स्पष्ट प्रतीत है।

दान, व्रत, तीर्थप्रधान पौराणिक विचारधारा के उद्भव और विकास का प्रमुख

कारण तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थिति है। ब्राह्मणकाल पौराणिक काल की अपेक्षा अधिक शान्त एवं समृद्ध था। ब्राह्मणकाल के उपरान्त देश में विभिन्न विदेशी जातियों के हमले प्रारम्भ हो गये थे। शक, ग्रीक, सीदीयन और हूणों के आक्रमण के कारण उत्तरी भारत में बहुत गड़बड़ी मचने लगी थी, अत: जनसाधारण और विशिष्ट पुरोहितवर्ग लम्बे और अत्यधिक खर्चीले यज्ञ सम्पादन करने में असमर्थ थे। इसके उपरान्त अनेक नये नये विचारों तथा धर्मों के प्रादुर्भाव के कारण यज्ञों की महिमा के विषय में जनता में अविश्वास उत्पन्न हो गया, तथा यज्ञों में प्रयुक्त हिंसा के कारण भी लोगों के हृदयों में यज्ञ के प्रति अरुचि होना स्वाभाविक था। इन सब कारणों से पुराणकालीन दान, व्रत, तीर्थ-प्रधान विचारधारा का जन्म हुआ और इस काल में सर्वत्र दान की महिमा गाई गई। मनु तथा पराशर सरीखे प्रसिद्ध स्मृतिकारों ने युगधर्म की माँग के आधार पर 'दान' का महत्त्व सर्वोपरि सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इन्होंने इतिहास को चार युगों में विभक्त किया; यथा--कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग और इन चारों युगों के लिए क्रमश: तप, ज्ञान, यज्ञ तथा दान की प्रधान महिमा प्रतिष्ठित की।[१] इसके अनुसार चार आश्रमों में भी मनु ने गृहस्थाश्रम को ही प्रधानता दी।[२] हेमाद्रि-विरचित 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' के 'दानखंड' में भी गृहस्थाश्रम के लिए 'दान' को ही सर्वोपरि धर्म स्वीकार किया है।[३]

इसका अर्थ यह नहीं है कि वैदिक-काल तथा उपनिषद्-काल में दानादि कर्म प्रचलित नहीं थे। यहाँ पर केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि वेदों तथा उपनिषदों में दान का उल्लेख तो मिलता है परन्तु दानादि क्रियाओं को वह प्रधानता नहीं दी गई थी जैसा कि पुराणकालीन विचारधारा में दान को धर्म का केन्द्र मान लिया गया।

ऋग्वेद में दान की प्रशंसा की गई है।[४] तथा दानी पुरुषों का उल्लेख प्रशंसापूर्वक किया गया है। ऋग्वेद में दानवीर प्रष्टोक[५], सुदास[६], कशु[७], तिरींदिर[८], कानीता[९], सावर्णी[१०], इत्यादि की प्रशंसा की गई है।

१—तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे—

मनु १।८६

=पराशर १।२३, शान्ति पर्व २३२।२८ तथा वायुपुराण ८।६५,६६ में भी इसी भाव का प्रतिपादन किया गया है।

२—मनु ३।७८

३—यतीनां तु शमो धर्मस्त्वनाहारो वनौकसाम्। दानमेव गृहस्थाना शुश्रूषा ब्रह्मचारिणाम्॥

—हेमाद्रि (दानखण्ड पृ० ६)

४—ऋग्वेद १।१२५।५-६;१।१२६।१-५
५—Ibid ६।४७।२२-२५
६— " ७।१८।२२-२५
७— " ८।५।३७-३९
८— " ८।६।४६-४८
९— " ८।४६।२१-२४
१०—" ८।६८।१४-१९ और ऋ० १०।६२।८-११

छान्दोग्योपनिषद् में दर्शनानुरागी राजा जानश्रुति द्वारा तत्त्वज्ञानी रैक्व को ६०० गायें, एक रथ, एक हार तथा अपनी कन्या के दान का उल्लेख मिलता है।[११]

उपर्युक्त अवतरणों के बावजूद भी यह माना जाता है कि वैदिक तथा औपनिषदिक काल की अपेक्षा 'दान' को विशेष महत्त्व तथा प्राधान्य दिया जाना पौराणिक कालीन विचारधारा की देन है। पुराणों में से भी मत्स्यपुराण[१२], अग्निपुराण[१३], तथा वाराह पुराण[१४] में दान-सम्बन्धी सामग्री अत्यन्त प्रचुर मात्रा में मिलती है।

आजकल दानादि क्रियाओं तथा प्रयोगों का प्रमुख ग्रन्थ 'चतुर्वर्ग-चिन्तामणि' है। यह ग्रन्थ दाक्षिणात्य विशेषज्ञों में विशेष माननीय श्री 'हेमाद्रि' द्वारा विरचित है। इसी ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार वत्सगोत्रीय बापूदेव के पौत्र एवं कामदेव के पुत्र हैं।[१५] आत्मप्रशंसा से युक्त एक अवतरण से प्रतीत होता है कि हेमाद्रि पूर्ववर्ती लेखकों से अपने को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते थे।[१६]

हेमाद्रि देवगिरि (वर्तमान दौलताबाद) के सम्राट् यादव महादेव के राजकीय ग्रन्थभंडार के अधिकारी थे।[१७] अतः 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' का निर्माणकाल पी० वी० काणे ने महादेव के राज्यकाल सन् १२६० से १२७१ ई० के लगभग स्वीकार किया है।[१८] इसके अतिरिक्त गोविन्दानन्दकृत दानक्रियाकौमुदी, नीलकंठकृत दानमयूख, विद्यापति-कृत दानवाक्यावली, बल्लालसेनकृत दानसागर तथा मित्रमिश्रकृत दानप्रकाशादि दान-साहित्य के उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

(२)

दान का महत्त्व स्वीकार करने के पश्चात् दान के प्रमुख अंगों पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत हुआ। ज्यों ज्यों दान-प्रणाली का महत्त्व तथा प्राधान्य बढ़ता गया त्यों त्यों धर्मशास्त्रज्ञों का ध्यान दान के तात्त्विक विवेचन की ओर बढ़ता गया। दान-प्रणाली के इस विकास युग में दान की योग्यता-अयोग्यता पर गंभीर विचार हुआ तथा देश और काल अंग भी जोड़ दिये गये। हेमाद्रि के समय तक दान के प्रमुख ६ अंग स्थिर

११—छांदोग्य उपनिषद् ४।२।२-४

१२—अध्याय ८२ से ६१, तथा २७४ से २८६

१३— " २०८ से २१५

१४— " ६६ से १११

१५—चतुर्वर्ग-चिन्तामणि खण्ड ३, भाग १, श्लोक १, २

१६—नैवासीन्न च वर्तते न भविता हेमाद्रिसूरेः परः। चतुर्वर्ग-चिन्तामणि खण्ड १। २०, तथा ३।१।२२,

१७—Ibid खण्ड १।६, १३.

१८—P. V. Kane : History of Dharmasastra vol. I. 357.

किये जा चुके थे[१९]; तथा इन अंगों की कसौटी पर दान की योग्यता का निर्णय किया जाता था। दान के प्रमुख अंगों का विवेचन निम्नानुसार किया जाता है :—

१ दाता—प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो अथवा शूद्र, दान देने का अधिकारी माना गया है। इस काल में दान देना एक कर्तव्य कर्म समझा जाने लगा। 'अदाता धनी के गले में पत्थर बाँधकर जल में डुबा देने तक का निर्देश किया गया है।[२०] देवल के अनुसार दाता का व्याधिरहित, धार्मिक, श्रद्धालु, सदाचारी, पवित्र एवं संयमी होना आवश्यक है। वेदव्यास का वचन है कि सौ में से १ वीर, हजार में से १ विद्वान् तथा लाखों में एक वक्ता होता है परन्तु आदर्श दानी विरला ही होता है।[२१]

२ प्रतिग्रहीता—दान लेनेवाले की योग्यता पर धर्मशास्त्रों में सतर्कतापूर्वक विचार किया गया है। माता, पिता, गुरु, मित्र, सदाचारी व्यक्ति, शुभचिन्तक, अनाथ तथा गरीब को देना सफल दान कहा गया है। दुष्ट, जुवारी, लम्पट, भाट, नट, चोर, धूर्त तथा दुराचारी को दिया गया दान निष्फल माना गया है।[२२] मनुस्मृति तथा विष्णुधर्म-

---

१९—दाता प्रतिग्रहीता च श्रद्धा च धर्मयुक् ।
देशकालौ च दानानामङ्गान्येतानि षड् विदुः ॥
—हेमाद्रि (दानखण्ड पृ० १४)

१९A—प्राचीन जैन ग्रन्थ "तत्त्वार्थसूत्र" (पं० सुखलाल जी के अनुसार विक्रम की प्रथम शताब्दि के समय का ग्रंथ) में दान की विशेषता के चार अंग स्थिर किये गये हैं :—
अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।
विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥
—उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७।३३,३४

१९B—मनुस्मृति अध्याय ४। २२६-२२७ में भी उपरोक्त ४ अंग उल्लिखित हैं।

२०—द्वावेवाप्सु प्रवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा महाशिलाम् ।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपास्विनम् ॥
—Quoted by अपरार्क p. 199

उद्योग पर्व ३३।६० में भी यही भाव है।

२१—शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः ।
वक्ता शतसहस्रेषु दाता भवति वा न वा ॥
—वेदव्यास ४।६०

२२—माता पित्रोर्गुरौ मित्रे विनीते चोपकारिणि ।
दीनानाथविशिष्टेषु दत्तं च सफलं भवेत् ॥
धूर्ते बन्दिनि मल्ले च कुवैधे कितवे शठे ।
चाटचारण चौरेषु दत्तं भवति निष्फलम् ॥
—दक्ष ३।१७-१८

सूत्रानुसार ढोंगी या वेद से अनभिज्ञ ब्राह्मण को दान देने का निषेध है।[२३] विशेषता अथवा जाति का विचार किये बगैर भूखे को भोजन तथा गरीब को वस्त्रदान देना धर्म है।[२३A]

३ श्रद्धा—दान देनेवाले के मन में श्रद्धा होना आवश्यक है। केवल देना ही 'दान' नहीं है अपितु देते समय दाता के मन में अदृष्ट पुण्य भावना के प्रति दृढ़ विश्वास होना चाहिए। दिखावा, आडम्बर, यशलिप्सा अथवा अन्य किसी स्वार्थ-भाव से दिया गया दान निष्फल माना जाता है। इसी प्रकार यदि दाता का दान धन अनुचित उपाय से संकलित हो अथवा अश्रद्धापूर्वक दिया जाय या किसी कुपात्र को दान दिया जाय तो उक्त दान निष्फल माना गया है।[२३B]

४ देय दान में अनेक प्रकार की वस्तुएँ दी जा सकती हैं। ऋग्वेद में प्रधानतः गौदान का विशेष उल्लेख पाया जाता है, जिसमें योग्य ऋषि को ६०,००० तक गौदान करने का विशेष महत्त्व प्रतिपादित है।[२४] किन्तु उसी समय घोड़े[२५], ऊँट[२६], और दासियां[२७] के भी दिये जाने का उल्लेख मिलता है। मत्स्यपुराण में गुडधेनु, घृतधेनु, तिलधेनु जलधेनु, क्षीरधेनु, मधुधेनु, शर्कराधेनु, दधिधेनु, रसधेनु और जीवित गौदान[२८] का तथा नमक, शक्कर, सुवर्ण, तिल, कपास, मक्खन, रत्न, चाँदी के ढेर[२९] के दान का विशेष प्रमाण मिलता है। इसी पुराण में ४००० तोले सुवर्ण के दान को श्रेष्ठ कहा गया है।[३०] १००० रत्न[३१] तथा ४०,००० तोले चाँदी की ढेरी का दान सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[३२]

मनु के मतानुसार गौ, पृथ्वी, तथा विद्यादान सर्वोत्तम दान माने गये हैं।[३३] वशिष्ठ भी इन तीन दानों को 'अतिदान' की संज्ञा देते हैं तथा इन सबमें श्रेष्ठ 'विद्यादान' को मानते हैं।[३४] विष्णुधर्मसूत्र की आज्ञा है कि 'अभयदान' ही सर्वश्रेष्ठ एवं महान् दान है।[३५]

२३—मनुस्मृति ४। १९३—२००; तथा विष्णुधर्मसूत्र ९३। ७। १३

२३ A—अन्नाच्छादनदानेषु पात्रं नैव विचारयेत्।
अन्नस्य क्षुधितं पात्रं विवस्त्रो वसनस्य चेति॥

२३ B देवल अपरार्क २९० विष्णुधर्मोक्तेः दानमयूख ५०

२४—ऋग्वेद १। १२६। ३

२५—Ibid ५। १८। ५, ७। १६। १०, ८। ४६। २२

२६— " ८। २५। ३७; ८। ४६ २२

२७— " १। १२६। ३; ६। २७। ८; ७। १८। २२; ८। १९। ३६

२८—मत्स्यपुराण अध्याय ८२। १८-१९

२९— " " ८३। ४-६

३०— " " ८६। २

३१— " " ९०। १-२

३२—Ibid अध्याय ९१। २

३३—मनु ४। २३३

३४—त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वती।
अतिदानं हि दानानां विद्यादानं ततोधिकम्॥—वशिष्ठ २९।१९

३५—विष्णुधर्मसूत्र ९२। १

दान तीन प्रकार के माने गये हैं; नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य । गीता में भी सात्विक, राजस एवं तामस दान की चर्चा की गई है ।[३६]

५ **काल**—नित्यदान के अतिरिक्त विशेष प्रसंगों पर दान का अधिक महत्त्व है। सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, उत्तरायण तथा दक्षिणायन-दिवस, संक्रान्ति, व्यतिपात, मासिक चन्द्रदर्शन वगैरह विशेष पर्वों पर दान का विशिष्ट माहात्म्य है। इसी प्रकार सोमवती अमावास्या, रविवार की सप्तमी, मंगल चौथ तथा बुध की अष्टमी का महत्त्व भी ग्रहणपर्वों के समान ही है ।[३७]

६ **स्थान**—घर में दान करने से दसगुना, खलिहान में सौगुना, तीर्थ में हजार गुना तथा शिवलिंग के सान्निध्य में असंख्य गुना पुण्य होता है ।[३८]

(३)

पुराण-विचारधारा के तृतीय उत्थानयुग में दान के अनेक प्रकार व्यवस्थित किये गये। यद्यपि पुराणों का आदिकाल कतिपय विद्वानों के मतानुसार वैदिक मंत्रों के समकालीन है, परंतु पुराणों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणों की रचना गुप्तकाल के समय के लगभग तक होती रही है। अतएव यह निर्णय करना असंभव सा है कि पुराणों का कितना भाग प्राचीन तथा कितना भाग बाद का है। तुलादान व्यवस्थित पुराण-विचारधारा के सोलह महादानों में से एक प्रकार का प्रमुख दान विशेष है। उक्त सोलह महादान ये हैं—१ तुलापुरुषमहादान, २ हिरण्यगर्भमहादान, ३ ब्रह्माण्ड-दान, ४ कल्पपादपदान, ५ गोसहस्रदान, ६ हिरण्यकामधेनुदान, ७ हिरण्याश्वदान, ८ हिरण्याश्वरथदान, ९ हेमहस्तिरथदान, १० पंचलांगलकदान, ११ धारादान, १२ विश्वचक्र दान, १३ कल्पलतादान, १४ सप्तसागरकदान, १५ रत्नधेनुदान तथा १६ महाभूतघटदान ।[३९]

हेमाद्रि ने भी उपर्युक्त सोलह दानों को मत्स्यपुराण से उद्धृत किया है तथा मत्स्यपुराण के आधार पर ही भगवान् वासुदेव, अम्बरीश, भार्गव, सहस्रबाहु, प्रह्लाद, पृथु और भरत आदि नरेशों की नामावली प्रस्तुत की है, जिन्होंने इन दानादि कार्यों द्वारा भगवान् विष्णु की कृपा से आपत्ति का निवारण किया था ।[४०]

तुलापुरुषदान इनमें से सर्वप्रमुख माना गया है ।[४१] फिर भी लगभग आठवीं सदी के पूर्व तुलादान या तुलापुरुषदान का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वाल्मीकिकृत रामायण, व्यासकृत महाभारत, मौर्यकालीन विदेशी यात्रियों के भ्रमण-वृत्तान्त, अशोक के शिलालेख, विक्रमादित्यकालीन कविरत्न कालिदास के काव्य-ग्रन्थों अथवा बाण के हर्ष-

३६—गीता अ० १७ श्लोक २०-२२

३७—हेमाद्रि दानखण्ड पृ० ६६ में उद्धरित।

३८—गृहे दशगुणं दानं गोष्ठे चैव शताधिकम् ।
पुण्यतीर्थेषु साहस्रमनन्तं शिवसन्निधौ ॥
—Quoted in दानमयूख p. 8.

३९—मत्स्यपुराण अध्याय २७४।७ से १२

४०—Ibid अध्याय २७४।७—१२ तथा हेमाद्रि दान० p. 176.

४१—मत्स्यपुराण अ० २७४।१६

चरित्र में भी तुलादान का कोई प्रसंग नहीं मिलता है। अतएव ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि मौर्य तथा गुप्तकालीन भारत के समय तक तुलादान का प्रचार नहीं था। तुलादान सम्बन्धी शिलालेख व ताम्रपत्र लगभग सातवीं शताब्दी के बाद के प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि अधिकांश शिलालेख एवं ताम्रपत्र दक्षिण भारत के नरेशों के सम्बन्ध में हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि तुलादान दक्षिण भारत में उत्तर भारत की अपेक्षा अधिक प्रचलित एवं महत्त्वपूर्ण माना जाता था। राष्ट्रकूट नरेश इन्द्रराजा III ने अपने पट्टबन्ध महोत्सव के अवसर पर फाल्गुन शुक्ल सप्तमी शक सं० ८३६ को तुलादान किया था, और तुला में आरूढ़ होते समय तथा तुला से नीचे उतरते समय ब्राह्मणों तथा मन्दिरों को सुवर्ण मुद्राओं का दान दिया था।[४२] उसी प्रकार अन्य राष्ट्रकूट राजा गोविन्द IV ने भी अपने पट्टाभिषेक के अवसर पर शक सं० ८५२ में ब्राह्मणों को गाँव तथा सुवर्ण मुद्राएँ दान दी थीं।[४३]

चौल राजा रामराजा I ने भी लीरुविशतुर के शिवलिंग के सम्मुख अपने राज्यकाल के २९वें वर्ष ई० सन् १०१४ में तुलाभार दान दिया।[४४] इसी प्रकार चौलराजा अरुण-मोलीवर्मन के तुलाभारदान का उल्लेख भी मिलता है।[४५]

राष्ट्रकूटों और चौलराजाओं की तरह पांड्य राजाओं के भी तुलादान किये जाने का उल्लेख शिलालेखों में मिलता है। मदुरा का पांड्य राजा सुन्दर सोने से कई बार तोला गया तथा इस तुलाधिरोह के सुवर्ण से भगवान् रंग का आलय बनवाया।[४६]

पांड्यवंशीय राजा तेर मारण ने शौर्य के अनेक कार्य किये तथा गोसहस्र, हिरण्य-गर्भ, तुलाभार इत्यादि महादान भी सम्पादित किये और दान का धन वेदपाठी ब्राह्मणों को दिया।[४७] इसी प्रकार पांड्य राजा केरल ने भी अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की तथा हिरण्यगर्भादि महादानों का द्रव्य आमंत्रित ब्राह्मणों तथा अपाहिजों को बाँट दिया था।[४८] विजयनगर के राजा कृष्णराय ने भी भगवान् शूलपाणि के समीप, कृष्ण-वेणी नदी के किनारे आषाढ़ शुक्ल द्वादशी शक सं० १४३७ को तुलापुरुष दान किया।[४९]

४२—Epigraphia Indica (E. I.) Volume IX, pp. 25 & 40.

४३—कालातीत संवत्सरशतेष्वष्टसु द्वापञ्चाशदधिकेष्वङ्कतोपि शक संवत् ८५२ प्रवर्तमान खरसंवत्सरान्तर्गत जेष्ठशुक्ल दशम्यां सोमूरिने हस्तसमीपस्थे चन्द्रमासि गोदावरीतटसमीपस्थे कपित्थकग्रामे पट्टबन्धमहोत्सवे तुलापुरुषमारूढ्न ॥ —E. I. Vol. VII p. 40.

४४—E. I. Vol. XII p. 121.

४५—E. I. Vol. XXII p. 221.

४६—E. I. Vol. II p. 14.

४७—E. I. Vol. XVII p. 307.

४८—E. I. Vol. XVII p. 306.

४९—Epigraphia Indica Vol. VII p. 20.

कांजीवरम् शिलालेख शके १४४४ के अनुसार भी कृष्णदेवराय के द्वारा तुलापुरुषदान किये जाने का उल्लेख मिलता है।[५०] विजयबाहु I के पोलोन्तरूब शिलालेख से भी विदित होता है कि सूर्यशाखा के इक्ष्वाकुवंशीय समुद्रलंकाद्वीपाधिपति चक्रवर्ती राजा श्री विजय-बाहुदेव (या संघबोधी वर्मन) ने अनेक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके संघशुद्धि के लिए तीन बार 'तुलाभार' किया।[५१]

इसी प्रकार दाक्षिणात्य नरेश वीर भूपति ने भगवान् सुन्दरनायक का मण्डप तथा भगवती मीनाक्षी को कवच धारण करवाकर हेमाश्व, विश्वचक्र, तुलापुरुषादि महादान सम्पादित कराये[५२] तथा इसके पुत्र कृष्ण महीपति का भी प्रतिदिन १६ महा-दानों में से एक महादान देने का उल्लेख है।[५३] तीरुमलमहाराय का भी अनेक बार तुलापुरुषदान दिये जाने का उल्लेख है।[५४]

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि तुलादान दक्षिणी द्रविड़ नरेशों में विशेष मान्य था। नैपाल के राजा प्रतापमल्ल का भी माघ शुक्ल सप्तमी, नैपाली सं० ७७८ को तुलापुरुषदान का वर्णन मिलता है।[५५]

इसके अतिरिक्त कन्नौज के गोविन्दचन्द्र के गगहा के संवत् ११९९ के लेख में भी उल्लेख है कि यशोविग्रह के पौत्र तथा महीचन्द्र के पुत्रचन्द्रदेव ने गाधीपुर (कन्नौज) का साम्राज्य स्थापित करके काशी, कुशिका, उत्तर कौशल की रक्षा की तथा ब्राह्मणों को अनेक तुलापुरुषदान दिये।[५६]

'तुलापुरुषदान' सम्बन्धी प्राय: सभी शिलालेखों की खोज से स्थिर होता है कि राजा लोग विशेषत: दक्षिण भारत के भिन्न भिन्न अवसरों पर सुवर्ण से तुलापुरुषादि महादान करते थे और इनका धन ब्राह्मणों तथा गरीबों को बाँट देते थे अथवा किसी मन्दिर वगैरह के निर्माणादि कार्य में लगा दिया करते थे। प्राय: ब्राह्मण लोग दान के स्वर्ण तथा अन्य दानीय सामग्रियों को स्वीकार करते थे। परन्तु कामरूप के राजा जयपालदेव-कालीन सीलमपुर के शिलालेख में उल्लेख मिलता है कि कामरूप के राजा जयपाल देव ने 'तुला-पुरुषमहादान' के प्रसंग पर प्रहास नामक एक विद्वान् ब्राह्मण को दान देना चाहा, परन्तु त्यागिश्रेष्ठ प्रहास ने दान लेने से इनकार कर दिया।[५७]

(४)

धर्मशास्त्रकार हेमाद्रि ने मत्स्यपुराण में उल्लिखित तुलापुरुषदान के अध्याय के

५०—Madras Epigraphist's Report 1914-15, page 109.

५१—E. I. Vol. XVIII p. 337-338.

५२—Epigraphica Indica Vol. XVII p. 315.

५३—E. I. Vol. XVII p. 301.

५४—E. I. Vol. XVII p. 319.

५५—The Indian Antiquary Volume IX p. 191.

५६—E. I. Vol. XIII p. 217.

५७—E. I. Vol. XIII p. 289.

आधार पर ही तुलादान-सम्बन्धी प्रक्रिया का वर्णन किया है, अतः मत्स्यपुराणोक्त तुलादानविधि का विवेचन कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

मत्स्यपुराणीय २७४वें अध्याय के अनुसार सोलह महादानों में तुलादान को सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[५८] इसका महान् माहात्म्य कहा गया है। तुलादान से गुण एवं आयु की वृद्धि तथा पाप और कष्टों का निवारण होता है[५९] तथा देवता यजमान के संकट दूर करते है।[६०]

तुलादान को उत्तरायण तथा दक्षिणायण के दिन, विशुवाक, व्यतीपात, दिवसक्षय की तिथियों में, युग या मन्वन्तर के प्रथम दिन, संक्रान्ति, योगचतुर्दशी, अष्टमी, पौर्णमासी तथा पर्व, यज्ञ, उत्सव, विवाह दिवस को, अशुभ सप्रदर्शन, अलौकिक दृश्य-दर्शन, श्राद्धप्रसंग, पवित्र स्थान, घर, गोष्ठ, मन्दिर, जलाशय, उपवन एवं नदी के तट पर किया जाना श्रेष्ठ माना गया है।[६१]

इस महोत्सव का प्रारंभ स्वस्तिवाचन से किया जाता है[६२], तथा दाता के १०-१२ हाथ का या १२ अरत्नि के नाप का सर्वप्रथम मंडप तैयार किया जाता है जिसमें ४ भद्रासन, ७ हाथ का यज्ञपीठ व उसमें ५ हाथ की वेदी बनाई जाती है।[६३] तत्पश्चात् गृहदेवताओं की अभ्यर्थना के लिए मध्यवेदी पर ४ यज्ञकुंड खोदे जाते हैं।[६४] यज्ञमंडप को चारो तरफ तोरण, ध्वजा, घंटी इत्यादि से सजाया जाता है तथा साल, इंगुदी, चंदन, देवदारु, श्रीपर्णी, बिल्व या कचनार के साथ २ हाथ के दो थम्भे चार हाथ की दूरी से तुलादान के निमित्त २ हाथ की गहराई तक स्थापित किये जाते हैं तथा एक मजबूत दण्ड इन दोनों थम्बों पर प्रतिष्ठित किया जाता है।[६५] जिसमें लोहे की सांकल द्वारा दो तराजू लटकाये जाते है।[६६] तुलापूजन के पश्चात् स्वच्छ, प्रसन्नचित्त तथा वेदज्ञ भारतीय को पुरोहित बनाया जाता है। वेदवेदान्तशास्त्राभिज्ञ आर्य जातीय व्यक्ति को गुरु बनाने का आदेश है।[६६]

मंडप के पूर्व में दो ऋग्वेदपाठी ब्राह्मण, दक्षिण में दो यजुर्वेदपाठी ब्राह्मण, पश्चिम में दो सामवेदपाठी ब्राह्मण तथा उत्तर में दो अथर्ववेदपाठी ब्राह्मणों को बैठाया जाता है जो चारो दिशाओं से गणेश, लोकपाल, आदित्य, मरुद्गण, ब्रह्मा, विष्णु, शिव और सूर्यादि देवताओं के स्तावक वैदिक मंत्रो का उच्चारण किया करते हैं।[६७]

५८—मत्स्यपुराण अध्याय २७४ श्लोक ५,
५९—Ibid " " " श्लोक ६, १९'
६०—Ibid " " " १३
६१—Ibid " " " २०—२३
६२—Ibid २५
६३—Ibid २६
६४—Ibid २७-२९
६५—Ibid ३०-३२
६६—Ibid ३३-३८
६७—Ibid ३९-४०

होम के पश्चात् लोकपालों का पूजन होता है तथा उनसे रक्षा तथा उन्नत जीवन की प्रार्थना की जाती है।[६८]

तत्पश्चात् तुलादानकर्ता स्नान कर, वैदिक मंत्रों से पवित्र हो तथा श्वेत वस्त्र एवं पुष्प धारण करके तुला की स्तुति करता है कि 'हे जगद्धात्रि, तुले! तेरे द्वारा ही सत्य तथा असत्य तोला जाता है, तू ही सबको तोलनेवाली है, अतः मुझको भी तोलकर भव-सागर के पार ले जा। हे तुले! तू ही गोविन्द का रूप है।' इत्यादि प्रार्थनाएँ करके दाता वस्त्र, ढाल, तलवार सहित तुला में बैठता है तथा ब्राह्मण लोग तुला के दूसरे पलड़े में सोना रखते हैं। समृद्धि-इच्छुक राजा को अपने वजन से भी अधिक सोना रखवाना चाहिए। तुला को नमस्कार कर तराजू के पल्ले से नीचे उतरना चाहिए। तोले गये सुवर्ण का आधा भाग गुरु को तथा अवशिष्ट दान ऋत्विजों को देना चाहिए।[६९]

गरीब, अपाहिज, सदाचारी, योग्य एवं वेदाग्रभिज्ञ ब्राह्मणों को दान देकर सम्मानित करने की आज्ञा है।[७०] तुलादानीय सम्पत्ति का वितरण उसी वक्त हो जाना चाहिए। उक्त धन को थोड़े समय के लिए भी घर में रखना अशुभ माना गया है।[७१] ऐसा महादान करनेवाला राजा एक मन्वन्तर तक राज्य करता है।[७२]

मत्स्यपुराण में तुलादान की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की गई है कि इस दान को देनेवाला अनन्त पुण्य का भागी होता है, उच्च सम्राट् कुल में पुनः जन्म लेता है तथा इस दान को देखनेवाले, सुननेवाले, पढ़नेवाले तथा इसकी चर्चा करनेवाले को इन्द्रलोक प्राप्त होता है।[७३]

पुराणोक्त इस दान का अत्यधिक महत्त्व माना गया है। यहाँ यह चर्चा उल्लेखनीय है कि तुलादान एक खर्चीली धार्मिक क्रिया है, इसलिए केवल धनसम्पन्न नरेशों द्वारा ही तुलादान किये जाने का उल्लेख ७वीं सदी के बाद के शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों में मिलता है। यशस्वी और सम्पन्न सम्राट् को स्वर्ण से तोले जाने का शायद यह अभिप्राय है कि ऐसे सम्राट् का जनता में अत्यधिक मान था, वह राजा को राष्ट्र की सम्पत्ति समझते थे, उसके शरीर को देश के लिए बहुमूल्य निधि मानते थे। राजा के शरीर की इतनी प्रतिष्ठा थी कि उसका शरीर बहुमूल्य सुवर्ण से तोला जाता था। वह सुवर्ण गरीब, सदाचारी, असमर्थ, योग्य जनता एवं ब्राह्मणों को बाँट दिया जाता था। उस समय राजा सबका था। वह गरीबों का दाता, असहायों का सहारा, सदाचारियों का सहायक, योग्यतम व्यक्तियों का प्रशंसक तथा ब्राह्मणों का रक्षक था। जनता राजा के शरीर को तो सर्वदा अपने पास नहीं रख सकती थी अत: इसके बदले में राजा से तोले गये स्वर्ण को पाकर प्रसन्न होती थी। राजा को सोने के खिलाफ तोले जाने का अर्थ शायद यही था कि वह राष्ट्र की सबसे मूल्यवान् आवश्यकता समझा जाता था तथा उसको सभी अपना समझते थे।

एक अन्य बात भी ध्यान देने योग्य है कि ऐसे दान को गरीब, असहाय एवं योग्य

६८— Ibid ४१-५६, ६९—Ibid ६६-७२, ७०—Ibid ७३, ७१—Ibid ७४, ७२—Ibid ७५, ७३—Ibid ७७-७८.

तथा सदाचारी ब्राह्मण समाज में वितरण किये जाने का रिवाज था। दान ग्रहण करने की ठेकेदारी एकमात्र ब्राह्मणों को प्रारम्भकाल में प्राय: प्राप्त नहीं थी, क्योंकि पांड्य राजाओं के तुलादान-सम्बन्धी शिलालेखों में उक्त दान को ब्राह्मणों तथा अपाहिजों को बाँटने का उल्लेख है।[७४] मत्स्यपुराण में भी दीन, अनाथ, सदाचारी, योग्यतम समाज तथा ब्राह्मणों को ही उक्तदान देने की आज्ञा है।[७५] तुलादान-सम्बन्धी साहित्य से प्रतीत होता है कि दाक्षिणात्य नरेशगण तुलादान-सम्पत्ति का बहुभाग मन्दिरों को चढ़ाया करते थे।[७६]

तुलादान के प्रतिग्रहीता ब्राह्मण की योग्यता पर भी स्पष्ट जोर दिया गया है। प्रतिग्रहीता ब्राह्मण की पात्रता के लिए उसका सदाचारी तथा वेदज्ञ होना आवश्यक माना गया है। वेदानभिज्ञ एवं आडम्बरी ब्राह्मण को दान देने का निषेध भी धर्मशास्त्रों में मिलता है।[७७]

केवल वेदज्ञ **ब्राह्मण को ही** दान देने का कारण यह भी है कि प्राचीन काल में विद्वान् ब्राह्मण ही शिक्षा-दीक्षा के जीवित केन्द्र थे। प्राय: सभी विद्वानों का एकमात्र धर्म यही था कि वे लोग विद्यार्थियों को नि:शुल्क विद्यादान देते थे। उनके निवासस्थान से ही विद्यार्थियों को भोजन व वस्त्र मिलते थे। प्राचीन काल में तपस्वी तथा त्यागी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों के आश्रम ही पाठशालाएँ, कॉलेज व विश्वविद्यालय थे। इन जनोपयोगी संस्थाओं का संचालनादि प्रक्रम दानी राजाओं के दान पर ही आश्रित रहता था। अत: दानादि धार्मिक कृत्यों में ब्राह्मणों को दान इसलिए दिया जाता है कि उस दान के द्वारा समाज में शिक्षा तथा सदाचार की वृद्धि हो।

इसके अलावा धर्मशास्त्रों में विद्यादान को ही सर्वोपरि तथा सर्वोत्तम दान माना है।[७८] अत: तुलादानादि महादानों का द्रव्य अन्ततोगत्वा समाज के शिक्षाकार्यों में व्यय किया जाता था।

युग के स्वाभाविक नियम के अनुसार समाज-व्यवस्था में भी धीरे धीरे बुराइयाँ घुसती गईं। १४वीं शताब्दी के बाद लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष में मुसलमानों का साम्राज्य स्थापित हो गया। तपस्वी तथा त्यागी ब्राह्मण-जाति का भी क्रमश: पतन होने लगा और उनके त्याग तथा तपस्या गुणों का स्थान लालच और ढोंगी वृत्तियों ने ले लिया। मुगल-काल में भारतीय समाज में व्यवस्था स्थापित किये जाने का फिर प्रयत्न किया गया; अकबर ने हिन्दू-मुसलमानों की धार्मिक तथा सामाजिक भावनाओं के मेल के लिए उद्योग किया। अकबर ने हिन्दूधर्म के कतिपय संस्कारों तथा रिवाजों को प्रश्रय दिया। अकबर के समय से तुलादान का रिवाज मुगलसम्राटों में भी हो गया। अकबर हिन्दुओं के सूर्य-पंचांग तथा

७४—Epigraphia Indica (E. I.) Volume XVII p. 307.

७५—मत्स्यपुराण २७४।७३.

७६—E. I. Vol. VII p. 40 तथा E. I. Vol. III p. 14.

७७—मनु ४। १९३ २०० तथा विष्णुधर्मसूत्र ९३। ७-१३

७८—वशिष्ठ २९।१९; मनु ४।२३३ तथा अत्रि ३४०

मुसलमानी चन्द्र-पंचांग दोनों को समान रूप से माना करता था। अकबरकालीन भारत पूर्व की ३-४ सदियों की अपेक्षा अधिक शान्त, व्यवस्थित एवं सम्पन्न था। अकबर हिन्दू तथा मुसलमान तिथियों के अनुसार अपने प्रत्येक जन्मदिवस पर सुवर्ण से तुलादान करता था।[७९] जहाँगीरनामे में भी जहाँगीर के राज्यारोहण-काल से पूर्व १९ वर्ष का वृत्तान्त मिलता है, जिसमें जहाँगीर लिखता है कि उसके राज्यारोहण के प्रथम वर्ष में, उसकी ३८वीं वर्षगाँठ पर उसका तुलादान उसकी माता के महल पर हुआ था। सर्वप्रथम वह सोने से तोला गया जिसका वजन ३ मन १० सेर हुआ था। बाद में वह अन्य धातुओं, सुगंधित वस्तुओं, रेशमी वस्त्रों तथा अनाज से तोला गया तथा वह धन फकीरों एवं गरीबों को बाँटा गया।[८०]

जहाँगीर ने भी तुलादान-सम्बन्धी अकबर की नीति को कायम रक्खा और वह हिन्दू तथा मुसलमान तिथियों के अनुसार अपनी प्रतिवर्ष गाँठ के अवसर पर तुलादान करता था।[८१] जहाँगीर के समय में प्रत्येक तुलादान का खर्च लगभग १,००,००० रुपया होता था।[८२] मुगल बादशाहों के समय केवल बादशाहों का ही नहीं, अपितु राजकुमारों का भी तुलादान होता था; जहाँगीर नामे में शाहजादे शाहजहाँ की जन्मगाँठ के अवसर पर तुलादान किये जाने का उल्लेख मिलता है।[८३] इसी प्रकार विवाह के अवसर पर शाहजादे परवेज का भी तुलादान किया गया था।[८४] इतना ही नहीं, अपि तु बादशाह जहाँगीर ने प्रसिद्ध गायक उस्ताद मुहम्मद नबी की एक गजल पर खुश होकर उसका रुपयों से तुलादान किया, जिसका खर्च ६३०० हुआ।[८५] तथा मुल्ला असद की कहानियों से भी प्रसन्न होकर उसे तुलादान द्वारा पुरस्कृत किया।[८६] जहाँगीरनामे में यह भी उल्लेख मिलता है कि उसने सूर्यग्रहण के अवसर पर कष्ट निवारणार्थ तुलादान किया था।[८७] मुगल बादशाहों में अकबर से लेकर शाहजहाँ तक तुलादान किये जाने का रिवाज था। बाद में औरंगजेब ने तुलादान को बन्द करवा दिया। संभवत: उसे तुलादान के कार्य में 'बुतपरस्ती' की भावना दिखलाई दी हो।

मुगल बादशाहों के तुलादान-सम्बन्धी विवरण को पढ़ने से यह पता चलता है कि उन पर हिन्दुओं के धार्मिक तथा सामाजिक रिवाजों का प्रभाव था, यहाँ तक कि वे

७९—Roger & Beveridge: Memoiers of Jahangir Vol. I, p. 115.
८०—Ibid pp. 77-78.
८१—Memoiers of Jahangir Vol. I, pp. 145; 155, 230, 248, 333, 372 and of Vol. II page 74; etc., etc.
८२—Ibid Vol. I p. 128.
८३—Ibid Vol. I pp. 306 & 424; Vol. II p. 68.
८४—Ibid Vol. I p. 81.
८५—Ibid Vol. I p. 376.
८६—Ibid Vol. I p. 377.
८७—Ibid Vol. I p. 183.

ग्रहणादि हिन्दू पर्वों पर भी तुलादान किया करते थे। इस काल में तुलादान प्रधानत: राजसी, वैभव का परिचायक था।

शिवाजी ने भी अपने राज्यारोहण के पूर्व तुलादान कराया था। उन्होंने सोने चाँदी, ताँबे, जस्ते, लोहे आदि सात धातुओं से तथा रेशम, कपूर, नमक, मक्खन, शक्कर, फल तथा अन्य खाद्य पदार्थ (जिसमें पान तथा देशी शराब भी सम्मिलित थी) आदि से तुलादान कराया था तथा उक्त वस्तुएँ एवं एक लाख 'हुन' उपस्थित ब्राह्मण-समाज को बाँट दी गईं।

यदुनाथ सरकार के विचारानुसार शिवाजी ने, उनकी जातिगत अयोग्यता तथा व्यावहारिक दोषकर्मों के निवारणार्थ तुलादान किया था।[८८] कतिपय ऐतिहासिकों का मत है कि अन्य राजाओं ने भी ब्राह्मणों को दानादि देकर जातीय प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। इस प्रकार तुलादानादि के प्रारम्भिक महान् उद्देश्य का स्थान नरेशों के जातीय एवं व्यक्तिगत आडम्बरों ने ग्रहण कर लिया। प्राचीनकालीन त्यागी तथा तपस्वी एवं ज्ञान-दाता ब्राह्मण-समाज बाद में लोभी तथा दिखावटी पुरोहित बन गया।

५

सम्राट् हर्ष की मृत्यु (६४७ ई०) के समय के लगभग जिस प्रकार भारतीय इतिहास का गौरवपूर्ण प्राचीन काल समाप्त हुआ, तथा मध्यकाल अथवा पौराणिक काल का उदय हुआ, उसी प्रकार भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध (१८५७ ई०) के लगभग पौराणिक युग के ध्वंसावशेष पर आधुनिक काल अथवा सांस्कृतिक पुनरुत्थान युग का जन्म हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरकाल में भारतीय समाज में एक नवीन चेतना जागी; सन् १८५७ का स्वातंत्र्य-संग्राम तो तत्कालीन सांस्कृतिक तथा सामाजिक उथल-पुथल का केवल बाह्य प्रतीक है। इस समय के लगभग भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों में अर्थात् धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, विज्ञान, समाज-व्यवस्था, राजनीति आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में महान् परिवर्तन होने लगे।

भारतीय संस्कृति के इस प्रकार के परिवर्तन का एक कारण पाश्चात्य सभ्यता का सम्पर्क भी है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कारण भारतीय समाज का सम्पर्क विज्ञान-प्रधान तथा इहलौकिक पाश्चात्य संस्कृति से हुआ तथा अँगरेजी हुकूमत के साथ ही साथ ईसाई मिशनरियों का जाल भी हिन्दुस्तान में फैल गया। पश्चिम की वैज्ञानिक विचार-

---

८८—"But one great defect had to be removed before his coronation could take place. He had to be publicly purified and 'made a Kshatriya'.........Next day, Shiva made atonement for the sins, deliberate or accidental, Committed in his life.

—Jadunath Sarkar: Shivaji & His Times pp. 212 & 213.

धारा तथा ईसाइयों के प्रचार-कार्य ने हिन्दूधर्म की कतिपय रूढ़ियों पर मार्मिक प्रहार किया, जिसके कारण तत्कालीन शिक्षित समाज के मन में पौराणिक कालीन कल्पनाओं, कथाओं तथा अंधश्रद्धा से पुष्ट विचारों के प्रति सन्देह होने लगा। उस समय भारतीय संस्कृति प्राय: लड़खड़ा उठी थी और कतिपय विद्वानों को भय था कि पाश्चात्य सभ्यता की भीषण बाढ़ में कहीं भारतीय सांस्कृतिक गंगा डूब न जाय। परन्तु भारतीय संस्कृति ऐसी गंभीर स्थिति में भी अपने उदार दृष्टिकोण की शक्ति के कारण जीवित रही। भारतीय अथवा आर्य संस्कृति के स्वभाव की यह शाश्वतकालीन विशेषता है कि वह विरोधियों के विचारों को भी आत्मसात् कर लेती है। प्राचीन काल से आर्य संस्कृति ने द्रविड़, शक, हूण, सीदियन, गुर्जर तथा मुसलमान आदि विभिन्न जातियों की विचारधारा से न केवल बौद्धिक टक्कर ही ली है अपितु इन विभिन्न संस्कृति के गुणवर्द्धक विचारों को अपने में पचा लिया है और विदेशी जातियों का भी भारतीय-करण कर डाला है। पाश्चात्य सभ्यता की टकराहट होने पर इसी स्वभाव-गुण के कारण भारतीय संस्कृति नष्ट नहीं हुई अपितु पुन: जाग उठी। इन्हीं परिस्थितियों के कारण भारतीय पुनरुत्थान युग का जन्म हुआ; भारतीयों की सुषुप्त अस्मिता जाग उठी तथा इस पुनरुत्थान के जागरूक महान् पुरुषों के कारण भारतीय संस्कृति का कल्याण-कारी विकास हुआ। राजा राममोहन राय, श्री रामकृष्ण परमहंस, जस्टिस रानाडे, महर्षि दयानन्द, तत्त्वज्ञानी विवेकानन्द, योगी अरविंद, कवि रवीन्द्रनाथ, कर्मठ महात्मा गांधी और संस्कृति-वाहक राधाकृष्णन आदि भारतीय संस्कृति के अग्रदूतों ने न केवल भारत में ही सांस्कृतिक उद्धार किया, अपितु विश्व में भारतीय सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठता की सफल घोषणा की।

पुनरुत्थान के इस युग में पुन: प्राचीन भारतीय संस्कृति को मान मिला; वेद तथा उपनिषद् भारतीय विचारधारा के प्रमुख प्रहरी माने गये; मध्यकालीन पौराणिक व्यवस्था के प्रति उपेक्षा का भाव बढ़ने लगा। व्रत, दान और तीर्थों की अतिशयोक्ति-पूर्ण अंध-विश्वासी भावना के बदले कर्तव्य कर्म, स्वाध्याय तथा चिन्तन की बुद्धि एवं कर्मवादी प्रवृत्ति को प्राधान्य मिला। फलत: आज नव प्रभात के युग में पौराणिक परम्पराश्रित दान-व्रतादि प्रणालियों का महत्त्व कम हो जाना आश्चर्यजनक नहीं है।

यद्यपि आज पौराणिक कालीन परिस्थिति बदल चुकी है फिर भी मानव-समाज अपने गतकालीन विचारों को एकदम नहीं छोड़ देता। इन विचारों में शनै: शनै: परिष्कार होना नितान्त आवश्यक ही है। आज का युग नेहरूजी के शब्दों में मध्यकालीन तथा आधुनिक विचारधारा का संधि-युग है।

इस बदलती हुई दुनिया में दान-प्रणाली का भी उचित परिष्कार होने लगा। उत्तर पौराणिक काल में दान ग्रहण करने के एकमात्र अधिकारी ब्राह्मणवर्ग को अपनी दान-आय का एक विशेष भाग अन्य गरीबों तथा सार्वजनिक संस्थाओं के लिए इच्छा अथवा अनिच्छापूर्वक रिक्त करना पड़ा। आजकल दान-सम्पत्ति का उपयोग ब्राह्मण की गृहस्थी के स्थान पर जनोपयोगी संस्थाओं द्वारा जनसेवा-कार्य में किये जाने का महत्त्व और प्रचार बढ़ रहा है।

दान-प्रणाली के उतार-चढ़ाव के साथ ही साथ तुलापुरुष महादान का महत्त्व भी घटता बढ़ता है। पुनरुत्थान के इस जागरण-युग में राजाओं का स्थान समाज-सुधारकों तथा राजनैतिक नेताओं को प्राप्त होने लगा है। भारतीय नरेशों में भी तुलादान-प्रणाली कम आकर्षक मानी जाने लगी है; अतएव अधिकांश राजाओं द्वारा इसका चलन प्रायः बन्द सा हो गया है। जन-साधारण और प्रायः अधिकांश हिन्दू नरेशों की श्रद्धा इस प्रणाली की ओर उदासीन सी है। फिर भी इस युग में ट्रावनकोर महाराजा के सन् १८९२ के तुलादान का विवरण[८९], तथा बीकानेर महाराजा श्री० गंगासिंहजी की स्वर्णजयन्ती के अवसर पर किये गये तुलादान के चित्रादि[९०] का परिचय मिलता है। महाराजा नैपाल के तुलादान का चलन भी है। अभी अभी मुसलमान खोजा सम्प्रदाय के धर्मगुरु आगा खाँ ने रत्नों से तुलादान कराया है; जिसमें ९० लाख रुपयों के मूल्य के २४३¾ पौंड रत्न लगे थे, तथा उक्त सम्पत्ति का प्रतिग्रहीता स्वयं तुलादानकर्त्ता ही बना।[९१] अ० भा० हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के निर्वाचित सभापति पं० माखनलाल चतुर्वेदी का भी ३१वें वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर हरिद्वार स्वागत-समिति द्वारा रुपयों से तुलादान किया गया था। समाचार-पत्रों में प्रकाशित विवरणों से पता चलता है कि नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का भी बर्मा में सुवर्ण तुलादान किया गया था, जिसकी सम्पत्ति वहाँ के जन-समुदाय ने इकट्ठी की थी, तथा उस सम्पत्ति का उपयोग 'आजाद हिन्द फौज' के कार्य में हुआ।

इन पिछले विवरणों से ज्ञात होता है कि तुलादानादि प्रणालियों में भी युग-प्रभाव के कारण परिवर्तन होता गया है। पूर्व काल में प्रायः धन-सम्पन्न राजा अथवा दाता स्वयं उपार्जित द्रव्य से दान करते थे और धर्मशास्त्रों की आज्ञा थी कि ऐसे द्रव्य-संचय कार्य में किसी को भी कष्ट या पीड़ा नहीं होनी चाहिए।[९२] परन्तु बाद के समय में भी इतनी मर्यादाएँ पाली जाती रही हों, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है। तदनन्तर प्रतिग्रहीताओं की विशेषताओं की मान्यताओं में समयानुसार परिवर्त्तन हुआ है; यहाँ तक कि गत पिछले विवरणों से तो यही अर्थ निकलता है कि तुलादान-कर्त्ता ही श्रेष्ठ दान-ग्रहीता मान लिया गया है। यह परिवर्त्तन तो इतना अनोखा है कि पूर्व का दाता आज-कल प्रतिग्रहीता बन गया है। दान के अंगों तथा प्रकारों में भी इसी प्रकार मौलिक परिवर्तन हुए हैं।

८९—Madras Mail of the 3rd May 1892.

९०—Photo in the "Great Men of India" p. 241.

९१—Leader March 15, 1946.

९२—अपराबाधमक्लेशं स्वयं येनार्जितं धनम्। स्वल्पं वा विपुलं वापि देयमित्यभिधीयते॥
—देवल Quoted in अपरार्क p. 288.

अतः युग-प्रभाव के कारण केवल दान के महत्त्व और चलन में ही परिवर्त्तन नहीं हुआ है अपितु दान-प्रणाली तथा दान के अंग और प्रभेद भी शनैः शनैः बदलते गये हैं।[९३]

९३—कृतज्ञता-प्रकाशन

१—हेमाद्रिः चतुर्वर्गचिन्तामणि (दान खण्ड), २—मनुस्मृति, ३—अपरार्क, ४—ऋग्वेद, ५—छांदोग्य उपनिषद, ६—विष्णुधर्मसूत्र, ७—मत्स्यपुराण।

८—Radhakrishan: Indian Philosophy, Volumes I & II.

९—P. V. Kane: History of Dharmas'astra Vol. I & II

१०—D. S. Sharma: The Renaissance of Hinduism.

११—Roger & Beveridge: Memoiers of Jahangir.

१२—Smith V : Akbar the great Mougal.

१३—J. N. Sarkar : Shivaji & His times.

१४—Epigraphia Indica Volumes 1 to 24.

१५—Indian Antiquary, Volumes.

डूँगरपुर सम्बन्धी नवीन शोध

श्री राठोड़ सूरजमल, वागड़िया, (क्यूरेटर पुरातत्त्व-विभाग राज्य डूँगरपुर)

मेवाड़, मालवा और गुजरात के मध्य का प्रदेश वागड़ कहलाता है। वागड़ शब्द की उत्पत्ति गुजराती और वागड़ी भाषा के 'वगड़ा'[१] शब्द से हुई है। संस्कृत के विद्वानों ने वागड़ शब्द के स्थान में वाग्वर, वैयागड़, वागट या वार्गट और प्राकृत के विद्वानों ने वग्गड़ शब्द का प्रयोग किया है। इस समय वागड़ प्रदेश में डूँगरपुर और बाँसवाड़ा दो राज्य ही हैं, परन्तु पहले मेवाड़ का सारा छप्पन, मेवल का कुछ भाग और गुजरात का महीकाँठा तथा रेवाकाँठा एजेन्सी का बहुत कुछ भाग सम्मिलित था, जो समय के हेर-फेर के कारण वागड़ से अलग हो गया।

वि० सं० की तीसरी और चौथी शताब्दी के लगभग वागड़ पर 'पश्चिमी क्षत्रपों' का राज्य था। इनके पीछे यहाँ गुप्तों, हूणों, कन्नौज के वैसवंशी राजा हर्ष और कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहारों (पडिहारों) का राज्य रहने की भी संभावना की जा सकती है, परंतु उनका अब तक कोई शिलालेख, ताम्रपत्र या सिक्का वागड़ से उपलब्ध नहीं हुआ है। वि० सं० की ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दि में वागड़ पर परमार राजा राज्य करते थे, जिनकी राजधानी अर्थूणा नगर (बाँसवाड़ा राज्यान्तर्गत) था। ये परमार मालवे के परमारों की छोटी शाखा में थे और इनसे ही गुहिलवंशियों ने वागड़ का राज्य छीन कर अपने अधीन किया।

वर्तमान गुहिल राजवंश से पूर्व इसी वंश की एक और शाखा ने कुछ समय तक वागड़ पर शासन किया था, जिसका यहाँ 'गुहिलवंशी भर्तृभट शाखा के नरेश' और वर्तमान राजवंश का 'गुहिलवंशी आहाड़ा शाखा के नरेश' नाम से परिचय दिया जायगा।

नवीन छानबीन से यह पाया जाता है कि गुहिलवंशी आहाड़ा शाखा के नरेशों ने गुहिलवंशी भर्तृभट शाखा के नरेशों से दो बार वागड़ का राज्य छीनकर अपने अधीन किया।

गुहिलवंशी भर्तृभट शाखा के नरेशों का निकास मेवाड़ के राजा भर्तृपट्ट (भर्तृभट) से हुआ था, जो उसके कनिष्ठ पुत्र, जिसका नाम अब तक अज्ञात है, के वंशज थे। मेवाड़ में भर्तृभट नाम के दो राजा हुए हैं, जिनमें दूसरा विशेष प्रसिद्ध था। आहाड़ से मिले हुए राजा शक्तिकुमार के राज्य-समय के वि० सं० १०३४ के शिलालेख में लिखा है कि

१—'वगड़ा' शब्द का अर्थ वन = जंगल होता है और जिस प्रदेश में वगड़ा (जंगल) अधिक और आबादी कम होती है उसे वागड़ कहते हैं। इस प्रदेश में भी जंगल अधिक और आबादी कम है, अतएव वगड़ा शब्द से ही इस प्रदेश का नाम वागड़ होना युक्तियुक्त है।

खुमाण का पुत्र तीन लोक का तिलक भर्तृभट (दूसरा) हुआ[1]। इससे सिद्ध होता है कि गुहिलवंशी भर्तृभट शाखा के नरेश भर्तृभट दूसरे के ही वंशज थे; क्योंकि वंश के सिद्ध पुरुष से ही उसके वंशज अपनी वंश-परम्परा की प्रसिद्धि रखते हैं। इसी लिए गुहिलवंशी भर्तृभट शाखा के नरेशों के लेखों में उनको भर्तृपट्टाभिधान लिखा हुआ मिलता है, जो उनको भर्तृपट्ट (भर्तृभट) के वंशज होना सूचित करता है। भर्तृभट (२) का राज्य-समय वि० सं० १००० के लगभग था। इससे इसी समय के आस-पास गुहिलवंशी भर्तृभट शाखा के नरेशों का निकास होना चाहिए।

गुहिलवंशी आहाड़ा शाखा के नरेशों का निकास गुहिलवंशी भर्तृभट शाखा के नरेशों से लगभग २०० वर्ष के पश्चात् मेवाड़ के राजा क्षेमसिंह जी के ज्येष्ठ पुत्र सामंतसिंह जी से हुआ है, जिनके वंश में इस समय पूर्वी और पश्चिमी वागड़ (डूँगरपुर, बाँसवाड़ा राज्य) के नरेश हैं।

अब तक की शोध से गुहिलवंशी भर्तृभट शाखा के नरेशों के वि० सं० ११७३, ११८३, ११८९, ११९०, १२१२, १२४२, १२५१ और १२६१ के आठ लेख उपलब्ध हुए हैं। इनमें वि० सं० ११९०, १२१२ और १२४२ के तीन लेख उनका वंशक्रम जानने के लिए बड़े उपयोगी हैं। वि० सं० ११९० के लेख में भर्तृपट्टाभिधान (भर्तृभट के वंशज) पृथ्वीपालदेव, तिहुणपालदेव (त्रिभुवनपालदेव) और विजयपालदेव, वि० सं० १२१२ के लेख में भर्तृपट्टाभिधान पृथ्वीपालदेव, विजयपालदेव, सुरपालदेव और उसके पुत्र अनंगपालदेव तथा वि० सं० १२४२ के लेख में भर्तृपट्टाभिधान, विजयपालदेव, अमृतपालदेव और उसके पुत्र सोमेश्वरदेव के नाम मिलते हैं।

पृथ्वीपालदेव और त्रिभुवनपालदेव का अब तक कोई लेख उपलब्ध नहीं हुआ है। उनका नाम विजयपालदेव के वि० सं० ११९० और सुरपालदेव के वि० सं० १२१२ के लेख में मिलता है। विजयपालदेव के समय के वि० सं० ११७३, ११८३ और ११८९ के तीन लेख मेवाड़ के छप्पन तथा मेवल की सीमा पर स्थित आट गाँव के शिव-मंदिर से और वि० सं० ११९० का एक लेख छोटा देवास के इंगणोदा गाँव से मिला है। विजयपालदेव के ज्येष्ठ पुत्र सुरपालदेव के राज्य-समय की वि० सं० १२१२ की एक प्रशस्ति डूँगरपुर राज्य के ठाकरड़ा गाँव के सेवकों के घर से प्राप्त हुई है। सुरपालदेव के छोटे भाई अमृतपालदेव के राज्य-समय का वि० सं० १२४२ का एक ताम्र-पत्र मेवाड़ के छप्पन प्रदेश के वीरपुरा (गातोड़) गाँव के किशन जी सेवक के घर से तथा वि० सं० १२५१ का एक लेख डूँगरपुर राज्य के बड़ौदा गाँव के केन्द्रिया नामक हनुमान जी की चरण-चौकी पर खुदा हुआ और वि० सं० १२६१ का दूसरा लेख रामा के शिव-मन्दिर के छबने पर खुदा हुआ प्राप्त हुआ है।

इन भिन्न भिन्न स्थानों से प्राप्त लेखों से सिद्ध होता है कि गुहिलवंशी भर्तृभट

---

१ खोम्माणमात्मजमवाप स चाथ तस्मा—
त्लोकत्रयैकतिलकोजनि भर्तृपट्टः ॥३॥

इं० एँ; जि० ३९, पृ० १९१।

शाखा के नरेशों का राज्य दूर दूर तक फैला हुआ था। परंतु वागड़ का राज्य उन्होंने कब और किससे लिया? इस सम्बन्ध में अब तक निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ। संभव है कि उन्होंने परमारों से वागड़ का राज्य अपने हस्तगत किया हो। वागड़ के परमारों के अधीन वर्तमान डूँगरपुर और बाँसवाड़ा का राज्य तथा छप्पन और मेवल का कुछ भाग तथा महीकांठा और रेवाकांठा एजेन्सी का बहुत कुछ भाग था। ऐसा यहाँ से प्राप्त तत्कालीन लेखों से सिद्ध होता है। वागड़ के परमार राजाओं का सबसे अंतिम लेख वि० सं० ११६६ का मिला है, जो परमार राजा विजयराज के समय का है और अर्थूणा के प्रसिद्ध हनुमान जी की चरण-चौकी पर खुदा हुआ है। गुहिलवंशी भर्तृभट शाखा के नरेशों का सबसे पहला लेख वि० सं० ११७३ का मिला है, जो विजयपालदेव के समय का है और आट गाँव के शिव-मन्दिर के छबने पर खुदा हुआ है[१]। इन लेखों से पाया जाता है कि वि० सं० ११६६ और ११७३ के बीच किसी वर्ष त्रिभुवनपालदेव या उसके पुत्र विजयपालदेव ने वागड़ पर अपना अधिकार किया होगा।

इन गुहिलवंशी भर्तृभट शाखा के नरेशों का वागड़ पर अधिकार हो जाने पर भी अर्थूणा और उसके आस-पास के कुछ भाग पर परमारों का अधिकार रह गया था, जो गुहिलवंशी आहाड़ा शाखा के नरेश महारावल सीहड़देव जी के राज्य-समय तक किसी प्रकार बना रहा और महारावल देवपालदेव जी के राज्य-समय में सर्वथा समाप्त हो गया। ये परमार मालवा के परमार राजाओं के सामंत थे।

मालवा के परमारों और गुजरात के सोलंकियों के बीच बहुत समय से वैर चला आता था। इसलिए जब गुजरात का सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह अपनी माता सहित प्रभास पाटन में सोमनाथ महादेव की यात्रा के लिए गया तब मालवे के परमार राजा नरवर्म्मा ने गुजरात पर चढ़ाई कर दी। इसलिए यात्रा से लौटने पर सिद्धराज जयसिंह ने भी इसका बदला लेने के लिए अपनी विशाल सेना के साथ मालवे पर चढ़ाई की। इस चढ़ाई के समय वह अर्थूणा के परमारों को अपने अधीन करता हुआ मालवे की ओर गया था। इसलिए नरवर्म्मा पर विजय प्राप्त करने के अनन्तर उसने अर्थूणा के परमारों के अधीन तलवाड़ा गाँव में एक मंदिर बनवाकर उसमें गणपति की मूर्ति स्थापित की[२]। इससे सिद्ध होता है कि मालवे की विजय के साथ ही साथ अर्थूणा के परमारों के

१—संवतु [त्] ११७३......श्री वि—जयपालदेव वचनातु [त्] सोम पर्वे...मूल लेख की छाप से।

२—इस मूर्ति की चरण-चौकी पर एक लेख खुदा है, जिसके अधिकतर अक्षर मूर्ति पर प्रतिदिन पानी चढ़ने से नष्ट हो गये हैं। इस लेख में नरवर्म्मा पर सिद्धराज जयसिंह की विजय होने का उल्लेख है।

ॐ ॐ गणपतये नमः ॥

....

आसी......,...................चौलुक्यवंशोद्भवो

अधीन भूमि पर भी गुजरातवालों का अधिकार हो गया, जिससे अर्थूणा के परमार गुजरात के सोलंकियों के अधीन हो गये।

ठाकरड़ा से प्राप्त सुरपालदेव के राज्य-समय के वि० सं० १२१२ के लेख[1] में अन्य शाखा के किसी राजा का नामोल्लेख न होने से ज्ञात होता है कि मालवा और अर्थूणा के परमार तो गुजरात के सोलंकियों के अधीन होकर उनके सामंत बन गये थे; परन्तु गुहिलवंशी भर्तृभट शाखा के नरेश उस समय तक वागड़ के स्वतंत्र राजा थे।

अब इस विषय का निर्णय करना अनिवार्य्य है कि गुहिलवंशी आहाड़ा शाखा के नरेशों ने वागड़ का राज्य कब और किससे छीन कर अपने अधीन किया।

गुहिलवंशी भर्तृभट शाखा के नरेश सुरपालदेव के राज्य-समय का वि० सं० १२१२ का लेख ठाकरड़ा से मिला है। इसके पीछे उसका कोई लेख नहीं मिलता। गुहिलवंशी आहाड़ा शाखा के नरेश महारावल सामंतसिंह जी का एक लेख वि० स० १२२८ का छप्पन और मेवल की सीमा पर स्थित जगतगाँव की अम्बिकामाता के मंदिर के एक स्तम्भ पर खुदा हुआ[2]। और दूसरा वि० सं० १२३६ का डूंगरपुर राज्य के सोलज गाँव से डेढ़ मील दूर बोरेश्वर नामक महादेव के मंदिर से प्राप्त हुआ है[3]। इससे निश्चित है कि वि० सं० १२१२ और १२२८ के बीच किसी वर्ष महारावल सामंतसिंह जी ने वागड़ पर अपना अधिकार कर लिया। संभव है कि उन्होंने सुरपालदेव से छीनकर वागड़ का राज्य अपने अधीन किया हो।

मूता नैणसी ने अपनी ख्यात में लिखा है कि मेवाड़ के महारावल समरसी [सामतसी = सामंतसिंह] चित्तौड़ का राज्य अपने छोटे भाई को देकर आहाड़ में आ रहे।

[राजा]कर्णनरेश्वरो हतरिपुर्विख्यातकीर्तिस्ततः ॥
तत्सूनुर्जयसिंहदेवनृपतिः श्रीसिद्धराजाभिधः
...............यस्य............पः ॥
नरवर्म[कृतोन्नर्म]परमर्दि येन मर्दितः।

....

सिद्धपेन गणनाथमंदिरं कारितं हि...मनोहरं मूल लेख से—।

१—संवत् १२१२ वर्षे भाद्रपद शुदि १ रविदिने समस्तराजावली विराजितभर्तृपट्टाभिधान श्रीपृथ्वीपालदेव [वः] तत्सूनुमहाराज श्रीत्रिभुवनपालदेव [वः] तस्य पुत्रो [त्र] महाराज श्रीविजयपालदेव [वः] तस्य पुत्रो [त्र] महाराज श्रीसुरपालदेव प्रवर्द्धमान कल्याणविजयराज्ये तत्पादप जीविन महाराजपुत्र श्री अणंगपालदेवेन श्री सिद्धेस्व[श्व]रदेवाय श्रेया [यो]र्थ उदकपूर्व हलमैकस्य भूमी [मिः] प्रदत्ता अन्यत नीव्यतिकरे ये केपि केदारा [राः] प्रदत्र [त्ताः] ते च प्रमाणाः ॥ लिखितं पं० श्रीधरसुत पं० मइधेन ॥ मंगलं महाश्री [श्रीः] ॥—मूल शिलालेख की छाप से।

२—संवत् १२२८ वरिखे (वर्षे) फ(फा)ल्गुन सुदि ७ गुरौ श्रीअंबिकादेवी (व्यै) महाराज श्री सामंतसिंघ(ह)देवेन सुवर्न(र्ण)मय कलसं प्रदत्त(म्)—मूल लेख की छाप से।

३—संवत् १२३६ श्री सावं(मं)तसिंह राज्ये—मूल लेख से।

उस समय बाट बड़ौद [बड़ौदा] में चौरासी मलक भोमिया पाँच सौ योद्धाओं के स्वामी की सत्ता से राज्य करता था। उसने एक डोम [ढोली] की स्त्री को अपनी पासवान बना रक्खा था। वह डोम की स्त्री को लेकर महलों में सोता और डोम को नीचे बैठाकर रात्रि भर गवाया करता था। डोम कहीं भाग न जाय, इस अभिप्राय से चौरासी मलक ने उस पर पहरा बैठा रक्खा था। एक दिन अवसर पाकर डोम भाग निकला और आहाड़ में महारावल सामंतसिंह जी के पास जाकर निवेदन किया कि आप यहाँ बैठे क्या करते हैं? मैं आपको बड़ौदे की चौरासी (राज्य) दिलवाऊँ। महारावल सामंतसिंह जी तो यह चाहते ही थे। अतएव उन्होंने ५०० सवार लेकर अचानक बड़ौदे पर चढ़ाई कर दी। आधे सवार पीछे रक्खे और आधे सवार अपने साथ लेकर कोटड़ी की तरफ बढ़े। ४०-५० सवार पौल (दर्वाजे) पर छोड़कर महारावल सामंतसिंह जी भीतर घुस पड़े। भोमिया जिस घर में था वह स्थान डोम ने बतला दिया। अतएव उसे मारकर महारावल सामंतसिंह जी ने उसकी चौरासी पर अपना अधिकार कर लिया।

डूँगरपुर राज्य के भाटों (बड़वों) और चारणों की ख्यातों तथा जनश्रुति से भी महारावल सामंतसिंह जी का चौरासी मलक भोमिये को मार कर वागड़ में अपना राज्य स्थापित करना प्रसिद्ध है।

बड़ौदे के चौरासी मलक भोमिये से तात्पर्य्य किसी विशिष्ट व्यक्ति से नहीं, किन्तु बड़ौदा राज्य के पुराने स्वामी से है। क्योंकि चौरासी का अर्थ राज्य और मलक (मालिक) का अर्थ स्वामी है। इसी प्रकार भोमिये का अर्थ भी भूमि का पुराना स्वामी होता है। ऐसी दशा में मूता नैणसी और भाटों (बड़वों) तथा चारणों की ख्यातों और जनश्रुति से यह स्पष्ट नहीं होता कि महारावल सामंतसिंह जी ने बड़ौदे के किस स्वामी को मार कर वागड़ पर अपना अधिकार किया।

शिलालेखों से सुरपालदेव के पीछे महारावल सामंतसिंह जी का वागड़ पर राज्य करना पाया जाता है। इससे संभव है कि बड़ौदे के चौरासी मलक भोमिये से तात्पर्य्य सुरपालदेव से हो और उसी को मार कर महारावल सामंतसिंह जी ने बड़ौदे पर अपना अधिकार जमाया हो।

वि० सं० १२२८ से १२३६ तक तो महारावल सामंतसिंह जी का वागड़ पर राज्य करना शिलालेखों से निश्चित है। वि० सं० १२३६ के पश्चात् महारावल सामंतसिंह जी का कोई लेख नहीं मिलता। छप्पन प्रदेश के वीरपुरा (गातोड़) गाँव के किशन जी सेवक से प्राप्त वि० सं० १२४२ के ताम्रपत्र में गुहिलवंशी भर्तृभट शाखा के नरेश भर्तृपट्टाभिधान विजयपालदेव के पुत्र अमृतपालदेव का गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव [२] के अधीन सामंत रूप में वागड़ का शासक होना पाया जाता है[1]। इससे सिद्ध होता है कि वि० सं०

१—'ॐ॥ स्वस्ति श्रीनृपविक्रम कालातीत संवत्सर द्वादशशतेषु द्विचत्वारिंशदधिकेषु अंकतोऽपि संवत् १२४२ वर्षे कार्तिक सुदि १५ रवावद्येह श्रीमदणहिलपाटकाधिष्ठित परमेश्वर परमभट्टारक श्री उमापति वरलब्धप्रसादराज्य राजलक्ष्मीस्वयंवर प्रौढप्रताप श्रीचौलुक्यकुलोद्यान-मार्तण्डअभिनवसिद्धराज श्रीमहाराजाधिराज श्रीमद्भीमदेवीयकल्याणविजयराज्ये...अस्य च परमप्रभोः प्रसादपत्तलायां भुज्यमानवागड़वटपद्रकमंडले महाराजाधिराज श्रीअमृतपालदेवीय राज्ये...।'
—मूल ताम्रपत्र की छाप से।

१२३६ से १२४२ के बीच किसी समय वागड़ का राज्य महारावल सामंतसिंह जी के हाथ से छूट गया और उस पर गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव [२] का अधिकार हो गया, जिसने अपनी ओर से अमृतपालदेव को वागड़ का शासक नियत किया।

महारावल सामंतसिंह जी के हाथ से वागड़ का राज्य क्यों छूटा और राज्य छूटने पर वे कहाँ गये ? इस सम्बन्ध में अब तक कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिला। पर गुजरात के सोलंकियों के साथ महारावल सामंतसिंह जी का बहुत समय से वैर चला आता था और इसी वैर के कारण उनको मेवाड़ का राज्य भी छोड़ना पड़ा था। उस समय मालवा तथा अथूणा का प्रदेश गुजरात के सोलंकियों के अधीन था और मेवाड़ पर भी उनका अधिकार हो गया था। अतएव उक्त प्रदेशों के बीच के हिस्से पर अपने प्रतिपक्षी महारावल सामंतसिंह जी का स्वतंत्र राज्य रह जाना इन सोलंकियों को अवश्य खटकता हो। इसी कारण अधिक संभव है कि उन्होंने महारावल सामंतसिंह जी से युद्ध कर वागड़ का राज्य अपने अधीन कर लिया।

महारावल सामंतसिंह जी को वागड़ में अपना राज्य स्थापित किये अधिक समय नहीं हुआ था। इतने अल्प समय में अपनी राज्य-सत्ता यथोचित दृढ़ करना उनके लिए सुगम नहीं था। सुरपालदेव से राज्य छीन लेने के कारण उसके सम्बन्धियों एवं अनुयायियों का महारावल सामंतसिंह जी से विरोध करना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त चारों ओर का प्रदेश भी महारावल सामंतसिंह जी के प्रतिपक्षी सोलंकियों के अधीन था। ऐसी दशा में महारावल सामंतसिंह जी के हाथ से वागड़ का राज्य छूट जाना कोई असंभव घटना नहीं है।

नवीन छानबीन से महारावल सामंतसिंह जी का विवाह अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज (तीसरा) की बहिन पृथाबाई से होना सिद्ध होता है। अतएव वागड़ का राज्य छूट जाने पर संभव है कि वे अपने साले पृथ्वीराज के पास चले गये हों और शहाबुद्दीन (मुहम्मद) गोरी के साथ की पृथ्वीराज की लड़ाई में मारे गये हों।

महारावल सामंतसिंह जी के पश्चात् अमृतपालदेव गुजरात के राजा भीमदेव [२] की ओर से वागड़ का शासक हुआ। यह अमृतपालदेव सुरपालदेव का भाई होना चाहिए। क्योंकि ठाकरड़े से प्राप्त वि० सं० १२१२ के सुरपालदेव के शिलालेख में उसे भर्तृपट्टाभिधान पृथ्वीपालदेव के पौत्र विजयपालदेव का पुत्र लिखा है और वीरपुरा से प्राप्त वि० सं० १२४२ के ताम्रपत्र में अमृतपालदेव को गुहदत्त (गुहिलोत) वंशी भर्तृपट्टाभिधान विजयपालदेव का पुत्र लिखा है। इससे सुरपालदेव का पिता विजयपालदेव और अमृतपालदेव का पिता विजयपालदेव एक ही व्यक्ति होना संभव है और इसकी पुष्टि उपर्युक्त लेखों द्वारा उनके समय का निरूपण करने से भी होती है। ऐसी दशा में अमृतपालदेव सुरपालदेव का भाई ही माना जा सकता है।

महारावल सामंतसिंह जी के हाथ से वागड़ का राज्य छूट जाने पर अमृतपालदेव ने उसे कैसे प्राप्त किया ? इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। लेखों से यह तो पाया जाता है कि सुरपालदेव के मारे जाने पर भी उसका भाई अमृतपालदेव बच रहा था। पर महारावल सामंतसिंह जी का वागड़ पर अधिकार हो जाने से उसकी शक्ति का ह्रास हो

जाना निर्विवाद है। ऐसी दशा में संभव है कि वह गुजरात के राजा भीमदेव (२) के आश्रय में जा रहा हो और भीमदेव ने महारावल सामंतसिंह जी से वागड़ का राज्य छीनने के अनन्तर अमृतपालदेव को उसकी कुलीनता और योग्यता के कारण अपनी ओर से वागड़ का शासक नियत किया हो।

अमृतपालदेव के राज्य-समय के वि० सं० १२४२,१२५१[१] और १२६१[२] के तीन लेख उपलब्ध हुए हैं। इससे वि० सं० १२४२ से १२६१ तक तो अमृतपालदेव का वागड़ पर शासन करना निश्चित है। वि० सं० १२६१ के पश्चात् गुहिलवंशी भर्तृभट शाखा के नरेशों का कोई लेख उपलब्ध नहीं हुआ है। अमृतपालदेव का पुत्र (महाकुमार) सोमेश्वरदेव था, जिसका नाम वि० सं० १२४२ के ताम्र-पत्र में खुदा हुआ है[३] और इसका एक लेख वि० सं० १२४७ का आट गाँव के शिव-मन्दिर के एक स्तम्भ पर भी खुदा हुआ प्राप्त हुआ है। सोमेश्वरदेव ने वागड़ पर शासन किया या नहीं, इस सम्बन्ध में अब तक कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ है।

डूंगरपुर राज्य से प्राप्त कुछ लेखों में महारावल सामंतसिंह जी के पीछे महारावल जयतसिंह जी का नाम लिखा हुआ मिलता है। महारावल जयतसिंह जी के पुत्र महारावल सीहड़देव जी हुए, जिसकी पुष्टि छप्पन के जगत गाँव के अम्बिकामाता के मन्दिर के एक स्तम्भ पर खुदे हुए महारावल सीहड़देव जी के पुत्र विजयसिंहदेव जी के वि० सं० १३०६ फाल्गुन शुक्ला ३ रविवार के लेख से भी होती है।[४] महारावल सीहड़देव जी के राज्य-समय के दो शिलालेख मिले हैं, जिसमें पहला वि० सं० १२७७ उपर्युक्त जगत गाँव के अम्बिकामाता के मन्दिर के एक स्तम्भ पर खुदा हुआ है[५] और दूसरा वि० सं० १२९१

१—संवत [त्] १२५१ वर्षे माघ वदि १ सोमे अद्येह महाराज श्री अमृतपालदेव राज्ये···।'
वड़ौदे के केन्द्रिय हनुमान जी की चरण-चौकी पर अंकित लेख की छाप से।

२—'संवत् १२६१ वर्षे अस्वि (आश्वि) न वदि० [३०] अ [श] नौ अमयपालराज्ये। मह: सरसी:······श्री केदार मठ: उधरितं······।'
—रामा के शिव-मंदिर के छबने पर अंकित लेख की छाप से।

इस लेख में अमृतपाल के स्थान पर अमयपाल शब्द का प्रयोग किया गया है, जो अमृतपालदेव का ही द्योतक है। कारण कि अमिय = अमय का अर्थ अमृत ही होता है।

३—'।······स्वहस्तोयं महाराजाधिराज श्री अमृतपालदेवस्य ॥ स्वहस्तोयं महाकुमार श्री सोमेश्वरदेवस्य ॥'
—वि० सं० १२४२ के ताम्रपत्र की छाप से।

४—ॐ ॥ संवत् १३०६ वर्षे फागुण (फाल्गुन सुदी) ३ रविदिने रेवति(ती) नक्षत्रे मीनस्थिते चंद्रे देवी अंबिका (यै) सुवंन (सुवर्ण) डं (दं) ड (डं) प्रतिठि(ष्ठि)त (तं)। गुहिल वंसे (शे) रा० (= रावल) जयतसी (सिं)ह पुत्र सीहड़ पौत्रवी(वि) जयस्यंघ (सिंह) देवेन कारापितं।'—मूल लेख की छाप से।

५—'संवत् १२७७ वरिषे (वर्षे) चैत्र सुदि १४ सोमदिने विशाष(खा) नक्षत्रे...... श्री अंबिकादेवी (व्यै) महारा

ऊ (रावल) श्री सीहड़देवराज्ये महासां (= सांधिविग्रहिक) वेल्हणकराण (राणकेन) रउणीजा ग्रामं......।,—मूल लेख की छाप से।

का डूंगरपुर राज्य के मोदपुर गाँव के बैंजवा [विन्ध्यवासिनी] माता के मन्दिर की दीवाल में लगा हुआ है[१]। गुहिलवंशी भर्तृभट शाखा के नरेशों का सबसे अंतिम लेख वि० सं० १२६१ का, जो अमृतपालदेव के राज्य-समय का है, रामा के शिव-मन्दिर के छबने पर हुआ और महारावल सीहड़देव जी का सबसे पहला लेख वि० सं० १२७७ का उपर्युक्त जगत गाँव के अम्बिका माता के मन्दिर के एक स्तम्भ पर खुदा हुआ प्राप्त हुआ है। अतएव इन लेखों से निश्चित है कि वि० सं० १२६१ के पश्चात् और १२७७ के पूर्व किसी समय महारावल सीहड़देव जी ने वागड़ पर पुनः अपना अधिकार कर लिया।

वि० सं० १२४२ के ताम्र-पत्र से पाया जाता है कि अमृतपालदेव वागड़ का स्वतंत्र शासक नहीं किन्तु वह गुजरात के राजा भीमदेव (२) के अधीन था और उसकी ओर से वागड़ पर शासन करता था।

गुजरात के राजा भीमदेव (२)[२] ने वि० सं० १२३५ से १२९८ तक शासन किया, किन्तु वह अयोग्य शासक था। इससे उसकी जीवित दशा में ही उसके मंत्रियों तथा सामन्तों ने बहुत सा राज्य दबा लिया। कितने ही सामन्त स्वतंत्र हो गये और उसके सम्बन्धी जयंतसिंह (जैत्रसिंह) ने कुछ समय के लिए उससे अणहिलवाड़े की गद्दी भी छीन ली। इससे गुजरात का राज्य निर्बल हो गया और उसकी बड़ी दुर्दशा हुई। इस अन्धाधुंधी के समय संभव है, कि सीहड़देव जी ने अमृतपालदेव से वागड़ का राज्य छीन कर उस पर अपना अधिकार कर लिया होगा।

महारावल सीहड़देव जी के उपर्युक्त वि० सं० १२७७ के लेख में सांधिविग्रहिक तथा १२९१ के लेख में महाप्रधान और उन (महारावल सीहड़देव जी) की उपाधि महाराजाधिराज होने का उल्लेख होने से निश्चित है कि महारावल सीहड़देव जी वागड़ के स्वतन्त्र शासक थे।

महारावल सीहड़देव जी के पुत्र महारावल जयसिंहदेव जी वागड़ के राजा हुए। इन्होंने वि० सं० १३०६ फाल्गुन शुक्ला ३ रविवार को छप्पन के जगत गाँव के अम्बिका-माता के मन्दिर पर सुवर्ण दण्ड चढ़ाया[३] और इनके राज्य-समय में वि० सं० १३०८

१—संवत् १२६१ वर्षे वैशाप (ख) शुदि ३ रवौ। वागड़ वट्ट (ट) पद्रके महाराजाधिराज श्री सीहड़देव विजयोदयी……।—मूल लेख की छाप से।

२—गुजरात के राजा भीमदेव (२) का वि० सं० १२५३ का लेख डूँगरपुर राज्य के वड़ा दीवड़ा के खेडेश्वर नामक शिवालय के सभामंडप में रक्खी हुई लक्ष्मीनारायण की मूर्ति, जो इस समय पुरातत्त्व-विभाग में सुरक्षित है, के आसन पर अंकित है।

'सं० १२५३ वर्षेऽद्येह महाराज श्री भीमदेवविजयराज्ये......डव्वण के श्री नित्य-प्रमोदित (तं)......महं (०) एल्हा सुतवइजाक (:) प्रणमति नित्यं। प्रतिमा कारापिता'।—मूल लेख की छाप से।

३—मूल अवतरण के लिए देखिए पृष्ठ ४२८ का टिप्पण ४।

कार्त्तिक शुक्ला १५ सोमवार को छप्पन के झाड़ोल गाँव में वयजनाथ नामक महादेव का मन्दिर बना।[१]

महारावल जयसिंहदेव जी के पश्चात् महारावल देवपालदेव जी वागड़ के शासक हुए। डूँगरपुर राज्य के ऊपर गाँव के अरिहंत नामक जैनमन्दिर की आषाढ़ादि वि० सं० १६४१ (चैत्रादि १६४२) वैशाख शुक्ला ५ शुक्रवार की प्रशस्ति से पाया जाता है कि महारावल देवपालदेव जी महारावल जयसिंहदेव जी के छोटे भाई थे[२], जो इन (महारावल जयसिंहदेव जी) के उत्तराधिकारी हुए।

भाटों (बड़वों) की ख्यातों एवं जनश्रुति से प्रसिद्ध है कि महारावल देवपालदेव जी ने परमारों से गलियाकोट का किला छीन लिया और वहाँ पर वे अपनी राजधानी स्थापित कर रहने लगे। इसमें महारावल देवपालदेव जी का परमारों से गलियाकोट का किला छीनकर वहाँ पर अपना अधिकार कर लेने की प्रसिद्धि है, वह तो ठीक है; परन्तु वहाँ उनका राजधानी स्थापित कर रहने की प्रसिद्धि ठीक नहीं है। संभव है कि उन्होंने परमारों से गलियाकोट का किला छीनकर वहाँ अपनी उपराजधानी बनाई हो। परन्तु उनकी मुख्य राजधानी तो बड़ौदा ही थी। अब तक की शोध से वागड़ के नरेशों की गलियाकोट में राजधानी रहने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है।

महारावल देवपालदेव जी के पश्चात् महारावल वीरसिंहदेव जी वि० सं० १३३६ के लगभग वागड़ के राजा हुए।

वि० सं० १३५६ में दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के छोटे भाई उगलखाँ ने गुजरात की चढ़ाई के अवसर पर वागड़ की राजधानी बड़ौदा पर आक्रमण किया और ऋषभदेव जी (केशरियानाथ) के प्रसिद्ध मंदिर को गिरा दिया[३]। नवीन शोध से सिद्ध होता है कि वि० सं० १३६० में दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी की चित्तौड़ पर चढ़ाई होने पर महारावल वीरसिंहदेव जी एक बड़ी सेना लेकर मेवाड़ के महारावल रत्नसिंह जी के सहायतार्थ गये, जो वहीं पर युद्ध में काम आये।

उगलखाँ का वागड़ पर आक्रमण होने और महारावल वीरसिंहदेव जी का अपने कई एक सैनिकों सहित अलाउद्दीन खिलजी के युद्ध में मारे जाने के कारण वागड़ की राज्य-शक्ति में निर्बलता आ गई। इससे छप्पन प्रदेश वागड़ के अधिकार से निकल

१—ॐ संवत् १३०८ वर्षे (वर्षे) कार्ती (र्ति)क सुदि १५ सोमदिन अद्येह वागड़मंडले महाराजकुल श्रीजयस्यंघ (सिंह) देव कल्याणविजयराज्ये झाड़ोलग्रामे श्री विजयनाथदेव......।
—मूल लेख की छाप से—

२—......जेसलादनुज देदु नृपालः ॥—मूल लेख की छाप से।

३—इस मन्दिर के गिर जाने और बड़ौदा राजधानी उठ जाने पर ऋषभदेव जी की मूर्ति उदयपुर राज्य के धूलेव गाँव में ले जाकर स्थापित की गई है। इससे धूलेव दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आम्नाय के जैनियों का एक बड़ा तीर्थ-स्थान हो गया है।

गया। तब ईडर के राठोड़ राजा सोनिग के वंशज रावत कानड़देव ने गुजरात की ओर से आकर वहाँ पर अपना अधिकार कर लिया।[1]

भाटों (बड़वों) की ख्यातों और जनश्रुति के अनुसार महारावल वीरसिंहदेव जी के राज्य-समय में सेठ सालाशाह के होने और उसकी पुत्री से शादी करने के लिए गये हुए डूँगरिया नामक भील को मारकर महारावल वीरसिंहदेव जी के उसके नाम पर डूँगरपुर शहर बसाकर वहाँ अपनी राजधानी स्थापित करने, सालाशाह के महारावल वीरसिंहदेव जी का सेनाध्यक्ष होकर ससैन्य गुजरात की ओर जाकर आधे अहमदाबाद पर अपनी विजय-पताका फहराने और महारावल वीरसिंहदेव जी का कुटिल कर्मचारियों के कहने में आकर उसे गुजरात से वापिस बुलाकर तोप से मरवा डालने की जो प्रसिद्धि है वह कपोल-कल्पित है और इतिहास के अंधकार की दशा में प्रचलित हो गई है, जिसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

महारावल वीरसिंहदेव जी के पश्चात् महारावल भचुंड जी और महारावल डूँगरसिंह जी क्रमशः वागड़ के राजा हुए।

महारावल डूँगरसिंह जी के राज्य-समय में वर्तमान डूँगरपुर शहर के स्थान पर बरौंड़ा और चौखला खाँप के भीलों की एक बड़ी पाल थी।[2]

इस पाल को हटा कर महारावल डूँगरसिंह जी ने वि० सं० १४१५ के लगभग अपने नाम से डूँगरपुर शहर बसाया और बड़ौदा से राजधानी उठाकर वहाँ अपनी नवीन राजधानी स्थापित की।

महारावल डूँगरसिंह जी के डूँगरपुर शहर बसाने और बड़ौदा बदलकर वहाँ अपनी नवीन राजधानी स्थापित करने का कारण यह प्रतीत होता है कि बड़ौदा चौरस मैदान में बसा हुआ था। उसके निकट कोई बड़े पहाड़ अथवा घने जंगल नहीं थे। इससे आक्रमणकारी बिना किसी प्राकृतिक रुकावट के बड़ौदा पर बड़ी सुगमता से आक्रमण कर सकते थे। डूँगरपुर की प्राकृतिक स्थिति बड़ौदा के विरुद्ध थी। इसके चारों ओर विषम पर्वत और कण्टकाकीर्ण जंगल थे। इससे लड़ाइ-झगड़ों के समय में ऐसी ही भूमि में राजधानी बनाने की बड़ी आवश्यकता रहती थी। इसी कारण संभव है कि महारावल डूँगरसिंह जी ने चौरस मैदान से हटाकर पहाड़ों के बीच में अपनी राजधानी स्थापित की हो।

१—रावत कानड़देव के वंशजों का लगभग ढाई सौ वर्ष तक छप्पन पर अधिकार रहा। परन्तु पीछे से मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह जी और प्रतापसिंह जी ने उनके मेवासे तोड़कर वहाँ पर अपना अधिकार कर लिया। इससे छप्पन मेवाड़ के अधीन हो गया।

२—डूँगरपुर शहर बसने और वहाँ राजधानी स्थापित होने पर बरौंड़ा और चोखला भील राजधानी से पश्चिम में पाँच मील की दूरी पर जा बसे और वहाँ उन्होंने बलवाड़े की पाल आबाद की।

श्रीशः शरणम्

जयसिंहराजं प्रति श्रीमच्छत्रपतेः शिवप्रभोः पत्रम्

श्री गलगलीरामाचार्य, सम्पादक-'मधुर-वाणी'

कविः—कविराजः

राजाधिराज ! वरमाण्डलिकप्रणेतः
रम्यस्थितिप्रसव ! भारतपुष्पवाट्याः ।
श्रीरामचन्द्रमहितांश ! तव प्रभावाद्
नूनं समुन्नतशिरा रजपूतजातिः ॥ १ ॥

शौर्यश्रियैव तव बाबरवंशराज्य—
लक्ष्मीरियं प्रबलतामयतं नितान्तम् ।
भाग्यैः शुभैरनुपमैश्च तयाऽऽत्मनोऽल-
मासादिता विजयहेतुसहायता ते ॥ २ ॥

तारुण्यदीप्त ! जयसिंह ! कुशाग्रबुद्धे !
भाग्याभिवृद्ध ! बल-वीर्यसमृद्धिशालिन् !
आशीर्मयीं त्वमुररीकुरु मे प्रणाम-
रूपां श्रिया निरुपमाद्य मदीयसेवाम् ॥ ३ ॥

पायात्सदैव स जगज्जनको भवन्तम्
न्यायस्य धर्मसहितस्य दिशेच्च मार्गम् ।
संश्रूयते किल मयाऽद्य मदाक्रमार्थं
जेतुं च दक्षिणदिशं स भवानुपेतः ॥ ४ ॥

हिन्दोर्जनस्य हृदयेक्षणरक्तधारा-
सेकेन रक्तमुखतां लषसेऽधिगन्तुम् ।
कृत्येन तेन वदनं तव कज्जलाभि
लिप्तं भवेदिति न वेत्सि परं हि दुःखम् ॥ ५ ॥

यस्मात्त्वैव जननावनिभारतेस्मिन्
धर्मे च पावनतमे महती विपत्तिः ।
संजायते स्म बत ते ह्यनया च कृत्या
जानासि नैव तदिदं परमं विचित्रम् ॥ ६ ॥

अन्तर्दृशा यदि विचारयसि क्षणं त्वं
स्वारब्धकर्मविषये महनीयकीर्ते !'

हस्तं निजं च कवचस्य पुरोविभागं
संपश्यसीह यदि तर्हि तवैव भायात् ॥ ७ ॥
तद्रक्तिमा कुशल ! यस्य जनस्य रक्ता-
ज्जातस्सबान्धवगणो ह्यथवा परा स्यात् ।
तद्रक्तवर्णपरिणाम वदान्यबुद्धे !
लोकद्वये किमरुणो भविताऽथ कृष्णः ॥ ८ ॥
धीर ! स्वयं त्वमनधीनतयाऽऽगमिष्यो
जेतुं यदि प्रबलदक्षिणदेशमेनम् ।
तर्ह्यास्तृतं ममकरिष्यमहं मदीयं
नेत्रं च मस्तकमिदं तव पादमूले ॥ ९ ॥
भास्वत्तुरङ्गमनुसृत्य तवाहमेव
सैन्येन वीर ! महता सहसाऽगमिष्यम् ।
सर्वां च दक्षिणदिशं त्वदधीनभूतां
हन्ताऽकरिष्यमहमेव नितान्तहर्षान् ॥ १० ॥
औरङ्गजेबनृपतेर्यवनेश्वरस्य
धर्मद्रुहः सकलसाधुविहिंसकस्य ।
जाले स्वयं कपटकूटमये पतंस्त्व-
मस्मानपीह बत पातयितुं समागाः ॥११॥
क्रीडामि केन विधिना भवता किलाहं
जानामि नाहमधुना वरवीर ! किञ्चित् ।
किं संगतः शुभवता भवता भवानि
नास्त्येव तर्हि परमः पुरुषार्थलाभः ॥१२॥
सेवां न वीरपुरुषः समयस्य कुर्यात्
सिंहः कदापि भजते न शृगालवृत्तिम् ।
तीक्ष्णौ कृपाणपरशू यदि चोपयुञ्ज्यां
भूयान्भवेदुभयपक्षगहिन्दुनाशः ॥१३॥
संदूयते मम मनो नितरामनेन
त्यक्त्वार्थितं यवनशोणितसारपानम् ।
आत्मीयलोकरुधिरक्षरणाय कोशात्
निस्सारयेय करवालमहो करालम् ॥१४॥
यद्याहवाय यवनाः स्वयमापतिष्यन्
अस्माकमद्य परमोच्चपराक्रमाणाम् ।
युद्धाटवीमृगयुवृत्तिमुपाश्रितानां
नूनं शरण्यपदवीं सहसाऽभजिष्यन् ॥१५॥
स्वार्थैकसाधनपरः परहिंसनार्थे
बद्धादरश्च करुणाकणिकाविहीनः ।

न्यायाच्च धर्मसुपथादवरङ्गजेब:
भ्रष्टो भृशं क्षितितले नरराक्षमोऽसौ ॥१६॥
व्यर्थो यदापफुलखानपराक्रमोऽभूत्
शाहिस्तखानबलमप्यफलं यदासीत् ।
योद्धुं भवानिह तदा प्रहितोऽस्ति तेन
सोढुं क्षमो नहि मदाक्रमणं स भीरु: ॥१७॥
आस्येन्मिथ: प्रहरणक्षतसिंहवृन्दं
गृध्रा लसन्तु वनराजपदं प्रपन्ना: ।
भूयान्न कोऽपि भुवि हिन्दुसमाजमध्ये
वीरोऽवशिष्ट इति तस्य दृढा दुराशा ॥१८॥
एतद्रहस्यकपटं पटुबुद्धिभाजा
न ज्ञायते कथमहो भवता विचित्रम् ।
तस्यैन्द्रजालिककलाकुशलप्रयोगाद्
भ्रान्तो भवान् भृशमितीह मदीयतर्क: ॥१९॥
लोके शुभाशुभफलान्यनुभूतवांस्त्वं
सम्मेलिता उपवने सुम-कण्टकाश्च ।
अस्माभिरेव सह हन्त ! नियोत्स्यमान:
च्छेत्ताऽसि हैन्दवशिरांसि न युक्तमेतत् ॥२०॥
प्रौढिं परामुपगतोऽपि पराक्रमेण
तारुण्यबालिशविलासपरोऽद्य माभू: ।
साधीयसीं स्मर सदैव हि सादिनाम्ना
साधूत्तमेन गदितां महितां च वाणीम् ॥२१॥
'सवस्थलेषु तुरगो न हि चोदनीय:
कुर्यात्पलायनमपास्तफल: प्रसङ्गे' ।
व्याघ्रो मृगादिषु निदर्शयति स्वभावं
सिंहेन नैव कुरुते गृहयुद्धमेष: ॥२२॥
यद्यस्ति वारि तव वीर करालखड्गे
स्याच्चेत्प्रधावदुरुवेगहये च शक्ति: ।
धर्मद्रुहां विशशन त्विसलामधर्म-
निर्मूलनं कुरु तदेव तवोचितं स्यात् ॥२३॥
दाराशिकोहनृपसूनुरुदारचेता
देशस्य राजपदवीमभजिष्यदस्य ।
तर्हि प्रजासहजमर्वसुखान्यलप्स्यद्
दुर्दैविहिन्दुजनता सुचिराय नूनम् ॥२४॥
प्रातारयस्त्वमनघं जसवन्तसिंहं
नैवाकरोस्त्वमुचितानुचितानुचिन्ताम् ।

गोमायुवृत्तिमनुविन्दसि नैव पूर्णां
त्वं युद्धसाहसमहो हरिणा करोषि ॥२५॥
सेवां विधर्मिनृपतेरधिगत्य बन्धु-
द्रोहाय हा श्रमजुषस्तव कोऽर्थलाभः ।
ऐश्वर्य-मान-परमोच्चपदाभिलाषः
संपत्स्यते सपदि ते मृगतृष्णिकैव ॥२६॥
भूरिश्रमेण रमणीं रमणीयरूपां
संपाद्य तां समुपभोगकृते परस्मै ।
यो वा ददाति जडधीस्तव तद्विभेदः
देशान्विजित्य यवनार्पणकारिणः कः ॥२७॥
नीचस्य तस्य नृपतेः कपटानुकम्पां
किं वा स्तवीपि जयसिंह ! विमुग्धचेताः ।
जुंभारसिंहकृतसर्वसहायतायाः
किं वा फलं समभवत्त्वमवैषि सर्वम् ॥२८॥
श्रीच्छत्रमालनृपतिं परितः कुमारम्
उद्भाविताश्च विपदः खलशेखरेण ।
अन्येपु हिन्दुषु तथा महतीं विपत्तिं
सम्प्रापितां किमु न वेत्ति भवान्प्रसिद्धाम् ॥२९॥
जानाम्यहं तदपि यद्भवता विवाह-
सम्बन्ध एव घटितः कुटिलेन तेन ।
तस्माद्विनाशितमहो भवताऽद्य विश्व-
विख्याततमात्मकुलगौरवमेव हन्त ! ॥३०॥
उद्वाहबन्धनमिदं नरराक्षसस्य
तुच्छं तथा रुधिरबंधनतो न गाढम् ।
आत्मेष्टसाधनकृते जनकस्य चासून्
नाजीगणद्रुधिरमेव सहोदरस्य ॥३१॥
त्वं राजभक्तिमिषतो यदि दोषशून्य-
मात्मानमद्य हि समर्थयसि प्रकामम् ।
तर्हि स्मर क्षणमये ! तव कीदृगासीद्
वृत्तिर्वत क्षितिपतौ च शहाजहाने ॥३२॥
देवेन बुद्धिकणिका यदि ते प्रदत्ता
संकत्थसे निजपराक्रमपौरुषे च ॥
तर्ह्यात्मजन्मधरणीबहुतापतप्तं
खड्गं कुरुष्व परिपीडितबाष्पसिक्तम् ॥३३॥
नायं मिथः समुचितः समयो नियोद्धुं
वीरेषु हिन्दुषु महान्क्षतिभार आस्ते ।

देशे धने च विबुधालय-देवमूर्ति-
बालेषु दुस्सहतमा विपदोऽधुना नः ॥३४॥
कश्चिन्नदीह समयं प्रचलत्कुकृत्य-
मेषां हि हिन्दुकुललक्ष्म च नैव शिष्यात् ।
आश्चर्यमेतदखिलं विपुलं च देशं
यन्मुष्टिमेययवना बत शासतीमम् ॥३५॥
स्वीयार्थसाधनमिदं न महत्त्वहेतु-
रेवं विमर्शमतिरस्ति तदाऽभिपश्य ।
अस्मान्प्रतारयति कीदृगसौ दुरात्मा
वक्त्रे च दर्शयति नैकविधान्विकारान् ॥३६॥
अस्माकमेव दृढशृङ्खलयाऽस्मदीयान्
बध्नाति हन्त चरणाञ्छलबुद्धिरेषः ।
खड्गैः छिनत्ति निशितैः शतशोऽस्मदीयै-
रस्माकमेव च शिरांसि दुराशयेन ॥३८॥
तस्माद्वयं सपदि हिन्दुजनस्य हिन्दु-
धर्मस्य हिन्दुविषयस्य च रक्षणार्थम् ।
काष्ठां परां प्रयतनस्य सहैकमत्याः
वीरेश ! सांप्रतमये करवाम धैर्यात् ॥३९॥
कार्यः प्रयत्नगरिमा ननु निश्चितार्थै-
रस्माभिरत्र दृढयुक्तिचयोऽपि योज्यः ।
देशस्य रक्षणकृते सकलानुपायान्
आवश्यकांश्च बहुधा विदधीत वीरः ॥ ४० ॥
उल्लासनीयमधुना वरवीरवृत्ति-
शाणेन खड्गपटल यतनैश्च दैवम ।
तुर्काधिपापकपटे पटवे प्रदेयं
तुर्कीययुक्तिनिचयैरुचितोत्तरं च ॥ ४१ ॥
सङ्गच्छते यदि भवान् जसवन्तसिंह-
वीरेण तत्कपटिराजविपाटनोत्कः ।
एकीभवेश्चरणकोविदराजसिंह-
राणेन तर्हि महदेव भवेद्धि कार्यम् ॥४२॥
युध्यध्वमाशु रभसात्सकलासु दिक्षु
विच्छिन्त दुष्टभुजगस्य शिरः शिलाभिः ।
शश्वत्तदा स विमृशेत्स्वकृतेर्विपाकं
स्याद्दक्षिणे कपटजालसृतौ न शक्तः ॥ ४३ ॥
वीरैयुतश्च कचकदृढभल्लहस्तै-
र्निःपातयाम्यहमिह प्रसभं समूलम् ।

नूनं वियुग्जयपुरादिलशाहभूपं
तं गोलकुण्डसुलतानकुतुब्शाहं च ॥ ४४ ॥
धाराधरैरिव रसद्भिरिहासिधारा-
तीर्थेषु पापकलुषान्यवनान्भटौघैः ।
संस्नापयामि रभसादिसलामधर्म-
लक्ष्माणि दक्षिणदिशि क्षपयामि मङ्क्षु ॥ ४५ ॥
कर्तव्यदक्ष-वरभल्लविराजिवीरै-
रुल्लोलदूर्मिपटला च गभीरघोषा ।
स्रोतस्विनीव ननु दक्षिणशैलमध्यात्
संप्राप्नुयां समतमोत्तरदेशभूमिम् ॥४६ ॥
शीघ्रं समेत्य तनुयां भवदीयसेवां
प्रक्ष्याम्यरिं किल भवत्सहकारमूल्यम् ।
युध्यामहै चतसृपूतदिशासु सर्वं
सङ्कोचयाम समराङ्गणमेव तस्य ॥ ४७ ॥
सेनाविलोललहरीनिकरेण दिल्लीं
संप्लावयाम रिपुजीर्यदुदग्रहर्म्यम् ।
सिंहासने (औरंग) व्यपगते हि विनष्टशोभं (जेब)
औरङ्गजेब इति नाम वृथैव भूयात् ॥ ४८ ॥
लीनो भवेत्कचिदमुष्य विहिंस्रखड्गः
उत्सादितं कपटजालमपि क्षणे स्यात् ।
शुद्धां च शोणितनदीं भुवि वाहयाम ॥ ४९ ॥
तस्यां च नाकगपितॄनपि तर्पयाम
न्यायप्रियस्य च जगत्सवितुः प्रसादात् ।
भूमेरधः खलरिपोर्विदधाम धाम
कार्यं त्विदं न कठिनं हृदयाक्षिहस्ते
सम्मेलिते सुहृदुदार मिथोऽनुकूलम् ॥ ५० ॥
चेतोद्वयं हि मिलितं गिरिमप्युदग्रं
द्राक्पाटयेज्जलनिधिं नु विशोषयेच्च ।
वक्तव्यमस्ति बहु मे विषये किलास्मिन्
तल्लेखनं समुचितं मम नैव पत्रे ॥ ५१ ॥
आवामुभौ च मिलितौ बहु संवदावे
तीच्छामि यच्छ्रम-शुचौ न वृथा भवेताम् ।
वाञ्छास्ति चेत्तव समक्षमुपेत्य वक्ष्ये
श्रोष्यामि च त्वदुदितं प्रणयेन सर्वम् ॥ ५२ ॥
वार्ताविधूमनवगुण्ठितचारुवक्त्रा–
मावां रहो नु करवाव चिराय बन्धू ।

तस्याः कचे जटिलतामपसारयिष्ये
सौहार्दतः सपदि कङ्कतिकासहायः ॥५३॥
यत्नस्य साधु करवाम परां नु काष्ठा-
मुन्मत्तरक्षसि तथा युनजाव मन्त्रम् ।
अन्विष्य सिद्ध्यपनयत्यथमाश्वमुत्र
किंचेह नाम करवाम समुज्ज्वलं नौ ॥५४॥
खड्गं शपामि तुरगं च शपामि देशे
धर्मं शपामि मम सङ्गमनेन नूनम् ।
नैवापतेत्त्वयि विपत्तिलवोपि, माभू-
राशङ्कितोऽफजुलखानवधप्रसङ्गात् ॥५५॥
मन्मारणाय हबशीकुलसादिलोकैः
सार्धं द्विषट्शतमितैः स समागतोऽत्र ।
न प्राहरिष्यमहमेव पुरा हि तस्मिन्
कस्तेऽलिखिष्यदिदमाशयवेदि पत्रम् ॥५६॥
नाहं बिभेमि भवतो, मम नासि वैरी
वीर ! स्वयं हि जयसिंह ! कुतोऽपि हेतोः।
यद्युत्तरं प्रहिणुया उचितं तदोप-
स्थास्यामि ते निशि निरस्तभयोऽहमेकः ॥५७॥
शाहिस्तखानरिपुकंचुकपेशलब्धे
पत्रं रहस्यममेष निदर्शयेयम ।
सिञ्चेयमक्षियुगले तव संशयाम्भः
दूरीभवेत्तव ततः सुखमोहनिद्रा ॥५८॥
स्वप्रस्थवास्तवफलं तव दर्शयिष्ये
प्रक्ष्याम्यहं सपदि वीर ! तदुत्तरं त्वाम ।
भूयान्मनोमतमितं यदि तं न पत्रं
सैन्यं भवेत्तव मदीयकृपाणलक्ष्यम् ॥५९॥
संच्छादयेन्निजमुखं भगवान्दिनेशः
सन्ध्यापटाञ्चलवशादवशो यदा श्वः ।
खड्गस्तदा मम निरावरणो हि भूयात्
स्वस्त्यस्तु विज्ञवर ! ते राजपूतवीर ॥६०॥

(लघुकाव्यमिदं श्रीशिवच्छत्रपतिना छन्दोमय्या यवनभाषया लिखितस्य पत्रस्याक्षरशोऽनुवादरूपम् । नात्र कवेः कोऽप्युत्प्रेक्षादेरंशः । न वा स्वकल्पना-शक्तेरल्पोऽप्यवकाशः)

संपादकः

वैज्ञानिक खण्ड

स्थिति-गणित का विकास

श्री के० सी० एस० पिल्लाई, एम० एस्-सी०

किसी अँगरेज ने कहा है कि संसार में तीन तरह के झूठ हैं। उनमें पहला है मामूली झूठ जो बड़ा ही हलका हो। दूसरा तो भारी झूठ है जो गहरा और घृणा का पात्र हो। इन दोनों को भी नीचा दिखाता है और एक तरह का झूठ—स्थिति गणितात्मक झूठ (Statistical lie) मगर जब वह महान् व्यक्ति यह अनूठी सूझ प्रकट कर ही रहा था, उसके देखते ही देखते वही झूठा स्थिति गणित-विज्ञान सारी दुनिया पर अपना सिक्का जमा रहा था। और अचंभे की बात है कि वही विज्ञान जो अव्वल दर्जे के झूठ से भी एक कदम बढ़कर हो आज विज्ञान-जगत् में भारी परिवर्त्तन कर रहा है।

हंस पानी को छोड़कर क्षीर ही पी लेता है। यह महात्मा का ही काम है कि दोष तजे और गुण अपनावे। यह दुनिया हम जानते ही हैं कि गुण-दोषों की खिचड़ी है। मगर इस गुण-दोषों की खिचड़ी से दोष को अलग कर दिया जाता तो दुनिया शायद स्वर्ग हो जाती। श्रीकृष्ण परमात्मा ने गीता के जरिये अर्जुन को क्या समझाया—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।

दोष तो संसार में कभी कभी इतना भारी हो जाता है कि धरती माता को उसका बोझ सहना दूभर मालूम पड़ता है और इस बोझ को हलका करने या दूर करने के लिए परमात्मा के अवतार की आवश्यकता बराबर होती रहती है। मगर दोष का नाम ही है भूल। दोष या भूल का जड़ से उखाड़ देना यदि ऐसा मुश्किल काम है तो स्थिति गणित का कर्मक्षेत्र कितना विशाल है जब कि उस विज्ञान का लक्ष्य भूलों (errors) का अलगाना है।

हम भूलों को क्यों पढ़ें ? भौतिक विज्ञान (physics) से एक उदाहरण लीजिए। कोई गवेषी एक परीक्षण कर रहा है। वह जितना ही प्रयत्न करे ठीक उत्तर पाना मुश्किल है क्योंकि मशीन आब-हवा आदि कितनी ही परिस्थितियों पर उसका उत्तर निर्भर है। वह चाहे सौ बार एक ही परीक्षण बराबर करता रहे किन्तु शायद ही उसका एक ही उत्तर मिलेगा। एक ही उत्तर दो बार मिलना भी शक की बात है। मगर जो भी हो, उसके परीक्षणों में यदि कोई बड़ी भूल न आ गई हो तो उन उत्तरों के बीच बड़े अंतर न रहेंगे। सब उत्तर ठीक उत्तर के नजदीक ही रहेंगे और उन सौ उत्तरों से मध्यवर्ती को ले लिया जाय वह ठीक उत्तर माना जायगा।

हम एक दूसरी ओर से इस उदाहरण का विचार करें। सोचिए कि कई बार परीक्षण करके हमें ठीक उत्तर मिला है। यदि फिर हम परीक्षण करें तो क्या हमें वही उत्तर मिलेगा थोड़े ही। फिर हम कैसे समझें कि हमारा उत्तर ठीक है कि नहीं ? किन्तु यदि

हमें मालूम है कि ठीक उत्तर के दोनों तरफ एक छोटी सी संख्या का फर्क होने पर भी उत्तर ठीक माने जायँ और यदि इन सीमाओं के बाहर कोई उत्तर आता है तो हम जरूर कह सकते हैं कि वह उत्तर गलत है। अर्थात् यदि हमारा ठीक उत्तर 'क' है और 'क + ग' और 'क − ग' इन दोनों के बीच हमें परीक्षण का उत्तर मिले तो वह ठीक मानें और इन दोनों की परिधि के बाहर मिले तो गलत मानें। मगर समझिए कि 'ग' एक छोटी संख्या है और उसे हम संभाव्य भूल (probable error) कहें। स्थिति गणित का ध्येय इसी भूल 'ग' का अध्ययन है।

तात्पर्य यह है कि स्टैटिस्टिक्टस ने समझ रखा है कि मनुष्य-मात्र से भूल होती है। यदि एक आदमी कहता है कि मेरी उँचाई पाँच फुट पाँच इंच की है तो क्या वह झूठ नहीं बोल रहा है? उसने कैसे माप डाला कि अपनी उँचाई ठीक पाँच फुट, पाँच इंच की है, इससे अणुमात्र भी अधिक या कम नहीं? यदि इंच के भी दस भाग करता तो वह शायद देख पाता कि अपनी उँचाई पाँच फुट, पाँच इंच और इंच के तीन भाग की भी है। और यदि इंच के दस भाग करके फिर हर एक भाग के भी दस भाग करता तो उसकी उँचाई पाँच फुट पाँच इंच, तीन भाग और छः उपभाग की है। और ऐसा करे तो अंत कहाँ है? और संक्षेप में कहें, तो हमें मालूम हो जायगा कि यदि कोई पूछे कि आपकी उँचाई क्या है, हम ठीक जवाब नहीं दे सकते। हम सिर्फ दे सकते हैं एक जवाब जो ठीक जवाब के आस-पास ही रहेगा।

सोचिए कि किसी राज्य की जन-संख्या १२,६८,१०३ है। इससे क्या हम समझते हैं कि उस राज्य की जन-संख्या ठीक १२,६८,१०३ है? कभी नहीं। हम जानते ही हैं कि इस जन-संख्या के गिनने में अवश्य कहीं कहीं भूल हुई होगी। और संभव है कि वह जन-संख्या प्राप्त जन-संख्या से कुछ कम हो या कुछ अधिक हो। आखिर क्या फर्क होनेवाला है, यदि वास्तविक जन-संख्या प्राप्त संख्या से हजार कम हो या बढ़कर हो? हम जब जन-संख्या के बारे में सोचते हैं तो लाख या करोड़ की चिन्ता में हैं। हम कहते हैं कि ऊपर उक्त राज्य की जन-संख्या बारह लाख के लगभग है।

अत: जब किसी ने कहा कि स्थिति गणित में झूठ है तो उस आदमी ने नहीं समझा कि झूठ सब कहीं है। उसको साधारणत: हम नहीं समझते। (उँचाई का उदाहरण) जब कोई कहता है कि स्थिति गणित में झूठ है, उसको जानना चाहिए कि झूठ को झूठ समझकर व्यवहार करना झूठ को झूठ न मानने से भला है।

आधुनिक स्थिति गणित भूल के सिद्धांत (Theory of errors) पर निर्भर है। साथ ही साथ उस विज्ञान का और एक प्रबल सिद्धांत है—नमूनावाद (theory of samples) अनगिनत व्यक्तियों के एक समूह से यदि हम बीस या पचास व्यक्तियों को निष्पक्ष ले लें तो उस बीस पचास का नमूना अनगिनत व्यक्तियों के उस समूह के विचार में कामयाब हो जायगा। मगर एक बात न भूलें। वे अनगिनत व्यक्ति समजात (homogenous) हों। यदि हमें एक पेड़ के पत्ते की लंबाई और चौड़ाई के बारे में सीखना है तो उस पेड़ के अनगिनत पत्तों को मापकर लंबाई और चौड़ाई का अनुमान करना असंभव है। हमें केवल चाहिए कि इधर और उधर से दस-बीस पत्ते तोड़ लें और उनकी लंबाई-चौड़ाई ले

लें। उन पत्तों की लंबाई और चौड़ाई से हम यह तय कर सकते हैं कि अमुक पेड़ के पत्ते की लंबाई और चौड़ाई साधारणत: क्या है।

हमारी जिंदगी में भी नमूनों का सिद्धान्त भरा पड़ा है। हमें यह जानना चाहिए कि एक तरह का गेहूँ दूसरी तरह के गेहूँ से बढ़कर अच्छा है कि नहीं। साधारणत: हम क्या करते हैं? दोनों गेहुँओं के ढेर से एक एक मुट्ठी भर दाने ले लेते हैं और तय करते हैं कि उनमें कौन बुरा है और कौन अच्छा। यदि हम हर एक दाने को लेकर इस बात के तय करने में तुले हुए हैं कि कौन भला है और कौन बुरा तो हम अव्वल दर्जे के बेवकूफ ही ठहरेंगे।

यह नमूने का सिद्धांत बड़ा ही उपयोगी है। हम एक कारखाने का उदाहरण लें जहाँ बिजली के बल्ब बनाये जाते हैं। किस तरह गारण्टी दी जाती है कि अमुक बल्ब कितने समय तक जलता रहेगा। यदि कारखाने के सब बल्वों को ही जलाकर गारण्टी दी जाती है तो यह बड़ी हँसी की बात है। अत: गारण्टी देने के लिए हजारों बल्बों में से दस-बीस बल्बों को लेकर तय किया जाता है कि बल्ब कितने घंटे जलता रहेगा। यहाँ भी नमूना कारगर होता है।

नमूनों का सिद्धांत लेकर हम कठिन से कठिन कामों को भी आसान बना सकते हैं। यदि किसी ने पूछा कि डूँगरपुरवाले की उँचाई क्या है तो क्या जवाब दिया जाय। इसके निश्चय करने में हमें हर एक डूँगरपुरवाले की उँचाई मापने की आवश्यकता नहीं है। मगर उनके बीच से निष्पक्षता के नियम पर किन्हीं हजार आदमियों की उँचाई ले लें। उस आँकड़े से हमें अपना ध्येय मिल जाता है।

सूरज जब पश्चिम में अपनी सुनहली किरणों को छोड़कर डूब जानेवाला है तो मधुमक्खियों के छत्ते की ओर देखो। हजारों मक्खियाँ उस छत्ते में जा छिपी होंगी। मगर कोई कोई मक्खी उस छत्ते के चारों ओर भूँ-भूँ करके मँडराती भी होंगी। ठीक इसी प्रकार, हजारों आदमियों की उँचाई का आँकड़ा लेकर यदि हम ध्यान से देखेंगे तो हमें मालूम हो जायगा कि किसी एक संख्या को बहुत सी उँचाइयाँ घेर रही हैं और कई कई थोड़ी थोड़ी दूरी पर भी पड़ी हैं। जिस संख्या के नजदीक बहुत सी उँचाइयाँ पड़ रही हैं वह है मक्खियों का जैसा छत्ता। उस संख्या को हम मध्यवर्त्ती कहें। वह मध्यवर्त्ती है डूँगरपुरवाले की उँचाई।

मधुमक्खियों का वह चित्र न भूलें। यद्यपि मध्यवर्त्ती के पास बहुत सी उँचाइयाँ पड़ रही हैं तो भी बाकी उँचाइयाँ थोड़ी थोड़ी दूरी पर बिखर गई हैं। यह तितर बितर होने की रीति हम कैसे समझ सकते हैं? उस मध्यवर्त्ती से अमुक अमुक उँचाइयाँ कितनी दूरी पर हैं, यह समझना आवश्यक है ही। उस विकिरण (Dispersion) के मापने के लिए स्थिति गणित में कई मार्ग हैं।

अत: एक नमूने में मध्यवर्त्ती और विकिरण, दोनों के पढ़ने की आवश्यकता है। उस विकिरण की माप ठीक 'ग' है जो भौतिक विज्ञान के उदाहरण में आ गया हो।

इन मामूली उदाहरणों को छोड़ हम अब स्थिति गणित के विकास के बारे में विचार करें। आज विज्ञान की ऐसी कोई शाखा नहीं है जो स्थिति गणित से भीख न माँगती हो। कृषि-विज्ञान, अर्थशास्त्र, भौतिक विज्ञान, परम्पराशास्त्र, मनोविज्ञान आदि कितने ही स्थिति गणित की छाया में बढ़ रहे हैं।

स्थिति गणित के आविर्भाव के पहले कृषिविज्ञान केवल निःसहाय पड़ा था। कृषिविज्ञान के क्षेत्र में स्थिति गणित के उतरने पर ही उस विज्ञान का दिन-दूने रात-चौगुने की तरह बढ़ाव हुआ। पहले तो कृषि-विज्ञान में यदि इस बात के तय करने में कि दस बीजों में सबसे अच्छा कौन है, कई वर्षों का लगातार परीक्षण करना पड़ता, तो अब स्थिति गणित के जरिये एक ही वर्ष परीक्षण करना काफी है। स्थिति गणित की निर्दिष्ट वार्षिक डिजाइनों (Agricultural designs) के सहारे परीक्षण करें तो एक प्लोट (plot) से जो उपज है उसके कई अंश बना दे सकते हैं—जैसे बीज के गुण से होनेवाला उपज का अंश, भूमि की फलता का उपज अंश आदि आदि। जब एक प्लोट की उपज से बीज के गुण की उपज का अंश हम अलग कर सकते हैं, तो फिर एक बीज दूसरे बीज से कहीं बढ़कर अच्छा है कि नहीं, उसके तय करने में देर ही नहीं लगती। गत शताब्द के आरम्भ में कृषि-परीक्षक क्या करते थे कि यदि एक बीज की उपज दूसरे बीज की उपज से कहीं बढ़कर हुई तो पहले बीजको अच्छा समझते। मगर यह बड़ी भूल है, क्योंकि एक उपज के दूसरी उपज से बढ़कर होने में भूमि, आबहवा आदि का भी भाग है। अतः केवल एक उपज का दूसरी उपज से अधिक होना एक बीज के दूसरे बीज से अच्छा होने का प्रमाण नहीं है। स्थिति गणित ने आकर कृषि-परीक्षणों को सफल बना दिया। और स्थिति गणित का कृषि विज्ञान पर इतना प्रभाव बढ़ गया है कि यदि स्थिति गणित की डिजाइनो का किसी कृषि-परीक्षण में सहारा न लिया गया तो वह परीक्षण परीक्षण ही न माना जाता। रो थें स्टेड, अयोवा (Rothamsted, Iowa) आदि गवेषण-केन्द्रों ने पहले पहल ऐसे स्थिति गणितात्मक परीक्षणों की उपयोगिता संसार को समझा दी।

और विज्ञानों की भी ठीक कृषि-विज्ञान की सी अवस्था है। अर्थशास्त्र में भी सारे तत्त्वों की जड़ में गणित पड़ा हुआ है। एकाधिकार (monopoly), द्वयाधिकार (duopoly), माँग (demand), उत्पादन (production), उपयोगिता (utility) यह सब जब स्थिति गणितात्मक बना देते हैं तो गवेषण का रास्ता सीधा हो जाता है। बिना गणित के अर्थशास्त्र निरा मामूली है, हल्का है। यदि उस शास्त्र की गहराई को मापना चाहें तो स्थिति गणित का पूरा सहयोग आवश्यक है।

परम्परा विज्ञान (Genetics) अब स्थिति गणित का हाथ पकड़कर आगे बढ़ रहा है। जब मेण्डल (Mendel) ने अपने बगीचे के पौधों पर परीक्षण किया तो देखा कि किसी एक पौधे के (mirabilis Jalapa) लाल फूल से उसी तरह के और एक पौधे के सफेद फूल के संयोग का फल लाल-सफेद फूलों के पौधे हैं। यदि ऐसे एक लाल-सफेद फूल का और एक लाल-सफेद फूल से संयोग हुआ तो उसका फल "एक लाल : दो सफेद-लाल : एक सफेद" के समान है। स्थिति गणितज्ञ ने देखा कि यह नियम स्थिति गणितात्मक है—बाइनोमियल नियम (binomial law) है अर्थात् $(क+ख)^{न}$ है। इस प्रकार

परम्परा विज्ञान के क्षेत्र में भी स्थिति गणित का पूरा पूरा सहयोग है। अब परम्परा सम्बन्धी सब परीक्षणों का स्थिति गणित ही आधार बन गया है।

आप देखेंगे कि आज बरसात, धूप, हवा आदि भी स्थिति गणितात्मक नियमों का पालन कर रहे हैं। जिन जिन रहस्यों को प्रकृति माता मनुष्यों की आँखों से बचाना चाहती है, वे सब एक एक करके स्थिति गणित खोलकर रख देता है।

स्थिति गणित विज्ञानों की कसौटी-सी है। उसमें रगड़कर ही मालूम पड़ेगा कि कौन विज्ञान सच्चा है और कौन कपटी। स्थिति गणित मानों आग है जिसमें पड़कर ही और विज्ञान कुन्दन बन जाते हैं।

——

मन्त्र-सिद्धिः

श्री गणेश शास्त्री शेण्डये, व्याकरणकोविद

अयि श्रेष्ठाः नानाशास्त्रनदीष्णाः पण्डितवरेण्याः सुरभारतीपूजितचरणाः वाचकधुरीणाः आदावेव विज्ञापयामि यत् अद्य किल अमन्दं आनन्दं वहति मे चेतः, यतः श्रीमतां लक्ष्मीसरस्वतीविभूषितानां 'हिजहायनेस' इत्यादिपदविभूषितानां लक्ष्मणसिंह इति प्रथितनामधेयानां महाराजानां वर्तमाने रजतमहोत्सवप्रसंगे भविष्यति अभिनन्दनग्रन्थे स्वर्णरत्नायमानेषु विविधानि शास्त्राणि भूषयतां पण्डिताग्रणीनां आभूलोकयशःकीर्तिप्रसराणां विदुषां लेखेषु 'अनधिगतशास्त्रार्थः वराकोऽहं' स्थानं लब्धवान्। यथा पदार्थत्वेन मेरु-सर्षपयोरपि साम्यं भवति तथैव केवलं विविधेषु विद्वन्निबन्धेषु निबन्धत्वरूपं सादृश्यं अवलोक्य तेषु स्थानं ददतु सरलकोमलहृदयाः वाचकाः इति प्रणतेन मूर्ध्ना तेभ्यो निवेदयामि।

मन्त्रसिद्धिः इत्युक्ते सति को नाम मन्त्रः, का नाम तस्य सिद्धिः, इति पुरस्तात् कल्पना उदेति। मन्त्रो नाम 'मननात् त्रायते यस्मात् मन्त्र इत्यभिधीयते' इति तद्विदः ते च मन्त्राः बहुविधाः, यथा वैदिकाः तान्त्रिकाः उभयविधाः नाम वैदिकतान्त्रिकाः केचन पौराणाः केचन लौकिकाः परस्परमिश्रणेन जायमानाः बहुविधाश्च। सर्वेष्वपि मंत्रेषु इयं एका एवं सरणिः भवति सा तु एवं 'यं कंचन विशेषार्थं प्रतिपादयन्ती शब्दानुपूर्वीनाम'। कुत्रचित् कुत्रचित् मन्त्रप्रतिपाद्यदेवता श्रीगणेशविष्णवादिरूपा कुत्रचित् मंत्राधिष्ठात्रीशब्द-रूपा एव देवता सिद्धिस्तु 'मन्त्रप्रतिपाद्यार्थप्रतिपत्तिः' सा च देवतादिप्रसादनद्वारा एता दृशी मंत्रसिद्धिः प्रागेव आसीत् इदानीं न इति बहवः यतः पूर्वेषु बहुषु पुराणादिग्रन्थेषु मन्त्रसिद्धेः प्रसिद्धानि उदाहरणानि वर्तन्ते यथा रामायणे विश्वामित्रः 'बलातिबले' नाम मंत्ररूपे विद्ये रामं अशिक्षयत्, बहुविधानां अस्त्राणां निर्मितिः मंत्रैरेव प्रतिपादितावर्तते। रघुवंशे 'वसिष्ठमंत्रोक्षणजात्प्रभावात् उदन्वदाकाशमहीधरेषु रथगतेः' अवरोधो नाभून इति वर्णितम्। एभिः प्रमाणैः पूर्व मन्त्रसिद्धिः आसीत् इति तु निश्चितमेव अपरं च यदि इयं मंत्रसिद्धिः न भवेच्चेत् सर्वमपि वैदिकमन्त्रजालं व्यर्थतामेव गच्छेत् अतः मंत्रसिद्धिः पूर्ववदेव स्वीकार्या एव परन्तु पूर्वं मन्त्रसिद्धिरासीत् इति नयं स्वीकुर्मः, इदानीं नास्ति अस्य कि मुत्तरम् इति चेत् अपरः पक्षस्तु एतादृशः मन्त्रसिद्धिः पूर्ववदेव इदानीं मेपिवर्तते' कथं तन्निरूपयामः इदानीं व्यवहारे यान् शब्दान् वयं प्रयुञ्महि ते शब्दाः अर्थप्रतिपकराः भवन्ति वा न तर्हि भवन्त्येव यतः राम त्वं गच्छ इत्युक्ते सति तूष्णीं स्थितोऽपि रामः उत्थाय गच्छति अत्र शब्दार्थप्रतिपत्तिर्जाता वा न जाता तर्हि मन्त्र-सिद्धिः इदानीं नेतिब्रुवाणाः एवं प्रष्टव्याः भवन्ति शब्दशक्तिः किं एतादृशी वर्तते एकस्मिन् स्थले अनुभवमायाति अपरस्मिन् स्थले नेति यतः शब्दशक्तिः नित्या एव वर्तते भूतकाले आसीत् वर्तमानकाले वर्तते भविष्यति कालेऽपि तथैव भविष्यति। मंत्राः अपि शब्दतो न भिन्नाः अतः तेऽपि यथापूर्वं शक्तिमन्तः तथैव इदानीं भविष्यत्काले च। प्रयोक्ता राम त्वं गच्छेति प्रयुज्य किमकरोत् तर्हि रामस्य मनः 'राम त्वं गच्छेति' श्रुत्वा

गमनानुकूलं व्यापारं कर्तुं उद्यतं अकरोत्। कश्चन एवं पृच्छेत् एवं श्रुत्वाऽपि कदाचित् रामो न गच्छति, अत्र किं कारणं, तदग्रे विवृणुमः कश्चन एवं ब्रूयात् रामः गमनानुकूलं व्यापारं विधातुं समर्थः आसीत् अतः प्रस्थितः, तर्हि एवमपि न असमर्थेऽपि प्रयुक्ता मन्त्रशक्तिः तं नरं समर्थं करोति। यथा श्रीभगवान् ज्ञानेश्वरः 'त्वं वेदान् पठ' इत्युक्त्वा महिषं अपि वेदपठनसमर्थं अकरोत्। नहि सा शक्तिः महिषस्य किन्तु 'त्वं वेदान् पठ' इति प्रयुक्तमन्त्रस्यैव। अपरो दृष्टान्तः, महात्मा गांधीमहाभागाः 'जनाः कारां गन्तुं सज्जाः भवत' इति मन्त्रं पठित्वा बहून् जनान् स्वान् स्वान् उद्योगान् विहाय तथा प्राणेभ्योऽपि प्रियान् द्रव्यस्त्रीपुत्रादिविषयान् परित्यज्य कारागमनसंमुखान् कुर्वन्ति इति तु सर्वेषां नः प्रसिद्धम्। अत्रापि मंत्रसिद्धिरेव कारणम्, नान्यत् किमपि। एतावता एवं सिद्धं भवति यत् इदानीमेव लौकिकानां एतेषां शब्दानां नाम शब्दरूपमन्त्राणां सिद्धिः वर्तते एव तर्हि किं वक्तव्यं वर्तते मन्त्रसिद्धिः वैदिकादिमन्त्राणामिति।

अधिकारित्वप्रयोजनम्

इदानीं एवं शंका उदेति यथा लौकिकमंत्राणां उपरिनिर्दिष्टानां सिद्धिः प्रत्यक्षतया अनुभूयते तथा वैदिकादिमंत्राणां कुतो न ? अस्योत्तरं तु एवं मंत्रसिद्धेः प्रयोक्तुः अधिकारित्वम इति मुख्यं कारणम अनधिकारिणा पुरुषेण प्रयोजिताः मंत्राः सिद्धिं न दर्शयन्ति। यथा कंचन सुस्थं प्रकृतिस्थं पुरुषं कोपाविष्टं कर्तुं कश्चन अधिकृतिविशिष्टः पुरुषः मंत्रं प्रयुंक्ते 'अयि मूर्ख ! कुतः एवं तिष्ठसि' मंत्रश्रुतिमात्रे एव क्रोधाविष्टो भूत्वा पृच्छति, किमरे मूर्खशिरोमणे, कारणं विनैव त्वं मां मूर्खेतिपदेन व्याहरसि तर्जयसि च। अत्र किं जातं क्रोधाविष्करणरूपं यत्कार्यं तदनेन जातं परंतु प्रयोक्तुः अनधिकारित्वे अनेन मंत्रेण इयं कार्यसिद्धिर्न भवति। यथा कश्चन मुग्धः मार्गे स्थित्वा गन्तन् आगन्तंश्चापुरुषान् दृष्ट्वा त्वं मूर्खोसि इति ब्रूते, श्रोताऽपि तच्छ्रुत्वा किंचिदिव विहस्य अग्रे भवति परंतु यः अस्य मुग्धत्वं न जानाति सः पृच्छति कुतोऽयं मां एवं भाषते ? तदानीं समीपस्थः कथयति, अयं मुग्धः प्रतिदिनं सर्वान् अपि एवमेव भाषते। तच्छ्रुत्वा सोऽपि कोपं अजनयन् अग्रे भवति। अत्र किं कारणम् ? एकत्र येन मंत्रेण कोपाविष्कारो जायते अपरत्र प्रयोक्तुः भेदात् कोपाविष्कारो न जायते किंतु हास्यरसोत्पत्तिरेव भवति। अत्र मुग्धस्थले प्रयोक्तुः अयोग्यत्वात् सत्यामपि मंत्र शक्तौ सिद्धिर्नाभूत्। अतः पूर्वस्मिन् उदाहरणे 'राम त्वं गच्छ' इत्यत्रापि कदाचित् कार्य-सिद्धिर्न भवति रामगमनरूपा तत्र प्रयोक्तुः दोष एव कारणम्।

दीक्षादिविधयः

प्रयोक्तुः अधिकारित्वसंपादनायैव बहवो नियमाः तान् तान् मंत्रान् उद्दिश्य शास्त्रे विधीयन्ते दीक्षादिविधयः तदर्थमेव भवन्ति तत्तन्मंत्रदीक्षां विना विहिताः मंत्राः सिद्धि-भाजो न भवन्ति दीक्षायां केचन देहनियमाः, केचन मनोनियमाश्च भवन्ति। देहनियमाः द्विवि-धत्वेन उपकुर्वन्ति। यथा, प्रथमतः देहनियमाः मनोनियमान् स्मारयितुं समर्थाः भवन्ति। यदि कदाचित् मनः स्वान् नियमान् उल्लंघयितुं प्रवृत्तं स्यात् तर्हि देहस्थाः वेषभूषादिकाः नियमाः मनो नियच्छन्ति अपरं च यां देवतां अनुकूलयितुं मन्त्रो गृह्यते तां देवतां अनुकूलयितुं

वेषभूषादिकाः नियमाः अनुकूला भवन्ति कथमिति चेत् शैवदीक्षां स्वीकृत्य भस्मोद्धूलन-रुद्राक्षमालाधारण-जटाधारणादिनियमैः यथा वयं जानीमः अयं शैव इति तथा च शैवदीक्षा-धारिणः अमुं पुरुषं दृष्ट्वा अयं अस्मदीयः इति जानन्ति तथैव तास्ताः देवताः अपि स्वां स्वां दीक्षां स्वीकृत्य समागतं पुरुषं दृष्ट्वा अनुकूलाः भवन्ति तं पुरुषं आत्मीयं च मन्वते। व्यवहारेऽपि यथा राष्ट्रियसभापुरुषाः श्वेतोष्णीषादिधारिणं पुरुषं दृष्ट्वा तं आत्मीयं मन्वते, मत्वा च तदनुकूलां क्रियां कर्तुं प्रथममेव पुरो भवन्ति न तथा पाटलोष्णीषधारिणं पुरुषं दृष्ट्वा प्रवर्तन्ते। अतः तत्तद्दीक्षासु तासां तासां देवतानां प्रियाः ये वेषभूषादयः प्रवर्तन्ते त एव धार्यत्वेन प्रतिपादिताः भवन्ति अत्र एकः अर्धनारीनटेश्वरदीक्षाधारी पुरुषः अस्माभिः दृष्टः। अर्धनारीनटेश्वरवेषेणैव सदा सः अतिष्ठत्। अतः मंत्रसिद्धौ दीक्षायाः आवश्यकत्वमेव वर्तते।

दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयम्।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

मंत्रग्रहणप्रकारः

मंत्रसिद्ध्यर्थं के वा मंत्रा ग्राह्याः कथं वा ग्राह्याः, कदा वा ग्राह्याः, इत्यादयः बहवो विचाराः मंत्रविद्भिः प्रदर्शिताः वर्तन्ते। तत्र तावत् प्रथमतः कुलपरंपरायां ये सिद्धाः मंत्रा भवन्ति ते एव ग्राह्याः। तत्र द्विविधो हेतुः। पूर्वजैः तत्र बहु प्रयतितं भवति तन्मंत्रसिद्धये तद्देवतानुकूल्यार्थं च तेन च तत्कुलोत्पन्नानां सुलभतया एव सिद्धिर्भवति तत्तेषां मंत्राणाम्। कुत्रचित् स्थले प्रयतनं विनाऽपि केषांचिन्मंत्राणां तत्कुलोत्पन्नानां सहजा एव सिद्धिः संदृश्यते अधुनातनेऽपिकाले। पूर्वस्मिन् काले कुशलवयोः तादृशी मन्त्राधीना अस्त्रसिद्धिः वर्णिता वर्तते। विषहराणां मंत्राणां कुलजा सिद्धिः बहुषु स्थलेषु उपलब्धाभवति। व्यवहारेऽपि यथा पूर्वोपकृतदृष्ट-श्रुतजनाः सत्वरं प्रसीदन्ति न तथा अपूर्वत्वेन दृष्टाः संबंधाभावात्। अत एव सर्वत्र जनाः कथयन्ति अस्माकं कुलदेवता श्रीगणपतिः-दुर्गा-विष्णुः इति तेषां तेषां उपासनया एव कार्य-सिद्धिः सत्वरं संजायते इति सर्वेषां अनुभवगोचरम्। अपरं च क्वचित्स्थले मंत्राद्युपासना-विपरिवर्तनेन हानिरपि भवति, इति तद्विदां अनुभूतिः। एकस्मिन् स्थले मया प्रत्यक्षीकृतं उदाहरणम्। कश्चन गणेशमंत्रोपासकः सिद्धिकोटिप्रविष्टः पुरुषः आसीत्, स एकदा केनचित् पुरुषेण एवं आदिष्टः यत् विष्णूपास्तिं विना मोक्षप्राप्तिर्न भवति, इति दुर्दैववशात् तदनुकूलो-भूत्वा तामेव द्वितीयां उपासनां सः अग्रहीत्। अनंतरं मासद्वयेनैव विगतधीः भूत्वा आजीवं अहमेतत् किमकरवं इति ब्रुवाणः मुग्धवत् व्यचरत् अम्रियत च। अतःउपासनान्तरं कदापि न करणीयम् तथा च नूतनान् मत्रान् विरच्य स्वीकारो न करणीयः। सिद्धा मंत्राः प्रयोक्तव्याः, यतः तत्तत् ऋषिमुखात् निर्गताः मंत्राः तां तां देवतां अनुकूल यितुं समर्था भवन्ति यथा दूर-स्थितस्य पुत्रस्य मुखात् निर्गतान् शब्दान् एव यः मातरं श्रावयति तदुपरि तच्छ्रवणेन माता यथा तुष्यति तथा स्वान् शब्दान् यदि संदेष्टा कथयेत् तर्हि तथा न तुष्यति पुनः पुनः पृच्छति च किं मत्पुत्रमुखादेव निर्गताः इमे शब्दाः वर्तन्ते। ओम् इत्युक्ते संतुष्टा भवति नेत्युक्ते न तादृक्। अथवा एतादृशंवसिष्ठवचनं वर्तते इति यदा वक्ता कथयति तदा यादृशः परिणामो भवति श्रोतॄणां मनसि न तथा अहमेवं कथयामि इति वचनेन। यतः तेषां मुखा-न्निर्गमनेन ते मंत्राः शक्तिमन्तो भवन्ति। तथा च मन्त्रसिद्ध्यर्थं तेषां ऋणधनादिविचाराः

अपि अवश्यमेव विधेयाः तत्तच्छास्त्रतः। अपरं च मन्त्राः कथं ग्राह्या इति विचारणायां गुरुमुखतः एव मन्त्रग्रहणं विधेयम्। स गुरुरपि कुलपरंपरागतः स्याच्चेत् अधिकं वरम्, तदभावे यस्याः देवतायाः मन्त्रो ग्राह्यः तस्याः देवतायाः यः उपासको गुरुर्भवति स एव ज्यायान्। अतः स एव अन्वेष्टव्यः, केवलं ग्रंथान् अवलोक्य संगृहीताः मन्त्राः सिद्धिं न यान्ति। अत एव तादृग् मंत्रग्रहणं निषेध्यन्ति आचार्याः। केनाप्युपायेन यदि वयं साधुतमं मंत्रोपदेष्टारं गुरुं न लभेमहि तर्हि तं मन्त्रं भूर्जपत्रादिसाधनेषु विलिख्य यां देवतां उद्दिश्य मन्त्रः स्यात् तां देवतां विधिवत्सम्पूज्य तस्याः पुरतः तं मन्त्रं स्थापयित्वा प्रणतिपूर्वं मन्त्रो ग्राह्यः, परंतु अयं चरमः पक्षः। मन्त्रग्रहणसमयस्तु ज्योतिःशास्त्रतः अवगन्तव्यः, यतः अयोग्यकाले कृतं कर्म कर्तुर्नार्थायकल्पते। अतः यथा वयं मौंजीबंधनसमये ग्रहनक्षत्राद्यानुकूल्यं विमृशामः तथैव सर्वत्रापि मंत्रग्रहणे तस्य अपेक्षा वर्तते एव, उपनयने गायत्रीमंत्रोपदेशः। अत्र अपरः कश्चन परंतु मंत्रग्रहणत्वं तु उभयत्र तुल्यम्। केषां केषां मंत्राणां विशेषाः कालाः तत्र तत्र उपदेक्ष्यन्ते। तथा च मन्त्रसिद्धयर्थं देशविशेषाणां भूयसी अपेक्षा। यदि शुद्धो देशः स्यात् तर्ह्येव झटिति मंत्रसिद्धिः संजायते। यतः तत्तन्मन्त्रोपदेशे ते ते देशाः अनुकूलाः प्रतिकूला भवन्ति। मारणो-च्चाटनादिकानां मंत्राणां स्मशानादिदेशाः इति तु सर्वेषां प्रसिद्धम्। देशविशेषेण विशिष्टा मतिः संजायते। महाराष्ट्रम्, राजस्थानम् इत्यादि देशविशेषस्मरणेन वीरवृत्तिरेव जागर्ति। यथा पुण्यपत्तनस्थः पुरुषः श्रीपेशवेमहोदयानां शनिवारप्रासादं आसाद्य यां मनोवृत्तिं आप्नोति न तां वृत्तिं आप्तुं प्रभवति नाटकगृहम्। अतः तत्तद्देवतानां मंत्रसिद्धयर्थं तानि तानि देवताधिष्ठानविशिष्टानि क्षेत्राणि निरूपयन्ति तद्विदः तेन च देशवैशिष्ट्येन ते ते मंत्राः द्रुततरं सिद्धिं यान्ति। एकस्मिन् श्रीगणेशक्षेत्रे कश्चन पुमान् श्रीसप्तशतीपाठेन स कार्य सिद्धयर्थं प्रायतत, दिनचतुष्टयादूर्ध्वं सा देवता तं एवं आदिष्टवती त्वं अत्र माभव तथापि सः नाङ्गीचकार। तेन च तस्य पाठसमये एतादृशी मतिरभूत् यत् वाचितं तदेव पुनः वाचनी-यम्। तेन च सः एकहोरापर्यन्तं वाचयित्वाऽपि पाठसमाप्तिं नाधिगतवान्। ततः तत्सर्वं समाप्य तस्मात् क्षेत्रात सः अन्यत्र अगात्। अतः तत्तद्देवताधिष्ठितः देशः एव तत्तन्मंत्र-सिद्धयर्थं ग्राह्यः एतदेव उचितम्।

देवतास्वरूपं स्वभावश्च

यादृशी मंत्रसिद्धिः अपेक्षते तादृशं देवतास्वरूपं स्वभावश्च कल्पनीयः। यथा वीर-पुत्रापेक्षा वर्तते चेत् वीरपुत्रदात्री एव देवता वर्तते इति कल्पना कार्या। मंत्रोऽपि तदर्थप्रतिपादकः उपयोजनीयः। द्रव्यार्थप्राप्तये द्रव्यदानस्वभावदेवता कल्पनीया, शत्रुनाशापेक्षा चेत् शत्रुनाशनी शस्त्रधारिणी उग्ररूपा एव देवता कल्पनीया, तादृशो एव मंत्रयोजनाऽपि विधेया। तेन तत्कार्यस्य लाभः साधु संपद्यते। यथा व्यवहारे द्रव्ययाचनार्थं गतः पुरुषः यस्मै याचते तं ब्रूते, त्वं दातासि। त्वदीया दानशौण्डता मया सर्वत्र श्रुता, अतस्त्वां संप्राप्तोऽस्मि। अनेन मंत्रश्रवणेन कपर्दिकामपि अददत् पुरुषः भूयांसं द्रव्यनिधिं ददाति। इति वयं निधिसंचयन-समये अनुभवामः। तं यदि एवं ब्रूयात् त्वं कदर्योऽसि, कस्मैचिदपि कपर्दिकां अपि न ददासि, मह्यं विपुलं देहि तर्हि सः किमपि न दद्यात्। बलिं याचितुं गतः भगवान् वामनः बलेः दातृत्व-

गुणमेव अवर्णयत् तेन च जगत्त्रयं आप्तवान्। तत्तत्सुभावस्वरूपेण स्तुताः सर्वाः अपि देवताः तत्तन्मंत्रसिद्धिद्वारा सर्वान् अपि मनोरथान् पूरयितुं समर्थाः भवन्ति।

जपप्रयोजनम्

इदानीं जपप्रयोजनं निरूपयामः तत्रतत्र वर्णयन्ति अस्य मंत्रस्य यावन्ति अक्षराणि वर्तन्ते तावतीं लक्षसंख्यां स्वीकृत्य जपो विधेयः। यथा गायत्रीमंत्रस्य चतुर्विंशतिलक्षजपसंख्या अत्र किं प्रयोजनम्? पुनः पुनः मंत्रोच्चारणेन स मंत्रार्थः सिद्धो भवति नाम तं मंत्रार्थं दापयितुं देवतां प्रवर्तयति। यथा द्वारिसमागतो भिक्षुः गृहस्वामिनं प्रार्थयते 'यदहो अहं दरिद्रोऽस्मि, मह्यं किंचिदिव द्रविणं देहि' एतच्छ्रुत्वा गृहस्वामी किमपि न ब्रूते, तत्र न पश्यत्यपि स भिक्षुः स्वकीयं मंत्रजपरूपं कार्यं विधत्ते एव, बहुवारं मंत्रं श्रुत्वा अयं अहं किमपि न ददामि इति तस्मै कथयति, तच्छ्रुत्वाऽपि अश्रुतमिव संभाव्य भिक्षुः मंत्रजपरूपं स्वं कार्यं न जहाति, अयमपि धनी बहुवारं तं प्रत्यादिशति, प्रत्यादेशं मनसि अकृत्वैव पुनः पुनः स्वं मंत्रं पठति। अनेन जपेन धनिनः मनः सः विपरिणामयति, अनन्तरं च तस्मै द्रव्यं ददात्यपि। तथैव देवतायाः मनोऽनुकूलनार्थं जप एव आवश्यको भवति। मंत्रजपस्य अपरं मनोरंजकं उदाहरणम्। केचन भ्रातरः जन्मप्रभृति एकरूपत्वेन वर्तमानाः केवलं शरीरतो भिन्नाः परस्परसाहाय्यकरणे प्राणान् अपि अविगणयनंस्तिष्ठन्ति बहुकालम। तेषां विघटनं अशक्यं मन्यते सर्वेऽपि जनाः परंतु तासां युक्तयः तान् विभाजयितुं प्रयतमानास्तिष्ठन्ति। स्वं स्वं पतिं अनुकूलयितुं ताः मन्त्रं जपन्ति 'अस्मिन् कुटुम्बे एकीभूय न स्थेयं यतः अत्र बहुदुःखं वर्तते ते सोदर्याः तथा ते प्रजावत्यः साधीयस्यो न भवन्ति अतः विभजनमेव वरम्।' अमुं मन्त्रं श्रुत्वा प्रथमतः पतिः कोपाविष्टो भूत्वा तामेव तर्जयति तत् सोढ्वा सा पुनः समयं अवलोकं अवलोकं तमेव मंत्रं प्रतिदिनं पतिकर्णगोचरं यथा स्यात् तथा जपति। कस्मिंश्चित् काले गतवति सति अयमेव एवं मनसि आनयति यत् मे पत्नी यत् कथयति तत्र कोऽपि सारो भवति किम्, अस्याः जपस्तु प्रचलत्येव। केनचित् कालेन मंत्रार्थं सत्यत्वेन जानाति ततः अनुकूलं भाषते ततः विभजनं करणीयं इति मह्यं रोचते इति ब्रूते। अनंतरं भ्रातृन् विभजते, ततस्तेषां मुखमपि नावलोकयति। अहो मंत्रजपस्य प्रभावः। एवमेव जपेनैव देवताः अनुकूलाः भवन्ति सिद्ध्यंति च मंत्राः। मंत्रसिद्ध्यर्थं प्रयतमानेन पुरुषेण समागतेऽष्वपि विघ्नेषु तेभ्यो न भेतव्यम। यो बिभेति सः वञ्चितो भवति, यः भियं परित्यज्य प्रयतते सः सिद्धिं आप्नोति महतीम्। कश्चन पुरुषः कस्मैचित् पुरुषाय एकं मंत्रं उपदिश्य तस्य सिद्ध्ये तद्देवताक्षेत्रं प्राहिणोत्। सः तत्र गत्वा अन्वतिष्ठत्, षण्मासानंतरं एकदा सः एवं देवतादेशं अगृह्णात्, त्वं अस्मात् स्थानात् निर्गच्छ। ततः सः निर्गत्य गुरुसमीपं प्रापत् अकथयच्च सर्वं वृत्तांतम्। गुरुः तस्मै आदिशत्, त्वं पुनः तत्रैव गच्छ, देवतां प्रार्थय; यावत्सिद्धि अत्रैव स्थेयं इति मे दृढीयान् निश्चयः सः तथा अकरोत्। मासाभ्यन्तरे तस्मै देवता एवं आदिष्टवती, यदि त्वं अत्र स्थास्यसि तर्हि ते नाशः अवश्यंभावी। तेन भीतः सः तस्मात् क्षेत्रात् गुरुसमीपं एत्य गुरवे सर्वं निवेदयामास। गुरुस्तं पुनरेवं अवादीत्, त्वं पुनस्तत्र गच्छ, देवतायै एवं सन्दिश, मे गुरवः एवं ब्रुवते, त्वत्क्षेत्रे यदि अहं मृत्युसात् भवेयं तर्हि मोक्षं आप्नुयाम। अतः मन्मृत्युना तर्हि अत्र भाव्यं आहोस्वित्

मंत्रसिद्धया तर्हि भाव्यम। तदाकर्ण्य सः शिष्यः सर्वमपि तादृग् आचचार सिद्धिं च आप्तवान्। न हीयं पौराणिकी कथा किंतु प्रत्यक्षसिद्धा। साऽपि पंचदशवर्षेभ्यः प्राक्। अतोऽहं ब्रवीमि मंत्रसिद्धयर्थं प्रयतमानेन पुरुषेण कदापि न भेतव्यं, बहून्येतादृशि उदाहरणानि भवन्ति विस्तरभयान्न उदाहरामि।

मंत्रसिद्धेः कानिचित् इदानींतनानि उदाहरणानि

१

एकः विद्यार्थी आसीत्। सः आषोडशवर्षं अधीत्य एकं श्लोकमपि नाधिगतवान् काव्यस्य। तस्य पिता तेन नितान्तं निर्विण्णो भूत्वा तं गृहीत्वा केषांचन महामहिमशालिनां तपस्विश्रेष्ठानां सर्व-विषयनिःस्पृहाणां मूर्तिमिमतामिव श्रीपाणिनीनां शास्त्रिरेण्यानां सकाशे अगात् अकथयच्च सर्वं पुत्र-वृत्तांतम्। ते तं परमकारुणिकया दृष्ट्या अवलोक्य अब्रुवन्, अहो स्थापयत अमुं बालम। अयं शास्त्रिश्रेष्ठः स्यात् अस्मिन् विषये भवन्तः निश्चिंताः भवन्तु। अस्य अशनवसनपानादिकं मदाधीनमेव वर्तते। ततः गच्छता कालेन ते तस्मै धारणासरस्वतीमन्त्रं उपादिशन्। तेन सः इदानीं विद्वद्वरो वर्तते।

२

केचन यतिश्रेष्ठाः कंचन तरुणे वयसि वर्तमानं चिंताकुलितचेतसं समाप्रविष्टं पुरुषं अद्राक्षुः। तं दृष्ट्वा किंचिदिव मनसि विचार्य कृपार्द्रचेतसो भूत्वा अन्वयुञ्जन् अयि तरुण, उत्साहप्रधाने वयसि वर्तमानः त्वं दुर्मना इव लक्ष्यसे! अत्र केन कारणेन भाव्यम्, श्रवणसमनन्तरमेव तान् यतिवरान् नमस्कृत्य सोऽवादीत्, अयि श्रेष्ठाः अस्मिन् वयसि यत् कल्याणं तदाप्तुं न शक्नोमि दरिद्रत्वात्। तच्छ्रुत्वा तैः स उच्यते, अये त्वां कल्याणं पन्थानं अहं उपदिशामि, परंतु आजीवं तं पन्थानं अनुसर्तुं उत्सहसे किं त्वम्? तदा सः ओम् इति स्वयकरोत्। तदा तस्मै ते एकां मंत्रसहकृतां उपासनां उपादिशन्। ततः तां सः आरब्धवान्। ततः तत्परिणयः संवृत्तः परंतु विधेः प्रतिकूलत्वात् सा भार्या परलोकं गतवती। वर्षद्वयाभ्यन्तरे एवं ततः द्वितीयां भार्यां स्वयकरोत्। वर्षद्वयाभ्यन्तरे साऽपि मृता। ततः तृतीयां पर्यणयत्। तया साकं इदानीं सुखं जीवति पुत्रादिसंपन्नश्च वर्तते। अहो मंत्रसामर्थ्यम्।

३

अपरञ्च एकः पुत्रप्राप्त्यर्थं एकं मंत्रं यंत्रं च अगृह्णात्। ततः पञ्चाशत्तमे वर्षे सः पुत्रं लब्धवान्। पुत्रः इदानीं सुखं जीवति, सः मृतः। एतादृशि बहूनि उदाहरणानि वर्तन्ते, विस्तरभयान्न लिख्यन्ते।

मन्त्रासिद्धौ प्रबलं कारणम्

सर्वेष्वपि मन्त्रसिद्धिसाधनेषु सत्स्वपि यदि दैवं प्रतिकूलं स्यात् चेत् मंत्रसिद्धिर्न जायते। पूर्वजन्मकृतकर्मक्षपणार्थं इदानींतनस्य कर्मणः व्ययो भवति, तेन च सिद्धिर्दूरे भवति। कदाचित् कदाचित् एकस्मिन् जन्मनि तत्कार्यं सिद्धिं न यात्यपि परन्तु कृतं कर्म न निष्फलमिति न्यायेन अन्यस्मिन् जन्मनि द्रागेव सिद्धिं लभते पुमान्। अतः मंत्रसिद्धयर्थं प्रयतमानेन आजीवं सिद्धयर्थं यतितव्यम्।

मंत्रसिद्धिविषयग्रहणप्रयोजनम्

बहुषु विद्यमानेषु निबंधविषयेषु तान् अपसार्य अयं विषयः एतदर्थमेव स्वीकृतः यतः एकस्मिन्काले सर्वस्मिन् भारते वर्षे एतत् साधनं नितान्तफलदायि आसीत् परंतु अस्माकं दुर्दैववशात् तत्साधनं इदानीं नष्टप्रायमेवाभवत्। पूर्वं आसीत् एतदपि मिथ्या इति ब्रुवते परन्तु स्थाने स्थाने अद्यापि इयं विद्या जागर्ति। यदि वयं प्रयतेमहि तर्हि फलभाजो भवेम केवलं एतत् सर्वंमिथ्या इति वचनं तु अलसानां अकर्तॄणामेव शोभते। अतः अलसं परित्यज्य मंत्रसिद्ध्यर्थंअवश्यमेव प्रयतितव्यं इति सर्वान् वाचकान् पुनः पुनः सम्प्रार्थ्य विरमामि। अंततः एकं प्रार्थ्यते अत्र ये दोषाः भवेयुः तान् क्षमन्ताम् इति भूयोभूयः सम्प्रार्थये यतः गच्छतः स्खलनं क्वापि इति तु सुप्रसिद्धमेव वर्तत अतो दोषान् परित्यज्य गुणान् गृह्णीत इति शम्।

INDIA'S MINERAL RESOURCES FOR WAR AND THE FUTURE

By SIR CYRIL S. FOX

We agree that the strength of a country and its industrial prosperity are not dependent on mineral or other material resources entirely or even largely. Germany with poor and small reserves of bauxite and quite inadequate resources of water power was able, by the industriousness and skill of her people, to generate cheap electric power from coal and, with imported ore, to become the greatest producer of aluminium in the world by 1938. And with no domestic cobalt ore, but with the imports of nickel speiss from Burma, her metallurgists at Hamburg annually extracted more cobalt than was being obtained from the cobalt ores of Cobalt, Ontario.

Similarly it is no news to us that Japan with negligible iron ores as compared with those in India was able by imports of iron ore and pig iron, even from India, to build up a steel industry which produced in 1938 at least six times more steel than India. And with no domestic resources of bauxite at all Japan had an aluminium production of 20,000 tons a year in 1938, while India with probably the most attractive bauxite occurrences in world is not yet in a position to produce 1,000 tons of virgin aluminium from alumina prepared from Indian bauxite. Even Belgium with no iron ores to speak of produced twice as much pig iron and steel in 1938 as India.

It is true that Germany and Japan were bent on war because long before 1938 they had decided that their peoples were superior to others, and so they had a common purpose in each case for Europe and Asia, respectively. It is not difficult to understand the influence of an immence national pride, but it is diff'cult to see how this has been produced so as to unite 16 constituent groups or republics into one Union of Soviet Socialist Republics, and to make one nation of peoples who 29 years ago were as diverse in customs and creeds as may now be seen in the Provinces and States of India. Russia's industrialisation and the Soviet resistance to the shocks of battle are miracles which have the homage of all who appreciate devotion to duty.

However, it is not my purpose to discuss today these inner aspects of industrialisation, but to try to give some quantitative

details of India's mineral resources for the war and in the future. It has long been claimed that to export raw materials such as minerals, ores and related substances means loss of capital, and it is an old answer to this that to leave wealth buried in the ground earns nothing not even interest. Minerals which have been extracted from the rocks are not naturally replaceable as in the case agricultural and forest produce, so that deposits once worked are so to stay exhausted even when the substance is used for domestic purposes. The question, therefore, generally is what is the most profitable use of its mineral wealth to a country.

EXPORT POSITION

There are a few substances, such as sheet muscovite mica, manganese ore, ilmenite or titanium ore, chromite and also magnesite, which are mined in India almost entirely for export.

This will be seen from the statistics given below :—

Muscovite Mica.	Production.	Exports.
in 1937	104,658 cwts.	135,535 cwts.
1938	123,169 „	89,023 „
1939	139,758 „	107,991 „
1940	150,349 „	109,902 „

These exports refer to sheet mica (block and splittings) only and do not include considerable quantities of so-called scrap mica (over 90,000 cwts. in 1938 and above 45,000 cwts. in 1940) which are shipped annually.

As is now well-known India is the greatest producer of sheet mica in the world, and yet, according to the available statistics, the Indian production of mica is less than the quantity of mica exported from this country. So important has been the demand for Indian mica for war purposes, chiefly in electrical apparatus and machinery, that His Majesty's Government and the Government of the United States maintain a Joint Mica Mission in India for the purchase of supplies, while the Government of India have arranged that all exports of Indian mica must go through the Joint Mica Mission. The domestic consumption of Indian mica is small but of growing importance.

In the case of Manganese ore India stands second to Russia in her supplies to foreign countries, which were :—

Manganese ore.	Production.	Exports.
1937	1,051,594 tons.	1,151,834 tons.
1938	992,795 ,,	648,740 ,,
1939	844,663	781,132 ,,
1940	868,918 ,,	737,735 ,,

thus showing that by far the greater part of the production was exported. However, the Indian output of ferro-manganese for use in the steel industry was over 18,000 tons in 1938. The world production of manganese ore was about 5,500,000 tons in 1938 of which Russia accounted for half. South Africa and the Gold Coast together produced as much as India in 1938.

India and Norway, in the production of 3 to 1, have practically supplied the world's requirements for titanium minerals chiefly in the form of Ilmenite. The Indian contribution, almost entirely from the so-called Monazite sand beaches in Travancore, have been :—

Ilmenite.	Production.	Exports.
1937	181,047 tons.	204,653 tons.
1938	252,220 ,,	225,682 ,,
1939	237,835 ,,	236,476 ,,
1940	263,152 ,,	200,490 ,,

Small quantities of the natural titanium oxide, Rutile, are also obtainable from the Travancore deposits, also for export.

The world's production of Chromite, or chromium ore, was roughly a million tons a year in the period 1936 to 1938, with Russia, Southern Rhodesia, South Africa and Turkey each contributing 175,000 to 200,000 tons or roughly three quarters of the whole. Cuba, Greece, Yugo-slavia, India, Japan, New Caledonia and the Philippines practically completed the total with from 35,000 to 50,000 tons each. The Indian contribution to this is shown in the figures below :—

Chromite.	Production.	Exports.
1937	62,307 tons	50,367 tons.
1938	44,149 ,,	24,452 ,,
1939	49,136 ,,	37,826 ,,
1940	55,511 ,,	42,704 ,,

So that even in this case a very considerable portion of the Indian production of Chromite (chrome or chromium ore) is exported.

Similarly the world's production of Magnesite was also in the neighbourhood of a million tons a year in the period 1936-38. The chief producers appear to have been the U.S.S.R. (400,000 tons), Austria (300,000 tons), Greece (100,000 tons) and the U.S.A. (100,000 tons), but Czecho-slovakia and Yugo-slavia were also considerable contributors and India occupied a quite unimportant position.

The Indian Magnesite.	Production.	Exports.
1937	26,166 tons.	8,164 tons.
1938	25,611 ,,	6,382 ,,
1939	33,568 ,,	9,923 ,,
1940	43,297 ,,	18,223 ,,

So that even in the case of Magnesite the Indian Mineral industry contrives to maintain itself by selling to foreign countries due to lack of domestic demands.

During the period 1937—40 the total value of the exports from India are estimated at Rs. 190 crores (exclusive of gold or treasure valued at Rs. 20 crores) annually. Of the above figure the estimated value of minerals, ores, metals, and related substances exported from India is computed at roughly Rs. 7·5 crores or barely 1·25th of the total exports. And of these Rs. 7.5 crores, the actual raw material—ores and minerals and coal but excluding scrap metal and semi-fabricated metal products—represented somewhat more than half, say Rs. 4 crores on an average immediately before Japan's entry into the war. This is a small fraction of India's export rate. In this connection it may be also stated that the total value of the mineral production of India, excluding gold, pig iron and steel, has averaged about Rs. 20 crores a year in 1937 to 1940, so that the export trade represents nearly 25 per cent. of this.

Import Position

It is of interest also to consider the Indian imports of raw and manufactured materials which are made from minerals, ores, and related substances, but excluding actual machinery and tools and hardware. During the immediate pre-war period 1938 to 41 the total value of the goods imported into India was computed at about Rs. 160 crores (exclusive of gold or treasure) annually. Of this about Rs. 56 crores were imports of minerals, ores, metals, machinery, mineral oils, hardware, instruments, etc. Excluding the manufactured

articles the value of semi-fabricated and raw materials made from minerals, ores, etc. (and including nearly Rs. 16 crores worth of mineral oils, fuel and motor spirit), was approximately Rs. 34 crores annually. As it is unlikely that India can produce the fuel oils, etc. from her petrolium resources the arguable value of the imports made from minerals, ores, etc., may be taken as Rs. 18 crores or nearly equa to the value of the minerals obtained from Indian mines and quarries annually.

It is of interest to examine these various imports in detail. *Asbestos* raw and manufactured was imported to the value of over Rs. 20 lakhs annually, because the Indian production of this mineral is definitely short. *Asphalt* to the value of Rs. 30 lakhs annually has been imported because of deficiency of supply from domestic resources—petroleum distillation. *Building materials* largely cement and tiles to the value of over Rs. 30 lakhs were being imported, but it was already evident in 1939 that this trade was being reduced by the domestic industries. *Chemicals*, such as Sodium Carbonate (Rs. 70 lakhs) and Caustic Soda (Rs. 50 lakhs), have long been expensive imports valued at upwards of Rs. 3 crores a year. *China Clay* to the value of Rs. 12 lakhs a year were also a regular import, and so also have been coal tar *Dyes* which cost India between Rs. 2·5 to 2·75 crores annually and probably much more now.

Earthenware and *Porcelain* goods to the value of Rs. 38 lakhs annually have included sanitary ware and porcelain exclusive of electrical insulators. Glass and *Glassware* imports were valued at about Rs. 120 lakhs and included bangles (Rs. 25 lakhs), beads (Rs. 10 lakhs), bottles (Rs. 25 lakhs), sheet and plate (Rs. 20 lakhs), etc. The items under Glassware do not include the imports of glass electric bulbs for automobile lamps, lights and torches which in 1938 cost Rs. 20 lakhs yearly. However, all these items have been in very short supply since the war and their manufacture in India has been almost compulsory so that in this industry the needs of the war have assisted domestic production. It is a question as to how soundly these domestic developments have been made as they may not otherwise be able to stand against cheaper imports from Japan and Czechoslovakia and Germany.

The imports of *Hardware*, not cutlery, totalled Rs. 2·5 crores, those of metal lamps alone being over Rs. 30 lakhs annually before 1939. Various classes of *Instruments* including electric cables, wire, batteries and bulbs cost upwards of Rs. 3 crores in yearly imports before the outbreak of war. The computed value of imports of Mill-work and *Machinery* was no less than Rs. 19 crores, while *Electric Generators* cost Rs. 3 crores and *Boilers* Rs. 1·25 crores, *Mining* and *Pumping Machinery* were imported at a cost of Rs. 60 lakhs (shared almost equally) yearly. The total Indian imports of *Metals* was somewhat over Rs. 10 crores annually—Aluminium (Rs. 45 lakhs), Brass and Bronze (Rs. 100 lakhs), Copper (Rs. 70 lakhs), Iron and steel (total Rs. 5 5 crores), Lead (Rs. 20 lakhs); Tin (Rs. 70 lakhs) Zinc (Rs. 50 lakhs), etc. It would seem there was scope for a larger domestic iron and steel industry and the manufacture of mill-work and machinery.

India has perhaps been most dependent on imports of *Mineral oils* as these totalled over Rs. 16 crores in 1939—Kerosine (Rs. 6 crores), Fuel Oils (Rs. 2 crores), Lubricating and Batching Oils (Rs. 2·4 crores), Motor spirit (Rs. 4 crores). To these would be added Mineral Grease, Paraffin Wax and Petroleum coke and Asphalt—say another Rs. 50 lakhs. It is quite certain that for many years to come an expenditure of from Rs. 16 to 20 crores will have to be met for imports of various types of so-called mineral oils—Kerosine, Motor spirit, Fuel oil and Lubricating oils. In the United Kingdom a special subsidy was given to producers of benzol and tar, etc., from coal, either by distillation or other treatment (hydrogenation) of coal. There is great scope for similar encouragement in India, first by the removal of any excise tax on benzol manufacture and then by the grant of assistance to satisfactory firms who may be ready to make an attempt at getting oil from coal.

Paints, chiefly mineral pigments, represented Rs. 67 lakhs a year in the Indian imports before the war and these include red and white lead and zinc white paints which can be made from pig lead and spelter. There is no mention of Titanium White so that the ilmenite exported from Travancore has not yet begun to come back as a high grade mineral pigment. India imported small quantities

of Pitch and *Tar*, about Rs. 2 lakhs only annually in 1938. The imports of *Precious Stones*, chiefly from Belgium and therefore presumably diamonds, were nearly Rs. 129 lakhs before the war, but it is unlikely that this trade has continued. Indeed with the dispersal of the diamond cutting industry from Amsterdam efforts have been made in other countries including South Africa to re-establish these skilled craftsmen in new centres and so anticipate a new industry in these countries. India, before the discovery of diamonds in Brazil in 1727 held the monopoly of the diamond trade and might re-examine her diamond occurrences with good hopes.

And lastly there are Rs. 42 lakhs of imported *Salt* roughly 3,00,000, tons annually from Aden chiefly. At one time some years back these imports of salt included material from French Somaliland and from Egypt. There are many areas in India such as Bharatpur State where even 40,000 tons of salt to be made from local salt wells would be of very considerable assistance to the State. However, there is evidence that there is a great deal of opportunity for the development of domestic industries using local minerals and ores to meet existing demands which are or have been, supplied from foreign countries. Among the more important of these attention could be given to the manufacture of Chemicals, Coal Tar Dyes, Glassware, items under Hardware, Instruments, Machinery, Electrical Generators, Iron and Steel, Minerals Oils—particularly the products from the distillation of coal, and also Diamonds.

RESERVES POSITION,

In discussing so important a problem as mineral reserves it is necessary to ascertain both quantities and quality. For example the *Coal reserves* of all classes of coal in workable seams (4 feet thick within a depth of 2000 feet from the surface) in India probably exceed 20,000,000,000 tons, while the coal of so-called better grade or good quality is computed at about 5,000,000,000 tons, and the coal of good quality capable of yielding coke suitable for iron ore smelting is estimated at roughly 1,500,000,000 tons, only. Assuming a yield of 70 per cent coke from the good coking coal and one ton of coke to give one ton of pig iron from 1·66 tons of iron ore in an Indian blast furnace, then it may be stated that 1·43 tons of coking coal will be required

to smelt 1·66 tons of iron ore. Thus the 1,500,000,000 tons of good coking Coal will be able to smelt nearly 1,800,000,000 tons of iron ore if it was only used for this purpose.

Conservative estimates of the *iron ore* in the Singhbhum, Keonjhar, Bonai, Mayurbhanj region alone of a grade with not less than 60 per cent iron (as metal) show 3,000,000,000 tons. In this region it is calculated that no less than 20,000,000,000 tons of usable iron ore may be depended upon. Thus without considering Madras, the Central Provinces or Bastar State there is more good quality iron ore available than could be smelted by the estimated reserves of good quality coking coal, presuming these valuable reserves were entirely utilised for iron ore smelting in the manner practised today. Thus the problem of iron ore does not exist. One ton of iron ore requires about 6 cwts. of lime stone as flux in smelting so that to smelt 3,000 million tons of 60 per cent. iron ore means somewhat under 1,000,000,000 tons of good quality lime-stone as near the present source of supply as possible. No actual estimates are available to me but the reserves of *lime-stone* although over due for investigation are known to be large.

Attention has already been drawn to the important position India holds as a producer of *manganese ore* although she has used very little herself so far. At a rough guess the total Indian output of manganese ore this century has probably not greatly exceeded 33,000,000 tons (with a world production including India of about 100,000,000 tons). Although the Indian reserves of manganese ore have not been fully investigated there appears to be no apprehension of any early exhaustion, so that if India became a great producer of ferromanganese and reduced her exports of ore there would be no reason to fear any shortage in our resources. The same conclusion may be expressed in regard to Indian *Muscovite Mica* although in this case it can be said that the production of mica is now more and more dependent on deeper working, and that the cost of mining is higher. On the other hand markets are found for smaller sizes and more stained qualities now, and if the material can be manufactured in India in the form required in the electrical trades better prices will be obtained with which to meet the additional costs of production and preparation.

In the case of aluminium ore or *bauxite* the Indian reserves have been conservatively estimated after a special investigation more than 20 years ago, and while it is known that this country is well-endowed with this material it has taken all these years for two companies to erect works for the production of metallic aluminium from alumina made from Indian bauxite. In neither of these cases can it be claimed that a satisfactory stage for the complete operations on a commercial scale has yet been attained. *Magnesite* which may become the ore for metallic magnesium, has been produced in India at a steadily increasing rate since the beginning of this century, up to over 40,000 tons in 1940. The total quantity produced in the past 40 years is less than 750,000 tons so that if the reserves in the Chalk Hills, Salem district, are even 10,000,000 tons (to a depth of 200 feet) there need be no hesitation in considering the total Indian reserves as satisfactory.

In the 40 years up to 1940 the total quantity of *Chromite* produced in India probably does oot exceed 1,000,000 tons and it is certain that 4-5ths of this amount has been exported. For several years before the war the annual production averaged about 50,000 tons and although no careful estimate of reserves have been made there is no reason to doubt that India possesses good resources for any industrial development in this country in the 'near future. As in the case of limestone and magnesite the subject of *Refractory Materials* is not as thoroughly explored as to provide data for the estimation of detailed reserves, but enough is known to show that India possesses no lack of various kinds of furnace refractories—from boxite and chromite to fire-clays, kyanite and sillimanite—to meet almost any demand that may arise in the near future, but it would be exceedingly valuable if the subject of furnace refractories was fully examined.

There is not yet complete satisfaction among the pottery manufacturers in regard to the quality of the China clay, felspar and quartz which is available to them, although there seems to be no lack in the quantity of material of fair grade *pottery making* materials. The same kind o dissatisfaction exists also in the case of the *glass making* industry in regard to supplies of high grade *glass making* sand. Good quality sand is known to be available in several localities but either the quantity is small or the material has to be prepared by crushing quartzite. • It is in regard to supplies of other materials—Soda ash, lime, lead, alumina and control chemicals (for colouring, oxidising, etc.) of good quality at reasonable prices that the Indian glass

industry may need assistance. All these ceramic industries have had considerable demands on them since the war cut off a large part of the Indian imports, but it is for the same reason that there is a short supply of the chemicals mentioned.

There is no doubt that basic *Chemicals* such as sulphur or sulphuric acid, sodium carbonate, caustic soda, etc., have not been available from domestic sources in the quantities needed, and until these requirements are satisfactorily arranged for from Indian resources there must be a serious hindering effect on most kinds of industrial expansion—such has been found in meeting the essential needs of the Army for the conduct of the war. Mention was also made of the problem of preparing *coal tar dyes* in India, and it can be said at once that there could be no lack of the essential raw material as derived from the carbonisation of coal, but some difficulties will remain until the short supply of the necessary chemicals is remedied by Indian chemical works. Finally it is hardly necessary to refer to the subject of *fertilisers* as at long last this matter seems to be receiving energetic attention and it is already known that India possesses great resources of gypsum but that the supply of ammonia or ammonium carbonate may constitute a serious problem.

War Contributions

It is thoroughly well understood that in time of total war the implements for actual fighting must be provided; that food and clothing and equipment must be good and adequate, and that luxuries almost disappear. Thus the military needs include the civilian and in addition necessitate the supply of engines of war. In a country prepared for war very little serious dislocation should theoretically occur since the manufacturing industries would concentrate on the production of goods of less variety and in greater volume. Only the production of ammunition and related articles would be " new lines," but all production would be at high speed. India was quite unprepared for war on modern lines. Her mineral raw materials were exported and her industrial consumption for manufacturing were small except in the case of iron and steel, and even in this she was a smaller producer than such countries as Belgium and Luxemburg.

Owing to lack of statistical information and the veil of secrecy which must be maintained it is not possible to give actual data to show the degree of help which India's mineral resources have given

in the war effort. It is, however, evident in the action taken by the Allies with Spain and Portgual with regard to exports of wolfram (tungsten ore) and with Turkey over chromite that these ores are regarded as of importance and should be denied to Germany. The great efforts made in Norway to deny supplies of iron ore to Germany also showed that this material was likewise considered as of great importance in the war effort. It is unnecessary to mention how every step has been taken to increase the enemy's difficulties over supplies of fuel and lubricating oils and particularly motor spirit.

With the occupation of Malaya and Burma the enemy has both denied us the valuable supplies of tin and wolfram and lead and silver and mineral oils and secured much of these for himself. If Germany had been denied the iron ore from Norway and Sweden and from Lorraine the iron and steel production in Germany would have been very seriously affected, since their domestic ores provided only 1-4th the iron ore required annually in 1935 to 1938. Indeed the production of pig iron and steel in Germany before the war is of considerable interest as compared with Great Britain as shown below in tons :—

	Germany		Great Britain	
	Pig iron	Steel	Pig iron	Steel
1933	5,250,000	7,300,000	4,100,000	7,000,000
1934	8,700,000	11,750,000	5,950,000	8,850,000
1935	12,250,000	16,250,000	6,400,000	9,850,000
1936	15,000,000	19,000,000	7,700,000	11,800,000
1937	15,750,000	19,750,000	8,500,000	12,980,000
1938	18,250,000	23,000,000	6,750,000	10,400,000

Neither Great Britain and far less India were prepared for war and it is only now evident that modern warfare is not, in equipment or material, what it was 25 or 30 years ago. In this country all that could be done under the conditions existing in 1939-40, was done. Over 100,000 cwts. of block mica and splittings above the quantities going normally through trade channels were quickly procured for the American Government and the mica industry is entirely harnessed for War supply. This applies also to all other Indian minerals and ores and related substances. The entire industry

is and has been ready to place its output at the disposal of the Department of Supply for War purposes. In some cases as for example bauxite where there had been no serious demand before the War delays have been inevitable because communication with the mineral occurrence has had to be made and transport arranged for. In other cases, for example antimony, these problems of communication and transport have been very great indeed.

India has always imported sulphur for the preparation of the sulphuric acid which is absolutely essential for almost all kinds of manufacturing industries. The Indian imports of brimstone (sulphur) in 1919 to 1921, from Italy, Japan and the U. S. A. were 110,441 cwts. valued at Rs. 11,41,000 ; 217, 428 cwts valued at Rs. 33,55,210 : and 131,174 cwts valued at Rs. 12,92,378 respectively. The corresponding figures in 1930 to 1940 from the same sources, were 459,282 cwt. valued at Rs. 21,96,565 ; 672,429 cwts. valued at Rs. 33,57,827 ; and 868,274 cwts valued at Rs. 55,95,897. The Italian supply almost disappeared in 1940 and that from Japan was very greatly reduced in the same year, so that India's requirements of this somewhat bulky material were met from the U. S. A. under many difficulties. Every effort was meanwhile made in India to produce sulphuric acid—from pyrites, gypsum, etc. and to find workable deposits of sulphur. Those who are unaware of the climatic and other physical inconveniences in Western Baluchistan have no right to belittle this effort, and those who are aware of these difficulties are doing their utmost to win the 500,000 tons of sulphur (in ore averaging say 35 % to 40 % sulphur) in that area.

Providence has watched over India since her modern iron and steel industry was established in 1912. The production of iron ore in the year 1911 was 366,190 tons largely for the smelters at Kulti (near Barakar) for the production of pig iron. In the years 1919-1921 the production of iron ore had risen to 563,750 tons, 558,005 tons and 942,984 tons respectively. The corresponding figures in 1937 to 1939 were 2,870,832 tons, 2,743,675 tons and 3,166,074 tons. The yields of pig iron from the above quantities of iron ore were 1,621,260 tons, 1,539,889 and 1,757,041 tons respectively. The following quantities of pig iron were used in steel making (1937 to

1939)—801,202 tons, 851,569 tons and 893,383 tons, respectively, from which the following quantities of steel was produced—665,309 tons, 093,064 tons and 741,717 tons, respectively. In the meantime the Steel Corporation of Bengal has come into operation so that the Indian production of steel must now be upwards of a million tons but in this immense activity it is to be noted that the old smelters at Kulti have not been producing pig iron for some time due to the necessity for reconstruction.

It is in regard to the production of coal that some apprehension is felt. The Indian production of coal in 1911 to 1913 was 12,715,534 tons, 14,706,339 tons and 16,208,009 tons, respectively. In the period 1919 to 1921 the production was 22,628,037 tons, 17,962,214 tons and 19,301,947 tons, respectivley. In the period 1937 to 1939 the production of coal in India was 25,036,386 tons, 28,342,906 tons and 27,769,112 tons, respectively. This production was raised to over 29 million tons in 1940 so that the coal industry was meeting increased demands. During the years 1937 to 1939 the following quantities of coking coal were used in coke making—2,637,652 tons, 2,397,957 tons and 2,693,827 tons, respectively, and yielded 1,566,853 tons, 1,710, 721, tons and 1,916,692 tons of hard coke respectively. Nearly 3 million tons of coking coal were used in 1940 to yield over 2 million tons of coke for metallurgical purposes. It was necessary in 1942 to consider projects for increasing the coal production from the coal fields of the Central Provinces and North-Westren India, and now the problem is to maintain the production from the chief coalfields of the Damodar Valley—Jhariya and Raniganj, owing to shortage of coal miners.

Economic Planning

After the Great War (1914-18) it was believed that India was poorly endowed with mineral wealth. Since the success achieved by the Russians as a result of the successive Soviet 5 year Plans opinion has altered and the belief has become that India is richly endowed in mineral resources. There never has been any justification for either of these contradictory beliefs because we still do not know the true position regarding the mineral reserves in the rocks

in this vast country. The coal production of Russia in 1913 was about 35,000,000 tons, in 1930 nearly 48,300,000 tons and in 1936 over 125,000,000 tons. In the Urals region the output from the Kizel coalfield was estimated at 3,000,000 tons in 1937. The shafts in this field were 600 feet deep into a 12 feet seam in steeply inclined and folded Lower Carboniferous strata, and the winding shaft was equipped with two winding engines—one for operating skips and the other for hoisting doubledecked cages—and capable of raising 3,000 to 4,000 tons of coal a day.

The Kizel coal averaged 0·5 to 1·0 per cent. moisture, 20 to 25 per cent. ash (7 to 8 per cent. sulphur, mostly pyrite) and 30 to 40 per cent. volatile matter. It is a coking coal having a calorific value of 6,000 calories (average). The mine is electrically equipped throughout, and safety lamps are required in mining. The coal is partly cleaned at Kizel and then despatched to the coke-oven plant at Gubakha where the surplus gas is burned in the boilers of a central generating station for electric power. The electricity besides supplying power to the Kizel collieries and town and Gubakha, is used for the railway which has been electrified for 250 miles on each side of Gubakha. The high sulphur coke which is useless for iron ore smelting or for steel making is utilised for smelting the copper sulphide ore in the adjacent Sverdlovsk region. It is quite certain that such a coal of the nature and mode of occurrence as that at Kizel could not be worked in the same way by any commercial enterprise anywhere without the assistance and encouragement of the Central Government.

The two great Soviet iron and steel works Magnitogorsk in the South Urals, near rich iron ore deposits, and Stalinsk in the Kuznetsk coalfield, with coking coal, must be mentioned also. There was great rivalry in the production of pig iron, steel and rolled products between these huge works, so linked that the wagons taking coking coal to Magnitogorsk returned with iron ore to Stalinsk. Magnitogorsk in 1937 was already larger than the Tata Iron and Steel Company's works at Jamshedpur. In 1936 there was a production of 1,557,000 tons of pig iron, 1,165,000 tons of steel and 960,000 tons of rolled products at Magnitogorsk. The pig iron output above given was about 10 per cent. of the total produced in

the U. S. S. R. in 1936. In the same year the Stalinsk (or Kuznetsk) works produced 1,363,000 tons of pig iron, 1,260,000 tons of steel and 866,000 tons of rolled metal (rails). It was thought that when these works had been fully completed their out-turn would be more than double the production of 1936. The production of coal from the so-to-speak obscure coal-field of Kuznetsk (under 8,00,000 tons a year in 1913), was upwards of 12,000,000 tons in 1936.

Perhaps the most significant example of planned enterprise is that of the Russian aluminium industry which had its origin when the Tikhvin bauxite was investigated. This material was found to average 48 to 40 per cent. alumina and 12 to 16 per cent. silica, which the American advisers in 1932 naturally regarded as thoroughly unsatisfactory. Notwithstanding this the Soviet metallurgical chemists succeeded in preparing over 10,000 tons of aluminium at the Volkhov hydro-electric station from alumina from Tikhvin bauxite in 1931. Meanwhile in 1933 better quality bauxite, the 'Red Cap' with 56 per cent. alumina, 3·7 per cent, silica and about 20 per cent. ferric oxide, had been discovered in the Sverdlovsk region (Urals) at Kabakovsk. The reserves are estimated at 22 million tons, and aluminium reduction works were soon afterwards built in the same region at Kamensk, where it was expected to produce 25,000 tons of virgin aluminium in 1937. At that time the production of alumina was 50,000 tons at Tikhvin and 70,000 tons at Kamensk and 32,000 tons at Dneiper where 38,000 tons of aluminium were also made. The Russian aluminium industry is not dependent on Greenland cryolite but uses synthetic cryolite made from fluorspar from Amderma.

The project for preparing 359,000 tons of ammonium sulphate annually as fertiliser in India is at its investigation stage. This would be about 10 per cent. of the world production of this most useful salt on a pre-war basis. Then nearly 40 per cent. of the substance was recovered from by product coke ovens, gasworks and coal distillation plant while over 60 per cent. was prepared from synthetic ammonia. In 1927 nearly 20,000 tons of ammonium sulphate were made in India at coke-oven plants and certain gas works. Of this about one-third was exported and subsequently many of the recovery

plant were dismantled. Now barely 10 years later in 1938-39 India was importing 80,000 tons of this salt as fertiliser at a cost of over Rs. 80 lakhs annually. However assuming that 28 lbs. of ammonium sulphate were recovered per ton of the 3,000,000 tons used in the preparation of metallurgical coke then the total possible recovery by this means would only yield 37,500 tons of the salt. It is understood that for the large quantities to be manufactured the Haber-Bosch synthetic process for preparing ammonia will be used with gypsum (in place of sulphuric acid) as is done in the works of the Imperial Chemical Industries in England.

The ammonia side of the process which usually consists in passing a mixture of nitrogen and hydrogen (obtained from purified water and producer gas) at a temperature of about 450 to 600° under a pressure of 200 atmospheres through a bed of catalyst (usually iron) in a converter of thick walled tungsten or nickel chrome steel. The ammonia content of the gas leaving the synthesis converters is about 10 per cent. The reaction side of the manufacture involves the presence of carbon dioxide with the ammonia, but this gas is usually secured from water gas and more than enough is present for the reaction with the gypsum to yield ammonium sulphate and calcium carbonate. Synthetic ammonium sulphate contains about 21·1 per cent. nitrogen (99·5 per cent. pure) and is neutral, but tends to cake when stored unless certain precautions are taken to obtain rice-shape crystals. I have gone somewhat fully into this matter because it has been believed that the manufacture of ammonium sulphate by this process will require very large supplies of electric power for the actual preparation of the ammonia. It seems obvious that the scheme can be put into operation in several places in the coal fields or near gypsum deposits, and best of all where both raw materials are near at hand.

By product recovery from coke-ovens in the Jharia coalfield has shown that the yield per ton of coal is 15 cwts. of coke, 5·4 gallons of tar, 2·5 gallons of crude benzol, 28.5 lbs. of ammonium sulphate and 10,000 cubic feet of gas (450 B. Th. U. per cubic feet). The re-treatment of tar and the crude benzol yield about a gallon of creosote oil among other products including pitch from the tar

and somewhat less than 1¼ gallons of motor benzol among other products from the crude benzol. If therefore the 3,000,000 tons of coking coal used annually were made to yield up their by products then some 3,600,000 gallons of good motor spirit would be available. This is of course a mere drop in comparison with the 60,000,000 gallons or so imported annually in 1938-39 at a cost of Rs. 2·5 crores roughly, but as the benzol has a higher octane number it would be valuable for special aviation purposes. To prepare 60,000,000 or say, 72,000,000 gallons of motor spirit would require the treatment of 60,000,000 tons of coal. This is more than twice the maximum recorded production of Indian coal and so is not a practical proposition now.

Concluding Remarks

It has been mentioned that India's reserves of good coking coals were estimated at about 1,500,000,000 tons, but it was not stated that half this quantity is located in the Jharia coalfield which is the chief store house of the supply for the manufacture of coke for the smelting of iron ore. Now the mode of extraction of coal in the Jharia coalfield before the war was such that it was only possible to expect 50 per cent. of the coal in the seams and so the expected quantity of good coking coal in this field was estimated at 375,000,000 tons. The production of coal from the Jharia coalfield annually was about 10,000,000 tons immediately before the war and of this puite 3/5's are of good caking quality that is twice the quantity of coking coal used in the manufacture of coke for metallurgical purposes. However, as a million tons of good coking coal from the Girdih, Raniganj and Karanpura coalfields are used in making hard coke it is to be presumed that only 2 million tons are taken from Jharia for this purpose and that at least 4 million tons good coking coal from the Jharia coalfield are used annually for non-metallurgical purposes. There could be no objection to this consumption if India was richly endowed with supplies of good coking coal, which, as is well known, she is not.

This subject of the apparent mis-use of valuable coking coals has been raised on frequent occasions before, but as the concessions

are in the hands of private firms and the problem is a national matter it is one for the attention of the Central Government. It therefore appears strange that a sum of Rs. 3 lakhs has been sanctioned for the immediate erection of a Fuel Research Station, one of whose earliest functions is to encourage experiments in the cleaning or deashing of coals, especially coking coal high in ash to increase our reserves of coking coal for metallurgical purposes. It is difficult to understand why the simpler step is not taken. This is to acquire all seams of good quality coking coal, and thus ensure the supply of these reserves for metallurgical purposes. There is no question that fuel research must be encouraged, and particularly routine investigations on hydrogenation, low temperature carbonisation etc., but de-ashing experiments are not urgent enough to influence the immediate erection of a fuel research station even before a fully qualified Director of Fuel Research has been selected, and who would normally advise on the work and plan the research station.

Raw materials always become most valuable when they are in the greatest demand, and this pre-supposes consumers who know exactly what they want and can give specifications as to the quality of the material. This again pre-supposes the existence of works—smelters or chemical plant or manufacturing equipment or a combination of these—which are prepared to receive the raw materials, and produces goods, such as chemicals, metals, pigments refractories and the like, for immediate use. Therefore unless there are these domestic manufacturing industries there is no purpose in the opening and working of mines, unless the minerals, ores and related substances, such as mica, manganese ore and ilmenite, are for export. It would also, to say the least of it, be imprudent to erect important works unless it was certain that the necessary raw materials both of the quality and in the quantities required had been proved and secured for the supply to the works. This war has shown that an original possession of raw material supplies was no guarantee for continued possession, and that in arranging for supplies a very wide view must be taken by the biggest consumers of these minerals, ores, etc.

Closely associated with raw material resources and inseparable from questions of industrial development, are problems of water-

supply and the question of cheap power. In a country like India which is alternately scorched and then drenched for months at a time, and where there are few examples of large volumes of water pouring down, like the Niagara Falls, and rivers are fordable at some seasons and in a state of flood at another period, storage and control of supplies is a fundamental consideration. The construction of reservoirs for irrigation purposes is always costly but is also of immense usefulness and seldom unremunerative. In the case of a joint irrigation hydro-electric power scheme the cost of the electric power is generally low but the disadvantage is that when the water level in the reservoir is low, as in the hot dry months, the electricity generating station cannot produce power to its full capacity. Consumers, therefore, who require a uniform supply of power would require an auxiliary source of power in such a scheme. A hydro-electric scheme involving great dam and not associated with an irrigation or flood control a project could not produce as cheap electrical energy in India as hydro-electric stations supplied from running water at falls and cascades.

I do not know of any hydro-electric project in India where power could be regularly supplied at less than 0·125 of an anna per unit (kilowatt hour) and it seems doubtful to obtain this power at one pice per unit now. On the other hand it is known that in some coalfield power stations, using steam plant, electric power has been generated at not much more than 0.25 of an anna per unit under very favourable circumstances. And estimates for great central electricity generating stations, as those projected for the Bihar Government Grid, suggest that at certain selected sites, with cheap coal and adequate supplies of cold circulating water, electric energy from coal fired stations may be generated as cheaply as at any hydro-electric station in India—say at between 0·125 and 0·175 of an anna per unit. And I would add that attractive sites for such power stations could be found in almost any coalfield in India, and that India's resources in this respect—the generation of electric power from cheap coal—requires as exhaustive examination as that from potential hydro-electric power sites. In any case, whatever its origin, cheap electric power will be an essential factor in the successful industrialisation which is being anticipated in India.

The authors of the famous pamphlet 'A Plan of Economic Development for India' have made it quite clear that underlying the whole scheme " is the assumption that on the termination of the war or shortly thereafter, a national government will come into

existence at the centre which will be vested with full freedom in economic matters." This seems to be a tacit admission that until that objective is attained and the policy of the national government is known more urgent matters should be attended to meanwhile, and there is no question that these leading Indian businessmen have fully realised that new industries of real importance could not be initiated in a country under threat of invasion. I think that as the true situation which has faced India during the past two or three years is now clear to all, it will be appreciated why there has been no serious development in the utilisation of India's mineral resources. Urgently needed munitions and equipment, and other war supplies, had to be procured immediately from wherever possible, whether from established manufacturers in this country or from abroad. However, this much can be said that Indian mica has been a vital supply to America and to the United Kingdom during the war, and that Indian iron and steel, among other domestic productions, have been invaluable for the defence of India.

I have shown that some raw materials considered valuable to Soviet Russia would be considered almost worthless in other countries, and so, in estimating mineral resources in any plan of economic development, it would be a mistake to omit three other factors. These, as has been the case in Russia, are, in my opinion, (1) a central government which is determined to exploit its mineral resources to the utmost, and, by every conceivable inter distribution and utilisation of products, make the industrialisation economical as well as efficient ; (2) the presence of geologists, mining engineers, metallurgists, industrial chemists, etc., who possess an intimate knowledge of the mineral occurrences and practical skill in their mode of utilisation, and are inspired in their devotion to duty ; (3) a people freed of class and creed by their immense willingness to work under efficient guidance, with pride of country as their stimulant, for the enhancement of the reputation of India. The Russians were grateful for whatever they could make use of, and it was by developing their natural resources that the Union of Soviet Socialist Republics has progessed, notwithstanding the fact that it is comprised of about 16 constituent republics. All Indians must assist fully in winning freedom from the threat of Japan and Germany, and then full attention can be given to industrial development. India's mineral resources, still almost untouched, can then be more thoroughly explored and got ready to use for the benefit of this country.

ANTIQUITY OF AYURVEDA

By Kaviraj Sudhir Bimal Bhatta, Bhishagacharyya.

'Ayurveda is nothing but a mess of roots and herbs.' About Ayurveda this is the notion of the people of our country, literate or illiterate. In spite of gross ignorance, our people talk in a way as if they are quite at home with the Western system of treatment like Allopathy, Biochemy etc. We know these systems of treatments are quite good in their efficacy in healing some particular type of diseases. But with regard to other they have been proved quite unavailing. In as much as Ayurveda has sure remedy for any sickness mental or physical, and this Ayurveda has served the people of the country in innumerable ways from times immemorial. Even with such a huge credit piled up in its favour, why the attitude of our people seem to be not reverential towards it ?

There are reasons. Profound scholars of Ayurveda have done very little to educate the mass with the knowledge of Ayurveda. Ayurvedic books written in Sanskrit are hardly interesting and moreover they are crammed with jaw-breaking words. The English, Hindi and Bengali versions of these books also are full of inaccuracies and ambiguity. Hypocritical persons who take a compassionate view of Ayurveda are also not few in numbers. These sympathetic souls keep the dullest possible boys of the family ear-marked to don the cap of Ayurvedic study, while their gifted ones are set aside for the course of studies like, engineering, actuary etc. If these be the like of help and sympathy coming from our people, what is after all the possibilities of Ayurveda ? Critical remarks of Prof. Royle have been quoted below to enlighten the people who hold a very low opinion of Ayurveda on its comparative merits.

Prof. J. F. Royle , M. D. , F. R. & L. S., Secy. G. S. Late of Medical Staff of the Bengal Army, Prof. of Materia Medica and Therapeutics, Kings College, London, in his essay on the Antiquity of Hindu Medicine has proved beyond the possibility of any doubt that the medicine of the Hindus, were older than those of the Arab and the Greeks and that it was original.

"Being satisfied of the existence of the Sanskrit Medical Works, at a period antecedent to the Arabs, it would no doubt be interesting to know something of their contents.....antiquity and independent origin of their medicine, display, I conceive, considerable merit not only as showing that they had at an early period, paid attention to what now constitute the several branches of medicines, but also that they had discovered the various kinds of remedies, as well as the modes of applying them. That many of these are of a valuable nature, we may readily be assured by looking at their Materia Medica or our own obligations to it; as well as by remembering how recently some among them of old date have been introduced into European practice; as the smoking of Datura leaves in Asthma; the prescribing of Nux-Vomica in Paralysis and Dyspepsia, and the revival of the use of Crotan Tiglium. Hindu works on medicine having been proved to have existed prior to the Arabs, little doubt can be entertained, I conceive, respecting their originality, as we know of no source from which they could have been borrowed except from the Greeks.................. The description of some diseases which seem to have been first known in India, as well as the internal administration of metals, they could not have borrowed from the Greeks......... .. ..On such grounds, therefore, I conceive, we may infer, the antiquity of Hindu medicine; and while unable to get any positive date for their works, we may yet, by circumstantial evidence, obtain an approximation which will, I think, prove its independent origin.

Prof. Horace Hayman Wilson, M. A., F. R. S. President of the Medical Society of Calcutta and Prof. of Sanskrit in the University of Oxford says that:—"There is reason to conclude from imperfect opportunities of investigations, we possess, that in Medicine and in Astronomy and Metaphysics, the Hindus kept pace with the most enlightened nations of the world, and that they attained as through a proficiency in Medicine and Surgery, as many people, whose acquisitions are recorded and as indeed was practicable, before Anatomy was made known to us by the discoveries of the modern enquirers. (The oriental Magazine for 1823, Vol. I, pp. 207-212).

"आयुर्हिताहितं व्याधेर्निदानं शमनं तथा।
विद्यते यत्र विद्वद्भिः स आयुर्वेद उच्यते"॥

Now what is this Ȧyurveda ? It is a Science by which a disease can be traced to the root and cured radically by systematic treatment. It prescribes every thing to ensure good and long life. Vast is this Ayurveda. It has numerous branches of study. Everything of life comes under its purview. Even it has to do something with the life of birds and animals. So Ayurveda is not without us and we are not without Ayurveda.

Theories of Ayurveda propounded by far-famed ancient Rishis like, Charak, Sushruta, Bag Bhatt, are replete with the best of human wisdom. They have been accepted and admired by the best of thinking mind in the Medical World.

Ayurveda has a direct bearing on various actions of our daily life. Every day knowingly or unknowingly we follow its precepts while bathing, eating, moving in society etc. To make life worth-living, we all should at least have a comprehensive idea about this science of life. A few Sanskrit slokas from Ayurvedic books have been appended below to justify the statement of the above paragraph.

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत् स्वस्थो रक्षार्थमायुषः। शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिस्ततः ॥१॥
अर्कन्यग्रोधखदिरकरञ्जककुभादिकम् ॥............भक्षयेद्दन्तधवनं दन्तमांसान्यबाधयन् ॥२।३ ॥
(दिनचर्याध्यायम —वाग्भट)

स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम् ॥ दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम् ॥१५॥
कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाह पाप्नजित् ॥......... ॥१६॥

नासंवृतमुखः कुर्य्यात् क्षुतिहास्यविजृम्भणम् ॥
नासिकां न विकुष्णीयान्नाकस्माद्विलिखेद्भुवम् ॥३५॥ वाग्भट—सूत्रस्थान–अ०–२.)

Recently immense progress of the Western Surgery has drawn us more irresistably inclined towards any system of treatment foreign to us. And the glare of this Science is deluding us every day to believe that any out-landish way of treatment is more to be desired than the Ayurvedic treatment. It is an admitted fact that the modern surgery is at the peak of its glory. There were days, when the western world was groping in darkness, thinking hard on the surgical side of healing diseases. At that time the surgery of ours occupied an enviable position in the East. Illustrations of hundreds of different kinds of surgical instruments that were used for operational purposes are largely in evidence in the books of Ayurveda.

यन्त्रशतमेकोत्तरम्..... ।१। तत्र चतुर्विंशतिः स्वस्तिकयंत्राणि । द्वे संदंशयंत्रे, द्वे एकतालयंत्रे । विंशतिर्नाड्यः । अष्टाविंशतिः शलाकाः । पंचविंशतिरुपयंत्राणि ।।५।। (सुश्रुत—सूत्रस्थान अ० ७)

विंशतिः शस्त्राणि ।।१।। मंडलाग्रकरपत्रवृद्धिपत्रनखशस्त्रमुद्रिकोत्पलपत्रकार्द्धधारसूची कुशपत्राटीमुखशरारिमुखांऽतरमुखत्रिकूर्चककुटारिकाव्रीहिमुखारावेतसपत्रकबडिशदंतशंक्वेषण्य इति ।।२।। (सुश्रुत—सूत्रस्थान—अ० ८)

Names of the Ayurvedic Surgical Instruments like forceps, knives, scissors etc.

Swastika Yantra 24; Sandansha Yantra 2; Ekatala Yantra 2; Nari Yantra 20: Salaka Yantra 28 and Upayantra 25;

and

Twenty kinds of Shastras (knives) as Mandalagra, Karapatra, Briddhipatra, Nakha-Shastra, Moodrika, Utpalpatra, Ardhadhara, Suchi, Kushapatra, Atimukha, Sararimukha, Antarmukha, Trikurchaka, Kutharika, Brihimukha, Ara, Betashapatraka, Barisha, Dantasanku, Eshani.

Cataract operations, removal of stone from the kidney and removal of fœtus from the womb were also done by our surgeons quite successfully in the days of yore.

Cataract Operation :—

न चोत्पातयता क्षिप्रं कार्यमत्युन्नतं तु तत् ।।
शस्त्रपातभयाच्चास्य वर्त्मनी ग्राहयेद् दृढम् ।।४।।

ततः प्रशिथिलीभूतं त्रिभिरेव विलम्बितम् ।। उल्लिखन्मंण्डलाग्रेण तीक्ष्णेन परिशोधयेत् ।।५।। विमुक्तं सर्वतश्चापि कृष्णाच्छुक्लाच्च मंडलात् ।। नीत्वा कनीनिकोपांत छिंद्यान्नाति कनीनिकम् ।।६।। चतुर्भागस्थिते मासे नाक्षि व्यापत्तिमर्हति ।। कनीनिकवधादस्र नाडी चाप्युपजायते ।।७ ।। हीनच्छेदात्पुनर्वृद्धिः शीघ्रमेवाधिगच्छति ।।८।। (सुश्रुत—उत्तरतन्त्र—अ०१५)

Removal of the stones of kidney by Ayurvedic Surgery :—

यदि नोपशमं गच्छेच्छेदस्तत्रोत्तरो विधिः ।।.........२४ ।।

यथा च न भिद्यते चूर्ण्यते वा तथा प्रयतेत चूर्णमल्पमप्यवस्थितं हि पुनः परिवृद्धिमेति तस्मात्समस्तामग्रवक्रेणाददीत ।।३० ।। (सुश्रुत—चिकित्सितस्थान—अ० ७)

Removal of the foetus from the uterus, by operation :—

तत्र स्त्रियमाश्वास्य मंडलाग्रेणांगुलीशस्त्रेण वा शिरो विदार्य शिरः कपालान्यपहृत्य शंकुना गृहीत्वोरसि कक्षायां वापहरेदभिन्ने शिरसि चाक्षिकूटे गंडे वा।.......।।११।।

यद्यदंगं हि गर्भस्य तस्याः सजति सद्भिषक् ।।
सम्यग्विनिर्हरोच्छित्वा रक्षेन्नारीं च यत्नतः ।।१२।।
मंडलाग्रेण कर्त्तव्यं छेद्यमंतर्विजानता ।।
वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं नारी हिंस्यात्कदाचन ।।१५।।
....(सुश्रुत—चिकित्सितस्थान—अ० १५.)

Previously in case of dropsy doctors of Allopathic School of Medicines recommended the use of rock-salt, while we thoroughly disapprove of any such use. After the acceptance of Di-Chlorination Theory of Widal and Javal in the Western World, the use of rock-salt during the treatment of dropsy, was altogether abandoned by them. This is a fine instance of the breadth of vision of our learned doctors of the West.

पिष्टान्नमम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमजागलम् च ।।२० ।।
.... (सुश्रुत—चिकित्सितस्थान—अ० २३)
....

In the Western World, till the end of 18th century, doctors were of opinion that spermatoza was only responsible for conception and the female had no part in the play save and except that of rearing the spermatoza. Later on, from the observations made on their research works, they came to know that embryo was formed in combination of spermatoza with ovam. Ayurvedic Doctors realised this truth earlier than those people.

......ततस्तेजोनिलसन्निपातात् शुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्तवेन ततोऽग्निसोमसंयोगात् सृज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते ।।२ ।। (सुश्रुत—शारीरस्थान—अ० ३)

(वक्तव्य) .... "योषितोपि स्रवंत्येव शुक्रं पुंसां समागमे। तन्न गर्भस्य किंचित्तु करोतीति न चिंत्यते" ।। (वृद्ध वाग्भट)

In this sloka of Briddha Bag Bhatt, he points out that a kind of whitish fluid that oozes out of female organs during coition, is not a helpful agent at all in the formation of an embryo, though it gets mixed up with spermatoza. Comparing this sloka of Briddha Bag Bhatt and their opinion before 18th century, regarding the formation of embryo, we may come to this conclusion that, the then investigators of the Western Medical Science were under such an idea that the whitish fluid of the female might be the only element to help conception. With this wrong idea the Doctors of the West went forward with their works

of research in the field of Gynaecology and with this premise they could not arrive at anything. At last they came to an opinion which was nothing but the reproduction of Briddh Bag Bhatt's theory.

So all the intricate knowledge of Physiology and Embryology which are considered to-day to be the pride of the Modern Medical Science, are nothing but the bequests of Ayurveda.

All that have been enumerated above will go a great way to prove what Ayurveda was. But judging from its present decadent stage we know to what depth it has now gone down.

Long years of foreign rule has brought much of degeneration amongst us and disorganisation in our social life, arts, industries and medicine.

Anything precious and sacred to this country was viciously attacked by the foreigners right from their advent unless and until it was ruined completely or half extinct. Ayurveda also was not spared from their onslaught. Still now the intrigues of the foreign banias are at work everywhere, to tarnish the fair name of Ayurveda. Besides these, the narrow self-seeking policy of the Kavirajes is also partly responsible for the downfall of Ayurveda. By chance, if a Kaviraj came upon a specific for a particular disease he would never put it in the Journal or communicate its secret to his brother practitioner for fear of losing absolute monopoly over it. In his old age, if he had any eligible heir to retain it, it was retained, or it was lost for ever. So many invention like this which could save humanity, was lost to us.

Now the present National Government should come forward to give a lifting hand to this moribund Ayurveda by way of providing ample scope of study and intensive research to scholars. Without this substantial help from the State the hope of its revival will be a utopia.

IS ASTROLOGY A SCIENCE ?

By Prof. B. V. Raman, M. R. A. S.
Editor, The Astrological Magazine, Bangalore

In this article I wish to tell something by way of introduction, about Astrology a subject to confess to an interest in which is to evoke smiles of condescension of derision from otherwise intelligent people and run the risk of being considered an eccentric, before actually commencing the subject proper. The reader is requested to go through this introduction carefully as it enables 'him to appreciate what Astrology is and how it is different from the so called occultism so often mixed up with the science of divination. Is Astrology a Science? Does it deserve to be ranked among other subjects which have received the stamp of the modern scientist? Many causes have contributed to the degeneration of Astrology. Firstly, there is the impenetrable prejudice which characterises the majority of the educated public who sneer at Astrology as mere superstition and excuse themselves from any investigation of its claims on the ground that modern scientists reject it; secondly the springing up of a large number of quacks charging rupee one per horoscope and playing on the credulity of the masses, and thirdly, the narrow-mindedness of many of the scientists have been greatly responsible for the present degradation of Astrology. No man is entitled to pronounce an opinion on the merits of any science unless he has devoted much time to its study and investigation.

What is Science? It is knowledge co-ordinated, arranged and synthesised. No science is perfect and no science can be called a chimerical branch before one can claim considerable proficiency in it. Take for instance any science and see if it is successful cent per cent or even seventy-five per cent in its experiments. Take the percentage of cures and kills effected by doctors. A learned doctor once observed that if all the MATERIA MEDICA is thrown into the sea so much the worse for the fishes and so much the better for man. There is a long list of incurable diseases and the medical

fraternity blink before the fury of these diseases. Jurisprudence is a grand science. What do the bright limbs of Law mean when they speak about the uncertainties of Law. If law is a science where is the room for failure of justice and prevalence of injustice. Yet some of the lawyers and doctors have the impunity to classify astrologers along with quacks, gypsies, charlatans and swindlers. When vast sums of money are spent on such chimerical subjects as meterology, what justification can the cultured public claim for rejecting Astrology and other sciences propounded by ancient Maharishis. Astrology is holding its head so proudly under the greatest disadvantages and neglect which are extended for its vilification and it is high time that sufficient patronage is extended for its revival.

Now let us examine the claims of Astrology to be ranked amongst sciences. It investigates into the influences of time. Astrology is derived from the word ASTER—star and LOGOS—reason or logic. It is called in Sanskrit Jyotisha or the Science of time.

It throws light on the dark recesses of the gloomy future. It attempts to foretell the future history of man, the fates of nations empires, kingdoms, wars, revolutions and other terrestrial phenomena. It tells all these things not by vague guesses or gesticulations but on the adamantine basis of pure mathematical calculations. By observation, by deduction and most important of all, by induction, the astrologer has actually found a correspondence between the movements of planets and events in the life of each individual and this assertion can be tested in a comparatively brief investigation by any intelligent person.

Ancient Maharishis were masters in every branch of knowledge. Ethnology and erotic science were for the first time promulgated in the world by the savants of India. Messmer, Swedenburgh, Havelock, Darwin, Leslie Stephen and Spencer have but caught the glimpses of the heights of knowledge attained by Patanjali, Shankara, Vatsayana and Siddhas. The Rishis had solved all problems of life which modern science with the help of its limited knowledge has been endeavouring to solve. It is of course true that astrological science extends into deep and far-reaching metaphysical and occult domains but after all what science does not? The mathematical concepts of

Einstein, Eddington and others have crossed the border already from the domains of fixed form and materialistic limitation to so-called fourth dimensional territories, so that the argument that Astrology is largely still in the realms of the metaphysical and thus not capable of rationalisation—not reduceable to empirical patterns is not a valid one. The ancient Maharishis had a great advantage over our present day Scientists. They observed thus:-DARPANAYMITHYAVADAHA meaning that objects observed through glasses (telescopes, etc.) reveal phenomena which they do not really represent; the latter have to depend for their observations on mechanical contrivances. The ancients possessed a much more accurate, dependable and comprehensive instrument with which to observe natural phenomena—their ability to function in what might be called, to use a modern scientific term, a fourth dimensional consciousness—Yoga—which enabled them to note, to measure, to weigh, and to classify all the facts concerning the universe without the aid of micrometers and telescopes. This super-consciousness made them aware of and able to comprehend on the one hand infinitesimal units of time and space too small to be measured by the most modern scientific instruments; and on the other hand vast spans of years and universes; spans of years guessed at only by modern geologists in search for the age of the earth; universes too remote to be found even by the largest telescope. The ancient Maharishis were never content to merely observe and catalogue facts; but unlike the present day astronomers they applied this knowledge to the material and above all to the spiritual welfare of man.

In the Hindu philosophical system in which Astrology has its roots, the short span of life whose problems seem beyond our ability to solve is but a small section of our destiny and the chief value of Astrology lies in its use in determining the relationship which this life bears to the whole. The modern theory of evolution deals only with the past and fails to formulate any law for the future. It is essentially materialistic and has got absolutely nothing to say of the spirit which governs that matter and shares its future course and destiny through the series of progressive expansions or unfolding. Man's existence here, says one of the disciples of Kapila,

the first evolutionist in the world, is mere repetition and reproducction of his other previous existences. His present existence is but a link in the chain of eternal existences connecting the past with the future. In his each birth, he carries one step forward the inceptive purpose of his creation to its goal and consummation, until he attains the one in which the past, present and future are blended together and Time and Space are annihilated. Inequalities in temper, in financial prospects, etc., often for no fault of ours, confirm the theory of Karma—cause and effect and Astrology only indicates the results of our past Karma which find expression as planetary influences—relative to individuals. Whether the stars actually effect human lives or they afford merely an index of events that happen as a result of forces to which stars and men are equally subject, it cannot be denied that Astrology has a place amongst the exact sciences.

The entire fabric of Astrology rests on the broad principle of evolution in time. There is a rule in nature and every object, mineral, vegetable and animal, must pass under this rule through all its stages. A scientific investigation of Time gives us a clue to attempt future predictions. With Time as a function when the results deduced by a series of astronomical observations are applied, our expectation is answered. Every cause must produce an effect. This effect in turn brings forth another effect and this is borne out by experience. The Hindu astrologer believes that man's actions in this world have a long tie with his moral principles. To him this cult seemed to conform with perfect logic. When the vision of the transmigration of the soul and the results of his past life repeated in the present floated before him. Being guided by a series of obeservations and intuision he discovered that certain mathematical co-ordinates gave satisfactory answers to his queries re-divining of future events. Stars and planets are but manifestations of matter in space and they can be located if we know the Time. Astrology is the science which records the influence of planets on the terrestrial phenomena. In this article I cannot make the introduction more exhaustive.

The influences of planets on man can be conveniently classified under three headings, viz. physical environments, mental peculiarities and spiritual aspirations.

Huge dark spots, some of them many times larger than the earth, appear on the sun and a relationship is traced between the movements of Guru or Jupiter and X convulsions of magnetic spots in the Sun. In Japan, for instance they have now discovered that the frequency of occurrence of these spots coincides with the frequency of these eruptions. The maxima and minima of earthquakes are found to synchronise with certain relative positions of Jupitor and Saturn. Incidentally this eleven or twelve-year period of maximum solar activity automatically registers itself in the annular rings of trees etc., and if you examine a felled tree, by counting the number of these rings which are the high water-marks of the rise of the sap each year, you can not only determine the age of the tree but more important still, you can distinguish quite clearly the extra thickness of the cell-walls which occurs every eleventh or so year, indicating a year of maximum activity of the Sun's prominences. Incidentally this coincides with Jupitor's reaction on the Sun. Cohesion, adhesion, gravitation and chemical combination are universal forces. It would be unreasonable to suppose that they continuously work and yet produce no influences. An atom is the smallest conceivable particle of an element and consists of a central nucleus—the proton surrounded by the electrons revolving round it in prescribed routes or orbits. In fact, we find that within an atom the entire Solar system is repeated or reflected. Man is a compound of millions of such atoms and consequently cannot remain unaffected by changes in the solar system.

Careful examination reveals that men are continuously subjected to the influences of planetary rays. Physical conditions are nothing but the action and reaction of the Solar and planetary rays upon each other and upon the objective phenomena of the earth. The integration and disintegration of rocks the influences of atmosphere, the influences of day and night and the composition and decomposition of objects—all these are due to the Solar influences.

Rains are due to the Sun and that the rains affect our crops, our health and our financial affairs cannot be denied.

All these phenomena are beautifully described in BHOUTIKA-SUTRAS. Sound is the lowest form of energy. Next comes

heat, then light, magnetism, electricity and ether. A higher form of energy can be transformed into a lower form of energy and vice versa. All these energies are directly derived from the Solar Globe. Forces are energies that are embedded in the Womb of Time for purposes of creation, protection, and destruction. That is why the Sanskrit scientists say that all the energies for calling into existence, keeping it alive and destroying the phenomenon are embedded in the Sun. We are influenced every second by these forces which undergo modification in their angular positions and consequently in producing results also.

The sun is 92 millions of miles away from us. His apparent diameter is 850,000 miles. And every year the earth receives for its sustenance two thousand millionth part of the total quantity that the Sun is radiating into space 1/2000,000,000. The number of human beings is 2,000 millions. Thus each man wants 1/4000,000,000,000,000,000th part of the Solar energy for his sustenance.

This infinitesimally small quantity of Solar energy can call into existence the terrestrial phenomenon and destroy it. According to SURYASIDDHANTA, Saturn is the most distant from the earth and the Moon the nearest. Sun is the soul of the Universe.

No manifestation of energy can occur without Sun's light and heat. Climate is greatly affected by the planets and climate determines the character of the Vegetable and animal population of a country. The phenomena of life are entirely due to the Sun.

Man is influenced by his circumstances—monetary, social or climatic. One exposed to midday Sun feels fatigue and one sitting under the evening's Sun feels refreshed. The Solar ray will be undergoing immense modifications every second and consequently the influences also will be varying. Solar rays fall on the skin and affect the sense of touch. They illuminate and affect the sense of vision. They tan the skin though the effect is not cognisable by any sense. Man drinks water and is affected by it. Climatic conditions influence him. Minerals and animals affect him. And all these are governed by the Sun. Negros have thick lips, curled hair,

and grotesque forms. Pyatagonians are tall. In central Africa there are dwarfs. The females of the Negritese race, have got the narrowest pelvis and this fact accounts for so many still-births among them. A spacious pelvis presages giving birth to healthy children. All the differences are due to the adjustment of Solar energies in a particular form.

Mind is the resultant of breeding and birth. It is through the body and is directly under the control of nervous system. Brain is the seat of sensation and feeling. Sensations and feelings are centred in the brain and the nerves convey the impressions through the spinal column. Active principles of propagating species depends upon the food and other factors. In the tenth month after conception the infant is thrown out by certain internal forces and assumes a separate individuality. At this critical moment when it takes its first breath the surroundings will have a material influence upon the future of the Child. The accident of birth is not to be despised at all. A millionaire's son by the accident of birth inherits millions while the greatest genius may not be able to acquire a decent competency. Here comes the importance of the law of continuity and Karma theory. Unless we grant the existence of the truth of the Karma theory many of the inconsistencies we find in this world cannot be satisfactorily explained at all. An abuse is a bit of sound and this apparently invisible sound vibration influences the mind and offends the person. In all these cases we see objective bodies being directly affected by subjective influences. The Moon influences the Mind. Because on new-moon days and full-moon days we find lunatics to be more eccentric. Hence we have the Sanskrit saying CHANDRAMAMANASOJATHA, meaning that the Moon influences the Mind. The mental currents—so many vibrations of heat, light, etc., take their strength or weakness from the influences exercised by the Solar rays. Vegetation affects mind. Satwa, Rajasa and Tamasa are characteristics which are due to the kind of food we take. Man is the microcosm-Pindanda corresponding with the universe or macrocosm BRAHMANANDA and therefore we must except to find that the vicissitudes of humanity correspond with the changes which take place in the heavens and as a consequence of which

on the earth also. The angular formations of planetary rays will be varying almost every second with the result that the influences on the terrestrial phenomena must necessarily be varying. Hence we find that even if two individuals are born at the same hour one will be decidedly different from the other.

A question that is often put with an air of derision is how can the stars removed as they are millions and billions of miles away from us, affect affairs on the earth? What are the means by which the stars influence us? Science is abandoning the hypothetical ether and substituting for the idea that of a magnetic field covering all space. Science knows of three fields viz., Magnetic field, electric field, and gravitational field. For celestial bodies to affect the things of this earth energy from them must be transmitted. It is light which of course is a form of energy which is transmitted to us from the stars via the medium of our magnetic field. Let us for instance take the constellation of Cancer which consists of some seven fixed stars. Stars are luminous bodies. Therefore, considering them as charged bodies radiating energy into space it is evident that rays of light coming from the stars of this constellation must also be surrounded by their own magnetic fields. A body will not radiate energy unless there be another body within guage to receive it. (At least the phenomenon will not be apparent). Therefore, the fact that a body such as our earth receives the rays of light coming from such stars is sufficient evidence of an attraction existing between the Earth and those distant stars. But our Earth is not the only body that receives energy from those stars.

In this connection reference may be made to Einstein's recent di,covery of a whole range of new realm of radiation more extensive in range than all the known forms of light, heat, X-rays, cosmic rays etc. It is a planetary wave. According to O'Neill, the radiation visualised in the mathematical concept by Einstein is made up of gravitational waves, which parallel in size and frequency, electromagnetic waves· lu: have entirely different properties. As yet the only demonstrated property of these gravitational waves is their ability to pull planets and comets out of their courses as these bodies like the Earth produce disturbances in the gravitational field of cosmos

and these disturbances are propagated as waves and move with the speed of light. Einstein has now found rigorous proof for the existence of the waves in a single plane such as waves in a string. The relativity theory calls for two general kinds of gravitational waves, one stationary and the other progressing; of the progressing waves there are three kinds. Pure longitudinal, those half longitudinal and half transverse and those pure transverse. The Earth for example travelling in its orbit around the sun produces a disturbance in the gravitational field of the Sun and this disturbance is propagated in wave form. In his interview with the Science Editor of Herald Tribune, Prof. Robertson said that the earth's wave would have a length which would be about the same magnitude as a light year (about 600,000,000,000 miles) This wave travels through space with the same velocity as light. There would be four crests of such a gravitational earth-wave in space between us and the nearest star which is about 4 light years away. According to Mr. O'Neill the gravitational waves can have any wave length from the smallest found in light waves, which are measured as fractional parts of a billionth of an inch, to ones far longer than any radio wave ever produced by man, or billions of billions of miles length. It seems that it is entirely possible for gravitational waves to exist which have exactly the same length as light waves, even those within the visible spectrum which we see as a coloured light.

Human eyes are probably entirely blind to these gravitational waves even though they exist in as great abundance and in as great variety as light waves. Gravitational waves are entirely different from electro-magnetic waves. The latter are traceable to the electrical and magnetic charges associated with particles of matter, but the gravitational waves are produced by the mass characteristics of particles or large aggregation of matter. It is known how the gravitational waves affect the astronomical world, and cause the disturbance which one planet produces on another tugging it out of its orbit. According to O'Neil's interpretation such effects as the gravitational waves produce, would be produced on the mass characteristics of matter on which they impinge.

The medium in which these gravitational waves are transmitted is still a mystery, the same kind of mystery which still envelopes the transmission of light. It is interesting to note that in the case of a quantum or packet of light waves pulling an electron from an atom, distance is not a factor.

It makes no difference whether the light wave comes from a nearby lamp or a star, a thousand light years away. The effect is the same. Frequency and not distance is the determining factor. This is an example that completely breaks down the argument that planets and stars cannot affect human beings because they are too far away. It is interesting to note also that the Moon in its travels round the Earth is also sending out disturbances in the form of these gravitational waves and these are proportional to its period of revolution around the Earth. Similar disturbances are produced by other planets in their revolution around the Sun, and those planets which have Moons are the centres for the production of local gravitational waves produced by the movements of their satellites around them. It stands to reason therefore that if a planet X can affect a body of the size of the Sun, its effects upon a mechanism as delicate as the human form could be stupendous.

Thus all beings, animate and inanimate are subject to the influences of planets and astrology simply tells us how and when they influence, whether they are good, bad or indifferent and how we could alleviate, neutralise or overcome the evil influences of such planetary configurations by adopting suitable remedies as prescribed by the ancient Maharishis. By knowing future correctly we can avoid many pitfalls and can so create an environment that, to a great extent, we can cope with the adverse circumstances or be prepared to meet them cheerfully.

Great men believed in and practised astrology. Dante declared it to be the highest, the noblest and without defect; Kepler, Lord Bacon, and Dryden were skilled in this art. Flamstead, the first astronomer Royal believed in Astrology for he selected an auspicious moment for the laying of the foundation stone of Greenwich observatory. By the contemplation of an astrological chart Newton became attracted to the study of Astrology.

To one who is utterly unacquainted with Astrology and yet speaks or writes concerning it in an abusive and disrespectful manner, I commend the rebuke administered by Newton to Hally "I have studied these things you have not." In the modern times it has been the singular good fortune of late Prof. B. Suryanarain Rao, my revered grandfather, to have given a rational exposition of this abstruse science by his varied translations, original works, compilations, and researches into the subject of Astrology. A knowledge of Astrology is highly essential for every individual. Fools obey planets while wise men control them. For a fuller appreciation of the theoretical basis of Astrology the reader is referred to Prof. B. Suryanarain Rao's "AN INTRODUCTION TO THE STUDY OF ASTROLOGY."

I may close this introduction by making a few remarks on MUNDANE ASTROLOGY, a branch of Astrology dealing with wars, earthquakes, inundations, etc., The effects of the planets over the affairs of nations are found to be just as powerful as they are over the life of the individual. Prof. B. Suryanarain Rao, predicted the Anglo-German war (of 1914) six months in advance. Zadkiels I and II were noted for their national predictions. I myself predicted the present European War nearly one year in advance in my World Prospects in 1939-1940. Hitler's aggressive designs; Mussolinis collaboration; France's collapse in 1940 return of the Negus to Abyssinia; Japan's Far-Eastern Policy fates of Holland, Belgium, Mussolini's fall. Hitler's end etc. have all been correctly anticipated by me in my World Prospects and readers can get a copy of this book and test for themselves the veracity of my statement. Risking the derisive laugh I am bold enough to say that there is enough scientific basis to warrant the study of Mundane Astrology by those in control of a National Government or to justify the introduction into national affairs of a competent Astrological bureau to advise on future foreign entanglements. I admit that it is too much to except in the present state of Mundane Astrology for this Bureau to be always right but if it could give the Government enough insight into future complications with foreign

powers that would be worth untold millions even if this supposed Bureau made only 60 per cent of correct predictions.

The day is fast approaching however when men calling themselves scientific can no longer afford to ignore a subject which offers them the very proof they are looking for—proof that everything in this universe, including man is subject to mathematical and geometriccal laws.
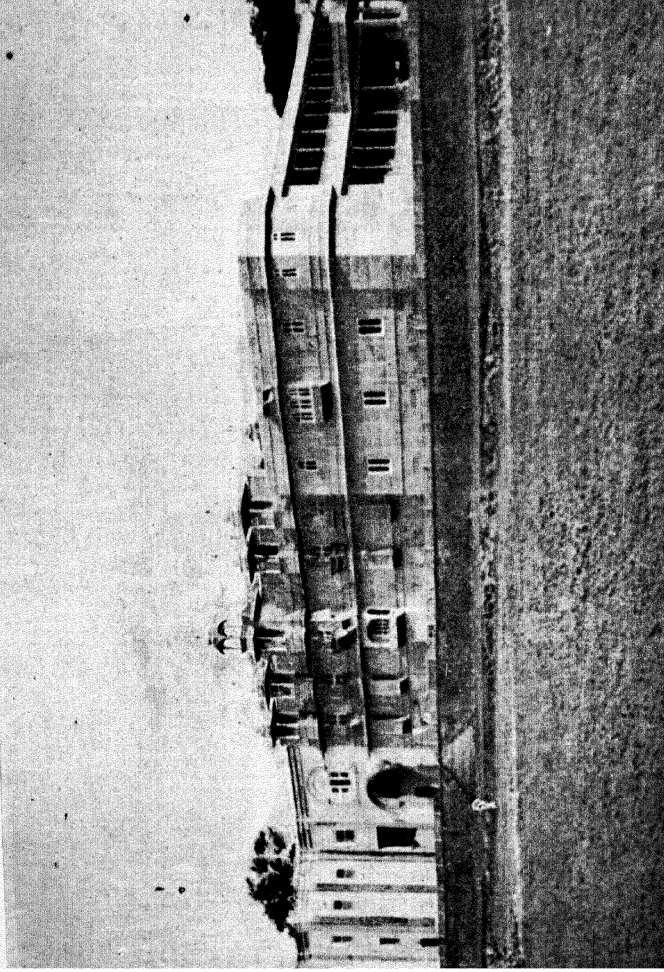
उदयविलास नामक नवीन राजप्रासाद जो सरोवर के पूर्वीय तट पर बने हुए है।

THE POSSIBILITIES OF A TRIP TO MARS

By GOPAL SWARUP MATHUR, M.Sc., B.T.

It is easy to detect Mars in the night sky. It has a romantic ruddy light. It is named after the Roman God of War. Since this crimson planet is farther from the parent Sun than our Earth, it is always full and does not change like the moon.

The average distance of Mars from the Sun is 141,500,000 miles. When nearest to the earth it is only about 35 million miles away. It is about 4,300 miles in diameter. Scientific investigations have proved that Mars has two moons of 6 and 7 miles diameter revolving round it. The gravitational pull on the surface of Mars is 2/5 of what it is on our Earth. This means that a man, whose weight is 80 lbs. here, will weigh only 30 lbs. there and a man who can jump 5 ft. here can jump 12½ ft. there. Mars revolves round the Sun in 697 days.

High-powered telescopes have revealed orange-coloured regions and fine geometric lines on the surface of Mars. This has led Scientists to believe that life exists on this planet and that the fine lines are canals dug out by Martian intelligent beings. No less than 437 such canals are observed. These terminate in dark spots considered to be Oases. Two white caps at the poles have been observed in Winter and their absence in Summer suggests that the caps are nothing but ice. Due to the scarcity of atmosphere H. G. Wells imagines the inhabitants of Mars to be noseless and Octupus-like.

The necessary and sufficient conditions for the existence of life are a Special temperature and a special atmosphere of suitable pressure and composition. The atmosphere that surrounds our globe is upto 200 to 300 miles. It is a kind of blanket which does not allow heat to be radiated away at night when the Sun is set. The temperature, otherwise would have fallen below the freezing point and life would have been impossible. We exclude the possibility of life on Mercury, for, revolving very near the Sun, it must be too hot for life, and on Jupiter, Saturn, Uranus, Nepture, and Pluto for,

revolving too far away from the Sun, these must be too cold. Venus, our Earth's twin, is believed to contain life. Mars, on the other hand, answers, to a great extent, all the requirements of life.

This possibility of life on Mars has led many a Scientist to dream of a trip to that planet. An interplanetary society has been formed in America with eminent Scientists as Dr. R. H. Goddard, Dr. M. H. Sheldon and Dr. J. Q. Steward to devise ways and means of making such a trip possible. For this we require a light vehicle to travel at an enormous speed. A very great difficulty in the way is to overcome the resistence due to the earth's gravitational pull. It has been calculated that a Vessel shot at the speed of 7 miles per second or about 26,000 miles per hour can overcome this resistence.

Ordinary aeroplanes hardly reach beyond 13 to 14 miles high. Atmospheric conditions resist flight at this height. Jules Verne fired a shell from a cannon of bore 900 ft. long sunk in the earth with 500 lbs. of gun cotton. Dr. Goddard improved upon this and devised rockets with continuously firing charges in their tails. The expansion of the gas used propelled the rockets. The achievements were, by no means, mean. A speed of 8,000 ft. per second or 5500 miles per hour was attained. The rocket used was like a torpedo with four compartments for purposes of fuel, combustion and seating.

Powders as a source of energy were out of question for as much as 400 lbs. of powder were estimated to drive 1 lb. mass against the pull of the Earth. A mixture of liquid Hydrogen and Oxygen was tried and it yielded thrice the energy of the powder. Another trouble arose at this stage and it still abides. The question is if the man inside the rocket would be able to survive such an enormous acceleration. Surely he must be killed when subjected to such jerks. Dr. Darwin Lyons, however, sent a mouse in the rocket and much to the satisfaction of the eager Scientists the mouse returned quite safe after the journey. It is common knowledge that certain expert motor cyclists revolve at terrific speed on vertical walls of what they call a 'Well of Death'. This dare devil is found to survive enormous pressures.

For such a trip to be possible some people suggest flight from the Equator and some suggest a station to be made on the moon. Others suggest an artificial metallic moon to be made to revolve round the Earth at 4½ m. p. h. at a distance of 600 miles and a station to be made there on. Now that the Atom has been successfully disintegrated a source of immense energy has been found out. It has filled the Scientific world with hope that an interplanetary trip will be possible some day. Let us watch and see.

हम इन साँपों को जानते थे

श्री रामेश वेदी आयुर्वेदालङ्कार

प्राचीन काल में जंगलों और पहाड़ों में आचार्यों के आश्रम हुआ करते थे। वहाँ जाकर विद्यार्थी शास्त्रों का अध्ययन करते थे। उन्हें प्रकृति में ही अनेक प्रकार के साँप दर्शन दे जाते थे। आचार्य लोग उन्हें प्रत्यक्ष करा के उनके सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें बता दिया करते थे।

आयुर्वेद में जिस तरह वनस्पतियां और खनिजो का विस्तार से वर्णन है और प्रत्येक द्रव्य का परिचय, गुण, धर्म आदि इस तरह से लिखे हैं कि उससे आज भी हम उस द्रव्य के बारे में बहुत कुछ जान जाते हैं, ऐसा साँपों के बारे में नहीं मिलता। सुश्रुत आदि ने साँपों की जातियों का परिगणन तो किया है लेकिन उनके स्वरूप-ज्ञान की ओर वे हमें कोई संकेत नहीं देते। सांकेतिक वर्णन के अभाव में सुश्रुत, व्यास आदि की लिखी साँपों की जातियों को पहचानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है।

जिन परिस्थितियों में उस समय शास्त्रों का अध्ययन होता था उन परिस्थितियों में भले ही इतना लिखना पर्याप्त हो परन्तु इस समय तो यह सर्वथा अधूरा ही कहा जा सकता है। सर्पविद्या को सीखने की बहुत अधिक आवश्यकता है इसलिए हमें इस ओर ध्यान देकर अपने ग्रन्थों के सर्पविद्या-विषयक अध्यायों का परिशोध करना चाहिए। आयुर्वेद की किसी संस्था से सम्बन्धित एक सर्पशाला होनी चाहिए जिसमें विविध जातियों के साँप रखे जायँ और उन्हें प्राचीन ग्रन्थों की जातियों से मिलान करके उनका स्वरूप-ज्ञान और उनकी आदतों का ठीक-ठीक वर्णन व्यवस्थित तरीके से आयुर्वेद के प्रकाश में किया जाय।

आयुर्वेद के आचार्य इन जातियों को जानते थे

सुश्रुत को कुल अट्ठासी जातियाँ मालूम थीं। उसने इन्हें पाँच भेदों में बाँटा है—दर्वीकर, मण्डली, राजिमन्त, निर्विष और वैकरञ्ज।[1]

१—अशीतिस्त्वेव सर्पाणां भिद्यते पञ्चधा तु सा।
दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तस्तथैव च॥
निर्विषा वैकरञ्जाश्च त्रिविधास्ते पुनः स्मृताः।
दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तश्च पन्नगाः॥
तेषु दर्वीकरा ज्ञेया विंशतिः षट् च पन्नगाः॥
द्वाविंशतिर्मण्डलिको राजिमन्तस्तथा दश॥
निर्विषा द्वादश ज्ञेया वैकरंजास्त्रयस्तथा।
वैकरञ्जोद्भवाः सप्त चित्रा मण्डलिराजिलाः॥

—सु०, क०, अ० ४; ८-११।

दर्वीकरों की जातियाँ[२]

१ कृष्ण सर्प--काला नाग।

२ महाकृष्ण—बहुत अधिक काला।

३ कृष्णोदर—काले पेटवाला।

४ श्वेत कपोत—सफेद कबूतर के रंग का।

५ महाकपोत—श्वेत कपोत (संख्या ४) की बड़ी किस्म।

६ बलाहक—वर्षा ऋतु में बादलों के समय भूमि पर घूमनेवाला। बलाहक = बादल।

७ महासर्प – बड़ा नाग, शेष नाग (King Ulna)।

८ शंखपाल।

९ लोहिताक्ष--जिसकी आँख का रङ्ग लाल है।

१० गवेधुक—गवेधुक नाम की घास में रहनेवाला।

११ परिसर्प--कुण्डलियों में बैठना जिसकी आदत है।

१२ खण्डफण—वह फनियर जिसके फन पर ऐनक का सा (ω) चिह्न होता है। इस चिह्न से फन जैसे अलग-अलग खण्डों में विभक्त हो गया हो।

१३ ककुद—पहाड़ की चोटी (ककुद) पर रहनेवाला।

१४ पद्म—जिसके फन पर कमल-फूल का सा निशान हो अथवा कमल के तालाबों का निवासी।

१५ महापद्म—बड़ा पद्म।

१६ दर्भपुष्प—दाभ के फूलों में रहनेवाला या दाभ के फूलों जैसा जिसका रङ्ग है।

१७ दधिमुख—दही-दूध का चटोरा।

१८ पुण्डरीक--फन पर लाल कमल का चिह्न हो या कमल के तालाबों में रहनेवाला

१९ भ्रुकुटीमुख—मुँह पर जैसे सदा त्यौरी चढ़ी रहती हो, बहुत गुस्सेवाला फनियर।

२० विष्किर—भूमि को कुरेद कर अपना आहार ढूँढ़नेवाले, मुर्गी आदि पक्षियों को खानेवाला।

२१ पुष्पाभिकीर्ण—फूलों से घिरी हुई जगहों पर रहनेवाला, अथवा जिसका शरीर फूलों से चित्रित हो।

२२ गिरिसर्प—पहाड़ों का निवासी।

२३ ऋजुसर्प—सरल स्वभाव, सीधा साँप।

२—तत्र दर्वीकराः कृष्णसर्पो महाकृष्णः कृष्णोदरः श्वेतकपोतो महाकपोतो बलाहको महासर्पः शंखपालो लोहिताश्वो गवेधुकः परिसर्पः खण्डफणः ककुदः पद्मो महापद्मो दर्भपुष्पो दधिमुखः पुण्डरीको भ्रुकुटीमुखो विष्किरः पुष्पाभिकीर्णो गिरिसर्पः ऋजुसर्पः श्वेतोदरो महाशिरा अलगर्दो आशीविष इति। —सु०, क०, अ० ४; ३३-३४।

२४ श्वेतोदर—सफेद पेटवाला।

२५ महाशिर—बड़े सिरवाला।

२६ अलगर्द—पागल कुत्ते (अलर्क) की तरह काटने (अर्द) वाला। आप्टे ने इसे काला नाग लिखा है।

२७ आशीविष—तालु में विष धारण करनेवाला।

तेरहवीं सदी के एक विष-वैद्य नारायण शर्मा[१] को फनियर साँपों की यद्यपि छब्बीस जातियाँ ही मालूम थीं परन्तु उसकी अधिक जातियाँ ऐसी हैं जो सुश्रुत के साँपों में नहीं आई। वे निम्नलिखित हैं—

२८ श्वेत—सफेद फनियर।

२९ सर्वकृष्ण—जिस फनियर की सारी चमड़ी काले रङ्ग की है।

३० काकोदर—कौए की तरह पेटवाला।

३१ महाकर्ण—जिस फनियर में दूसरे साँपों की तुलना में सुनने की शक्ति अधिक हो।

३२ कुलत्थक—कुलथी के खेत में रहनेवाला।

३३ गिरिकर्ण

३४ वातकर्ण

३५ चीरकर्ण

३६ भृटीमुख—सं० १९ से मिलता है।

३७ कपोत—कबूतर के रङ्ग का, या कबूतर खानेवाला।

३८ लोहित—लाल रङ्ग का फनियर।

३९ वेपथु—जिसके विष-प्रभाव से कँपकँपी होती हो।

४० महदर्दक

४१ कुण्ठीनाश

४२ महाहि—बड़ा फनियर।

४३ कुक्कुट—मुर्गी खानेवाला। विष्किर (सं० २०) से आदतों में सादृश्य जान पड़ता है।

१—कृष्णः श्वेतः शंखपालः सर्वकृष्णो वलाहकः।
काकोदरो महाकर्णो महापद्मकुलत्थकौ॥
गिरिकर्णो वाटकर्णश्चीरकर्णो भृटीमुखः।
कपोतो लोहितश्चाथ वेपथुर्महदर्दकः॥
कुण्डिनाशो महाहिश्च कुक्कुटस्तृणशोषकः।
तित्तिरिः परिसर्पश्च विचित्रकुसुमस्तथा॥
अखण्डो दर्भपुष्पश्चेत्येते षड्विंशदीरिताः।
—विषवैद्यकम्, पटल २; ४१-४४।

४४ तृणशोषक—प्रचलित विश्वास के अनुसार इतना जहरीला कि अपने विष से या फूत्कार से घास को भी सुखा दे।

४५ तित्तिरि—टिटीरी पक्षी से इसका कुछ सादृश्य या सम्बन्ध दीखता है।

४६ विचित्र कुसुम—रंगबिरंगे फूलों में रहनेवाला।

४७ अखण्ड—इसके फन के ऊपर का निशान खण्डित नहीं होता, पूरा होता है।

नारायण शर्मा के निम्नलिखित फनियर सुश्रुत ने गिना दिये हैं—कृष्ण, शङ्खपाल, बलाहक, महापद्म, परिसर्प और दर्भपुष्प।

यादवप्रकाश को भी फनियर साँपों की छब्बीस जातियाँ मालूम थीं[1]। उसका वैजयन्ती कोष जिस रूप में छपा मिलता है उसमें कुल ग्यारह जातियों के ही नाम मिलते हैं[2]। यादवप्रकाश की महासर्प, पुष्पाभिकीर्णक, कृष्णसर्प, शंखपाल, महापद्म और बलाहक जातियाँ सुश्रुत ने गिनाई हैं। काकोदर और लोहित साँप नारायण शर्मा के फनियरों में आ गये हैं। कुलस्थक साँप कुलत्थक (सं० ३२) से मिलता है। दो ही नये फनियर रह जाते हैं—

४८ फुल्ल

४९ कुम्भीनस

मण्डलियों की जातियाँ[3]

५० आदर्श मण्डल—रसल्स वाइपर है जिसकी पीठ पर आदर्श मण्डल (Typical patches) होते हैं।

५१ श्वेत मण्डल—जिसकी पीठ पर गोल-गोल सफेद चकत्ते हों।

५२ रक्त मण्डल—चकत्तों का रंग लाल हो।

५३ चित्र मण्डल—रंगबिरंगे चकत्ते हों।

५४ पृषत—बिन्दु हों।

५५ रोध्रपुष्प—लोध के फूल के रंग या आकृतिवाला।

१—षड्विंशतिः.........दर्वीकराभिधाः।
—वैज० पातालकाण्ड, सरीसृपाध्याय; १०।

२—दर्वीकरा महासर्पः फुल्लः पुष्पाभिकीर्णकः ॥
कुम्भीनसो लोहिताहिः कृष्णसर्पः कुलस्थकः।
शंखपालो महापद्मः काकोदर इतीदृशाः ॥
आशीविषाश्च सर्वेऽथ कृष्णसर्पा बलाहकः।
—वैज०, पाता०; सरी०, ११-१३।

३—मण्डलिनस्तु आदर्शमण्डलः श्वेतमण्डलो रक्तमण्डलश्चित्रमण्डलः पृषतो रोध्रपुष्पो मिलिन्दको गोनसो वृद्धगोनसः पनसो महापनसो वेणुपत्रकः शिशुको मदनः पालिहिरः पिंगलस्तन्तुकापुष्पः पाण्डुः षडगोऽग्निको बभ्रुः कषायः कलुषः पारावतो हस्ताभरणश्चित्रक एणीपद इति। —सु०, क०, अ० ४; ३५।

५६ मिलिन्दक

५७ गोनस—जिसकी नाक गौ की नाक की तरह है, गोरिव नासिका अस्य। अथवा भूमि (गो) के अन्दर छिद्रों (नासिका) में रहनेवाला।

५८ वृद्ध गोनस—बड़ा गोनस।

५९ पनस—काँटे की तरह तेज दाँतोंवाला। पनस = काँटा।

६० महापनस—बड़ा पनस या जिसके दाँत बहुत बड़े हों।

६१ वेणुपत्रक—बाँस के पत्ते की तरह चपटा।

६२ शिशुक—शिशुक नामक वृक्ष पर रहनेवाला।

६३ मदन—वसन्त ऋतु (मदन) में निकलनेवाला अथवा जिसमें काम-वासना अधिक हो।

६४ पालिहिर

६५ पिंगल—भूरे रंग का।

६६ तन्तुका पुष्प—सरसों के फूल के रंग का।

६७ पाण्डु—मटमैले सफेद रंग का।

६८ पडग

६९ अग्निक—जिसके काटने से जलन आदि पैत्तिक लक्षण प्रकट होते हों।

७० बभ्रु—मटियाला पीला।

७१ कषाय—पीले रंग का।

७२ कलुष—पापी।

७३ पारावत—सं० ३७ देखें।

७४ हस्ताभरण—शिव जी के हाथ का आभूषण।

७५ चित्रक—चितकबरा।

७६ एणीपद—इतना छोटा कि हिरणी (एणी) के पैरों के नीचे कुचल जाय, अथवा नदी (एणी) के पास मिलनेवाला।

मण्डलियों की ये सत्ताईस जातियाँ होती हैं। सुश्रुत ने पहले इनकी बाईस जातियाँ कही हैं। आदर्शमण्डली, श्वेतमण्डली, रक्तमण्डल और चित्रमण्डल को एक ही जाति की उपजातियाँ (sub-species) समझ लें तो इन चार के स्थान पर एक ही संख्या गिनी जायगी। इसी तरह गोनस और वृद्ध गोनस की जगह एक और पनस तथा महापनस की जगह एक जाति गिनने से बाईस जातियाँ ही बनती हैं।

नारायण शर्मा ने मण्डलियों के जो सोलह भेद[१] लिखे हैं उनमें से श्वेत और रक्त (असृक्) ये दो मण्डली ही सुश्रुत के मण्डलियों में आये हैं। निम्नलिखित जातियाँ सुश्रुत नहीं जानते थे—

१—श्वेतश्च कुष्ठकुटिलौ महाश्च भ्रमसूचितौ।
तीक्ष्णकृष्णौ पिशाचश्च हेमश्चाथ विसर्पगः॥
पीतनेत्रो रागकुम्भविसृक्शोफावितीरिताः।
षोडशैते... ... . ॥ —वि० वै०, प० ३; ३६-४०।

७७ कुष्ठमण्डली—जिसकी खाल पर कोढ़ के से चकत्ते हों।

७८ कुटिल—टेढ़ा।

७९ महामण्डली—मण्डलियों में सबसे बड़ा रसल्स वाइपर है।

८० भ्रममण्डली—इस मण्डली का भ्रम किसी दूसरी जाति के साँप से हो सकता है।

८१ सूचीमण्डली—जिस मण्डली के दाँत सुई की तरह लम्बे और नोकीले हों।

८२ तीक्ष्णमण्डली—तेज दाँतोंवाला अथवा जिसका विष बहुत तीक्ष्ण है।

८३ कृष्णमण्डली—काले रंग का मण्डली अथवा जिसके चकत्तों का रंग काला हो।

८४ पिशाच—दुष्ट।

८५ हेम—सोने के रंग का।

८६ विसर्पग—रेंग कर (सर्प) चलने (ग) में विशेष (वि) कुशल।

८७ पीतनेत्र—इसकी आँख का रंग पीला होता है।

८८ रागमण्डली—रंग-विरंगा अथवा जिसे संगीत (राग) से अनुरक्ति हो। मण्डली साँप सामान्य रूप से संगीत की ओर रुचि नहीं दिखाया करते।

८९ कुम्भमण्डली—जिसका शरीर या पेट फूल कर घड़े की तरह कुप्पा बन गया हो।

९० शोफमण्डली—शोफ युक्त स्थान की तरह जिसका शरीर फूला हुआ है अथवा जिसके दंश में शोफ विशेष रूप से प्रकट होती है।

यादवप्रकाश ने मण्डलियों की छत्तीस[1] जातियाँ लिखी हैं। मुद्रित वैजयन्ती में हमें आठ मण्डली[2] ही मिलते हैं जिनमें से गोनस और वृद्ध गोनस सुश्रुत के मण्डलियों में आ गये हैं। तन्तु, पीनस और पिंग साँप क्रमशः तन्तुकापुष्प (सं० ६६), पनस (सं० ५९) और पिंगल (सं० ६५) से मिलते हैं। निम्नलिखित मण्डली नये हैं—

९१ किंशुक—तोते की चोंच के समान जिसका सिर नोकीला है।

९२ तिलित्स—विचित्र गतिवाला साँप (तिल गतौ)।

९३ देवभिन्न

राजिमन्तों की जातियाँ[3]

९४ पुण्डरीक—कमल के तालाबों के आसपास रहनेवाला।

१—षड्विंशतिर्मण्डलिनः.........।

—वैज०, पाता०, सरी०; १०

२—अथ मण्डलिनस्तन्तुर्गोनसो वृद्धगोनसः ॥
किंशुकः पीनसः पिंगो देवभिन्न इतीदृशाः।
गोनसस्तु तिलित्सस्याद् गोनसो घोणसोऽपि च ॥

—वैज०, पाता०, सरी०; १३-१४

३—राजिमन्तस्तु पुण्डरीको राजिचित्रोंगुलराजिबिन्दुराजिः कर्दमकस्तृणशोषकः सर्षपकः श्वेतहनुर्दर्भपुष्पकश्चक्रको गोधूमकः किक्किसाद इति। —सु०, क०, अ० ४; ३६।

९५ अंगुलराजि—अंगुली की मोटाई के बराबर चौड़ी रेखाएँ जिस पर हों अथवा एक-एक अंगुल के फासले पर रेखाएँ हों। यह चितकौड़िया साँप (Banded Krait) हो सकता है।

९६ राजिचित्र—रेखाओं से चित्रित, धारीदार।

९७ बिन्दुराजि—रेखाएँ छोटे-छोटे बिन्दुओं से बनी हों या धारियों के बीच में बिन्दु हों।

९८ कर्दमक—दलदलवाले प्रदेशों में या कीचड़ में रहनेवाला।

९९ तृणशोषक—सं० ४४ देखें।

१०० सर्षपक—सरसों जैसे छोटे-छोटे बिन्दुओंवाला।

१०१ श्वेतहनु—सफेद ठोड़ीवाला।

१०२ दर्भपुष्पक—सं० १६ देखें।

१०३ चक्रक—जिसके शरीर पर चक्र की तरह गोल निशान हों।

१०४ गोधूमक—गोधूलिबेला (सायंकाल) में बाहर निकलनेवाला अथवा गौओं के पैरों से बनी नरम धूलिवाली सड़कों पर सायंकाल लोटनेवाला। ये आदतें कौड़ियों में होती हैं।

१०५ किक्किसाद—चातक पक्षियों (किक्कि) को खाने (साद) वाला।

सुश्रुत ने राजिमन्तों की दस जातियाँ लिखी हैं, परन्तु ये बारह हो गई हैं। राजिचित्र, अंगुलराजि और बिन्दुराजि को एक ही जाति की उपजातियाँ मानने से दस हो जाती हैं।

नारायण शर्मा ने राजिल साँप तेरह[1] गिनाये हैं। इनमें से पुण्डरीक, कर्दम, तृणशोष, श्वेतहनु और चक्रक को सुश्रुत भी जानते थे। इसने जिन नये राजिल साँपों का पता लगाया था उनके नाम ये हैं:—

१०६ अहिराज—साँपों का राजा।

१०७ चित्रक—चितकबरा।

१०८ सर्पप—सर्षपक (सं० १००) का अपभ्रंश हो सकता है अथवा साँपों को खाने (प=पीने) वाला। कौड़ियों में यह आदत होती है।

१०९ लोध्रपुष्प—सं० ५५ देखें।

११० कल

१११ अक्षनाग—बहेड़े के वृक्ष से जिनका कुछ सम्बन्ध हो।

१—त्रयोदशात्र राजीलाः... ... ... ।
कथ्यन्ते सम्प्रदायेन देशिकेशहितेच्छया ॥
पुण्डरीकोऽहिराजश्च चित्रकः कर्दमस्तथा ।
तृणशोषः सर्पपश्च लोध्रपुष्पस्तथा कलः ॥
श्वेतहन्वाक्षनागश्च लोहिताक्षश्च चक्रकः ।
कृत्तिसारः कृष्णराज इत्थं संज्ञास्त्रयोदश ॥
—वि० वै०, प० ४; २०-२२।

११२ लोहिताक्ष—सं० ९ देखें।

११३ कृत्तिसार

११४ कृष्णराज—काला सर्पराज।

केरल देश के एक दूसरे लेखक (तेरहवीं सदी) ने भी राजिल साँपों की तेरह जातियाँ लिखी हैं।[१] उसकी लिखी हुई पुण्डरीक, चित्रक, कर्दम, तृणशोप, सर्षप, लोध्रपुष्प, चक्रक, लोहिताक्ष और कृत्तिसार जातियाँ नारायण शर्मा ने गिनाई हैं। इसका अहिश्रेष्ठ साँप नारायण शर्मा के अहिराज से मिलता है। निम्नलिखित जातियाँ पहले नहीं आईं :—

११५ अलर्क या अलक

११६ श्वेतपिच्छ या श्वेतपिंजा

११७ कृष्णराजि—काली रेखाओंवाला।

यादवप्रकाश ने राजिल के तेरह भेद लिखे हैं।[२] परन्तु मुद्रित वैजयन्ती में आठ गिने गये हैं[३], जिनमें से पुण्डरीक सुश्रुत ने गिना दिया है। किकीसाद साँप किक्किसाद (सं० १०५) होगा। चित्रक और लोहिताक्ष नारायण शर्मा के साँपों में आ गये हैं। सर्पराज और अहिराज (सं० १०६) एक ही साँप होंगे। निम्नलिखित नये राजिल साँप (कौड़िये) हैं :

११८ दिव्येलक

११९ पुष्करसाद

१२० सर्पभुक्—साँपों को खानेवाला। कुछ कौड़ियों का ऐसा स्वभाव है।

चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि ने विषैले साँपों के तीन समूहों में राजिमान साँप गिनाये हैं। दर्वीकर और मण्डली इन दो समूहों को हम क्रमशः फनवाले साँपों (Cobras) और वाइपरीड वंश के साँपों के रूप में जानते हैं। चिकने, रंग-बिरंगे या अनेक प्रकार की तिरछी अथवा सीधी रेखाओं से चित्रित[४] साँप कौड़िये (Kraits) हैं।

---

१ पुण्डरीका हि श्रेष्ठचित्रककरमर्दाहितृणशोपसर्षपाह्लिलोध्रपुष्पालकश्वेतपिजालोहिताक्षचक्रककृत्तिसारकृष्णराजिराजिला इति राजिलभेदाः।

—वि० वै०, पृ० ६।

२—त्रयोदश च राजीलाः············।

—वैज०, पाता०, सरी०; १०।

३—राजिलास्स्युः पुण्डरीकश्चित्रको लोहिताक्षकः।
दिव्येलकस्सर्पराजः किकीसाद इतीदृशाः॥
अथ पुष्करसादस्स्यात्सर्पराजश्च सर्पभुक्।

—वैज०, पाता०, सरी०; १५-१६।

४—(क) स्निग्धविविधवर्णाभिस्तिर्यगूर्ध्वं च राजिभिः।
चित्रिता इव ये भान्ति राजिमन्तस्तु ते स्मृताः॥

—सु०, क०, अ० ४; २३। और

—अ० सं०, ३, अ० ४१।

सुश्रुत ने दर्वीकर और राजिमन्त दोनों प्रकार के साँपों के विष के लिए एक दवा लिखी है[1] जिससे मालूम होता है कि इन दोनों के विष का कार्य एक समान ही है। फनियर और कौड़िये के विष का शरीर पर प्रभाव एक जैसा ही होता है। इस बात से भी हमें पता चलता है कि राजिमन्त साँप कौड़िये ही हैं। कालिदास का यह कथन ठीक नहीं प्रतीत होता कि बड़े-बड़े साँपों पर अपना जोर दिखानेवाले गरुड़ को क्या राजिल साँप ही जोर दिखाने को रह गये हैं[2] ? इससे तो राजिमन्त साँप निर्विष मालूम पड़ते हैं पर वास्तव में ये विषैले साँप कौड़िये हैं।

निर्विष साँपों की जातियाँ[3]

१२१ गलगोली—जिसमें विष की ग्रन्थि (गोली) गल गई हो।

१२२ शूकपत्र—जौ के आवरण (शूक) की तरह आगे से पतला और पीछे से मोटा।

१२३ अजगर—वैज्ञानिकों का अजगर (Pythan) गण।

१२४ दिव्यक—चन्दन (दिव्य) पर रहनेवाला।

१२५ वर्षाहिक—वर्षाकाल में निकलनेवाला।

१२६ पुष्पशकली—जिसके शरीर के विविध भागों (शकलों) पर फूल चित्रित हों।

१२७ ज्योतीरथ—ध्रुव तारे के सदृश।

१२८ क्षीरिका पुष्पक—खिरनी के फूल के रंग का।

१२९ अहिपातक—साँपों से गिरे हुए अर्थात् अविकसित साँप। टाइफ्लोपिडी वंश के साँप हो सकते हैं।

१३० अन्धाहिक—भूमि में गड़नेवाले छोटे अन्धे साँप।

१३१ गौराहिक—सफेद साँप।

१३२ वृक्षेशय—वृक्षों और वनस्पतियों पर रहनेवाला।

वृद्धवाग्भट ने निर्विषों की सोलह जातियाँ लिखी हैं—दिव्यक, अजगर, सर्प, पताक, वृक्षशायिक, शकलीपुष्पक, क्षीरी, लासोनो, क्षारमाहिक, वर्षाहिक, ज्योतिरथ,

---

(ख) बिन्दुलेखो विचित्राङ्गः पन्नगः स्यात्तु राजिमान्।

—च०, चि०, अ० २३; १२४।

(ग) राजिमन्तो राजियुता राजीला राजिलाश्च ते।

—वैज०, पाता०, सरी०; ६।

१—देखें : सु०, क०, अ० ५; ७४।

२—किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुड़ः प्रवर्तते।

—रघु०, सर्ग ११; २७।

३—निर्विषास्तु गलगोली शूकपत्रोऽजगरो दिव्यको वर्षाहिकः पुष्पशकली ज्योतीरथः क्षीरिकापुष्पकोऽहिपातकोन्धाहिको गौराहिको वृक्षेशय इति।

—सु०, क०, अ० ४; ३७।

शुकवक्त्र, बलाहक, गजभक्ष, प्लव और उद्ग्राही।[1] इनमें से निम्नलिखित जातियाँ सुश्रुत की गणना में नहीं आई :

१३३ सर्प—सरकनेवाला।

१३४ पताक—उछल-उछल कर चलनेवाला (उत्पतति); अथवा जो जमीन पर ही पड़ा रहे, सुस्त साँप।

१३५ लासीनी—लिपट जानेवाला।

१३६ क्षारमाहिक—कल्लर जमीन (क्षार) में पाया जानेवाला।

१३७ शुकवक्त्र—तोते की चोंच की तरह जिसका मुख नोकीला हो। किंशुक (सं० ९१) से इसकी तुलना करें।

१३८ बलाहक—सं० ६ देखें।

१३९ गजभक्ष—हाथी को खा जानेवाला।

१४० प्लव—तैरनेवाला, जलीय साँप हो सकता है।

१४१ उद्ग्राही—पूँछ को जमीन पर टेक कर जो अधिक ऊपर उठ सके।

वृक्षशायिक, शकलीपुष्पक और क्षीरी साँप सुश्रुत के वृक्षेशय (सं० १३२), पुष्पशकली (सं० १२६) और क्षीरिकापुष्पक (सं० १२८) से क्रमशः मिलते हैं। इसलिए इनकी गणना मैंने यहाँ अलग नहीं की।

यादवप्रकाश ने साँपों की अच्छी जातियों में बारह निर्विष साँप लिखे हैं।[2] इसके अजगर और बलाहक साँप सुश्रुत और वाग्भट ने गिना दिये हैं। दिव्यकालिनी, शुकपोत्र, वर्षाभी और अहिपताक साँप दिव्यक (सं० १२४), शुकपत्र (सं० १२२) अथवा शुकवक्त्र (सं० १३७), वर्षाहिक (सं० १२५) और अहिपातक (सं० १२९) से क्रमशः मिलते हैं। निम्नलिखित जातियाँ पहले निर्विष साँपों में नहीं आईं:

१४२ कोलक—बेर के रंग का अथवा जिसे सूअर खा जाता है।

१—दिव्यकोऽजगरः सर्पः पताको वृक्षशायिकः।
शकलीपुष्पकः क्षीरी लासीनी क्षारमाहिकः॥
वर्षाहिको ज्योतिरथः शुकवक्त्रो बलाहकः।
गजभक्षः प्लवोद्ग्राही निर्विषाः षोडशाह्वयः॥
—अ० सं०, उ०, अ० ४१।

२—निर्विषा द्वादशेत्येवमशीतिस्सर्पजातयः।
—वैज०, पाता०, सरी०; ११।

इनके नाम इस प्रकार हैं—
..................निर्विषा दिव्यकालिनी।
पैगराजोऽप्यजगरश्शुकपोत्रो बलाहकः॥
वर्षाभीश्शकलज्योतिः कोलकः पादवाहिकः।
पुष्पकोऽहिपताकश्च गन्धाहिक इतीदृशाः॥
—वैज०, पाता०, सरी०; १७-१८।

१४३ पादवाहिक—पैरों से चलनेवाला। यह कोई ऐसी जाति रही होगी जिसमें पैरों के अवशेष बहुत अधिक स्पष्ट होंगे।

१४४ पुष्पक

१४५ गन्धाहिक—जिस साँप में से तेज गन्ध आती है अथवा अन्धाहिक (सं० १३०) का ही बिगड़कर यह शब्द बन गया हो।

१४६ पैंगराज

१४७ शकलज्योति—जिसका शरीर चमकता हो।

वैकरञ्जों की जातियाँ[1]

१४८ माकुलि—फनियर और मण्डली के संयोग से उत्पन्न।

१४९ पोटगल—कौड़िये और मण्डली के संयोग से उत्पन्न।

१५० स्निग्धराजि—चिकनी धारियोंवाला। फनियर और कौड़िये के संयोग से उत्पन्न।

१५१ दिव्येलक—इलायची (एलक) के फल की तरह जिसका मुख हो, ऐसा श्रेष्ठ (दिव्य) या निर्विष साँप।

१५२ रोध्रपुष्पक—सं० ५५ देखें।

१५३ राजिचित्रक—चितकबरी धारियोंवाला।

१५४ पोटगल—नड़ों और सरकण्डों (पोटगल) के झुण्डों में रहनेवाला।

१५५ पुष्पाभिकीर्ण—सं० २१ देखें।

१५६ दर्भपुष्य—फनियर साँपों में भी (सं० १६) इस नाम का साँप है।

१५७ वेल्लितक—घूमनेवाला साँप।

नारायण शर्मा ने दोगलों की इक्कीस जातियाँ लिखी हैं।[2] ऊपर की दस उसमें से कम कर दी जायँ तो शेष ग्यारह जातियाँ नवीन हुईं।

वैदिक ऋषि इन जातियों को जानते थे

वेदों में ऋग्, यजु: और साम की अपेक्षा अथर्ववेद में साँपों के विषय में अधिक ज्ञान मिलता है। साँपों की जो जातियाँ वेदों में हैं उनमें से अनेक अपेक्षाकृत नये लिखे गये संस्कृत ग्रन्थों में नहीं उपलब्ध होतीं। इससे विपरीत संस्कृत ग्रन्थों में वर्णित साँपों के अनेक नाम वेदों में दिखाई नहीं देते। निम्नलिखित जातियों के नाम वैदिक साहित्य में आये हैं:

१—वैकरञ्जास्तु त्रयाणां दर्वीकरादीनां व्यतिकराज्जाता:, तद्यथा माकुलि: पोटगल: स्निग्धराजिरिति ॥ तत्र कृष्णसर्पेण गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातो माकुलि:। राजिलेन गोनस्यां वैपरीत्येन वा जात: पोटगल:। कृष्णसर्पेण राजिमत्यां वैपरीत्येन वा जात: स्निग्धराजिरिति ॥ तेषामाद्यस्य पितृवद्विषोत्कर्षो द्वयोर्मातृवदित्येके ॥ त्रयाणां वैकरञ्जानां पुनर्दिव्येलकरोध्रपुष्पकराजिचित्रका: पोटगल: पुष्पाभिकीर्णो दर्भपुष्पवेल्लितका: सप्त तेषामाद्यास्त्रयो राजिलवच्छेषा: मण्डलिवत्। एवमेतेषां सर्पाणामशीतिरिति ॥—सु०, क०, अ० ४; ३८-४१।

२—............मिश्राणामेकविंशति: ॥—वि० वै०, पटल १; २१।

१५८ अंग्य (ऋ० १.१९१.७)—अंगों पर लिपट जानेवाला।

१५९ अंस्य (ऋ० १.१९१.७)—कंधे या बाहु पर लिपटनेवाला।

१६० अघाश्व (अ० १०.४.१०)—जो जीव पाप (अघ) में व्याप्त (अशूङ् व्याप्तौ) है, पाप ही पाप करता है अथवा घोड़े (अश्व) को मारनेवाला (आ हन्तीति अघ:)। अजगर (अ० १२.२.२५.२०.१२९.१७)—बकरे (अज) को निगल (गर, गल) लेने से इस साँप का नाम अजगर पड़ा। सुश्रुत के निर्विष साँपों में (सं० १२३) आ चुका है।

१६१ अदृष्टवह (ऋ० १.१९१.४)

१६२ अपोदक (अ० ५.१३.६) जल के बाहर रहनेवाला भूसर्प।

१६३ अपोक (अ० ५.१३.६) घरेलू साँप अथवा घरों (ओक) में न (अप) रहनेवाला।

१६४ अरस (अ० ७.५६.५)—हलका विषैला साँप।

१६५ अलीक (अ० ५.१३.५)—छोटा साँप अथवा झूठा साँप (Pseudo snake), क्रमिक विकास में जो अभी पूर्ण रूप से साँप नहीं बन पाया है।

१६६ असिक्नी (अ० ५ १३.७) काली साँपनी।

१६७ असित (अ० ३.२७.१, अ० ५.१३.५)—जो सफेद (सित) नहीं (अ) है, अर्थात् काला साँप।

१६८ अहि (ऋ० ७.१०४.७, अ० १०.४.९)—घातक साँप, आ हन्ति इति।

१६९ आलिगी (अ० ५.१३.७)—इकट्ठा रहना जिसका स्वभाव है। मण्डली साँपों के अन्तर्गत है। आशीविष (ऐ० ब्रा० ६.१)—जिसके मुख के अन्दर विष रहता है। सुश्रुत ने इसे फनियर साँपों में (सं० २७) गिनाया है।

१७० उपतृण्य (अ० ५.१३.५) घास में रहनेवाला, तृण सर्प (Grass Snake)।

१७१ उरुगूला (अ० ५.१३.८)—बहुत (उरु) क्रियाशील (गुरी उद्यमने)। मण्डली वंश (Viperidae) के अन्तर्गत है।

१७२ कंकत (ऋ० १.१९१.१)—कंघी जैसे बड़े और पैने जिसके दाँत हैं।

१७३ कंक पर्व (अ० ७.५६.१)

१७४ कनिक्रत (अ० १०.४.१३)—सं० १७५ से मिलता है।

१७५ करिक्रत (अ० १०.४.१३)—क्री क्री करनेवाला। व्यास के कर्कर साँप से मिलता है।

१७६ कर्णा (अ० ५.१३.९)—वह साँप जिसमें श्रवण शक्ति बहुत उन्नत हो गई है अथवा शायद पहले कोई कानवाली जाति रही होगी।

१७७ कल्माषग्रीव अ०—गरदन हरी (कल्माष) हो।

१७८ कसर्णील (अ० १०.४.५)—कास में रहनेवाला नीला साँप।

१७९ कुशरास (ऋ० १.१९१.३)—छोटे (कु) सरकण्डों (शर) में छिपनेवाला।

१८० कैरात (अ० ५.१३.५)—कौडिया (Krait) साँप होगा जिसे भारत में बहुत सी जगहों पर क्रैत कहते हैं।

१८१ जूर्णी (अ० २. २४.५)-बूढ़ी साँपनी। बहुत देर तक जीनेवाली कोई जाति है।

१८२ तिरश्चिराजि (अ० १०.४.१३)—तिरछी रेखाओंवाला। आयुर्वेदिक लेखकों का राजिमान हो सकता है। तिरश्चीन राजी (मै० सं०, २.१३.२१)—सं० १८२ देखें।

१८३ तैमात (अ० ५.१३.६, ५.१८.४)—जल (तिमात, तिमु, आर्द्री भावे) में रहने-वाला।

१८४ दर्भास (ऋ० १.१९१.३)—दाभ घास (दर्भ) में रहनेवाला।

१८५ दर्वि (अ० १०.१३)-फनवाला साँप। आयुर्वेदिक लेखकों का दर्वीकर साँप है।

दर्वी (अ० १०.४.१३)—सं०, १८५ देखें।

१८६ दशोनसी (अ० १०.४.१७)—देश से नाश करनेवाला। सम्भवतः यह शब्द शेषनाग के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसके दंश से मृत्यु बहुत शीघ्र होती है।

१८७ नाग (शत० ब्रा० ११.२.७.१२)—फनियर।

१८८ नीचीन (अ० ७.५६.५)—जो गरदन को ऊपर न उठा सकता हो, नीचे रखता हो।

१८९ प्रकंकत (ऋ० १. ९१.७) फुर्सा (Achis carinata) के छिलकों की तुलना आरे के दाँतों से (अँगरेजी नाम (saw scaled viper) की जाती है। सम्भवतः यह फुर्सा है।

१९० पृदाकु (अ० १०.४.५)—चूहे (आखु) खानेवाला (पृत) साँप। छींवा (Ptyas गण का) साँप या अजगर हो सकता है।

१९१ पृश्न (अ० ५.१३.५)—चितकबरा साँप।

१९२ पिपीज (ऋ० १०.१६.६)—पीले रंग का।

बभ्र (अ० ५.१३.५)—सं०, ७० देखें।

बभ्रु (अ० ५.१३.६)--भूरे रंगवाला साँप। सं० ७०।

१९३ महानाग (शत० ब्रा० ११.२.७.१२)—शेपनाग (King ulna) हो सकता है।

१९४ मौञ्ज (ऋ० १.१९१.३)—मूंज घास या मूँजपर्वत में रहनेवाला।

१९५ रथर्वी (अ० १०.४.५)—चञ्चल साँप (थर्वतिः गतिकर्मा)। अथवा रथ के पीछे भाग कर चोट करनेवाला। फोर्ड कार का पीछा करके हमला करने का एक उदाहरण शेपनाग साँप का है। इसलिए यह शेपनाग या घोड़ापछाड़ (धामन) साँप हो सकता है।

१९६ लोहिताही (तै० सं०, ५.५.१४.१; मै० सं० ३.१४.१२; वा०, सं० २४.३१)—लाल साँप अथवा जिसके काटने से शरीर के सब रास्तों से खून निकलने लगता है।

१९७ वाहस (तै० सं० ५.५.१३.१, मै० सं० ३.१४.१५; वा० सं०, २४. ३४)—गति को (वाहं) रोकनेवाला (स्यति)। खाने से पहले साँप शिकार को मारकर उसकी गतियां को बन्द कर देता है।

१९८—विलिगी (अ० ५.१३.७)—जिसका अलग रहने का स्वभाव है। मण्डली वंश के अन्तर्गत है।

१९९ विद्रुत (अ० ७.५६.२) – कुटिल साँप।

२०० वैरिण (ऋ० १.१९१.३)—कल्लर (इरण) में रहनेवाला।

२०१ शरास (ऋ० १.१९१.३)—सरकण्डे के झाड़ों का निवासी।

२०२ शर्कोट (अ० ७.५६.५)—सरकण्डों (शर) में जिसने घर (कोट) बनाया है।

२०३ श्वित्र (अ० १०.४.५. १३; तै० सं०, ५.५.१०.२)—सफेद साँप या जिसके शरीर पर श्वित्र कुष्ठ की तरह सफेद धब्बे हैं।

२०४ सतीनकंकत (ऋ० १.१९१.१)—जल (सतीन) में रहनेवाला कंकत।

सर्प (ऋ० १०.१६.६)—वाग्भट ने इसे निर्विष साँपों में (सं० १३३) गिनाया।

२०५ सात्रासह (अ० ५.१.३६)—युग्म सर्प।

२०६ सूचीक (ऋ० १.१९१.७)—मुँह पतला और नोकदार सा हो।

२०७ सेरभ (अ० २. २४. १)—सोये हुए (शे) पर हमला (र भ, आरम्भ) कर देनेवाला।

२०८ सेरभक (अ० २. २४. १)—सं० २०७ देखें।

२०९ सेवृध (अ. २. २४. १)

२१० सेवृधक (अ० २. २४. १)

२११ सैर्य (ऋ० १. १९१. ३)—जो हल (सीर) चले खेतों में कीड़े खाने पहुँच जाता है।

२१२ स्वज (अ० ७. ३. ५८; १०. ४. १०)—अण्डे को फोड़कर स्वयं (स्व) बाहर निकल आता है (जायते)।

सौति को सबसे अधिक जातियाँ मालूम थीं

महाभारत के आदि पर्व में आस्तिक पर्व है। उसके पैंतीसवें अध्याय में साँपों की निम्नलिखित जातियों के नाम आये हैं—[१]

---

१ बहुत्वान्नाम धेयानि पन्नगानां तपोधन।
न कीर्तयिष्ये सर्वेषां प्राधान्येन तु मे शृणु॥
शेषः प्रथमतो जातो वासुकिस्तदनन्तरम्।
ऐरावतस्तक्षकश्च कर्कोटकधनञ्जयौ॥
कालियो मणिनागश्च नागश्चापूरणस्तथा।
नागस्तथा पिंजरक एलापत्रोऽथ वामनः॥
नीलानीलौ तथा नागौ कल्माषशबलौ तथा।
आर्यकश्चोग्रकश्चैव नागः कलशपोतकः॥
सुमनाख्यो दधिमुखस्तथा विमलपिण्डकः।
आप्तः कोटरकश्चैव शङ्खो वालिशिखस्तथा॥
निष्ठानको हेमगुहो नहुषः पिङ्गलस्तथा।
बाह्यकर्णो हस्तिपदस्तथा मुद्गरपिण्डकः॥
कम्बलाश्वतरौ चापि नागः कालीयकस्तथा।
वृत्तसंवर्तकौ नागौ द्वौ च पद्माविति श्रुतौ॥

शेष—शेषनाग।

२१३ वासुकि—वसुक का पुत्र (अपत्य)। समुद्रीय साँपों में से है।

२१४ ऐरावत—इरावती नदी के आस-पास मिलनेवाला

२१५ तक्षक

२१६ कर्कोटक—इसका नाम दृष्टिविष भी है। देखने-मात्र से ही यह विषैला प्रभाव पैदा कर देता है।

२१७ धनञ्जय—धन जीतनेवाला। फनियर के लिए प्रसिद्ध है कि वह गाड़े हुए धन की रक्षा करता है।

२१८ कालिय—ताजे पानी का साँप। श्रीकृष्ण ने जिस कालिया का हनन किया था, कलेण्डरों में उसके अनेक फन दिखाये जाते हैं। इससे यह फनधर साँपों में मालूम होता है।

२१९ मणिनाग—जिसके मस्तक में मणि हो।

२२० आपूरण—भरे हुए बदनवाला। रसल मण्डली का शरीर ऐसा ही होता है।

२२१ पिञ्जरक—आपूरण से विपरीत। चरबी और मांस जिसके शरीर पर कम है ऐसा पतला साँप, जैसे ढाँचा (पिंजर) ही नजर आता हो।

२२२ एलापत्रक—फनवाले साँपों में फन इलायची के पत्ते की तरह फैल कर खड़ा हो जाता है।

नागः शङ्खमुखश्चैव तथा कूष्माण्डकोऽपरः।
क्षेपकश्च तथा नागो नागः पिण्डारकस्तथा॥
करवीरः पुष्पदंष्ट्रो बिल्वको बिल्वको बिल्वपाण्डुरः।
मूषकादः शङ्खशिराः पूर्णभद्रो हरिद्रकः॥
अपराजितो ज्योतिकश्च पन्नगः श्रीवहस्तथा।
कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च शङ्खपिण्डश्च वीर्यवान्॥
विरजाश्च सुबाहुश्च शालिपिण्डश्च वीर्यवान्।
हस्तिपिण्डः पिठरकः सुमुखः कौणपाशनः॥
कुठरः कुञ्जरश्चैव तथा नागः प्रभाकरः।
कुमुदः कुमुदाक्षश्च तित्तिरिर्हस्तिकस्तथा॥
कर्दमश्च महानागो नागश्च बहुमूलकः।
कर्कराकर्करौ नागौ कुण्डोदरमहोदरौ।
एते प्राधान्यतो नागाः कीर्तिता द्विजसत्तम।

—म० भा०, आदिपर्व, आस्ती० अ० ३५, ४-१७।

२२३ वामन—पकड़े हुए कुछ साँपों में खिलाये हुए पदार्थ को उलटी (वमन) करके बाहर निकालने की प्रवृत्ति होती है। अथवा छोटा (वामन) साँप।

२२४ नील—काला साँप। साँपों की अनेक जातियों का रंग काला हो सकता है। सं० १६७ से मिलता है।

२२५ अनील—सफेद रंग के अनेक साँप हो सकते हैं। श्वित्र सं० २०३ से मिलता है।

२२६ कल्माप—हरा साँप।

२२७ शवल—चितकबरा साँप।

२२८ आर्पक—भला साँप।

२२९ उग्रक—उग्र स्वभाव। शेषनाग, धामन आदि कई साँप तेज मिजाज-वाले होते हैं।

२३० कलश पोतक—जो घड़े या नौका आदि पानी के आश्रयों में रहना पसन्द करे।

२३१ सुमन—मन को सुन्दर लगनेवाला अथवा फूलों का वासी।

दधिमुख—सुश्रुत के फणधर साँपों में (सं० १७) आ गया है।

२३२ विमलपिण्डक—सफेद शरीर अथवा जिसका शरीर साफ-सुथरा है।

२३३ आप्त—जल का वासी।

२३४ कोटरक—जिसका घर वृक्ष की खोह में है।

२३५ शंख—पीठ पर शंख के समान निशान हों।

२३६ वालिशिख—चोटी के वाल की तरह पतला और लम्बा।

२३७ निष्ठानक—जिसका एक जगह स्थिर रहने का स्वभाव है।

२३८ हेमगुह—सोने (हेम) के खजाने (गुहा) पर रहनेवाला अथवा जो सरदियों (हिम) में गुहा के अन्दर छिप जाय।

२३९ नहुष—मनुष्यों के सम्पर्क में अथवा नगरों में पाया जानेवाला।

पिङ्गल—सुश्रुत के मण्डली साँपों में (सं० ६५) आ गया है।

२४० बाह्यकर्ण—जिस जीव के कान शरीर को छोड़कर बाहर निकल गये हैं अथवा पहले शायद कोई ऐसी जाति रही हो जिसके कान बाहर नजर आते हों।

२४१ हस्तिपद—हाथी को मारने के लिए शेषनाग उसके पैर के नाखून के नीचे कोमल भाग पर डसता है या हाथी के पैर के नीचे रौंदा जानेवाला साँप।

२४२ मुद्गरपिण्डक—मुद्गर की तरह जिसका मोटा शरीर है।

२४३ कंबल—जल (कं) जिसका बल है। शत्रु से डर कर जो पानी में छिप जाय।

२४४ अश्वतर—घोड़े से भी अधिक वेगवान, घोड़ा पछाड़।

कालीयक—सं० २१८ देखें।

पद्म—सुश्रुत के फणी साँपों (सं० १४) में आ गया है।

२४५ वृत्त—घेरा बनाकर कुण्डली में बैठना जिसका स्वभाव है।

२४६ संवर्तक—जो अच्छी तरह कुण्डलियाँ मार ले।

२४७ शंखमुख—शंख के मुख की तरह जिसका मुख है।

२४८ कूष्माण्डक—पेठे की बेला का निवासी या पेठे के रंग का।

२४९ क्षेमक—नाश (क्षेमा) करनेवाला।

२५० पिण्डारक

२५५ करबीर—कनेर के आस-पास मिलनेवाला।

२५६ पुष्पदंष्ट—जो फूलों में से काटता है।

२५७ बिल्वक—बिल में रहनेवाला, या बिल्व वृक्ष का निवासी।

२५८ बिल्वमण्डूर—बिल की मिट्टी में जिसका घर है।

२५९ मूषकाद—चूहे (मूषक) खानेवाला (ऊद् भक्षणे)। पृदाकु (सं० १९२) से मिलता है।

२६० शंखशिरा—जिसके सिर पर शंख का निशान हो।

२६१ पूर्णभद्र—बिलकुल भला मानस।

२६२ हरिद्रक—हल्दी के रंग का पीला साँप।

२६३ अपराजित—बिना धारियोंवाला।

२६४ ज्योतिक—जिसके शरीर का कोई भाग चमकता हो अथवा दीपक की ज्योति में आनेवाले कीड़ों और मेढकों को खानेवाला।

२६५ पन्नग—पैरों (पद) के बगैर (न) चलने (ग) वाला।

२६६ श्रीवह—सुन्दर साँप।

२६७ कौरव्य—कुरु प्रदेश (देहली, अम्बाला) का निवासी।

२६८ धृतराष्ट्र।

२६९ शंखपिण्ड—पीठ पर शंख के निशान हों।

२७० विरजा—बगैर धारियोंवाला।

२७१ सुबाहु—जिसकी भुजाओं या टाँगों के अवशेष स्पष्ट नजर आते हों, जैसे अजगर और बोआ साँपों में।

२७२ शालिपिण्ड—पीठ पर शालि धान्यों जैसे छोटे छोटे निशान हों।

२७३ हस्तिपिण्ड—हाथी की चमड़ी की तरह जिसकी खाल कड़ी है।

२७४ पिठरक—जो रसोईघरों के आस-पास रहता है।

२७५ सुमुख—जिसका मुख सुन्दर है।

२७६ कौणपाशन—प्राणियों के शरीर (कौणप) को खाने (अशन) वाला।

२७७ कुठर—कुल्हाड़े (कुठार) के फलक की तरह चपटी पूँछवाले समुद्री साँप होते हैं।

२७८ कुञ्जर—शाब्दिक अर्थ हाथी है।

२७९ प्रभाकर—चमकीला साँप।

२८० कुमुद—जो कमलिनियों में मिलता है।

२८१ कुमुदाक्ष—कमलिनी के सदृश आँखोंवाला।

तित्तिरि—जो साँप तीतर का शिकार बन जाय। सं० ४५ देखें।

२८२ हलिक—सैर्य (सं० २११) से मिलता है।
महानाग—बड़ा साँप। सं० १९३।
२८३ कर्दम—कीचड़ (कर्दम) वाले दलदली स्थानों में मिलनेवाला।
२८४ बहुमूलक—जड़ों में छिपकर रहनेवाला।
२८५ कर्कर—कर् कर् ध्वनि करनेवाला, रैटल स्नेक (Rattle Snake) होगा।
२८६ अकर्कर—जो कर् कर् न करता हो।
२८७ कुण्डोदर—हौज (कुण्ड) के समान आयतन के पेटवाला अथवा पेट को जलकुण्ड में डालकर बैठनेवाला। अजगर में ऐसी आदत होती है।
२८८ महोदर—बड़े पेटवाला, अजगर जैसा कोई साँप है।

सौति साँपों की हजारों जातियों को जानता था। इस प्रकरण में उसने मुख्य-मुख्य साँप ही गिनाये हैं।[१]

जनमेजय के नागयज्ञ में भूमण्डल के प्राय: सब साँपों की आहुति दे दी गई थी। सर्पसत्र में भस्म किये गये साँपों की संख्या निस्सन्देह बहुत अधिक होनी चाहिए। उनमें से कुछ नाम सौति को याद थे।[२] उसने उन्हें पाँच वंशों और नव्वे जातियों में रखा

१—बहुत्वान्नामधेयानामितरे नानुकीर्तिताः ॥
एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च संततिः।
असङ्ख्येयेति मत्वा तान्न ब्रवीमि तपोधन ॥
बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
अशक्यान्येव संख्यातुं पन्नगानां तपोधन ॥—म० भा० आदि०, अ० ३५, १७-१९।

२—यथास्मृति तु नामानि पन्नगानां निबोध मे।
उच्यमानानि मुख्यानां हुतानां जातवेदसि ॥
वासुकेः कुलजातांस्तु प्राधान्येन निबोध मे।
नीलरक्तान्सितान्घोरान्महाकायान्विषोल्वणान् ॥
अवशान्मातृवाग्दण्डपीडितान्कृपणान्हुतान् ।
कोटिशो मानसः पूर्णः शलः पालो हलीमकः ॥
पिच्छलः कौणपश्चक्रः कालवेगः प्रकालनः।
हिरण्यबाहुः शरणः कक्षकः कालदन्तकः ॥
एते वासुकिजा नागाः प्रविष्टा हव्यवाहने।
अन्ये च बहवो विप्र तथा वै कुलसम्भवाः ॥
प्रदीप्ताग्नौ हुताः सर्वे घोररूपा महाबलाः।
तक्षकस्य कुले जातान्प्रवक्ष्यामि निबोध तान् ॥
पुच्छण्डको मण्डलकः पिण्डसेक्ता रभेणकः।
उच्छिखः शरभो भङ्गो बिल्वतेजा विरोहणः।
शिली शलकरो मूकः सुकुमारः प्रवेपनः ॥

है। वासुकि की पन्द्रह जातियों, तक्षक की अठारह जातियों, एरावत की दस जातियों, कौरव्य की दस जातियों और धृतराष्ट्र की सैंतीस जातियों का ज्ञान था।

वासुकी वंश के साँप

२८९ कोटिश—पुराने किलों (कोट) में सोनेवाला या देर (कोटि) तक सोनेवाला (शेते इति)।

मुद्गरः शिशुरोमा च सुरोमा च महाहनुः।
एते तक्षकजा नागाः प्रविष्टा हव्यवाहनम्॥
पारावतः पारिपात्रः पाण्डरो हरिणः कृशः।
विहङ्गः शरभो मोदः प्रमोदः संहतापनः॥
ऐरावतकुलादेते प्रविष्टा हव्यवाहनम्।
कौरव्यकुलजान्नागाञ्छृणु मे त्वं द्विजोत्तम॥
एरकः कुण्डलको वेणी वेणीस्कन्धः कुमारकः।
बाहुकः शृङ्गवेरश्च धूर्त्तकः प्रातरातकौ॥
कौरव्यकुलजास्त्वेते प्रविष्टा हव्यवाहनम्।
धृतराष्ट्रकुले जाताञ्छृणु नागान्यथातथम्॥
कीर्त्यमानान्मया ब्रह्मन्वातवेगान्विषोल्वणान्।
शङ्कुकर्णः पिठरकः कुठारमुखसेचकौ॥
पूर्णाङ्गदः पूर्णमुखः प्रहासः शकुनिर्दरिः।
अमाहठः कामठकः सुषेणो मानसोऽव्ययः॥
अष्टावक्रः कोमलकः श्वसनो मौनवेपगः।
भैरवः मुण्डवेदाङ्गः पिशङ्गश्चोदपारकः।
ऋषभो वेगवान्नागः पिण्डारकमहाहनू॥
रक्ताङ्गः सर्वसारङ्गः समृद्धपटवासकौ।
वराहको वीरणकः सुचित्रश्चित्रवेगिकः॥
पाराशरस्तरुणको मणिः स्कन्धस्तथाऽऽरुणिः।
इति नागा मया ब्रह्मन् कीर्त्तिताः कीर्तिवर्धनाः॥
प्राधान्येन बहुत्वात्तु न सर्वे परिकीर्त्तिताः।
एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च सन्ततिः॥
न शक्यं परिसंख्यातुं ये दीप्तं पावकं गताः।
कालानलविषा घोरा हुताः शतसहस्रशः।
महाकाया महावेगाः शैलशृङ्गसमुच्छ्रयाः॥
योजनायामविस्तारा द्वियोजनसमायताः।
कामरूपाः कामबला दीप्तानलविषोल्वणाः॥
दग्धास्तत्र महासत्रे ब्रह्मदण्डनिपीडिताः।

—म० भा०, आदि०, आस्तीक०, अ० ५७; १-२४।

२९० मानस—धैर्यवान् अथवा मानसरोवर का साँप।

२९१ पूर्ण—आपूरण (सं० २२०) से सादृश्य मालूम होता है अथवा क्रमिक विकास में जो पूर्णता प्राप्त कर गया है, अलीक (सं० १६५) से विपरीत।

२९२ शल—हिंस्र प्रकृतिवाला।

२९३ पाल— अपने अण्डे-बच्चों का पालनेवाला। ऐसी जातियाँ भी होती हैं जिनके अण्डे-बच्चों को माता-पिता से किसी भी प्रकार की रक्षा या सहायता नहीं प्राप्त होती।

२९४ हलीमक—हल चली हुई (हली) भूमि में गति (मक) करनेवाला। खेतों का निवासी।

२९५ पिच्छल—लेस र विष उगलनेवाला अथवा दलदली (पिच्छला) भूमि का साँप अथवा मार्ग पर जाते हुए को रोकने (पिच्छ) वाला।

कौणप—सं० २७६ देखें।

२९६ चक्र—फूर्सा साँप होगा जो चक्र में चलता है।

२९७ कालवेग—जिसके विष का वेग ठहर-ठहर कर आता है या जिसके विष का वेग एकदम मौत (काल) ला दे अथवा समय (काल) की तरह वेगवान्—अत्यन्त फुर्तीला साँप।

२९८ प्रकालन—जल्दी (प्र) मौत (काल) लानेवाला, यमरूप।

२९९ हिरण्यबाहु—जिसके पार्श्व (बाहु) चमकीले (हिरण्य) हों।

३०० शरण—घर (शरण) के अन्दर रहनेवाला।

३०१ कक्षक—सूखे वन (कक्ष) में रहनेवाला।

३०२ कालदन्तक—जिसके दाँत साक्षात् यम (काल) रूप हैं अथवा जिसकी दाढ़ का रंग काला है।

तक्षक-वंश के साँप

३०३ पुच्छाण्डक— पूँछ से अण्डे देनेवाला।

३०४ मण्डलक—मण्डलोंवाला छोटा (क) साँप।

३०५ पिण्डसेक्ता—शरीर (पिण्ड) से अण्डों को सेने का गुण जिसमें विशेष है। अण्डे सेते हुए अजगर के शरीर का तापमान ऊँचा चला जाता है।

३०६ रभेणक—हिरण (एणक) जैसा वेगवान् (रभस्-वेग)। अथवा हिरणों को पकड़ने (रभ्) वाला।

३०७ उच्छिख— सिर (शिखा) को जो ऊँचा उठा सकता हो, जैसे फनवाले साँप।

३०८ शरभ—शल (सं० २९२) की तरह प्रतीत होता है। शल (शर) इव भाति।

३०९ भङ्ग— जिसमें कुटिलता अधिक है अथवा जो टूट जाने पर भी (भङ्ग) देर तक जीवित रहता है।

३१० बिल्वतेजा—जिसका तेज बिल्ववृक्ष में है। काँटेदार वृक्ष होने से जो अपने को उसमें सुरक्षित समझता है।

३११ विरोहण—वृक्षों पर चढ़ जानेवाला।

३१२ शिली—पहाड़ों पर रहनेवाला।

३१३ शलकर—छिलकों (शलक) वाला, जिसमें छिलके अधिक विशिष्ट हैं।

३१४ मूक—जो फूत्कार न मारे, गूँगा।

३१५ सुकुमार—नाजुक साँप।

३१६ प्रवेपन—वेपथु (सं० ३९) से मिलता है।

३१७ मुद्गर—मुद्गरपिण्डक (सं० २४२) की उपजाति हो सकती है।

३१८ शिशुरोमा—छिलके इतने छोटे हों कि छोटे-छोटे रोमकूपों की तरह नजर आते हों।

३१९ सुरोमा—जिसके सूक्ष्म छिलके सुन्दर लगते हों।

३२० महाहनु—बड़ी ठोड़ीवाला।

ऐरावत-वंश के साँप

पारावत—सुश्रुत के मण्डली साँपों में (सं० ७३) आया है।

३२१ पारिपात्र—विन्ध्य पर्वत के एक भाग को कहते हैं। वहाँ रहनेवाला।

३२२ पाण्डर—कुन्द फूल (पाण्डर) से जिसका कुछ सम्बन्ध या सादृश्य है।

३२३ हरिण—हरा साँप।

३२४ कृश—पतले सिकुड़े शरीर वाला। आपूरण (सं० २२०) और पूर्ण (सं० ९१) से विपरीत।

३२५ विहङ्ग—पक्षियों को खानेवाला अथवा पक्षियों की तरह उड़नेवाला।

३२६ शरभ—सं० ३०८ देखें।

३२७ मोद—मस्त रहनेवाला।

३२८ प्रमोद—खूब मस्त।

३२९ संहतापन—चोट (संहन) लगाकर (डस कर) ताप चढ़ा देनेवाला।

कौरव्य वंश के साँप

३३० एरक—एरका घास में रहनेवाला।

३३१ कुण्डलक—शरीर को कुण्डलियों में लपेट लेनेवाला।

३३२ वेणी—बाजे पर नाचनेवाला (वेनृ वादित्रवादने)। अथवा स्त्री की गुत (वेणी) की तरह लम्बा और काला।

३३३ वेणीस्कन्ध—कन्धे पर रख दिया जाय तो बिलकुल गुत ही मालूम देता है अथवा जिस साँप के पार्श्वों (स्कन्धों) पर गुथी हुई गुत (वेणी) जैसी लकीरें हों।

३३४ कुमारक—खेलनेवाला (कुमार क्रीड़ायाम्)। अथवा वह साँप जिसमें कामवासना अधिक हो।

३३५ बाहुक—बाहु के आकारवाला। अथवा भुजा पर लिपट जानेवाला।

३३६ शृङ्गवेर—जिसमें सींग (शृङ्ग) की तरह कोई रचना (वेर) हो। शृङ्गमण्डली (Horned viper) में सिर पर ऐसी रचना होती है।

३३७ धूर्त्तक— धूर्त्त स्वभाव, खोटा साँप।

३३८ प्रातर—जिसमें तैरने की सामर्थ्य अधिक है।

३३९ आतक—आतंक का अपभ्रंश! जिसे देखने से भय पैदा हो। अथवा जीवन को दुःखदायी (तकि कृच्छ्र जीवने) बना देनेवाला।

धृतराष्ट्र वंश के साँप

३४० शङ्कुकर्ण—शङ्कु (खूँटे) की तरह जिसके कान हैं। शृङ्गमण्डली में (सं० ३३६) सींग ही जैसे खूँटे या कान की तरह नजर आते हों।

पिठरक—सं० २७४ देखें।

कुठार—सं० २७७ देखें।

३४१ मुखसेचक -मुख के विष से घाव को सींचनेवाला।

३४२ पूर्णाङ्गद—शिव के बाहु का बड़ा (पूर्ण) आभूषण (अङ्गद)।

३४३ पूर्णमुख—जिसका मुख खूब बड़ा हो।

३४४ प्रहास—कपोल भाग ऐसे उभरे हुए हैं जैसे कि वह हँस रहा हो।

३४५ शकुनी—पत्ती (शकुनी) की तरह उड़नेवाला, सं० ३२५ देखें। अथवा शक्तिशाली साँप।

३४६ दरि—दर्वि (सं० १८५) का व निकल कर दरि तो नहीं रह गया?

३४७ अमाहठ—घर (अमा) में जिसका जोर (हठ) चले। घरेलू साँप।

३४८ कामठक—कमठ का अपभ्रंश, चुस्त साँप। या घरों (मठ) में न रहनेवाला। इधर-उधर घूमने-फिरने से यह अधिक कर्मठ (चुस्त) होगा।

३४९ सुषेण—अच्छा लड़ाका।

३५० मानस—सं० २९० देखें।

३५१ अव्यय—जिनका ह्रास (व्यय) कभी न हो, दीर्घजीवी साँप।

३५२ अष्टावक्र—शरीर पर आठ टेढ़ी रेखाएँ हों। अथवा आठ संख्या की तरह टेढ़ी स्थिति में जो अपने शरीर को कर लेता है। अँगरेजी के 8 की तरह तो फूर्सा कुण्डली मारता है।

३५३ कोमलक—गुदगुदा छोटा (क) साँप।

३५४ श्वसन—श्वासोच्छ्वास जिसका अधिक स्पष्ट है।

३५५ मौनवेपग—मूक (सं० ३१४) जाति का साँप है और काँपता (वेप) हुआ सा चलता (ग) है।

३५६ भैरव—भय देनेवाला। अथवा जिसका शब्द (रव) भय उत्पन्न करता है।

३५७ मुण्डवेदाङ्ग—जिसके सिर (मुण्ड) में ज्ञान (वेद) का अङ्ग मस्तिष्क है।

३५८ पिशङ्ग—कमल फूल की पराग धूलि (पिशङ्ग) के समान जिसका रंग पीला है।

३५९ उदपारक—जो पानी (उद) को पार कर जाय।

३६० ऋषभ—श्रेष्ठ साँप।

पिण्डारक—सं० २५० देखें।

३६१ महाहनू—सं० ३२० देखें।

३६२ रक्ताङ्ग—लाल रंगवाला।

३६३ सर्वसारङ्ग—सब ओर से सारंग के रंगवाला। सारंग के अर्थ हैं—कोयल, मोर, राजहंस, पपीहा, भौंरा, हाथी, बादल, हिरण आदि।

३६४ समृद्धपट जिसकी पीठ पट्टी (पट) की तरह चपटी और खूब बड़ी (समृद्ध) दीखती है। अमरसिंह का दीर्घ पृष्ठ (सं० ३८९) हो सकता है। अथवा मोटी केंचुली-वाला। साँप का वस्त्र (पट) केंचुली ही होती है।

३६५ वासक— बाँसे के अन्दर रहनेवाला। या जिसमें से कोई गन्ध (वास) आती हो।

३६६ वराहक—छोटे (क) सूअर (वराह) को निगल जानेवाला।

३६७ वीरणक—खस (वीरण) की जड़ों के अन्दर रहनेवाला छोटा (क) साँप।

३६८ सुचित्र—सुन्दर चितकबरा साँप।

३६९ चित्रवेगिक—विचित्र चाल चलनेवाला। या जिसके विषवेग विचित्र प्रकार के होते हैं।

३७० पाराशर—जिसका बाण (साँप का शर उसके दाँत हैं) परे चला गया है—शरीर के बाहर निकल गया है, विषदन्तरहित साँप। अथवा जिसमें से युद्ध का अंश (बाण) परे निकल गया है, जो साँप काटता नहीं है। अथवा जो साँप बहुत (परा) बूढ़ा (शीर्ण) हो गया है।

३७१ तरुणक—युवा हो जाने पर भी जिस साँप का आकार छोटा रहता है।

३७२ मणिस्कन्ध—पीठ या पार्श्वों पर मणि के निशान हों।

३७३ आरुणि—लाल रंगवाला।

अमरसिंह इन जातियों को जानता था

अमरकोष में साँपों के निम्नलिखित नाम आये हैं —

१—......नागाः काद्रवेयास्........।
शेषोऽनन्तो वासुकिस्तु सर्पराजोऽथ गोनसे ॥
तिलित्सः स्यादजगरे शयुर् वाहस इत्युभौ ।
अलगर्दो जलव्यालः समौ राजिलडुण्डुभौ ॥
मालुधानो मातुलाहिर् निर्मुक्तो मुक्तकञ्चुकः ।
सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गोऽहिर् भुजङ्गमः ॥
आशीविषो विषधरश् चक्री व्यालः सरीसृपः ।
कुण्डली गूढपाद् चक्षुश्रवाः काकोदरः फणी ॥

३७४ काद्रवेयस्—कद्रु के बच्चे (कद्र्वा अपत्यानि)।

३७५ अनन्त—असीम लम्बाई का साँप।

तिलित्स—सं० ९२ देखें।

३७६ शयु—बहुत अधिक सोनेवाला (शेतेऽत्यर्थम्) साँप।

३७७ जलव्याल—पानी का साँप।

३७८ राजिल—धारीदार साँप (राजिं देहे लाति इति)।

३७९ डुण्डुभ—डुण्डु आवाज करनेवाला (डुण्डु भाषते) ?

३८० मालुधान—मातुल नाम की बूटी के पास रहनेवाला (मालुर्मातुला ख्यौषधिस्तत्र धानमस्य)।

३८१ भुजग—टेढ़ा-मेढ़ा चलनेवाला (भुजेन कौटिल्येन गच्छति)।

भुजंग—सं० ३८१ देखें।

भुजंगम—सं० ३८१ देखें।

३८२ विषधर—विषैला साँप।

चक्री सं० १०३ और २९६ देखें।

३८३ व्याल—चोट करने के लिए तैयार (व्याडनं हन्तुमुद्यतः)।

३८४ सरीसृप—रेंगनेवाला।

कुण्डली—सं० ३३१ देखें।

३८५ गूढपाद—जिस जीव के पैर छिपे हुए हैं (गूढाः पादा अस्य)।

३८६ चक्षुस्रवा—आँखों से सुननेवाला।

३८७ काकोदर—कौए की तरह पेटवाला अथवा पेट में विष धारण करनेवाला। (काकोलं विषमुदरे यस्य)। ऐसे साँप होते हैं जिनकी विषग्रन्थियाँ सिर में न होकर पेट में होती हैं।

३८८ फणी—फनवाला साँप।

दर्वीकर—कड़छी की तरह फनवाला। सं० १८५ देखें।

३८९ दीर्घपृष्ठ—सौति के समृद्धपट (सं० ३६४) से मिलता है।

३९० दन्दशूक—बुरी तरह काटनेवाला (गर्हितं दशति)।

३९१ विलेशय—बिल में सोनेवाला।

३९२ उरग—छाती (उर) से चलने (ग) वाला।

३९३ भोगी—साँप भोग-योनि जीवों में है। अथवा जमीन के अन्दर रहनेवाला, पातालभोगी वर्ग में अमरसिंह ने साँपों का वर्णन किया है।

भोगधर—सं० ३९३ देखें।

दर्वीकरो दीर्घपृष्ठो दन्दशूको विलेशयः।
उरगः पन्नगो भोगी जिह्मगः पवनाशनः॥
लेलिहानो द्विरसनो गोकर्णः कञ्चुकी तथा।
कुम्भीनसः फणधरो हरिर् भोगधरस्तथा॥—अ० को०, पातालभोगी० ७; ४—६।

३९४ जिह्मग—टेढ़ा-मेढ़ा चलनेवाला (जिह्मं वक्रं गच्छति)।

३९५ पवनाशन—वायु खाकर रहनेवाला।

३९६ लेलिहान—जीभ से चाटता हुआ सा स्पर्श-ज्ञान आदि करता है।

३९७ द्विरसन—जीभ दो भागों में फटी हुई होती है।

३९८ गोकर्ण—जिसकी वाणी (गो) के अंग कान का काम करते हैं। साँप मुख के हिस्सों से सुनता है।

३९९ कञ्चुकी—केंचुलीवाला जीव।

४०० कुम्भीनस—जिस साँप की नाक घड़े की तरह हो।

फणधर—सं० ३८८ देखें।

४०१ हरि—जीवन को हरनेवाला।

अमरसिंह के निम्नलिखित नाम पहले आ चुके हैं। इसलिए इन्हें हमने दुबारा नहीं गिनाया। अहि—सं० १६८। आशीविष—सं० २७। पन्नग—सं० २६५। नाग—सं० १८७। शेष—सं० २१३। गोनस—सं० ५७। अजगर—सं० १२३। वाहस—सं० १९७। अलगर्द—सं० २६। सर्प—सं० १३३। पृदाकु—सं० १९०।

सुमन्तु[1] को ये साँप मालूम थे

वासुकि—सं० २१३। तक्षक—सं० २१५। कालिय—सं० २१८। एरावत—सं० २१४। धृतराष्ट्र—सं० २६८। कर्कोटक—सं० २१६। धनञ्जय—सं० २१७। अनन्त—सं० ३७५। पद्म—सं० १४। कंबल—सं० २४३। अश्वतर—सं० २४४। शंख—सं० २३५। शंखपाल—सं० ८। पिंगल—सं० ६५ और मणिभद्रक—मणिवाला भला साँप सं० २१९।

गरुडोपनिषद्[2] में साँपों के ये नाम आये हैं

अनन्त—सं० ३७५। वासुकि—सं० २१३। तक्षक—सं० २१५। पद्म—सं० १४। महापद्म—सं० १५। शंख—सं० २३५। नाग—सं० १८७। और

---

१ ख अनन्तं वासुकिं शंखं पद्मं कंबलमेव च॥
तथा कर्कोटकं नागं नागमश्वतरं नृप।
धृतराष्ट्रं शंखपालं कालियं तक्षकं तथा॥
पिंगलं च तथा नागं मासि मासि प्रकीर्त्तितम्।
—भविष्य पुराण, ब्राह्म पर्व, अ० ३२; ५१-५३।

(क) वासुकिस्तक्षकश्चैव कालियो मणिभद्रक:।
ऐरावतो धृतराष्ट्र: कर्कोटकधनञ्जयौ॥——भ० पु०, ब्राह्म०, पञ्चमी कल्प, अ० ३२; २।

२ अनन्तो वामकटको यज्ञसूत्रं तु वासुकि:।
तक्षका: कटिसूत्रं तु हार: कार्कोट उच्यते॥
पद्मो दक्षिणकर्णे तु महापद्मस्तु वामके।
शङ्ख: शिरप्रदेशे तु गुलिकस्तु भुजान्तरे॥
पौण्ड्रकालिकनागाभ्यां चामकाभ्यां सूवीजितम्।
एलापुत्रकनागाद्यै: सेव्यमानं मुदान्वितम्॥—ग० उ० २-४।

४०२ गुलिक—गोली (ग्रन्थि) वाला। सविष होना चाहिए।

४०३ पौण्ड्रकालिक—दक्षिण में पौण्ड्र नाम का एक देश स्वतन्त्र राज्य था। पौण्ड्र देश में रहनेवाला काले रङ्ग का बरसात में विचरनेवाला साँप।

कार्कोट—कर्कोटक (सं० २१६) ही होगा।

एलापुत्रक—एलापत्रक (सं० २२२) ही होगा।

नारायण शर्मा[१] के नये साँप

तेरहवीं सदी में नारायण शर्मा ने दो नई जातियाँ लिखी हैं। उनके नाम ये हैं—

४०४ अब्ज

४०५ महाम्बुज

बौद्ध साहित्य के साँप

बौद्ध साहित्य में साँपों के चार राजवंश मिलते हैं[२]—

४०६ विरूपक्ख—विरूपाक्ष।

४०७ इरापथ—इरावती नदी के पथ पर पाया जानेवाला।

४०८ चण्ड्यपुत्त

४०९ कण्हगोतम

बौद्ध साहित्य में कुछ अन्य साँपों का वर्णन भी आया है। उन सबके नाम लिखे हुए नहीं मिलते। कुछ साँप ये हैं—

४१० महोरग—बहुत बड़ा साँप है। लम्बाई में एक हजार योजन होता है।[३]

अजगर[४]—सं० १२३ देखें।

४११ अजागार—श्रीयुत बी० सी० लॉ ने इसे बोआ कन्स्ट्रिक्टर नाम दिया है।[५]

४१२ एक साँप का रङ्ग ऐसा सफेद दीखता है जैसे कि विशुद्ध चाँदी की कुण्डली हो।[६]

४१३ एक साँप का सिर लाल ऊन के गोले सदृश होता है।[७]

४१४ शरीर हल के सिर के सदृश मोटा है।[८]

१—शेषवासुकितक्षाख्यकर्कोटाब्जमहाम्बुजाः।
सशंखपालगुलिका अष्टौ नागाः पुराऽभवन्॥—वि० वै०, प० १, ६।

२—देखें: कन्धवत्त जातक, संख्या २०३।

३ देखें: सूत्रकृताङ्ग, २. ३. १४।

४ देखें: मिलिन्द, पृ० ४०६।

५ देखें: इण्डियन कल्चर, जुलाई, सितम्बर १९४१, में लेख—एनिमल्स इन अर्ली जैन एण्ड बुद्धिस्ट लिटरेचर।

६ देखें: जातक सं० ५०६।

७ देखें: ,, ,,

८ देखें: ,, ,,

४१५ जाँघ के सदृश मोटे शरीरवाला साँप।[१]

४१६ जब गुस्से में होता है और अपने नथुनों से फुंकार मारता है तो जिस मनुष्य को वह हवा छू जाय उसका शरीर इस तरह जीर्ण-शीर्ण हो जाता है जिस तरह मुट्ठी भर तूड़ी बिखर जाती है।[२]

दिव्य साँप

संस्कृत लेखकों ने साँपों के दो मोटे विभाग किये हैं।[३] पहले विभाग में जमीन पर रहनेवाले भूसर्प हैं। इन्हें वे भौम सर्प कहते हैं। इनका परिगणन हमने पिछले पृष्ठों में किया है। दूसरे विभाग में द्युलोक में रहनेवाले साँप आते हैं, जिन्हें वे दिव्य सर्प नाम देते हैं। यह कहना कठिन है कि दिव्य सर्पों से उनका किन साँपों से अभिप्राय है।

सुश्रुत दिव्य साँपों की संख्या असंख्य समझते थे। अपने ग्रन्थ में उन्होंने वासुकि और तक्षक ये दो ही गिनाये हैं।[४] दूसरे लेखकों ने इन्हें भूसर्पों में गिनाया है। वासुकि, तक्षक और अनन्त के अतिरिक्त वाग्भट[५] ने निम्नलिखित दिव्य सर्प नये गिनाये हैं।

४१७ सगर—सिन्धु सर्प (Sea Snake) होगा।

४१८ सगरालय—जिसका घर (आलय) समुद्र (सागर) है।

४१९ नन्द।

४२० उपनन्द—छोटा नन्द।

प्राणिशास्त्र के आधुनिक विद्वानों के अनुसार भारत की सीमाओं के अन्दर साँपों की तीन सौ तीस जातियाँ मिलती हैं। संस्कृत साहित्य में वर्णित साँपों की जातियाँ हमने

१—देखें : जातक सं० ५०६

२—देखें : " "

३—दिव्यभौमविभागेन द्विविधाः पन्नगाः स्मृताः।—अ० सं०, उ०, अ० ४१।

४—असंख्या वासुकिश्रेष्ठा विख्यातास्तक्षकादयः।
महीधराश्च नागेन्द्रा हुताग्निसमतेजसः।
ये चाप्यजस्रं गर्जन्ति वर्षन्ति च तपन्ति च।
ससागरगिरिद्वीपायैरियं धार्यते मही॥
क्रुद्धा निश्वासदृष्टिभ्यां ये हन्युरखिलं जगत्।—सु०, क०, अ० ४।

५—वासुकिस्तक्षकोऽनन्तः सागरः सागरालयः॥
तथा नन्दोपनन्दाद्याः समिद्धाग्निसमप्रभाः।
दिव्या गर्जन्ति वर्षन्ति द्योतन्ते द्योतयन्ति ते॥
धारयन्ति जगत्कृत्स्नं कुर्युः क्रुद्धाश्च भस्मसात्।
दृङ्निश्वासैः ....॥—अ० सं०, उ०, अ० ४१।

चार सौ बीस गिनाई हैं। सौति ने जो साँप गिनाये हैं उनमें से कुछ तो निश्चित रूप से भारत से बाहर के देशों के हैं। सौति ने स्वयं भी लिखा है कि देश-देशान्तरों से सर्पसत्र के लिए पकड़ कर लाये जाते हुए असंख्य साँपों में से कुछ ही के नाम मैं गिना रहा हूँ। इन चार सौ बीस नामों में कुछ तो एक दूसरे के पर्याय हो सकते हैं परन्तु बहुत सारे साँप विदेशों के भी हैं। इस अध्ययन से पता चलता है कि साँपों-सम्बन्धी जो गौरवमय ज्ञान भारत ने कई हजार साल पहले प्राप्त किया था उसमें तेरहवीं सदी तक भी वृद्धि होती रही। सर्प-विद्या का ऐसा विस्तृत अध्ययन हमें किसी भी देश के प्राचीन साहित्य में नहीं उपलब्ध होता।

मनोविश्लेषण और योगचिकित्सा

डाक्टर दुर्गाशंकर नागर, सम्पादक 'कल्पवृक्ष'

आजकल अर्वाचीन मानसशास्त्र की बहुत चर्चा है जिसके आचार्य फ्रायड महाशय हैं। अचेतन मन की कल्पना फ्रायड महाशय ने की है, ऐसा नवीन मनोविज्ञान के मतवादियों का कथन है; किन्तु बात ऐसी नहीं है। मन के दो भागों का अध्ययन तो पूर्व से ही चला आ रहा है। ल्युज नाम के पाश्चात्य मनोविज्ञानाचार्य कहते हैं:— "The teaching of most modern psychologists is that consciousness forms but a small item in the total of physical processes. Unconscious sensations, ideas and judgments are made to play a great part in their explanations. It is very certain that in every conscious volition —every act that is so characterised the larger part of it is quite unconscious. It is equally certain that in every perception there are unconscious processes of reproduction and inference—there is a middle distance of sub-consciousness and a background of unconsciousness." अर्वाचीन मानसशास्त्रवेत्ताओं का यह शिक्षण है कि समग्र शारीरिक क्रियाओं में चेतन मन बहुत ही अल्प अंश में हेतभूत होता है। अचेतन अवस्था (अभानावस्था) की भावना, आवेश, विचार तथा निश्चय ही मूलभूत कारण हैं। यह बात निश्चय से निर्णय की हुई है कि प्रत्येक ऐच्छिक कार्य का, अर्थात् जो जो कार्य इच्छा के वेग से किये जाते हैं उनका, उत्पत्तिस्थान अचेतन मन है। जो जो विषयानुभव हमको होते हैं उनका मूल कारण अचेतन मन में पड़े हुए निश्चय ही हैं। अंतर्भान की अवस्था या अज्ञात मन का—कोई भी विचार, भावना या वासना चेतन मन में आने के पूर्व अज्ञात मन के गर्भ भाग में रहते हैं। जिस वस्तु का हमें भान या ज्ञान होता है वह समग्र ज्ञान, अज्ञात और अज्ञेय के ही रचना-भंडार से प्रकट होते हैं।

हमारे सचेतन शरीर में जिन प्रवृत्तियों का अनुभव होता है वे विचारमय, भावनामय और काममय होते हैं। बाह्य जगत् के सन्निकर्ष से जो संवेदन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा मस्तिष्क में पहुँचता है और संस्कारानुसार स्वरूप के विषय का जो मनोव्यापार करता है उसे अँगरेजी में Thought (विचार) कहते हैं। यह विचार करने की गुप्त शक्ति पोषण, अभ्यास तथा देशकाल की सामग्री के अनुसार अभिव्यक्त होती है।

मन के अंतर्व्यापार का दूसरा वर्ग भावना है—इसमें पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान मात्र ही होता है। इतना ही नहीं, किन्तु अभिमानी को हर्ष, शोक, भय, व्याकुलता इत्यादि भिन्न भिन्न मानसिक स्थितियों का अनुभव होता है। इस प्रकार विकृति उत्पन्न करनेवाले पदार्थगत सामर्थ्य में संलग्न होनेवाले मनोव्यापार को feeling (भाव-भावना) कहते हैं।

तीसरा मनोव्यापार, जो बिना बाह्य प्रेरणा की अपेक्षा से अभिमानी में स्वाभाविक होता है वह, स्वतंत्र इच्छा-संकल्प-कामना होती है जो इन्द्रियों को जगत् के कार्य में प्रवृत्त करती है। ये कामनामय मनोव्यापार हैं। ये एक दूसरे से इतने घनिष्ठ संबंधित हैं कि उनकी भिन्न गणना नहीं हो सकती। जरा हम अग्नि के छूने से जल गये कि तुरंत ही दुःख की भावना का अनुभव करते हैं। यह दुःख क्यों हुआ, कैसे हुआ, इत्यादि ज्ञान और उसकी निवृत्ति का उपाय मनुष्य ज्ञान और प्रयत्न द्वारा करता है। यह भावनामय व्यापार है।

हमारे शास्त्रों की परिभाषा में समग्र मनोव्यापार अथवा अंतःकरण के परिणामों को वृत्तियाँ कहते हैं। ज्ञान (Knowing), भावना (Feeling) और कामना-इच्छा (Willing) इन त्रिविध मनोव्यापारों का स्वरूप अंतःकरण है। मन (Feeling), बुद्धि (Knowing), चित्त (Willing) ये विचार के तीन विभाग हैं—ज्ञान, इच्छा और क्रिया। मन सुख-दुःख का भान करता है, बुद्धि ज्ञान प्राप्त करती है और चित्त प्रेरणा करता है। प्राचीन अध्यात्मशास्त्र में अंतःकरण के चार विभाग किये हैं : मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। प्रत्येक मनोव्यापार के भीतर Cognition (ज्ञानवृत्ति), feeling (भोगवृत्ति) और conation (क्रियावृत्ति), ये तीन वृत्तियाँ प्रधान रूप से काम करती हैं।

भावना की उत्पत्ति के पूर्व इन्द्रियों में क्षोभ होता है। क्षोभजन्य संस्कार ही विचार को उत्पन्न करते हैं और विचार के द्वारा अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुःख का जो भान होता है, इसी में भावना (feeling) का जन्म होता है। इन्द्रियक्षोभ का द्वार बंद हो जाय तो अनुभव में विचार और भावनाओं का मानस क्षेत्र में पता ही नहीं लग सकता। कुछ विद्वानों का कथन है कि भावना का मूल कारण शरीर के अणुओं का विकार या विकृति है। निम्नवर्ग के प्राणियों में विचारमय जीवन की अपेक्षा भावनामय जीवन अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है। सचेतन अणु में भावना बीजरूप से होती है। पुराने विज्ञानवेत्ता वेन, स्पेंसर और जेम्स इसी मत के समर्थक हैं। प्राणी अज्ञान दशा में होते हुए भी (instinct) स्वरक्षणार्थ बाह्य द्रव्य के अणुओं को अपनी ओर खींचते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अनुकूलता और प्रतिकूलता की (feeling) भावना, विचार-उत्पत्ति के पूर्व उदित होती है।

सांख्ययोग यह प्रतिपादित करता है कि चित्तसत्व के द्रव्य में असंख्य भोग और वासना (instinct) के संस्कार रहते हैं और वे ही सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, राग-द्वेष के रूप में सब प्रकार की भावनाओं (feelings) को जन्म देते हैं। क्या शरीर के सूक्ष्मतम तंतुओं में सूक्ष्म वासनाओं से क्षोभ उत्पन्न होता है और पश्चात् भावना का जन्म होता है, या अनुकूल-प्रतिकूल भावों का भान होने के पश्चात् भावनाएँ उदित होती हैं? अधिकतर तो विद्वानों का यह मत है कि अनुकूलता और प्रतिकूलता का ज्ञान ही भावना का जन्मदाता है। किन्तु अधिक गंभीर विचार से यह निर्णय होता है कि भावनाओं का आधार तन्तुक्षोभ पर निर्भर है और तंतुक्षोभ वासनाओं पर अवलम्बित है। सुख दुःख के अनुभव करने की शक्ति को ही बहुत से लोग भावना कहते हैं किन्तु अनुभव के पूर्व की बात अर्थात् तन्तुक्षोभ के वेग को वे लोग भूल जाते हैं। वासनाजन्य तन्तुक्षोभ—वासनाओं के सूक्ष्म वेग से क्रियातन्तुओं में क्षोभ होता है—भावना का आदि-स्वरूप है।

सुख-दुःख का ज्ञान होने के पूर्व मनोभूमि में जो क्षोभ होता है वह भावना का प्रथम स्वरूप है।

बीजभूत भावना, जिसे instinct कहते हैं, और तज्जन्य क्षोभ के स्वरूप को जानने के लिए ही योग का अध्ययन परम आवश्यक है।

मानसशास्त्रवेत्ता रिबट ने चार प्रकार की प्राथमिक भावनाएँ जीव प्राणियों में स्वीकार की हैं (१) अनुकूलता की भावना, (२) प्रतिकूलता की भावना, (३) निष्कारण भय की भावना, (४) निष्कारण चित्त का क्षोभ होकर उद्विग्न हो जाने की भावना। क्रोध भी इसी का परिणाम है। चित्त में क्षोभ या उद्वेग होने से सहज निमित्त कारण मिलने पर मनुष्य क्रोधित होकर आगबबूला हो जाता है। ये सब चित्त की अवस्थाएँ विवेक या विचार के पूर्व उत्पन्न होती हैं।

इन भावनाओं को योगशास्त्र क्लेश संज्ञा से वर्णन करता है। इनसे चित्तसत्व में भेद-भाव का जन्म होता है। चित्त की विकृतियों का मूलकारण भेद-भावना ही है। जब तक 'पृथक् व्यक्ति रूप में हूँ और सब प्रपंच मेरा भोग्य है' यह द्वैत भावना है तभी तक दुःख-सुख, अनुकूल-प्रतिकूल की भावनाएँ चित्त में विकार पैदा करती रहेंगी। यही भेद-भाव, अविद्या है। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः (योगसूत्र, साधनवाद ३) १ अविद्या, २ अस्मिता, ३ राग (अनुकूल भाव), ४ द्वेष (प्रतिकूल भाव), ५ अभिनिवेश (मृत्यु का भय)। जो हमको भेद-भाव नजर आता है वह अविद्या है और इस अविद्या ही से अन्य भावनाओं की उत्पत्ति होती है। अनुकूल और प्रतिकूल भावना, रागद्वेष के पर्याय हैं। पृथक् व्यक्तित्व की भावना अभिमान से पुष्ट होकर मरणभयरूपी भावना (अभिनिवेश) का कारण है। क्षोभ, अस्मिता और द्वेष का मिश्र रूप है जो परिणाम में क्रोध रूप प्रकट होता है। चित्तक्षोभ का कारण बलवान् अभिमान और द्वेष है। विरोधी प्राणी अथवा पदार्थ पर जो द्वेष प्रकट होता है वही क्रोध बीजभूत क्षोभ में परिवर्तित होकर अस्मिता का रूप धारण करता है। पुरुष भोक्ता है और बुद्धि भोग्य है। ये दोनों भिन्न हैं। इन दोनों में भेद प्रतीत न होना अस्मिता है। बुद्धि जो अनात्म वस्तु है उसमें आत्मबुद्धि करना अस्मितावृत्ति है। अविद्या कारण है और अस्मिता कार्य है। यह अस्मिता ही हृदयग्रंथि है। यह क्लेश जीवन के उद्गम के साथ ही सहभाविनी है और जब तक हम अपने स्वरूप का अनुसंधान करके साक्षात्कार नहीं कर लेते तब तक इस क्लेश का अंत नहीं होता।

वासनामय भावना-प्रदेश का उल्लंघन करने पर शरीर-निर्वाह-संबंधी भावना का उदय होता है। क्षुधा-पिपासा तथा विराम लेने की इच्छा शरीर के निर्वाह के लिए शरीर के जन्म के साथ ही उत्पन्न होती है। इन वृत्तियों को आरंभ से ही सुमार्ग पर लगाने की आवश्यकता है जिससे सामाजिक, धार्मिक तथा सौन्दर्यविषयक उदार भावनाएँ व्यक्ति में प्रकट होती हैं। इन्हीं के उच्छृंखल होने से या कुमार्ग की ओर प्रवृत्त होने से अनाचार की वृत्तियाँ प्रकट होती हैं।

इन्द्रियवृत्ति (Sensation) से प्रमाणवृत्ति (Perception) और प्रमाणवृत्ति से भावना (Feeling) तथा मनोभाव (संवेग=Emotion) प्रकट होते हैं। प्राणी के जन्म के दूसरे ही दिन भय का पहला मनोभाव (emotion) प्रकट होता है, ऐसा प्रेयर नाम के

विद्वान् का मत है। डार्विन इस मनोभाव को जन्म के चौथे मास में स्वीकार करता है। एक अन्य मानसशास्त्री दूसरे मास के अंत में मानता है। उसका कथन है कि शब्दजन्य कर्णेन्द्रिय तंतुक्षोभ से तथा रूपजन्य नेत्रेन्द्रिय के तंतुक्षोभ से इस मनोभाव का जन्म होता है।

हमारे आर्यशास्त्रकार इस मनोभाव को इस प्रकार कहते हैं: 'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा-रूढोऽभिनिवेशः' (योगदर्शन, साधनपाद, ९)। हरेक प्राणी में यह अभिनिवेश क्लेश – डर का भाव कुदरती तौर से वह रहा है। छोटे से कृमि से लेकर विद्वान् तक में यह मौजूद है। जन्म-जन्मान्तरों से है। स्वरक्षण की वासना से भय का मनोभाव प्रकट होता है और विध्वंसक वासना से क्रोध का मनोभाव उत्पन्न होता है। यह साढ़े तीन मास पश्चात् प्रकट होता है। क्रोध के पश्चात् स्नेहरूप मनोभाव का जन्म होता है। इसके अंकुर दूसरे मास में दिखाई देते हैं। स्नेह के विकास से ही बालक हास्य करता है और फिर सरल और मृदु चेष्टाएँ करने लगता है। मिसेज मूर, जिन्होंने अपने बालक की मानस-शक्ति का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया था, कहती हैं कि उनके बालक के नेत्र में आँसू दसवें दिन आये, उसको सुखमय अवस्था का भान छठें दिन होने लगा, सातवें दिन अपने पिता की ओर जाने का क्षोभ प्रदर्शित कर वह बार बार हँसता था और बीसवें दिन दूसरे मनुष्यों को देखकर विचारपूर्वक हँसता था। ये तीन मनोभाव मनुष्यों में ही नहीं, सब प्राणियों में समान रूप से दिखाई देते हैं। इस वृत्ति के पश्चात् ही अहंवृत्ति (Self-feeling or Egoistic emotion) का उदय होता है। मानव प्राणी कम से कम तीन वर्ष में अपने व्यक्तित्व का भान करता है और तदनंतर गर्व, लोभ आदि विकार प्रकट होते हैं। अंत में प्राथमिक मनोभाव काम है। ये पाँचों मनोभाव भय, क्रोध, स्नेह, अभिमान और काम सर्वसाधारण में समान हैं। ये आपस में एक दूसरे के साथ अभिन्न संबंध रखते हैं। यह बात नहीं है कि जहाँ भय हो वहाँ क्रोध की जरूरत नहीं है, या क्रोध हो वहाँ स्नेह नहीं होगा। सुख-दुःख अनपेक्ष नहीं हैं।

इन पाँच प्रकार की मनोभावनाओं का कारण सूक्ष्म वासनाएँ और भावनाएँ हैं।

बालकों के मन का वर्तमान समय के मनोवैज्ञानिकों ने बहुत कुछ अध्ययन किया है। स्टेनले, मेडूगल, फ्रायड, होमरलेन ने बाल-मनोविज्ञान (Child Psychology) का चित्त विश्लेपण पद्धति के द्वारा अनुसंधान करके बहुमूल्य कार्य किया है। बाल-मनोविज्ञान बताता है कि किस प्रकार बच्चों में भय के मनोभाव और संवेग उत्पन्न हो जाते हैं; और किस प्रकार उनके मस्तिष्क पर प्रभाव डालकर अचेतन मन में स्थान प्राप्त कर लेते हैं और भावी जीवन को मटियामेट कर देते हैं। माता, पिता और शिक्षकों को बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन करना कितना परम आवश्यक है जिससे वे अपनी संतान को चरित्रवान् और सुयोग्य बना सकें। जिस मनुष्य को साधारण मनोविज्ञान का ज्ञान नहीं है वह बच्चों की शारीरिक और मानसिक चेष्टाओं को और उनके मन में चलनेवाली क्रियाओं को समझ नहीं सकते। बच्चा अपने चित्त की वृत्ति और भावनाओं के अनुसार कार्य करता है। उसके भाव और विचार का निरीक्षण करना चाहिए। बालकों के जीवन-विकास के लिए

अभिभावक और शिक्षकों को उत्तम संस्कार डालना चाहिए जिससे वे उत्तम बातों का अनुसरण कर सकें और उनमें सद्‌गुणों का विकास हो।

मेस्मरिज्म, हिप्नाटिज्म और नवीन मनोविज्ञान

चित्त-विश्लेषण-पद्धति (Psycho-analysis) के जन्मदाता फ्रायड महाशय हैं जो वर्तमान समय में मानसिक रोगों के प्रसिद्ध चिकित्सा करनेवाले थे। इनके पूर्व पाश्चात्य देशों में कई मानस-चिकित्सक हो गये हैं। उनमें मेस्मर का नाम प्रसिद्ध है, जिनके नाम से मेस्मरिज्म प्रचलित हुआ है। मेस्मर के कथनानुसार शारीरिक और मानसिक रोग हस्तसंचालन (Passes) द्वारा दूर किये जा सकते हैं। प्रयोगकर्ता की विचार-शक्ति के द्वारा उसके शरीर से एक प्रकार की विद्युत्-धारा (Magnetic current) निकलती है जो चुम्बकीय शक्ति से मिलती-जुलती है, और, रोगी के रुग्ण भाग पर हाथ फेरते समय उँगलियों के पोरों द्वारा उसमें प्रवेश करके रोग-निवारण करती है। डाक्टर मेस्मर ने एक रोगी को नश्तर लगाकर रुधिर निकाला और उस पर हाथ फेर दिया और तुरंत ही रुधिर का निकलना बंद हो गया। जो प्रभाव लोहचुम्बक से होता है वही प्रभाव मनुष्य के हाथ से होता है। उसका नाम animal magnetism (प्राणाकर्षण) रखा। मेस्मर का प्रभाव यूरोप में इतना पड़ा कि जहाँ जाते, हजारों मनुष्यों की भीड़ लग जाती। उनके आगमन की सूचना के पहले हजारों तम्बू लग जाते। मेस्मर ने अपने सिद्धान्तों को २१ भागों में विभाजित किया है। डाक्टरों ने उनके सिद्धान्तों का प्रबल विरोध किया, फिर भी उनके लाखों समर्थक रहे। उनके एक शिष्य ने Somnabulism (स्वप्नचारिता) का पता लगाया।

डाक्टरों की एक समिति मेस्मर के सिद्धान्त का परीक्षण करने के लिए कायम हुई थी, जिसने मेस्मर के विरुद्ध निर्णय दिया और बताया कि मनुष्य के शरीर में कोई चुम्बक-शक्ति नहीं है। इसका कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है। रिपोर्ट के प्रकाशित होने के पश्चात् मेस्मर पेरिस छोड़कर जर्मनी चले गये और सन् १८१५ में उनकी मृत्यु हुई। बर्लिन में डाक्टरों ने उनका एक स्मारक स्थापित किया।

हिप्नाटिज्म

सन् १८४१ में मैनचेस्टर के डाक्टर ब्रेड ने एक फ्रांसीसी के द्वारा मेस्मरिज्म का एक सार्वजनिक प्रदर्शन देखा जिसमें उसने एक व्यक्ति को प्रयोग करके सुला दिया था। ब्रेड ने अपने परिवारवालों पर प्रयोग किया जिसमें हाथ फेरने से वे निद्रा-अवस्था में चले जाते थे। उसने अनुसंधान से जाना कि प्रयोगकर्ता से कोई चुम्बकीय धारा निकल कर दूसरे में प्रवेश करके सुला देती है, इस सिद्धान्त में कोई सत्य नहीं है। डा० ब्रेड का कथन था कि निर्निमेष दृष्टि से टकटकी बाँध कर किसी पर देखने से उसके नेत्र थक जाते हैं और वह निद्रावस्था में चला जाता है। मस्तिष्क का अग्रभाग निश्चेष्ट हो जाता है, और रोगी या मनुष्य, जिस पर प्रयोग किया जाता है, विचार-शक्ति का उपयोग नहीं कर सकता—शरीर और मन निश्चेष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था को उसने Hypnosis (हिप्नासिस) कहा और हिप्नाटिज्म के नाम से उसका सिद्धान्त प्रचलित हो गया। किसी

चमकीली वस्तु पर पात्र की दृष्टि जमा कर उसको बार बार कहा जाय कि "तुमको निद्रा आ रही है—मधुर नींद आ रही है—तुम्हारे तंतु थक गये हैं, सो जाओ।" और वह सो जाता है। ब्रेड के परिश्रम से हिप्राटिज्म को वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया और उस समय इसके द्वारा बड़े बड़े आपरेशन—शल्यक्रिया—रोगियों पर किये गये। इस समय क्लोरोफार्म का आविष्कार नहीं हुआ था। डा० एसडेल प्रेसिडेन्सी सर्जन कलकत्ता ने २७० बड़े बड़े आपरेशन निद्रावस्था में रोगी को लाकर किये। बाद में क्लोरोफार्म के सहज उपाय से बेहोश हो जाने की प्रक्रिया से डाक्टर लोग सरलता से लाभ उठाने लगे। हिप्राटिज्म की क्रिया कठिन होने से और समय अधिक लगने से हिप्राटिज्म की महत्ता घट गई। इँगलैण्ड में हिप्राटिज्म को पुष्टि नहीं मिली।

पेरिस में डा० रिशे ने १८७५ में इस विषय के प्रयोग शुरू किये। डा० रिशे का अदृश्य शक्ति पर विश्वास था। इसलिए कुछ लोग इस पक्ष के विरोधी थे। डा० शार्को ने भी इस विद्या के प्रयोग शुरू किये। मेस्मेरिक निद्रा और हिस्टीरिया का निकट सम्बन्ध है और हिस्टीरिया के रोगी पर यह प्रयोग जल्द सिद्ध होता है, ऐसा डा० शार्को का मत था। डा० शार्को (Charcot) और जेनेट सालपेत्रिए अस्पताल में हिप्राटिक (निद्रित) अवस्था में रोगियों पर सूचना (Suggestion) देकर प्रयोग करते थे और अचेतन मन को जागृत करके रोग-निवारण करते थे। डा० फ्राइड (नवीन मनोविज्ञान के जन्मदाता), डा० शार्को और जेनेट के हिप्राटिज्म के प्रयोग से प्रभावित होकर उनके सम्पर्क में आये और देखा कि हिप्राटिक निद्रा में सूचना के द्वारा शारीरिक चिह्न प्रकट किये जा सकते हैं। रोगी को निद्रावस्था में सूचना दी जाय कि उसके शरीर का एक अंग जल गया है, या सूज गया है, पक्षाघात हो गया है, या शून्य हो गया है, या अंग में सुई चुभाने से भी दर्द नहीं होगा तो उस दशा में उसको किसी प्रकार का दर्द नहीं होगा। आज्ञा दी जाय कि हाथ नहीं उठा सकता तो हाथ नहीं उठा सकेगा। यदि कहा जाय कि अग्नि से जल गया है तो वह चिल्लाने लगता है। किन्तु जागृत दशा में उसे उसका भान भी नहीं होता। इन हिप्राटिज्म के प्रयोगों से फ्राइड महाशय को अचेतन मन की वास्तविकता का पता लगा। फ्राइड वियना आकर (Nerve Specialist) तन्तुरोग के विशेषज्ञ माने जाने लगे। अपने मित्र ब्रायर के साथ हिप्राटिज्म का अभ्यास और प्रयोग करते रहे। किन्तु हिप्राटिज्म की निद्रित अवस्था में जो कुछ होता था और कहा जाता था, जागृत अवस्था के आने पर उसका स्मरण नहीं रहता था जिससे रोगियों को पूरा लाभ नहीं होता था। मन के अचेतन और चेतन दोनों भागों को श्रृंखलाबद्ध करने से ही रोग-निवारण हो सकता है। डा० फ्राइड की यही मान्यता थी। इसलिए प्रारंभ में अर्धजागृत और अर्धनिद्रित अवस्था में प्रयोग करते रहे। शार्को और जेनेट के सिद्धान्तों को विकसित रूप में उन्होंने प्रकट किया। संपूर्ण मन के चार भाग हैं: अचेतन मन (Unconscious Mind), अर्धचेतन मन (Sub-conscious Mind), चेतनोन्मुख मन (Pre-conscious Mind) तथा चेतन मन (Conscious Mind)।

फ्रांस देश के पेरिस और नांसी दो शहरों के प्रमुख डाक्टर तथा विद्वान् मेस्मरिज्म, हिप्राटिज्म, मनोविज्ञान और अध्यात्मविद्या के प्रयोगों में बड़ा रस लेते रहते हैं। पेरिस

शाखा का मत है कि अदृश्य शक्ति या आत्मसूचना मेस्मेरिक या हिप्नाटिक निद्रा का कारण नहीं है। देहेन्द्रियों पर थकान आने से प्रभाव होता है। शरीर के मर्मस्थानों को दबाकर या जोर से पात्र के कान के पास ध्वनि करके या तीव्र प्रकाश के द्वारा नेत्रों को थकाकर निद्रा उत्पन्न की जाती है अथवा किसी चमकीली वस्तु पर त्राटक करके कृत्रिम निद्रा लाई जाती है। नांसी शाखा के संशोधकों का यह मत है कि किसी भी व्यक्ति को निद्रित अवस्था में लाने के लिए या प्रभावित करने के लिए उसके मन को बार बार सूचना देकर, युक्ति-प्रयुक्ति से, निद्रा की कल्पना उसके मस्तिष्क में प्रविष्ट करना चाहिए। उसे निद्रा आ रही है, यह भावना उसके हृदय में अंकित कर देना आवश्यक है। महाशय एमिली कुई नांसी आध्यात्मिक अनुसंधान शाखा के एक प्रसिद्ध मानसोपचारक हुए हैं जिनके द्वारा Auto-suggestion (आत्मसंकेतोपचार-पद्धति) का बड़ा प्रचार हुआ है। गुप्त मन या अंतर्मन (sub-conscious Mind) हमारी स्मरणशक्ति का भंडार है, यह अंतर्मन कभी सोता नहीं है। हमारा बहिर्मन—जागृत मन—या चेतन मन (Conscious mind) सो जाता है तब भी अंतर्मन काम करता रहता है। रात्रि को सोने के पूर्व यदि हम अंतर्मन को बार बार सूचना देते रहें कि "मुझे चार बजे उठना है, चार बजे उठना है" तो अंतर्मन ठीक उसी समय पर हमको जागृत कर देगा। आत्म-सूचना पद्धति के उपचार का मूल सिद्धान्त यह है: प्रत्येक भावना जो हमारे मन में आती है उसको यदि अंतर्मन या अचेतन वृत्ति ग्रहण कर लेती है तो वह सत्वस्थ होकर हमारे जीवन की स्थायी वृत्ति हो जाती है।

एमिली कुई महाशय ने मानसिक रोग, शारीरिक रोग और बुरी आदतों को दूर करने के लिए एक गुरुमंत्र बतलाया है। वह है Auto-suggestion (आत्मसूचना) "Day by day in every way I am getting better and better", (मैं दिन-प्रतिदिन सब प्रकार से उन्नत होता जा रहा हूँ.) इस भावना को, रात्रि को सोते समय, बीस बार दोहराते हुए निद्रा में प्रवेश करो। इस भावना के साथ हमारा चेतन मन सुप्त अवस्था में चला जाता है और अचेतन मन उस भावना को आत्मसात् कर लेता है। अधिक अर्थ-चिंतन की आवश्यकता नहीं है; आँखें मूँद कर शरीर को शिथिल करके बड़ी सरलता से इस भावना का जप करते रहो। धीरे से उच्चारण करने का प्रयत्न करो जिससे कान मधुर ध्वनि को सुन सकें। हम अपनी भिन्न भिन्न व्याधियों को मिटाने के लिए भिन्न भिन्न सूचना बना सकते हैं। इस पद्धति का सर्वत्र काफी प्रचार हुआ है।

मनोविश्लेषण और अंतर्द्वन्द्व

डा० फ्राइड, युंग, एडलर, जोन्स आदि की भी यही मान्यता है कि हमारा अचेतन मन ही हमारे समस्त व्यवहार और कार्य का उत्पत्तिस्थान है। अपनी भूलों, आशाओं, ऐबों, पापों सबको हम भुलाना चाहते हैं, वे इस अचेतन मन में जाकर दब जाते हैं। ये दबी हुई भावनाएँ ही रूपान्तरित होकर उदासीनता, हिस्टीरिया, मृगी, छुआ-छूत के रोग, गालियों और अपशब्दों की बौछार के रूप में प्रकट होती हैं, या सांकेतिक चेष्टाओं के रूप में नजर आती हैं। हमारे मानसिक रोगों, भयंकर स्वप्न तथा बेचैनी (Nervousness) का कारण भी यही है। चेतन मन और अचेतन मन के संघर्ष का

ही परिणाम नाना प्रकार के मानसिक रोग और पागलपन हैं। हमारे जीवन में कई ऐसी बातें हैं जिनको हम समाज के समक्ष प्रकट करना नहीं चाहते या कई हमारी अतृप्त और अनैतिक वासनाएँ हैं जिनकी तृप्ति में बाधा पड़ती है। इनको हमें बलात्कार से दबाना (Repress करना) पड़ता है। परिणामस्वरूप हमको अनेक मानसिक वेदनाएँ भुगतनी पड़ती हैं और हम पागल तक हो जाते हैं।

फ्राइड का मत है कि कामवासना के बलात् दमन के कारण ही मनुष्य के जीवन में वैयक्तिक और सामाजिक संघर्ष उत्पन्न होते हैं। उसने कामवासना को ही मूल शक्ति माना है। यह वासना छोटे से बच्चे में और युवा व्यक्ति में समान रूप से रहती है। इसके व्यक्त करने में भेद है। पुत्र का माता के प्रति प्रेम कामवासना का प्रथम रूप है, फिर संतानोत्पत्ति के रूप में पति का पत्नी के प्रति प्रेम होता है। जब मनुष्य अपनी वासनाओं को और अपने अनुचित विचारों को दबाता है और उनकी अप्रिय स्मृति को विस्मरण करना चाहता है तो वे अज्ञात मन की कोठरी में कहीं छिप जाते हैं। परन्तु फिर दूसरा विकराल रूप धारण करके मनुष्य को सदैव बेचैन बनाये रखते हैं। या तो मानसिक रोग के रूप में प्रकट होते हैं या शारीरिक रोग—लकवा, हिस्टीरिया, नेत्र-पीड़ा, आँखों से नहीं दीखना, हकलाना, बोली का बन्द हो जाना आदि में परिणत हो जाते हैं।

आत्महीनता की मानसिक ग्रंथि (Inferiority complex) शब्द आजकल बड़ा व्यापक हो रहा है। लज्जा, भय, शोक, पश्चात्ताप, आत्मग्लानि, दुःख-पीड़ा इत्यादि की मानसिक ग्रंथियाँ बचपन से ही मनुष्य के जीवन में आरंभ हो जाती हैं। प्रत्येक मनुष्य में किसी न किसी प्रकार की त्रुटि अवश्य होती है। उस पर बारम्बार विचार करते रहने से मनुष्य उसको और भी अधिक प्रबल बना देता है और उसको छिपाना चाहता है। फिर वह दोष दूसरों में देखने का प्रयत्न करता है।

फ्राइड महाशय की चिकित्सा-पद्धति में रोगी के अचेतन मन में दबी हुई भावनाओं की खोज करना होता है। रोगी को अपने समक्ष बिठाया जाता है। बार बार रोगी चिकित्सक के सम्पर्क (Free association) में आता है। चिकित्सक उससे बड़े प्रेम से वार्तालाप करता है। रोगी की दमन की हुई वासनाओं को चेतन मन की सतह के ऊपर लाया जाता है। रोगी तो उन स्मृतियों को भूला हुआ है। चिकित्सक उसके स्वप्न, स्वप्न के संकेतों (Interpretation of dream symbols), हाव-भाव तथा विचारों का अध्ययन करता है और विश्लेषण की क्रिया द्वारा उसकी छिपी हुई वासना को, उसकी गुप्त से गुप्त बात को जो बचपन से उसके अज्ञात मन में दबी हुई है, उद्घाटित करता है। यह Mental catharsis (मानसिक विरेचन) की प्रक्रिया अज्ञात मन में दबे हुए संवेग, मनोभाव, कामवासना, घृणा, द्वेष, डाह, आत्मतिरस्कार की मानसिक ग्रंथियाँ आदि को चेतन मन के समक्ष लाकर बुद्धि-विवेक के द्वारा उसके जीवन की विषमता को दूर कर देते हैं। रोगी का मस्तिष्क और शरीर स्वस्थता का भान करने लगता है। केवल मानसिक ग्रंथि के कारण और उसकी दुःखद स्मृति को चेतन मन के समक्ष रखने तथा जान लेने मात्र से रोग नष्ट नहीं होता किन्तु आत्मा से उस दोष को स्वीकार करके भविष्य में न करने का निश्चय करना चाहिए। और फिर अपनी मनोवृत्ति को किसी उच्च विचार या

उच्च भावना में Sublimate करना है अर्थात् उच्चता की ओर लगाना है और अपनी स्वार्थ-केन्द्रित वासना को किसी पारमार्थिक मार्ग में लगाकर अपने जीवन को उच्च और पवित्र बनाना है। यही Psycho-analysis (चित्त-विश्लेषण) का (Sublimation, Transmutation) मार्गान्तरीकरण है।

योगचिकित्सा-पद्धति

भारतीय समाज में चित्त-विश्लेषण चिकित्सा-पद्धति को किस प्रकार प्रचलित किया जाय, यह प्रश्न बड़ा गंभीर है। मानव-प्रवृत्ति तो अखिल विश्व में एक प्रकार की ही है, इसलिए विज्ञान के अनुसंधान सभी के लिए हितकर हैं। हमारा भारतीय नारी-समाज अनेक मानसिक रोगों का शिकार है। यहाँ लज्जा को शील का विशेष अंग माना गया है। उनकी मानसिक ग्रंथियों का उद्घाटन कैसे किया जाय और किस प्रकार उनके रोग दूर किये जायँ? कुछ समय पूर्व, दो महिलाएँ चिकित्सार्थ आई थीं। उनको washing mania (छुआछूत का) मानसिक रोग था। दिन भर में दस बार स्नान करती थीं। सैकड़ों बार हाथ धोती थीं। बच्चों को कई बार नहलाती थीं। सदैव भयभीत रहती थीं कि किसी का थूक उड़कर उन पर न आ जाय। अपने कपड़ों को घुटनों से ऊँचा रखती थीं कि कहीं मेहतर की झाड़ू से धूल उड़कर न लग जाय। बर्तनों को कई बार माँजती थीं और उनको अपनी पवित्रता का बड़ा ध्यान था। वे अपने इस मानसिक आवेग को रोकने का प्रयत्न करती थीं जिससे उस प्रकार की चेष्टाएँ न होने पावें, फिर भी प्रबल मानसिक आवेग बलात्कार से उनको इस ओर प्रवृत्त करता रहता था। ध्यान-चिकित्सा से वह दूषित भावना और बारंबार का आवेग १५ दिन में (frustrate) छिन्न-भिन्न हो गया। अब वह महिला दस बार स्नान के बजाय दो बार स्नान करती है और उसका भ्रम दूर होकर चित्त स्वस्थ हो रहा है। कई ऐसे धर्माचरण करनेवाले लोग धार्मिक उन्माद (Religious Mania) के शिकार होकर विक्षिप्त दशा में ऐसी अश्लील गालियाँ बकते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। स्वप्न में भी कल्पना नहीं की जा सकती कि वे इस प्रकार का आचरण करेंगे। बहुत से इस प्रकार के भूतोन्माद तथा प्रेतबाधा के और मानसिक रोगी आध्यात्मिक वातावरण में निवास करने से या सम्पर्क में आने से स्वस्थ हो जाते हैं और उनका रोग नष्ट हो जाता है या किसी महान् आत्मा के संकल्प-बल से छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। अमेरिका के सुप्रसिद्ध अध्यात्मवेत्ता इमर्सन (Emerson) के ये शब्द कितने यथार्थ हैं: Great men are they who see that spiritual force is stronger than material force, that thoughts rule the world. जो भौतिक शक्ति की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्ति को अधिकतर जानते हैं वे महान् पुरुष हैं। विचार ही जगत् का नियमन करते हैं।

चित्त-विश्लेषण के आचार्यों का कहना है कि मानसिक या शारीरिक रोगी अपने गुप्त और छिपे हुए भावों को मानस-चिकित्सक के सम्मुख प्रकट कर देता है तो उसके विकार दूर हो जाते हैं। किन्तु हमारे यहाँ स्त्रियाँ इस प्रकार से अपना हृदय खोलने में बहुत संकोच करती हैं। मनोविज्ञानाचार्य युंग महाशय जब भारत में आये थे, तब एक

विद्वान् से देहली में मनोविश्लेषण को भारतीय जनता में विशेष रूप से हितकर बनाने के विषय में विचार-विनिमय हुआ था और उन्होंने कोई विशेष (टेकनीक technique) तरीका और आध्यात्मिक चिकित्सा पर विचार प्रकट किया था जिससे नूतन मनोविज्ञान और अध्यात्म का समन्वय होकर भारत में इसका अधिक उपयोग हो सके।

मनुष्य के चित्त की वृत्तियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। राग, द्वेष, घृणा, लोभ, मोह, तृष्णा आदि के सूक्ष्म मलिन संस्कार चित्त में जमे हुए हैं। उनको खुरच-खुरच कर निकालने की आवश्यकता है। तभी मन शुद्ध और पवित्र हो सकता है तथा मानसिक क्लेशों से छुटकारा प्राप्त हो सकता है। योगशास्त्र में चित्त की पाँच प्रमुख वृत्तियाँ बतलाई गई हैं—(१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र, (५) निरुद्ध। सारा विश्व सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से रचा हुआ है। चित्त इन्हीं गुणों का परिणाम-विशेष है। संसार में बाह्य पदार्थ असंख्य हैं, उनके कारण वृत्तियाँ असंख्य हैं। वृत्तियों के संस्कार चित्त के कोष में बड़े गहरे जमे हुए होते हैं। वृत्तियों का यह स्वभाव है कि वे अपने सदृश संस्कार उत्पन्न करती हैं।

योग का द्वितीय सूत्र उपाय बतलाया है कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात् चित्तवृत्तियों का रोकना योग है। बाह्य जगत् का दृश्य चित्त पर संस्कार अंकित करता है और चित्त एक नये आकारवाला बन जाता है। इसी आकार को वृत्ति कहते हैं। पहले पाँच क्लेशों—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश का वर्णन कर चुके हैं। अविद्या ही सब क्लेशों का मूल है। 'अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्' (योगदर्शन, साधनपाद, ४)। १ प्रसुप्त, २ तनु, ३ विच्छिन्न, ४ उदार, इन चारों का क्षेत्र अविद्या है। प्रसुप्त जो सोये हुए हैं, तनु जो सूक्ष्म हैं, विच्छिन्न जो टूट गये हैं, उदार जो वर्तमान हैं। १ जो क्लेश चित्तभूमि में स्थित हैं किन्तु अभी जाग्रत नहीं हुए हैं वे प्रसुप्त हैं। २ काम करने की शक्ति शिथिल हो जाने से या सामग्री न मिलने से, रागद्वेष के त्याग से तनु क्लेश सूक्ष्म हो गये हैं। ३ विच्छिन्न जो क्लेश टूट गये हैं और ४ उदार जो क्लेश अभी वर्तमान हैं। वर्तमान क्लेश तो मनुष्य को दुखी करते रहते हैं किन्तु प्रसुप्त, तनु और विच्छिन्न क्लेश सूक्ष्म रूप में रहते हैं। इन सबका मूल कारण अविद्या है और इसके नष्ट हो जाने से सब नष्ट हो जाते हैं।

योग ने क्लेशों के दूर करने का सरल उपाय बतलाया है 'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः' (साधनपाद ११)। ध्यान से त्यागने योग्य हैं ये वृत्तियाँ, जो क्लेशदायक हैं। क्लेशों को दूर करने का उपाय यह है कि उनको क्रियायोग से सूक्ष्म करो। उनके दोषों को ध्यान में लाओ। तुमको रागद्वेष सता रहे हैं तो क्रिया-योग का अनुष्ठान करो। ध्यान की शक्ति से अपने दोषों को ध्यान में लाओ। अग्नि तुमको जला देगी इसलिए तुम जिस तरह उसमें हाथ नहीं डालते, उसी तरह द्वेष तुम्हें जला रहा है, इसका तुम अनुभव करो। तुम स्वयं जल रहे हो। ध्यान के बल से इस क्लेश को बाहर हटा दो। राग, द्वेष और मोह ये तीन क्लेश कार्य में प्रवृत्त करते हैं। इनको नष्ट कर दो। चित्त का स्थूल और सूक्ष्म मल—तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान क्रिया योग द्वारा नष्ट होता है।

'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि' (साधनपाद)। तप—शीत-उष्ण, सुख-दुख, मान-अपमान आदि जो द्वन्द्व है उनको सहन करना तथा शुद्ध सात्विक अन्न और भोजन सेवन करना। स्वाध्याय—उच्च पवित्र ग्रंथों का मनन और परमात्मा के नाम का जप। ईश्वर-प्रणिधान—सभी कार्य परमात्मा को समर्पण करना और उनके फल का त्याग करना। यही क्रिया-योग है। इससे मानसिक स्थूल क्लेश सूक्ष्म हो जाते हैं और फिर अंत में नष्ट हो जाते हैं। विवेकख्याति (निर्मल विवेक ज्ञान) का उदय होने से क्लेश-समूह नष्ट हो जाते हैं और निर्मल विवेक ज्ञान से ही मनुष्य को आत्मा का साक्षात्कार होता है।

व्याधि[1], स्त्यान[2], संशय, प्रमाद[4], आलस्य[5], अविरति[6], भ्रांतिदर्शन[7], अलब्ध[8], भूमिकत्व—अनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपाः तेऽन्तरायाः (समाधिपाद, योगदर्शन) १ शारीरिक रोग, ज्वर आदि, २ काम करने की योग्यता की कमी, ३ संशय—सदा चित्त में भ्रम बना रहना कि यह कार्य हो सकेगा या नहीं, ४ प्रमाद—जड़ता—अच्छी बातों के मालूम होने पर प्रमादवश न करना, ५ शरीर और मन का भारीपन, काम में मन न लगना, ६ विषयों में हमेशा तृष्णा बनी रहना, ७ मिथ्या ज्ञान होना, ८ चित्त की स्थिरता का अभाव, ९ चित्त का स्थिर होकर भी अपने अनुष्ठान में न ठहरना; ये आध्यात्मिक मार्ग की रुकावटें है—विघ्नबाधाएँ है।

'दुःखदौर्मनस्य अङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा: विक्षेपसहभुवः' (योगदर्शन, समाधिपाद, ३१)। १ दुःख-पीड़ा, २ दौर्मनस्य, इच्छा के पूर्ण न होने से मन में क्षोभ होना, ३ शरीर के अंगों का काँपना, ४ अपनी इच्छा के बिना बाहर से वायु का भीतर जाना, ५ बिना इच्छा के भीतर के वायु का बाहर जाना। ये सब विक्षेपों के साथ होते हैं—विक्षिप्त चित्तवालों को होते है।

'तत्प्रतिषेधार्थ मेकतत्वाभ्यासः'। इन विक्षेपों को रोकने के लिए एक तत्त्व में बार बार चित्त को लगाना चाहिए। या

(२) परमात्मा के पवित्र और श्रेष्ठ नाम का जप करना चाहिए। या

(३) 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुख-दुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्' (योगदर्शन, समाधिपाद)। मैत्री भावना का अभ्यास करें। सुखी पुरुषों में मित्रता की भावना रखें। दुखियों को देखकर करुणा-भावना आये और किस उपाय से उनका दुख दूर हो, ऐसी प्रेरणा हो। पुण्यात्मा को देखकर हर्ष की भावना हृदय में आरूढ़ रखे। पापियों के विषय में उदासीनता को हृदय में स्थान दें। इन उपायों से चित्त का मैल और क्लेश दूर हो जाता है जब मैत्री आदि शुद्ध भावना से चित्त निर्मल हो जाता है तो चित्त को वीतराग महापुरुष के चित्त में ध्यान के द्वारा पिरो देना चाहिए अर्थात् एकाग्र करके गड़ा दें। इस प्रकार ध्यान और संयम करने से सब मानसिक क्लेश और दुःख नष्ट हो जाते हैं। जब मनुष्य ध्यान के द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, तो दुःख-शोक लेशमात्र भी नहीं रहता।

'यस्मिन् सर्वाणिभूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनु-पश्यतः' (ईशोपनिषद्)। जिस अवस्था में पहुँचकर सब बाह्य जगत् आत्मा ही हो जाता

है, सर्वत्र आत्मा ही आत्मा को देख लेता है, जहाँ वहाँ एक आनन्दघन परमात्मा ही सामने है, वहाँ शोक और मोह को कोई जगह ही नहीं है।

अच्युतानन्द गोविन्द नामोच्चारणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगा: सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

अच्युत, आनन्द, गोविन्द, परमात्मा के पवित्र नामोच्चारण से सब रोग नष्ट हो जाते है। धन्वन्तरि भगवान् कहते है कि हे मनुष्यो! मैं सत्य कहता हूँ, मै सत्य कहता हूँ।

थोड़ी देर भी सच्चे हृदय से की हुई प्रार्थना, जप और ध्यान मनुष्य के हृदय में ऐसा अप्रतिहत प्रभाव डालते है कि उसका हृदय परम शांत हो जाता है और चित्त स्थिर हो जाता है।

जो कुछ नहीं होना चाहते हो उसको चित्त से हटा दो और जो कुछ होना चाहते हो उसको हृदय-पटल पर अंकित कर दो। योगी अपनी एकाग्रता शक्ति से अशुभ संकल्पो को—रोग, दोष और मृत्यु तक को—दूर कर देते है। नित्य कुछ समय ब्राह्मी भावना का अभ्यास करो। 'मै पंचभूतो का पुतला नहीं हूँ, मै आत्मा हूँ, मै शुद्ध सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप आत्मा हूँ, मै चिदानंदघन आत्मा हूँ।'

इस ब्राह्मी भावना मे कुछ क्षण डूब जाओ। फिर तुम्हे कोई रोग, शोक, भय, चिंता नहीं सता सकेंगे और तुम मानसिक रोगो से मुक्त होकर आरोग्य आनंदमय जीवन व्यतीत करोगे। यही आध्यात्मिक और योगचिकित्सा का रहस्य है।

औषधि खाऊँ न बूटी लाऊँ, ना कोई वैद बुलाऊँ।
पूरण बैद मिले अविनाशी ता को नबज दिखाऊँ॥

———
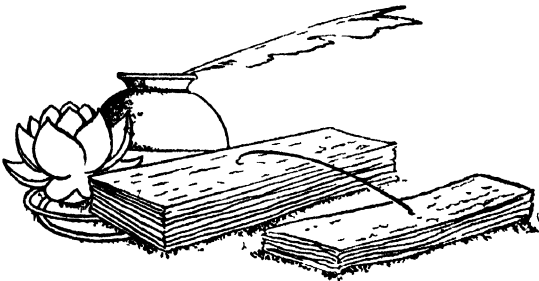
THE BIOLOGIST AND THE MODERN WORLD : HUMAN DEGENERATION UNDER CIVILISATION.

By A. C. Joshi, D.Sc., F. N. I.
Professor of Botany, Government College, Lahore.

The chief characteristic of the modern age is universal unrest. In spite of the tremendous technical progress, such as the world has seen only four times previously since the advent of man about a million years ago, namely at the dawn of the Old Stone, New Stone, Bronze and Iron Ages, happiness and peace have disappeared from the globe. Misery and war have taken their place. The very earth on which we live, the good earth is being cut away under our feet. Decent human relations have become impossible. The human society is breaking down. Numerous social doctors have appeared on the scene, but each has a different prescription and is quite unwilling to listen to any one else. The result is even greater confusion and more conflict. The world gets into greater and greater turmoil. No one seems to realise that man, the species *Homo sapiens*, is the central figure in and the cause of all this disorder and conflict, and the proper thing to do is to enquire as to what is wrong with him.

Science has been created and raised to its present eminent position entirely by the efforts of Man, but unfortunately the amount of scientific interest shown by him in any subject or phenomenon has been inversely proportional to its distance from himself. We are all thrilled by discoveries of stars and planets, atoms and electrons. No one wants to know anything about himself. The Universities and colleges start with the teaching of physics and chemistry, Botany and Zoology may be added later. Anthropological teaching is either totally left out or comes last. Only two or three institutions in our country impart instruction in anthropology and these too are ill-equipped.

The scientists now feel that this policy of theirs has been wrong. The affairs of man are particularly the concern of the biologist and deserve his careful attention. As Dr. Karstall Sr. says to his son

in "The Holy Terror" by Wells, "Sometimes biologists may find themselves coming into politics from their own angle. If things go on as they are going, we may have to treat the whole world as a mental hospital. The entire species is going mad, for what is madness but a complete want of mental adaptation to one's circumstances". From all appearances we are very near such a situation.

THE MEANING OF DEGENERATION

Biologists of every school and creed are now agreed that the existing species of plants and animals did not come into being suddenly through some act of Special Creation, but have evolved gradually in millions of years by the accumulation of small variations from very lowly organised forms comparable to the protista and protozoa of the present. There is sometimes some discussion or even violent controversy on certain questions relating to this doctrine of organic Evolution, and some muddle-headed people or men of heaven, many of whom are ever ready to take up honorarily any task of misleading humanity, shout that there is not yet sufficient proof for this doctrine. Such an interpretation of the scientific results is entirely false. The disputes among the biologists at present are confined only to the method of evolution, which are to a certain extent even now not quite clear. The theory of Organic Evolution, on the other hand, is regarded by all biologists as an established fact, and forms the foundation of most of the morphological and systematic teaching and research in botany as well as zoology today. When a biologist attacks Darwinism, it is not the theory of Organic Evolution that is in question but only the particular method of evolution by natural selection suggested by Charles Darwin.

Evolution on the whole both among plants and animals has proceeded from the simple towards the more complex, so that living organisms including man have been in a state of continuous progress now for well about 1000 millions of years, but the reverse has also happened many times and in many lines. Under the influence of special environmental factors or due to some other causes, evolution has also often followed a retrograde course, that is from the

complex to a simpler organisation. Evolutionary phenomena of this kind are described as reductions or degenerations.

Good examples of retrograde evolution or degenerations are easily observed among parasitic plants and animals. *Cuscuta*, the dodder or *ákásh bel*, is well-known all over this country. It is a flowering plant living on all sorts of hosts, herbs, shrubs and trees. The mature plant has no connection with the earth and is quite rootless. The body consists of pale thread-like stems twining around the branches of the host and drawing nourishment therefrom through special haustoria. The leaves and the green pigment chlorophyll have nearly disappeared. In another flowering plant *Rafflesia*, one species of which R. *Arnoldi* produces flowers about a yard across, the largest in the world, the degeneration of the vegetative body has gone still further. It lives for its entire life within the host plant and has lost every vegetative organ possessed by its ancestors. The host provides all the nourishment and *Rafflesia* consists only of a tangled mass of thread-like hyphae similar to those of a mould or mushroom penetrating the body of the host in every direction. Only when *Rafflesia* passes into the reproductive phase, the flowers come out, and bring to light for the first time the existence of the plant. The Crustacean *Sacculina* which lives as a parasite on crabs shows a close parallel to this condition in the Animal Kingdom. Its larva is quite similar to that of other Crustacea except that it lacks a digestive canal, but as soon as it settles down on a suitable host, it loses all its structural differentiation, such as the skeleton, limbs, eyes, heart, etc. The adult consists almost entirely of a network of rootlets ramifying through the body of the crab except its heart and nerves, for even a parasite does not like the premature death of its host. Eventually it bursts out to the exterior like hernia for the purpose of reproduction in the form of a bag of sperms and eggs.

Even more common than the degeneration of the entire organisms is the degeneration of some parts of plants and animals along with an upgrade evolution of the other parts. Such degenerating organs either ultimately totally disappear or persist in a rudimentary or vestigial state. The vestigial organs are particularly common among the higher organisms, and it may be stated as a law that higher an animal

or plant is in the scale of evolution the larger is the number of vestigial organs that it shows. The human body has numerous such structures, as for example, the little fleshy fold in the inner angle of the eyes, really a remnant of the third eye-lid observed in cats and other mammals, ear muscles, tail bones, the vermiform appendix, etc. The celebrated German anatomist Wiedersheim enumerated no less than 180 organs in the human body of a vestigial character. Wells, Huxley and Wells have described the human body on this account as "a museum of evolution."

The degenerations in man can be classified into four categories, spiritual, moral, mental and physical. Science is still quite incompetent to say anything about matters spiritual and moral. Questions of this kind are considered under the subject of philosophy, which is a branch of knowledge very convenient and useful to science in that it tries to answer all sorts of enquiries of which science itself is ignorant. The physical and mental status of man alone fall under the sphere of biology.

Many of the degenerate organs met with in the human body do not obstruct its work in any way. A large number of them are common to man, apes and other primates. The process of degeneration in their case set in long ago and our bodies have already adapted themselves to their loss. The degeneration of the ear muscles for example is made up by the mobility of the neck. However, there are other degenerative phenomena which have set in only recently, after the emergence of man from ape-like ancestors, or are occurring now under the peculiar conditions created by the modern civilisation. They can be observed from a comparison of civilised men with anthropoid apes and savages found in the various parts of the world. Our bodies are still poorly adapted to such degenerations and they are the cause of much discomfort and pain. It is the purpose of this essay to illustrate some of these examples of degeneration and suggest suitable remedies for our amelioration.

Many people feel annoyed if they are told about their bodily defects. Such an attitude is quite unreasonable. Many persons in our society are quite unashamed of even serious shortcomings in

their social character, for which any sensible man aught to feel responsible. On the other hand, no one is responsible individually for the defects of his body and mind. These are the result largely of a chance combination of his parental chromosomes or his early environment. He is not to be blamed for them so long as he does not pass them on to his children and becomes an instrument for the production of more defective individuals in this world.

SOME ILLUSTRATIONS OF DEGENERATIVE PHENOMENA IN MAN

An account of the degenerative phenomena in man is found in many books dealing with human biology and eugenics. An extremely interesting popular account of the subject has been given by E. A. Hooten in his book " Apes, Men and Morons " (London, 1938). Some of the examples given by him are as follows :

Loss of hair. When we compare man with other mammals, whether these be the closely related anthropoid apes or the so very different kangaroos, the most striking difference visible externally is the naked skin of the human beings. Man has almost completely lost his coat of fur and hair except for a few small tufts. That the change has been one for the worse is easily seen, when it is realised how ashamed we are of this character. Unless any person is a savage, insane or a nudist, he dare not appear in public in the form in which nature creates him. Having lost his own wool, man has now to clothe himself with the wool of other animals or plants*. The few tufts of hair, which are still left on the human body, are also a source of great inconvenience to most ladies and gentlemen. The male members of the species torture themselves every morning for 10 minutes in shaving off the superfluous hair on the face. Consequently, if a man lives up to the age of sixty, he has to undergo this self-imposed suffering for approximately 100 days.

---

* The British even to this day speak of cotton as cotton wool. The reason for this is that the news about cotton was first conveyed to Europe by men of Alexander's army as a " vegetable wool, which grew in tufts on trees in India." A later histotian elaborated this report and seriously described "plants bearing fruit within which there is a lamb having fleece of surpassing beauty." The source of cotton is now well-known all over the world, but words dei hard.

The reasons for the loss ot this hairy coat are still obscure. As it is a character common to all mankind, savage and civilised, it must have appeared long ago. It could not have resulted from the friction of clothing as suggested by some, because the negroes who have lived naked throughout their known history have the least amount of body hair. There seems also to be no evidence for the view that the loss of hair helped men to get rid of the external parasites like lice. If it were really an adaptation for this purpose, it appears to have been a complete failure.

Darwin applied his theory of sexual selection to explain the hairlessness of man. He observed that the hind end of the body in several kinds of monkeys is devoid of hair and the naked surface is brightly coloured. It appeared to him that the hair has disappeard in order to display effectively the bright colour of the skin and in this manner attract the opposite sex. Almost the entire humanity has learned to appreciate a soft pink skin, so that one can easily understand Darwin's hypothesis, but there is no evidence of the type of sexual selection among primates envisaged by Darwin.

Keith, one of the most distinguished anthropologists of recent times, attaches more importance to nutrition and glandular functioning in explaining the loss of hair. He points out that the human baby is not only less hairy than the anthropoid baby, but also considerably more plump. The hairlessness according to him might have been one of the early effects of abundant food supply. As man grew fat, his hair disappeared.

Other anthropologists think that the glabrous skin is the result of retaining a foetal character, normal in the third month of the prenatal development. It is on the whole disadvantageous, but has persisted because very probably it is correlated with other foetal characters which have a survival value.

However, we need not worry here very much about the cause of this loss. The fact stands that man has lost his protective coat of hair. In order to make up for this loss he has to clothe himself in garments, often quite unhygienic, made from the wool of other animals or vegetable fibres, and build houses—these also very often the cause of much discomfort and disease—for shelter from heat

and cold. But inspite of these drawbacks man has now got used to his naked skin. There is no reason to suppose that he would like to return to his primitive hirsute state, although this would be helpful in many ways. He is however greatly troubled by the few persistent tufts of hair and would desire to get rid of them. If he can earnestly put himself to this task, he will certainly succeed. The negroid and mongoloid races have already greatly progressed in this direction. The rest of the humanity, if it so desires, can go even further.

The teeth. A part of the human body, where changes of a degenerative kind can be easily observed taking place under the influence of modern civilisation, is the mouth and the dentition. The savage man has a broad and capacious palate. His teeth are well developed. The incisors meet mostly edge to edge. The molars have four good cusps in the upper jaw and five in the lower. The third molars, usually called the wisdom teeth, are neither much reduced nor very delayed in eruption. The palate of the civilised man, however, is often narrow and much contracted. The third molars usually appear between the ages of 18 and 25, but in quite a large number of people they fail to erupt and are quite useless. Sometimes they cause even painful inflammation within the gums. The upper and the lower incisors generally do not meet edge to edge, the latter biting behind the former. This gives rise to an overbite. Often the upper incisors protrude far outwards, resulting in an ugly buck-toothed appearance. Even more serious than these defects is malocclusion. In this case both the upper and the lower teeth fail to erupt at their right place. Consequently they do not engage efficiently and the food is not properly masticated. The dental surgeons of America state that cases of such defective dentition are increasing at a very rapid rate, and it is generally believed that the cause of all these troubles lies in hereditary evolutionary tendencies of a degenerative nature.

Two other common maladies affecting teeth in civilised societies are the caries and pyorrhoea. The teeth of the savage people may be worn out by eating hard gritty substances, but they are generally quite unaffected by bacteriological action and show few

cavities. On the other hand in the United States of America about 90 per cent of the school children and almost cent per cent of the adult population shows at least one or two carious teeth.

Pyorrhoea is a sceptic condition of the gums, which is again almost unknown among the savages but is widespread in all civilised countries. Its first sign is the pink tooth-brush but gradually the gums get softer and softer, begin to bleed at all times and pus is formed. Ultimately it leads to the eating away of the bony sockets of the teeth and the introduction of all sorts of poisonous substances into the system, which cause rheumatism and many other ailments. The bacteria causing pyorrhoea are known to some extent, but the disease cannot be cured by antiseptic toothpastes and lotions. The usual remedy is the removal of the affected teeth and very often of the whole dentition.

The factors which lead to these dental degenerations are chiefly the excessive use of the soft cooked foods selected mainly with a view to satisfy the whims of a more or less erratic palate and secondly a greatly refined dietry which results in defective nutrition.

Reproduction. The sexual life of apes and men is very similar and so is the method of birth, but when we compare the two, the apes are found to score over men in several respects. The ape mother is far more self-reliant than her human counterpart. When a child is born, she herself bites off the cord, cleans the infant, sees that its lungs are cleared, and in fact performs all the duties of the midwife. The mother in civilised human communities would ordinarily die along with the new-born infant if deprived of such assistance. Frequently a physician, injections of ergot and even a surgical operation are also necessary. The apes appear to manage the number of their off spring with such discretion that no mother gives birth to new children while she is still burdened with the care of the previous. Such discretion among men is often wanting. The size of the ape and savage families appears to be regulated according to the food available, whereas the rule in civilised human society is just the reverse. Generally, the poorer the parents, more numerous are the children, while the rich are often childless.

The ape child begins to look after himself from an early age and depends for its protection on the adults only occasionally. He receives almost no paternal care. Among savage societies the young are looked after and are dependent on their parents for a few years at the most. They completely look after themselves on reaching maturity. In civilised communities, on the other hand, the young are maintained as economic parasites by their parents even for more than 20 years, long after they have reached the adult size.

Mental faculties. Even more important than the degenerative tendencies mentioned above are others affecting the mental faculties of the human race. No data exist for India, but many believe that in Europe and America the number of mentally inferior, insane, imbeciles and those that are habitually criminal is increasing every year. The mental Deficiency Committee of the British Board of Education reported in 1929, 100 per cent increase in the defectives of Great Britain between 1906 and 1927, while the population as a whole increased during the same period only 14 per cent. At present, there are nearly one percent certifiable defectives in the English population, about 10,000 in every million. Medical science is one of the main agencies in producing this kind of degeneration. The weak, sickly and constitutionally unfit among the apes are eliminated through neglect or even deliberately. The medicine of the savages, which is nothing more than magic and superstition, is equally helpless to protect any biologically inferior individual, but the modern scientific medicine which is entirely the product of civilisation protects all who would have no chance of surviving otherwise. Further, it allows them to breed their kind. The result is the degeneration of the human stock as a whole. While the individual is preserved, the race goes down.

Another factor which has led to the degeneration of the species is war. Fighting among savages generally led to the elimination of the weak and physically unfit. The modern wars, however, destroy the flower of every nation.

The Remedy

These few illustrations will suffice to show quite clearly that during the progress of man from the savage to the civilised state

everything has not gone well with his physical and mental development. Some of his bodily parts and mental faculties are actually undergoing a process of degeneration. The reason for this is his neglect of this problem. Man has spent enormous thought and endeavour in trying to improve his social conditions and spiritual well-being, but has been quite apathetic about his biological status. We have tried to improve everything on this planet except ourselves. We act far more intelligently in raising our crops than in raising children. We show far greater interest in the quality of our automobiles than in the quality of our offspring. Men in all countries and from very remote times have paid great attention to the breed of their cattle, but no attention at all to their own breed. In India and so also all over the world there are numerous stations trying to study the laws of inheritance and breeding by selection and other methods new and better varieties of crop plants and cattle, but there is not a single institution in this country devoted even to the study of inheritance in man. Before a marriage is contracted, a great deal of attention may be paid to the amount of money likely to be brought by the bride or the emoluments likely to be earned by the bridegroom, while no consideration is generally given to the qualities of mind and body that they are likely to pass on to their offspring. If things continue as they are, there is no chance for the improvement and perhaps even survival of the human race. The species *Homo sapeiens* may share the same fate that befell the dinosaurs and other reptiles of the mesozoic and so many other species which are now known only by their fossil relics.

What is then the remedy by which humanity can protect itself from this inevitable fate and cure some of the present troubles? For biologists it is a simple question. Man has to improve his environment and social conditions but in addition to this he must also give proper thought to improve his physical and mental status. By conscious and unconscious selection he has already worked wonders in his attempt to improve his crops and domestic animals. From quite unpromising grasses with very small seeds he has produced wheat, barley, oats, rice, maize and other cereals suitable for cultivation in all sorts of climatic conditions, and so also other food

grains, vegetables and fruits. From a single species *Brassica oleracea* growing wild in the Mediterranean region, he has developed cauliflower, cabbage, knol-kohl, brussels-sprouts, etc. The inheritance of sweet peas has been now so well studied, that certain growers are in a position to give you a sweet pea with any combination of characters that you may order. From wild ancestors yielding milk not more than two or three pints per day, breeds of cow have been produced with a yield of upto 40 pints of milk per day. From wild wolf-like ancestors have been produced the pet dogs of today. The affection for men has been so deeply bred into them, that they love men even more than other dogs. The results of deliberate selection have been even more remarkable as testified by the numerous breeds of dogs, pigeons, poultry, which has been mainly the result of the different ideals in the minds of men who bred them, and to the slight differences in the individuals selected in consequence for breeding purposes generation after generation.

If man wants to improve himself, he has just to follow these methods which he has employed to improve the quality of his crop plants and domestic animals. It is quite clear that all men are not born alike. For example no one can stop a man from having red hair or blue eyes, if when born that seems to be his character. This is true of many other bodily characters. Men also differ among themselves at birth with regard to their mental potentialities. The study of identical twins furnishes convincing proof for this proposition. The different characters are inherited in man according to the same Mendelian laws of heredity that apply to all plants and animals. Civilisation has created conditions in which men with less desirable characters are likely to leave a larger number of children behind them than those with more desirable characters. If this continues, we shall ultimately destroy ourselves. If we desire to improve our race, we have to reverse these conditions. We should see that individuals with desirable characters have greater chance of reproducing than those with undesirable characters. It is difficult to decide what kind of man is the best and most suitable for the modern world. Perhaps many kinds of men are needed, each good in his own way. There is, however, a general unanimity as to the

kinds of men that are not wanted. These include the habitually criminal, habitually drunkard, insane, the deformed, the deaf, blind, etc. It is now positively known that some kinds of blindness, deafness, insanity and epilepsy are hereditary. The descendants of such parents are more likely to suffer from these troubles than of healthy persons. Even if their children by some chance combination of genes do not inherit the disease from which one or both of their parents suffer, they are not likely to receive the parental attention as the children of healthy parents. A normal child brought up in surroundings of insanity, is not likely to lead a mentally balanced life. A child living among criminals is likely to become one himself. If conditions are created where individuals with such undesirable characters are not able of procreate, people with such defects will gradually disappear from the world or at least greatly decrease in numbers.

There are at present two great drawbacks in the adoption of any such programme of eugenics on a large scale. Firstly, our knowledge of the inheritance of many human characters is very incomplete. This situation can be remedied by awakening the society to the fact what their negligence of this question is affecting the species. If proper institutions are established for such study, the requisite knowledge can be gathered in no distant future. The second danger in the application of a programme of mass eugenics is the danger of political exploitation under slogans like ' race hygiene' etc., such as was witnessed in Nazi Germany. In other countries also under such garb attempt may be made to exterminate certain classes. This trouble, however, can be there only so long as the present politicians control the affairs of men. Biological studies have already shown that there are no racial monopolies either of human virtues or vices. Each race has idiots and criminals and geniuses and statesmen. The aim of the biologist is to try to improve every racial type by cutting down the growing numbers of the undesirable individuals in every ethnic stock.

A scientifically valid programme of eugenics at present should include only the following three items :

1. Establishment of institutions for the study of human heredity. This is of utmost and urgent importance.

2. Restriction of breeding among the insane, diseased and criminals by proper methods of birth control and even sterilisation.

3. Encouragement of reproduction in individual families with sound physiques, good mental endowments and demonstrable social and economic capability.

MAN: THE MASTER OF HIS OWN DESTINY

The later stages of human evolution have differed and can be different in the future from the evolution of all other organisms in one important point. The evolution of plants and lower groups of animals is characterised by the passivity of the organism. The environment in their case is the chief force to determine what shall persist or perish. Man on the other hand is no longer a slave of the conditions under which he lives. He is relatively independent of the external factors and has the capacity to direct his own evolution. The balance of power has shifted from the environment to the organism. The future of the human race is consequently entirely or very largely in our own hands. Only let us act as intelligently in raising our children as we act in raising our crops or breeding our horses. If marriages could be transferred from the sphere of heaven to that of biology they should certainly turn out more efficient products. A wisely administered biological purge in all ethnic stocks will soon lead to the production of men and women with sounder minds in better bodies. If every tree that bears bad fruit is not allowed to leave any seeds behind, the world can be made free to a great extent from the imbeciles and mentally inferior who live on the labours of others, from psychopaths who lead the mentally inferior mass of so-called civilised populations into purposeless wars and social revolutions, and from the ever increasing antisocial and criminalistic persons. If the generations to come can be emancipated from these worthless and deleterious elements, it will be a comparatively simple matter to perfect social and political institutions and adjust human relations to a reasonable degree. Nothing is lost if man is not lost. Happiness and peace, which has left the world long since, will return once again. Humanity will increase very rapidly in skill, mental power,

will, and general vigour. A race of supermen shall take the place of the present morons. The social doctors and the religious reformers have served the world for many centuries to the best of their lights, but these lights are now dim. Let the destiny of man be placed under the charge of the biologists.
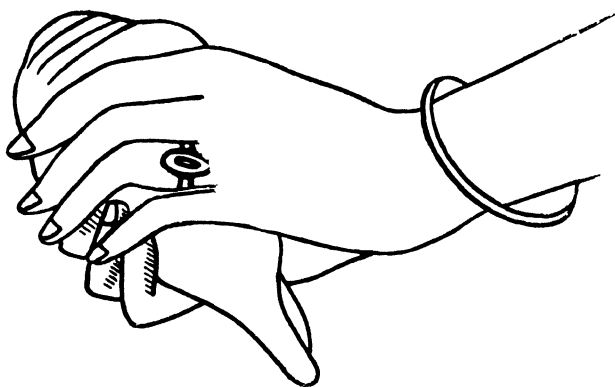
A BRIEF ACCOUNT OF THE GEOLOGY OF DUNGARPUR STATE

By Dr. P. K. Ghosh, D. Sc., D. I. C., Geological Survey of India.

Introduction.

The State claimed the attention of the Geological Survey of India as early as 1911–12 when the late Mr. N. D. Daru geologically surveyed a considerable portion of it in course of the routine survey work in Rajputana and the Central India Agency.

Again during 1931–32, Dr. P. K. Ghosh of this Department, while investigating the Talc–serpentine chlorite rocks of Southern Mewar, examined the same suite of rocks in the neighbouring hills of the Dungarpur State.

Geological Formations

The oldest rocks of the State are members of the Archaean complex; the earlier members of which are gneisses of different kinds (Basement Gneissic Complex) and the later, a series of metamorphosed sediments consisting of recrystallised arenacous and impure calcareous rocks together with an extensive argillaceous suite, varying from slaty and phyllitic to micaceous and schistose types (Aravallis). The formations have a general northerly strike being continuous with the Aravallis mapped further north in Mewar.

Acid igneous intrusives are widely distributed in the area.

There is a great hiatus in the chronological sequence subsequent to the development of the metamorphics and the associated igneous rocks in the area. The entire Palaeozoic, Mesozoic and Cainozoic groups are absent.

Gneissic Complex

The chief members of the gneissic complex are the composite gneisses of variable texture and composition. They are associated with granite, aplite, pegmatite and amphibolite. The gneisses which

have a general northerly foliation strike, are continuous with the pre-Aravalli banded gneissic complex of Central Mewar.

The granites and gneisses are usually intimately associated with one another and are marked by their acid character. Best exposures display broad bands and lenticles of coarse or fine-grained granite, alternating with banded gneisses, pegmatites and aplites, the whole often injected by quartz-veins and bands of basic igneous rocks, giving rise to a mass extremely heterogenous in appearance.

Veins of quartz which are common in the area, sometimes accompany the acid intrusives and are occasionally found intrusive in the basic members of the complex.

There are occurrences of conglomeratic formations with pebbles apparently derived from the members of the Gneissic complex, along its junction with the overlying sedimentary formations (Aravallis), presumably indicating that the junction between the two is one of erosion unconformity.

Aravalli System.

The Aravallis are represented by (1) a basal quartzitic formation, often conglomeratic, (2) an impure calcareous facies generally dolomitic in composition and (3) an argillaceous series consisting of slaty, phyllitic and micaceous types along with arenaceous intercalatory bands.

The southern extension of the ancient sedimentary metamorphics of the Aravallis into the Panch Mahals and the adjoining states has been described by W. T. Blanford as the "Champaner Series."

Economic Geology.

Limestone.

Several bands of limestone, some striking N. W. and S. E., occur about half a mile East of Munger (23°52′ : 74°12′) in topo-sheet 175. These bands are separated by acid intrusives. The western bands, the thickest being about 60 ft., run continuously for 8 miles passing through Nandli Anjni (23°55′ : 74°11′) and Dad (23°58′ : 74°10′) terminating about two-thirds of a mile east of Rama (23°59′: 74°08′). Within a short distance towards the west, there is another band of limestone S-E. of Nandli Anjni. There are two bands of limestone

on the eastern slope of △ 1033 (23°55′ : 74°12′) extending on △ 882 (23°54′ : 74°13′). Two small exposures of limestone occur S. W. of Jaspur Jabha (23°52′ : 74°03′). Three small bands of limestone occur near the base of the hill at Hathai (23°54′ : 73°56′). They are invariably more or less dolomitic with varying amounts of silica.

Potstone (Talc).

According to the late Mr. Daru, potstone is quarried to some extent near Jakol (23°55′ : 73°49′) in Dungarpur and is used for making pots, images, and ornamental parts of buildings. The deposit did not appear to Mr. Daru to be economically useful at the time due to the difficulty of transport which seemed to be a severe handicap to any attempt at exploitation.

Asbestos (Tremolitic type).

Occurrence of asbestos of medium quality, not of much economic importance, has been reported by Mr. Daru. He recommended more detailed prospecting and search which might reveal better material.

Asbestos (Chrysotile type).

Chrysotile asbestos has lately been reported from Dungarpur State.

Building material.

There are possibilities of obtaining slabby rocks and flags at Pophribor (23°31′: 73°59′) and Katarakapara (23°28′ : 74°00′). At Lenri large slabs of garnetiferous schist measuring 12′×2′6″, 6″ can be quarried and used for building purposes. The limestone deposits near Nandli Anjni could be used as satisfactory building material.

Detailed geological investigation of the State suggested.

Mr. Daru's work in the State being admittedly in the nature of a preliminary geological investigation, no intensive exploration for economic minerals was undertaken.

In view of the fact that similar geological formations in the neighbouring States have yielded economic deposits of value, it is advisable that a detailed exploration and search for minerals be undertaken in this State also.

रमल-विज्ञान

स्वामी विद्यानन्द सरस्वति

श्रीमद्गुरुभ्यो रमलाचार्यवर्येभ्यो नमोनमः।

मनुष्य-मात्र वर्त्तमान, भविष्य और भूतकाल जानना चाहते हैं। इस विषय में जो विशेष ज्ञाता हैं उन्हें त्रिकालज्ञ कहते हैं। रमलशास्त्र इस विषय में अद्वितीय है। हर एक मनुष्य, जिसको अपना भविष्य जानने की इच्छा है, आसानी से रमल सीखकर भविष्य जान सकता है। रमलशास्त्र से भविष्य जानना आसान है, हालाँ कि इधर भविष्य-वेत्ताओं का ध्यान जिस कदर होना चाहिए, वैसा नहीं हो रहा है। भविष्यवेत्तागण इस ओर ध्यान नहीं देते हैं, इससे रमलशास्त्र की महत्ता में कोई न्यूनता नहीं हो सकती। रमलशास्त्र महान् है और उसका जानना सबका कर्त्तव्य है। हर एक विषय सीखनेवालों के लिए जैसा परिभाषा प्रकरण जान लेने तक कुछ अड़चन—जैसी मालूम देती है वैसा ही इसमें भी तभी तक अड़चनें हैं जब तक इसका परिभाषा प्रकरण सरलतापूर्वक हृदयंगम न कर ले। बस, जहाँ आपने थोड़ा सा परिश्रम करके रमल देखने मात्र की विधि जान ली, फिर तो दर्पण में जैसा स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई देता है वैसा ही इच्छानुसार गुप्त, प्रकट, सब विषय आप इसमें खुशी से देख लीजिए—निश्शंक होकर संसार-यात्रा कीजिए, कोई रोकटोक नहीं। अस्तु, सबसे पहले रमल कैसा देखना चाहिए, इसको जानना चाहिए क्योंकि देखने की क्रिया बिना जाने क्या देखे। इसलिए पहले इसी को लिखता हूँ।

प्रस्तार बनाना चाहिए। घबराइए मत। रम्मालों की भाषा में प्रस्तार, कुंडली को कहते हैं। जैसा कुंडली से प्रश्न जाना जाता है वैसा ही प्रस्तार से प्रश्नफल जाना जाता है। प्रस्तार को जायचा भी कहते हैं। रम्मालों की भाषा में प्रस्तार और जायचा कुंडली को कहते हैं। जैसे कुंडली में १२ बारह घर है वैसे रमल के प्रस्तार में १६ सोलह घर हैं। विश्व भर में जितने भूत, भविष्य और वर्त्तमानकालीन प्रश्न हैं, वे सब इन्हीं सोलहों घरों से देखे जाते हैं। प्रस्तार दाहिनी ओर से बाईं तरफ को लिखना चाहिए यानी बायें तरफ से दाहिनी तरफ।

सोलह घर के १६ स्वामी हैं। इसका नाम भी जानना चाहिए।

प्रस्तार, जायचा या कुंडली का नमूना।

८	७	६	५	४	३	२	१
१२		११		१०		९	
१४				१३			
१६				१५			

पाँसा डालने पर जो शकल तैयार होती है वह इसी क्रम पर लिखा जाय तब इसको प्रस्तार कहेंगे। प्रस्तार और जायचा सिर्फ ये दो नाम कुंडली का पर्याय है। जैसा कभी जायचा कहा तो प्रस्तार और प्रस्तार कहा तो जायचा समझना चाहिए।

अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी इन चार तत्त्वों से रमलशास्त्र की उत्पत्ति हुई है। ऊपर-नीचे के क्रम से इसकी स्थिति है। यह सिर्फ बिन्दु और रेखाओं से बनती है यानी बिन्दु और रेखा ही अंकित किया जाता है। इन्हीं बिन्दु और रेखांकित चिह्नों से शकलों का स्वरूप पहचाना जाता है। हर एक शकल उक्त चार तत्त्वों से बनी है। प्रत्येक शकल में चार तत्त्व उक्त क्रम से विद्यमान हैं। सबसे ऊपर अग्नि, उसके नीचे क्रम से वायु, जल और पृथ्वी तत्त्व है। सोलह शकलों का नाम स्वरूप-सहित लिखा जाता है।

नं० शु०	स्वरूप शकल	नाम शकल	नं० शु०	स्वरूप शकल	नाम शकल
१	o — — —	लहियान	९	— — o —	वयाज
२	— o — o	कब्जुद्दाखिल	१०	o o — —	नुस्रुत खारिज
३	o — o —	कब्जुल खारिज	११	— — o o	नुस्रुद्दाखिल
४	— — — —	जमात	१२	o o o —	अतवे खारिज
५	o o — o	फरहा	१३	o — o o	नकी
६	o — — o	उकला	१४	— o o o	अतवे दाखिल
७	— — — o	अंकीश	१५	— o o —	इजतमा
८	— o — —	हुमरा	१६	o o o o	तरीखा

यह शकुन-क्रम है। शकलों की स्थिति शकुन-क्रम से इसी प्रकार है। पाँसा डालने पर जो शकलें तैयार होती हैं, इन्हीं रूपों से शकल पहिचानी जाती है।

पहले लिखा गया है कि चार तत्त्वों से रमल की उत्पत्ति है। प्रत्येक शकल में चारों तत्त्व क्रम से मौजूद हैं। इन चार तत्त्वों से बनी हुई शकल का एक और मुख्य तत्त्व है जिसकी पहिचान बिन्दुमात्र से होती है। सबसे ऊपर जो बिन्दु हो वही उसका मुख्य तत्त्व है,। जैसा कि प्रथम शकल लहियान का यह रूप है o — — —। ऊपर एक बिन्दु और नीचे तीन रेखा यद्यपि चारों तत्त्वों से बनी हुई होने पर भी इसमें ऊपर का बिन्दु खुला हुआ है अर्थात् अग्नि तत्त्व खुला हुआ है और तीन तत्त्व प्रत्यक्ष नहीं हैं, गुप्त हैं, इसलिए इस शकल यानी o — — — लहियान का अग्नि तत्त्व है। क० दा० — o — o सबसे नीचे पृथ्वी तत्त्व खुला हुआ है इसलिए क० दा० — o — o का पृथ्वी तत्त्व है। आठवीं शकल हुमरा — o — — का वायु तत्त्व खुला हुआ है। हुमरा का वायु तत्त्व है। नवीं शकल वयाज — — o — का जल तत्त्व खुला हुआ है वयाज का जल तत्त्व है। चौथी शकल जमात — — — — का कोई भी बिन्दु नहीं है। जमात का पृथ्वी तत्त्व है। तरीखा शकल में o o o o चारों ही बिन्दु खुले हुए हैं। जमात का पृथ्वी तत्त्व है। पृथ्वी की पैदाइश जल से है इसलिए चारों तत्त्व खुले हुए होने पर भी तरीखा o o o o का जल तत्त्व है। इसी प्रकार सब शकलों का तत्त्व जानना चाहिए। तत्त्वों के जैसा ही इन सोलह शकलों का खारिज, दाखिल, साबित और मुन्कलीब आदि चार नाम और हैं। इसकी पहिचान इस प्रकार है कि जिस शकल के ऊपर बिन्दु हो वह खारिज, तथा जिस शकल के नीचे बिन्दु हो वह दाखिल। जिस शकल के ऊपर और नीचे रेखा हो वह साबित और जिस शकल के ऊपर और नीचे बिन्दु हो वह मुन्कलीब, जैसा कि इन १६ शकलों में (४ खारिज, ४ दाखिल,

	शकल	नाम		शकल	नाम
१ लहियान[१]	o — — —	खारिज	१ जमात[४]	— — — —	साबित
२ क० खा०[३]	o — o —	खारिज	२ हुमरा[८]	— o — —	साबित
३ नु० खा०[१०]	o o — —	खारिज	३ वयाज[९]	— — o —	साबित
४ अ० खा०[१२]	o — o —	खारिज	४ इजतमा[१५]	— o o —	साबित
१ क० दा०[२]	— o — o	दाखिल	१ फरहा[५]	o o — o	मुनकलीब
२ नु० दा०[११]	— — o o	दाखिल	२ उकला[६]	o — — o	मुन्कलीब
३ अंकीश	— — — o	दाखिल	३ नकी[१३]	o — o o	मुन्कलीब
४ अ० दा०	— o o o	दाखिल	४ तरीखा[१६]	o o o o	मुन्कलीब

४ साबित और ४ मुन्कलीब) है चार चार शकल खारिज आदि की समझनी चाहिए। इसका प्रयोजन प्रकृति जानने के लिए है। प्रकृति को इस प्रकार जानना चाहिए कि मुन्कलीब की चार,

साबित की स्थिर, खारिज और दाखिल की द्विस्वभाव प्रकृति है। यह उस समय के काम की है, जब कोई प्रश्न करे तब पहिले घर में कौन शकल है यह देखे। अगर वह खारिज और दाखिलों में से कोई शकल हो तब यह कहना चाहिए कि प्रश्नकर्त्ता के मन में यह पूछूँ या वह पूछूँ, इस प्रकार के सन्देहात्मक विचार उठने के बाद इस द्विस्वभावात्मक प्रश्न को प्रश्नकर्ता ने प्रस्तुत किया है। चर हो तो चलायमान प्रकृति और स्थिर हो तो स्थिर प्रकृति यानी स्वभाव जानना चाहिए। अब तक आपने शकलों के नाम, स्वरूप और प्रकृति को जान लिया है अब पाँसा डालकर प्रस्तार बनाना जानना चाहते हैं। आइए, आपको प्रस्तार बनाना बता दूँ। इसके लिए पाँसा चाहिए। पाँसा नहीं है तो बनवा लीजिए, कैसा बनाना चाहिए, कहता हूँ। अष्ट धातुओं का पाँसा बनाना चाहिए। आधा इंच सम चौरस आठ टुकड़े अष्ट धातुओं के सोनार से बनवा ले। एक एक टुकड़े में
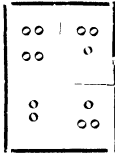
oo oo oo o	एक तरफ जहाँ oo/oo चार बिन्दु बनवाये उसके
	ठीक नीचे o/o दो बिन्दु बनवा ले अब
o/o o oo	दोनों बाजुओं में oo/o o/oo इस प्रकार बनवावे।

बस, पाँसे का एक टुकड़ा बन गया। इसी माफिक सभी टुकड़ों में बनवा लें। चारों तरफ आठों टुकड़ों में जब शून्यों की निशानी बनवा ली, बीच में छेद करके एक एक सलाई में चार चार टुकड़े इस प्रकार पिरोने चाहिए कि जरा से इशारे के साथ चारों टुकड़े फिर सकें। अब पाँसा डाल कर प्रस्तार बनाना है। दोनों पाँसों को हाथ में लेकर उसमें बिन्दु मिलावे। बिन्दु इस प्रकार मिलाना चाहिए कि दो बिन्दुओं की एक रेखा बनती है, रेखा और बिन्दु की रेखा ही बनती है। दोनों पाँसों को जोड़कर लहियान $\overset{\circ}{=}$ शकल का रूप बनावे।

o	o	o	o
oo	oo	oo	oo
oo	oo	oo	oo
oo	oo	oo	oo
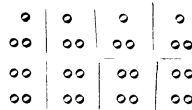
इस माफिक पाँसों को पकड़े। जब आपने ठीक नमूने के माफिक पाँसों को पकड़ लिया तो प्रश्न सिद्धि के लिए निम्न मन्त्र सात बार पढ़ने के बाद प्रश्नकर्त्ता से स्पर्श करा कर अथवा प्रश्न-कर्त्ता से ही पाँसा पाटी में डलवावे। जैसे, किसी ने उक्त विधि से पाँसा डाला तब ऐसा पड़ा।

४	३	२	१
०० ००	० ००	० ००	० ००
०० ००	०० ००	०० ०	०० ०

जहाँ दो बिन्दु हों वहाँ एक रेखा और बिन्दु को बिन्दु ही रहने दें।

८	७	६	५	४	३	२	१
० ० — —	— — — —	— — — —	० ० ० ०	— — — —	० — — —	० — — ०	० — — ०

१२	११	१०	९
० ० — —	० ० ० —	० — — —	— — — —

१४	१३
= ० —	० — — —

१६	१५
= ० ०	० ० —

एक से चार तक की शकलों के अग्नितत्त्व से पाँचवीं, वायुतत्त्व से छठीं, जलतत्त्व से सातवीं, पृथ्वी तत्त्व से आठवीं बनी। अब पहिली और दूसरी से ९
३ और चार से दसवीं
५ ,, ६ से ग्यारहवीं
७ ,, ८ से १२
९ ,, १० से १३
११ ,, १२ से १४
१३ ,, १४ से १५
१५ ,, १ स १६

इस प्रकार १६ शकलों का निर्माण कर प्रस्तार बनाया। अब प्रश्न देखना है—

पहले[1] यह देखें कि पूछनेवाले ने अपने लिए यह प्रश्न किया है या दूसरे के लिए। इसके देखने का तरीका इस प्रकार है कि यह प्रस्तार[2] शुद्ध है या अशुद्ध। इसको जानने के लिए १५ वें घर को देखे। यदि पन्द्रहवें घर में कब्जुदाखिल (१), कब्जुलखारिज (२), नुस्र खा० (३), नुस्र दा० (४), जमात (५), तरीखा (६), उक्ला (७), इजतमा (८) यह समबिन्दुवाला उक्त आठ शकलों में से हो तो शुद्ध अन्यथा अशुद्ध समझे।

रमल के प्रश्न में हमेशा पाँसा ही काम में लाना चाहिए। यदि न बन सका तो दूसरे उपाय से काम लिया जा सकता है।

---

१ प्रस्तार के पहले और तेरहवें घर की दोनों शकलों को मिलाकर एक बनावें (१३, १) दो बिन्दुओं की १ रेखा। दो रेखाओं की १ रेखा, फिर दो रेखाओं की १ रेखा और रेखा बिन्दु का बिन्दु अंकीश शकल बना। अंकीश प्रस्तार में नहीं है। दूसरे के लिए प्रश्न किया है। पहले घर में उकला शकल है। यह मुन्कलीब है। चलायमान चित्त से प्रश्न किया है।
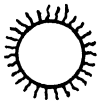
कल्दार रुपया के बराबर एक गोल रेखा बनाकर, श्वास रोककर, जितना हो सके रेखा खींच ले। फिर उसको गिने, अगर वह सोलह से अधिक हो तो सोलह निकालकर जितना बचे शकुनक्रम यानी लहियान आदि के क्रम से जिस संख्या में पहुँचे वही शकल ले ले। यह पहली शकल हुई। इस पहली शकल से सातवीं लेकर दूसरी बार भी ऐसा ही करे यानी सातवीं दो शकलें लेकर क्रम से चार शकलें बनावे। इस प्रकार चार शकलें बनाकर फिर इन चारों के अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी तत्त्वों से दूसरी दो शकलें तैयार कर सोलह बना ले। प्रस्तार बनाने का प्रकार पहले लिख चुका हूँ। प्रश्नशास्त्र महान् है। उसको समझने के वास्ते गुरु-मुख से अनेकों ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए। इसको सभी स्वीकार करेंगे ही कि इस मामूली लेख में रमल के सम्पूर्ण विषयों का उल्लेख किया जाना असंभव है। जिन विद्वान् पुरुषों को रमल-विषय में रुचि हो वे निम्नग्रन्थों को देखने की कृपा करेंगे—

१ रमलचिन्तामणि भा० टी० मुद्रित और प्राप्य
२ रमलनवरत्न भा० टी० ,,
३ रमलसिकता, संस्कृत श्लोकात्मक मूल ,,
४ रमलरहस्य मूल संस्कृत गद्यपद्यात्मक ,,
५ रमलभास्कर भाषा ,,
६ रमलमार्तण्ड भाषा ,,
७ रमलार्णव मूल संस्कृत श्लोकात्मक दुष्प्राप्य
८ रमलतन्त्र मूल श्लोक हस्तलिखित
९ रमलसर्वस्व ,, ,,

उक्त ग्रन्थों में से कोई भी ग्रन्थ मँगाकर देखने से विशेष जानकारी होगी।

प्रश्नों के चन्द नमूने देखिए।

प्रश्न १—किसी ने यह प्रश्न किया कि द्रव्य-प्राप्ति होगी या नहीं? तब पाँसा डाल प्रस्तार बनाकर पहले घर से पन्द्रह घर तक के कुल बिन्दु गिने। उसमें २ का भाग दे, १ आवे तो बहुत द्रव्य-प्राप्ति, यदि दो आवे तो नहीं।

प्रश्न २—कोई पूछे कि किस मार्ग से द्रव्य-प्राप्ति होगी तब प्रस्तार बनाकर कुल बिन्दु १५ घर तक का लेकर सात का भाग दे। १ से राजकीय पक्ष से, २ से स्त्री-पक्ष से, ३ से लेखन-कर्म से, ४ से प्रवास (मुसाफिरी) से, ५ से निजी वृत्ति से, ६ से वादप्रसंग से, ७ से चोर या राजप्रसंग से द्रव्य प्राप्ति होगी।

प्रश्न ३—किसी ने पूछा कि इस स्त्री से बालक होगा या नहीं? तब बिन्दु में ३ का भाग दे। १ से पुत्री, २ से पुत्र, ३ से कुछ नहीं।

प्रश्न ४—वह मुझसे मित्रता रखता है या शत्रुता। बिन्दु-समूह में ४ का भाग दे। एक शेष हो तो दुष्टता, २ शेष हो तो मित्रता, ३ शेष हो तो प्रत्यक्ष में मित्रता और पीठ-पीछे शत्रुता।

प्रश्न ५—किस दिशा में लाभ है, तब बिन्दु-समूह में ४ का भाग दे, एक शेष हो तो पूर्व दिशा, २ शेष हो तो उत्तर में, ३ शेष हो तो पश्चिम और ४ शेष हो तो दक्षिण दिशा से लाभ जानना।

यह स्त्री शुद्धा है या व्यभिचारिणी? तब प्रस्तार बनाकर बिन्दु-समूह में ३ का भाग दे। १ शेष हो तो पतिव्रता, २ शेष हो तो कुलीना सलज्जा, ३ शेष हो तो व्यभिचारिणी।

यह विवाह श्रेष्ठ है या कनिष्ठ? तब बिन्दु-समूह को ३ से भाग दे। एक या दो शेष हो तो श्रेष्ठ है, ३ शेष हो तो कनिष्ठ है। प्रश्न का घर अर्थात् जिस घर का प्रश्न हो वह, तथा चौदहवाँ और पन्द्रहवाँ, ये तीनों घर समस्त प्रश्नों के लिए मुख्य हैं। खारिज शकल का निर्गम प्रश्न दाखिल हो तो आगम प्रश्न और साबित को स्थिर प्रश्न कहते हैं। निर्गम प्रश्न (यानी छूटने, देने और द्रव्य खर्च करने विषयक प्रश्न) हो पहला, चौदहवाँ और पन्द्रहवाँ इन तीन घरों में खारिज शकल हो तो शीघ्र कार्य-सिद्धि करता है। वह खारिज शुभ हो तो सुखपूर्वक और अशुभ हो तो श्रम से हो।

———

सामाजिक खण्ड

समाजवाद : गांधीवाद

प्रोफेसर श्रीनारायण अग्रवाल एम० ए०, बी० कॉम०

वर्तमान सभ्य संसार में विविध विचार-धाराएँ बह रही हैं और, यह होता भी कैसे नहीं ? आजका मानव बुद्धिवादी प्राणी जो है। भावनाओं को वह कमजोरी मानने लगा है। और, फिर आवागमन के साधन इतने सुलभ एवं प्रचुर हो गये हैं कि दुनिया के एक सिरे पर घटित क्षुद्र-सी घटना भी दूसरे सिरे तक चंद मिनिटों में ही पहुँच जाती है। अमेरिका एवं इँगलैंड में हुई बात हम पर उतना ही असर डालती है, जितना हमारे पड़ोस की बात। इस दृष्टि से सुदूर राष्ट्र नजदीक आ गये हैं, और दुनिया छोटी व तंग हो गई है। सम्भव है, निकट भविष्य में मंगल, चंद्र एवं अन्य ग्रहों से संबंध स्थापित करने की सुचिर मानव-महत्त्वाकांक्षा भी वैज्ञानिक अनुसंधानों की करामातों से उतनी ही मामूली और रोजमर्रा की बात हो जाय, जितनी हवाई जहाज में सैर करने की है।

भौतिक एवं रासायनिक जगत् में अपनी इस प्रगति पर हम फूले नहीं समाते। एक पीढ़ी पहले का मानव वायुयान, रेडियो, सिनेमा, या ध्वनिवर्धक यन्त्र की कल्पना-मात्र से चकित हो जाता था। वह सुनहले स्वप्न देखता था –"दुनिया के ये आविष्कार उसके आज्ञाकारी दास हो जायेंगे। वह सुबह की चाय वर्धा में पियेगा और दोपहर का नाश्ता दिल्ली की मित्र-मण्डली में करेगा। प्रसिद्ध गायकों और वक्ताओं की मधुर ध्वनि उसकी बैठक तक पहुँचकर उसका मनोरंजन एवं ज्ञान-वृद्धि करेगी। उसके ये सुनहले स्वप्न आज कुछ के लिए तो किसी हद तक सच हो गये, परन्तु क्या जनसाधारण के सुख में कोई वृद्धि हुई ? क्या आम जनता का जीवन इन आविष्कारों की बदौलत अधिक सुसंस्कृत, विकसित, कलात्मक एवं परिपूर्ण हुआ ? आज चारों तरफ भुखमरी, अकाल और महामारी का नग्न नृत्य हो रहा है। मशीनों ने स्वयं मशीन-निर्माता को ही मशीन बना दिया। लाखों मानव १० से १२ घंटे प्रतिदिन यंत्रवत् काम करके भी मुश्किल से कुटुम्ब-पालन कर रहे है। वे जिन चीजों का निर्माण विशाल परिमाण में करते हैं, उनका उपयोग अधिकांश में दूसरे राष्ट्रों पर आर्थिक एवं सैनिक आक्रमण-द्वारा कब्जा करने के लिए ही होता है। हाँ, पूँजीपति अपनी तिजोरियाँ भरने में अवश्य कामयाब हो जाते हैं। उनका सुवर्ण लोभ यहाँ तक बढ़ जाता है कि अपनी दानवी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए राष्ट्र के राष्ट्र को युद्धाग्नि में झोंकने में वे नहीं हिचकिचाते। पश्चिम में मार्क्स, एंगल्स, लेनिन आदि महापुरुषों ने इस विषम परिस्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया था। उन्होंने सामंतशाही और पूँजीवाद की जगह 'मजदूर किसानों का राज्य' (Rule of the Proletariat) स्थापित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि जब तक आर्थिक समानता न हो जाय, तब तक राजनीतिक एवं सामाजिक समानता हो ही नहीं सकती।

आर्थिक समानता के अभाव में प्रजातंत्र एक निर्मम मखौल-मात्र है। जनसाधारण को आजादी तो दी जाती है, किन्तु वास्तव में वह भूखों मरने भर की आजादी होती है। इस हालत में या तो एकतंत्र होगा या पूँजीतंत्र। क्योंकि निर्धन जनता धनिकों द्वारा आसानी से खरीदी जा सकती है और इस विषम परिस्थिति में मजदूर और किसान का 'वोट' मालिक और जमींदार का ही 'वोट' हो जाता है। इस दूषित चक्कर से परित्राण का उपाय उपर्युक्त समाजवादियों ने एक ही बताया और वह था शोषित जनता का संगठन कर शोषकों के विरुद्ध सफल क्रांति द्वारा राजसत्ता हस्तगत करना और वर्गहीन, प्रजातंत्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय समाज का निर्माण करना।

इस नव-निर्मित समाज में वास्तविक राजसत्ता सच्ची जनता यानी मजदूर और किसानों के हाथों में होगी और उसमें सबको समान सुविधाएँ, उन्नति करने के समान मौके और आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए समान वेतन मिलेगा। इसकी आदर्श कल्पना यह है कि जनता को ज्यों ज्यों इस दिशा में शिक्षण और अनुभव मिलेगा, त्यों त्यों उसमें समाज-हित की भावना प्रबल होती जायगी और धीरे धीरे राजसत्ता मुरझा और सूखकर लुप्त हो जायगी और जनता अपना कार्य बगैर बाहरी राजसत्ता के ही चला लेगी। इसका अंतिम परिणाम 'अराजकता' होगा। जहाँ जनता इतनी शिष्ट और सुधरी हुई है कि अपने अधिकार एवं उत्तरदायित्वों को जागरूकता से निबाहती है, वहाँ स्टेट के रूप में बाहरी दबाव की, कानून-पालन के लिए डंडे की जरूरत ही नहीं। मार्क्स ने इस दिशा में धर्म की तुलना अफीम से की, जिसका उपयोग शोषकवर्ग शोषितों को अन्धविश्वास की पीनक में रखकर अपने स्वत्व कायम रखने के लिए करता है। धर्म, पंडित, मुल्ला और पादरी, पूँजीपतियों के खरीदे हुए प्रचारक बताये गये और संसार के मजदूरों से अपील की गई कि वे संगठित होकर इस जघन्य अन्याय का अन्त कर दें। मार्क्स की प्रणाली पहले पहल रूस ने अपनाई और १९१७ की सफल लाल-क्रांति में जार की जुल्मी सरकार का तख्ता उलटकर वहाँ 'समाजवादी सोवियट प्रजातंत्र' कायम किया गया। उस समय रूसी किसान और मजदूर उतने ही अशिक्षित, दरिद्र एवं पिछड़े हुए थे, जितने आज के हिन्दुस्तानी किसान और श्रमिक हैं। परन्तु नवीन प्रणाली ने वहाँ के आबाल-वृद्ध-वनिता में जीवन फूँक दिया; सारा राष्ट्र मानो निद्रा से जागकर अपूर्व उत्साह एवं लगन के साथ अपनी खोई हुई शक्ति के संचय में लग गया। स्टालिन के नेतृत्व में उसने दो पंचवर्षीय योजनाएँ बनाई, जिनके फल-स्वरूप रूस की सर्वांगीण उन्नति हुई। कुछ ही वर्ष पूर्व का पिछड़ा और दरिद्र रूस पृथ्वी के प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों की पंक्ति में बैठने का हकदार हो गया। रूस-जर्मन युद्ध में रूसी सेना की अद्भुत विजय का सारा श्रेय समाजवादी आर्थिक एवं राजनीतिक पुनर्रचना को ही है।

इधर भारतवर्ष में भी १९२० के बाद से राजनीति में एक नवीन लहर आई। तब तक भोली भारतीय जनता गौरांग प्रभुओं के वादों पर विश्वास करती आई थी। परन्तु 'जलियाँवाला बाग के हत्याकांड' और उसके बाद की पंजाब की घटनाओं ने उसके सुख-स्वप्न भंग कर दिये। उसने करवट बदली और दासता की बेड़ियाँ सदा के लिए तोड़कर मुक्त होने का संकल्प किया। यह काम गांधीजी के निदर्शन में हुआ। तब तक

'राजनीति' शब्द छल, कपट, धूर्तता, खून, गुप्त षड्यंत्र आदि का पर्यायवाची शब्द था। परन्तु गांधीजी ने राजनीति में आध्यात्मिकता का पुट दिया। सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलते हुए सत्याग्रह, बहिष्कार व सविनय अवज्ञा द्वारा स्वराज्य-प्राप्ति की नई 'फिलासफी' जनता के सामने पेश की गई। निहत्थी एवं मूलत: धार्मिक जनता को यह आदर्श अपील कर गया और लाखों व्यक्तियों ने इस यज्ञ में अपने तन-मन-धन की आहुति दी। देश में नया उत्साह और जागृति फैल गई। जनता ने अन्याय का प्रतिकार करने का नया तरीका जाना और सत्याग्रह के अस्त्र का विशाल पैमाने पर सफलता के साथ प्रयोग किया गया, यहाँ तक कि सर्वशक्तिमान् विदेशी सरकार ने भी कबूल किया कि अहिंसात्मक आन्दोलन, हिंसात्मक आन्दोलन से अधिक खतरनाक और परिणाम-कारक है।

समाजवाद और गांधीवाद में निम्न मौलिक और बुनियादी भेद हैं—

(१) समाजवाद क्रांतिद्वारा—फिर चाहे वह हिंसक हो या अहिंसक—राज्यसत्ता हस्तगत करना चाहता है। गांधीवाद अहिंसा और सत्य द्वारा ही स्वराज्य चाहता है। उसके अनुसार साधनों की शुद्धता और सच्चाई उतनी ही आवश्यक है, जितनी साध्य की प्राप्ति। साधन और साध्य में इतना निकट का संबंध है कि एक के खराब एवं विवादा-स्पद होने पर दूसरा स्थायी एवं कल्याणकर हो ही नहीं सकता।

(२) समाजवाद का खयाल है कि इस प्रकार प्राप्त राज्यसत्ता द्वारा धनिकों एवं शोषकों का अंत करके समता और सच्ची स्वतंत्रता की स्थापना करेगा।

गांधीवाद हृदय-परिवर्तन में विश्वास रखता है। वह चाहता है कि पूँजीपति अपने धन को जनता की धरोहर समझें और अपने को उसका निधिधारक; और धन का उपयोग खुद के ऐशो-आराम के लिए न करके सार्वजनिक भलाई के लिए करें।

(३) समाजवाद विशालकाय कल-कारखानों द्वारा जीवन-यापन का स्तर ऊँचा करने के पक्ष में है। बेकारी की समस्या हल करने के लिए वह हर एक से दो-तीन घंटे ही काम करायेगा। बाकी फुरसत का समय हर एक अपनी रुचि के अनुसार मनोरंजन, पठन-पाठन, देश-पर्यटन एवं विद्या-व्यासंग में लगा सके, वह ऐसी परिस्थितियाँ बनायेगा।

गांधीवाद मशीनों की बुराइयों से बचने के लिए मशीनों के निम्नतम एवं अनिवार्य मौकों पर ही उपयोग के पक्ष में है। दस्तकारी और गृह-उद्योगों द्वारा विकेन्द्री-करण करके हर एक को ८-१० काम देने का प्रबंध करना चाहता है। सारांश में वह 'सादा जीवन और उच्च विचार' का हिमायती है।

(४) समाजवाद पशुबल द्वारा भौतिक और बाह्य प्रगति करके मानव-जीवन को संपन्न करना चाहता है, अतएव अधिक व्यावहारिक जँचता है।

गांधीवाद मनुष्य की आंतरिक उन्नति करके नवयुग का निर्माण करना चाहता है, अतएव अधिक आदर्शवादी और शुरू में कम परिणामकारी, किन्तु अन्त में अधिक स्थायी है।

उपर्युक्त विवेचन से जाहिर है कि दोनों प्रणालियों के साधन और साध्य में जमीन-आसमान का फर्क है। वैसा होना भी स्वाभाविक था। रूस और हिन्दुस्तान में सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और जीवन के प्रति दृष्टिकोण में इतना फर्क है कि जो सिद्धांत रूसियों को जँचते हैं, वे हिन्दुस्तानियों को कदापि 'अपील' नहीं कर सकते। उनको तो वे ही विचार आयेंगे, जिनकी जड़ें उनके अतीत जीवन में जमी हों। इस दृष्टि से गांधीजी आदर्शवादी होते हुए भी पूर्ण भारतीय और व्यावहारिक हैं। वे देश की नब्ज को पहचानते हैं और किस वक्त कौनसा प्रोग्राम राष्ट्र के सामने रखना चाहिए, यह वे अपनी सहज बुद्धि और अंतःप्रेरणा द्वारा समझने की सामर्थ्य रखते हैं। यही वजह है कि जवाहरलाल जी-सरीखे समाजवाद के प्रकांड पंडित भी उनका हृदय से अनुकरण करते हैं। उनकी सादगी और अहिंसा, ग्रामोद्योग और भक्तिमय कर्मयोग, विश्वबन्धुत्व और अटल आशावाद हर एक भारतीय की नस-नस में बिंधे हुए हैं। और, यही कारण है कि सन् १९२० में जो बातें पागलों का प्रलाप मानी जाती थीं, वही १९४६ में लाखों व्यक्तियों द्वारा अपना ली गईं। यह बात तो गांधी जी के दुश्मन भी इनकार नहीं कर सकते कि इन २५ वर्षों में जो राजनीतिक उन्नति हुई है और ग्रामीण छाती तानकर अपने स्वत्वों की माँग करने के काबिल हुए हैं, उसका सारा श्रेय गांधी-आंदोलन को ही है। गांधीजी के तरीके स्पष्ट और प्रकट होने के कारण वे छोटे से छोटे देहात में पहुँचे और वहाँ की निराश और अंधकारमय झोपड़ियों में आशा और उत्साह की किरणें फैलाईं। विदेशी सरकार को यह रुचा तो नहीं, परन्तु इस प्रबल प्रवाह को रोकने में वह असमर्थ थी। लिहाजा बेबसी के साथ वह गांधीजी के बढ़ते प्रभाव को देखती रही और हिन्दू-मुस्लिम, दलितवर्ग, रियासतें इत्यादि प्रश्नों की आड़ में स्वराज्य की माँग टालती रही।

बाह्य और क्षणिक असफलताओं के बावजूद भी कांग्रेस ने आज किसानों, मजदूरों और युवकों के दिलों में घर कर लिया है और शनैः शनैः चलकर राष्ट्र अपने ध्येय की ओर अग्रसर हो गया। अब तो हमने मुकम्मिल-आजादी का अपना मकसद भी हासिल कर लिया है। उस सुदिन को अधिक नजदीक लाना हम सब पर निर्भर था।

अब आवश्यकता इस बात की है कि हम सब एक नेता, एक कार्यक्रम और एक पार्टी के निदर्शन में व्यक्तिगत स्वार्थों को तिलांजलि दे कर समष्टि के कल्याण में अपना व्यक्तिगत जीवन उत्सर्ग कर दें। सच्ची लगन और प्रामाणिक प्रयत्न गांधीवाद के आधार-स्तंभ हैं। इनके अभाव में आजादी का महल हवामहल तुल्य है।

हिन्दू-समाज और जातिभेद

श्री सन्तराम, बी० ए०, प्रधान, जात पाँत-तोड़क मण्डल

आज से कोई दो सहस्र छः सौ वर्ष पूर्व हमारे एक बहुत बड़े पूर्वज ने, वस्तुतः संसार के सबसे बड़े महापुरुष ने, जातिभेद की विषमताओं और हानियों के विरुद्ध अनवरत प्रचार किया था। कारण यह कि उसकी दूरदर्शी आँखों ने जातिभेद के भीतर हिन्दू-समाज के विनाश का बीज देख लिया था। सम्पूर्ण आर्यावर्त उसका मतानुयायी बन गया था। जब तक भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार रहा, यह देश सबल एवं स्वतंत्र बना रहा। तब भी विदेशी आक्रमणकारियों के लिए यह देश उसी प्रकार खुला पड़ा था जैसे कि आज है। परन्तु तब यह इतना शक्तिशाली था कि किसी को उसकी ओर आँख उठाकर देखने का भी साहस न होता था। बारह सौ वर्ष तक भारत स्वाधीन एवं अखण्ड बना रहा। महाराज अशोक का साम्राज्य अराकान से लेकर हिन्दूकुश तक फैला हुआ था। इतना बड़ा प्रदेश भारत में अँगरेजों के अधीन भी नहीं रहा। भगवान् बुद्ध की शिक्षा के प्रभाव से जातिभेदरूपी पिशाच दब गया था। फलतः हिन्दुओं में पराक्रम एवं पुरुषार्थ की ऐसी वृद्धि हुई थी कि सत्तर सत्तर वर्ष के बूढ़े बीहड़ वनों और दुर्गम पर्वतमालाओं को लाँघ कर तिब्बत, चीन और संसार के दूसरे देशों में धर्म-प्रचारार्थ पहुँचे थे। उस समय चीन, जापान, ब्रह्मा, सिंहल, अफगानिस्तान, खुतन और मध्य एशिया प्रभृति नाना देशों की समूची प्रजा भारत को अपनी पुण्यभूमि मानकर वन्दना करती थी। परन्तु ज्यों ही देश की शत्रु पुरोहितशाही ने बौद्धधर्म के विरुद्ध षड्यंत्र रचकर जातिभेद को फिर से प्रचलित किया और भारत का शासन-सूत्र पुष्यमित्र जैसे राजाओं के हाथ में आया, त्यों ही देश अधःपतन की ओर अग्रसर होने लगा। भारत पर उत्तर-पश्चिम की ओर से आक्रमण होने लगे और रक्त की नदियाँ बह निकलीं। हिन्दू-राष्ट्र उन नृशंस विदेशियों के प्रबल प्रहार को रोकने में असमर्थ हो गया।

बुद्ध और शङ्कर

कुछ लोग बौद्धधर्म को भारत से निकालने का दोष शङ्कराचार्य को दिया करते हैं। पर उनकी यह धारणा सत्य नहीं। इतिहास उनकी बात की साक्षी नहीं देता। शङ्कराचार्य के चार सौ वर्ष बाद तक इस देश में बौद्धधर्म का प्रबल प्रचार था। हिन्दू पुराणों ने बुद्धदेव को विष्णु का अवतार मान लिया था। गरुड़पुराण कहता है—

वासुदेवः पुनर्बुद्धः, संमोहाय सुरद्विषाम्।
देवादीनां रक्षणाय, अधर्महरणाय च॥ १-१४९-३९

अर्थात् अधर्म के नाश के लिए, देवताओं की रक्षा के लिए और राक्षसों के सम्मोहन के लिए उसी वासुदेव श्रीकृष्णचन्द्र ने बुद्ध का रूप धारण किया।

फिर कूर्मपुराण कहता है—

नमो वेदरहस्याय, नमस्ते वेदयोनये ।
नमो बुद्धाय शुद्धाय, नमस्ते ज्ञानरूपिणे ॥

अर्थात्—ज्ञान के तत्त्व-स्वरूप, ज्ञान के उत्पत्ति-स्थान, ज्ञान-रूप, ऐसे शुद्ध भगवान् बुद्ध के लिए नमस्कार है ।

इतना ही नहीं, वहीं स्वयं शङ्कराचार्य ने बुद्धदेव की स्तुति की है। वे कहते हैं—

धराबद्धपद्मासनस्थांघ्रियष्टिः,
नियम्यानिलंन्यस्तनासाग्रदृष्टिः ।
य आस्ते कलौ योगिनां चक्रवर्ती,
स बुद्धः प्रबुद्धोऽस्तु मच्चित्तवर्ती ॥

अर्थात्—पृथ्वी पर पद्मासन बाँधकर जिसने एकाग्रता और प्राणसंयमपूर्वक नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर की थी, जो कलियुग में योगियों के चक्रवर्ती हुए थे, वह महाज्ञानी बुद्ध मेरे हृदय-देश में विराजमान हों ।

जो शङ्कर बुद्ध की इतनी प्रशंसा करते हैं वे उसके शत्रु कैसे हो सकते हैं ? वास्तव में बात यह है कि बौद्धधर्म की अहिंसा भी भारत के पतन का कारण नहीं हुई। अहिंसा केवल बुद्ध का ही सिद्धान्त नहीं। भारत के सभी प्राचीन ऋषि-मुनि अहिंसा का उपदेश देते आये हैं। शङ्कर के तत्त्वज्ञान ने भी बौद्धधर्म को भारत से नहीं निकाला है। यदि शङ्कर में इतनी शक्ति होती तो वे शैवों, शाक्तों, कापालिकों, वाममार्गियों और वैष्णवों को भी देश से न निकाल देते। उनके मतों का भी शङ्कर ने खण्डन किया था। ऐसा जान पड़ता है कि बख्तियार खिलजी जैसे मुसलमान आक्रमणकारियों ने बहुत से बौद्ध भिक्षुओं की हत्या कर डाली, उनके मठ जला दिये और पुस्तकें नष्ट कर दीं। बौद्धों ने एक भारी भूल की थी। उन्होंने अपने सबसे योग्य विद्वानों को विदेशों में प्रचारार्थ भेज दिया था। मुसलमानों द्वारा भिक्षुओं के सर्ववध के उपरान्त भारत में ऐसे बौद्ध विद्वान् न रह गये थे जो ब्राह्मणी धर्म के समर्थकों का मुँह बंद कर सकते। उन विद्वानों के अभाव में ही वर्ण-व्यवस्था की विष-बेलि पुनः अङ्कुरित हो सकी और सर्वत्र ऊँच-नीच का राज्य हो गया।

समाज-रचना में दोष

तब इस महान् हिन्दू-राष्ट्र की—हाँ उस राष्ट्र की जिसकी आध्यात्मिक ज्योति अब तक समूचे एशिया महाद्वीप को आलोकित कर रही है, और जो सुदूर नार्वे और मेक्सिको तक पहुँची थी—इस लज्जाजनक अधोगति का, उसकी इस चिरकालव्यापी दासता का क्या कारण हुआ ? भारत का जल-वायु वही है, वही हिमालय और वही गंगा हैं, वही हम हैं, वरन् हमारी संख्या तब से बहुत अधिक बढ़ गई है, फिर भी हम संसार में सबसे निर्बल और अशक्त राष्ट्र हैं। अवश्य ही हमारी समाज-रचना में कोई दोष आ गया है, जिससे हम इतने दुर्बल हो गये हैं। हमारे मानसिक दृष्टिकोण में अवश्य कोई भारी त्रुटि है जिससे हम संख्या में बहुत अधिक होने पर भी मुट्ठी भर विदेशियों से हार खाते रहे हैं।

अन्तर्मुख होकर थोड़ा भी विचार करने से हमारी दरिद्रता, हमारी राजनीतिक दासता और हमारी सामाजिक अधोगति का वास्तविक रहस्य हम पर प्रकट हो जायगा। भारत अभी तक वही भारत है जो कभी समूचे संसार का गुरु था। समाज-रचना के सिवा हमारी और कोई भी चीज नहीं बदली। हिन्दू-धर्म में कोई दोष नहीं, हिन्दू समाज-व्यवस्था में दोष है; इस समाज-व्यवस्था ने हमें घुन की तरह खा डाला है। इसने भारत की राष्ट्रीय एकता के आधार को ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। इसने भाई को भाई से लड़ा दिया है, भाई को भाई का द्रोही बना दिया है। हमारे जिस उच्च चरित्र की किसी समय भूमण्डल में धाक थी वह भ्रष्ट हो गया है। हमारा जीवन दुःखमय हो गया है। हम आपस में कुत्ते और बिल्ली की भाँति लड़ रहे हैं। हम लोग अपने दोषों को आप नहीं देख सकते। हम उस पैशाचिक शक्ति के चंगुल में फँसे हैं जिसने हमारे भीतर सामाजिक फूट और भेदभाव उत्पन्न कर दिया है और जो उस फूट और उस प्रभेद को अपने बीच स्वार्थ के लिए सदा बनाये रखना चाहती है। परन्तु एक निष्पक्ष विदेशी, जिसे हमारी समाज-रचना से न कुछ लाभ है और न कुछ हानि, बता सकता है कि हमारे सामाजिक संगठन को छिन्न-भिन्न करनेवाली एकमात्र चीज हमारा जातिभेद है। यह एक ऐसी महाव्याधि है जिसका फलाफल इतिहास के पन्नों में पढ़ा जा सकता है। यह वह क्षयरोग है जिसने राष्ट्र को छोटे छोटे टुकड़ों में बाँटकर, उसकी मिलकर काम करने की शक्ति को नष्ट कर डाला है। वन के पशु भी शत्रु को देखकर उसका सामना करने के लिए इकट्ठे मिल जाते हैं। मेल की यह बुद्धि जो भेड़ियों और भैंसों तक में अब तक पाई जाती है, हम मनुष्य कहलानेवाले प्राणियों में लुप्त हो गई है। सोचिए तो सही कि मुट्ठी भर मुसलमान उठते हैं और अपने से कई गुना अधिक संख्यावाले हिन्दुओं को भगा देते हैं। इसका कारण क्या है? मुसलमान कौन हैं? उनमें से अधिकांश हिन्दुओं में से ही गये हैं। इस्लाम ने उनको यह शक्ति कैसे दी? पाठक, यदि ठंडे हृदय से सोचेंगे तो इस परिणाम पर पहुँचे बिना न रह सकेंगे कि हिन्दुओं की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दुरवस्था का मूल कारण उनका जातिभेद है। देखिए, एक विदेशी विद्वान् क्या कहता है—

एक विदेशी का मत

"विभिन्न वर्णों और उपवर्णों को सदा के लिए एक दूसरे से पृथक् पृथक् रखने का परिणाम यह हुआ है कि रङ्ग-रूप, आकार-प्रकार और रहन सहन की दृष्टि से हिन्दुओं का आपस में कुछ भी सादृश्य नहीं रहा। दूसरे देशों के समान यह धनी और निर्धन का, नगर और ग्राम का, स्वामी और सेवक का प्रश्न नहीं; इसका प्रभेद तो उससे भी कहीं अधिक गहरा है। किसी एक जिले या नगर को ले लीजिए। वहाँ के लोगों को देखकर आपको ऐसा नहीं जान पड़ेगा कि वे सब एक ही राष्ट्र के हैं। वे आपको विभिन्न राष्ट्रों का—वरन् मनुष्य-जाति के विभिन्न वंशों का—समुदाय प्रतीत होंगे, जो एक दूसरे के साथ न खाते, न पीते और न ब्याह-शादी करते हैं। और जिनका संसार केवल उनकी अपनी ही बिरादरी या उपजाति है। इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति न होगी, यदि हम कहें कि जातिभेद ने भारत के अधिवासियों को २००० से भी अधिक जातियों में बाँट रक्खा है। इन जातियों का

आपस में उससे अधिक सबंध नहीं जितना कि चिड़िया-घर के पशु-पक्षियों का आपस में होता है।

"जो देश इस प्रकार से छोटी छोटी जातियों और उपजातियों में तथा राजनीतिक रूप में अनेक छोटे छोटे रजवाड़ों में बँटा हुआ था उसके भाग्य में पहले ही प्रबल आक्रमणकारी के सामने हार खा जाना स्पष्ट रूप से बदा था। यह आक्रमणकारी इस्लाम था। मुसलमानों को एक बड़ा लाभ था। वे हिन्दुओं के विरुद्ध सब इकट्ठे हो जाते थे। इस्लाम हिन्दू-धर्म का बिलकुल उलटा है। उसका सिद्धान्त है कि सब मोमिन भाई हैं। इसने अछूत और नीच वर्ण के हिन्दुओं की एक बहुत बड़ी संख्या को आकर्षित किया। इस्लाम ग्रहण कर लेने पर उन लोगों की स्थिति शासकों के समान हो जाती थी। भारत में मुसलमानों की संख्या इतनी अधिक होने का कारण यही है। ये अधिकांश में उन हिन्दुओं के वंशज हैं जिन्होंने विभिन्न कालों में इस्लाम ग्रहण किया था"। –' Clashing Tides of Colour," by Lothrop Stoddards, pp. 285-286.

कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ

अब तनिक इतिहास के पन्ने उलटिए। शेरशाह सूरी के समय में हेमचन्द्र (हेमू बक्काल) नामक एक बनिये ने अपना नाम विक्रमादित्य रखकर हिन्दू-राज्य स्थापित करना चाहा। उसने दिल्ली आदि कई स्थानों पर मुगल-सेनाओं को हराया। किन्तु राजपूतों ने उसकी सेना में भरती होने से इनकार कर दिया। वे कहते थे कि हम क्षत्रिय होकर नीच वर्ण के वैश्य के अधीन काम नहीं कर सकते। फलतः जब हेमचन्द्र की बैरम खाँ से हार हुई तो उन्हीं राजपूतों को मुसलमानों का गुलाम बनने में कोई अपमान न मालूम हुआ।

इसी प्रकार काठियावाड़ का एक ढेड़ (अछूत) जब तक हिन्दू रहा, वर्ण-व्यवस्था के ठेकेदारों ने उसे उठने न दिया। परन्तु ज्यों ही उसने मुसलमान बनकर अपना नाम खुसरो रक्खा, त्यों ही उसने खिलजी-वंश की सारी राजसत्ता अपने हाथ में ले ली। तब उसने हिन्दू-राज्य स्थापित करने का प्रस्ताव किया। पर हिन्दुओं ने उसका साथ नहीं दिया, क्योंकि वह चमार था।

जब अहमद शाह अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किया और पानीपत के मैदान में सदाशिवराव भाऊ ने उसका सामना किया, तब मराठों की वीरता और भाऊ के शौर्य को देखकर अब्दाली के छक्के छूट गये। उसने घोड़े पर से उतरकर ईश्वर से प्रार्थना की कि यदि इस बार मैं सकुशल स्वदेश को लौट सकूँ तो फिर कभी भारत की ओर आँख उठाकर भी न देखूँगा। एक दिन रात के समय उसने मराठों की छावनी पर दृष्टि दौड़ाई तो क्या देखा कि सैकड़ों-सहस्रों स्थानों पर छोटी छोटी आग जल रही है। उसने पूछा, ये क्या हैं? उसे बताया गया कि मराठा लोग दूसरे के हाथ का बना भोजन नहीं खा सकते, इसलिए वे अपना अपना अलग भोजन बना रहे हैं। यह सुन अब्दाली को ढाढ़स बँध गया। वह बोला, जो लोग आपस में इकट्ठा खा नहीं सकते, उनको जीतना क्या कठिन है। दूसरे दिन जब बारह बजे, तो मुसलमानों ने तो खुरजी में से निकाल कर,

घोड़े पर बैठे बैठे ही, रोटियाँ खा लीं, पर मराठे अपना अपना भोजन बनाने में लग गये। अब्दाली ने अवसर देख उन पर एकदम धावा बोल दिया। कोई मरहठा नहा रहा था, कोई दाल छौंक रहा था, कोई आटा गूँध रहा था, कोई खा रहा था। लाखों सिपाहियों में से दो सहस्र भी अब्दाली का सामना करने के लिए तैयार न हो सके। मराठा सेना में भगदड़ मच गई। भाऊ मारा गया।

भारत का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जहाँ जातिभेद के कारण हिन्दुओं की पराजय हुई। उन सबका यहाँ उल्लेख करना कठिन है। जिस मराठा राज्य की स्थापना महाराज शिवाजी ने इतने यत्न से की थी उसके विनाश का मुख्य कारण भी जातिभेद ही था। पेशवा ऊँचे वर्ण के ब्राह्मण थे और होलकर, भोंसले, गायकवाड़ और शिन्दे आदि सरदार शूद्र। ब्राह्मण शूद्रों को नीच समझते थे। कोल्हापुर के राजा शिवाजी के वंशज हैं। कोल्हापुर-महाराज का यज्ञोपवीत कराने से ब्राह्मणों ने इनकार कर दिया, क्योंकि भोंसले शूद्र हैं और शूद्र का कोई संस्कार वेद-मंत्र से नहीं हो सकता। इस पर महाराजा ने आज्ञा दी कि "मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण को शूद्र के राज्य में नहीं रहना चाहिए। जो हमें शूद्र समझता है वह २४ घंटे के भीतर हमारे राज्य से बाहर निकल जाय। कितने ही ब्राह्मणत्वाभिमानी अपना बोरिया-बिस्तर उठाकर निकल पड़े। जब ब्रिटिश सरकार ने इण्डियन रीफार्म्ज की घोषणा की थी तो इन्हीं महाराजा साहब ने कहा था—"यदि जातिभेद वैसा ही बना रहा जैसा कि यह है, तो स्वराज्य का परिणाम ऊँचे वर्ण के थोड़े से लोगों के राज्य के सिवा और कुछ न होगा।*

प्रसिद्ध इतिहास-शास्त्री सर यदुनाथ सरकार अपनी पुस्तक "शिवाजी एण्ड हिज टाइम्ज" में लिखते हैं—

"शिवाजी के प्रयत्न से समूचे देश में एक अस्थायी उत्साह फैल गया और हमने समझ लिया कि देश संगठित हो गया। परन्तु समूचे समाजरूपी शरीर में पड़ी हुई दरारें और छिद्र गुप्त रूप से काम करते हैं। उनके कारण हम किसी ऊँचे आदर्श को चिर काल तक बनाये नहीं रख सकते। शिवाजी ने इन दरारों को वैसी की वैसी बनाये रखना चाहा। वह मुगलों के आक्रमण से एक ऐसे हिन्दू-समाज की रक्षा करना चाहता था जो जात-पाँत की बाँट और अलगाव को ही जीवन का श्वास समझता है। वह विषमता से भरे हुए गङ्गा जमुनी समाज को समूचे भारत का विजेता बनाना चाहता था। इसलिए वह बालू की दीवारें तैयार कर रहा था। वह असंभव को संभव बनाने जा रहा था। जातिभेद से बुरी तरह दबे हुए, भीतर से फटे और बिखरे हुए हिन्दू-समाज का भारत जैसे विशाल महाद्वीप पर स्वराज्य स्थापित करना मनुष्य की शक्ति से बाहर और निसर्ग के प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है।" पृष्ठ ४३०

* If castes remain as they are, Home Rule in the sense it is meant, will result in nothing but a kind of oligarchy."—Lathe Vol. II, p. 494.

स्वराज्य और जातिभेद

कुछ भाई कहा करते हैं कि स्वराज्य ले लेने के बाद ही जातिभेद को मिटाने का काम आरम्भ होना चाहिए। ऐसे महाशयों से मेरा प्रश्न है कि यदि जातिभेद को रखते हुए भी स्वराज्य प्राप्त हो सकता है, तो फिर हमारा स्वराज्य नष्ट ही क्यों हुआ। जिस कारण से हमारा पतन हुआ उसकी विद्यमानता में हमारा उत्थान हो भी कैसे सकता है? जातिभेद की दलदल पर स्वराज्य का विशाल भवन निर्मित हो ही नहीं सकता।

स्वराज्य की आवश्यकता इसलिए होती है ताकि सामाजिक अधिकारों की रक्षा हो सके। जिस मनुष्य के पास सामाजिक अधिकार ही न हों, उसे स्वराज्य से क्या लाभ होगा? अछूत के लिए, शूद्र के लिए स्वराज्य का क्या अर्थ है? केवल कानून पास कर देने से ही उनको सामाजिक समता के अधिकार नहीं मिल जायँगे। अमेरिका में कोई ऐसा कानून नहीं जो नीग्रो लोगों को किसी नागरिक अधिकार से वंचित करता हो। फिर भी वे अपने अधिकारों का उपयोग नहीं कर पाते। भारत-सरकार का ऐसा कोई कानून नहीं जो अछूतों को सार्वजनिक स्कूलों, कुओं, और भोजनालयों का उपयोग करने से रोकता, जो उन्हें व्याह-शादी पर सोने के गहने पहनने और पालकी में सवार होने का निषेध करता हो। पर क्या इतने से वे अपने नागरिक अधिकारों का उपयोग कर पाये हैं बिलकुल नहीं। कारण यह कि अधिकारों की रक्षा केवल कानून से नहीं हो सकती। प्रत्येक गाँव में और प्रत्येक व्यक्ति के साथ आप पुलिस नहीं रख सकते। अधिकारों की रक्षा जनता की न्यायान्याय-बोधशक्ति (कानशंस) को जागृत करने से ही हो सकती है। जब तक जनता में जातिभेद के विरुद्ध भाव जागृत न किया जायगा, आज स्वराज्य हो जाने पर भी, समूची भारतीय प्रजा समान रूप से स्वतंत्र न हो सकेगी। एक अछूत के लिए चाहे कोई विदेशी प्रजापीड़क राजा हो और चाहे कोई स्वदेशी प्रजापीड़क द्विज, बात बराबर है। ब्राह्मण द्वारा किया गया उसका शोषण जापानी द्वारा किये जानेवाले उसके शोषण से कुछ कम दुःखदायक नहीं होगा। उसके लिए तो दोनों समान हैं। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि पहले प्रचार द्वारा हिन्दू-जनता में जातिभेद के प्रति घृणा उत्पन्न की जाय, तभी शूद्र और अछूत सामाजिक अधिकारों का उपभोग कर सकेंगे। फिर वे भी अपने अधिकारों की रक्षा के निमित्त राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए द्विजों के साथ मिलकर प्रयत्नशील होंगे। इस समय तो वे यही कहते हैं—

कोउ नृप होय हमें का हानी।
चेरी छाँड न होउब रानी॥

जातिभेद दो व्यक्तियों के बीच, केवल उनके जन्म के कारण, रोटी-बेटी व्यवहार का निषेध कर देता है। समाज शास्त्र का नियम है कि जब किसी एक देश में बसनेवाले दो जन-समूह आपस में रोटी-बेटी-व्यवहार करने से इनकार कर देते हैं तो उनमें एक दूसरे को ऊँचा या नीचा समझने का भाव उत्पन्न हो जाता है। इस कुत्सित भाव के उत्पन्न होते ही उनकी एकता नष्ट हो जाती है। इसलिए किसी जनसमूह के एक राष्ट्र कहलाने के लिए उनमें एक भाषा, एक से रीति-रवाज, वरन् एक धर्म का होना भी उतना आवश्यक

नहीं जितना कि बेटी-व्यवहार का होना। पंजाब का ब्राह्मण अपने को जितना बंगाल के ब्राह्मण के निकट समझता है उतना पंजाब के नाई के निकट नहीं, चाहे पंजाब की भाषा बंगाल की भाषा से अलग हो। एक आर्यसमाजी जाट अपने को जितना सिक्ख जाट के निकट समझता है उतना आर्यसमाजी बनिये के निकट नहीं, चाहे दोनों का धर्म एक है। इसलिए जातिभेद राष्ट्रीयता का घोर घातक है। रूस में निस्संदेह चाहे अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं, बेशक विभिन्न वंशों के लोग रहते हैं, बेशक अनेक धर्म हैं, पर उन सब में परस्पर रोटी-बेटी-व्यवहार पर कोई प्रतिबंध नहीं। इसलिए वे सब मिलकर एक राष्ट्र बन गये हैं। पंजाब के हिन्दू एक भाषा, एक देश और एक धर्म रखते हुए भी एक राष्ट्र नहीं बन सके। वे ऊपर से नारङ्गी की भाँति एक अखण्ड दीखते हुए भी भीतर से पृथक् पृथक् फाँकें हैं।

यह बात ठीक है कि भारत के मुसलमानों और ईसाइयों में भी जातिभेद है। पर उनके जातिभेद और हिन्दुओं के जातिभेद में अन्तर है। हिन्दू जातिभेद को अपने धर्म का एक अंग मानते हैं, परन्तु इसके विपरीत वे लोग इसे एक बुराई समझते हैं जो हिन्दुओं के संसर्ग से उनमें आ गई है। अपनी जाति से बाहर विवाह करनेवाले व्यक्ति को मुसलमान और ईसाई, हिन्दुओं की भाँति, अपने समाज से बाहर नहीं निकाल देते।

"शुद्धि" की विफलता

जातिभेद अस्पृश्यता की जननी है। यह क्रमबद्ध अस्पृश्यता है। इसमें सभी हिन्दू एक दूसरे के लिए अछूत हैं—कोई कम अछूत है और कोई अधिक। मालवीय ब्राह्मण सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ शायद भोजन तो कर सकता है पर बेटी-व्यवहार नहीं। क्षत्रिय के यहाँ वह कच्ची रसोई भी नहीं खा सकता। इसी प्रकार चमार से छू जाने से ही वह अपने को अपवित्र मानने लगता है। जब तक सवर्ण है तब तक अवर्ण (अछूत) भी अवश्य रहेगा। जातिभेद को मिटाने से ही अछूतपन दूर हो सकता है।

जातिभेद के कारण "शुद्धि" आन्दोलन विफल हो गया है। दूसरे धर्मों से आनेवाले लोगों को हिन्दू रोटी-बेटी-व्यवहार द्वारा अपने समाज का अङ्ग बनाने में असमर्थ हो गये हैं। जो लोग "शुद्ध" होकर हमारे धर्म में आते हैं वे कुछ ही दिन बाद हमारे कट्टर शत्रु बनकर लौट जाते हैं। कारण यह है कि हिन्दू केवल अपनी जातिवालों के साथ ही बेटी-व्यवहार कर सकते हैं और नवागतों पर ब्राह्मण, क्षत्रियादि का कोई लेबल नहीं लगा होता।

उज्जैन में गौसअली नाम के एक गृहस्थ थे। वे नजरली मिल्ज में मैनेजर थे। वे शुद्ध होकर हिन्दू बन गये। कोई २० वर्ष तक वे अपने खर्च से आर्यसमाज के उत्सव कराते रहे। उन्होंने अपनी कन्या शान्ता को, कन्या-महाविद्यालय, जालन्धर में पढ़ाया और दो लड़कों को शायद काशी विश्वविद्यालय में। पर जब विवाह का अवसर आया तो उनके लड़कों को हिन्दू-समाज में न लड़कियाँ मिल सकीं और न लड़की को लड़का। लड़कों ने तब मुसलमान लड़कियों से विवाह कर लिया और मुसलमान हो गये। लड़की कदाचित् अभी तक हिन्दू ही है। उसने विवाह ही नहीं किया।

ऐसे एक ही नहीं सैकड़ों उदाहरण हैं, जहाँ जातिभेद के कारण हिन्दू विधर्मियों को अपने में पचा नहीं सके। जब जातिभेद उतना कड़ा न था तब हिन्दू-समाज शक, हूण, यूची आदि न मालूम कितनी ही विदेशी जातियों को हड़प कर गया था। आज उन जातियों के अलग अस्तित्व का पता तक नहीं चलता। जातिभेद के कारण हिन्दुओं में से तो निकलकर लोग विधर्मों में जा रहे हैं, पर हिन्दू किसी विधर्मी को पचाने में असमर्थ है। मेरा विश्वास है कि आज भी यदि हिन्दू-समाज जात-पाँत के बंधन को हटा दे, तो आज भी सैकड़ों-सहस्रों नहीं लाखों ईसाई-मुसलमान हिन्दू-समाज में आने को उद्यत हो सकते हैं।

अनमेल विवाह

जातिभेद के कारण अनेक बिरादरियों में लड़कियों को योग्य वर नहीं मिलते और लड़कों को योग्य वधुएँ। इससे व्यभिचार फैलता है और माता-पिता को भारी दहेज देने पड़ते हैं। इसी से अनमेल विवाह होकर हिन्दुओं की गृहस्थी नरक बन रही है।

हिन्दुओं के हारने का कारण

जाति-बंधन के कारण अपनी ही छोटी सी संकीर्ण बिरादरी में बेटी व्यवहार होता रहने और बाहर का नया रक्त न आने से हमारे ब्राह्मण घमंडी, हमारे क्षत्रिय अदूरदर्शी, हमारे वैश्य कायर और हमारे शूद्र पशु से भी बुरे हो गये हैं। यही कारण है कि हमारे राजपूत इतने वीर होते हुए भी मुसलमानों से सदा हार ही खाते रहे। रक्त मिश्रण से यदि राजपूतों में वीरता के साथ ब्राह्मणों और बनियों की परिणामदर्शिता और चातुर्य भी होता तो वे अवश्य विजयी होते। इतिहास में हम देखते हैं कि जिस भारतीय सेना का सेनापति अँगरेज होता था वह जीत जाती थी और दूसरी हार जाती थी। पहले अँगरेजों के अधीन पूरबियों ने पंजाब के सिक्खों को जीता और फिर उन्हीं सिक्खों ने अँगरेज सेनापतियों के अधीन लड़कर सन् १८५७ में पूरबियों को हराया। जातिभेद के कारण हममें लड़ाई को जीतनेवाले सेनानायक नहीं उत्पन्न हो सकते।

फूट का कारण

जातिभेद बनिये और जाट की, भूमिहार और कायस्थ की, अछूत और सवर्ण की लड़ाई का कारण है। यदि जाटों और बनियों में, कायस्थों और ब्राह्मणों में बेटी-व्यवहार होता तो ऐसा जातिगत वैमनस्य कभी उत्पन्न न हो सकता। तब सबके हित एक दूसरे में ओत-प्रोत होते। वे एक दूसरे के सुख दुःख और हानि लाभ में सम्मिलित होते।

हिन्दुओं की विभिन्न जातियों में परस्पर बेटी-व्यवहार न होने से सबके हित भिन्न भिन्न हो गये हैं। जिसमें बनिये का लाभ है उसी में जाट की हानि है। जिस सरकारी विभाग में कोई ब्राह्मण उच्चाधिकारी होता है उसमें वह सब ब्राह्मणों को ही भरती करने का यत्न करता है। इसी प्रकार कायस्थ कायस्थों को करता है। इससे हिन्दुओं में एक दूसरे

के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो गया है। उन्होंने एक दूसरे के विरुद्ध अपमानजनक कहावतें गढ़ रक्खी हैं। जैसा कि—

१—जिसका होवे बनिया यार, उसको दुश्मन क्या दरकार ?
२—अकाल बागड़ से होत, बुरा ब्राह्मण से होत।
३—खत्रीपुत्रं कभी न मित्रं, जब मित्र तब दगा दगा।

इतना ही नहीं, व्यास-स्मृति, अध्याय पहला श्लोक ११-१२ में कहा है—

वर्द्धकी नापितो गोप आशाप: कुम्भकारक: ॥
वणिक्किरात कायस्थ मालाकार कुटुम्बिन: ।
वरटो मेद चण्डाल दास: श्वपच कोलक: ॥ ११ ॥
एतेऽन्त्यजा: समाख्याता ये चान्ये च गवाशना: ।
एषां सम्भाषणात्स्नानं दर्शनादर्कवीक्षणम ॥ १२॥

अर्थात् बढ़ई, नाई, ग्वाला, कुम्हार, बनिया, कायस्थ, माली, चाण्डाल, दास, भङ्गी, कोली आदि सब अन्त्यज कहलाते हैं। इनके साथ बातचीत करने पर स्नान करना चाहिए और इनको देखने पर सूर्य-दर्शन करना चाहिए, तब अशौच दूर होता है।

जिस राष्ट्र के लोगों के एक दूसरे के प्रति ऐसे गन्दे भाव हों उसमें प्रेम और संगठन का होना कैसे संभव है ?

जातिभेद और कारीगर

जातिभेद ने कारीगरों को नीच ठहरा कर उद्योग-धन्धे की घोर हानि की है। जिस व्यक्ति से आप इसलिए घृणा करते हैं कि वह जूते या बर्तन या आभूषण या ताले या कपड़ा बनाता है, वह अपनी कला और धंधे से प्रेम कैसे कर सकता है ? फिर जिस मनुष्य का अपने व्यवसाय से प्रेम ही नहीं वह उसे उन्नत कैसे कर सकता है ? वह तो अपमान से बचने के लिए उस व्यवसाय को छोड़ने को ही यत्न करेगा।

जातिभेद मनुष्य का व्यवसाय जन्म से ही निश्चित कर देता है। ब्राह्मण के घर में जन्म लेनेवाले बालक को वेदाध्ययन ही करना होगा, चाहे उसमें उसकी योग्यता न भी हो। भङ्गी के घर पैदा होनेवाले बालक को टट्टी उठाकर ही आजीविका कमानी चाहिए, चाहे उसमें जज बनने की बुद्धि हो और चाहे गंदगी उठाने के काम में उसका मन न भी लगता हो। जातिभेद के कारण चमार के घर में जन्म लेनेवाला कोई बालक अपने पुरुषार्थ से कभी ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं बन सकता। इसलिए जातिभेद मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा को कुचल कर उसे सदा अधोगति में पड़ा रहने पर विवश करता है।

अन्याय और पक्षपात

जातिभेद मनुष्य की न्याय-बुद्धि को नष्ट कर देता है। उसमें ब्राह्मण को बहुत अधिकार दिये गये हैं और शूद्र के साथ बहुत कठोरता की गई है। मनु का कहना है—'न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्। अर्थात् ब्राह्मण चाहे कैसा भी पाप करे, उसकी हत्या नहीं करनी चाहिए। तुलसीदास कहते हैं—

पूजिय विप्र शील-गुण-हीना।
शूद्र न गुणगण-ज्ञान-प्रवीना ।।

शूद्र के लिए धन कमाने और विद्याध्ययन का भी निषेध है। सहस्रों वर्ष से अछूत, भील, गोंड़, कोल आदि आदिम जातियाँ भारत में बसी हैं। पर किसी भी हिन्दू राजा ने कभी उनको सुशिक्षित करके अच्छे नागरिक बनाने का यत्न नहीं किया। यह कितनी लज्जा की बात है। अब जब वे ईसाई और मुसलमान होने लगे हैं तो हिन्दू तलमला उठे हैं। पर जातिभेद के कारण वे उन लोगों को समानता के अधिकर देकर अपने में पचाने में असमर्थ हैं। ईसाई धर्म के मार्ग में केवल रोड़ा ही अटका सकते हैं।

जातिभेद का विष हिन्दू-समाज में इतना गहरा घुसा है कि शङ्कराचार्य जैसा विद्वान् भी कहता है कि यदि शूद्र के कान में वेद का मंत्र पड़ जाय तो उसे पिघला हुआ सीसा डाल कर भर देना चाहिए और यदि शूद्र वेद-मंत्र का उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट डालनी चाहिए। देखिए, गौतम धर्म-सूत्र १२४ और ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य आ० १, प० ३, अध्याय ९, सू० ३८

जातिभेद के कारण आज "हिन्दू" नाम का कोई जीव नहीं। कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य, और कोई शूद्र। जब एक हिन्दू दूसरे से पूछता है कि तुम कौन हो, तो दूसरा उसे "मैं हिन्दू हूँ" न कहकर मैं तिवारी हूँ, मैं भाटिया हूँ, मैं बनिया हूँ, मैं कहार हूँ ही कहता है। इसलिए जब एक हिन्दू पिटता है तो दूसरा हिन्दू पास खड़ा तमाशा देखा करता है।

जावा-सुमात्रा का मुसलमान होना

किसी समय अनाम, श्याम, मलय, जावा, सुमात्रा, हिन्द चीन आदि देशों में हिन्दू धर्म फैला था। वहाँ हिन्दू उपनिवेश थे। पर जब जातिभेद के कारण समुद्र-यात्रा और दूसरे के हाथ का बना भोजन खाने का निषेध हो गया तो फिर उन देशों से भारत का संबंध टूट गया। वहाँ भारतीय धर्म-प्रचारकों का जाना बंद हो गया। फलत: वे लोग मुसलमान हो गये। कालीकट का राजा जमूरन पश्चिमी देशों में व्यापार करना चाहता था। पर उसके राज्य का कोई हिन्दू, जाति खोने के भय से, समुद्र-यात्रा नहीं कर सकता था। इसलिए जमूरन ने अपनी प्रजा में से कुछ लोगों को बलात् मुसलमान बनाया, ताकि वे उसके लिए व्यापार करने विदेश जा सकें।

क्या जातिभेद सनातन धर्म है ?

कुछ लोगों की धारणा है कि जातिभेद सनातन धर्म है और जात-पाँत तोड़कर विवाह करने से वर्णसंकरता आ जाती है। पर उनकी यह धारणा भ्रममूलक है। यदि यह सनातन धर्म होता तो उसे कोई भी शक्ति तोड़ न सकती। सनातन का अर्थ है वह चीज जो कभी न बदले, जो अपरिवर्तनीय हो, त्रिकालाबाधित हो। देखिए अग्नि का सनातन धर्म जलाना है, गरमी पहुँचाना है। उसका यह धर्म कभी नहीं बदलता। जिस दिन आग जलाना छोड़ देगी उस दिन वह आग नहीं रहेगी। उसके इस सनातन धर्म की रक्षा करने के लिए कोई सनातन-धर्मरक्षिणी सभा बनाने की आवश्यकता

नहीं। इसी प्रकार यदि जातिभेद सनातन धर्म होता तो उसे कोई तोड़ ही न सकता। इसका टूटना ही इस बात का प्रमाण है कि यह कृत्रिम है, मनुष्यकृत है, ईश्वरीय नहीं।

वेद के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य मोक्षमुलर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि जातिभेद का वेदों में कहीं विधान नहीं। वह पीछे से स्मृतिकारों का बनाया हुआ है। उनके मूल शब्द ये हैं—

If then, with all the documents before us, we ask the question, does caste, as we find it in Manu and at the present day, form part of the ancient religious teaching of the Vedas? We can answer with a decided No. There is no authority whatever in the hymn of the Veda for the complicated system of castes, no authority for the offensive privileges claimed by the Brahman, no authority for the degraded position of the Shudras. There is no law to prohibit the different classes of the people from living together, from eating and drinking together; no law to prohibit the marriage of people belonging to different castes; no law to brand the off-spring of such marriages with an indelible stigma.—Max Muller's Chips from a German Workshop II, (1867), pp. 307—308.

वेद कहता है—अज्येष्ठासोऽकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय। ऋ०

अर्थात् हे मनुष्यो, तुममें न कोई ऊँचा है और न कोई नीचा। तुम सब भाई हो।

और—संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।·समानी प्रपा सहवोन्नभागः समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि। सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥

अर्थात् मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारा खान-पान इकट्ठा हो। रथ की नाभि के आरों की भाँति संयुक्त रहो।

वेद और चातुर्वर्ण्य

वेद चातुर्वर्ण्य का भी प्रतिपादन नहीं करता। वेद में किसी जगह भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। वेद केवल आर्य और दास को ही वर्ण कहता है। यथा—

यो दासं वर्णमधरं गुहाकः। ऋ० २-१२-४

हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत। ऋ० ३-३४-९

जिस प्रकार इन दो मन्त्रों में "दास वर्ण" और "आर्य वर्ण" लिखा है, वैसे वेद में किसी जगह भी "ब्राह्मण वर्ण" "क्षत्रिय वर्ण" या "वैश्य वर्ण" लिखा नहीं मिलता। वद स्वयं ही वर्णों की संख्या दो बताता है।— आर्य और दास। वह कहता है—

उभौ वर्णौ ऋषिरुग्रः पुपोष।—ऋ० १-१६९-६

अर्थात्—जिस उग्रऋषि ने दोनों वर्णों को पुष्ट किया।

जिस प्रकार इस मंत्र में "दो वर्ण" साफ लिखा है, वैसे "चार वर्ण" कहीं लिखा नहीं मिलता।

प्रश्न हो सकता है कि—"ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहु राजन्य: कृत:।
उरू तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्यां शूद्रो अजायत।"—यजु० ३१-११
इस मंत्र के रहते आप कैसे कहते हैं कि वेद में चातुर्वण्य नहीं? इसका उत्तर यह है कि वेद या पुरुषसूक्त, जिसका यह मंत्र है उसमें कहीं "वर्ण" शब्द है ही नहीं। इस सूक्त में मनुष्य-समाज का वर्णन नहीं। "यह उसका विषय ही नहीं। श्रुति के सामने आर्य जाति या हिन्दू धर्म के माननेवालों का प्रश्न ही नहीं। यदि इस मंत्र का कार्य-क्षेत्र हिन्दूसमाज तक ही सीमित माना जाय, तो श्रुति पर बहुत बड़ा दोष आयगा। इस पुरुष-सूक्त का पहला मंत्र कहता है कि विराट् सहस्र सिरों, सहस्र आँखों, सहस्र पैरोंवाला पुरुष है। सभी जड़-चेतन उसके भीतर हैं। सभी प्राणियों के शरीर, इन्द्रियाँ, अन्त:करण, उसके अंग हैं। ऐसी दशा में वेद केवल हिन्दुओं का ही उल्लेख कैसे कर सकता है? विराट् का सिर, भुजा, पेट और पैर तो भारत के ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों ने बाँट लिये, तो दुनिया के दूसरे देशों के लोग कहाँ जायँगे? उनके लिए क्या कोई दूसरा विराट् पुरुष लाना पड़ेगा?

"इसमें एक कठिनाई और भी है। जब इसके पहले मंत्र में कहा गया है कि सभी प्राणियों के सिर विराट् के सिर हैं, सबके हाथ उसके हाथ हैं, सबके पाँव उसके पाँव हैं, तब ब्राह्मण विराट् के किस मुँह से निकला? यदि वह सभी मुँहों से निकला तो उसमें क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, म्लेच्छ, हाथी, घोड़ा, गधा, चिउँटी, प्लेग के कीड़े सभी के गुण-अगुण आ गये होंगे। यही बात शेष तीनों वर्णों में भी पाई जायगी। फिर कौन किस से श्रेष्ठ रह जायगा?"

यह ठीक है कि मनुष्य-समाज को वेद में कहीं दो[1] भागों में, कहीं चार में, कहीं पाँच[2] में, कहीं छ: में (यजु० २६-२) और कहीं बीसियों जातियों में बाँटा मिलता है। पर इन विभागों को वेद वर्ण नहीं कहता।

इतना ही नहीं, महाभारत और पुराण आदि ग्रन्थ पुकार पुकार कर कह रहे हैं कि पहले कोई वर्णभेद न था, यह पीछे से स्मृतिकारों ने बनाया है। वायुपुराण कहता है—'वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदाऽऽसन्न संकर:'। अर्थात् सत्ययुग में वर्ण-व्यवस्था न थी।

महाभारत कहता है—"एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर:।"

अर्थात् हे युधिष्ठिर, इस जगत् में पहले एक ही वर्ण था। भविष्य महापुराण के ब्रह्मपर्व, अध्याय ४२ में लिखा है—यदि एक पिता के चार पुत्र हैं, तो चारों की एक ही जाति होनी चाहिए। इस प्रकार सब लोगों का पिता एक परमेश्वर है। इसलिए मनुष्य-समाज में जातिभेद है ही नहीं। और—

---

१ न यो ररर आर्यं नाम दस्यवे (हि० १०-६४-३)। अर्थात् जिसने आर्य नाम दस्यु को नहीं दिया।

२ जैसा कि वेद के "पंचजना:", पंचकृष्टय: और "पंचमानव" आदि शब्दों से प्रकट है।

तस्मान्न गोऽश्ववत् किञ्चिज्जातिभेदोऽस्ति देहिनाम्।
कार्यभेदनिमित्तेन संकेत: कृत्रिमः कृत: ॥

अर्थात् मनुष्यों में घोड़े और गाय जैसा जातिभेद है ही नहीं। वर्णभेद बनावटी है।

पूछा जा सकता है कि कई स्मृतियों में जात-पाँत तोड़ कर बेटी-व्यवहार का निषेध भी है। ऐसी अवस्था में किसकी बात मानी जाय? इसका उत्तर महाभारत इस प्रकार देता है—

तर्कोऽप्रतिष्ठ: श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गत: स पन्था: ॥

अर्थात् तर्क अनिश्चित है, श्रुतियों का परस्पर मतभेद है, ऋषि एक भी ऐसा नहीं जिसके मत पर आपत्ति न की जा सके। धर्म का तत्त्व गहरी गुहा में छिपा है। इसलिए वही मार्ग ठीक है जिससे कोई महापुरुष गया है।

इतिहास में हमें एक नहीं, अनेक ऐसे महापुरुष मिलते हैं जिन्होंने ब्याह-शादी में जाति-बंधन को तोड़ दिया था। देखिए—

१. विभाण्डक ऋषि के पुत्र ऋष्यश्रृङ्ग (ब्राह्मण) का विवाह राजा लोमपाद की कन्या शान्ता से हुआ था। २. परशुराम के पिता जमदग्नि ऋषि का विवाह राजा प्रसेनजित की पुत्री रेणुका से हुआ। ३. पिप्पलाद ब्राह्मण ने क्षत्रिया पद्मा से विवाह किया। ४. विश्वामित्र ने देवलोक की वेश्या मेनका से शकुन्तला उत्पन्न की। शकुन्तला का विवाह राजा दुष्यन्त से हुआ। उन्हीं के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम "भारत" पड़ा है। ५. राजा प्रियव्रत क्षत्रिय ने विश्वकर्मा ब्राह्मण की पुत्री बर्हिष्मती से विवाह किया। ६. राजा नीप ने शुक्राचार्य ब्राह्मण की कन्या कृत्वी से विवाह किया। इसी कुल में मुद्गल उत्पन्न हुआ जिसके नाम पर ब्राह्मणों का मौद्गल्य गोत्र चला। ७. प्रमत्ता ब्राह्मणी का विवाह एक नाई के साथ हुआ। इनके पुत्र महामुनि मतङ्ग थे। ८. कर्दम क्षत्रिय की कन्या अरुन्धती का विवाह गणिका-पुत्र वशिष्ठ मुनि से हुआ। इनका पुत्र शक्ति था। शक्ति का विवाह चाण्डाल-कन्या अदृश्यन्ती के साथ हुआ। इनके पुत्र पराशर मुनि थे। पराशर ने धीवर-कन्या सत्यवती से जगद्वंद्य महात्मा वेदव्यास को उत्पन्न किया। वेदव्यास ने काशिराज की पुत्री अम्बिका और अम्बालिका से धृतराष्ट्र और पाण्डु को जन्म दिया। इन्हीं के आगे कौरव और पाण्डव हुए।

रक्त-संकरता बुरी नहीं

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में जात-पाँत तोड़कर विवाह करना कोई बुरा नहीं समझा जाता था और ऐसे विवाहों की सन्तान पराशर, वेदव्यास, दुष्यन्त और परशुराम जैसे असाधारण व्यक्ति होते थे। नृवंश विद्या के पण्डितों ने यह बात सिद्ध कर दी है कि स्त्री और पुरुष चाहे कितने ही विभिन्न वंशों और जातियों के हों, एक चाहे अफरीका की हाटनटाट जाति की हो और दूसरा चाहे नार्वे के शुद्ध नार्डिक वंश का, यदि उन दोनों का सांस्कृतिक धरातल एक समान है, तो उनकी सन्तान के निकृष्ट होने की कुछ भी संभावना नहीं। इसके विपरीत, विभिन्न सांस्कृतिक धरातल-

वाले स्त्री-पुरुष चाहे दोनों ब्राह्मण या अँगरेज हों, उनकी सन्तान कभी उत्तम न होगी। इसलिए वर्णसंकरता का डरावा और रक्त की पवित्रता की दुहाई नितान्त निराधार है। हमारे यहाँ के ब्राह्मणों का रक्त की शुद्रता की डींग मारना व्यर्थ है। उनमें भी बहुत सा बाहर का रक्त मिला है। बंगाल के ब्राह्मणों में मंगोल रक्त का मिश्रण हुआ है, चितपावन ब्राह्मणों में यहूदियों का, नागर ब्राह्मणों में यूनानियों का और करहाडे ब्राह्मणों में चीनियों का रक्त मिला है। श्री० रघुनन्दन शर्म्मा ने अपनी "वैदिक संपत्ति" नामक पुस्तक में और डा० भण्डारकर ने अपने लेखों में इस रक्त-मिश्रण को ऐतिहासिक प्रमाणों से प्रमाणित किया है।

कुछ भोले भाई कहा करते हैं कि जातिभेद तो योरप और अमेरिका में भी है; कोई लार्ड अपनी लड़की किसी मोची को नहीं देता। इन भाइयों को जानना चाहिए कि पश्चिम में श्रेणी-विभाग (class system) अवश्य है, पर जातिभेद (caste system) बिलकुल नहीं। श्रेणी और जाति में बड़ा अन्तर है। एक दरिद्र श्रेणी का मोची अपने पुरुषार्थ से किसी दिन लार्ड बन सकता है तब दूसरे लार्डों को उसके साथ बेटी-व्यवहार करने में कुछ भी संकोच नहीं होता। पर भारत में कोई मनुष्य अपने पुरुषार्थ से अपनी जाति नहीं बदल सकता। कितना ही लिख-पढ़ जाने से भी कोइ भङ्गी कभी ब्राह्मण नहीं बन सकता।

कुछ लोग कहा करते हैं कि विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि रक्त चार प्रकार का होता है। डाक्टर लोग भी रोगी में दूसरे मनुष्य का रक्त डालने के पहले परीक्षा करते हैं कि वह रक्त किस प्रकार का है। इसी बात को लेकर वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का रक्त अलग अलग मानते हैं और उसके सांकर्य को अच्छा नहीं समझते। पर ये भाई यह नहीं समझते कि डाक्टरी परीक्षा की दृष्टि से जो रक्त के चार विभाग माने गये हैं उनका चातुर्वर्ण्य-विभाग के साथ कुछ भी संबंध नहीं। यदि उनकी धारणा सत्य हो, तो डाक्टरी दृष्टि से सब ब्राह्मणों का रक्त समान होना चाहिए। परन्तु सचाई यह है कि सब ब्राह्मणों का तो दूर, कई मर्तबा दो सगे भाइयों का भी रक्त समान नहीं होता।

हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य

जातिभेद हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदायों में ही नहीं, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भी वैमनस्य का प्रधान कारण है। हिन्दू न तो मुसलमानों को "शुद्र" करके उनके साथ बेटी-व्यवहार करने को तैयार हैं और न उनसे घृणा करना ही छोड़ते हैं। ऐसी दशा में मुसलमान करें तो क्या करें? सुना है, नवाब छतारी ने एक मर्तबा हिन्दू धर्म को ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की थी। पर उनकी शर्त यह थी कि उनकी लड़की के लिए कोई तअल्लुकेदार अपना लड़का और उनके लड़के के लिए कोई उन्हीं की स्थिति का तअल्लुकेदार अपनी लड़की देना स्वीकार करे। खेद है, हिन्दू उनकी इच्छा पूर्ण न कर सके।

कुछ वर्ष की बात है, मैं डेरादून में एक मुसलमान हलवाई की दूकान पर गया और दो आने की मिठाई माँगी। वह हलवाई पाँच मिनिट तक मुझे सिर से पैर तक देखता रहा और फिर बोला—"मैं मुसलमान हूँ।" मैंने कहा, आप मुसलमान हैं तो क्या हुआ, आप साँप तो नहीं, जो मिठाई में विष मिल गया हो। वह बोला—नहीं, मैं

साँप तो नहीं हूँ। मैंने कहा—तो फिर मिठाई दो। वह बोला—यह बात है ! मैंने कहा—हाँ। तब उसने अपने नौकर को बैठ जाने को कहा और आप उठकर पल्ला भर कर मिठाई ले आया। मैंने कहा, इतनी नहीं, दो आने की ही दीजिए। वह बोला—अजी, पैसों की बात छोड़िए। आप मिठाई खाइए। उसने फिर पूछा—इस विचार के हिन्दू आप ही अकेले हैं या कुछ और भी हैं। मैंने कहा, हमारे जात-पाँत-तोड़क मण्डल के लोग इस छूत-छात को नहीं मानते। इस पर वह प्रसन्न होकर बोला—यदि यह बात हो जाय तो हिन्दू-मुसलमान के सारे झगड़े ही समाप्त न हो जायँ।

इस छूत-छात का कारण धर्मों की विभिन्नता नहीं, वरन् जात-पाँत है। एक राजपूत एक चमार के यहाँ भोजन नहीं कर सकता, यद्यपि दोनों हिन्दू हैं। इसके विपरीत मुसलमान, इसाई और बौद्ध, विभिन्न धर्मावलम्बी होते हुए भी, परस्पर खान-पान कर लेते हैं। जब तक जातिभेद है तब तक न हिन्दू-मुस्लिम एकता हो सकेगी और न देश ही सच्चे अर्थों में स्वतंत्र हो सकेगा।

जातिभेद और प्रजातंत्र

जातिभेद और प्रजातंत्र दो परस्पर विरोधी चीजें हैं। जातिभेद जन्ममूलक ऊँच-नीच को मानता है। वह जन्म के ही कारण ब्राह्मण को विशेष सुविधाएँ और अधिकार देता है, पर शूद्र को उनसे वंचित रखता है। इसके विपरीत प्रजातंत्र सबको उन्नति के समान अवसर देता है। जैसा कि मैंने ऊपर बताया, जातिभेद ईश्वरीय विधान नहीं, यह हिन्दू धर्म का अंग भी नहीं। यह स्मृतियों का चलाया हुआ कानून है। जब हिन्दू स्वतंत्र थे तो समय और आवश्यकता के अनुसार अपने सामाजिक नियमों को बदल लेते थे। एक दूसरी के बाद बहुत सी स्मृतियों का बनना इसका प्रमाण है। जबसे हिन्दू परतंत्र हुए हैं, अपनी स्मृतियों में परिवर्तन करने की उनकी शक्ति नष्ट हो गई है। इसके लिए अब वे धारासभाओं के अधीन हो गये हैं। बोलशेविज्म, फासिज्म, सोशलिज्म और नाजीवाद की भाँति वर्णव्यवस्था भी एक सामाजिक वाद ही था। हमारे पूर्वजों ने इसका परीक्षण करके देखा था। पर वह बहुत ही लज्जाजनक रूप से फेल हो गया। वह वरदान के स्थान में अभिशाप सिद्ध हुआ। अब इसे मिटा देने में ही राष्ट्र का कल्याण है। यदि हिन्दुओं ने इसे न मिटाया तो यह हिन्दुओं को मिटा देगी। दोनों इकट्ठे नहीं रह सकते।

———

नरेश सम्बन्धी खण्ड

A MESSAGE

By Sir S. RADHAKRISHNAN

I am happy to know that His Highness Rai-i-Rayan Mahimahendra Maharajadhiraj Maharawal Shri Sir Lakshmansinghji Sahib Bahadur, K.C.S.I. of Dungarpur State will complete 25 years of rule in December 1946. His Highness has been a great lover of Indian culture and I hope that he will live to complete his Golden and Diamond Jubilees and make effective contributions towards the uplift of his State.

HIS HIGHNESS THE MAHARAWAL OF DUNGARPUR AS A SPOKESMAN OF THE PRINCES

By K. M PANIKKAR, PRIME MINISTER BIKANER.

Looking back on the last quarter of a century, since the Chamber of Princes was established, it is easy to see that the organisation of Indian Rulers into a political body was not altogether a wise step. A trade union of Kings leads inevitably to a trade union of peoples, and much of the troubles that the States have had to face can be traced to the transformation of the Princes into an " Order " united together for the maintenance of their dignities instead of their closer identification with their own people. But whatever be the bad effects which the Chamber of Princes has produced—and they are in my opinion many—it has had one very good effect. It has disclosed to the world unsuspected talents among the Rulers of India. By providing the Princes with a political forum it has helped to bring out the abilities of many rulers who would otherwise have been mute Miltons in their own States. As negotiators, debaters and generally as leaders of political opinion many of them were enabled to make their mark on a larger stage. I have only to mention the names of Maharaja Ganga Singh of Bikaner, Maharaja Bhupendra Singh of Patiala and Maharaja Ranjit Singh of Nawanagar.

Among the younger Princes, whose work in the Chamber of Princes has received universal approval, His Highness of Dungarpur's name stands high. He has been a member of the Standing Committee continuously for nearly 15 years. His contribution to the discussion of even the most complicated questions has been of great value to their Highnesses and it can be said without exaggeration that he is the best representative of a moderate school of opinion which, while desirous of safeguarding the rights of the Princes, great and small, is anxious that the Rulers of Indian States should play their part on the wider stage of India.

2. His distinguished courtesy, unruffled temper and natural dignity make him one of the best loved among the Princes. His

acuteness of mind and general culture and, what is but little known, his great sense of humour, make it a pleasure to discuss matters with him. If, however, I am asked what the most outstanding quality of His Highness of Dungarpur is, I would unhesitatingly answer—his democratic approach to men and affairs, which is one of the true characteristics of royalty. There is not even the shade of condescending superiority in him. His dignity is natural and his manner of equality towards all is not assumed, but proceeds from the greatness of his mind.

3. It was but right that a Prince so gifted and universally popular should have been chosen by the Chamber to represent the point of view of the States in discussion with the Cabinet delegation. That was a unique honour which his brother Princes conferred on him.

4. May he live long as an ornament to the Princes of India, as a leader of progressive opinion in the States and as a model Ruler of Dungarpur.

HIS HIGHNESS RAI-I-RAYAN MAHIMAHENDRA MAHARAJADHIRAJ MAHARAWAL SHRI SIR LAKSHMAN SINGHJI SAHIB BAHADUR, K. C. S. I., RULER OF DUNGARPUR

By Wazir-ud-Dowlah Rai Bahadur Sir Seray Mal Bapna Kt., C. I. E., Prime Minister, Alwar.

It is since long that I have been noticing with deep interest the able administration of Dungarpur State under the enlightened and energetic Ruler, His Highness Shri Sir Lakshman Singhji Bahadur K. C. S. I. The Rulers of Dungarpur belong to the Guhilot-Ahara Class of the Sisodih Rajput and are the oldest branch of the house of Udaipur—a place to which I am proud to belong.

I am very glad to know that the beneficient and benevolent acts of His Highness during the last so many years have evoked a melting prayer from the very bottom of the hearts of his people which has made them to take the decision of presenting a Commemoration volume to His Highness on the auspicious occasion of His Silver Jubilee.

His Highness is a simple and unsophisticated soul and honours sit lightly on him. His Highness is one of the Nature's gentlemen who delight to do good to others without the expectation of any recompense. Dignified in bearing, upright in His conduct, His Highness has always been a friend of the poor and needy. No deserving cause has knocked at the heart of His Highness without evoking some adequate response. It would be invidious to enumerate the various causes and institutions that have received munificient donations from him.

From his various activities in and outside the State and the interest in the affairs of the Chamber of Princes and the Mayo College, it is clear that His Highness' field of activities is not confined to the limits of Dungarpur State only.

Once seized of an idea, His Highness allows himself no rest, until the final issue. It is but fitting that his subjects should commemorate this occasion.

It is the sincere wish of all his well-wishers that a life so full of fine qualities should be spared by the Almighty for long, that in the fullness of time His Highness may have many more opportunities to bring to fruition schemes he has in view for the all-round advancement for Dungarpur.
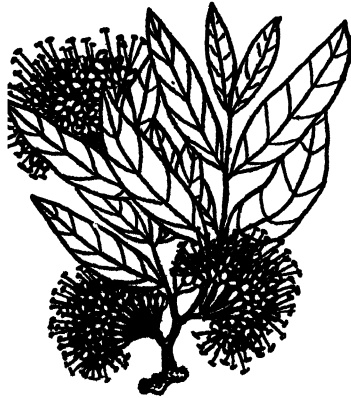
DUNGARPUR ROYAL FAMILY

BY DEWAN BAHADUR HAR BILAS SARDA, EX. M. L. A.

The Rajputs have played a leading part in the History of Medi-eval India and have by their heroic deeds illuminated its pages. The various clans of Rajputs have produced sovereigns and statesmen who contributed materially to the welfare, prosperity and happiness of the people.

In old days, the Rajputs were known as Kshatriyas in India, and in the earliest times that we know of, they were the real leaders of the nation. The Kshatriya Rulers were not only the political heads of their States and protectors of the people, but were also their teachers in religious and spiritual matters. The Upanisads tell us of many such Teachers to whom even the *rishis* and *munies*, the seers and thinkers of ancient times, sent their sons for instruction in spiritual matters. King Janak and Asvapati Kakeya are two such examples.

With the lapse of time, the Varna system lost its fluidity, the Brahmins became the sole possessors of spiritual knowledge, and the Kshatriyas remained only the political rulers and military leaders of the people. As rulers of the land, they devoted themselves to achieving the welfare of their people. They led austere and hard lives and treated their people just as a loving father treats his children. They not only protected their subjects from all external and internal troubles, but looked after their requirements in peace times. The happiness of their people was their happiness, and they fully shared the sufferings of the latter. Instances are on record where during great epidemics and famines, the Rulers left their palaces and went and lived amongst the people sharing their privations and sufferings. This won them the love of their people and they were looked upon as representatives of divine beneficence.

Later, some Kshatriya communities coming under Jain and Vaishnava influences, gave up the profession of arms and took to trade, commerce and agriculture. Their leaders, however, continued to hold administrative and political appointments in State service and

shared with the Rajputs, administrative and political responsibilities. As they had Kshatriya blood in their veins, in times of stress they took to arms too. The Oswals, the Maheshwaries and others illustrate this phase of social evolution. The Rajputs, however, remained the rulers and formed the landed aristocracy in the country, and as such by their high character and culture guided the people in their peaceful avocations.

The intellectual and spiritual guidance, however, passed to the the Brahmins, who by living austere and unselfish lives and devoting themselves to intellectual pursuits assumed the spiritual leadership of the people. This bifurcation of the functions of leadership, combined with the deterioration of the Varna system and its conversion into the present caste system with its hereditary character and its tendency to create subdivisions, operated as a bar to progress, and resulted in the present social disintegration of the Hindus.

The division of the Rajputs into various clans and the division of the clans into subclans have not only loosened the ties of unity but fostered amongst them a spirit of rivalry and jealousy and narrowness. While the growth of this spirit sometimes stimulated individual endeavour and achievement, it has on the whole, by concentrating attention and effort on less important and often insignificant matters, undermined the strength of the Rajputs and impaired their welfare.

The noble nature of the Kshatriya teachings and the precepts and practices of its votaries in old days continued to sustain to a great extent the high character and the noble ideals of the race, and the lives of many great Rajputs belonging to the various Rajput tribes, have shed lustre on the entire race and given it deathless fame.

Vikrama, Bhoj among the Parmars, Sidhraj Jaisingh Kumarpal, among the Solankis, Sinhraj, Visaldeva Veghraraj, Prithiraj, Hammira among the Chauhans; Kumbha, K. Pirthisingh, Pratap, Sukta, Rao Chanda among the Sisodias; Amarsingh, T. Durgadas, Jaswantsingh Kallaji among the Rathods, and a host of heroes patriots and philanthropists illumine the pages of history, which will inspire untold generations of posterity to noble action.

The first in rank among the present Rajput ruling families of Rajputana is the Gehlot family of Mewar. It has given the country

a succession of brilliant rulers whose chivalrous character, high ideals and noble patriotism have deservedly placed them at the head of the Hindu rulers and have earned the head of the family the title "Sun of the Hindus". Colonel Tod, the father of Rajput history says:— "It has rarely occurred in any country to have possessed successively so many energetic princes as ruled Mewar through several centuries."

The Gehlots rulers enjoy the distinction possessed by no other ruling family in India of having never bowed their heads to any other suzerain power in India. Throughout the six hundred years of Afghan and Turk rule, they preserved their independence and never became vassals of aliens. They alone successfully resisted all political and social attempts of the foreigners to dominate their territory and their social life. While the Rathods and the Kachhwahas, the other two great Rajput ruling families succumbed to the wily machinations of the Imperial Turk rulers of Delhi, the Gehlots and the Chauhans (Haras and the Deoras) resisted all Turk demands of matrimonials alliance in any shape or form, defying superior military power and political pressure. As a tribute to their prowess, the other Rajputs have willingly yielded the palm of supremacy to the Gehlots. Fortunately, however, those who yielded to superior power, had the foresight and wisdom to refuse to take Turk brides offered to them, and thus preserved not only their Rajput blood pure and uncontaminated but secured the homogeneity and unity of the Rajput race. But it was this homogeneity and unity which eventually enabled the Rajputs to weather the storm of foreign domination and emerge strong and independent when the typhoon of the Afghan and Turk ascendancy passed away.

A strange phenomenon presents itself to students of history, a phenomenon that is unique. Rajputana, the territory ruled by the Rajputs, fought and triumphed over wave after wave of invaders from the North West during several centuries and finally emerged intact without losing a foot of its land when the Turk Rule was finally overthrown and destroyed. It was this Rajput homogeneity, this Rajput strength and stamina and their spirit of unlimited sacrifice and love of independence when they scorned to live without liberty, and upheld the true Kshatriya spirit of old days, which looked upon

life without liberty as not worth living, that enabled this ancient and sacred land of Rajputana to come out entire and unmaimed from the terrible ordeal which changed the character and dispositions of the rest of the country.

This remarkable result was largely due to the lead given by the Gehlot family, which rules Udaipur, Dungarpur, Banswara and Pratapgarh. The Gehlot, fought against and successfully resisted the attacks of the Sultans of Malwa and Gujrat, who for a long time exercised much greater power than the Sultans of Delhi. The strong strategical situation of Mewar and the simple and unluxurious life led by the Gehlot rulers and their people had their effect on the character of the inhabitants of the land and enabled them to hold their own against the invaders.

In old days the territory of Dungarpur formed part of Bagad territory and was ruled over by the Imperial Mauriyas and Kushans and later by the Kshatrapas, followed by the Padihars of the Solar dynasty, and later by the Parmars of Malwa. The Dungarpur State was founded in 1175 A. D. by Rawal Samantsingh, the son of Rawal Kheshmsingh and the grandson of Ransingh (also called Karansingh) of Mewar. Samantsingh, when dispossessed of Chitor, went to Bagad conquered it and began to rule there. Its capital then was Baroda, a town in Bagad. Samantsingh's younger brother Kumarsingh, recovered Mewar and became its ruler. Thus the Dungarpur family represents the elder branch of the Gehlot rulers of Mewar.

The rulers of Dungarpur have played a worthy part in the history of Rajputana. It gave asylum to Sultan Baz Bahadur of Malwa and Shabzada Bahadurshah of Gujrat. The celebrated Rao Chandersen of Marwar during his troublous life lived for a time at Dungarpur: and it was to Dungarpur that the famous nurse Panna took the infant Maharana Udaisingh, to save his life.

I have the privilege of having known three generations of the rulers of Dungarpur, although I have had only one occasion to go to Dungarpur. It was in May 1895, when as guardian to H. H. the Maharawal of Jaisalmer I accompanied him when he went there. I met His Highness Maharawal Udaisinghji there. Maharawal Bijaisinghji succeeded him in 1898 and I met him several times. Maha-

rawal Bijaisinghji was a ruler of great intelligence and ability. He was a man of broad views, great comprehension and wide sympathies. Maharawal Bijaisinghji died in 1918 leaving four sons. He was succeeded by his eldest son Lakshmansinghji the present Maharawal of Dungarpur. Maharawal Bijaisingh during his lifetime gave his second son Maharaj Virbhadrasingh, the Jagir of Punjpur and his third son Nagendrasingh the Jagir of Karauli.

The present royal family of Dungarpur is a highly gifted family. H. H. Maharawal Lakshmansingh and his three brothers are all men of high education and great culture. This family is head and shoulders above the ruling families of other States in Rajputana, and perhaps outside it. Maharawal Lakshmansingh is a ruler of great capacity. He possesses great qualities of head and heart. Not only is he a highly enlightened man with a keen intellect and capacious understanding, but he is a man of very wide sympathies and possess a heart which feels for others and shares their pains and pleasures.

By his affability and kindliness of temperament he has earned universal popularity. His enlightened views, polished manners and sympathetic understanding have won him the esteem and admiration of all with whom he has come in contact. His easy accessibility and willingness to comprehend the point of view of others—a great but rare asset in men highly placed—and his ability to enter into the feelings of those he meets have won him their respect and regard. Benevolent by nature, education and training have given him wide information about men and measures, and experience has given him an insight into people's character and conduct.

He is ever solicitous of his people's welfare and has introduced social reforms including the Child Marriage Prevention Act, and many improvements in his State and given its people the benefits of education and medical aid and easy transport, by opening schools, establishing hospitals and making good roads and electrifying the town of Dungarpur. His liberal revenue policy and his great efforts to serve his people during the famine of 1936 A.D. and the floods of the following year when nearly thirty-five inches of rain fell in twenty-four hours and threatened to wash away the capital have brought him

nearer to the hearts of his people. In these and other matters of administration, the Maharawal is greatly assisted by his younger brother Maharaj Virbhadrasingh who has received the highest English education, and is a Master of Arts of the University of Oxford and a fine product of that great seat of learning. He is the Maharawal's Prime Minister. The Maharawal's third brother Maharaj Nagendrasingh is another distinguished scion of this noble family. He is a member of the Indian Civil Service and is serving as a Deputy Commissioner in the Central Provinces administration with distinction.

It is a matter of pride and rejoicing that such a gifted family is at the head of one of the four States ruled by the noblest ruling family of Rajputana. It is a pity that the Dungarpur State, though one of the most respectable and esteemed among the States of Rajputana owing to its noble traditions and as belonging to the elder branch of the Solar dynasty of India is not one of the big States territorially. Had it been as large as Marwaṛ or Dhundhar (Jaipur) H. H. Maharawal Lakshmansingh and his gifted brothers Maharaj Virbhadrasingh and Nagendrasingh and the youngest Pradyumansingh would have made it the first state in India, progressive and advanced politically, enlightened intellectually and prosperous and happy socially and economically.

AS I KNOW THE MAN "EVERY INCH A KING" SHAKESPEARE RECORD OF PROGRESSIVE ADMINISTRATION

By Alakh Dhari, Late Minister, Dungarpur State
Now, A Business Magnate, U. P.

In virtue of his position as reigning sovereign of the eldest branch of the celebrated and exalted clan of Sesodia-Gehlot Rajput, His Highness Maharawal Shri Sir Lakshman Singh Ji Bahadur occupies a position and dignity that is second to none among the Rajput Princes of India.

The blue blood of Bappa Rawal courses through his veins. The highest traditions of Rajput chivalry and valour are typified in his person.

It has truly been said that no Hindu State in India made a more courageous and prolonged resistance to the Muslim Emperors of Delhi than the twine states of Udaipur and Dungarpur.

The 25 years of His Highness' reign are characterised by a sustained effort to improve the progressive character of the State Administration.

Long before any demand for such an Institution was voiced by his people, His Highness' quick perception foresaw the oncoming importance of, and established, a representative Legislative Council for his State.

The Dungarpur Legislative Council consists of a majority of non-official members. Its functions embrace both legislative and deliverative spheres of activities.

The system of decentralization of administration has received an impetus by establishment of Municipalities in the two premier cities of Dungarpur and Sagwara: and by implementation of the Village Panchayat Organization, endowed with specified Civil and Criminal powers, and also elementary executive duties.

The enterprise of His Highness' Administration in the region of nation building departments reveals a substantial and steady progress. Education is free throughout the State, in all stages. In diffusion and quality it has made rapid strides within the last 25 years. Girls' education, too, is not neglected.

The State possesses a modern Hospital equipped with up-to-date appliances and manned by efficient personnel. Apart from the General Hospital in the Capital Town of Dungarpur, a number of dispensaries exist in the State territories.

In the sphere of Revenue Administration, Occupancy Rights coupled with limited powers of alienation are enjoyed by the agricultural population.

Communications play a prominent part in the economic development of a territory. The construction of an arterial highway

from Udaipur to Dungarpur signalises a big step in the improvement of Inter-State communications.

The City of Dungarpur boasts of an electric installation, the benefits of which—it is hoped—will soon be extended to all sections of the population.

The installation of Automatic telephone system has added to convenience of the people as well as despatch of business.

His Highness follows in the footsteps of his illustrious ancestors in permitting freedom of worship, religious tolerance and respect for all religions. All that is best in the various religious systems prevalent in the country is respected and appreciated.

Of his own free will and accord, His Highness has separated his Privy Purse from the General Expenditure of the Administration. His insistence on a well defined Civil List has added stability and credit to the financial fabric of the State Exchequer.

The general tone of the Administration is marked by an all pervading spirit of humanity and benevolence. The welfare of the subjects of the State, and the alleviation of their distress, is apparent in all spheres of State Administration and His Highness' private life. Indeed, if the spirit of the renowned and redoubtable Maharawal Udai Singh Ji were to be reborn, he would doubtlessly marvel at the progress made by the State of Dungarpur.

He would rejoice to find that his illustrious descendant, while maintaining all that of old was good, is bending his energies to the goods of the State. His soul would be delighted to behold the carefully considered improvement in every branch of Administration and at the never-ceasing stream of measures calculated to secure happiness and good Government of the people.

As a sportsman, His Highness has carved a unique position in the sporting world. The mettle of his prowess on the cricket field is acknowledged and respected by many a tough opponent.

The purity and innocence of His Highness' private life is even more remarkable than the official counterpart thereof. As a loving parent, a devoted son and a faithful husband, he has set a high standard of domestic life and conduct, which not only his subjects but also his compatriots may well emulate.

His smiling countenance, full of sweetness and love for all, expresses a life nobly lived for his people and for his country—a life of consecration to the service of his half-a-million subjects, firm in his adherence to vows of moral rectitude and a fearless persistence and determination to stand by and suffer for his convictions.

The ideal which His Highness sets to himself may well be summed up in the words of a famous Saint, " With malice towards none, with charity for all, with firmness in the right as God gives us to see the right, let us strive on to finish the work we are in".

सीसोदिया-वंश के रत्न

श्री मौलिचन्द्र शर्मा

श्रीमान् महाराजाधिराज सर लक्ष्मणसिंहजी साहब, के० सी० एस० आई०, डूँगरपुर के महारावल महोदय को मैं प्रायः १५-१६ वर्ष से जानता हूँ। मेयो कालेज, अजमेर के आँगन में उन्हें मैंने क्रिकेट खेलते देखा था, तो उनके रूप, नवयौवन, खेल-कौशल और गम्भीर तथा झूमती हुई चाल देखकर मैं प्रभावित हुआ था। परन्तु सबसे अधिक प्रिय लगी थी उनकी मीठी बोल-चाल और विनय-पूर्ण शिष्टता। नई चाल से शिक्षा पाये इस युवक में पुरानी चाल से हाथ जोड़कर मुझे, ब्राह्मण होने के नाते, अभिवादन करते पाकर मेरा ब्राह्मण-हृदय प्रसन्न हुआ था। मैंने अनेक स्थानों पर राजाओं को ब्राह्मण अमात्यों और अधिकारियों से पैर छुवाते देखा था, जिसे देखकर भारतीय राज-घरानों की वर्तमानकालीन आचारशैली के प्रति मुझे बहुत क्षोभ होता था। राजा को हाथ जोड़कर अभिवादन करना तो और भी साधारण बात मैंने देखी। मुझे याद है कि कितने ही अवसरों पर ऐसा न कर सकने के कारण मैं नक्कू-सा बन जाता था। लोग आश्चर्य से मेरे हठ को देखते थे, यद्यपि इसके कारण शायद राजाओं की दृष्टि में मेरा मान बढ़ा ही होगा, घटा नहीं। वह व्यक्ति, जिसमें आत्मसम्मान नहीं होता, दूसरों द्वारा भी पूरा सम्मान नहीं पा सकता। मुझसे कइयों ने यह पूछा भी, तो मैंने एक राजा के सामने ही यह उत्तर दिया था कि राजा, राजा का बेटा होने के कारण, गद्दी पाता है और सबके द्वारा आदृत होता है तो, उसी न्याय से, मैं श्रोत्रिय ब्राह्मण का पुत्र हूँ और ब्राह्मण-वृत्ति से रहता हूँ, फिर मैं अपना अधिकार क्यों छोड़ूँ ? मेरे इस उत्तर को उपस्थित राजा ने बहुत आदर और श्रद्धा से सुना था। अस्तु, मैं कह यह रहा था कि नवयुवक महारावल डूँगरपुर में जब मैंने वैसी विनय देखी जैसी हम अपने युवकों से आशा करते हैं, तो मुझे वे बहुत अच्छे लगे। मन में लगा कि यह युवक होनहार है। इस पिछले १५-१६ वर्ष के सम्पर्क में मैंने महारावल महोदय में उस विनय की, और शिष्ट व्यवहार की कभी कमी नहीं देखी। कुलीनता आचार से पहचानी जाती है। जो ऊँचे कुल के होकर तद्रूप बर्ताव नहीं करना जानते, वे अपने कुल को लजाते हैं। महारावल सीसोदिया कुल के रत्न हैं।

महारावल उन थोड़े से नरेशों में से हैं जिन्हें भगवान् ने राजनीति और धर्म-नीति दोनों की समझ दी है और इस बात की भी समझ दी है कि वे अपने को इस कारण सर्वज्ञ न मानें कि उन्हें कुल-परम्परा से राज्याधिकार प्राप्त हो गया है। वे विद्वानों, अमात्यों आदि के वचनों को श्रद्धापूर्वक सुनते और उनसे हर समय कुछ जानने, सीखने के इच्छुक रहते हैं। साथ ही उनका हृदय विशाल है। उसमें मानवता है, दया है, स्वार्थों से ऊपर उठकर धर्म, समाज, देश के हितों की दृष्टि से त्याग करने की भावना है। और सबसे बड़ी बात—

जो मैं एक युवक अधिकार-प्राप्त राजा के लिए परम गुण मानता हूँ— यह है, कि उनका व्यक्तिगत जीवन, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, शुद्ध और निष्कलंक है।

अनेक ऐसे अवसर मेरे जीवन के पिछले पंद्रह-सोलह वर्षों में आये हैं, जब मैंने कड़वी सचाई किसी एक या अनेक राजाओं के सम्मुख रखकर उनके राजत्व की जिम्मे-दारियों और देश के प्रति उनके दायित्व की याद दिलाकर उन्हें यह सुझाया है कि अपने व्यक्तिगत या वंशगत क्षुद्र स्वार्थों को गौण रखकर राज्य—जिसका अर्थ है प्रजा—और उससे भी बढ़कर भारत देश और उसकी संस्कृति के हितों को प्रथम स्थान दें और इन्हें दृष्टि में रखकर नीति-निर्णय करें। ऐसे अवसरों पर जिनके मुख से इन भावों के प्रति श्रद्धा और उत्साह के शब्द मैंने सुने हैं उनमें श्री महारावल डूँगरपुर अन्यतम हैं। मैंने अपने शब्दों के वेग के साथ इनके रक्त के वेग को बढ़ते अनुभव किया है, मैंने देखा है कि राजा का चेहरा मेरे शब्दों के आवेश के साथ साथ आरक्त हो गया है, उसका शरीर तन गया है और एक दिन मैंने युवा महारावल के मुँह से बड़ी तेजस्विता और रोष के साथ कहे गये ये शब्द अन्तर से आते हुए सुने हैं "पंडितजी, मैं सीसोदिया राजपूत हूँ और यह नहीं भूला हूँ कि हमारे पुरुषाओं ने हमारे सामने क्या आदर्श रखे हैं। मुझे याद है कि उन्होंने देश के लिए सब कुछ त्याग कर घास तक खाकर दिन बिताये थे। फिर क्या हम चाँदी के थालों और मखमली गद्दों को नहीं त्याग सकते? आनेवाले क्रान्ति के युग में हिन्दू धर्म और भारत देश के स्वार्थ यदि मुझसे त्याग चाहेंगे तो आप मुझे पीछे हटता न पावेंगे। हमारे खाँडे पर अभी तक धार है और हमारी भुजाओं में बल भी है।" ये शब्द सुनकर मुझे इतिहास में पढ़े हुए राजपूत के दर्शन हुए थे जो आज-कल दुर्लभ हैं।

नरेन्द्रमंडल में महारावल महोदय का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। जबसे देखता हूँ, स्थायी समिति में वे बराबर बने रहे हैं। बड़े से बड़े धुरन्धर चान्सलर ने भी उनकी राय सदा आदर से सुनी है। अब वे तथाकथित छोटे राज्यों के अगुआ हैं। इसी कारण ब्रिटिश मंत्रिमण्डल मिशन से वार्तालाप करनेवालों में उनका विशेष स्थान था।

भारत के भविष्य-निर्माण के इन वर्षों में देशी राज्य क्या और कैसा भाग लेंगे, इसका निर्णय महारावल सदृश मनस्वी और बुद्धिमान् राजाओं के हाथ में है। वे नेतृत्व कर सकते हैं और उन्हें नेतृत्व करना होगा। देश के और उनके अपने स्वार्थ उन्हें ऐसा करने को बाध्य करेंगे। और नेतृत्व के लिए जो त्याग करना आवश्यक होता है वह उन्हें सफल नेता बनने के लिए करना होगा।

मैं देशी राज्यों से अभी भी निराश नहीं हुआ हूँ। वे जीते रह सकते हैं और देश की सेवा में साधक हो सकते हैं, यदि वे दो बातें समझ लें—एक यह कि अँगरेज विदेशी है, जा रहा है, विदेशी के द्वारा रक्षित होकर अपनों को दबाना या भुलाना या अपनों से अकड़ना सदा ही अनीति है और अब तो वह विदेशी भी जा रहा है। अत: अपनों पर भरोसा करें। और दूसरे यह कि भारत एक है, और सब प्रान्त या राज्य उसके अंग-मात्र हैं। 'सर्व' के हित के लिए 'अंश' को त्याग करना सीखना चाहिए अन्यथा यह समाज-

शरीर स्वस्थ रूप से उन्नति नहीं कर सकेगा। उन्हें अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों को समझना सीखना चाहिए। सबसे बड़ा राजा का अधिकार है प्रजा का सेवक और देश का रक्षक होने का—इस सेवा और आत्मबलिदान के अधिकार से शून्य राजा, परदेशी की कठपुतली होकर जी सकता है, स्वतंत्र देश के स्वात्माभिमानी जन का अग्रणी होकर नहीं। मैं उन्हें अपनी प्रजा के अग्रणी मुखिया के रूप में देखना चाहता हूँ।

इस समय लोहा गर्म है। सम्भव है, समय के सबल हथौड़े की चोटें खाकर राजाओं के रूप में भी यह सुन्दर क्रान्ति आ जाय।

यदि यह सम्भव होगा तो मेरा विश्वास है कि श्री महारावल महोदय उन कर्तव्य-निष्ठ अग्रणियों में अवश्य गिने जायेंगे। तथास्तु।

——

श्रों नमो गणेशाय

क्रोधावसानव्यायोगः

श्रीवामाचरण भट्टाचार्य-विनिर्मितः

(नान्दी)

गङ्गाधौतजटस्य यस्य महतो देवस्य विश्वात्मनो ,
विश्वाराध्यपदारविन्दयुगलं ध्यायन्ति ते योगिनः ।
यं दृष्ट्वा जनता त्यजत्यतितमां याम्यां पुनर्यातनाम् ,
सोऽयं शंकर एव पातु भवतः शार्दूलचर्माम्बरः ॥

अपि च

प्रभूतभूतचीत्कारैर्भीतये वास्थिरश्रिया ,
चिरमालिङ्गितो देव्या सदा पातु सदाशिवः ॥

अपि च

यस्या जातो विधाता सृजति जगदिदं वस्तुभूतं प्रभूतम् ,
पश्चाद्भूतो रमेशस्तदपि चिरदिनं पालयत्येव सत्यम् ।
यस्या वा प्राप्तभूतिः कुसुमशररिपुः संहरत्येव सर्वम् ,
अव्यादम्बाऽम्बिका वस्त्रिभुवनजननी सर्वदा सर्वदा सा ॥

(प्रविश्य) नान्द्यन्ते सूत्रधारः । अलमधिकेन आर्ये त्वरितमिहागम्यतां त्वरितमिहागम्यताम् । प्रविश्य नटी (संस्कृतमाश्रित्य) आर्य ! इयमहमागताऽस्मि । आज्ञापयाचार्यः किमिदानीं करणीयमिति ।

सूत्रधारः—आर्ये दृश्यतां तावत् भगवतो रामचन्द्रस्येव सूर्यवंशसम्भूतक्षत्रियचूड़ामणेः साहित्यरससागरपारंगतस्य प्राच्यपाश्चात्यविद्याविभूषितस्य डुंगरपुराधिपतेर्गुहिलौतराजवंशाकाशचन्दमसः श्रीमतो रायरायोमहीमहेन्द्रमहाराजाधिराजमहारावल श्री सर लक्ष्मणसिंह साहबबहादुरस्य के० सी० एस० आई० उपाधिसमलंकृतस्य अतुलनगुणधाम्नो मृगयाकुशलिनो वीरस्य रजतजयन्तीमहोत्सवे तदीयानुजैः श्रीमद्भिर्विदितवेदितव्यैः वीरभद्रसिंहादिमहोदयैः प्रधानमन्त्रिभिरन्यैश्च द्विजराजन्यवर्यैः परिशोभितेयं सभा । अस्याश्च नवेन वाराणसेयश्रीवामाचरणभट्टाचार्यविनिर्मितेन क्रोधावसाननामकव्यायोगेनैतेषां समस्ततत्त्वाभिज्ञानां मनस्तुष्टिरवश्यं सम्पादनीया अतोऽत्र विशेषयत्नो भवत्या विधातव्य इति मन्यते ।

नटी—आर्य ! रमणीयमद्वितीयमिदं राजकुलम्, कथं वर्णयितुं शक्यते ?

सूत्रधारः—आर्ये ! किं बहुना

मातेव विदुषी यस्य राज्ञी प्राज्ञी सरस्वती।
राजस्थानेषु जनकः ख्यातविज्ञः प्रशंसितः ॥
तस्य राज्ञोऽतिवैदुष्यं वीरत्वञ्च समादृतम्।
पूर्वजादागतं सर्वं कथामात्रेण वर्ण्यते ? ॥

भवतु गीतेन तावदियं सभा संवर्द्धनीया।

नटी—अथ कीदृशं कालमाश्रित्य गास्यामि ?

सूत्रधारः—आर्ये !

शरदिन्दुविभातशर्वरी रमणीनां प्रियसंगमे प्रिया।
नवकैरवकोरकश्रिया समयानां शरदेव शोभते ॥

तदिदानीं शरत्कालमाश्रित्यैव गीयताम्।

नटी—तथास्तु (गायति)

गतवति मेघे प्राच्यविभागे स्फुरति च दिनमणियानम्।
मञ्जुनिकुञ्जे कोकिलपुञ्जो रणयति सुमधुरतानम्।
चञ्चलसंगश्चुम्बति भृंगो विकशितमधुमयपुष्पम्।
स्वविरहदीना शयनविहीना विसृजति नयनजवाष्पम्।
मलयसमीरे प्रवहति धीरे वहति च चन्दनगन्धम्।
मनसिजबाणे प्रणयनिदाने विचलति युवजनवृन्दम्।
सुविमलकान्तिर्वितरति शान्तिंविधुरिह हरति च चित्तम्।
कलकलनादं हंसविवादं रचयति जलमति सत्यम्।
शरदि भवानीमितिनिजवाणीं कथयतु जनगणतूर्णम्।
अपगतहर्षं भारतवर्षं कुरु कुरु सुखपरिपूर्णम् ॥

सूत्रधारः—आर्ये ! मधुरमिदं गीतम्, श्रुतवती चेयं सभा चित्रपुत्तलिकेव विभाति। तदिदानीं किं करणीयमस्ति ?।

नटी—ननु पूर्वमेवार्येणावेदितं यत् क्रोधावसाननामकव्यायोगेन सभा शोभा विधातव्येति।

सूत्रधारः—आर्ये ! सत्यमभिहितम्। भवदीयगीतरागेण विस्मृतवृत्तान्तोऽहं संवृत्तः। तदिदानीं पश्यतु।

देवराज इवेन्द्रोऽयं चिन्तान्वितकलेवरः।
अपश्यन् शारदीं शोभां स कुवेरः समागतः।

(इति नटीसहितः सूत्रधारो निष्क्रान्तः)

(प्रस्तावना)

अथ प्रथमदृश्यम्

(ततः प्रविशति सकुबेरो देवराजः)

इन्द्रः—धनपते !
श्रीहीनमेतदधुना वत दैवराज्यम,
दिव्याङ्गनानयनतः पततीव वारि ।
प्राणप्रियाऽपि मम तावदनन्तचिन्ता,
वाराङ्गना विरतनृत्यविशेषशोभाः ॥

अपि च ।
इन्दुप्रभा विरहिणी वनितेव भाति,
प्रेम्णा न वाति मलयाचलधीरवातः ।
त्यक्तप्रसूनमुकुलो मम पारिजातो,
नैरावतश्चलति भीतमतिः प्रमादी ॥

कुबेरः—देवराज ! किंबहुना,
गन्धर्वास्तव किन्नराश्च सहसा गायन्ति नृत्यन्ति न,
श्रेष्ठं शिष्टवशिष्ठगौतममतं द्वेष्टीव सा देवता ।
दैवं वाद्यनिनादमद्य विबुधाः सद्यस्त्यजन्तीच्छया,
सर्वे स्वर्गनिवासिनां हृदयजा गर्वाश्च खर्वीकृताः ॥

अपिच ।

यस्मिन् सुरेऽपि धनदत्वमतिप्रसिद्धम्,
तस्मिन् मयि प्रथमनिर्धनतां विलोक्य ।
प्राप्तप्रभूतगुरुतादृतदेवताना-
माराधनं कथमहो न जहाति लोकः ॥

इन्द्रः—भोः कुबेर ! किं त्वां कथयिष्यामि,
नयननीरदनीरनिपीड़ितं, हृदयमादधतीव सुराङ्गना ।
ननु मृतेव सती समुपस्थिता प्रतिदिनं भवतां भवनान्तिकम् ॥

कुबेरः—सुरपते ! अन्यदपि किञ्चित् पश्यतु,
विविधदेववधूमधुनातनीमतिविकारवतीञ्च विलासिनीम् ।
त्यज पतिं यदि तेन न मेलनमितिसभास्वसतीमिव भाषिणीम् ॥

(अपिच)

गतमितो भवतो बहुगौरवं बहुलमानधने च गते पुनः ।
परिणतिः समुपैति विभीषणे तव वने गमनं मरणं विना ॥

इन्द्रः—धनपते !
समवलोक्य पुनः सुरबालकं हतमतिः सहसैव बुभुक्षितम् ।
विगतमूलतरोरिव बल्लरीपतति देववधूर्धरणीतले ॥

कुबेरः—अयि देवेन्द्र ! चिरकालसुखे सुखप्रिये ननु देवेऽसुखता कथं भवेत् ।
प्रतियोगिमता स्वभावतः सहसाऽभाववता न भूयते ॥

इन्द्रः—(अशृण्वन्नेव स्वगतम्) अयि विधे !

अविधिना विधिना प्रतिपादितम्,
सुखपयोधिनिमज्जनवर्जनम्।
करुणतासरसीजलधारया,
शिशिरता भवता न निषेविता ? ॥

कुवेरः—देवराज ! किं विचिन्त्यते ? अत्र केनाऽपि कारणेन भवितव्यम् येनास्माकमीदृशी दशा समुपस्थिता।

(नेपथ्ये) नृपमुखाब्जविराजितभारतीमहरहः कमलां च विलोक्यताम्।
गिरिपुरेश्वरगेहमहर्निशं चलमतिः कुरुतेऽपि निजालयम् ॥

अथ तदासितकीर्तिरचञ्चला,
गुणवतो नृपतेर्भयतो द्रुतम्।
गतवतीव विलंघ्य पयोनिधिम्,
निरवधिं भुवनाद्भुवनान्तरम् ॥

इन्द्रः—कुवेर ! श्रुतं श्रुतं भवता ?।

कुवेरः—अथ किम् ?

इन्द्रः—(सक्रोधः) किं कथयसि ?

मेवाड़ान्तर्गतगिरिपुरख्यातराजन्यवर्य-
स्मेरास्येतां मुरहरवधूं भारतीं वर्तमानाम्।
दृष्ट्वा रोषादपरवनिता चञ्चला मञ्जुलांगी
रम्ये हर्म्ये वसति कमला भूपतेः सौम्यमूर्त्तेः ?

कुवेरः—भो भोः देवाः !

विद्याहीना भवति भवतां देवता सेवमाना
लक्ष्मीहीनं निजगृहमहो, कष्टमिष्टप्रदानाम्।
तस्मादासां निखिलविपदां हन्त नाशं विधातुम्
ध्येयो यत्नो विदितभुवनैःशान्तिमद्भिर्भवद्भिः ॥

अपिच

निद्रां मुञ्चत सञ्चितां शयनतस्तूर्णं समुत्तिष्ठत,
स्वर्गाद्यातमपूर्वपूर्वविभवं दृष्ट्वा न किं जागृत।
स्वारंस्वारमसारतामपि सतीं नोद्वीजते देवता
चित्रञ्चेत् किमिवापरं मखभुजां कष्टप्रदं वर्तते ॥

इन्द्रः—अहरहस्त्विह तापशतप्रद स्व सुरताविरहानलतोऽधुना।
अजनि धूमशिखाशिखरीकृते मनसि मे बहुदारुणवेदना ॥

कुवेरः—अथ पुनर्दिवसेऽपि विलोकिता दशदिशस्तमसा विवशीकृताः।
अपि नवीनमनः कुसुमं मम प्रति मुहुः शमनं खलु याचते ॥

(नेपथ्ये) परित्रायताम् परित्रायतां देवराज !

इन्द्रः—अये ! रमणीयरमणीकण्ठेन केयं मां भीता स्मरति ?

कुवेरः—पश्यामि तावत् (किञ्चित्परिक्रम्य) अहो अत्रैव सा त्वरितमागच्छति ।

(प्रविश्य)—कीर्त्तिः । परित्रायतां परित्रायतां देवराज ! (इति पादयोः पतति)

इन्द्रः—अये ! देवी कीर्त्तिः कथयतु भवती किं वृत्तमिति ।

कीर्त्तिः—देवराज ! महाराजाधिराजशैलपुराधिपमुखपङ्कजे नगीनृत्यमानां वाणीं तदीय-मनोरमवसतिमलंकुर्वतीञ्च कमलामवलोक्य भीताऽहं त्रासादत्र समागता ।

इन्द्रः—भद्रे ! साधु कृतम् । अत्रैव विश्रामः क्रियताम् ।

कीर्त्तिः—विश्रामः ? यावच्चन्द्रदिवाकरौ वर्त्तेते तावन्मे विश्रामो नास्ति । अद्यापि वेपते मे हृदयम् ।

कुवेरः—आः किं कथयसि ? विश्राम एव नास्ति तर्हि कथय कीदृशोऽसौ नृपवरः ? ।

कीर्त्तिः—

नरपतिरतिकीर्त्तिः सर्वदा शान्तमूर्त्ति-
र्निजगुणजितलोको यातदीनातिशोकः ।
रिपुजनवनितानां नेत्रवारिप्रदानाम
प्रभुरिति जगदीशो रक्षतीमं महेशः ॥

अपिच

बहुतरकृतपुण्यो भूभुजामेव धन्यो,
गिरिपुरसुवरेण्यः सर्वलोकैकमान्यः ।
सुदयित इति धातुः पण्डितप्रीतिहेतु-
र्विधुरिव रमणीयः सोऽपि मे वर्णनीयः ? ॥

अहो नाऽहमत्र स्थातुं शक्नोमि । मन्ये सोऽप्यवश्यमत्राप्यागमिष्यति । (इत्युद्भ्रान्ता त्वरितं निष्क्रान्ता) ।

कुवेरः—भो देवराज ! एवं तावत् क्रियताम् ।

इन्द्रः—किमिति ।

कुवेरः—लज्जा देवी तावदत्राहूयताम् ।

इन्द्रः—तेन किं भविष्यति ?

कुवेरः—

वाणी लक्ष्मीस्तथा कीर्त्तिर्जहतीमं न संशयः ।
लज्जितो यो भवेद्धीमान् पुमांस्तु परमार्थतः ॥

इन्द्रः—सत्यमभिहितं भवता । कः कोऽत्र भोः ?

(प्रविश्य दौवारिकः) आज्ञापयतु देवराजः ।

इन्द्रः—दौवारिक ! शीघ्रं लज्जादेवीमत्र प्रेषय ।

दौवारिकः—यदाज्ञापयत्यार्यः । (इति निष्क्रान्तः)

(प्रविश्य लज्जा) देवराज ! कथं भवताऽहं स्मृताऽस्मि ? कथ्यतां किन्ता-

वदनुतिष्ठामि ।

गृही भवति संन्यासी धीमान् वाणीविवर्जितः ।
श्रीमानरण्यवासी स्यात् सत्यं यमाश्रयाम्यहम् ॥

कुवेरः—साधु लज्जे ! साधु तदिदानीम्

प्रतापसिंहसिंहस्य प्रतापतापितावने
महाराणाख्यवीरस्य भ्रातुर्वंश विहायसि ।
प्रभाकरमिवाभातं सुन्दरं मदनोपमम्,
श्रीमल्लक्ष्मणसिंह तं महाराजं समाश्रय ॥

लज्जा—अहो स खलु मृगयकुशली सूर्यवंशावतंसो राजन्यवरो वीरो धीरश्च विश्रुतनामा महाराजः तमाश्रयितुं भीतिर्मे वर्त्तते ।

कुवेरः—का भीतिः, आवामेव सहायौ भविष्यावः ।

लज्जा—आः का गतिः । किन्तु विमानेऽहं गमिष्यामि अतो देशपरिचयः कर्त्तव्यः । अथ कोऽसौ देशः, कीदृशो वेति निरूप्यताम् ।

इन्द्रः—श्रूयताम् । अनन्तधीरप्रवरैः सुषेवितं, सुशासितं वीरवरेण्यभूभुजा ।
सुदर्शनीयं सुरमन्दिरश्रिया, सदा यदासीदसताविवर्जितम् ।

कुवेरः—अन्यदपि श्रूयताम् । अनेकपण्यक्रयविक्रये रताः प्रतापवन्तो धनिनो विलासिनः ।
जनप्रमोदाय विधाय चारुतां, मनो रमेयत्र वसन्ति सन्ततम् ।

इन्द्रः—निरन्तरं कान्तवसन्तसंगमादपङ्कजं यत्र सरो न वर्त्तते ।
सदा यदीयं सुयशःसुसौरभं जनस्त्वनाघ्राय न वा विराजते ॥

लज्जा—ततस्ततः ।

इन्द्रः—दिनश्रियं यत्र विजित्य जातया, तमिश्रयाऽऽलोकसहस्रमालया ।
स्वपान्थकान्ताननदर्शनोन्मुखी वराङ्गना प्राङ्गणसम्मुखीकृता ।

कुवेरः—किमधिकेन विलम्बो वर्त्तते श्रूयताम् ।
सगौरवे तत्र विशेषसुन्दरे मनोहरे शैलपुरे सुरप्रिये ।
सवीरधीरः परमादृतप्रजो महामहीन्द्रो नृपतिर्विराजते ॥

लज्जा—अहो वर्णनीयोऽयं देशो नरपतिवरश्च । तस्माद् भीतिर्मे वर्तते । न जाने किं भविष्यतीति ।

कुवेरः—यत्नः क्रियताम्, यत्नस्त्ववश्यं कर्त्तव्यः ।

लज्जा—यथा भवते रोचते तर्हीदानीं गम्यते ।

उभौ—गम्यतां शीघ्रं, गम्यतां, सकलमनोरथया च त्वया भूयताम् ।

लज्जा—(निष्क्रान्ता)

इन्द्रः—धनपते ! इदानीं कथञ्चित् विनिवृत्तचिन्तोऽहं संवृत्तः । मन्ये पुनर्लक्ष्मीः स्वर्गं समागमिष्यति । अथ लज्जा चेत् लज्जिता भवेत् तदा का गतिः ?

कुवेरः—तदानीं तच्चिन्तनीयम् । पश्यतु तावदग्रे किं भविष्यति ।

इन्द्रः –(स्वगतम्) स्वाराज्यमार्यनृपतेः सततं बिभेति, स्वैरं पुरातनकथामधुना स्मरामि।
प्रतिः सुरेन्द्रभवनं त्यजतीव दीनम्, क्षीणानना सपदि सीदति देवतेयम्।

कुवेरः—देवराज ! किं विचिन्त्यते। येनाम्बिका महाशक्तिनृपेण समुपासिता।
तस्य धीरस्य वीरस्य का भीतिरिति चिन्त्यताम्।

इन्द्रः—चिन्तयामि। भवताऽपि चिन्तनीयोऽयं विषयः।

(नेपथ्ये)—हे देवराज ! विजयन्तव नावगच्छ, स्वाम्यं तनोति विपरीतफलं स्वकीयम्।
लज्जीकृता गिरिपुरेश्वरेण तूर्णं लज्जा त्वनार्यनृपतेरभितो जगाम।

इन्द्रः—कुवेर ! श्रुतम् लज्जाऽपि लज्जीकृता, तदिदानीं किं कर्त्तव्यम् तावदुपदिश्यताम्।

कुवेरः—मया तु मन्यते। भगवता साम्बेन शम्भुना परिरक्षितोऽयं नृपवरः, तस्योपासकश्च।
सुतरां तदन्तिक एवावाभ्यां गन्तव्यम् तेनाऽस्माकं महानुपकारो भविष्यति।

इन्द्रः—साधूक्तं कुवेर, साधूक्तं मिदानीमागम्यताम्, कैलास एव वयं गमिष्यामः।

(इत्युभौ निष्क्रान्तौ)

द्वितीयदृश्यम्

(कैलाशाचल द्वारः)

(प्रविश्य) गणपतिः—अहोभाग्यमहोभाग्यमद्याहं द्वाररक्षकः,
पित्रोराज्ञामवज्ञाय नाहं यास्यामि कुत्रचित्।

प्रविश्येन्द्रकुवेरौ—भो गणपते सत्यमभिहितं भवता श्रुतमस्माभिः सर्वम्। किन्तु पन्था
परित्यज्यताम्, वयन्तूमामहेश्वरयोर्दर्शनार्थं तदन्तिके यास्यामः।

गणपतिः—पित्रोराज्ञा नास्ति, अद्य दर्शनं न भविष्यति।

कुवेरः—गणपते ! अयन्तु देवराजः, स्वयमत्र समुपस्थितः।

गणपतिः—ब्रह्मा वा यदि वा विष्णुःस्वयमागत्य मां वदेत्।
न त्यक्ष्यामि तथापीमं द्वारं सारं वचो मम।

इन्द्रः—शुण्डं घूर्णयताऽनेन वचसां रचना कृता,
दूरे वृद्धायमानोऽयं बलान्निक्षिप्यतां त्वया।

गणपतिः—तिष्ठ रे तिष्ठ तत्रैव नात्रागच्छ यथासुखम्।
कालक्रमे शृगालोऽपि, हन्त सिंहायते वने।

इन्द्रः—बालप्रलापवचनानलदग्धगात्र-
स्तुच्छीचकार भवतः सकलापराधम्।
शैलात्मजासुत पुनर्यदि वाक्यमेकं
दुष्टं भवेत्तव तदा प्रहराम्यहं त्वाम्।

गणपतिः—रे मूढ देवनृपते ! त्यज गर्वमद्य
स्वर्गं क्षिपामि जलधावतले त्वदीयम्।
गुर्वंगनाहरणकारणकाघसंघम्,
शीघ्रं निहत्य गतपापदिवं करोमि।

इन्द्र:—आयाहि रे गजमुख ! प्रबलप्रताप:
स्वर्गाधिपस्तव यम: स्मर चेष्टदेवम् ।
छित्वा करेण तव दुष्ट सुदीर्घदन्तम्
देहावसानमसतोऽयमहं करिष्ये ।

(इत्युभौ कठोरमालिङ्गिताङ्गौ युद्धं कुरुत:)

इन्द्र:—वृत्रासुरव्रवज्रस्य धारणाद् वज्रतां गतो
हस्तोऽयं गिरिजापुत्र ! त्वामद्य निहनिष्यति ।
गणपति:—वृत्रासुरव्रहन्ताऽयं गणेश: समुपस्थित: ।
तूर्णमिन्द्रवधं कृत्वा इन्द्रत्वोयं भविष्यति ।
कुवेर:—देवराज ! किमिदानीं भवता क्रियते । स्मरणीय स्वर्गावस्थानां भवतामपरिणाम-दर्शित्वमयुक्तमिति मन्यते । गणपते ! भवताऽपि शान्तेन भूयताम् । अकारणविरो-धस्तु सर्वथा परिहर्त्तव्य: । (इत्युभौ युद्धात् वारयति)
गणपति:—कुवेर ! किं कथयसि ? अहंकारमदोन्मत्तमवज्ञातगणेश्वरम्,
दुर्वाक्यमात्रशस्त्रं त्वं मत्त: किं परिरक्षसि ?
इन्द्र:—धनपते ! नाहं वारयितव्य:,
अतिचञ्चलबालको मया कृतदर्पोऽपि समादृत: पुरा ।
अवधीरितगौरवस्त्वयं किमिदानीं महता न हन्यते ? ॥
कुवेर:—(जनान्तिके) सुरपते ! स्वकार्यमुद्धरेत् प्राज्ञ इति न्यायेन विरमतु भवान् । (प्रकाशं) गणपते ! क्षम्यतामयम् । इदानीं भगवत: शंकरस्य समीपे अत्यपराधस्य विचारो भविष्यति । तत्रैव भवता सहास्माभिर्गम्यते ।
गणपति:—सत्यमुक्तं भवता (इन्द्रं प्रति) आगच्छ रे दुरात्मन् इन्द्र ! तत्रैव तवापराध-विचारो भविष्यति । शीघ्रमागच्छ ।
कुवेर:—(इन्द्रं प्रति) सिद्धं न: समीहितम् ।

(इति सर्वे निष्क्रान्ता:)

तृतीयदृश्यम्

(कैलासाचलम्)

(प्रविशति)—अम्बिकया सह समासीनो भगवान् शंकर: ।
शंकर:– देवि ! अम्बिके ! शरदि सकललोक: पूजये त्वामशोक:
कृतविविधविनोद: सर्वथा शान्तनाद:
त्रिभुवनजनधात्री भुक्तिमुक्तिप्रदात्री ।
क कथय नवरात्रौ गच्छसि त्वं सुरात्रौ ।
अम्बिका — शरणं मम नाथ निश्चितम्,
त्वमसि प्रेममयो महेश्वर: ।

स्मरणीयदिने त्वया यथा,
कथनीयेयमहो करिष्यते ।

शंकरः—तर्हि मेवाड़राजकुलदेवतया सर्वतो गृहीतपूजया त्वया सम्प्रति सूर्यवंशकुलतिलकस्य शैलपुराधिपतेर्महाराजस्य शरत्समये भविष्यन्महामहोत्सवदर्शनार्थं तत्रैव शैलपुरे मया सार्द्धमवश्यं गन्तव्यम्। लक्ष्मीः सरस्वती च पूर्वत एव तत्र विराजमानाऽऽसीत्। विघ्नविनाशार्थं गणनाथकार्त्तिकावपि त्वया सार्द्धं तत्रैव यास्यतः। इत्येवं समीचीनं मयाऽवगम्यते ।

अम्बिका—यथाज्ञापयति भगवान् ।

(प्रविश्य गणपतिः) पितरौ ! युद्धापराधाविन्द्रकुवेरौ द्वारदेशे वर्त्तते ।

शंकरः—शीघ्रमत्र तौ समानीयेताम ।

गणपतिः—यथाज्ञापयति तातः ।

(गणपतिनासह प्रविश्येन्द्रकुवेरौ)

कारागारेषु विश्वेषु व्यवस्था बन्धमोक्षयोः,
क्रियते येन तं वन्दे साम्बं शम्भुमहर्निशम ।

गणपतिः—इमावेव युद्धापराधौ भगवतः समीपे वर्तेते ।

कुवेरः—भगवन् ! नाहं युद्धापराधः अपि तु युद्धविरोधी । मम त्वहिंसैव धर्मः ।

शंकरः—भवतु तावदेवम् । भो देवराज ! भवतः का कथा ?

इन्द्रः—स्वदेशस्वर्गराज्यस्य दुर्दशामवलोक्य सक्रोधस्यानन्योपायस्य देव्या सह विराजमानस्य भगवतः संदर्शनार्थं समागतस्य मम द्वारदेशे गणपतिना पन्था तावदवरुद्धः ।

शंकरः—गणपतिना तु ममाज्ञामनवज्ञाय साधु समनुष्ठितम् । किन्तु ममानुज्ञालाभार्थमत्र नागत इत्येवं तस्यापराधः। भवान् खलु युद्धापराधः संवृत्तस्तदिदानीं किंकरणीयमस्ति ?

इन्द्रः—यथा भगवते रोचते ।

शंकरः—वत्स ! गणनाथ ! समानापराधौ भवन्तौ सुतरामिदानीं परस्परमित्रतैवविधेया ।

गणपतिः—यथाहभगवान् तथाऽहं करिष्यामि ।

इन्द्रः—भगवन्, अपरमस्माकं क्रोधस्थानं (यदित्यर्द्धोक्ते)

शंकरः—विदितं मया सर्वम्, लक्ष्मीः सरस्वती चान्तर्हिता स्वर्गात्। कीर्त्तिस्त्वद्यापि विश्रामं न लभते । इति स्वर्गराज्यस्य दुर्दशामवलोक्य सक्रोधेन भवता भूयते । क्रोधस्तु न करणीयः । भवद्भ्यामपि शैलपुरे मया सार्द्धं गन्तव्यम् । तथा सति स्वर्गस्य शोभा पुनरेव समागमिष्यति । यत्र भगवती तत्रैवाहं वर्त्ते, यत्र च लक्ष्मीस्तत्रैवेन्द्रकुवेरावित्यव्यभिचारिणी तावदियं व्याप्तिरत एव गौड़ा लक्ष्मी पूजनसमये इन्द्रकुवेरावपि पूजयन्ति । तथा च रमणीये सम्पादनीयमहोत्सवे शैलपुरनगरेऽपि भवन्तौ पूजार्हौ । अवश्यं भविष्यत इति मया निश्चीयते ।

इन्द्रः—तर्हीदानीं सर्वमेवास्माकं सुखकरं भवेत् ।

गणपतिः—(इन्द्रकुवेरयोर्हस्तान् धृत्वा) भो इन्द्रकुवेरौ ! दृश्यताम् ।

मिथ्या मिथ्येति सर्वं प्रलपति जनता वक्ति च ब्रह्म सत्यम्,
किन्तु ब्रह्मात्मिकेयं सुरचितजगतामादिभूताप्रभूता।
अन्येषामेवमेषा प्रकृतिपुरुषतामाश्रयन्ती भवन्ती,
माता रक्षत्यशेषं विपदि वरसुरानीश्वरी विश्ववन्द्या॥

कुवेर:— मात: कातरमद्य तारय हरप्राणाधिके! साधिके,
तूर्णं पूर्णमनोरथं कुरु सुतं मामेकमज्ञानिनम्।
उच्चै: क्रन्दितनन्दनं स्वजननीक्रोड़े निधायाकुला,
कालीनं चरणे न शान्तयति वा सन्त्यज्य कर्माऽखिलम्॥

अपि च

कलौ काले बालास्तव भवहरे मातरनिशम्,
रुदन्त: सन्तस्ते चरणकमले भान्ति मनुजा:।
न जानीमो देवा वयमिह भवती तत्त्वमतुलम्।
तथापि त्वन्त्वस्मान्निजकरुणया पालितवती।

इन्द्र:— समुद्रादुद्भूतं विपुलभयदं भीषणविषम्
निपीय प्रेम्णा यो हरति महतीं भीतिमतुलाम्।
अयं यो वा भस्मीकृतमनसिजो देव शरणम्,
नमस्ये विश्वेशं परमकरुणं साम्बगिरिशम्॥

अपि च

त्वमादौ माता मे भवसि समुपास्या सुरगणै-
र्निहन्तुं वीराणां समधिकबलं दैत्यनिचयम्।
स्मरेद्यो वा भक्त: परमममृतं तावकपदम्,
स देवो मर्त्यो वा जननि! लभते मुक्तिमचिरम्॥

शंकर:—देवराज! तथा धनपते! भवतो: स्तुत्या सन्तुष्टा वयम्। भवतो: क्रोधावसानन्तु जातमत: परं किं भूय: प्रियं करिष्यामि।

इन्द्रकुवेरौ— भगवन् अत: परमपि प्रियमस्ति तथापीदमस्तु।

भूत्वा शतायुरिह लक्ष्मणसिंह भूपो
देवद्विजप्रियतमोऽधिकरोतु लक्ष्मीम्।
श्रीमान् सुखी सपरिवारगणोऽस्तु नित्यम्
सोमेश्वर: सपदि रक्षतु सर्वविश्वम्।

इति श्रीवामाचरणभट्टाचार्यविरचितक्रोधावसानव्यायोग:।

(समाप्त:)

आर्य-राजनीति और डूँगरपुर राज्य

राजपरिवार के साथ हमारा सम्बन्ध

श्री गोविन्द शास्त्री दुगवेकर

जिस पवित्र सूर्यकुल के पुण्यश्लोक नरपतियों ने सुशृंखल राजानुशासन की व्यवस्था का आदर्श स्थापण किया और वंश-परम्परा से प्राणपन से उसकी मर्यादा-रक्षा की, उसी महनीय राजकुल में डूंगरपुर के वर्तमान नरेश विविध-विरुदावली-विभूषित हिज हाईनेस महारावल बहादुर चिरंजीवी लक्ष्मणसिंह महोदय का शुभ जन्म हुआ है। आपके परिवार से मेरा बहुत समय से सौहार्द सम्बन्ध चला आ रहा है और वही परम्परा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए श्री जगदम्बा ने श्री नरेश के रजत-जयन्ती-महोत्सव के शुभ अवसर पर उनका अभिनन्दन करने का मुझे सौभाग्य प्रदान किया है। श्रीमान् के परिवार के लोगों के कुछ संस्मरण लिखने से पहले इसका दिग्दर्शन करा देना भी इस समय अप्रासङ्गिक न होगा कि, श्री नरेश के पूर्वपुरुषों के आदर्श राजानुशासन का स्वरूप क्या था, जिसकी धाक लोगों के हृदयों पर अब तक जमी हुई है और किसी उत्कृष्ट से उत्कृष्ट राज्य-व्यवस्था को 'राम राज्य' की उपमा दी जाती है।

इतिहास के साथ राजानुशासन का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण प्राचीन आर्यों की इतिहास-सम्बन्धी विचारशैली का परिचय करा कर प्राचीन राजानुशासन-विज्ञान का विवरण करना उचित जान पड़ता है। प्राचीन आर्यगण लौकिक इतिहास लिखना अनावश्यक समझते थे। उनकी दृष्टि बहुत विस्तृत थी। वे अपने नित्य के सङ्कल्प में ही इस ब्रह्माण्ड के विराट् शरीर और काल के विराट् स्वरूप को आँखों के सामने रखते थे। वे लौकिक इतिहास लिखने में कैसे प्रवृत्त होते? इसके अतिरिक्त वे देवलोक और मनुष्यलोक दोनों का परस्पर सम्बन्ध बनाये रखना चाहते थे। इसी से उन्होंने पुराणों में जो लोकचरित्र और ऐतिहासिक घटनाएँ लिख रक्खी हैं, वे देवलोक और मनुष्यलोक की मिली जुली हैं। उनसे मानव-समाज की आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक उन्नति का मार्ग सरल हो गया है। आर्यों के इतिहास और पुराण लौकिक ग्रन्थ नहीं, किन्तु धर्म-ग्रन्थ हैं। आर्यों की राजानुशासन-प्रणाली भी दैवी जगत् के आश्रय से बनाई गई थी।

अब प्रश्न यह उठता है कि देवलोक के राजाओं के साथ मनुष्यलोक के राजाओं का सम्बन्ध स्थापित होना कैसे सम्भव है? देव-पिण्डधारियों और मानव-पिण्डधारियों के उपादान में मौलिक अन्तर होने के कारण देवताओं का मनुष्यलोक में और मानवों का देवलोक में आना जाना कैसे सम्भव है? दोनों लोकों के राजा और प्रजा का किन किन विषयों में सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है? मनुष्यलोक के राजानुशासन के साथ

देवलोक के राजानुशासन का सम्बन्ध होने का रहस्य क्या है? बात यह है कि चतुर्दश भुवनों का १/१०७६ वाँ अंश हमारा यह मृत्युलोक है, शेष सब देवलोक है। देवलोक के देवता मृत्युलोक के जीवों के कर्मों के चालक हैं। वहाँ के ऋषि यहाँ के ज्ञान के चालक हैं और वहाँ के नित्य पितृगण यहाँ की स्थूलसृष्टि के चालक हैं। मृत्युलोक का सब कुछ दैवी जगत् के अधीन है। इस कारण मृत्युलोक के सच्चे और सच्चरित्र राजाओं में देवलोक के राजा और लोकपालगण अपनी प्रेरणा कर उनको अपना प्रतिनिधि बनाकर समग्र ब्रह्माण्ड के मङ्गलार्थ धर्म-स्थापना में सहायक बनाया करते हैं। यही प्राचीन आर्यों का सिद्धान्त है। देवपिण्ड तैजस और मानवपिण्ड पार्थिव होने पर भी योगशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार एक पिण्ड का दूसरे पिण्ड में परिवर्तन हो जाना सम्भव है। इसी युक्ति से दोनों एक दूसरे के लोकों में जाते-आते और अलौकिक कार्य किया करते थे।

चतुर्दश भुवनों में भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक प्रधान हैं। जब इन तीन लोकों की राजानुशासन व्यवस्था ठीक रहती है, तब मनुष्यलोक में भी धर्म की सुशृंखला बनी रहती है और ज्ञान की अभिवृद्धि होती रहती है। सब दिक्पाल अपने अधीनस्थ नाना देवताओं से दैवी कार्यों की यथावत् निष्पत्ति कराया करते हैं और हमारे मृत्युलोक में भी अतिवृष्टि, अनावृष्टि महामारी आदि का प्रकोप, धर्मत्याग की उच्छृंखलता और देश-काल-पात्र में अस्वाभाविक घटनाएँ नहीं हो पातीं। सर्वत्र सुख शान्ति विराजती रहती है। क्योंकि देवलोक और मृत्युलोक का राजानुशासन एक सूत्र में आबद्ध रहता है, परन्तु वह सूत्र जब शिथिल या छिन्न हो जाता है, तब यहाँ और देवलोक में भी नाना प्रकार के उत्पात होने लगते हैं।

प्राचीन आर्यों का राजधर्म-विज्ञान ठोस दार्शनिक भित्ति पर स्थित है। वे केवल लौकिक सुख को लक्ष्य कर राजनीति के नियम नहीं बनाते थे; किन्तु प्रकृति के अकाट्य नियमों को सामने रखकर राज-धर्म-विज्ञान का निर्णय किया करते थे। स्थूल और सूक्ष्म दृश्यरूपी यह सारा संसार शक्ति का ही विकाश है। वह बीज न्याय से सृष्टि के पूर्ववर्ती समष्टि संस्काररूपी सृष्टि-बीज से ही कालान्तर में जड़-चेतनात्मक यह सारा स्थूल सूक्ष्म विश्व प्रकट हुआ करता है। जगत्प्रसविनी महाशक्ति की स्थूलदृष्टि से तीन अवस्थाएँ अनुभूत होती हैं:—१—आकर्षण और विकर्षण शक्ति की समता की अवस्था, २—केवल आकर्षण की अवस्था और ३—केवल विकर्षण की अवस्था। समता की अवस्था में सौर जगत् की स्थिति बनी रहती है और प्रलय नहीं हो पाता। आकर्षण की अवस्था में परमाणु-पुञ्ज एकत्रित होकर सृष्टि उत्पन्न तो करते हैं; परन्तु उनमें स्थिति-स्थापकता नहीं होती। केवल विकर्षण की अवस्था में सौर जगत् अनियमित होकर सब परमाणु-पुञ्ज बिखरकर प्रलय हो जाता है।

यही बात मनुष्य समाज की है। मनुष्य समाज में माता-पिता आदि गुरुजन में श्रद्धा के द्वारा, स्त्री-मित्र आदि में प्रेम के द्वारा, कन्या-शिष्य आदि में स्नेह और कृपा के द्वारा, आकर्षण शक्ति का तथा शत्रु आदि में विरुद्ध मनोवृत्ति द्वारा विकर्षण शक्ति का विकास स्पष्ट रूप से देख पड़ता है। परन्तु मनुष्य समाज में शान्ति और धर्मोन्नति तभी हो सकती है, जब इन दोनों विरुद्ध शक्तियों की समता बनी रहे। यदि दोनों शक्तियों की

समता न रहे, तो मनुष्य समाज में माता, स्त्री और कन्या का भेद ही नहीं रहेगा। न शिष्य में गुरुभक्ति होगी और न गुरु में शिष्य पर कृपा करने की प्रवृत्ति ही होगी। पुत्र माता-पिता पर श्रद्धा नहीं करेगा और माता-पिता पुत्र-कन्याओं के प्रति निःस्वार्थ प्रेम नहीं करेंगे। फिर अपराधी के साथ राजा के न्याय का बर्ताव और शत्रु के साथ नीति का बर्ताव संसार में देख ही नहीं पड़ेगा। पूर्वकथित दोनों शक्तियों की क्रिया संसार के स्थूल से स्थूल राज्य से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म राज्य तक समान रूप से होती रहती है। जहाँ दोनों की समता रहेगी, वहीं सत्त्व गुण विद्यमान रहेगा और जगत् की रक्षा होती रहेगी। दोनों शक्तियों की समता नष्ट होने पर जिस प्रकार सौर जगत् में प्रलय हो जाता है, उसी प्रकार गार्हस्थ्य के स्त्री-पुरुषों में से धर्माधर्म विचार उठ जाता है और घर की शान्ति नष्ट हो जाती है। भारतवर्ष की संयुक्त कुटुम्ब-पद्धति दोनों शक्तियों की समता का उत्तम उदाहरण है। जहाँ दोनों शक्तियों में से कोई एक ही शक्ति काम करने लगती है, वहाँ के स्त्री-पुरुष उच्छृङ्खल होकर कदाचारी और अनार्य बन जाते हैं। यदि यही बात किसी मनुष्य समाज अथवा राजा के राज्य में हो, तो धर्म-भाव के अभाव से वह मनुष्य समाज अथवा राज्य नष्ट-भ्रष्ट हुए बिना नहीं रहता।

राजधर्म और प्रजाधर्म दोनों में ही इन दोनों शक्तियों की समता समान रूप से विद्यमान रहनी चाहिए, नहीं तो राजा और प्रजा दोनों ही धर्म-हीन होकर नष्ट हो जायेंगे। प्राचीन राजधर्म, विज्ञान में धर्म-मूलक राज-सत्ता और प्रजा-सत्ता दोनों का समान रूप से समावेश किया गया था और दोनों को अपने-अपने ढंग पर स्वाधीनता रक्खी गई थी। सबसे महत्त्व की बात यह थी कि, राजानुशासन और समाजानुशासन के नियम (कानून) त्रिकालदर्शी, त्यागी, तपस्वी, जगत्कल्याणरत ब्राह्मण ही बनाया करते थे और उनके बनाये हुए धर्मशास्त्र के अनुसार मनुष्य समाज की राजनीति और समाजनीति परिचालित होती थी, जिससे राजा और प्रजा दोनों उच्छृङ्खल नहीं हो पाते थे। दूरदर्शी निःस्वार्थ विद्वान् ब्राह्मणों का राजैश्वर्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहता था और उनकी वृत्ति इन्द्रियसुख से विमुख रहती थी। इस कारण स्वार्थपरता के कलङ्क से रहित समाज-रक्षक और राज-रक्षक जो नियम उनके द्वारा बनते थे, उनमें पक्षपात होने का सम्भव ही नहीं था। इसके अतिरिक्त दैवी जगत् के साथ उनकी हृत्तन्त्री का तार एक स्वर में मिला रहने के कारण उनमें भ्रम, प्रमाद की भी सम्भावना नहीं रहती थी। दैवी जगत् की प्रेरणा से ही वे सब कुछ कार्य किया करते थे। जहाँ पक्षपात, स्वार्थ और अहङ्कार न हो और शुद्ध आत्म-ज्ञानमूलक चेष्टा हो, उस केन्द्र से सञ्चालित राजा और प्रजा निर्भय अपने-अपने ढंग पर स्वाधीन और परस्पर सहकारी होकर मनुष्य समाज की शृङ्खला और शान्ति को विशुद्ध बनाये रक्खेंगे, इसमें सन्देह ही क्या है? काल-प्रभाव से यह व्यवस्था टूट जाने के कारण ही भारत की राजनीति और समाजनीति दुर्बल हो गई है।

पूज्यपाद महर्षियों के द्वारा परिचालित राजानुशासन-प्रणाली वर्णाश्रम की पवित्र शृङ्खला से ऐसी जकड़ी हुई थी कि, राजसिक और तामसिक शक्तियों का कुप्रभाव न राजा पर पड़ता था, न प्रजा पर। राजा-प्रजा दोनों पिता-पुत्र की तरह एक गृहस्थ की तरह जीवन-पथ में अग्रसर होते हुए विद्या, धन, बल और बुद्धि से युक्त होकर निरंतर

धर्म-मार्ग पर ही चला करते थे। राजानुशासन उस समय दो शक्तियों के द्वारा सुरक्षित किया जाता था—एक राजदण्ड और दूसरी समाजदण्ड। राजा का राजतन्त्रवाद और प्रजा का प्रजातन्त्रवाद दोनों एक दूसरे के सहायक होते थे। राजदण्ड के द्वारा राजन्यगण प्रजा की पवित्रता की रक्षा करते थे और प्रजावर्ग पञ्चायती शक्ति से समाज की पवित्रता में दत्तचित्त रहते थे। यों दोनों ओर से समाज के स्वास्थ्य की रक्षा हुआ करती थी। इस सुव्यवस्था से न राजा ही निरंकुश होकर स्वेच्छाचारी बनते थे और न प्रजा ही निरङ्कुश होकर राजद्रोही बनती थी। यही राजशक्ति और प्रजाशक्ति का समन्वय था।

इस समय संसार में तीन प्रकार की राजशासन-प्रणालियाँ प्रचलित हैं,—१ राजतन्त्र शासन-प्रणाली, २ प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली, और ३ राज-प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली। प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का आजकल सब ओर बोलबाला है। इसका बीजारोपण रोमन साम्राज्य के समय में हुआ था। उच्छृङ्खलतामय प्रजातन्त्रवाद, लोकमत-प्रधान कानून बनाने की रीति, स्त्रियों और पुरुषों की सामाजिक स्वतंत्रता, राजभक्ति की हीनता, राजा की आवश्यकता और अनावश्यकता के विषय में उदासीनता, लोकमत के निर्णय करने में किसी धर्म अथवा धार्मिक की अनावश्यकता इत्यादि सिद्धान्त प्रतापशाली रोमन साम्राज्य से ही चलाये गये हैं। राजा को नष्ट कर केवल प्रजा के अधिकार से प्रजातन्त्र के स्थापन करने की रीति रोमन साम्राज्य से ही चली है।

जब तक राजा धार्मिक, सदाचारी और नीतिज्ञ रहता है तभी तक राजतन्त्र राज्य में आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति की समता रहती है और देश में विद्या, बल, धन और धर्म की अभिवृद्धि होती रहती है। राजा के अधार्मिक होने पर यह सब नष्ट हो जाता है। इसी तरह जब तक प्रजा धार्मिक और कर्त्तव्य-परायण रहती है, तभी तक प्रजातन्त्र राज्य में सुखों की समृद्धि होती रहती है; परन्तु जब प्रजा विलासी, निरङ्कुश, नीति-विमुख और अधार्मिक बन जाती है, तब राष्ट्र का नाश हो जाता है। प्रतापशाली रोमन साम्राज्य का इसी कारण नाश हो गया। यही नहीं, किन्तु रोमन जाति भी काल के गाल में बिला गई। अभी तक जिस प्रकार स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्य शासन-प्रणाली के दोष पृथ्वी के इतिहास ने बार बार प्रमाणित कर दिखाये हैं, उस प्रकार अब तक प्रजातन्त्र राज्य शासन-प्रणाली के दोषों को सिद्ध कर दिखाने का अवसर नहीं मिला है, परन्तु स्वेच्छाचारी राज्य शासन-प्रणाली, जिसका आरम्भ रूस में हुआ है और जिसका प्रभाव संसार के सभी देशों पर न्यूनाधिक रूप से पड़ रहा है,—वह तो आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति दोनों को दुर्बल बनानेवाली है और उससे प्रजा तथा राष्ट्र दोनों का पतन होना अवश्यसम्भावी है। यदि यह उच्छृङ्खल नीति दिन दिन बढ़ती गई, तो हमारे दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार जगत् की सभ्यता नष्ट हो जायगी।

वर्तमान ब्रिटिश राजतन्त्र राजशासन-प्रणाली (Limited Monarchy) और हिन्दुओं की प्राचीन राजतन्त्र राजशासन-प्रणाली, दोनों में बहुत कुछ साम्य है। वर्तमान ब्रिटिश प्रणाली में प्रजा को राजा की अपेक्षा होने पर भी उसके अनुशासन-कार्य को नियमबद्ध करने के लिए प्रतिनिधि सभा-संघटन की व्यवस्था है। दूसरी प्रतिनिधि

सभा वंशानुगत प्रतिष्ठित व्यक्तियों की होती है। इस व्यवस्था से जन्मगत और वंशानुगत मर्यादा बनी रहती है। इन्हीं दोनों सभाओं में से मन्त्रिमण्डल संघटित होकर राज्य-कार्य चलाया जाता है। राजशक्ति और प्रजाशक्ति दोनों की समता बनाये रखने के लिए यह केवल बाहरी प्रयत्न है। हिन्दुओं की प्राचीन प्रणाली में यही बात धर्म के सहारे से स्वाभाविक रूप से हो जाया करती थी। राजा को साक्षात् भगवान् का अवतार मानने की रीति जिस प्रकार हिन्दुओं में है, उस प्रकार पृथ्वी की अन्य किसी जाति में नहीं पाई जाती। धर्मशास्त्र कहता है :--

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रानिर्हृत्य शाश्वतीः ॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥
तपत्यादित्यवच्चैव चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥
जङ्गमस्थावराणां च हीशः स्वतपसा भवेत्।
भागभाग्रक्षणे दक्षो यथेन्द्रो नृपतिस्तथा ॥

इसी तरह राजा को भी प्रजा के लिए स्वार्थत्याग करने और प्रजा का पुत्रवत् प्रतिपालन करने की जैसी हिन्दू धर्मशास्त्र में प्रबल आज्ञा है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं पाई जाती। एक ओर प्रजा में राजभक्ति की पूर्णता और दूसरी ओर राजा में प्रजा-वात्सल्य की पूर्णता हिन्दू जाति में ही देख पड़ती है। यदि राजा कर्त्तव्यच्युत होकर प्रजा-पीड़क बन जाय, तो उस अवस्था में क्या होता है, इसका दिग्दर्शन महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार किया है :--

प्रजापीडनसंतापात्समुद्भूतो हुताशनः।
राज्यं कुलं श्रियं प्राणाँश्चादग्ध्वा न निवर्तते ॥

गोस्वामीजी भी लिखते हैं :—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥

भारत की प्राचीन राज-प्रजातन्त्र राज्य-शासनप्रणाली में धर्मशास्त्र ने ही राजा की दिनचर्या आचार, प्रजापालन, मन्त्रिमण्डल-संघटन, राजनीति, युद्धनीति आदि जिस प्रकार निश्चित कर दी थी, उसी प्रकार प्रजा के कर्त्तव्य भी स्थिर कर दिये थे। इसी से प्रकृति की आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति की समता में कोई विप्लव नहीं होता था और सभी राजन्यवर्ग वेद-शास्त्र पर दृढ़ विश्वास रखनेवाले, तपःस्वाध्याय-निरत, निवृत्तिसेवी, ब्राह्मणों की आज्ञा से चलनेवाले, अपनी प्रजा को पुत्रवत् माननेवाले, संयमी, सत्यवादी, अप्रमादी, निर्लोभ, दानशील, दयालु और दैवी जगत् पर स्थिर लक्ष्य

रखनेवाले होते थे तथा आर्य प्रजा भी स्वभावतः शान्तिप्रिय, वर्णाश्रम-शृङ्खलासेवी, धर्मभीरु, राजभक्त, स्वदेशप्रेमी, पञ्च-महायज्ञ-निरत, निरलस, धर्म के लिए सर्वस्व त्यागनेवाली, आस्तिक और सदाचारी हुआ करती थी। राजा और प्रजा दोनों धर्म के आश्रय से आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति की समता बनाये रखकर मनुष्य समाज का सर्वविध उत्कर्ष साधन किया करते थे और इसी से उस समय इस देश में सुख-समृद्धि की बाढ़ आ गई थी। वही रामराज्य था और इसी का आदर्श डूँगरपुर राजवंश के पूर्वजों ने अपनी आँखों के सामने रक्खा था। वही परम्परा अब तक चली जा रही है; इसी से इस राज्य की प्रजा सब तरह से प्रसन्न है और अपने प्रजा-प्रिय नृपति की रजत-जयन्ती मना रही है।

इस राजवंश से मेरा परिचय किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में अब कुछ संस्मरण लिख देना उचित जान पड़ता है। सन् १९१५ में स्वर्गीय नरसिंहगढ़-नरेश ने काशी पुरी में आरोग्य के लिए श्री भारतधर्ममहामण्डल के तत्त्वावधान में विश्वम्भर याग' नामक एक महायज्ञ किया था, जिसमें ३०-४० हजार रुपया व्यय हुआ था। उसी उपलक्ष्य में स्वर्गीय सैलाना-नरेश महाराजा जसवंतसिंह बहादुर और स्वर्गीय श्रीमान् महारावल साहब महाराजा विजयसिंह बहादुर काशी पधारे थे। सैलाना-नरेश का श्री महामण्डल से बहुत पुराना घनिष्ठ सम्बन्ध होने से उनसे मेरा भी पुराना परिचय था और वे विद्वत्प्रेमी होने के कारण मेरे साथ विशेष सौहार्द रखते थे। वे महामण्डल के संरक्षक थे और मैं शास्त्र-प्रकाशन विभाग का अध्यक्ष था। दोनों में जी खोलकर शास्त्र-चर्चा होती और बड़ा आनन्द आता था। श्री विजयसिंह बहादुर उनके ज्येष्ठ जामाता थे। उनसे स्वर्गीय सैलाना नरेश की मध्यस्थता से मेरा परिचय हुआ और वह दिन-दिन बढ़ता ही गया। स्वर्गीय सैलाना-नरेश के मझले जामाता नरसिंहगढ़ दरबार थे। उनसे भी उसी समय परिचय हुआ। साहित्य-सम्बन्ध से उनकी महारानी श्रीमती शिवकुमारी देवी से भी उसी समय परिचय हुआ और वह ऋणानुबन्ध अब तक चला जा रहा है।

स्वर्गीय श्रीमान् महारावल बहादुर स्वयं बड़े विद्वान् थे और विद्वानों का गौरव तथा आदर भी किया करते थे। राजनीति, विज्ञान, दर्शन, इतिहास आदि विषयों में तो वे विशेष योग्यता रखते ही थे, किन्तु साहित्य से उन्हें परम अनुराग था। एक मुसलमान साहित्यिक के द्वारा उन्होंने हिन्दी के प्राचीन कवियों की एक सहस्र कविताओं का संग्रह कराया है, जो 'विजय-हजारा' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है। जैसे आप हिन्दी के विशेषज्ञ थे, वैसे ही संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी और अरेबिक के भी मर्मज्ञ थे। आपने एक महाग्रन्थ लिखना आरम्भ किया था, जिसका नाम कहावत-रत्नाकर है और वह नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हो चुका है। इसमें हिन्दी, संस्कृत, अँगरेजी, उर्दू, फारसी और अरबी की एक दूसरी से मिलती-जुलती दस हजार कहावतों का संग्रह हुआ है। श्री नरेश की आज्ञा के अनुसार इसके सम्पादन का भार मुझ पर ही रहा; क्योंकि यह अकेले का काम नहीं था। हिन्दी कहावतों का काम मैंने सँभाला, संस्कृत में भी सहायता की। फिर भी पण्डित गोपाल शास्त्री दर्शन-केसरी, महोपदेशक पं० गंगाविष्णु मिश्र, प्रोफेसर परशुराम नारायण पाटणकर एम्० ए०

आदि विद्वानों की इस काम में मुझे सहायता लेनी पड़ी थी। अँगरेजी कहावतों का सम्पादन बाबू कैलाशचन्द्र चक्रवर्ती ने किया था। उर्दू, फारसी और अरबी की कहावतें लाला भगवानदीन जी ने सँवारी थीं। इस प्रकार छः भाषाओं की कहावतों का यह संग्रह अपूर्व हुआ है।

महर्षि वसिष्ठ-कृत 'तत्त्वसारायण' नामक एक महाग्रन्थ है। मैसूर दरबार ने इसका संग्रह किया है और महामहोपाध्याय पं० गणपति शास्त्री ने सम्पादन कर इसे प्रकाशित किया है। इसी में अठारह अध्यायों की एक 'रामगीता' है, जो श्री रामचन्द्र ने श्री हनुमान को सुनाई है। यह रामगीता स्वर्गीय महारावल बहादुर को बहुत पसन्द आई और उन्होंने अपनी सहधर्मिणी महारानी (वर्तमान राजमाता) महोदया के सहयोग से उसका हिन्दी अनुवाद कर डाला। इसके लिए जयपुर के कलाकारों से कई तिरङ्गे और सुनहले चित्र तैयार कराये गये और इसके सम्पादन का भार भी मुझ पर ही सौंपा गया। अनुवाद की प्रति श्रीमती महारानी साहबा ने ही अपने कर-कमलों से लिखी थी। श्रीमतीजी का हस्ताक्षर इतना सुन्दर है कि ठीक छापे से मिल जाता है। सम्पादन के उपरान्त यह महाग्रन्थ भी लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस में छपवाया गया था। 'कहावत-रत्नाकर' और यह 'रामगीता' ये दोनों ग्रन्थ स्वर्गीय श्री नरेश के सजीव स्मारक हैं। इसी प्रकार श्री नरेश ने अनेक ग्रन्थ स्वयं लिखकर या विद्वानों से लिखवाकर प्रकाशित कराये हैं, जो स्थायी साहित्य के द्योतक हैं।

नरसिंहगढ़ दरबार की पूजनीया माता, जो वर्तमान महारावल बहादुर की मौसी हैं, उन्हीं की बिचवई से मेरे छोटे भाई पं० गोपाल विट्ठल दुगवेकर को डूँगरपुर की वर्तमान राजमाता महोदया ने अपनी सेवा में बुला लिया था और उन्हें अपने प्राइवेट सेक्रेटरी और हाउस होल्ड आफिसर के पद पर नियुक्त किया था। कई साल तक वे राजमाता महोदया की सेवा में रहे और राजमाता महोदया ने उनके साथ माता-जैसा ही व्यवहार किया। फिर वे सैलाना-दरबार की सेवा में चले आये और अब तक वहीं हैं।

वर्तमान महारावल बहादुर की मातृभगिनी नरसिंहगढ़ की राजमाता महोदया बड़ी ही ओजस्विनी राजमहिला हैं। राजनीति, इतिहास, साहित्य, धर्म-शास्त्र आदि की अच्छी विदुषी हैं और भगवदाराधन तथा साहित्य-सेवा में कालयापन करती हैं। स्वर्गीय महारावल बहादुर की तरह वर्तमान महारावल बहादुर तथा उनके भ्रातृगण भी सुरूप, हँसमुख, मिलनसार, विद्वान्, संयमी और दृढ़चेता हैं। एक उदाहरण ही इसके प्रमाण में पर्याप्त होगा। श्री नरेश के भ्राता श्रीमान् महाराज नगेन्द्रसिंह महोदय गत वर्ष पचमढ़ी पधारे थे। वहीं नरसिंहगढ़ की राजमाता महोदया कोठी बनवाकर निवास किया करती हैं। पचमढ़ी हुशंगाबाद जिले में है और उस समय वहाँ के डिप्टी कमिश्नर महाराज साहब ही थे। संयोगवश मैं भी राजमाता महोदया के आतिथ्य में चला गया था। मैं पक्की अतिथिशाला में ठहरा था और महाराज साहब तम्बू-खेमे में। चन्द्र-ग्रहण पड़ा था। घोर वर्षा हो रही थी। बिजली कड़क रही थी और बादल गरज रहे थे। मैं बरामदे में चन्द्र-ग्रहण के समय उपासना कर रहा था। पानी की बौछार से मैं उठा और कमरे में

चला गया। परन्तु महाराज साहब आसन से नहीं डिगे और अन्त तक दृढ़ता से उपासना करते रहे, यद्यपि उनके तम्बू में पानी भर गया था।

वर्तमान महारावल बहादुर की सौभाग्यवती भगिनी काठियावाड़ के वाँकानेर राज्य में ब्याही हैं। वे भी अच्छी विदुषी, सुशील और कर्त्तव्य-दक्ष महिला हैं। यों डूँगरपुर नरेश और उनका राज-परिवार आदर्श माना जा सकता है। इस शुभ रजत-जयन्ती के उपलक्ष्य में परिवार सहित श्री नरेश का हम हृदय से अभिनन्दन करते हैं, मंगल मनाते हैं और श्री जगदम्बा के चरणों में प्रार्थना करते हैं कि, वे नीरोग, दीर्घायु और यशस्वी हों तथा आपकी स्वर्ण जयन्ती, हीरक जयन्ती देखने और मनाने का हमें सौभाग्य प्राप्त हो।

राजर्षि विजयसिंह का विद्या-प्रेम

श्री पं० गणेशराम शर्मा, विशारद, ज्यौतिषोपाध्याय

डूँगरपुर राज्य के स्वर्गीय नरेश विजयसिंह एक असाधारण महापुरुष हो गये हैं। उनके विद्या-प्रेम का क्या कहना है? वे सच्चे विद्या-प्रेमी एवं कृतविद्य थे। उनका विद्या में एकांत प्रेम था, और कलाओं में स्वाभाविक अभिरुचि थी। नैसर्गिक विद्यानुराग का उनमें ऐसा क्रमिक विकास हुआ कि, एक राजा के लिए एकाकी कठिन है। स्वाध्याय करना तो उनका दैनिक कृत्य था। वे सदा अच्छे-अच्छे धार्मिक, आध्यात्मिक ग्रंथों का मननपूर्वक अध्ययन किया करते थे। सद्ग्रंथों का अनुशीलन करने में कभी कभी वे इतने तल्लीन हो जाते थे कि दूसरे कार्यों को आगे के लिए छोड़कर भी इसमें लगे रहते। सच तो यह है कि वे अपनी जिज्ञासा को, ज्ञानतृषा को, आध्यात्मिक ज्ञान के विशुद्ध जल से बुझाने के लिए एक सच्चे साधक की भाँति सदा-सर्वदा लगे रहनेवाले व्यक्ति थे। प्रथम तो इस संसार में उच्च कुल में, विशेषकर राज-वंश में, मनुष्य का जन्म होना ही दुर्लभ है। उस पर प्रतिभावान् होना और सतत सरस्वती की सेवा करने में लगे रहना, ये सब बातें एक से एक बढ़कर दुर्लभ हैं। परन्तु हमारे चरित्र-नायक में इन सभी गुणों का मधुर-सम्मिश्रण एक अनोखे ढंग से हुआ था। समस्त राज-तंत्र का सुचारु रीति से संचालन करते हुए, एक सुसमृद्ध ऐश्वर्यशाली सद्गृहस्थ की तरह, तमाम प्राप्त सुखों को अधिकारी भोक्ता के रूप में भोगने के साथ साथ वे अपने विद्या-प्रेम को बराबर बनाये रखते थे। यह उनकी अपनी खास विशेषता थी। आधुनिक दृष्टिकोण से भी वे नरेशोचित शिक्षा पाये हुए थे और अनेक उपाधियाँ भी उन्हें मिली हुई थीं। वे केवल प्रसिद्धि के लिए ही यह सब आडंबर धारण करते थे सो बात नहीं, प्रत्युत विद्या-संबंधी उपाधियों से विभूषित होते हुए भी उन्हें इस बात का लेशमात्र भी अभिमान न था कि "मैं भी कुछ ज्ञान-संपन्न मनुष्य हूँ"। उनकी अध्ययनशीलता ही बड़ी विलक्षण थी।

आप अँगरेजी भाषा और साहित्य के जानकार थे, क्योंकि आपकी प्रारम्भिक शिक्षा राजनियमों के अनुसार अजमेर के 'मेयो कॉलेज' में अँगरेजी के माध्यम से हुई थी, परन्तु फिर भी आपकी रुचि सदा संस्कृत और हिन्दी-साहित्य की ओर विशेष रूप से आकृष्ट थी। हमारे इस भारत राष्ट्र के प्राचीन महर्षियों ने अपने अलौकिक ज्ञान के प्रकाश से निखिल विश्व को प्रकाशित करनेवाले जिस आध्यात्मिक साहित्य का सर्जन किया है, उसका सांगोपांग अध्ययन करने की इच्छा आपमें उदित हो चुकी थी। अपने इस आशय को पूरा करने के लिए ही आपने संस्कृत के उद्भट विद्वानों के साथ विचार-संबंध स्थापित कर लिया था। 'भारत-धर्म-महामंडल' काशी के बहुत से विद्वान् सदस्य प्रायः डूँगरपुर में आपके द्वारा आमंत्रित किये जाते और उनके सहवास में रहकर आप अपने संस्कृत-साहित्य के ज्ञानवर्द्धन के मनोरथ को पूरा करते। विद्वानों के साथ दार्शनिक पद्धति

से विचार-विमर्ष करते समय आप अपनी युक्तियाँ और तर्क जिस नम्रता, शालीनता और निष्पक्षपात से रखते, वह सर्वथा एक कुलीन और सत्पात्र जिज्ञासु के अनुरूप ही होती थी। वाद-सापेक्ष वार्तालापों में अपने आपको देहाभिमान से अलग रखकर युक्ति-युक्त ढंग से विचार-विमर्ष कर सकने की क्षमता आपमें खूब थी। बाबा ज्ञानानंद, पं० अखिलानंद, स्वा० सत्यदेव और शास्त्री दुगवेकर आदि कई विद्वान् यहाँ आये और आपका सत्संग पाकर सुर-भारती संस्कृत भाषा और उसके साहित्य की उन्नति करने के लिए बहुत-बहुत उत्साहित हुए। यह सब श्रेय राजर्षि के उस अनंत विद्याप्रेम को ही है। आप जब जब बाहर भ्रमण करने के लिए निकलते तो उज्जैन, बनारस, और अयोध्या आदि विद्या के केन्द्र रूप तीर्थ-स्थानों में जा-जाकर वहाँ की स्थानीय विद्वन्मंडली के प्रमुख प्रमुख सभ्यों को प्रयत्न-पूर्वक अपने पास बुलाकर उनका सत्संग कर विद्या-विनोद का अपूर्व आनंद उठाते और आमंत्रित विद्वानों को निष्कपट भाव से सम्मानित कर, मुक्त-हस्त दान-दक्षिणा दे-देकर अपने को धन्य मानते। यही कारण है कि आप थोड़े ही समय में विद्वत्समाज में सुपरिचित हो गये। भारत-धर्म-महामंडल ने आपको "भारत-धर्म-सुधाकर" की उपाधि से विभूषित कर आपके सच्चे विद्यानुराग की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। भारत-धर्म महामंडल के शास्त्र विभाग द्वारा प्रकाशित महर्षि वशिष्ठकृत 'सत्वसारायण' ग्रंथ के अंतर्गत 'रामगीता' का आपने अनुवाद कर संपादन किया और 'कहावत-रत्नाकर', 'विजय हजारा' आदि संग्रह-ग्रंथों को भी आपने संपादित किया जो आपके विद्या-प्रेम के कीर्ति-स्तंभ के रूप में आज भी उपस्थित हैं। एकनिष्ठा से सतत अध्ययन करने का ही यह फल हुआ कि आप ऐसे साहित्यिक कार्य कर सके।

स्वयं विद्वान् होकर भी दूसरे विद्वानों का मान करना कोई साधारण गुण नहीं है। हृदय की विशालता के बिना दूसरों के गुणोत्कर्ष पर दाद दे सकना संभव नहीं। यह आप ही का काम था जो साधारण से साधारण योग्यता के आदमी का भी आप मान रखते। कई बार ऐसे प्रसंग भी आये हैं, जब आपके प्रज्ञा-वैभव के जाज्वल्यमान स्वरूप से अपरिचित व्यक्ति वाद-विवाद में अपने पक्ष का आग्रहपूर्वक अनुचित समर्थन करते, उस समय भी आप शांत, गंभीर होकर सब बातें सुन लेते और नीर-क्षीर-विवेक से तथ्यांश को ग्रहण कर निस्सार दलीलों की उपेक्षा कर देते, परंतु प्रतिवादी की अल्पज्ञता पर कभी क्षोभ प्रकट नहीं करते। आपके पास पं० देवकीनंदन मिश्र नामक एक सज्जन राजपंडित के रूप में रहा करते थे। ये पंडितजी कभी-कभी किसी खास बात पर दुराग्रह कर बैठते। कारण यह था कि पंडितजी संस्कृत के तो विद्वान् थे परंतु आधुनिक शिक्षा-पद्धति से शिक्षित न होने से इतिहास, भूगोल और राजनीति आदि विषयों पर उनके विचारों में एकदेशीयता रहा करती। जब राजर्षि के साथ ऐसे ही विषयों पर चर्चा हो पड़ती तब पंडितजी बात के 'पश्चिमी पहलू' को न समझते तब दुराग्रह-ग्रस्त हो जाते। ऐसे अवसरों पर आप जिस सुंदर ढंग से सारगर्भित वाक्यावलि से पंडितजी को अपना मत समझा देते वह सर्वथा एक उच्च कोटि के विचारशील पुरुष के योग्य ही होता था।

विजयसिंह जी के विद्या-प्रेम का यह भी एक उज्ज्वल प्रमाण है कि आपने स्वयं चुन-चुनकर शासनाधिकार के उच्च पदों पर उच्च शिक्षित, योग्य विद्वानों

को रक्खा था। पं० रामचंद्र दुबे, श्रीराम दीक्षित और शिवगोविंदसिंह जैसे पुरुषों को अपने आश्रय में रखना आप जैसे पारखी का ही काम था।

केवल इतना ही नहीं कि आपने बाहर के लोगों से ही संपर्क रखकर अपने विद्या-प्रेम का परिचय दिया हो, प्रत्युत अपनी राजधानी (डूँगरपुर) के स्थानीय प्रजावर्ग को शिक्षित करने के अनेक भगीरथ-प्रयत्न आपने किये। यहाँ उस समय यथोचित शिक्षा-प्रचार न होने से जन-साधारण उतना शिक्षित नहीं था, इसलिए प्रजा के संस्कारी और होनहार व्यक्तियों को विद्याध्ययन करने के लिए उत्साहित करने को आपने अनेक बातें कर डालीं। संस्कृत के अनेक स्तोत्र आपको कंठाग्र उपस्थित थे। कभी-कभी ब्राह्मण-मंडली में घन-गंभीर स्वर में स्तोत्रों को ऐसे मनोमुग्धकारी मधुर ढंग से पढ़ते तो यही प्रतीत होता, मानों दिव्य संदेश सुनानेवाला ईश्वर इस जगत् के अज्ञताजन्य अंधकार को हटाने के लिए अपना ज्ञान प्रकाश वितरण कर रहा हो। कई बार आपने ब्राह्मण-बालकों को तुतली वाणी से पद्य पाठ करा-कराकर उनके प्रोत्साहन के लिए पारितोषिक वितीर्ण किये। एक बार तो कई दिन तक आपने यह क्रम जारी किया कि 'बृहत्स्तोत्ररत्नाकर' आदि स्तोत्र-पुस्तकों में से अच्छे-अच्छे स्तोत्रों को अपनी रुचि के अनुसार चुनकर उनकी अपने हाथ से नकल करते और फिर प्रतिदिन बारी-बारी से एक-एक ब्राह्मण-बालक को बुलाकर उससे उस स्तोत्र को पढ़ाते और आप स्वयं भी उसके साथ-साथ कंठाग्र पढ़ते। प्रत्येक स्तोत्रपाठी ब्राह्मण-बालक को उत्साहित कर उसके विद्या-प्रेम को जागृत करने के लिए दक्षिणा-पुरस्कार देते रहते। कई बार आपने संस्कृत भाषा की धार्मिक और शिक्षा-सदाचार-संबंधी कई पुस्तिकाएँ बाहर से मँगाकर यहाँ के ब्राह्मणों को वितीर्ण की थीं। ये सब बातें आपके अगाध विद्या-प्रेम का परिचय देती हैं। आपकी राजधानी (डूँगरपुर) में तत्कालीन परिस्थिति में सर्वसाधारण की अपेक्षा जो विशेष गुणी थे, उनका भी आप बहुत सम्मान करते थे। मौलाना अब्दुलहक, कविराज जगतसिंह (करावाड़ा) आदि विद्वानों को आप सदा अपने पास रखते और उनके साथ विद्या-विनोद का आनंद उठाते। डूँगरपुर में उस समय यथोचित विद्या-प्रचार नहीं था, यह बात आपको बहुत खटकती थी। इसलिए आपने राज्याश्रित ब्राह्मणों में से कई ब्राह्मणों को बनारस आदि स्थानों में भेजकर शिक्षित बनाने का प्रयत्न किया। ऐसे लोगों में पं० मोहनलाल राणा, पं० कोदरलाल भट्ट और पं० इच्छानाथ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। अपनी ओर से छात्रवृत्तियाँ दे-देकर बड़ी अवस्था के लोगों तक को बाहर भेजकर विद्या लाभ कराना आपके उत्कृष्ट विद्या-प्रेम का ही परिचायक है।

आपके समय जो कोई विद्वान्, कलाकार, कवि और संगीतज्ञ राजधानी में आता, उसे आप अवश्य अपने पास बुलाते। उसके गुण की सच्चे हृदय से दाद देते और उसे पुरस्कार आदि देकर सम्मानित करते।

इस बात की आपको पूरी लगन थी कि, किसी तरह यहाँ के देशीय लोग सुशिक्षित हो जायँ। आपके समय यहाँ मिडिल स्कूल तक ही शिक्षा दे सकने की सुविधा थी। जब दो-तीन छात्र अजमेर-केन्द्र से मिडिल परीक्षा देकर पास हुए तब आपने बड़े लंबे-चौड़े पैमाने पर हर्ष मनाया—मिठाइयाँ बँटवाई, बाजे बजवाये और परीक्षोत्तीर्ण छात्रों की कई

प्रकार के पुरस्कारादि देकर उन्हें उत्साहित और संतुष्ट किया। इन सब बातों से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि, आपको कितना उत्कट विद्या-प्रेम था।

पंडित गोविंद शास्त्री दुगवेकर के शब्दों में—"स्वर्गीय भारत-धर्म-सुधार हिज हाईनेस महारावल साहब श्रीमान् सर विजयसिंह बहादुर के० सी० आ.ई० ई० डूँगरपुर-नरेश महोदय की कीर्ति को कौन नहीं जानता? उनके स्वधर्माभिमान, स्वदेशानुराग, सदाचार-प्रेम, विविध भाषानैपुण्य, निरभिमान जीवन-क्रम, राज्यकार्य-पटुत्व, सद्विद्या-व्यासंग, सत्साहित्याभिरुचि, गुरुभक्ति, निरलसता, सच्चरित्रता, उदारता, गुण-ग्राहकता, दानप्रियता आदि सद्गुण असाधारण थे। ऐसे आदर्श नृपति इस कारण कलिकाल में विरले ही दीख पड़ते हैं। यह देश का दुर्दैवमात्र है कि, श्रीमान् महारावल बहादुर अल्पायु हुए; परंतु उन्होंने अपने लघु जीवन में ही जो अनेक चिरस्मरणीय कार्य किये हैं, उनको देखकर महर्षियों की इस उक्ति का स्मरण होता है:—

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्।

अग्नि का क्षणमात्र जलना अच्छा, सैकड़ों वर्षों तक धुँधवाना अच्छा नहीं। स्वर्गीय नरेश न केवल एक-दो, अपितु अनेकानेक सद्गुणों के भंडार थे।"

भारत के यशस्वी और आदर्श महाराजा

राज्यरत्न, वाणीभूषण पं० दुर्गाप्रसाद जी शास्त्री

संसार के इतिहास-लेखकों का पूर्ण विश्वास है कि प्राचीन भारत का समस्त इतिहास अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है; उसमें भी राजपूताने का इतिहास और खास तौर से मेवाड़ का इतिहास प्रशंसनीय वीरता, अनुकरणीय आत्मोत्सर्ग, पवित्र त्याग और आदर्शों से भरा हुआ है जिसका मुकाबला संसार का कोई इतिहास नहीं कर सकता। मेवाड़ का राजवंश वि० सं० ६२५ (ई० स० ५६८) से आज तक राज्य करता हुआ चला आ रहा है। इतिहास से विदित होता है कि विक्रमादित्य के समय से जहाँगीर तक कोई पुराना राजवंश नहीं रहा परन्तु मेवाड़ के महाराजाओं का राजवंश ही ऐसा है जो मुसलमान धर्म की उत्पत्ति से पहले भी था और आज भी एक आदर्श राज्य के रूप में कार्य कर रहा है। मेवाड़ के राजवंश का इतिहास उन्हीं महान् वीर पुरुषों तथा वीराङ्गनाओं की गाथाओं से ओत-प्रोत है, जिन्होंने हिन्दू जाति के लिए अपने सर्वस्व तथा प्राणों का भी निर्भय होकर हँसते-हँसते बलिदान किया है। उनके त्याग और वीरता की वे अमर कथाएँ जाति के मृत तथा हताश पुरुषों के हृदयों में भी एक नवीन जीवन का संचार कर देती हैं। उनके पारायण करने मात्र से धमनियों में एक उष्ण तथा जीवित रक्त का प्रवाह होने लगता है। धन्य हैं वे पुरुष जिन्होंने उनका गान कर अपनी जिह्वा को पवित्र किया है।

भाटों ने लिखा है कि मेवाड़ के गुहिल-वंश में उदयपुर के राजवंश की शाखा छोटी और डूँगरपुर की बड़ी है। यही नहीं, यह भी मालूम होता है कि डूँगरपुर राज्य के निवासियों को इतिहास-संरक्षण का विशेष अनुराग था, इसलिए वहाँ से अनेक शिलालेख और ताम्र-पत्र मिले हैं। इन शिलालेखों में कुछ तो अत्यन्त सुन्दर लिपि में खुदे हुए हैं और किसी-किसी में वंशावलियाँ भी दी गई हैं। वहाँ के प्रायः बडे-बड़े मन्दिरों और बावड़ियों में सुन्दर प्रशस्तियाँ लगी हुई हैं जिनसे जान पड़ता है कि डूँगरपुर राज्य पहले वैभव-सम्पन्न था और वहाँ के निवासियों में उच्च कोटि की धार्मिक भावनाएँ रही थीं। इसी से वहाँ कई एक सुविशाल मन्दिर बनवाये जाते और उनकी प्रतिष्ठा के अवसर पर कभी-कभी स्वर्ण-तुलाएँ होती थीं।

इसी राज्य में आर्य संस्कृति के परम उपासक गुहिल-वंश-भूषण, विद्यानुरागी महारावल विजयसिंह जी का जन्म वि० सं० १९५४ (अमांत) आषाढ़ (पूर्णिमांत, श्रावण) वदि १२ (ई० सन् १८८७ ता० १७ जुलाई) को हुआ और अपने दादा महारावल उदयसिंह जी का स्वर्गवास होने पर वह वि० सं० १९५४ (ई० सन् १८९८) में ११ वर्ष की आयु में डूँगरपुर राज्य के स्वामी बने और आपने वि० सं० १९६४ (ई० सन् १९०७) में मेयो कॉलेज की सर्वोच्च परीक्षा "पोस्ट डिपलोमा" में सफलता प्राप्त की। आपका शुभ विवाह सैलाना-नरेश जशवन्तसिंह जी की महान् विदुषी राजकुमारी देवेन्द्रकुमारी जी के साथ हुआ था जो आज राज्य की आदर्श राज-माता हैं। राज-माता यथाथ

सती, आदर्श राज-माता, कर्त्तव्य-परायण, ज्ञानवती, शान्तिरूपिणी और बड़ी उदार हैं। आपकी ही तपस्या का फल है कि आज डूँगरपुर राज सब प्रकार से समृद्धिशाली और समस्त प्रजा आनन्दपूर्वक है। आपने अपनी सन्तान में प्रारम्भ से ही सदिच्छाएँ, उच्च आकांक्षाएँ, आत्म-त्याग, निःस्वार्थ भावनाएँ भरकर ज्ञानवान् बनाया है।

महारावल स्वर्गीय विजयसिंह जी ने डूँगरपुर राज्य में महान् उन्नति की। वि० सं० १९६६ में महारावल ने विजय पलटन नामक कवायदी सेना तैयार करना आरम्भ किया।

अपनी प्रजा को थोड़े सूद पर रुपये उधार मिलने के उद्देश्य से उन्होंने राम-लक्ष्मण बैंक खोला। राजधानी के पुराने महलों, देव-मन्दिरों एवं पुंजपुर, थाणा आदि के कई एक पुराने तालाबों की मरम्मत कराई और उसी वर्ष उन्होंने अपने दादा उदयसिंह जी के नाम पर सौ रुपये भर का उदयशाही सेर स्थिर किया।

परलोकवासी सम्राट् एडवर्ड सप्तम की स्मृति में राजपूताने के राजा-महाराजाओं की ओर से अजमेर नगर में एडवर्ड मेमोरियल बनना निश्चित हुआ। उसके लिए अजमेर की जनता, राजा-महाराजाओं और उनके प्रतिनिधियों की एक सभा अजमेर के टाउन हाल में हुई, जिसमें महारावल श्री विजयसिंह जी बहादुर भी सम्मिलित हुए। उस समय उन्होंने अपने विचारों को सुस्पष्ट शब्दों में प्रकट किया। अँगरेजी में उनकी भाषण-शक्ति देख श्रोतागण मुग्ध हो गये। उन्होंने इस मेमोरियल के लिए अपनी तरफ से १५००० रु० दिये और राजधानी डूँगरपुर के निकट बादशाह की स्मृति में "एडवर्ड समुद्र" तालाब बनवाया।

श्रीमान् महारावल साहब श्री विजयसिंह जी बहादुर की योग्यता, विद्वत्ता आदि अनेक गुणों पर प्रसन्न होकर श्रीमान् सम्राट् पंचम जार्ज ने सन् १९१२ ई० के जून मास में अपने जन्म-दिवस के उपलक्ष में आपको के० सी० आई० ई० के खिताब से भूषित किया।

आपने अपना दूसरा विवाह बाँकानेर (काठियावाड़) राज्यान्तर्गत ठिकाना सिंहा-बदर के झाला ठाकुर साहिब की सुपुत्री श्री सज्जनकुमारी जी के साथ किया था।

आपने जेलखाने के लिए नई इमारत बनवाई। कैदियों को काम सिखाने की व्यवस्था की। चिकित्सालय और पब्लिक वर्क्स की उन्नति की। एक पलटन भीलों की बनाई। वर्तमान सुधारक समाज के लिए बड़े गौरव की बात यह थी कि अपने राज्य में विधवा विवाह को जायज करार दिया गया। देहातों में पाठशालाएँ खुलवाईं, चिकित्सालय खुलवाये। राजधानी में स्कूल का नया भवन बनवाया। कन्याओं की शिक्षा के लिए देवेन्द्र कन्या पाठशाला खुलवाई। गरीब राजपूतों के लिए राजपूत बोर्डिंग हाउस की स्थापना की। यही नहीं, श्री महारावल साहब ने अपने राज्य शासन-काल में अँगरेज सरकार के साथ बड़ी मित्रता का व्यवहार किया। योरप में जब पिछला विश्वव्यापी युद्ध आरम्भ हुआ तब आपने स्वयं रणक्षेत्र में जाने की इच्छा प्रकट की। इस पर भारत के वाइसराय लार्ड हार्डिंज ने बहुत धन्यवाद दिया। आपने इण्डियन वार रिलीफ फण्ड में लगभग नौ हजार रुपये प्रदान किये तथा १००० रुपये मासिक युद्ध-फण्ड में अलग

देते रहे। राज्य से एक वायुयान, एक मोटर, कुछ घोड़े और सौ आदमी युद्ध के लिए दिये गये। आपकी ओर से लगभग दो लाख रुपया युद्ध-कार्य में दिया गया था।

आपने अपनी माता श्री हिम्मतकुमारी जी की पुण्य-स्मृति में वनेश्वर में महालक्ष्मी का मन्दिर बनवाया था और सोमनाथ आदि देव मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था। आपकी बनाई हुई इमारतों में से वीरपुर की कोठी, विजयगढ़ पर महल आदि प्रसिद्ध हैं। आपने ३१ वर्ष की युवा अवस्था में ही इस संसार का परित्याग कर दिया था। आप बड़े सरल-चित्त, धर्मात्मा, सदाचारी, वीर, धीर, गंभीर, निर्भीक और प्रजा-वत्सल शासक थे।

बड़े सौभाग्य और हर्ष का विषय है कि हिन्दू जाति और धर्म की रक्षा करनेवाले वीराग्रणी, तेजस्वी, गुहिलवंश की राजगद्दी पर वीरेन्द्र-शिरोमणि, गुहिलवंश-भूषण, महिमहेन्द्र, रायरायाँ, महाराजाधिराज श्रीमान् सर लक्ष्मणसिंह जी बहादुर के० सी० एस० आई० जी अपने आदर्श पिता के अनुगामी सुपुत्र हैं। आप परम उदार, न्यायप्रिय, प्रजावत्सल, लोक-हित-चिंतक तथा दानशील अधीश्वर हैं। आपके श्री दरबार में साधु-महात्मा, संन्यासी, विद्वान्, उपदेशक, कवि सदा ही उचित एवं उत्तम सम्मान को प्राप्त होते हैं। यह बात लोकप्रसिद्ध है कि दानवीर महारावल सर लक्ष्मणसिंह जी बहादुर के राजद्वार पर पहुँच कर कोई भी पुरुष विफल-मनोरथ होकर नहीं लौटता है।

भारत में वास्तव में डूँगरपुर ही ऐसा राज्य है जहाँ पर अभी तक पश्चिमी सभ्यता और शैली अपना स्थान नहीं जमा सकी है। आज भी वहाँ प्राचीन आर्य-सभ्यता का रूप दृष्टिगोचर होता है। आज भी प्राचीन आदर्श और गौरव की रक्षा का प्रयत्न किया जाता है। ऐसे प्रजावत्सल, गुणग्राही नरेश का संक्षिप्त परिचय इस रजत-जयन्ती महोत्सव के समय लिखना मैं अपना महासौभाग्य समझता हूँ।

महारावल श्रीमान् रायरायां सर लक्ष्मणसिंह जी का शुभ जन्म विक्रमी संवत् १९६४ फाल्गुन सुदी पंचमी ता० ७ मार्च सन् १९०८ ई० को हुआ था। कार्तिक सुदी १२ संवत् १९७५ ता० १५ नवम्बर सन् १९१८ ई० शुक्रवार को ११ वर्ष की आयु में आप डूंगरपुर राज्य के स्वामी हुए। फाल्गुन बदी १० संवत् १९८४ ता० १६ फरवरी सन् १९२८ ई० गुरुवार को एजेन्ट गवर्नर-जनरल राजपूताना ने डूँगरपुर में दरबार कर श्रीमान् महारावल साहब को शासन-सम्बन्धी समस्त अधिकार सौंप दिये।

आपका राज्य राजपूताने के दक्षिणी सिरे पर है जिसका क्षेत्रफल १,४६० वर्गमील है। प्रजाजन की संख्या लगभग २,५०,००० तथा राज्य की आमदनी पच्चीस लाख रुपये वार्षिक है। राज में मक्का, चावल, मूंग, तिल, सरसों, गेहूँ, चना, जौ, कपास और गन्ना की पैदावार होती है। राज्य में लगभग ८०० गाँव और कसबे और भारत-सरकार के ८ डाकखाने हैं। राज्य में लगभग ३५ स्कूल, १० औषधालय, तथा ५ अस्पताल हैं जिनमें मुफ्त दवा और निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध है जिसमें राज्य की ओर से सवा लाख रुपया प्रतिवर्ष व्यय होता है। अँगरेज सरकार से श्रीमान् को पन्द्रह तोपों की सलामी है।

कुछ इतिहासकारों ने लिखा है कि संवत् १२३२ ईसवी सन् ११७५ के करीब परमार राजाओं को निकालकर इस प्रदेश पर मेवाड़ के गहलोत-वंश का शासन हुआ।

वर्तमान डूँगरपुर का राजवंश मेवाड़ के सूर्यवंशी गहलोत राजघराने की रावल नामक प्रधान शाखा है। इस विषय में इतिहासवेत्ताओं में कोई मतभेद नहीं है कि भारत के प्रसिद्ध शिशोदिया महाराणाओं के राजवंश में बड़े भाई के वंशज डूँगरपुर के महाराजा और छोटे भाई के वंशधर उदयपुर के महाराणा हैं।

प्रातःस्मरणीय आपके स्वर्गीय पूज्य पिता जी ने जिस प्रकार समस्त राज्य में विधवा-विवाह को कानूनन जायज कराकर सामाजिक हितचिन्तन किया था उसी प्रकार श्रीमानों ने भी वर्तमान की अनेक कठिनाइयों और बुराइयों को दूर करने के लिए ईसवी सन् १९३५ में समस्त राज्य भर में बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह को कानूनन रोककर हिन्दू समाज का परम उपकार किया है। पढ़े-लिखे सभी भारतवासी इस बात को भले प्रकार जानते हैं कि बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और विधवाओं को शादी न करने देना ही हिन्दू जाति पर एक महान् कलङ्क की कालिमा थी कि जिसके कारण हिन्दुओं की सहस्रों ललनाओं को आत्मघात, वेश्या-वृत्ति, व्यभिचार, भ्रूणहत्याएँ आदि जघन्य पतित कर्म करने पड़े। इसी प्रकार के सामाजिक अत्याचारों के कारण विधर्मी लोग हिन्दू समाज में अपनी घातक चालों से इस पर कुठाराघात करते हैं कि जिनको इन भारत के यशस्वी और आदर्श महाराजाओं ने कानूनन अपने राज्य में रोका है।

आषाढ़ वदी ६ व ७ संवत् १९९४ ता० २९ व ३० जून सन् १९३७ को २४ घण्टे के अन्दर डूँगरपुर में लगभग ४० इंच पानी बरसा। इस प्रकार के इन्द्र भगवान् के कुपित हो जाने से राजधानी की सारी प्रजा त्राहि माम् त्राहि माम् करने लगी। समस्त नदियों और तालाबों में पानी का भयंकर भूचाल आ गया। नदियों और तालाबों के बाँध टूट गये। ऐसे कठिन अवसर पर प्राणों की बाजी लगाकर स्वयं श्रीमान् महि महेन्द्र, महारावल सर श्री लक्ष्मणसिंह जी बहादुर प्रजा-प्रेम में निमग्न हो प्रजावत्सलता के कारण फावड़ा लेकर मूसलाधार वर्षा में पानी में कूद पड़े। आपकी इस महान् वीरता और पुरुषार्थ को देखकर कर्मचारी लोग और कुछ प्रजाजन भी इस कार्य पर लग गये जिससे गेवसागर तालाब का बाँध टूटने से बच गया और डूँगरपुर के हजारों प्राणियों को डूबने से बचाया। अगर थोड़ी देर और हिज हाइनेस फावड़ा लेकर तालाब में न कूदते तो सारा नहीं तो पौना नगर पानी में बह जाता और फिर यहाँ नर-मेध और पशु-मेध जो होता उसकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

आपका जीवन इसी प्रकार की अनेक घटनाओं से भरा हुआ है जिनमें आपने प्रजाहितकारिता के लिए समय-समय पर अपना सर्वस्व उत्सर्ग किया है। आप बड़े तेजस्वी, कुलाभिमानी, प्रभावशाली, पराक्रमी, सहनशील, वीर, धीर, गंभीर, निडर, सदाचारी, जितेन्द्रिय, कर्त्तव्य-परायण, परोपकारशील, धर्मनिष्ठ, यशस्वी और आदर्श शासक हैं। मानव समाज एवं अधिकांश शासकवर्ग को आपसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

यों तो भारतवर्ष ही अकाल और महामारियों का शिकार बना हुआ है जिसमें आये दिन ऐसी घटनाएँ घटित होती रहती हैं। हमारी शस्य श्यामला भारत वसुन्धरा

पूरा-पूरा नाज उत्पन्न करती है परन्तु हम भूखों मरते हैं। हमारे करोड़ों भ्राताओं के गृहों में दिन की कमाई का नाज रात को पिसता है, तो भी रूखा-सूखा टुकड़ा खाकर आधा पेट ही रहना पड़ता है। सत्रहवीं शताब्दी से तो भारत में अकाल ही अकाल दिखलाई देते हैं। आज तो ये इतने सर्वव्यापी हैं कि भारत के लाखों नर-नारियों ने भूख से तड़फड़ाकर प्राण दे दिये।

सन् १९३६ में जब समस्त डूँगरपुर के राज्य भर में अतिवृष्टि और अनावृष्टि से नाज का भयंकर अकाल पड़ गया, तब आपने बाहर से नाज मँगा-मँगाकर अनेक स्थानों पर सस्ते नाजो की दुकानें खुलवाईं। साथ ही बेकार लोगों को काम पर लगाने के वास्ते कई स्थानों पर तालाब खुदवाने और सड़क बनवाने का काम शुरू किया, जिसमें गरीब जनता का बड़ा भारी उपकार हुआ। गरीब किसानों पर लगान माफ कर दिये गये और जो देने वाले थे उनसे बहुत कम लगान लिया गया जिससे सम्पूर्ण प्रजा ने अकाल के समय को सुकाल में व्यतीत किया और सर्वत्र शान्ति तथा आनन्द का साम्राज्य रहा। आपने अपनी राजधानी डूंगरपुर में बिजली और नल का प्रबन्ध कराकर प्रजा को प्रत्येक प्रकार का आराम पहुँचाया है तथा आस-पास के नगरों में व्यापार और आवागमन की सुविधा के लिए सड़कें तैयार कराई हैं, जिन पर मोटर बसें दौड़ती हैं जिससे यात्रियों और राज्य के लोगों को व्यापार सम्बन्धी बहुत लाभ पहुँचा है। खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए कई स्थानों पर तालाबों के बन्ध बनवाये हैं जिससे काश्तकारों को आबपाशी की बड़ी मदद मिलती है। आपकी सुयोग्यता और राज-कार्य-दक्षता पर मुग्ध हो ब्रिटिश गवर्नमेंट ने आपको सन् १९३५ में के० सी० एस० आई० के खिताब से सम्मानित किया था।

जिन महानुभावों ने राम-राज्य की वार्ताओं को पढ़ा अथवा विद्वानों से सुना है वे सज्जन डूँगरपुर में आकर लक्ष्मणराज्य के दर्शन करें तो सिनेमा के चित्रपट की भाँति उनके सामने रामराज्य का चित्र घूमने लगेगा। आज जब समस्त संसार में विश्वव्यापी नाज का दुर्भिक्ष हो रहा है तब डूंगरपुर राज्य ही एक ऐसा राज्य है जहाँ पर चौदह सेर गेहूँ और नौ सेर का चावल बिकता है। नाज की और कपड़े की कोई अव्यवस्था नहीं है। प्रत्येक प्रजा-जन को हर एक स्थान पर नाज और कपड़ा मिलता है। अखबार पढ़ने-वाले तथा दूर देशों में भ्रमण करनेवाले नागरिक संसार की भयंकरता से अवश्य परिचित हैं, परन्तु साधारण नगर या राज्य निवासियों को संसार में कपड़े और नाज की कमी का कुछ भी ज्ञान नहीं है। नाज की कमी नहीं है और यों तो गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज कहते हैं—

"सकल पदार्थ हैं जग माँहीं, कर्महीन नर पावत नाहीं।"

आपके परम शुभचिन्तक, आज्ञाकारी, सुशील गुणधारी, लघु भ्राता महाराज श्री वीरभद्रसिंह जी एम० ए० राज्य के दीवान यानी मुसाहब आला हैं। आप राज-कार्यों में दक्ष, राजनीतिज्ञ और राज-सेवा-निपुण हैं। आपने अपने बुद्धि-चातुर्य से राजा और प्रजा दोनों को सब प्रकार से प्रसन्न किया है। आपकी सर्वतोमुखी

प्रतिभा तथा अनेक गुण प्रत्येक की जिह्वा तक पहुँच चुके हैं। आपकी उदारता और सहानुभूति से जो शिक्षाएँ राज्य ने प्राप्त की हैं वे अनुकरणीय एवं आदर्श हैं। कवि ने क्या अच्छा कहा है : —

यत्र रत्नानि सूयन्ते, न काचस्तत्र वीक्ष्यते।
गुणिनामन्ववाये तु, नागुणापत्यसंभवः॥

जिस खान में रत्न उत्पन्न होते हैं, वहाँ काँच देखने को भी नहीं मिलता; जिस वंश में गुणवान् ही गुणवान् पुरुष उत्पन्न होते हैं, उस कुल में निर्गुण सन्तान उत्पन्न हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार आपके तृतीय भ्राता महाराज श्री नागेन्द्रसिंह जी आई० सी० एस० देवता-स्वरूप हैं। उसी प्रकार आपके चतुर्थ भ्राता महाराज श्री प्रद्युम्नसिंह जी बड़े ही सहृदय और सरल स्वभाव हैं।

श्रीमान् महारावल साहब सर लक्ष्मणसिंह जी का दरवाजा प्रजाहित के लिए सम्राट् नौशेरवाँ की भाँति हर समय खुला रहता है, जहाँ पर प्रत्येक अमीर गरीब अपनी दुखद कहानी सुनाकर आपकी सहायता प्राप्त कर सकता है। आपकी निष्पक्ष न्यायप्रियता सब पर उजागर है, जिसका प्रत्येक प्रजाजन नित्य गुणगान करता है।

आपके समस्त राज्य में कोई बेगार प्रथा नहीं है। शिक्षा और निदान, चिकित्सा, औषध सब कुछ प्रजा को मुफ्त प्राप्त होता है।

आपको भवन-निर्माण-कला से प्रेम है इसलिए आपके शासन-काल में अनेक नये भवन बनाये गये हैं तथा पुरानों का रूपान्तर किया गया है। आपने अपनी उदारता और सहृदयता से अनेक शिक्षा-संस्थाओं, अनाथालयों, देवालयों, पुस्तक-प्रकाशकों को अपने इस थोड़े से ही शासन-काल में अब तक सहस्रों रुपयों का दान देकर सम्मानित किया है। आपके राज्य से सैकड़ों रुपये माहवार भारत की कई शिक्षा-संस्थाओं को प्रदान किया जाता है। यही एक आदर्श राज्य की उत्तमता है।

गिरिपुर-गौरव

द्रुतविलम्बित वृत्त

अमित-भूधर-भूषण-मण्डिता, विमल-दिव्य-सरःसुविराजिता।
विविध-पुष्प-फलैः परिपूरिता, सकल-काम-दुघाललिताहिता॥
विबुध-वृन्द वरैरभिकाङ्क्षिता द्विजगणाग्रगतैर्बहु मानिता।
रविकुलोद्गत-भूमिप-रक्षिता, जयति गिरिपुरा सुविचित्रिता॥

गद्य

पुरुषरत्नों को जन्म देनेवाली यह डूँगरपुर देश की पवित्र भूमि बड़े दुर्गम दुरारोह तथा अनेक शृंखलाओं में फैले हुए पर्वतरूपी भूषणों से अलंकृत है। बीच-बीच में स्थान स्थान पर प्राकृतिक तथा कुशल शिल्पियों के द्वारा निर्मित अत्यन्त सुन्दर जलाशयों से परिपूर्ण होकर अत्यधिक शोभा को प्राप्त कर रही है। पर्वतों, घाटियों और मैदानों में

उत्पन्न होनेवाली औषधियों, वनस्पतियों और फल-फूलों से परिपूर्ण है। अधिक क्या, यह हमारी सभी कामनाओं को पूर्ण करनेवाली अत्यन्त सुन्दर हितकारिणी है; इसके सौन्दर्य और रमणीयता पर मुग्ध होकर सभी देव विद्वान् इसकी इच्छा करते हैं। द्विजों में तथा विद्वानों में श्रेष्ठ महान् पुरुष सदा ही इसे अत्यन्त मान की दृष्टि से देखते आये हैं। सूर्य-कुल में उत्पन्न होनेवाले परम प्रतापी राजा लोग इसकी रक्षा करते आये हैं।

(२)

द्रुतविलम्बित वृत्त

ललित-पुष्प-विराजित- वल्लरी-विपिन- लीन- मधुव्रत- गुञ्जितैः।
सुफल-भार-विनामित-शाखिषु विविध-पक्षिकृतैरपि सन्ततम्॥
निखिल-लोकपतेः परमात्मनः स्तवसमं भुवनेषु सुविस्तृतम्।
विदित-वेदित-तत्त्वविशांपते सुविमलं नु यशः परिगीयते॥

गद्य

समस्त डूँगरपुर राज्य में सुगन्धित तथा सुन्दर पुष्पों से शोभित लताओं और वनस्पतियों के वनों में पराग के लोभी भ्रमर कुंजों में छिपकर गुञ्जार करते हैं। अनेक प्रकार के फलों के भार से झुके हुए वृक्षों पर आनन्द से बैठे हुए पक्षी बड़े सुरीले शब्दों में गाते हैं। उनको सुनकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वे सकल जगत् के उत्पन्न करनेवाले सब प्राणियों के स्वामी परमपिता परमात्मा की स्तुति के साथ साथ समस्त शास्त्रों, विद्याओं और तत्त्वों के ज्ञाता प्रजाजनों के स्वामी डूँगरपुर राज्य के महाराजाधिराज हिज़-हाइनेस महिमहेन्द्र-रायरायाँ श्रीमान् महारावल साहब सर लक्ष्मणसिंह जी बहादुर के० सी० एस० आई० के दिग्-दिगन्त में विस्तृत यश का प्रसन्नता के साथ गान कर रहे हैं।

इन्हीं दिनों आपकी सिलवर जुबली बड़ी धूमधाम के साथ मनाई जा रही है। समस्त प्रजाजनों में आनन्द और उत्साह छाया हुआ है। प्रत्येक नगर-निवासी का मन उल्लास प्रेम-सहानुभूति और सौजन्य से परिपूर्ण हो रहा है। परमपिता परमात्मा ऐसे यशस्वी,तेजस्वी और आदर्श नरेश का बन्धु-बान्धव-पुत्र-पौत्रों और सम्पूर्ण परिवार समेत सदैव आनन्दित बनाये रहें।

वंशस्थ वृत्त

तनोतु सौभाग्यमुदं प्रियेषु च द्विषज्जनानां च भयं समन्ततः॥
सतां प्रियो मार्गमनुस्मरन्गुरोर्गुणज्ञ वर्योभवतात् प्रजाप्रियः॥

गद्य

आप अपने प्रिय प्रेमी जनों में हर्ष, सौभाग्य एवं सुख का संचार करनेवाले हों। शत्रुओं, दस्युओं और प्रजा को दुःख देनेवाले आततायियों को भयदाता हों और सदा ही सज्जनों के प्रिय रहकर अपने पूर्वजों के पवित्र एवं कीर्तिमय मार्ग पर चलते हुए आप प्रजाओं के हृदयेश्वर तथा गुणियों में शिरोमणि बने रहें। देश के दीन-हीन, असहाय-अनाथ-बालक-बालिकाओं एवं भय-पीड़ित तथा निराश्रित दुःखी व्यक्तियों की सदैव सहायता करते

हुए और उनकी जीवन-रक्षा कर प्राणदान, अभयदान, विद्यादान, जीवनदान देते हुए उन सबके आशीर्वाद के भाजन बनें।

अनुष्टुप छन्द

यावद् वहति गङ्गेय मचलश्च हिमाचलः।
तावत्ते कीर्ति-गाथेयं पाथेयं गुणिनां भवेत्॥

गद्य

जब तक पुण्य-सलिला भगवती भागीरथी की शुभ्र धारा बहती रहे और संसार में विशाल हिमालय दृढ़ बना रहे तब तक आपकी यह विमल कीर्ति-कथा गुणियों को आह्लाद देती हुई भ्रान्त पथिकों को मार्ग दिखलाती रहे। आपके पूर्वजों ने हिन्दू-धर्म और आर्य संस्कृति की रक्षा की है। उसका आज भी दिव्य प्रवाह है। आप ही उसके रक्षक हैं। परम पिता जगदीश्वर सैकड़ों वर्षों तक आपको इस राज्य-सिंहासन पर आनन्द और उल्लास के साथ सुशोभित करता रहे और अनेक बार ऐसे महोत्सव आते रहें, ऐसी हमारी शुभ कामना है।

श्री महारावल साहब और डी० ए० वी० कालेज

कर्मवीर पंडित जियालालजी

राजस्थान की रियासतों में डूँगरपुर एक बहुत बड़ी रियासत न होते हुए भी वर्तमान महारावल साहब सर श्री लक्ष्मणसिंहजी के उदार शासन और प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। मेयो कालेज की विविध प्रकार की उन्नति में श्री महारावल साहब का कितना भारी हाथ है, यह मुझसे छिपा न था। इसलिए डी० ए० वी० कृषि-औद्योगिक कॉलेज, अजमेर का शिलान्यास करने का प्रश्न उठा तो ऐसे प्रगतिशील शिक्षा-प्रेमी नरेश पर दृष्टि जाना स्वाभाविक था।

इस संबंध में जब सबसे पहले आज से लगभग छः वर्ष पूर्व मुझे उनके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो उस समय मुझे उनके हृदय की शालीनता, महत्ता और उदारता का परिचय मिला। साधारणत: भारतीय नरेश इस प्रकार के सार्वजनिक बखेड़ों में पड़ना पसंद नहीं करते, विशेषत: जब कि उन्हें उसके लिए सार्वभौम सत्ता के राजनैतिक विभाग से अनुमति लेनी पड़े। किन्तु श्री महारावल साहब ने यह देखकर कि डी० ए० वी० कृषि-औद्योगिक कालेज, अजमेर न केवल अक्षर-ज्ञान और पुस्तकीय शिक्षा का प्रसार करेगा, बल्कि प्रान्त भर में कृषि को उन्नत करके तथा कला-कौशल का विस्तार करके बेकारी दूर करने की दिशा में एक शक्तिशाली कदम उठायेगा, उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक शिक्षण-कार्य के विकास के लिए अनेक असुविधाओं को सहन करना स्वीकार कर लिया। अपने कार्यक्रम को स्थगित करके तथा अनेक कठिनाइयों को सहन करके डी० ए० वी० कृषि-औद्योगिक कॉलेज की आधार-शिला रखने के लिए आप ५ अप्रेल १९४१ को निश्चित समय पर अजमेर पधार गये। वह दिन प्रान्त के लिए ऐतिहासिक, अजमेर के लिए महत्त्वपूर्ण और आर्यसमाज के लिए गौरवमय दिन था। उस दिन न केवल अजमेर की बल्कि बाहर की भी असंख्य जनता ने शिक्षा के महान् प्रचारक के रूप में इस क्षत्रिय-कुल-कमल-दिवाकर, महान् विभूति के दर्शन किये और अपनी अनुपम श्रद्धा के पुष्प समर्पित किये।

उस दिन के बाद से आपने इस संस्था को जो तन, मन, धन से महान् संरक्षण प्रदान किया है, वह लेखनी से अभिव्यक्त करने की बात नहीं है। उस संरक्षण ने प्रत्येक शिक्षा-प्रेमी और विशेषत: अजमेर के आर्यसमाज-जगत् को आपकी ओर श्रद्धा से अवनत कर दिया है। आप इस कालेज की प्रगति और विकास में पूरी दिलचस्पी लेते रहते हैं। जब कभी आप अजमेर पधारते हैं, कालेज के समाचारों से अवगत हुए बिना नहीं रहते। आज डी० ए० वी० कृषि-औद्योगिक कालेज, अजमेर ने जो इतनी भारी उन्नति की है और जो हर प्रकार से प्रान्त की सबसे बड़ी और सफल शिक्षण-संस्था मानी जाती है, यह उन्हीं की कृपा का प्रसाद है।

यहाँ मैं एक महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ। घटना

बहुत पुरानी नहीं है। फरवरी १९४६ का महीना था। मेरे मस्तिष्क में एक योजना बहुत दिनों से चक्कर लगा रही थी। डी० ए० वी० कालेज के अंतर्गत कला-कौशल के विकास के लिए एक विभाग आर्यन इंडस्ट्रीज (रजिस्टर्ड) के नाम से खोला हुआ है। मैं इसके लिए चंदा इकट्ठा करना चाहता था। मैंने सोचा कि एक एक रुपये की दो लाख रसीदें देकर दो लाख रुपया एकत्र किया जाय और दान-दाताओं को प्रोत्साहन देने के लिए उनसे विभिन्न नम्बरोंवाली ८५० रसीदें ३०,०००) उन्हें भेंट करके विभिन्न दामों पर खरीद ली जायँ। इसके लिए मैंने हिज हाईनेस श्री महारावलजी से प्रार्थना की कि वे अपना बहुमूल्य समय प्रदान करके दो लाख नम्बरों में से ८५० भिन्न भिन्न नम्बर छाँटकर अलग अलग लिफाफों में रखने की कृपा करें। उन्होंने अनुग्रहपूर्वक मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। एक दिन निश्चित हो गया। जब मैं पहुँचा तो मैंने पाया कि उन्हें १०२ डिग्री बुखार था। मैंने उनसे प्रार्थना की कि आपका ज्वर उतर जाय तो यह कार्य कर दीजिएगा। इस पर वे कहने लगे, "पंडितजी! क्या आप मुझे इतना निर्बल समझते हैं कि मैं सार्वजनिक सेवा के लिए जरा सा कष्ट भी सहन नहीं कर सकता?" और वे उस ज्वर में दो घंटे लगातार कार्य करते रहे। उनके इस कष्टसहन ने मेरे शीश को उनके सामने श्रद्धा से नत कर दिया।

परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि वे ऐसे महान् व्यक्तित्व और उदार नरेश को शतायु करें। मैं समस्त आर्यजगत् की ओर से श्रीमानों के चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

अभिनन्दन-पत्र

श्रीमान् सूर्य-कुल-कमल-दिवाकर, गुहिलवंश-भूषण, राय-रायाँ महीमहेन्द्र महाराजाधिराज महारावलजी श्री १०८ श्री सर लक्ष्मणसिंहजी साहब बहादुर, के० सी० एस० आई०, डूँगरपुर-नरेश महोदय की सेवा में रजत-जयन्ती के माङ्गलिक महोत्सव पर डूँगरपुर राज्य की समस्त प्रजा के द्वारा सादर, सानुनय एवं सप्रेम समर्पित

प्रजावत्सल स्वामिन् !

आज श्रीमान् की रजत-जयन्ती के पुनीत प्रसंग पर श्रीमान् का हार्दिक अभिनन्दन करते हुए हम डूँगरपुर राज्य के समस्त प्रजाजन एक अनिर्वचनीय आनन्द, अपूर्व आह्लाद एवं असीम हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। निखिल ब्रह्माण्ड को अपने तेज से प्रकाशित करनेवाले भगवान् भुवनभास्कर सूर्यदेव आपके कुल-प्रवर्तक हैं। मर्य्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र, सत्यवादी हरिश्चन्द्र, परमपुरुषार्थी भगीरथ, प्रबल पराक्रमी बापा रावल, प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी जैसे विश्वविख्यात, स्वनामधन्य, शूरवीर एवं परमप्रतापी महापुरुष श्रीमान् के पूर्वज एवं वंशबन्धु हुए हैं; सतीशिरोमणि कौशल्या जैसी राजमाताएँ पतिव्रतधर्म की रक्षा के लिए सर्वस्व बलिदान करनेवाली सीतादेवी एवं पद्मिनी जैसी राजरानियाँ तथा सदाचारिणी कृष्णाकुमारी जैसी राजकन्याएँ श्रीमान् के कुल में होती आई हैं; क्षात्र-धर्म की बलि-वेदी पर हँसते हँसते प्राणोत्सर्ग करनेवाले अनेकों तरुण राजकुमार इस पवित्र राजवंश में उत्पन्न हुए हैं, जिनके अद्भुत आत्म-त्याग, प्रचण्ड प्रताप और अदम्य उत्साह के आदर्शमय उदाहरण विश्व के इतिहास में अन्यत्र नहीं हैं। ऐसे भुवनविश्रुत आर्य राजर्षियों की पवित्र वंश-परम्परा में श्री जी का आविर्भाव हुआ है। मर्य्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र का विशुद्ध रक्त आज भी श्री जी की धमनियों में बह रहा है। तभी तो 'नराणां च नराधिपः' के गीता-वाक्य में दृढ़ विश्वास रखनेवाले हम प्रजाजन श्रीमान् के महान् व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा-भक्ति की प्रेमपूर्ण पुष्पाञ्जलि अर्पण करने के लिए आज उपस्थित हुए हैं।

गौरवशाली गिरिपुरेन्द्र !

संवत् १२२८ वि० में महारावल सामन्तसिंहजी द्वारा संस्थापित श्रीमान् का यह गिरिपुर-राज्य भारत के प्राचीनतम राज्यों में से है। यहाँ का राजवंश मेवाड़ के राजवंश की ज्येष्ठ शाखा है। सन् १५२६ तक वर्तमान बाँसवाड़ा राज्य भी इस राज्य का एक अङ्ग था। लगभग एक हजार वर्षों का इसका गौरवमय इतिहास वीरतापूर्ण गाथाओं से
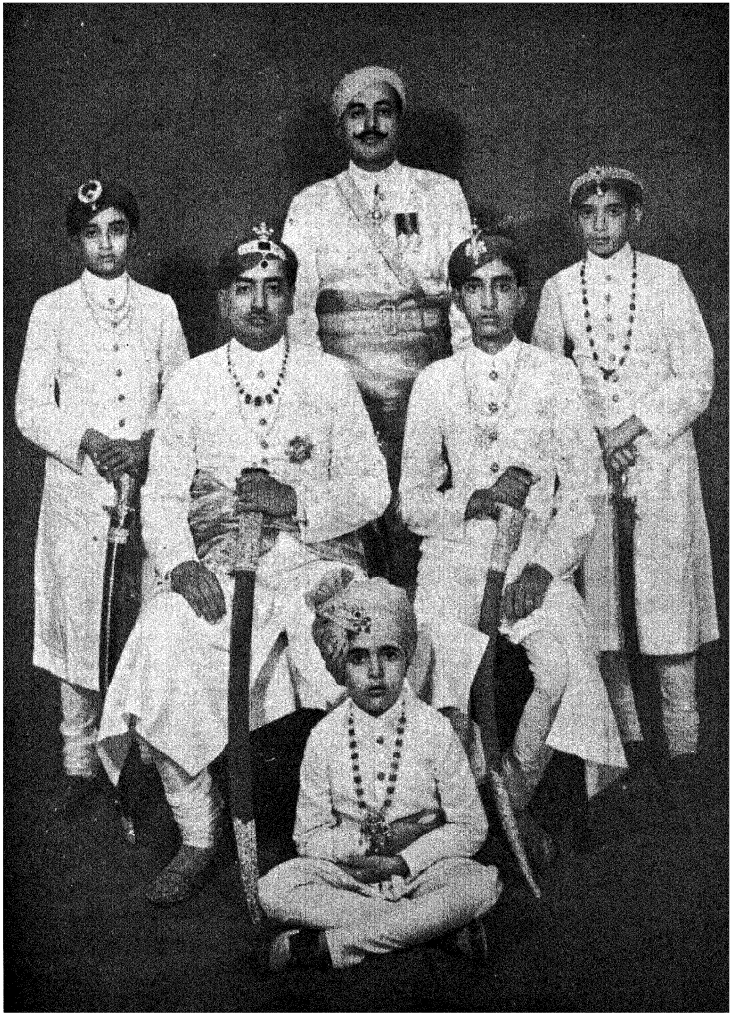
श्री रजत-जयन्ती-महोत्सव के अवसर पर लिया गया एक चित्र

बाईं ओर से खड़े हुए—१ राजकुमार, २ प्रधान मंत्री श्री वीरभद्रसिंहजी महाराज साहब, ३ राजकुमार
कुर्सी पर बैठे हुए—१ श्रीमान् डूँगरपुर-नरेश सर लक्ष्मणसिंहजी साहब बहादुर, २ श्रीमान् युवराज महीपालसिंहजी साहब
नीचे बैठे हुए—श्री वीरभद्रसिंहजी के कुँवर सामन्तसिंह

ओतप्रोत है। महारावल वीरसिंहदेव ने चित्तौड़ के प्रथम जौहर के अवसर पर मेवाड़ के रावल रत्नसिंहजी के साथ अलाउद्दीन खिलजी के अपार सैन्य से लड़कर क्षात्र-धर्म की वेदी पर आत्म-बलिदान किया था। महारावल उदयसिंहजी प्रथम ने भारत की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए राणा सांगा के साथ खनवा के सुप्रसिद्ध रण-क्षेत्र में बाबर के विरुद्ध युद्ध में आत्मोत्सर्ग कर अपनी वीरता एवं देशभक्ति का उज्ज्वल परिचय दिया था। महारावल आसकरणजी ने कितने ही सुलतानों, शाहजादों और उनके सामन्तों को शरण देकर शरणागतवत्सलता की अपनी परम्परागत मर्यादा का पालन किया था एवं सम्राट् अकबर की प्रबल सेनाओं का सामना कर अद्भुत पराक्रम तथा साहस का परिचय दिया था। महारावल पुञ्जराजजी को मुगलों के शाही दरबार से डेढ़हजारी मंसब और माहीमरातिब के रूप में उच्च श्रेणी का सम्मान प्राप्त हुआ था। महारावल गोपीनाथजी, सोमदासजी, रामसिंहजी, शिवसिंहजी, उदयसिंहजी द्वितीय आदि नरेशों की उदारता, वीरता, शासनपटुता, राजनीतिज्ञता, विद्वत्ता, कलाप्रेम एवं गुणग्राहकता के ज्वलन्त प्रमाण इस राज्य के अमर इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अङ्कित हैं। गोलोकवासी प्रातःस्मरणीय राजर्षि महारावल श्री विजयसिंहजी के सदाचार, धर्मशीलता, विद्वत्ता, निर्भीकता, न्यायपरायणता, दयापरायणता, कलानुराग एवं प्रजा-प्रेम आदि लोकोत्तर गुण श्रीमान् के व्यक्तित्व में पूर्णरूपेण सुविकसित एवं प्रतिबिम्बित हो रहे हैं।

श्रद्धेय महीमहेन्द्र !

यह हमारे पूर्वसंचित पुण्यों का सुफल है कि आजकल के इस संघर्षमय युग में जब कि संसार भौतिकता के नशे में मदोन्मत्त हो रहा है, जब कि आधुनिक विज्ञान की ध्वंसलीला के कारण मानव-जगत् त्राहि-त्राहि पुकार रहा है, जब कि दुनिया भर की राष्ट्र-शक्तियाँ पशुबल का अकाण्ड-ताण्डव कर रही हैं, हम श्रीमान् के सुखद शासन की सुशीतल छत्रच्छाया में न केवल अपना जीवन सुखपूर्वक बिता रहे हैं अपितु अभ्युत्थान की प्रत्येक दिशा में सर्वाङ्गीण उन्नति कर रहे हैं।

शासनपटु नरेन्द्र !

श्री जी के २५ वर्ष के राज्यशासन-काल में हमें अपनी शिक्षा-दीक्षा एवं आत्म-संस्कारों को उन्नत बनाने के सभी साधन सुलभ हुए हैं और उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुलभ होते जा रहे हैं। श्रीमान् ने हमारी शिक्षा के लिए राज्य भर में अनेकों पाठशालाएँ एवं पुस्तकालय खोले हैं; कई निर्धन एवं सुयोग्य छात्रों के जीवन को उदारतापूर्वक छात्रवृत्तियाँ प्रदान कर समुन्नत बनाया है; स्वास्थ्य-रक्षा के लिए अस्पताल, औषधालय, चिकित्सा-केन्द्र और पशु-चिकित्सालय स्थापित किये हैं; ग्रामीण जनता की उन्नति के लिए 'ग्राम-सुधार-विभाग' की स्थापना की है; कृषि की उन्नति के लिए 'कृषि-विभाग' की प्रतिष्ठा की है; देहातों में स्थान-स्थान पर बैङ्कों की स्थापना कर हमारी आर्थिक, औद्योगिक एवं व्यापारिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया है; यातायात की सुविधा के लिए सड़कें सुधारने की योजना की है और 'ट्रांसपोर्ट विभाग' खोला है; कृषि-भूमि को अधिक उर्वर बनाने के

लिए बड़े-बड़े तालाब, कुएँ एवं बावड़ियाँ खुदवाई हैं; कृषकों को नये कुएँ खोदने के लिए तथा बैल, बीज एवं सम्बन्धित उपकरण खरीदने के लिए सहायक फण्ड खोले हैं; अन्न, वस्त्र, शक्कर आदि नित्य व्यवहार की वस्तुओं के सुव्यवस्थित वितरण के लिए 'कंट्रोल-विभाग' स्थापित किया है। न्याय-विभाग को प्रबंध-विभाग से स्वतंत्र बनाकर न्याय-प्राप्ति का मार्ग सरल, सुगम एवं सुलभ किया है; नागरिक जनता की सुख-सुविधा के लिए जल कल एवं विद्युत्प्रकाश सुलभ किया है; सामाजिक सुधार के लिए अनमेल विवाह-निषेध, दापा-पड़ला-निषेध, धर्मपरिवर्तन-निषेध आदि कानून बनाये हैं; यान्त्रिक एवं घरेलू उद्योग तथा वाणिज्य-व्यवसाय के विकास के लिए कतिपय योजनाओं को कार्यान्वित किया है; राज्यान्तर्गत समस्त धार्मिक स्थानों की सुव्यवस्था के लिए 'विजय-धर्म-सभा' का पुनरुद्धार किया है; राजधानी में और राज्य के बड़े-बड़े कस्बों में बालिग (पुरुष) मताधिकार के आधार पर निर्वाचित सदस्यों के बहुमतवाली म्युनिसिपैलिटियों की व्यवस्था की है; गाँवों के छोटे-बड़े झगड़ों को निपटाने के लिए तथा ग्रामीण जनता को स्वायत्त शासन के पथ पर क्रमशः अग्रसर करने के लिए ग्राम-पञ्चायतें स्थापित करने की योजना स्वीकार की है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर अतिवृष्टि, अनावृष्टि, रोग आदि ईति-भीतियों से श्री जी जिस तत्परता से हमारी रक्षा करते आये हैं, वह श्रीमान् की कर्तव्यपरायणता एवं प्रजावत्सलता का परिचय देने के लिए पर्याप्त है। हम कहाँ तक गिनावें? हमारी सर्वाङ्गीण उन्नति एवं सुख-समृद्धि के लिए श्रीमान् ने ममतापूर्वक इतने नानाविध प्रयत्न किये हैं कि उन सबका उल्लेख यहाँ कर सकना हमारे लिए असंभव है। श्रीमान् के इन असंख्य उपकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए हम श्रीमान् का गद्गद स्वर से अभिनन्दन करते हैं।

यशस्वी नरेश !

भारतीय राजनीति में भी श्रीमान् महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं। नरेशों की प्रतिनिधि संस्था नरेन्द्र-मण्डल में श्रीमान् का स्थान स्पर्धा के योग्य है। उस संस्था की कार्यकारिणी में श्रीमान् गत १७ वर्षों में लगातार निर्वाचित सदस्य होते आ रहे हैं। यह असाधारण सम्मान नरेन्द्र-मण्डल के १४० सदस्यों में से केवल एक नरेश के अतिरिक्त श्रीमान् को ही प्राप्त है। अप्रैल १९४६ में ब्रिटिश-मंत्रिमण्डल के तीन प्रतिनिधियों से नरेन्द्र-मण्डल की ओर से मिलनेवाले पाँच नरेशों में श्रीमान् भी एक थे। मण्डल की 'वार्ता समिति' के सदस्यों में भी श्रीमान् हैं। इससे यह स्पष्ट है कि श्रीमान् के नेतृत्व के प्रति अन्य नरेशों की कितनी श्रद्धा, सम्मान एवं विश्वास है। अजमेर के 'दयानन्द-ऐंग्लो-वैदिक कृषि एवं औद्योगिक विद्यालय' का शिलान्यास-संस्कार अपने हाथों से कर श्रीमान् ने प्रगाढ़ विद्याप्रेम का परिचय दिया है। मेयोकालेज की व्यवस्था, नीति एवं उन्नति में श्रीमान् की असीम अभिरुचि भी इसी प्रेम की द्योतक है। नई दिल्ली में अखिल भारतवर्षीय ललित-कला-सोसाइटी की प्रदर्शनी का उद्घाटन कर श्रीमान् ने अपने कलानुराग का प्रमाण दिया है।

श्रीमान् की सच्चरित्रता, कर्मठता, परिश्रमशीलता, सर्वधर्मसमभाव, न्यायपरायणता, कर्तव्यनिष्ठा, मितभाषण, निरभिमानिता, सरलता, सादगी, लोकप्रियता, परदुःखकातरता एवं क्षमाशीलता के गुण किसी भी शासक के लिए अनुकरणीय हैं। श्रीमान् को प्रजावत्सल स्वामी के रूप में पाकर हम प्रजागण आत्मगौरव से अपना मस्तक ऊँचा किये हुए हैं और अपने आपको धन्य मानते हैं।

विद्यानुरागी नरपते !

हम विनम्र प्रजाजन श्रीमान् का अभिनन्दन किन शब्दों से एवं किस उपहार से करें ? हमारे पास मूक भावों के अतिरिक्त है ही क्या ? तथापि हमने इस ऐतिहासिक अवसर को अमर बनाने की अभिलाषा से 'रजत-जयन्ती-अभिनन्दन-ग्रंथ' सम्पादित किया है जिसमें भारत के सुविख्यात विद्वानों के विविध विषयों पर गंभीर अध्ययन एवं गवेषणापूर्ण लेख हैं। इस ग्रंथ को श्रीमान् के कर-कमलों में आज के इस पुनीत मुहूर्त्त में सादर समर्पित कर हम अमित आनन्द एवं शान्ति का अनुभव कर रहे हैं। सुदामा के तांदुल अथवा विदुर की भाजी की भाँति इसे स्वीकार कर श्रीमान् हमें अनुगृहीत करें।

अंत में सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से हमारी हार्दिक प्रार्थना है कि वह श्रीमान् को सपरिवार दीर्घायु, स्वस्थ, सुखी एवं यशस्वी करे और हम प्रजाजनों की इस अभिलाषा को पूरी करे कि हमें श्रीमान् की स्वर्ण-जयन्ती और हीरक-जयन्ती भी मनाने का सौभाग्य प्राप्त हो।

मिति वैशाख शुक्ला ११ गुरुवार, संवत् २००३ वि०
ता० १ मई, १९४७ ई०

विनीत—
डूँगरपुर राज्य की समस्त प्रजा

"ब्रह्म च क्षत्रं च"

महामहोपाध्याय, साहित्यवाचस्पति, पं० नारायण शास्त्री खिस्ते

श्रीमल्लक्ष्मणपञ्चदशी

भारतवर्षे प्राक्तन-वैदिककालादयं घोषः ।
ब्रह्मबलं क्षत्रबलं मेलितमन्योन्यपूरकं भवति ॥१॥
मन्त्रबला वाग्वीर्या दर्भसमित्पाणयो विप्राः ।
बाणधनुः खड्गधरा भुजबलदृप्ताश्च बाहुजा वीराः ॥२॥
मन्त्रबलाद्विप्राणां विजयं भूतिं च बाहुजो लेभे ।
क्षत्रियवंशसुरक्षितयागविधिर्ब्रह्मवर्चसं विप्रः ॥३॥
इत्थमिमावन्योन्यं यजमानपुरोहितौ जातौ ।
गुरुशिष्यौ मन्त्रिमहीपालौ मित्रे च नाथभृत्यौ च ॥४॥
यावदिमौ धर्मस्थावास्तां वशिनावदृप्तौ च ।
तावद्भारतवर्षं जगद्गुरुत्वं बभार चिरकालम् ॥५॥

× ×

वैदिकतान्त्रिकधर्मा-राधनपूजाजपादिबलिहोमैः ।
उपचितशक्तिसमृद्धं भारतमासीदनुल्लङ्घ्यम् ॥६॥
यवनमहीपतिकालादद्यावधि चाङ्ग्लभूपपर्यन्तम् ।
वैदेशिकवासनया वासितमास्ते ह्यनारतं तदिदम् ॥७॥
विषबीजवापजन्यं हालाहलमेव नः फलत्यद्य ।
श्रद्धाभक्तिर्ज्ञानं ब्रह्मक्षत्रे च हा गते क्वापि ॥८॥
इत्थमपीयं भारतभूमिः शम्भोः प्रियेति विख्याता ।
अधुनाऽपि गुप्तरूपे ब्रह्मक्षत्रे इहाऽऽवसतः ॥९॥
आसीद्भास्वद्वंशे भूपः श्रीमान् गुहादित्यः ।
तस्यान्वयेऽद्य गोप्त्री, क्षत्रियशक्तिः प्रकाशते प्रचुरम् ॥१०॥
श्रीमान् महीमहेन्द्रो डूँगरपुरभूपुरन्दरः प्रथितः ।
श्रीमल्लक्ष्मणसिंहः सिंहसमानश्चकास्ति भूवलये ॥११॥
विधिनाऽस्ति योजितोऽयं धर्मं संरक्षितुं भूयः ।
मर्यादां क्षत्रकुलस्यापि च संवर्द्धितुं त्वरितम् ॥१२॥
रजतजयन्त्यधुनाऽऽस्ते तस्य क्षोणीपतेर्वदान्यस्य ।
ब्रह्मक्षत्रबलाभ्यां गुप्ता गोप्तुः समस्त विश्वस्य ॥१३॥
स जयति लक्ष्मणसिंहः क्षत्रियरत्नं महोदारः ।
यदुपश्लोकनवशतः कवयः सवयःसु राजन्तु ॥१४॥

राजाधिराज लक्ष्मणसिंह ! शतं जीव वर्षाणि ।
धर्मेण पालयन् गां, द्यामपि सेन्द्रां वशीकुर्याः ॥१५॥

× ×

कालेन हेमयुक्ता हीरवती चापि ते जयन्त्यस्तु ।
स्वस्त्यस्तु भूप लक्ष्मण ! नारायण एष राजकविरस्तु ॥१६॥
लक्ष्मणपञ्चदशीं श्रीलक्ष्मणसिंहस्य भूपतेः करयोः ।
नारायणोऽर्पयन्द्रा-गच्छति ममतान्वितो मोदम ॥१७॥

———

THE SHINING STAR OF THE SISODIAS AND A PRINCE AMONG INDIA'S CRICKETERS

By W. D. Begg, M.P.F. (London), Cricketer, Author & Editor

Life may be long or short, but the genius and noble deeds have, through all ages, outlived the man. Not all human beings are destined to live a full and rich life, and leave behind noble impressions that will stand the test of time. Great, nay, lucky, are only those few who live a purposive and purposeful life yielding results conducive to the greatest good and happiness of the greatest number of human souls. It is no exaggeration to say that one of such worthy men of our times is His Highness Shree Maharawal Sir Lakshman Singhji Bahadur, K.C.S.I., Ruler of Dungarpur State, whose Silver Jubilee this volume is meant to commemorate.

I may at once say that every inch of His Highness is a specimen of sublime humanity; he is great not by birth, like many others, but because of his unique nobility, perfection and love for all mankind, irrespective of caste, creed or rank in life. These rare qualities His Highness inherits from his noble lineage of the warrior heroes of Mewar who were destined to carve out a State of their own on the edifice of very noble ideals and traditions.

In this brief treatise, it is my privileged honour to throw some vivid light on only a few aspects of the exemplary character and benign rule of this Prince among the Princes of India, whom I have had the honour and good fortune of knowing intimately ever since his boyhood and college days.

Being an independent cricketer, I may apologetically warn my readers that I do not believe at all in vague flattery. No one should, therefore, think, for a moment, that I am writing these lines with any hidden motive or slightest tinge of that undue admiration which is often so lavishly showered upon our Ruling Princes in this country. All my life, I have been a stern cricketer, claiming my own and giving others a deserving applaud in a true 'sporting spirit', never tolera-

ting any injustice on the field of sport. I am sure, the world now knows this too well.

DUNGARPUR'S HISTORICAL BACKGROUND

His Highness Shree Maharawal Sir Lakshman Singhji Bahadur, though born with a silver spoon in his mouth of an illustrious family whose chivalrous deeds have, at one time, shook the bottom of India and adorn the pages of Indian History, was rather unlucky in losing his noble father, H. H. the late Maharawal Shree Bijey Singhji Bahadur, when he was still a minor. He was born on 7th March, 1908. His father ascended the Gadi in 1909 and died prematurely in 1918, when His Highness was only 10 years old.

Before proceeding with the main subject, I would like to repeat, out of my love and respect, a few bright paragraphs from the pages of Dungarpur's illustrious History.

As 31st Ruler of Dungarpur, His Highness is the holder of a very sacred trust and noble legacies and traditions of his illustrious family. This trust is 773 years old. By blood, the ruling dynasty of Dungarpur is the head of the Ahara branch of the noble Guhilot or Sisodia clan of Rajputs. The Sisodias are the most celebrated of the 36 Royal Races of India and have descended from Shree Ram Chander Maharaj, the hero of the sacred 'Ramayan'. Again, the Ruling House of Dungarpur belongs to the Eldest Branch of the founders and Rulers of Chittor, Mewar, or Maharana Partap the Great, the only Rajput king of India who persistently refused to accept the suzerainty of the Moghuls of Delhi.

The State of Dungarpur was founded in 1171 A. D. (Vikrami Samvat 1228) by Maharawal Samant Singhji, Ruler of Chittor, who was the eldest son of Rawal Kshem Singhji who conquered the territory of Vagad now divided into Dungarpur and Banswara States. The Rulers of Dungarpur always enjoyed high esteem and dignity during the times of the Great Moghuls of Delhi. Emperor Shah Jehan had conferred the insignia of Mah-e-Maratib (The Moon of Dignities) with all due distinction and paraphernalia of this high order.

The history of the State, ever since its foundation, is replete with deeds of great self-respect, rare chivalry and generous magnanimity. The various rulers of Dungarpur are celebrated for their piety, soldierly life and charitable demeanour towards their friends and foes alike. In 1573, when Raja Man Singh of Amber, the celebrated General of Akbar the Great, invaded the territory of Dungarpur to reduce its "refractory Raja" (to repeat the Moghul term), the then Maharawal Askaranji, true to his racial traditions, offered resistance in spite of the Emperor's overwhelming forces, rather than surrendering meekly. He, however, lost this fateful battle like a brave warrior in the plains of Bilpan, and refused to surrender to the mighty Mughul by retiring into the hills. In 1576, when Akbar the Great himself visited these parts, he persuaded Maharawal Askaranji to attend his Court where he received the Maharawal "right royally" with all due honour and respect. From that time onward, a perpetual link of firiendship existed between the Mogul Emperors and the Ruling House of Dungarpur.

It was Maharawal Punjrajji, the 20th Ruler of Dungarpur, (who ruled from 1609 to 1657) who was honoured by Emperor Shah Jehan by the conferment of the insignia of Mah-e-Maratib with 1500 Sowars in recognition of his services rendered to the Emperor in his campaigns in the Deccan. Maharawal Jaswant Singhji I gave asylum to Prince Akber, son of Aurangzeb, when he fled from his father's wrath. Maharawal Jaswant Singhji II entered into a treaty of "perpetual friendship, alliance and unity of interests" with the British Crown in 1818.

The fascinating history of the chivalrous career and deeds of the illustrious Rulers of Dungarpur is leading me astray from my subject, so I leave it here for the historians to recapitulate and adorn their works.

Education and Early Training.

I return to the education of His Highness after his dear father's sad and untimely death. From the very first day of his entry in the Mayo College, Ajmer, in 1919, he gave promise of a brilliant career. Not only as a handsome, sober and industrious scholar, both at home

and in his class-room, but also as a playmate on the 'field of sport' His Highness shone himself with remarkable successes year after year. Through each class in the college he succeeded with astonishing distinction keeping up the sacred traditions of his noble blood till he finally passed out and went to England in 1927-28. For fuller details of his college career and achievements, please see Khan Bahadur Molvi Syed Abdul Wahid's message somewhere in this volume who had very long standing association with this great Prince.

On The Cricket Field.

With all the unwieldy burden of his college books and discipline, His Highness excelled on the field of sport also. It was here that I had the greatest fortune of my life in coming in contact with this great Prince of India. I had ample opportunities of understanding him and his nature and of studying his early and later life. Like all other Princes of his time, he took a fancy to the Royal Game of Cricket and seriously studied it, reaching the peak of perfection and success in 1925 when he captained the College Ist Eleven and topped the batting averages. In 1926, he proved to the world that he was an accomplished cricketer and a great sportsman. He was selected to play for the Rajputana-Central India Combined XI against Mr. Gilligan's first M.C.C. Team during its Indian Tour at Ajmer. His team included such stalwarts as P. Vithal, the celebrated Captain of the Bombay Presidency Hindu; Azim Khan the famous Rajputana bowler; Ram Sahai, the great Alwar bat; K. G. Pardesi, the great Hindu Presidency bat of Bombay; L. Ramji, the demon bowler of India and M. H. Chandarana, the greatest trundler of India all—"star performers" of their time, and all who failed miserably against the bowling of world's fastest bowler, M. W. Tate. His Highness, however, displayed his mettle in the company of such giants and played a marvellous innings, making the top score of 35. A. E. R. Gilligan, who captained the M. C. C., when asked by me (as I was the Secretary of that show) about His Highness' cricket, said, "He's one of the most versatile left-hand batsmen I have ever come across; he plays attractive cricket and his stylish 'late cuts' and 'glances' against Tate's fast deliveries were really a revelation and treat to watch". I was

more than satisfied to hear these compliments, coming as they did, from an eminent cricketer of Mr. Gilligan's reputation, because His Highness has always been my cricket idol and I took especial interest in his cricket in the hope that when he would come into power, he would patronise our Rajputana Cricket. My hopes were abundantly fulfilled and whatever little Cricket we see today in Rajputana is all due to his unflagging interest and gracious patronage.

The history of the vast number of local and tournamental cricket matches which I had the pleasure of playing as a rival against His Highness from 1920 to 1928, the priming days of my cricket career, needs a volume if I were to describe this young Prince's marvellous cricketing prowess and achievements. Most of our cricket was played against the Mayo College in those good old days. I always played for my parent club, the B. B. & C. I. Railway, which had many notable cricketers due to the special interest of my late lamented boss, Mr. Henry Armitstead, M. B. E., the Carriage & Wagon Superintendent of Ajmer.

Here are some of His Highness' notable performances:—

61 against Ajmer Railway Cricket Club.
37 " Government College C. C., Ajmer.
63 " Alwar State's formidable XI.
46 " Ajmer Railway Cricket Club.
38 " Carriage & Wagon Cricket Club.
54 " Jaipur State Cricket Club.
44 " Bisset Institute C. C. Ajmer.
42 " Alwar State Cricket Club.
68 " " " " "
70 " M.A.O. College of Aligarh in the Jey Cup Jubilee Tournament for Alwar Team at Alwar in 1928.
4 Centuries—1 in All India Alwar Cup Cricket Tournament at Ajmer in 1927.
35 against the M. C. C. in Ajmer in November 1926.

During His Highness' time, the Mayo College had perhaps the finest cricket XI they ever had, and His Highness was unquestionably one of its jewels. They had the wellknown "Baba"—Prince

Dhairiyashil Rao of Dhar—one of the finest and most powerful batsmen and 'lob' bowlers I have ever come across in my 33 years' long cricket career; Sahebzadas Mir Ghulam and Nasiruddin of Jaora, an excellent pair of batsmen who made many records in the college; Prof. Gaffar Syed, their wicket-keep and sturdy bat; His Highness Maharawal Lakshman Singhji of Dungarpur, a stylish left-hand bat and excellent field, who seldom failed; Thakur Raghunath Singhji of Jajli a fine left-hand bowler; Mr. M. Ghosh, Their excellent "cover point" and reliable run-getter; K. Himmat Sen of Kunadi, another good bat and change bowler, and, lastly, Col. C. C. H. Twiss (D. S. O.), who was Guardian to His Highness and an old crack cricketer. This father of the college team possessed all the guile of a seasoned cricketer who would courageously come out 'to his team's rescue, make a determined stay to stop the rot and improve matters by snatching his sure "singles" and thus forcing the game at all difficult times. Many a time he saved Mayo College from a disaster. As a team, the above combination, I am confident, would have given a very tough time to any first class XI of India's "star performers" of those days, but, alas, the Mayo College never undertook any tours and all their superb cricket was confined to their own ground at Ajmer.

On the cricket field, His Highness shone himself as a brilliant all-rounder in the above company. As a stylish batsman, he was his own class and has many tall scores and centuries at his credit as mentioned above. As a fielder, he was agile and accurate. With his vast study, he could have easily developed himself into a great left-hand bowler, but in the company of an excellent battery of bowlers, like Man Mahipal Singh of Namli – a very steady and accurate medium-fast bowler, backed by the versatile "Baba" at the other end with his treacherous "goog-lies", and supported by other stock bowlers of the team, His Higness' interest in the Art of Bowling did not persist and he did little or no bowling.

It must be mentioned to his credit that His Highness has reaped all the best advantage of his cricketing abilities and lessons soon after taking up the reins of his administration at Dungarpur. His inherent and traditional qualities of head and heart, which received a most befitting finishing touches at his college, and specially on the cricket

field, are mainly responsible for his most successful, and rather enviable, career as a Prince and Ruler. His subjects, soon after his reign began, realised that they had received a rare gift in him who proved himself to be a most sympathetic master and one who always placed his and his family's comforts after those of his beloved people. There is nothing, I daresay, as an intimate follower of His Highness' 25 years' benevolent rule, which he did not do to meet the wishes and needs of his beloved subjects as well as his innumerable friends and acquaintances. Even the Mayo College Chokra boys, who used to serve him during his college career, sing the songs of this simple and beloved prince because of his particular interest in their welfare. He seldom misses to give them a look up during his visits to Ajmer even now.

The Ajmer traders, the college staff, the Railway bosses, the sportsmen, the student community and many government officials, all intimately know and love "Dungarpur" particularly, although there were many other Princes with him in the college who do not enjoy this fascinating popularity among all classes of people. Surely His Highness has not bestowed upon this multitude of his admirers and lovers any Jagirs or Rewards. No, nothing of this sort. Only, like all other noble souls of the world, he bestows his precious affection and love towards all of them alike and has won their hearts by nothing but this unfailing affection and pure love. Even at his early age, he knew this greatest of all arts—the Art of love—which he gave to all who came in contact with him. It is this universal affection that makes him today such an ideal, popular and beloved friend of both the Rich and the Poor. On this one great quality his success, as a Ruler, excels. He is truly an idol of his people and all those who have met him. During my 33 years' cricket ramblings from India to England, I have come across all kinds of good and bad people. The good are, of course, good, but even the villains and bad ones who never had the honour of meeting His Highness personally, had nothing but sheer respect and admiration for this Prince. It is all very difficult to achieve indeed.

I will not detail here the innumerable benefitial deeds which His Highness has done, even at the risk of his dear life (the disastrous

floods episode of Dungarpur), for the general good of his people during his auspicious reign of 25 years. This is glaringly evident to all who visit Dungarpur and speak to Dungarpurians personally. I am only concerned here with His Highness as a man whom I have known and most intimately studied, according to my poor abilities, ever since 1919 when I first saw him in Ajmer.

Excelling, Excelling and Excelling.

In the college, on the field of sport, in the society, on the sacred Gadi of his ancestors, among his beloved subjects and family, in the politics of India, everywhere I am proud to see him excelling, excelling and excelling as an ideal man. What a wonderful model and lesson for our Rulers and Administrators to follow? How many of us can do this? All praise and honour is due to that blood which gives such noble sons to India. All woe is due to those who fail to take full advantage and lessons from such sublime souls to guide their own destinies and the destiny of India.

My Fervent Prayer.

I close this humble treatise, as one of His Highness' ardent worshippers, (for, have I not said before that he has been my idol) with the fervent prayer that the Almighty GOD may be pleased to grant His Highness Shree Maharawal Sir Lakshman Singhji Bahadur of Dungarpur all health and long life to continue his sacred mission in the service of king and country. On this auspicious and rare occasion of his Silver Jubilee Celebrations, I am too poor to offer any present to this august Prince and a friend of the poor, a rare specimen of humanity, except my repeated and sincere good wishes and imploring prayers for his health and health alone, so that he may live and see the fruits of his selfless labours in the cause of humanity, and celebrate his GOLDEN and DIAMOND JUBILEES—Amen.

HIS HIGHNESS RAI RAYAN MAHARAWAL LAKSHMAN SINGH OF DUNGARPUR

GREETINGS AND APPRECIATION

BY KHAN BAHADUR MOULVI SYED ABDUL WAHID, M.A.

Late Senior Indian Assistant, Mayo College, Ajmer.

I am very happy to include myself among the number of those who are offering their affectionate greetings and congratulations to His Highness Maharawal Lakshman Singhji on the completion of his 25 years beneficient rule. I happen to be one of those who have intimately known Maharawal Lakshman Singh ever since he was 11 years old; and I feel thankful that an opportunity has come to me to record my impressions and sentiments about him through this contribution to his Silver Jubilee Commemoration Volume.

"The morning bespeaks the day". Even so, Lakshman Singh of 1919, when he came to join the Mayo College, potentially bespoke the present successful and enlightened ruler of Dungarpur. For some time it was in the air that the minor Maharawal of Dungarpur was coming to the College; and in view of the exceptionally brilliant college record of his steemed father, his Highness Rai-Rayan Shriman Maharawal Sir Bijaya Singhji Saheb, every member of the College Staff was expectantly looking to his arrival. In November, 1919 he ultimately came to the College with his younger brother, Maharaj Virbhadra Singh (now, C. B. E.; Musahib-i-Ala, Dungarpur). The way in which the two brothers stood their first day in school impressed one and all and showed their mettle. The class in which they were put had an unusually large number of bright boys who could have held their own in any school; and as is natural with boys the world over, in the beginning they made little of the two new arrivals. But they were soon un-deceived and came to realize that they had more than a match in the two Dungarpur boys. The latters' keen spirit of competition did not take long to manifest itself, and every one saw that they were extremely jealous of their position in class, and were prepared to work for it. Gentle and sweet in disposition, most averse to giving or taking offence light-heartedly they soon came to be liked by all—boys and masters. To recount in

detail the achievements of Maharawal Lakshman Singh at the College will make this contribution unduly long and perhaps unsuited to the scope of the present compilation. Suffice it, therefore, to say that he made the best of his opportunities and turned out an all round success. He won a number of prizes scholastic as well as athletic; among them being the most coveted 'Sword of Honour'. The importance and significance of this last award can come home to those not connected with the Mayo College only when it is mentioned that it is the highest reward in the gift of the College authorities scrupulously reserved for boys of real all-round merit, and is so jealously awarded that since the foundation of the College in 1875, the award has not exceeded 5 times—Maharawal Lakshaman Singh being the last recipient. The Maharawal was Head monitor (an office carrying real responsibility at the Mayo College), Captain of the College Cricket XI, and Riding Squadron Leader. He had the unique distinction of playing, while still a school boy, against the M. C. C. who toured India under Mr. Gilligan in 1926-27, in the two matches played at Ajmer, in both of which he acquitted himself most creditably, with the bat as well as in the field. He stayed at the College for 8 years and what the feeling of us all towards him was is most succinctly expressed by a remark made by Mr. F. A. Leslie-Jones, the principal of the College, at the Ajmer Railway Station, where we had assembled to say good-bye to Maharawal Lakshman Singh on his finally leaving the College, to the succeeding Head Boy "Well, Balbir, Lakshman is going away, and I don't know how we shall do without him."

I have had the privilege of being a frequent visitor to Dungarpur and enjoying the Maharawal Saheb's intimacy and confidence even after he had left the College and am almost tempted to make a few observations about his administration of the State and the part he has taken in the deliberations of the Chamber of Princes. But I am afraid I will perhaps be going beyond my depth. So I close this notice with a fervent prayer that his life, filled with beneficent activity for his people as it has been, may be extended far beyond the span allotted to man by the Psalmist. Cricket has been his love; he is 'Playing Cricket'; we wish him a 'Century'.

राजनैतिक खण्ड

MONARCHY *VS.* DEMOCRACY

By

Dr. B. Bhattacharya, M. A., Ph. D., Rājyaratna,
Jnānajyoti, Baroda

From the title of the paper one should not think that it is dealing with modern politics. With modern politics the present writer is neither acquainted nor conversant. In this article an attempt has been made to state the views of such great ancient Āchāryas of Polity as Kauṭilya, Kāmandaka, Śukrācaryya, Bhīṣma and the rest. As these ancient Āchāryas were gifted with great knowledge and foresight, it is necessary to bring their views prominently before all, so that modern conditions may be compared with the ancient in order to find how the present ideas are progressing or deteriorating. It must be confessed that in these days of loose thinking and wild talk, the ancient views may prove not only interesting, but also instructive.

India in the past, gave a fair trial to all conceivable forms of government, from the Bhaujya constitution to Swārājya, Vairājya, Rāṣṭrika, Dvairājya, Ugra and the Rājanya forms of government, and from a non-ruler state to Democracy, Autocracy, Bureaucracy, Oligarchy and other forms of governments including Republics. After a great deal of experience gathered for several millenniums the ancient Āchāryas, well-versed in polity, came to the conclusion that limited monarchy was the best form of government, in spite of all its short-comings of which they were fully conscious. In all forms of government, there are short-comings and the world is such that here no human institution can be ideal or perfect. Indian master-minds in ancient times chose the lesser evil in the form of limited monarchy leaving aside the greater evils that were associated with all other forms of government.

Thus we hear in Garuḍa Purāṇa[1] "One should not live in a non-ruler state, or a state where there are too many to rule, or where there is a woman or a child at the head of administration."

The ancient Āchāryas conceded that the subjects had no right to rule, and the leading authorities denied them the right to rule themselves. They contended that the monarch can only be independent, on whom the subjects must always be dependent for their protection. The Nāradasmṛiti[2] avers: "Subjects are without freedom, but the King is always free".

The Hindu works on polity are never tired of showing the evils that befall a people, when the protection does not originate from the king as the fountain head of power. The term generally used for all forms of non-monarchical government in their works is "Arājaka" or non-monarchical. The Mahābhārata Śāntiparva and the Rāmāyaṇa Ayodhyā Kāṛḍa give a graphic description of what happens to the people in the Arājaka State. They say[3]

(1) "In a non-ruler state people are unable to discharge their own duties. They devour each other. Therefore, in every way out upon Arājaka.

(2) "In a non-ruler state no good government can continue; nor the army is able to withstand the attack of enemies.[4]

(3) "Men in a non-ruler state can be compared to a herd of cows without the herdsman, or a forest without grass, or a river without water.[5]

(4) "Where there is no king to protect, the mighty take away by force the belongings of the weak and destroy and even kill the latter if they make an attempt to save their property.[6]

(5) "Where there is no king to protect, the sinful take away by force conveyances, garments, ornaments and valuable jewels.[7]

---

[1] Adhyāya 115. Śl. 62.

[2] Op. cit. 3-2-33.

[3] Op. cit. Adhyāya 66 Śl. 3.

[4] Vālmīki Rāmāyaṇa, Ayodhyā Kāṇḍa, Adhyāya 67, Śl. 24.

[5] Rāmāyaṇa op. cit Śl. 29.

[6] Mahābhārata, op. cit, Rajadharma Adhyāya 67, Śl. 14.

[7] Op. cit. Śl. 16.

(6) "Where there is no king to protect honest men are afflicted by the wicked with various weapons, and unrighteousness prevails in the world.[8]

(7) "Where there is no king to protect moneyed men are afflicted with chastisement, imprisonment and suffering, and nothing they can consider their own.[9]

(8) "Where there is no king to protect, the distinction of birth vanishes, agriculture and commerce are destroyed, righteousness sinks and the three Vedas disappear.[10]

(9) "Where there is no king to protect, men who are hurt or severely assaulted do not get justice whereas the perpetrator of the crime escapes scot free.[11]

(10) "Where there is no king to protect, the rule of no-law takes place, castes get intermixed, and the country is visited by famine.[12]

Many more passages of like nature can be quoted. In all forms of government where there is no king people cannot be quite happy, and they do not get an opportunity of fullest self realisation. Sooner or later, riots, loot, arson, rape and other obnoxious things are bound to happen, and history, even modern history, offers many such examples. The worst horror is that of mixing of castes, giving rise to children born of mixed parents. The absence of sense control in the parents becomes magnified a hundred-fold in their offspring and they become a menace to the safety of the society.

The Vairājya form of government is a non-monarchical constitution. The evils of this form of government is well demonstrated by the greatest writer on Polity, Kauṭilya. He says :[13]

"No one has in a Vairājya government the feeling of 'mine' with regard to the state; the aim of political organisation is rejected;

---

[8] Op. cit. Śl. 17.

[9] Op cit. Śl. 19.

[10] Op. cit. Śl 21.

[11] Op. cit. Śl. 27.

[12] Op. cit. Śl. 29.

[13] Arthaśāstra, viii, 2 p. 323. (Shamasastry edition).

any one can sell away the country. No one feels responsible or one becoming indifferent leaves the state."

In this connection, the Indian view of the origin of monarchy is not without interest. In the Śāntiparvan of the Mahābhārata we meet with the following passages, clearly noting the disadvantages of a non-ruler state which led the people to adopt a monarchical form of government. There we read:

"Oh, tiger among men! listen with attention a full account of how government had evolved in the beginning of the Kṛta age.[14]

"There was no kingdom, no king, no punishment and no punisher; all subjects used to protect themselves by mutually made laws.[15]

"Oh Son of Bharata! in this way when they were protecting each other according to law, serious trouble arose and the people were confused.[16]

"Perplexed by confusion, Oh Best among Men: the people lost respect for their laws, which consequently became extinct.[17]

"They did not abandon defiling women, using defamatory language, partaking of forbidden food, and committing offences and society was on the verge of destruction."[18]

Later on, in another chapter the Śāntiparvan gives a second account of the state of society in the original, non-monarchical form, which according to modern conceptions, is the ideal form of democracy. The failure of democracy has been clearly demonstrated in the passages quoted below:—

"We have heard that people of the non-monarchical estate destroyed themselves by devouring each other as fish devour the smallest ones in water.[19]

---

[14] Mahābhārata Śānti Adh. 58, Sl. 13.

[15] Ibid. Śl. 14.

[16] Ibid. Śl. 15.

[17] Ibid. Śl. 16.

[18] Ibid. Śl. 20.

[19] Ibid. Śl. Adh. 66, Sl. 17.

"We have also heard that they then assembled together and made laws that the defamer, the assaulter, the adulterer and the offenders of law shall be abandoned.[20]

" All the castes for the sake of confidence entered into an agreement and consented to live by the contract.[21]

" On the failure of the system, they became unhappy and went together to Brahmā and requested him to appoint a master as they were being destroyed in the absence of one ruler whom they can collectively serve in return for protection."[22]

In the Manusaṁhitā also occurs the same account, as found in the Mahābhārata, regarding the origin of Kingship though only in a summary form. Manu informs us[23] " When there was no king on earth and when all were struck with fear, God created the king for the protection of the world".

In ancient India, Hindu politicians always insisted on the guarding of state secrets, state policies and similar counsels, because they thought earlier publicity of such secrets spells disaster on governments. They considered that the foundations of the state are laid on what they called " Mantra " and "Mantra-gupti "; and because the ministers were entrusted with these secrets, they were called Mantrins or Mantragoptas. Proper guarding of secrets was possible only in monarchical forms of government, where the king is considered the fountain-head of power. In democratic forms of government, the state policy and state secrets are entrusted in the hands of many, and therefore, the Mantra is not carefully guarded; and this through undue, improper and untimely publicity or leakage, leads the state into disruption. What the different Āchāryas say on this point is not without significance even in modern days of scientific foolishness.

Yājñavalkya avers[24] " The state has for its root the Mantra;

---

[20] Ibid. Śl. 18-19.

[21] Ibid. Śl. 19.

[22] Ibid. Śl. 20-21.

[23] Manusmṛiti, vii. 3.

[24] Yājñavalkya Smṛiti, Acārādhyaya, Śl. 344.

therefore, state secrets should be carefully guarded, so that until results are seen no one can guess the Mantra."

Viṣṇudharmottara Purāṇa declares:[25] Always the state has for its root the mantra; therefore, the king should carefully guard the Mantra, lest it obtains improper publicity.

"The Mantra which has good counsel behind it, conduces to the welfare of the people; in olden days many kings were destroyed through improper Mantra."[26]

The Rāmāyaṇa adds[27] "Dunces having the intelligence of animals and ignorant of the teachings of the sciences regarding state policy, audaciously give counsel if they are consulted. They should be considered by wise men as enemies in the form of councillors."

Viṣṇudharmottara further declares:[28] "The king should not give a taste of state secrets to fools, unreliable persons, or unrighteous men, in order that the Mantra may not be improperly revealed in the kingdom."

"The destruction of kings lies in the undue publicity of state-secrets; such Mantras cause destruction in the same way as the magic syllables, wrongly applied cause destruction of the worshipper."[29]

In the foregoing the opinions of the ancient authorities are given on the subject of monarchy and democracy. No commentary is necessary on the above. In democratic forms of government, policies are dictated mostly by, invariably inexperienced, often ignorant, and occasionally interested, people who have no right to speak on the subject either by virtue of their character or education and wisdom. All Mantras are discussed in the public amongst common people who often do not know what they are speaking about. The ministers have no feeling of "mine" and they are, therefore, only casually interested in the welfare of the people during office. Some clever men turn the temporary power of office to their own advantage by benefiting relations and friends. Indiscipline gradually

[25] Op. cit. Khaṇḍa 2, Adh. 65, Śl. 35.

[26] Ibid. Śl. 36.

[27] Rāmāyaṇa Yudhakāṇḍa, Adh. 63. Śl. 14.

[28] Op. cit. Khaṇḍa 2, Adh. 151, Śl. 21.

[29] Ibid. Śl. 22.

rises all round, and the people become victims of oppression and anarchy.

The old Āchāryas who were fully conversant with human nature opined that people follow their avocation and live peacefully only through the fear of punishment or Daṇḍa. Daṇḍa wielded by the common man, inexperienced in state-craft, is much more dangerous for the safety of the people than when it is used judiciously by the king who is not only experienced in the art himself, but carries with him a tradition of generations.

I am not against the present aspirations of the people for acquiring self-government, and wish it all success. Care has only to be taken that Democracy as we understand to-day may not degenerate into either "Goondacracy" or "Mobocracy", signs of which alas! have already become manifest.

Democracy is not a new thing in India. This form of government was given a good trial, but was rejected as being unsuitable for mankind as a whole. To-day again, we are trying to re-build the state with rejected material. On the strength of previous historical experience we may predict that Democracy is bound to be very short-lived. It may further be pointed out that all wisdom of the world is not concentrated in Democracy. Some wisdom is still left with kings and rulers. It is therefore of the utmost advantage to mankind that both should co-exist in the world, not as rivals but as colleagues. The extinction of monarchy as an experiment on sound state-craft would mean irreparable loss to the world of immense magnitude. But the nominal democracy as we are witnessing everywhere, even if extinct, is not likely to bring to the people any greater insecurity than enjoyed hitherto!

In conclusion, I may add that the common man cares only for a good government; he is hardly interested in the fact whether the country is governed by its own people or by foreigners, or by kings. The man in the street detests bad government. He tolerates the Ruler who gives him protection (Prajāpālaka), but he loves him who, in addition to protection, pleases the people (Prajāranjaka) by constantly hearing their grievances and redressing them, and constantly looking to their welfare.

ॐ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।

INDIAN INDIA ON TRIAL

P. B. K. Menon

No theory is above controversy. No utopian conception is completely accepted by all. In recent times no other politico-moral theory has produced among us so much of discussion as the idealised conception of benevolent monarchy: the Ramarajya. Its author, Mahatma Gandhi, is no ally to the Princely India as it *is* to day, although, as early as in 1925, he, in his address to the Kathiawar Political Conference, said, " Swaraj as conceived by me does not mean end of Kingship. Once the Swaraj is achieved, the relation of the ruler and the ruled in the Indian States will not cease, but will be purified."

" Princes are not independent proprietors, but only trustees of their subjects for revenue received from them." This and his various other similar statements have clearly brought out that he is not out " to end but to mend these Indian States." His suggestions have always been constructive, not destructive; they always strive to achieve the assimilation of the best that is in the ruler and the ruled.

Origin of Indian India.

To day our map is spotted all over with the 601 Indian States. These State territories on the whole cover about a third of the sub-continent and about 8 million Indians are State subjects. As we march towards our national freedom we cannot neglect to plan for the development and progress of this vast area of the Indian India.

A majority of these States are creatures of the British suzeranity, in as much as, the foreign power found it convenient to recognise and sanction limited monarchical powers to vasal chieftains in these states. No doubt some of the States have maintained an independent existences for hundreds of years. But very few of them, like Hyderabad, Travancore, Cochin and some Rajput States, can claim to have never been conquered or annexed.

Except a few all the rest of the States that are there today have doubtful origins. Some of them are survivals of the old dynasties and powers which somehow prolonged their existence after the collapse of the Mughal Empire. Some who were in power even during the Mughal period got recognition from the British. The Rajput States were dying away in their never-ending conflicts with the Mughals and the Mahrattas, when the British came to their rescue and helped them to regain their power under the protection and overlordship of the Delhi cannons. Again we have many small principalities carved out by the soldiers of fortune in their individual might during the Mahratta domination of the western India. They came to suppliant terms with the British when the Mughals made their ignoble exit.

In an independent India it is thus clear now, that a majority of the existing States cannot claim an identity and recognition by merit of their honourable origin. Much less so have they a strong argument in their economic potentialities or cultural distinction.

Uneconomic Holdings.

Some of the pamphlets released by the Chamber of Princes give us an over-painted picture of the economic possibilities of the Indian India. It is claimed that ores from diamond to coal can be had from the various State territories ; from fishing to silver-lying and carpet making are the existing crafts to be developed within the States ; historical monuments, temples and mosques, museums and libraries, famous Ajanta caves and such other achievements of Indian art and architecture these are preserved by the States. Also, and there is a larger share of truth in this than it would at first sound, the traces of true Indian culture are jelously preserved today, in their very feudalistic setting, more in the Indian States, than in the Provinces, where as the people live in open contact with the Age, they have to an extend awakened to the immediate international realities available in the outer world.

Even assuming that the claims of the pamphlets are to be true, how many of the individual States can today undertake to exploit their resources ? A State like Hyderabad, with an annual

income of nearly 9 crores, perhaps can launch its funds to execute such expensive undertakings; but we have also to consider Bilbari, a State with a population of 27 souls and an annual revenue of Eighty rupees. And, ranging between the dominion of Hyderabad and the holding of Bilbari are the 599 other States of various areas and different scopes.

Just to take an example. There are altogether 283 states in Kathiawar of which 274 small Principalities (each a State) together collect, a total revenue of 135 lakhs. This total revenue has to maintain 274 ruling families and as many separate semi-independent administrations. If we consider the population of these States, on an average, every 25 square miles area with a population of 500 heads, has been provided with a separate State!

Of the 601 States, some 202 have each an area of less than 10 miles; some 139 of them have each an area of only 5 miles; and there are some 70 States each of whose area does not exceed more than a single square mile.

It is now quite obvious that a majority of the existing States cannot, in no sense of the term, conduct an efficient administration. Such States are mere uneconomic holdings when viewed by a national government, and as such, no one who wants our national prosperity achieved in the shortest time, can view them with equanimity and sanction their continuance.

The smaller ones have to scrapped; many small adjoining ones must be brought together under a federal amalgamation; isolated ones lying scattered here and there must be liquidated and absorbed into the provinces concerned.

Discussing "The States and Responsibility" Ganhiji has said, "All the states may not live." The bigger ones may; but even they "can live only if they recognise their limitations, become servants of the people, trustess of their welfare, and depend for their existence not on arms, but solely on the goodwill of the people." No longer can a king claim successfully his divine right and trade on the credulity of the masses. This is a revolutionary Age, when an enlightened generation has come to live and fight for new values and complete civil liberties. And, ancient institutions must whither away

yielding place to new systems; it is a doomed fight to stand against the flooded tempo of any historic era.

Revolutionary Suggestions.

It is then with the righteous despair at the present state of affairs, that fervent enthusiasts and radical institutions of popular will have come to claim revolutionary rearrangements of the existing princely India. Dr. Pattabhi Sita Ramayya vizualises only 50 states in the future free India. The all India States Peoples Conference at its Ludhiana session in February 1939 passed a resolution demanding the abolition of all State units which have a population below 20 lakhs and or an annual revenue of less than 50 lakhs. If this principle be accepted, only 21 states can claim separate semi-independent existence to enjoy their limited sovereignity.

As is but natural in all revolutions the break-up suggested above are both extreme to be safe and healthy. I for one, would like to see a sort of federal union between adjoining states which will enable them to raise the standard of living of the community by executing expensive projects just as Hydro-electric schemes, irregational projects, harbour developments, etc. The attached States of Kathiawar can now be reasonably hoped to direct their pooled resources to improve the average standard of living of their kisan population. The central India States have recently volunteered to join among themselves under a federal, though unorthodox, scheme. The Eastern States Agencies too can come together more closely, at least for the execution of some of the urgently needed costly state undertakings. Indeed estates and Jagirs and such other holdings should not be allowed to pass off as States; these can be liquidated and the present holders be pensioned off for say, the next fifty years.

The State units finally resulting out of such a voluntary re-organization and readjustment, are then to have full responsible governments established in them, and the Rajas must realise the demands of the Times and must willingly come to keep the honoured position of respected constitutional monarchs. In this the present autocrats need not swing themselves into an impressive though

ineffectual extreme. The recent proclamation of Cochin is an absolute example. The rumoured suggestion of the Raja of Myurbhanj, if true, will again be an instance where enthusiasm has upset balanced discretion. Democracy is not always good; and autocracy is not wholly bad. The solution lies in the golden mean.

Story of the Intervention.

The Congress as the most representative political body of the masses has now come to urge for the emancipation of the States people. In 1920 in the days of non-cooperation, non-interference with the problems and conditions of the Indian India was the Congress policy. In 1928 the Congress at its Calcutta session contented itself by passing a resolution urging on the Princes to grant self-government and guarantee fundamental rights to their subjects. The popular government in the provinces, the arrogant repression in the lusty states, and the general awakening, led to the Haripura decision of 1938 under which deliberate intervention became the accepted Congress policy.

The 1942 movement shattered all barriers between the British India and the Indian India. Today the Congress president is himself the head of the States Peoples Conference. The fight for civil liberties are now fought not only in the Provinces. The spirit of the Times has lightened, and the Call of the Generation has rumbled through the preserved atmosphere of the States, and the awakened subjects are unitedly heaving to break assunder their heavy shackles. It is a lost struggle for the Princes, if they try to choke the aspirations of a destined and determined Nation.

The recent protests against the constitution of the States Negotiating Body and the methods of selecting representatives to the constitution making body, are not to be ignored. The demands of the Prajamandals deserve the careful consideration of the rulers. Now is the time for the Princely India to look over the shoulders of their Prime-ministers and Diwans to the dawn of the scheme-of-things-to-be. In a Kisan-Mazdoor-Praja-Raj it is not a political department, as it is today, that can protect the Princes. In such a

free India Raj the rulers can stay only on the good-will of the ruled. It should be easy for the Royal families to realise this, if they but remember what Lord Canning had said about them and their States exactly 86 years ago.

Lord Canning then said: "It was said by Sir John Malcolm ....that if we could keep up a number of native States without political power, but as royal instruments, we should exist in India as long as our naval supremacy was maintained. Of the substantial truth of this opinion I have no doubt.........." in these days of air-might navy is of no consequence. As a resultant of the confusing, yet all the same clearly firm, cross currents of International martial and commercial forces, Britain has realised the futility of maintaining a vast colony in Asia. Once the support of Lord Canning's successors is removed, the bejewelled Rajas and the Maharajas will have to woo the acclamation of their subjects. In this they can succeed only by mending their erstwhile pleasure-loving ease, and by proving themselves to be the selfless trustees of the revenue collected from their subjects.

Benevolent Monarchy.

Indian India has not to learn much in the traditions of benevolent monarchy. Many of the ancient states have left imperishable trails of their benevolence and the monuments of those unforgettable monarchs and their acts have raised our national prestige.

Indian India is today on trial. The slightest mistake in any of the moves will bring down the entire glory into a dusty heap of ruinous wreckage. Now is the time for the Princes to sink their mutual differences, and come to work unitedly to retrieve and maintain the State Institution. Individuality must be shed, and under a single absorbing spirit of cooperation and goodwill all must come together, and if needs be, sacrifice position and status and work for the preservation of our National heritage—the benevolent Monarchy. In doing so you shall be proving the purity of our race and the nobility of our unbroken traditions. Let the idols of our memory, from Vikramadittya to the late Maharaja of Travencore and

Baroda, be justified; let it be proved that Aundha is no rare exception.

Approached thus with submissive readiness to do the right without regret or revenge at heart, the Challenge of the Times, is no invisible threat to the Princely India. Ugly threats are raised from stray corners; they are inviting the lusty fury of a revolutionary Age.

"We build our future, thought by thought,
Or good or bad, and know it not—
Yet so the universe is wrought."

"Thought is another name of fate.
Choose, then, thy destiny, and wait—
For love brings love, and hate brings hate."

TOO LATE?

By P. Basu

Along with the rest of the world India is now passing through a great political and social upheaval. There is no doubt that there is going to be a great deal of change in the structure of society. Nobody can visualise the final picture of things to come. Of one thing we feel somewhat on firm ground. If India does not revert to fractionalisation like China, the Balkans, and some states of south America, in the future India every person will have to justify his existence by the nature of his work. In any case none will be allotted the exalted function of leading others unless he develops moral qualities for the purpose or mobilises his personal position in the community in which he is destined to work.

In statecraft all bases of human emotions have to be organised and utilised for stability and progress. That is why Gibbon says that all religious dogmas are equally true to the devout, equally false to the philosopher, and equally useful to the statesman. It is by mobilising religious sentiment . . . . . one of the strongest in human breast . . . . .that Constantine built an empire in Byzantium, the Pope an empire in Italy and an imperial influence in Christendom, Elizabeth in England, Asoka and Akber in India, the Habsburgs in Austria and Spain.

In modern times religious sentiment is probably not as strong as it used to be. Still it is strong enough for all social purposes. Also there are substitutes which were used in the past. For centuries the Rajput mobilised the heroic sentiment and kept it up through the songs of *charans* and used it most effectively in wars. The national sentiment has been the foundation of unity and strength in many a modern State. It grew almost imperceptibly in England and France from the 16th century, more prominently in the Netherlands of the 17th century, and as a strong under-current in the war of American independence. It was elevated almost to the place of religion in Italy of the 19th century.

But Bismark's Germany showed statecraft at its comprehensive level, at which almost every popular sentiment . . . . a large variety . . . .was sought to be implemented into a coherent system in order to achieve stability, power, efficiency, and diplomacy of a high order. Bismark is popularly known as the supporter of a strong monarchy, which he surely was. But it is often forgotten that it was he who first borrowed from the German socialists the idea of social security measures and introduced them in the eighties of the last century, nearly twenty-five years before the next country, Britain, adopted them. He fought the *junkers* of Prussia, his own caste, as much as he fought the socialists and used both of them for the re-organised

German empire. He defeated Austria but made it a friend even while its enemy, Russia, was also retained as an ally. For a quarter of a century the last Kaiser enjoyed all these advantages at the same time misunderstanding and dissipating the forces which yielded them to himself and his empire.

In India there has been little attempt deliberately to mobilise any strong sentiment for purposes of statecraft. The British Government, being alien, could not exactly understand the depth and direction of the religious sentiments which are still strong in India. Not understanding them it very properly left them alone lest by mishandling it will provoke them to mischief. But in the Indian States too the same thing has happened. No attempt has been made to harness the strong religious sentiments to stabilise social forces and use them for the good of the States.

In Rajputana little has been done to exploit the equally strong heroic sentiments with a view to their utilisation for the work of peace and progress. These sentiments have no modern equivalent in peace because the technique was developed in terms of war, and nobody has cared to study them with a view to their adjustment to peaceful conditions. But the energy they released in the past could have been canalised in useful work for the benefit of society. Instead, we find the Rajput talent neglected and its energy allowed to fritter away either in inconsequential ceremonials or in vain mopings of the distant past.

There is another sentiment which is almost universal in the India States. That is the affection with which the people of a State universally regard the ruler and his dynasty. Whether among the educated in capital cities or among the illiterate in remote villages this sentiment is strong and abiding. So far no active steps have been taken to harness this energy and utilise it for the social progress of the people. The potent influence embodied in this sentiment is capable of releasing energy equal to that which thrilled Elizabethan England, Richelieu's France, and Ferdinand's Spain. It is capable of galvanising every village and if properly directed, can be utilised for organising every village as a centre of social activity for the elevation, culture, and material development of the masses.

Is it too late now effectively to use these potent sources of energy for the good of the State? Can religious sentiments be re-vitalised to do social good as was done by Asoka of India and William of Holland? Can heroic sentiments be modernised and focussed for the material prosperity of the Rajput States? Can the deep and stirring feelings of affection for the ruling dynasty be canalised for the development of culture and social cohesion of the people of the States? On the answer to these questions will finally depend the position and influence of the States in the future Indian polity.